कल्याण
J. N. Prasad
वर्ष ५६
श्रीवामन-पुराणाङ्क
संख्या १
१९८२

॥ श्रीहरि: ॥

'कल्याण' के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण'के ५६वें वर्ष-(सन् १९८२) का विशेषाङ्क—'श्रीवामनपुराणाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री है और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि। यथास्थान कई बहुरंगे चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कके साथ रजिस्ट्रीद्वारा तथा जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको वी० पी० द्वारा ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार भेजा जा सकेगा। 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क २०.००रुपये मात्र है, जो विशेषाङ्कका ही मूल्य है।

३—मनीआर्डर-कूपनमें अथवा वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या कृपया स्पष्टरूपसे अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या स्मरण न रहनेकी स्थितिमें *'पुराना ग्राहक'* लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो *'नया ग्राहक'* लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'व्यवस्थापक, कल्याण-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर' के पतेपर भेजें, किसी व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४—ग्राहक-संख्या या *'पुराना ग्राहक'* न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा, जिससे आपकी सेवामें 'श्रीवामनपुराणाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं, कृपया प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उन्हींको वी० पी० से गये 'कल्याण'के अङ्क दे दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायेगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—विशेषाङ्क—'श्रीवामनपुराणाङ्क' फरवरीवाले दूसरे अङ्कके साथ सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है। शीघ्रता और तत्परता रहनेपर भी सभी ग्राहकोंको इन्हें भेजनेमें लगभग ५-६ सप्ताह तो लग ही जाते हैं। ग्राहक-महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया है, अतः कुछ ग्राहकोंको विलम्बसे ये दोनों अङ्क मिलेंगे। कृपालु ग्राहक परिस्थिति समझकर हमें क्षमा करेंगे।

६—आपके 'विशेषाङ्क' के लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या और पता लिखा गया है, उन्हे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी०-नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार किया जा सके। इस कार्यसे हमारे कार्यालयको सुविधा और कार्यवाहीमें शीघ्रता होती है।

७—'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' को अलग तथा 'व्यवस्थापक-गीताप्रेस'को पृथक् पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०) भी लिखना चाहिये।

८—'कल्याण-सम्पादन-विभाग', 'साधक-सङ्घ' तथा 'नाम-जप-विभाग' को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०) इस प्रकार पता लिखना चाहिये। पता स्पष्ट और पूर्ण रहनेसे पत्रादि यथास्थान शीघ्र पहुँचते हैं और कार्यमें शीघ्रता होती है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

वा० पु० अं० क—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है; अतः धर्मप्राण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग चालीस हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याण-पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३४वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी। सदस्यताका शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगाइये। पता—

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा 'कल्याण-सम्पादकीय विभाग' पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर २७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवनग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४५० (चार सौ पचास) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

|| श्रीहरिः ||

(१९८२ ई० ५६वाँ वर्ष)

श्रीवामनपुराणाङ्क

(लेखोंकी सूची)

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–मङ्गलाचरणम् ... १

२–वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन २

३–अदितिकृत वामन-स्तुति २

४–इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्–(दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य परमपूज्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद) ... ३

५–पुराणोंके पर्यालोचनसे लाभ–(तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधिपति परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य महाराजका शुभाशीर्वाद) ... ४

६–विशेषाङ्क यशस्वी बने–(पश्चिमाम्नाय द्वारका शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद) ... ५

७–दानवेन्द्र बलिपर भगवान्की अद्भुत कृपा (–धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित परमपूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ५

८–वामनपुराणके सर्वस्वरूप दो श्लोक (–श्रीझालरियापीठाधिपति अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीधराचार्यजी महाराज) ६

९–वामनपुराणकी एक झलक (–अनन्तश्रीविभूषित अयोध्या-कोसलेशसदनपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज) ... ७

१०–विशेषाङ्क सफल हो (–अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्री 'श्रीजी' श्रीराधा-सर्वेश्वरशरण-देवाचार्यजी महाराजका शुभाशीर्वचन) . ९

११–सांस्कृतिक निधि—पुराण (ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पावन विचार) ... १०

१२–वेद-पुराणोंमें गोगरिमा (योगिराज पूज्यपाद श्रीदेवरहवा बाबाका आशीर्वचन) . १३

१३–पुराण-महिमा (–नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) १४

१४–वामनभगवान्ने बलिको क्यों छला ? (–स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती) . १५

१५–श्रीवामनपुराणकी उपादेयता (–परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) . १६

श्रीवामनपुराणाङ्कके विषयोंकी सूची

अध्याय — विषय — पृष्ठ-संख्या

१–श्रीनारदजीका पुलस्त्य ऋषिसे वामनाश्रयी प्रश्न, शिवजीका लीलाचरित्र और जीमूतवाहन होना ... १७

२–शरदागम होनेपर शंकरजीका मन्दरपर्वतपर जाना और दक्षका यज्ञ २०

३–शंकरजीका ब्रह्महत्यासे छूटनेके लिये तीर्थोंमें भ्रमण, बदरिकाश्रममें नारायणकी स्तुति, वाराणसीमें ब्रह्महत्यासे मुक्ति एवं कपाली नाम पड़ना २५

४–विजयाकी मौसी सतीसे दक्ष-यज्ञकी वार्ता, सतीका प्राण-त्याग, शिवका क्रोध एवं उनके गणोंद्वारा दक्ष-यज्ञका विध्वंस ३०

५–दक्ष-यज्ञका विध्वंस, देवताओंका प्रताड़न, शंकरके कालरूप और राश्यादि रूपोंमें स्वरूप-कथन . ३४

६-नर-नारायणकी उत्पत्ति, तपश्चर्या, बदरिकाश्रमकी वसन्तकी शोभा, काम-दाह और कामकी अनङ्गताका वर्णन ··· ४१

७-उर्वशीकी उत्पत्ति-कथा, प्रह्लाद-प्रसंग—नर-नारायणसे संवाद एवं युद्धोपक्रम ··· ४८

८-प्रह्लाद और नारायणका तुमुल युद्ध, भक्तिसे विजय ··· ५३

९-अन्धकासुरकी विजिगीषा, देवों और असुरोंके वाहनों एवं युद्धका वर्णन ··· ५९

१०-अन्धकके साथ देवताओंका युद्ध और अन्धककी विजय ··· ६४

११-सुकेशिकी कथा, मगधारण्यमें ऋषियोंसे प्रश्न करना, ऋषियोंका धर्मोपदेश, देवादिके धर्म, भुवनकोश एवं इक्कीस नरकोंका वर्णन ··· ६९

१२-सुकेशिका नरक देनेवाले कर्मोंके सम्बन्धमें प्रश्न, ऋषियोंका उत्तर और नरकोंका वर्णन ··· ७४

१३-सुकेशिके प्रश्नके उत्तरमें ऋषियोंका जम्बू-द्वीपकी स्थिति और उसमें स्थित पर्वत तथा नदियोंका वर्णन ··· ७९

१४-दशाङ्ग-धर्म, आश्रम-धर्म और सदाचार-स्वरूपका वर्णन ··· ८३

१५-दैत्योंका धर्म एवं सदाचारका पालन, सुकेशीके नगरका उत्थान-पतन, वरुणा-असीकी महिमा, लोलार्क प्रसंग ··· ९४

१६-देवताओंका शयन—तिथियों और उनके अशून्यशयन आदि व्रतों एवं शिव पूजनका वर्णन ··· ९८

१७-देवाङ्गोंसे तरुओंकी उत्पत्ति, अखण्डव्रत विधान, विष्णु-पूजा, विष्णुपञ्जरस्तोत्र और महिषका प्रसङ्ग ··· १०४

१८-महिषासुरका अतिचार, देवोंकी तेजोराशिसे भगवती कात्यायनीका प्रादुर्भाव, विन्ध्यप्रसङ्ग, दुर्गाकी अवस्थिति ··· १०९

१९-चण्ड मुण्डद्वारा महिषासुरसे भगवती कात्यायनीके सौन्दर्यका वर्णन, महिषासुरका संदेश और युद्धोपक्रम ··· ११४

२०-भगवती कात्यायनीका दैत्योंके साथ युद्ध, महिषासुर-वध एवं देवीका शिवजीके पादमूलमें लीन हो जाना ··· ११८

२१-देवीके पुनराविर्भाव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, कुरुक्षेत्रस्थ पृथूदकतीर्थका प्रसङ्ग, संवरण-तपतीका विवाह ··· १२३

२२-कुरुकी कथा, कुरुक्षेत्रका निर्माण-प्रसङ्ग और पृथूदकतीर्थका माहात्म्य ··· १२९

२३-वामनचरितका उपक्रम, बलिका दैत्यराज्याधिपति होना और उनकी अतुल राज्य-लक्ष्मीका वर्णन ··· १३४

२४-वामन-चरितके उपक्रममें देवताओंका कश्यपजीके साथ ब्रह्मलोकमें जाना ··· १३५

२५-वामन-चरितके सदर्भमें ब्रह्मका उपदेश, तदनुसार देवोंका श्वेतद्वीपमें तपस्या करना ··· १३८

२६-कश्यपद्वारा भगवान् वामनकी स्तुति ··· १४१

२७-भगवान् नारायणसे देवों और कश्यपकी प्रार्थना, अदितिकी तपस्या और प्रभुसे प्रार्थना ··· १४२

२८-अदितिकी प्रार्थनापर भगवानका प्रकट होना तथा भगवानका अदितिको वर देना ··· १४५

२९-बलिका पितामह प्रह्लादसे प्रश्न, प्रह्लादका अदितिके गर्भमें वामनागमन एवं विष्णु-महिमाका कथन तथा स्तवन ··· १४६

३०-बलिका प्रह्लादको संतुष्ट करना, अदितिके गर्भसे वामनका प्राकट्य, ब्रह्माद्वारा स्तुति, वामनका बलिके यज्ञमें जाना ··· १५१

३१-वामनद्वारा तीन पग भूमिकी याचना तथा विराट्रूपसे तीनों लोकोंको तीन पगमें नाप लेना और बलिका पातालमें जाना ··· १५४

३२-सरस्वती नदीका वर्णन—उसका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना ··· १६२

३३-सरस्वती नदीका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना और कुरुक्षेत्रमें निवास करने तथा तीर्थमें स्नान करनेका महत्त्व ··· १६४

३४-कुरुक्षेत्रके सात प्रसिद्ध वनों, नौ नदियों एवं सम्पूर्ण तीर्थोंका माहात्म्य ··· १६६

३५-कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य एवं क्रमका वर्णन ··· १७०

३६-कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य एवं क्रमका अनुक्रान्त वर्णन ··· १७४

३७-कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य और क्रमका पूर्वानुक्रान्त वर्णन ··· १८०

३८-मङ्कणक-प्रसङ्ग, मङ्कणकका शिवस्तवन और उनकी अनुकूलता-प्राप्ति ··· १८३

३९-कुरुक्षेत्रके तीर्थोंका अनुक्रान्त वर्णन ··· १८५

४०-वसिष्ठापवाह नामक तीर्थका उत्पत्ति-प्रसङ्ग ··· १८८

४१-कुरुक्षेत्रके तीर्थ—शतसाहस्त्रिक, शतिक, रेणुका, ऋणमोचन, ओजस, संनिहित, प्राची सरस्वती, पञ्चवट, कुरुतीर्थ, अनरक तीर्थ, काम्यकवन आदिका वर्णन ··· १९१

४२-काम्यकवन तीर्थका प्रसंग, सरस्वती नदीकी महिमा और तत्सम्बद्ध तीर्थोंका वर्णन ··· १९४

४३—स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और सान्निहत्य सरोवरके सम्बन्धमें प्रश्न और ब्रह्माके हवालेसे लोमहर्षणका उत्तर ... १९१
४४—ऋषियोंसहित ब्रह्माजीका शंकरजीकी शरणमें जाना और स्तवन, स्थाण्वीश्वर-प्रसंग और हस्तिरूप शंकरकी स्तुति एवं लिङ्गमें संनिधान ... २०३
४५—सांनिहितसर—स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और स्थाणुलिङ्गका माहात्म्य-वर्णन ... २०७
४६—स्थाणु-लिङ्गके समीप असख्य लिङ्गोंकी स्थापना और उनके दर्शन-अर्चनका माहात्म्य ... २०९
४७—स्थाणुतीर्थके सन्दर्भमें राजा वेनका चरित्र, पृथु-जन्म और उनका अभिषेक, वेनके उद्धारके लिये पृथुका प्रयत्न और वेनकी शिव-स्तुति ... २१३
४८—वेन-कृत शिव-स्तुति एवं स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, वेन आदिकी सुगतिका वर्णन ... २२५
४९—चार मुखोंकी उत्पत्ति-कथा, ब्रह्म-कृत शिवकी स्तुति और स्थाणुतीर्थका माहात्म्य ... २२८
५०—कुरुक्षेत्रके पृथूदक-तीर्थके सन्दर्भमें अक्षय-तृतीयाके महत्त्वकी कथा ... २३२
५१—मेनाकी तीन कन्याओंका जन्म, कुटिला और रागिणीको शाप, उमाकी तपस्या, शिवद्वारा उमाकी परीक्षा एवं मन्दराचलपर गमन ... २३३
५२—शिवजीका महर्षियोंको स्मृतकर उन्हें हिमवान्के यहाँ भेजना, महर्षियोंका हिमवान्से शिवके लिये उमाकी याचना, हिमालयकी स्वीकृति और सप्तर्षियोंद्वारा शिवको स्वीकृति-सूचना ... २३९
५३—हिमालय-पुत्री उमाका भगवान् शिवके साथ विवाह और वालखिल्योंकी उत्पत्ति ... २४५
५४—भगवान् शिवके लिये मन्दरपर विश्वकर्माद्वारा गृहनिर्माण, शिवका यज्ञकर्म करना, पार्वतीकी तपस्यासे ब्रह्माका वर देना, कौशिकीकी स्थापना, शिवके प्राङ्गणमें अग्नि-प्रवेश, देवोंकी प्रार्थना आदि और गजाननकी उत्पत्ति ... २५०
५५—देवीद्वारा नमुचिका वध, शुम्भ-निशुम्भका वृत्तान्त, धूम्रलोचनका वध, देवीका चण्ड मुण्डसे युद्ध और असुर-सैन्यसहित चण्ड-मुण्डका विनाश ... २५१
५६—चण्डिकासे मातृकाओंकी उत्पत्ति, असुरोंसे उनका युद्ध, रक्तबीज-निशुम्भ-शुम्भ-वध, देवताओंके द्वारा देवीकी स्तुति, देवीद्वारा वरदान और भविष्यमें प्रादुर्भावका कथन ... २६३
५७—कार्तिकेयका जन्म, उनके छः मुख और चतुर्मूर्ति होनेका हेतु, उनका सेनापति होना तथा उनका गण, मयूर, शक्ति और दण्डादिका पाना ... २७०
५८—सेनापतिपदपर नियुक्त कार्तिकेयके लिये ऋषियोंद्वारा स्वस्त्ययन, तारक-विजयके लिये प्रस्थान, पातालकेतुका वृत्तान्त, तारक-महिषासुर-वध तथा सुचक्राक्षको वर ... २७८
५९—ऋतध्वजका पातालकेतुपर आक्रमण कर प्रहार करना, अन्धका गौरीको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना ... २८८
६०—पुनः तेजःप्राप्तिके लिये शिवकी तपश्चर्या, केदारतीर्थकी उपलब्धि, शिवका सरस्वतीमें निमग्न होना, मुरासुरका प्रसंग और सनत्कुमारका प्रसंग ... २९२
६१—पुन्नाम नरकोंका वर्णन, पुत्र-शिष्यकी विशेषता एवं बारह प्रकारके पुत्रोंका वर्णन, सनत्कुमार-ब्रह्माका प्रसंग, चतुर्मूर्तिका वर्णन और मुरु-वध ... २९९
६२—शिवके अभिषेक और तप्त-कृच्छ्र-व्रतका उपदेश, हरि-हरके संयोगसे विष्णुके हृदयमें शिवकी संस्थिति, शुक्रको संजीवनी विद्याकी शिक्षा, मङ्कणकी कथा और सप्तसारस्वततीर्थका माहात्म्य ... ३०५
६३—अन्धकासुरका प्रसङ्ग, दण्डकाख्यानका कथन, दण्डकका अरजासे चित्राङ्गदाका वृत्तान्त-कथन ... ३१०
६४—चित्राङ्गदा-सन्दर्भ, विश्वकर्माका बन्दर होना, वेदवती आदिका उपाख्यान, जाबालिका बन्धन-मोचन ... ३१६
६५—गालव-प्रसङ्ग, चित्राङ्गदा-वेदवती-वृत्तान्त, कन्याओंकी खोज, घृताची-वृत्तान्त, जाबालिकी जटाओंसे मुक्ति, विश्वकर्माकी शाप-मुक्ति, इन्द्रद्युम्नादिका सप्तगोदावरमें आना, शिव-स्तुति, सप्तगोदावरमें सम्मेलन, कन्याओंका विवाह ... ३२२
६६—दण्डक-अरजाके प्रसंगमें शुक्रद्वारा दण्डकको शाप, प्रह्लादका अन्धकको उपदेश और अन्धक-शिव-सन्दर्भ ... ३३५
६७—नन्दिद्वारा आहूत गणोंका वर्णन, उनसे हरि और हरका एकत्वप्रतिपादन, गणोंको सदाशिवका दर्शन और गणोंद्वारा मन्दरका भर जाना ... ३४०
६८—भगवान् शंकरका अन्धकसे युद्धके लिये प्रस्थान, रुद्रगणोंका दानववर्गसे युद्ध और तुहुण्ड आदि दैत्योंका विनाश ... ३४५

६९—शुक्रद्वारा सञ्जीवनीका प्रयोग, नन्दि-दानव-युद्ध, शिवका शुक्रको उदरस्थ रखना, शुक्रकृत शिवस्तुति और विश्वदर्शन, प्रमथ देवोंसे युद्धमें दैत्योंकी हार, शिववेषमें अन्धकका पार्वतीहेतु विफलप्रयास, पुनः दैत्य-देव और इन्द्र-जम्भ-युद्ध, मातलिका जन्म और सारथ्य, दैत्योंका नाश, जम्भ कुजम्भ-वध ... ३५०

७०—अन्धकका शिव-शूलसे भेदन, भैरवादिकी उत्पत्ति, अन्धककृत शिवस्तुति, अन्धकका भृङ्गित्व, देवादिकोंका भेजना, अर्द्धकुसुमसे पार्वतीका प्राकट्य और अन्धकद्वारा उनकी स्तुति ३६३

७१—इन्द्रका गल्यपर असुरोंसे युद्ध, उनका 'पाकशासन' और 'गोत्रभिद्' होनेका हेतु, मरुतोंकी उत्पत्तिकी कथा ... ३७१

७२—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष-मन्वन्तरोंके मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन ... ३७५

७३—बलि, मयप्रभृति दैत्योंका देवताओंके साथ युद्ध, कालनेमिके साथ विष्णुभगवानका युद्ध और कालनेमिका वध ... ३८१

७४—बलि-बाणका देवताओंसे युद्ध, बलिकी विजय, प्रह्लादका स्वर्गमें आना, बलिको प्रह्लादका उपदेश ... ३८५

७५—त्रैलोक्य लक्ष्मीका बलिके यहाँ आना, श्वेत लक्ष्मी आदिकी उत्पत्ति, निधियोंका वर्णन, जयश्रीका बलिमें मिलना और बलिकी समृद्धिका वर्णन ३८९

७६—प्रायश्चित्त-हेतु इन्द्रकी तपस्या, माताके आश्रममें आना, अदितिकी तपस्या और वासुदेवकी स्तुति, वासुदेवका अदितिके पुत्र बननेका आश्वासन और स्वतेजसे अदितिके गर्भमें प्रवेश ... ३९३

७७—प्रह्लादसे अदितिके गर्भमें विष्णुके प्रविष्ट होनेकी बात जानकर बलिका विष्णुको दुर्वचन, प्रह्लादद्वारा बलिको शाप और अनुनय करनेपर उपदेश ३९८

७८—प्रह्लादकी तीर्थयात्रा, धुन्धु और वामन-प्रसंग, धुन्धुका यज्ञानुष्ठान, वामनका प्रादुर्भाव और उनके लिये दान देनेका धुन्धुका निश्चय, वामनका त्रिविक्रम होना और धुन्धुका वध ४०२

७९—पुरूरवाको रूपकी प्राप्ति और उसी सन्दर्भमें प्रेत और वणिक्की भेंट तथा परस्पर वृत्तान्तका कहना एवं श्रवण-द्वादशीका माहात्म्य, गयामें श्राद्ध करनेसे प्रेत-योनिसे मुक्ति और पुरूरवाको सुरूपकी प्राप्ति ... ४१०

८०—नक्षत्र-पुरुषके वर्णन-प्रसङ्गमें नक्षत्र पुरुषकी पूजाका विधान और नक्षत्र-पुरुषके व्रतका माहात्म्य ... ४१६

८१—प्रह्लादकी अनुक्रमिक तीर्थयात्राका वर्णन और जलोद्भवका आख्यान ... ४१९

८२—चक्रदानके कथा-प्रसङ्गमें उपमन्यु तथा श्रीदामका वृत्तान्त, शिवद्वारा विष्णुको चक्र देना, हरका विरूपाक्ष हो जाना और श्रीदाम-वध ४२२

८३—प्रह्लादकी अनुक्रमागत तीर्थ-यात्रामें अनेक तीर्थोंका महत्त्व ४२६

भगवान् वामनसे श्रेयःकामना (श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय') ... ४३१

नम्र निवेदन और क्षमा प्रार्थना ४३१

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

१—राजा बलिके यज्ञमें जाते हुए भगवान् वामन . मुख-पृष्ठ

२—भगवान् वामन १

३—वामनावतारी भगवान् विष्णु १७

४—भगवती वरदा देवी १०९

५—भगवान् मायावामनका यज्ञवाटमें पूजन १५७

६—चतुर्मुख ब्रह्मा २२८

७—मङ्गलायतन भगवान् विनायक २५०

८—मन्दरपर अवस्थित भगवान् शङ्कर ३४०

रेखा-चित्र

१—भगवान् त्रिविक्रमका भूमि नापना आवरण-पृष्ठ

कल्याणके द्वितीय अङ्कके (शेष वामनपुराणीय) विषयोंकी सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
	गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह [सङ्कलित]	४३३
८४–	प्रह्लादके तीर्थयात्राप्रसङ्गमें त्रिकूटगिरिस्थित सरोवरमें ग्राह द्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना, गजेन्द्रद्वारा विष्णुकी स्तुति, गज-ग्राहका उद्धार एवं 'गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र'की फलश्रुति	४३४
८५–	सारस्वतस्तोत्रके सदर्भमें विष्णुपञ्जरस्तोत्र, सारस्वतस्तव-कथन-प्रसगमें राक्षस-वृत्तान्त, राक्षसग्रस्त मुनिकी अग्नि प्रार्थना, सारस्वतस्तोत्र और मुनिद्वारा राक्षसको उपदेश	४४१
८६–	स्तोत्रोंके क्रममें पुलस्त्यजीद्वारा उपदिष्ट महेश्वर-कथित पापप्रशमनस्तोत्र	४५०
८७–	अगस्त्यद्वारा कथित पापप्रशमनस्तोत्र	४५३
८८–	बलिका कुरुक्षेत्रमे आना, वहाँके मुनियोंका पलायन, वामनका आविर्भाव, उनकी स्तुति, बलिके यज्ञमें जानेकी उत्कण्ठा और भरद्वाजसे स्वस्थानका कथन	४५५
८९–	वामनभगवान्‌का विविध स्थानोंमें निवास-वर्णन और कुरुजाङ्गलके लिये प्रस्थान करना	४६०
९०–	भगवान् वामनके आगमनसे पृथ्वीकी क्षुब्धता, बलि और शुक्रके सवाद-प्रसंगमें कोशकारकी कथा	४६३
९१–	वामनका बलिके यज्ञमे जाकर उससे तीन पग भूमिकी याचना, वामनका विराट्‌रूप ग्रहण करना एवं त्रिविक्रमत्व, वामनका बलिबन्धन-विषयक प्रश्न, बलिको वर, बलिका पाताल और वामनका स्वर्ग-गमन	४७२
९२–	ब्रह्मलोकमे वामनभगवान्‌की पूजा, ब्रह्मकृत वामनकी स्तुति और वामनरूपमें विष्णुका स्वर्गमें निवास	४७८
९३–	बलिका पातालमे वास, सुदर्शनचक्रका वहाँ प्रवेश, बलिद्वारा सुदर्शनचक्रकी स्तुति, प्रह्लादद्वारा विष्णु-भक्तिकी प्रशसा	४८२
९४–	बलिका प्रह्लादसे प्रश्न, विष्णुकी पूजनादि-विधि, मासानुसार विविध दान-विधान, विष्णु-मन्दिर-निर्माण और विष्णुभक्त एव वृद्धवाक्यकी महिमाका वर्णन	४८८
९५–	पुराण-वाचन, श्रावण-श्रवण और पठनकी फलश्रुति	४९३
१–	वामन-पुराण-पठन-माहात्म्य [लेख] (अनन्तश्री पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीजी महाराज)	४९५
२–	नव-ज्योतिका प्रकाश मिले ! (अनन्तश्री जगदाचार्य पूज्य नारदानन्दजी महाराजका शुभाशीर्वचन)	४९६

चित्र-सूची (द्वितीय अङ्क)

१–शरणागत गजेन्द्रकी पाशोंसे मुक्ति	(बहुरगे)	मुखपृष्ठ-स० ४३३
२–भगवान् वामनद्वारा तीसरे पगकी पूर्तिकी माँग	,,	४७२
३–भगवान् विष्णुके दस अवतार	(रेखा-चित्र)	आवरण-पृष्ठ

'एतन्मया पुण्यतमं पुराणं तुभ्यं तथा नारदकीर्तितं वै ।'

वामनपुराणकी शुभाशंसा

मायोपात्ततनुत्रिविक्रमपदन्यासप्रकर्षान्वित-
स्तत्त्वोद्बोधविचारचारुचरितैर्यः सत्कथाशेवधिः ।
पौराणीसुरवाक्समेधितकलाकल्याणकल्पद्रुम-
प्रोल्लासिस्तबकः स 'वामनपुराणाङ्कः' सतां भावयेत् ॥ १ ॥

जो योगमायासे शरीर धारण करनेवाले भगवान् त्रिविक्रमके पाद-निक्षेपजन्य उत्कर्ष-(अर्थात् तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापकर बलि-बन्धन आदि चरित्रोंके माहात्म्य-) से युक्त है, जो आध्यात्मिक तत्त्वोंकी उद्भूति, विचार और सुन्दर चरित्रोंसे सत्कथाओंका कोष बना हुआ है, पुराणभारतीद्वारा प्रवर्धित (काव्य-) कलासे समन्वित जो 'कल्याण' रूपी कल्पवृक्षमें उल्लसित होनेवाला गुच्छा है, ऐसा यह 'वामन-पुराणाङ्क' सज्जनोंके भगवद्भावको प्रवर्धित करे ॥ १ ॥

आख्यानप्रियबालवृद्धवनितासन्दोहमुद्बोधयन्
तीर्थस्नानकथाव्रतादिविविधैः स्तोत्रैस्तथा प्राञ्जलैः ।
शैवं वैष्णवमप्यगाधतरलं तत्त्वं समुद्घाटयन्
कल्याणस्य तदेष सञ्चितविशेषाङ्कः शुभायास्तु वः ॥ २ ॥

जिनको पौराणिक आख्यान विशेष रुचते हैं, ऐसे बालक-वृद्ध और स्त्रियोंके समूहको तीर्थस्नान, कथा, व्रतपालन आदि अनेक विधानों तथा सुन्दर देवस्तुतियोंसे जाग्रत् करता हुआ, भगवान् शिव और विष्णुके गम्भीर तथा विस्तृत आध्यात्मिक रहस्योंको प्रकाशमें लाता हुआ कल्याणका यह संकलित विशेषाङ्क हम सबके लिये शुभ देनेवाला हो ॥ २ ॥

श्रीवामनपुराणाङ्कः सुसम्पाद्यप्रकाशितः ।
समर्प्यतेऽद्य श्रीमद्भ्यो विद्यातीर्थेभ्य एव च ॥ ३ ॥
सविमर्शाश्रितैः पाठैरध्यायविषयात्मकैः ।
सानुवादः सभावार्थः सुधियः सम्परीक्ष्यताम् ॥ ४ ॥

यथामति सुन्दररीतिसे सम्पादित यह श्रीवामनपुराणाङ्क आज आप सब विद्वान् पाठकोंको समर्पित किया जाता है । इसमें विशेष विचार करके अध्यायों और विषयोंकी क्रमसंगतिका ध्यान रखते हुए भावार्थ तथा भाषानुवाद भी प्रस्तुत किया गया है । विद्वान् पाठक हमारे इस श्रमका परीक्षण कर उसे सार्थक बनायें—यही हमारा विशेष निवेदन है ॥ ३-४ ॥

स्वस्त्यस्तु गोविप्रेभ्यो वर्धन्तां धर्मबुद्धयः ।
प्रकामं लभतां शान्तिं दिग्भिन्ना भारतीप्रजाः ॥ ५ ॥

गो-ब्राह्मणोंका कल्याण हो । धर्मबुद्धियाँ बढ़ती रहें । आज धर्ममार्गसे जिसने अपनी दिशा ही बदल दी है, जिन्हें दिग्भ्रान्त हो गया है—ऐसी भारतीय जनता भी प्रभूत मानसिक शान्ति प्राप्त करे—यही हमारी शुभाशंसा है ॥ ५ ॥

भगवान् वामन
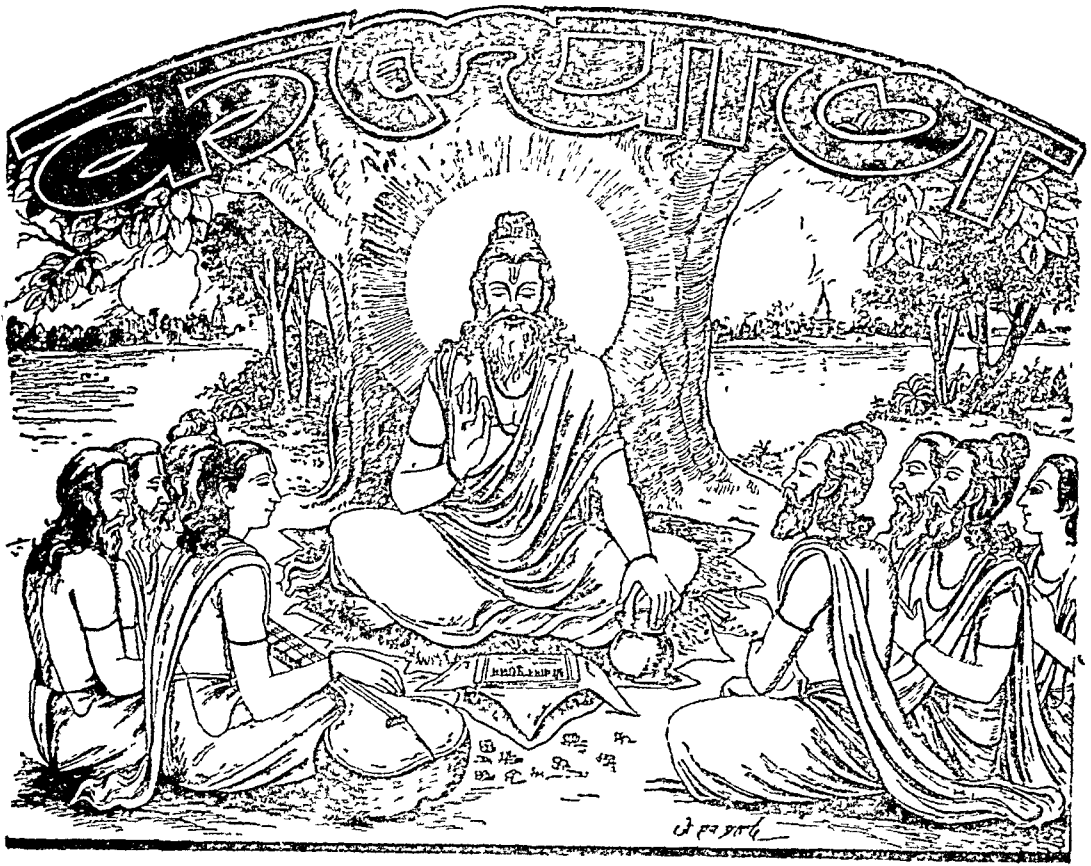
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥
(श्रीवा० पु० ९३ । ७१)

वर्ष ५६ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, जनवरी १९८२ ई० { संख्या १
पूर्ण संख्या ६६२

मङ्गलाचरणम्

स्वस्ति स्वागतमर्थ्यहं वद विभो किं दीयतां मेदिनी
का मात्रा मम विक्रमत्रयपदं दत्तं जलं दीयताम् ।
मा देहीत्युशनाब्रवीद्धरिरयं पात्रं किमस्मात्परं
चेत्येवं बलिनार्चितो मखमुखे पायात्स नो वामनः ॥

'आपका कल्याण हो ।' 'आपका स्वागत है ।' 'मैं याचक हूँ ।' 'प्रभो ! बोलिये । क्या दिया जाय ।' 'मुझे भूमि (दानमें) दीजिये ।' 'कितनी मात्रामें ?' 'मेरे पगसे तीन पग ।' 'दे दी ।' 'संकल्पका जल दीजिये ।' 'मत दो; ये याचक भिक्षुक नहीं, साक्षात् विष्णु हैं'—ऐसा शुक्राचार्यने कहा । (तो बलिने कहा—) 'इनसे बढ़कर दान देनेका उत्तम पात्र कौन हो सकता है ?' इस प्रकार परिचर्चाके बाद राजा बलिके यज्ञारम्भमें पूजित वामन भगवान् हम सबकी—वाचक-श्रोता, पाठक-पाठिका प्रभृतिकी—सदा रक्षा करें । (—सु० र० भा०)

वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ १६ ॥
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ १८ ॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १९ ॥
तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २० ॥
तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ २१ ॥

(ऋ० मं० १ सू० २२)

जिस भू-प्रदेशसे अपने सातों छन्दोंद्वारा विष्णुने विविध पाद-क्रम किया था, उसी भू-प्रदेशसे देवता लोग हमारी रक्षा करें ॥ १६ ॥ विष्णुने इस जगत्की परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पैर रक्खे और उनके धूलियुक्त पैरसे जगत् छिप-सा गया ॥ १७ ॥ विष्णु जगत्के रक्षक हैं, उनको आघात करनेवाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मोंको धारण कर तीन पगोंसे परिक्रमण किया ॥ १८ ॥ विष्णुके कर्मोंके बलसे ही यजमान अपने व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं। उनके कर्मोंको देखो। वे इन्द्रके उपयुक्त सखा हैं ॥ १९ ॥ आकाशमें चारों ओर विचरण करनेवाली आँखे जिस प्रकार दृष्टि रखती हैं, उसी प्रकार विद्वान् भी सदा विष्णुके उस परम पदपर दृष्टि रखते हैं ॥ २० ॥ स्तुतिवादी और मेधावी मनुष्य विष्णुके उस परम पदसे अपने हृदयको प्रकाशित करते हैं ॥ २१ ॥

अदितिकृत वामन-स्तुति

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
र्द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशिः ॥

(अदितिने कहा—) आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं। अच्युत! आपके चरणकमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं। आपके यश-कीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है। आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। आदिपुरुष! जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी सारी विपत्तियोंका नाश आप कर देते हैं। भगवन्! आप दीनोंके स्वामी हैं। आप हमारा कल्याण कीजिये। आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं। अनन्त होनेपर भी स्वच्छन्दतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं। आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्धकारको नष्ट करते रहते हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करती हूँ। प्रभो! अनन्त! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, योगकी समस्त सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और केवल (अद्वितीय) ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है; फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। (आप समस्त मनोरथोंके कल्पवृक्ष हैं।)

(श्रीमद्भा० ८। १७। ८-१०)

*

मन्दरपर अवस्थित भगवान् शङ्कर

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

(दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य परमपूज्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इस याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रमाणवचनसे विद्या और धर्म-विषयमे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिषरूप षड् वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि दर्शन एवं धर्मशास्त्रके साथ वेद परम प्रमाण हैं। वेदोंके वचनोंके रहस्य बडे गूढ हैं, अर्थात् मामूली तौरपर शब्द-शब्दार्थ जाननेवाला वेदोका तात्पर्य नहीं समझ सकता। अङ्ग-उपाङ्गोके साथ सम्प्रदायके अनुसार अध्ययन करनेवाला ही समझ पायेगा। उपाङ्गोमें भी पुराणका स्थान प्रथम आया है। वे पुराण ब्राह्म-पाद्मादि भेदसे अठारह हैं।

पुराणोंका परिशीलन वेदोंके तात्पर्य समझनेमें बड़ा सहायक होता है। इसीलिये पुराणोमें सर्वत्र कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

पुराणोके ज्ञानके बिना अपना तात्पर्य समझनेके प्रयास करनेवाले अल्पज्ञसे वेद डरता है कि वह व्यक्ति मेरा कहीं अपार्थ तो न कर डालेगा ? पुराण और इतिहासके साथ जो वेदका ज्ञान प्राप्त होता है, वही सच्चा निकलता है। इसलिये पुराणोका अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

वेदोमे जो संग्रह किये या गूढरूपसे धर्म बताये गये हैं, वे ही स्मृतियोमे विस्तारसे व्याख्यात हुए है। फिर वे ही कथा-व्याख्यानादिरूपसे पुराणोद्वारा स्पष्ट रीतिसे समझाये जाते है, जिससे मामूली ज्ञानवाला व्यक्ति भी उसे आसानीसे समझ पावे। उदाहरणके लिये कृष्णयजुर्वेद-शिक्षावल्लीमे केवल इतना ही है कि **'सत्यं वद ।'** स्मृतिकार—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

—इस वचनसे उसीका विस्तार करते हैं। पुराणोमे सत्यपर अडिग रहनेवाले महाराज हरिश्चन्द्र आदिकी अनेक मनोहर कथाओंके द्वारा सत्यरूप धर्मका उपदेश समझाया गया है, जिससे सत्यका पालन करनेवाला आरम्भमे कष्ट प्राप्त होनेपर भी अन्तमे उस सत्य-वचनरूप एकमात्र धर्मसे ही परमात्माका साक्षात्कार कर अपना जीवन धन्य बना लेता है। इससे सत्य धर्मकी वैदिक **'सत्यं वद'** विधिवाक्यकी व्याख्या पूरी हो जाती है और हम सत्यरूप धर्मका महत्त्व समझ लेते हैं। वेदका अपार्थ नहीं होने पाता। इसी प्रकार पुराण हमे धृति, क्षमा, दम, ब्रह्मचर्य आदि वेदप्रतिपादित धर्मोंका महत्त्व समझाते हैं।

महापुराणोमे वामनपुराण भी एक है। इसमें भगवान् श्रीवामनजीका जन्म और उनके लीलाचरित्रके साथ नाना आख्यानोके द्वारा धर्मका निरूपण किया गया है। धर्मनिरूपण-प्रकरणमे वामनपुराण कहता है—

एतत्प्रधानं पुरुषस्य कर्म
यदात्मसम्बोधसुखे प्रविष्टम् ।
ज्ञेयं तदेव प्रवदन्ति सन्त-
स्तत्प्राप्य देही विजहाति कामान् ॥
(४३ । २५)

पुरुषका प्रधान कार्य यही है कि वह सुखस्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त करे। सत्पुरुष उसी आत्माको ज्ञातव्य कहते हैं जिसे प्राप्त करनेपर मनुष्य सारी कामनाओंसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

वामनपुराणके इस तात्त्विक उपदेशमें धर्मका वास्तव अन्तिम स्वरूप व्याख्यात है। आत्माका **ज्ञान ही अन्तिम** धर्म-साध्य चरम पुरुषार्थ है।

पुराणोंके पर्यालोचनसे लाभ

(तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधिपति परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य महाराजका शुभाशीर्वाद)

आजकल परिस्थिति ऐसी बदल गयी है कि लोगोंको पुराण-श्रवण और पठन—दोनोंमें श्रद्धा नहीं रह गयी है। यह प्रवृत्ति कैसे सुधरे—इसके लिये हमलोगोंके हृदयमें बड़ी चिन्ता होती है। पुराणानुशीलनसे परम लाभ है। वर्तमान प्रवृत्तिके सुधारके लिये जनताको अपनी प्रवृत्ति सुधारने, सुरुचिको बढ़ानेमे सहायतार्थ 'कल्याण'को स्वयं पढ़ना चाहिये। 'कल्याण' पत्र पुराणों एवं इतिहासोंको एक-एक करके प्रायः यथासमय अपने विशेषाङ्कके द्वारा लोगोंके सामने रखनेके काममें सफल हुआ है; इस बातसे हमे बड़ी प्रसन्नता होती है और हमारा उनके लिये परम आशीर्वाद है। 'कल्याण'के इस प्रयाससे जनताकी अभिरुचि पुराणोंमें बढ़ेगी और वेदार्थका प्रकाश होगा।

बड़े हर्षकी बात है कि 'कल्याण' इस वर्ष वामन-पुराणको अर्थसहित अपने विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करने जा रहा है। उसकी सफलताके लिये हमारा आशीर्वाद है।

वामनपुराण सद्धर्म, नीति एवं सदाचारको जनताके बीच फैलानेवाला आर्ष-ग्रन्थ है। इसे पढ़नेसे लोग विनयी एवं सदाचारी बनेंगे, अपना-पराया कल्याण करेंगे, इस धर्मप्रधान देशका मङ्गल होगा।

अपने सनातन वैदिक धर्मके आधार और प्रमाण-भूत मूलग्रन्थ अपौरुषेय वेद ही हैं। पर वेदोंके भाव और उनमें कही हुई बातोंको आख्यानोपाख्यानोंद्वारा सुस्पष्ट करनेका काम पुराण ही करते हैं। इसलिये भारतीय विचारक मनीषी वेदोंके व्याख्यानके लिये इतिहास तथा पुराणोंको पढ़ते हैं। पहले अपठित ग्रामीण लोग भी मन्दिर और पवित्र नदियोंके तटोंपर पढ़े-पढ़ाये जाते हुए पुराणोंको तथा वैशाख, श्रावण, कार्तिक, माघ आदि मासीय धर्मकृत्य-माहात्म्यों, तीर्थ-माहात्म्योंको श्रवण कर पारमार्थिक लाभ उठाते थे। पुराण-इतिहासोंको पढ़नेसे पुराने प्राचीन राजा-महाराजोंके सफल इतिहास और सांसारिक व्यवस्थाका ज्ञान भी मिलता है। विश्व-सृष्टि और प्रलय—दोनोंके विषयमें बहुत-सी बातोंका ज्ञान हमको पुराण ही देते हैं। साथ-साथ भूगोल और खगोलके बारेमें भी हम सीख सकते हैं। हमारे धर्मकी बातें कैसे बिना संशय कानके द्वारा ही आजतक पहुँची हैं?—पुराणोंके द्वारा ही तो। पुराणोंको सुनने और पढ़नेसे सब पाप दूर होते हैं और श्रेष्ठ धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक संस्कारोंकी छाप पड़ती है। इससे लोग ईश्वरको सर्वस्व मानेंगे और उनमें दृढ भक्ति करेंगे। और, फिर ईश्वर-चरणारविन्दोंमें प्रणत होकर जीवनका वास्तविक फल प्राप्त करेंगे।

पुराणोंमें वामनपुराण बड़े महत्त्वका है। इसमें वामन एवं नर-नारायणके तथा भगवती दुर्गाके बहुत पवित्र चरित्र तो हैं ही, प्रह्लाद आदि भक्तोंके बड़े रम्य आख्यान भी हैं। सुप्रसिद्ध गजेन्द्रमोक्षकी कथा और मूलस्तोत्र भी इसमे हैं। 'कल्याण' ऐसे उपादेय पुराणका विशेषाङ्क जनकल्याणकी भावनासे निकाल रहा है—यह प्रसन्नताका विषय है। 'कल्याण' अपने इस कार्यमें सफल हो—यह हमारा पुनः आशीर्वाद है।

विशेषाङ्क यशस्वी बने

(पश्चिमाम्नाय द्वारका-शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

पुराणोंमें भारतीय संस्कृति भरी है। पुराण ज्ञाननिधि हैं। ऐसे ज्ञानके निधान उपयोगी पुराणोंका प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। 'कल्याण' श्रीवामनपुराणाङ्क विशेषाङ्कके रूपमें निकाल रहा है, यह प्रसन्नताकी बात है। इस अवसरपर पूज्यपाद जगद्गुरुका हार्दिक शुभाशीर्वाद है कि यह विशेषाङ्क भगवान् श्रीद्वारकाधीश तथा चन्द्रमौलीश्वरकी अनुकम्पासे सफल और यशस्वी बने।

(प्रे०—मन्त्री)

दानवेन्द्र बलिपर भगवान्‌की अद्भुत कृपा

(धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित परमपूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

जीवोंपर श्रीभगवान्‌की अहैतुकी कृपा सदा ही रहती है। जीव केवल अपने त्याग, तपस्या आदि साधनोंके बलपर इस भवसागरसे कभी तर नहीं सकता। बड़े-बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, महात्मागण अनन्त जन्मोंतक त्याग-तपस्या आदि साधनकर श्रीभगवान्‌के पास पहुँचते हैं। किंतु जब भगवान्‌की भास्वती अनुकम्पा भक्तोद्धारके लिये आतुर हो जाती है, तब श्रीभगवान् स्वयं भक्तके पास जानेके लिये बाध्य हो जाते हैं और वे उसका कृपापूर्वक उद्धार करते हैं। श्रीभगवान्‌ने वामनरूप धारणकर दानवेन्द्र बलिको बाँध लिया। वह घटना सचमुच बड़ी ही करुणापूर्ण थी। जिसने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया हो, उस बलिके प्रति श्रीभगवान्‌का यह व्यवहार आपाततः सहसा बड़ा कठोर-सा प्रतीत होता है। किंतु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस लीलाके मूलमें भी उन कृपालुकी अनन्त कृपा ही छिपी है। ब्रह्माजी कुछ कहना चाहते थे, पर इसी बीच महामना बलिकी पत्नी श्रीविन्ध्यावलीजी श्रीभगवान्‌के सामने आ जाती हैं। वे कहती हैं—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
(श्रीमद्भा० ८।२२।२०)

अर्थात्—'प्रभो! आपने अपनी क्रीडाके लिये ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है, पर यहाँ जो कुबुद्धि हैं, वे आपकी इस सम्पत्तिपर अपना स्वामित्व अङ्गीकार करते हैं।' वस्तुतः सारा विश्व भगवान्‌का है; अतः सर्वस्व समर्पण ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। इसमें भी भगवत्कृपा ही कारण होती है।

अन्तमें श्रीप्रह्लादजीने कहा कि 'प्रभो! लोग कहते हैं कि भगवान् देवताओंका पक्षपात करनेवाले हैं, किंतु आज यह बात विदित हो गयी कि तत्त्वतः आप असुरोंके भी पक्षपाती हैं, उनपर भी आपकी अजस्र कृपा रहती है। तभी तो आप बलिके घरमें उनके (बावन) द्वारोंपर चक्र लिये हुए खड़े दिखायी पड़ते हैं। यह कैसी विशेषता है कि आप किसी देवताके यहाँ चक्र लिये खड़े नहीं दीखते, पर बलिके यहाँ पहरा दे रहे हैं।'

वस्तुतः यह महान् आश्चर्य है कि भगवान् वामन-रूपमें दानवेन्द्र बलिके सभी द्वारोंपर खडे दीखते हैं। बलिकी आँखें जहाँ जाती हैं, वहीं श्रीभगवान् दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः बलिका जीवन परम धन्य है।

इस आख्यानको सुनिपुणतया प्रकाशित करता है—वामनपुराण। 'कल्याण'का यह 'श्रीवामनपुराणाङ्क' इसपर और प्रकाश डालेगा।

वामनपुराणके सर्वस्वरूप दो श्लोक

(—श्रीआलरियापीठाधिपति अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीधराचार्यजी महाराज)

आर्यसर्वस्व पुराण सर्वसाधारणके उपयोगमें आनेके कारण वेदोंसे कम महत्त्वके नहीं हैं। कहीं-कहीं तो वे उनसे भी अधिक महत्त्ववाले हैं। श्रीरूपगोस्वामीने पुराण शब्दका वेदार्थ-सगत यह निर्वचन किया है कि **'पुरा नयतीति पुराणम्'** अर्थात् जो वेदोपदिष्ट गहन गम्भीर तत्त्वोंको सरल भाषामें सब देश, सब काल, सब दिशाओंमें **'गेहे-गेहे, जने-जने'** तक पहुँचाता है, उसे पुराण कहते हैं।

गङ्गा आदि तीर्थोंका महत्त्व, भूप्रदक्षिणा, एकादशी आदि व्रतोंकी उपादेयता, शुभाशुभ कर्मोंके फलोंका विस्तृत विवेचन, वृक्षारोपण-सेचन आदिका महत्त्व, पाप-पुण्योंका विवेचन और उनके फलोंसे होनेवाले सुख-दुःखोंका विश्लेषण, मृत्युके अनन्तर जीवात्माओंकी स्थिति एवं गतिका विवेचन, आत्माकी स्थितिसे इहलोक और परलोक—दोनोंका सम्बन्ध, गो-महिमा और उसके दानका महत्त्व आदि-आदि आर्योंके जो सांस्कृतिक-धार्मिक आचरण हैं, उन सबका मूल विधायक स्रोत पुराण ही हैं।

पौराणिक विद्वानोंने अन्यत्र पुराणका एक लक्षण **'सृष्टीतिहासः पुराणम्'**—इस प्रकार भी किया है।

पुराणोंमें सृष्टिकी उत्पत्तिके रहस्य आदि पाँच विषयोंका प्रतिपादन है। भूगोल, खगोल, ग्रह, नक्षत्र-ताराओं आदिके विस्तृत वर्णनके साथ नक्षत्र-भ्रमण, ग्रहोंके अतिचारों-सौम्याचारोंसे पृथ्वीके प्राणियोंपर होनेवाले परिणामोंका वर्णन भी अग्निपुराणादिमें पाये जाते हैं। पुराणोंमें कर्मज व्याधियोंकी चिकित्साका भी विधान है। पुराण वेदार्थ-ज्ञानके प्रकाशक हैं, व्याख्यान हैं। पुराण ज्ञानकी खान हैं।

अठारह पुराणोंमें वामनपुराणकी भी रिगणना है। यह वैष्णव-पुराण है। इसमें वैष्णवोंके योग्य संस्कारों तथा सदाचारोंका वर्णन है। इस पुराणमें भक्तिके आठ लक्षणोंमेंसे एक लक्षण यह भी है कि **'यश्च मां नोपजीवति'** अर्थात् जो व्यक्ति हमारे द्वारा अपना पेट नहीं पालता, वह भक्त है। भक्तिका आश्रय लेकर पेट पालनेवाला भक्ति-पद्धतिको विकृत कर देता है, वह भक्त नहीं है। यह बात कितनी अच्छी है।

वामनपुराणने भगवद्भक्तोंको नीचे लिखित दो श्लोकोंसे जो अभयदान दिया है, वह उल्लेखनीय है। वे दो श्लोक ये हैं—

१-स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः।
धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपं च मामजम्॥
२-ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

अर्थात्—'शारीरिक इन्द्रियों, मन और शरीरके सुस्वस्थ रहते हुए जो भक्त प्राणी विश्वरूप मेरा चिन्तन करता है तो (उसके) उसकी म्रियमाण अवस्थामें, काष्ठ-पाषाण-सन्निभ अवस्थामें होते हुए भी मैं उसका स्मरण रखता हूँ और उसे परमगति प्रदान करता हूँ।'

वामनपुराणके इन दो श्लोकोंको श्रीसम्प्रदायमें विशेष महत्त्व देते हुए इसे चरम श्लोक माना गया है। वेदान्तदेशिक स्वामीने इन दो श्लोकोंकी विस्तृत विवेचना की है। इसे 'रहस्यशिखामणि' नाम दिया गया है। ये दो श्लोक वामनपुराणके प्राणरूप और वैष्णवोंके सर्वस्वरूप हैं।

वामनपुराणकी एक झलक

(—अनन्तश्रीविभूषित अयोध्या-कोसलेशसदनपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज)

सम्पूर्ण भारतीय विद्याओंमें पुराणविद्याका स्थान सर्वोपरि है। शास्त्रोंका तो यहाँतक कथन है कि—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
(मत्स्यपु० २३। ३)

पुराणोंकी एक विशेषता यह है कि यदि ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया जाय तो फिर कुछ भी अध्ययन करना शेष नहीं रह जाता; क्योंकि प्रायः सभी पुराणोंमें—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

—के अनुसार चर-अचररूप चेतन और अचेतनोंकी भौतिक सृष्टि, आजीविका, चरित्रनिर्माणमें आदर्शभूत सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परात्परतम-तत्त्व परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायणके सम्पूर्ण अवतार-चरित्रोंका चित्रण, पुण्यश्लोक चरित्रोंवाले राजवंशोंका वर्णन, विविध इतिहास, कल्पमें होनेवाले अन्यान्य पवित्र व्यक्तियोंके चरित्र और इन्हीं प्रसङ्गोंमें भूगोल, खगोल वन-नदी-पर्वत, तीर्थ-व्रत-दान आदि पवित्र कर्मोंका तथा त्याज्योपादेय क्रिया-कलापोंका विशद वर्णन होता है। संक्षिप्तमें—सृष्टिकी उत्पत्ति और विनाश, मनुओं-राजाओं आदिकी वंश-परम्परा, मनुओंका वर्णन तथा विशिष्ट व्यक्तियोंका चरित्र—ये पाँच विषय जिस ग्रन्थमें पूर्णतया वर्णित हों, उसे पुराण कहते हैं—ऐसा लिखा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुराण संस्कृतिकी निधि हैं।

यह लक्षण पुराणोंमें सर्वथा घटित होता है। संसारकी किसी भी भाषामें पुराणोंके समान सृष्टि-विषय-विधायक सर्वतोमुख ग्रन्थ देखनेमें नहीं आते। अन्य भाषाकी तो बात छोड़िये, संस्कृतसाहित्यमें भी पुराणोंको छोड़कर अन्य किसी भी ग्रन्थमें इस प्रकारका परिनिष्ठित एवं वैज्ञानिक सृष्टिक्रम विस्तारपूर्वक नहीं मिलता। इसलिये 'पुराण' शब्दका वास्तविक अर्थ ही इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है कि ये पुराणग्रन्थ प्राचीनसे भी अति प्राचीन—यहाँतक कि मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति-कालसे भी पूर्वतम रहस्योंका प्रत्यक्षके समान वर्णन करते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र, कब, कैसे, किस प्रकार बने—इन सब बातोंका परिज्ञान पुराणोंके अतिरिक्त कहीं भी विस्तारसे प्राप्त न हो सकेगा। इतनेपर भी जो गुरुपरम्परा-विमुख पुराणोंको नवीन कहनेका दुःसाहस करते हैं, वे न केवल पुराणोंके प्रतिपाद्य विषयसे ही अपरिचित हैं, अपितु पुराण शब्दकी—**'पुराणं कस्मात् पुरा नवं भवति'** (निरुक्त ३। ११। २४) इस यास्ककृत व्युत्पत्तिसे तथा इसके साधक व्याकरण-सूत्रोंसे भी सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं।

समग्र 'पुराणों'की संख्या १८ है। उपपुराण भी १८ हैं। इनके अतिरिक्त स्थल-पुराणों आदिको भी जोड़ें तो इनकी संख्या १०० तक पहुँच जाती है। इन सभी पुराणोंमें भिन्न-भिन्न कल्पोंकी सृष्टिके चरित्र हैं। अतः सभी अवतारोंके चरित्र सभी पुराणोंमें होनेपर भी उन-उन कल्पोंमें अवतरित भगवदवतारोंका चरित्र-चित्रण किसीमें विस्तारसे तथा किसीमें स्वल्परूपेण तत्तत् कल्पानुसार ज्यों-का-त्यों लिखा गया है। जब-जब पुराणविद्याका लोप होता है, तब-तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके रूपमें प्रकट होकर सम्पूर्ण वेदोपवेदोंका विस्तार पुराणके रूपमें करते हैं। यह सनातन प्रथा है—**'अष्टादशपुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः।'**

सभी पुराणोंकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। प्रकृत 'वामनपुराण'की यह अलौकिक विशेषता है कि उसके प्रतिपाद्य भगवान् वामन किसीके भी वाम नहीं हैं। एक ओर जहाँ वे इन्द्रके अनुज उपेन्द्र बनते हैं,

वहीं दूसरी ओर वे परमभागवत महाराज बलिके द्वारपाल-रूपेण रक्षक बनते हैं। इसीलिये वे दोनोंमें किसीके भी वाम नहीं हैं (अर्थात् 'वाम'+'न'—'वामन' हैं)। इसके अतिरिक्त भी श्रीवामनभगवान्‌के विलक्षण अवतारकी एक और अपूर्व कथा वामनपुराणमें प्राप्त होती है। उसके अनुसार—

चतुर्थस्य कलेरादौ जित्वा देवान् सवासवान्।
धुन्धुः शक्रत्वमकरोद्धिरण्यकशिपौ सति॥
(वा० पु० ७८। १६)

'चतुर्थ कलिके आदि सत्ययुगमें धुन्धु नामका महान् असुर देवताओंके ऊपर विजय प्राप्त कर इन्द्रपदपर आरूढ़ हुआ था; फिर—

तस्मिन् काले स बलवान् हिरण्यकशिपुस्ततः।
चचार मन्दरगिरौ दैत्यो धुन्धुं समाश्रितः॥

—इस वचनके अनुसार हिरण्यकशिपुने उस धुन्धु नामके महा-असुरके आश्रित होकर ही तपस्या की। सभी देवता धुन्धुके भयसे भीत होकर ब्रह्मलोक गये। धुन्धुको यह समाचार अपने वीरोंद्वारा प्राप्त हुआ। तदनुसार उस दानवेन्द्र धुन्धुने अपने वीरोंको ब्रह्मलोकपर भी चढ़ाई करनेके लिये आदेश दिया। दैत्योंने उसके इस महान् साहसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए निवेदन किया कि उस दिव्य स्थानमें केवल पुण्यात्मालोग ही पहुँच सकते हैं; क्योंकि यहाँसे हजारों योजन दूर महर्षियोंसे भरा हुआ 'महः' नामक लोक है। उसमें रहनेवाले परमतेजस्वी महर्षियोंकी स्वाभाविक दृष्टि पड़ने-मात्रसे हम सभी दैत्य विनष्ट हो सकते हैं। उससे भी आगे एक करोड़ दूरीपर 'जन'लोक है। वहाँपर श्रीशिवके वाहन भगवान् नन्दीश्वरकी जननी लोकमाता कामधेनु अपने चारों स्तनोंसे अनवरत प्रपात करती हुई एवं क्षीरसागरको दुग्धाप्लावित करती हुई अपने समान गौओंके साथ विराजती हैं। उन पूज्याओंके हुंकारमात्रसे सम्पूर्ण असुरकुल नष्ट हो सकता है। उससे भी ऊपर तीन करोड़ योजन दूरीपर सहस्र सूर्योंके समान प्रभाववाले सिद्धोंसे सुसेवित 'तपः' नामका लोक है और उससे भी ऊपर अनन्त मार्त्तण्डसे प्रदीप्त 'सत्य' नामका लोक है, जहाँपर लोकपितामह श्रीब्रह्माजी विराजते हैं, जिनके द्वारा आपको वरदान प्राप्त हुए हैं। उस ब्रह्मलोकमें पहुँचना हम सबके लिये सर्वथा असम्भव है।

यह सुनकर दानवेन्द्र धुन्धुने पूछा कि उस ब्रह्मलोकमें जानेके लिये कौन-सा पवित्र कर्म आवश्यक है, जिसके करनेसे देवेन्द्र सब देवताओंके साथ वहाँ जा सकते हैं और मैं नहीं जा सकता। उस पुण्यको बताओ; उसे करके हम भी वहाँ जानेकी योग्यता प्राप्त करेंगे। दैत्योंने कहा इसे श्रीशुक्राचार्यजी बता सकते हैं।

तब दानवेन्द्र धुन्धुने उनकी संनिधिमें पहुँचकर उनके कथनानुसार भार्गवगोत्रीय अमित ब्राह्मणोंद्वारा गोमेध-अश्वमेधादि यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण कर शुक्रशिष्योंके साथ यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। फिर तो मन्त्रोच्चारण-रव एवं यज्ञीय पवित्र धूमसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही व्याप्त हो गया। इससे घबराकर सब देवताओंने भगवान् श्रीहरिकी प्रार्थना की। देवताओंकी प्रार्थना सुन मधुसूदनने उन लोगोंको अभय प्रदान कर धुन्धुको बाँधनेका संकल्प किया—

बन्धनाय मतिं चक्रे धुन्धोर्धर्मध्वजस्य वै।
ततः कृत्वा स भगवान् वामनं रूपमीश्वरः॥
वामनं रूपमास्थाय भगवान् भूतभावनः।
देहं त्यक्त्वा निरालम्बं काष्ठवद् देविकाजले॥
(वा० पु० ७८। ५२-५३)

भगवान् वामन-शरीर धारण कर देविका नदीमें कूद पड़े। इस प्रकार भगवान्‌को देविका नदीमें डूबते-उतराते देखकर दैत्यराज धुन्धु एवं ब्राह्मणोंने दयापरवश हो शीघ्रतापूर्वक उन्हें निकाला तथा पूछा—ब्रह्मन्! आप कौन हैं और नदीमें कैसे बह रहे हैं? उन लोगोंके प्रश्नको सुनकर काँपते हुए भगवान्‌ने कहा—सर्वशास्त्रार्थ-

वेत्ता वारणगोत्रीय प्रभास नामक ब्राह्मणके दो पुत्र हुए। बड़े भाईका नाम नेत्रभास तथा मैं गतिभास छोटा भाई हुआ। छोटा होनेके कारण मुझे वामन भी कहते हैं। पिताजीके स्वर्गवासी हो जानेपर मेरे ज्येष्ठ भ्राताने कहा—

कुब्जवामनखञ्जानां क्लीवानां श्वित्रिणामपि।
उन्मत्तानां तथान्धानां धनभागो न विद्यते॥
(वामन पु० ७८। ६४)

ऐसा कहकर मेरे विवादकी शङ्कासे उन्होंने मुझे इस नदीमें फेंक दिया, जिसे निकालकर आप लोगोंने महत्पुण्यका कार्य किया है। यह सुनकर दैत्यराज दानवीर धुन्धुने कहा कि आप अपनी इच्छाके अनुसार दास-दासी, गृह, स्वर्ण, रथ, गज, पृथ्वी, वस्त्रादि जो चाहें सो हमसे प्राप्त करें। दानवश्रेष्ठ धुन्धुकी इस बातको सुनकर भगवान्ने कहा—

मम प्रमाणमालोक्य मामकं च पदत्रयम्।
सम्प्रयच्छस्व दैत्येन्द्र नाधिकं रक्षितुं क्षमः॥
(वामनपु० ७८। ८०)

—भगवान्की इस वाणीको सुन करके उसके अनुसार दान देनेके लिये ज्यों ही संकल्प लिया, त्यों ही भगवान्ने अपने त्रिविक्रम-रूपको प्रकट कर सम्पूर्ण भूलोकको एक पादमात्रसे नापकर विरोधके लिये उद्यत दैत्योंका संहार करते हुए दूसरे पाँवसे स्वर्गलोक भी नाप लिया तथा तीसरे पदके लिये स्थान न दे सकनेवाले उस दानवश्रेष्ठके ऊपर वे कूद पडे। उसके साथ भूमिपर गिरनेके कारण तीस हजार योजन गहरा गड्ढा बन गया। उस महागर्तमें दानवेश्वर धुन्धुको गिरा जानकर दिव्य बालुकामयी वर्षाद्वारा उस महागर्तको पूर्ण करते हुए कृपापरवश हो स्वयं भी दानवेन्द्रको अपनेमें लीन कर कालिन्दीरूपमें अन्तर्हित हो गये—

एवं पुरा विष्णुरभूच्च वामनो
धुन्धुं विजेतुं च त्रिविक्रमोऽभूत्।
(वा० पु० ७८। ९०)

इस प्रकार वामन भगवान्के विभिन्न रूपोंमें अवतारोंका वर्णन और स्तोत्रोंका विवेचन करते हुए चतुर्मुख ब्रह्माने जो कूर्म-कल्पानुसार त्रिविक्रम भगवान्के चरित्रके साथ त्रिवर्गका प्रतिपादन किया, वही 'वामनपुराण'के रूपमें विख्यात हुआ।

त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः*।
त्रिवर्गमभ्यधायच्च वामनं परिकीर्तितम्॥
पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम्॥
(मत्स्य० ५३। ४४-४५)

उपर्युक्त लक्षण उपलब्ध वामनपुराणमें तो सर्वथा घटित होता है, परंतु पद्य-संख्यामें चार हजार श्लोकोंकी न्यूनता है। कहा जाता है कि इसका उत्तरभाग किसी आकस्मिक घटनाका विषय अथवा अन्य किसी धर्मविरोधी षड्यन्त्रका शिकार हो गया।

विशेषाङ्क सफल हो

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्री 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरण-देवाचार्यजी महाराजका शुभाशीर्वचन)

अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक, त्रिभुवन-विमोहन, जगदभिन्न-निमित्तोपादनकारण, अनुग्रह-विग्रह, अकारण-करुणा-वरुणालय, मुक्तोपसृप्य, क्षराक्षरातीत, नित्य-निकुञ्ज-विहारी, श्रीराधासर्वेश्वर-युगल श्रीगुरुकृपा एवं शास्त्र-ज्ञानसे संवेद्य हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्'-(ब्र० सू० १। १। ३)का वाक्यार्थ करते हुए आद्याचार्यचरण

* इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि इसके वक्ता चतुर्मुख ब्रह्मा हैं; पर उपलब्ध पुराणमें वक्तारूपमें पुलस्त्यजी ही दृष्ट हैं। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा है कि मैंने चतुर्मुख ब्रह्मासे, जैसा कुछ सुना है, वैसा ही कह रहा हूँ। प्रतीत होता है कि इस प्रकारका श्लोक रहा होगा जो अब लुप्त है। [-स०]

श्रीनिम्बार्क भगवान्‌ने शास्त्रको ही ब्रह्मज्ञानका कारण बताया है—

'शास्त्रमेव योनिस्तज्ज्ञप्तिकारणं यस्मिंस्तदेवोक्तलक्षणलक्षितं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति ।'

(वे० पा० सौ०)

यह ब्रह्म अनुमानादि-(प्रमाण-) गम्य नहीं है । वेद ही (आप्त शब्द ही) इसके ज्ञानमें प्रमाण हैं । इसे स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर श्रीनिवासाचार्यजी महाराजने वेदान्तकौस्तुभमें लिखा है—

'ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किन्तु वेदप्रमाणकम् । कुतः ? शास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रं वेदः योनिः कारणं ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनिस्तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्माच्छास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रप्रमाणकत्वात् । वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः ।'

वेदादिशास्त्र श्रीसर्वेश्वर प्रभुके निःश्वसित हैं । उपनिषद्‌ने मुक्तकण्ठसे कहा है—

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः । (बृ० ४ । ५ । ११)

इतिहास और पुराण निःश्वसित होते हुए भी वेदके आशयका विस्तृत विवेचन करते हैं—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।'

भागवतकारने तो इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद भी कहा है—

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥

(श्रीमद्भा० १ । ४ । २०)

इस प्रकार पुराणोंका भी महत्त्व निर्विवाद है । इनकी भाषा लौकिक एवं सर्वसंवेद्य है । महर्षि श्रीवेदव्यासजीने इनकी रचना सर्वजन-हिताय की है । इनमें केवल भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि ही नहीं, अपितु विविध विज्ञानका भी रहस्य प्रतिपादित किया गया है । पुराणोंमें अन्यतम एक वामनपुराण भी है जो अपनेमें सर्वथा परिपूर्ण है । इसमें बलि-वामनकी कथा मुख्य है ।

बलिका जन्म दानव-कुलमें हुआ है । इस कुलके विध्वंसक भगवान्‌ने वामनस्वरूप ब्रह्म-तन धारण किया है । शुक्राचार्य सावधान कर देते हैं, तथापि उदारमना दानी बलि अपने वचनसे विमुख नहीं होते । लीलाविहारी असुरारिको जानते हुए भी बलि अपने वचनसे विचलित नहीं हुए और जगत्त्रयका विधिपूर्वक दान कर दिया । इस सर्ववेद्य कथानकको मूलमें रखते हुए महर्षि वेदव्यासजीने सर्ग, विसर्ग आदि पञ्च लक्षणोयुक्त 'वामन-पुराण' को विस्तृत रूपसे वर्णित किया है । इस पुराणको उद्दिष्ट कर 'कल्याण' 'श्रीवामनपुराणाङ्क' प्रकाशित कर रहा है—यह प्रसन्नताकी बात है । इसकी सफलताके लिये हमारा आशीर्वचन है ।

सांस्कृतिक निधि—पुराण

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पावन विचार)

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा है । उन्हें साक्षात् श्रीहरिका रूप बतलाया गया है । जिस प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाश प्रदान करनेके लिये सूर्यका विग्रह धारण करके जगत्‌में विचर रहे हैं, उसी प्रकार वे सबके हृदयमें प्रकाश करनेके लिये इस जगत्‌में पुराणोंका रूप धारण करके मनुष्योंके हृदयमें विचर रहे हैं । अतः पुराण परम पवित्र हैं—

यथा सूर्यवपुर्भूत्वा प्रकाशाय चरेद्धरिः ।
सर्वेषां जगतामेव हरिरालोकहेतवे ॥
तथैवान्तःप्रकाशाय पुराणावयवो हरिः ।
विचरेदिह भूतेषु पुराणं पावनं परम् ॥

(पद्म० स्वर्ग० ६२ । ६०-६१)

जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेकी विधि है, उसी प्रकार पुराणोंका श्रवण भी सबको नित्य करना चाहिये—**'पुराणं शृणुयान्नित्यम्'** (पद्म० स्वर्ग० ६२ । ५८) । पुराणोंमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है तथा चारोंका एक दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है—इसे भी भलीभाँति समझाया गया है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥
(१ । २ । ९-१०)

'धर्म तो अपवर्ग-(मोक्ष या भगवत्प्राप्ति-) का साधक है । धन प्राप्त कर लेना ही उसका प्रयोजन नहीं है । धनका भी अन्तिम साध्य है धर्म, न कि भोगोंका संग्रह । यदि धनसे लौकिक भोगकी ही प्राप्ति हुई तो यह लाभकी बात नहीं मानी गयी है । भोगसंग्रहका भी प्रयोजन सदा इन्द्रियोंको तृप्त करते रहना ही नहीं है, अपितु जितनेसे जीवन-निर्वाह हो सके, उतना ही आवश्यक है । जीवके जीवनका भी मुख्य प्रयोजन भगवत्तत्त्वको जाननेकी सच्ची अभिलाषा ही है, न कि यज्ञादि कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति ।'

यह तत्त्व-जिज्ञासा पुराणोंके श्रवणसे भलीभाँति जगायी जा सकती है । इतना ही नहीं, सारे साधनोंका फल है—भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करना । यह भगवत्प्रीति भी पुराणोंके श्रवणसे सहजमें ही प्राप्त की जा सकती है । पद्मपुराणमें लिखा है—

तस्माद्यदि हरेः प्रीतेरुत्पादे धीयते मतिः ।
श्रोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरूपिणः ॥
(स्वर्ग० ६२ । ६२)

'इसलिये यदि भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें अपनी बुद्धिको लगाना हो तो सभी मनुष्योंको निरन्तर श्रीकृष्ण-रूपधारी भगवान्‌के स्वरूपभूत पुराणोंका श्रवण करना चाहिये ।' इसीलिये पुराणोंका हमारे यहाँ इतना आदर रहा है ।

वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं, उनका रचयिता कोई नहीं है । सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भी उनका स्मरण ही करते है । पद्मपुराणमें लिखा है—

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।'
(पद्म० सृष्टि० १ । ४५)

इनका विस्तार सौ करोड (एक अरब) श्लोकोंका माना गया है—**'शतकोटिप्रविस्तरम् ।'** उसी प्रसङ्गमें यह भी कहा गया है कि समयके परिवर्तनसे जब मनुष्योंकी आयु कम हो जाती है और इतने बडे पुराणों-का श्रवण और पठन एक जीवनमें उनके लिये असम्भव हो जाता है, तब पुराणोंका संक्षेप करनेके लिये स्वयं सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ भगवान् ही प्रत्येक द्वापरयुगमें व्यासरूपसे अवतीर्ण होते हैं और उन्हें अठारह भागोंमें बाँटकर चार लाख श्लोकोंमें सीमित कर देते हैं । पुराणोंका यह संक्षिप्त संस्करण ही भूलोकमें प्रकाशित होता है । कहते हैं कि स्वर्गादि लोकोंमें आज भी एक अरब श्लोकोंका विस्तृत पुराण विद्यमान है—

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तथा विभुः ।
व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ ।
तदाष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशितम् ॥
अद्यापि देवलोकेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ।
(पद्म० सृष्टि० १ । ५१-५३)

इस प्रकार भगवान् वेदव्यास भी पुराणोंके रचयिता नहीं, अपितु संक्षेपक अथवा संग्राहक ही सिद्ध होते हैं । इसीलिये पुराणोंको 'पञ्चम वेद' कहा गया है—**'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'** (छान्दोग्योपनिषद् ७ । १ । २) । उपर्युक्त उपनिषद्वाक्यके अनुसार यद्यपि इतिहास-पुराण दोनोंको ही 'पञ्चम वेद'की

की गौरवपूर्ण उपाधि दी गयी है, फिर भी वाल्मीकीय रामायण और महाभारत, जिनकी इतिहास संज्ञा है, क्रमशः महर्षि वाल्मीकि तथा वेदव्यासद्वारा प्रणीत होनेके कारण पुराणोंकी अपेक्षा अर्वाचीन ही हैं। इस प्रकार पुराणोंकी पुराणता—सर्वापेक्षया प्राचीनता सुतरां सिद्ध हो जाती है। इसलिये हमारे यहाँ वेदोंके बाद पुराणोंका ही सबसे अधिक सम्मान है, बल्कि कहीं-कहीं तो उन्हें वेदोंसे भी अधिक गौरव दिया गया है। पद्मपुराणमें ही लिखा है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ॥
पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विचक्षणः।
(सृष्टि० २। ५०-५१)

'जो ब्राह्मण अङ्गों एवं उपनिषदोंसहित चारों वेदोंका ज्ञान रखता है, उससे भी बड़ा विद्वान् वह है, जो पुराणोंका विशेष ज्ञाता है।'

यहाँ श्रद्धालुओंके मनमें स्वाभाविक ही यह शङ्का हो सकती है कि उपर्युक्त श्लोकोंमें वेदोंकी अपेक्षा भी पुराणोंके ज्ञानको श्रेष्ठ क्यों बतलाया है। इस शङ्काका दो प्रकारसे समाधान किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि उपर्युक्त श्लोकके **'विद्यात्'** और **'विजानाति'**—इन दो क्रियापदोंपर विचार करनेसे यह शङ्का निर्मूल हो जाती है। बात यह है कि ऊपरके वचनमें वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंमें विशिष्ट ज्ञानका वैशिष्ट्य बताया गया है, न कि वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके सामान्य ज्ञानका अथवा वेदोंके विशिष्ट ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानका। पुराणोंमें जो कुछ है, वह वेदोंका ही तो विस्तार—विशदीकरण है। ऐसी दशामें पुराणोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंका ही विशिष्ट ज्ञान है और वेदोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंके सामान्य ज्ञानसे ऊँचा होना ही चाहिये। दूसरी बात यह है कि जो बात वेदोंमें सूत्ररूपसे कही गयी है, वही पुराणोंमें विस्तारसे वर्णित है। उदाहरणके लिये परम तत्त्वके निर्गुण-निराकार रूपका तो वेदों-(उपनिषदों-)में विशद वर्णन मिलता है, परंतु सगुण-साकार-तत्त्वका बहुत ही संक्षेपसे कहीं-कहीं वर्णन मिलता है। ऐसी दशामें जहाँ पुराणोंके विशिष्ट ज्ञाताको सगुण-निर्गुण दोनों तत्त्वोंका विशिष्ट ज्ञान होगा, वेदोंके सामान्य ज्ञाताको प्रायः निर्गुण-निराकारका ही सामान्य ज्ञान होगा। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोककी संगति भलीभाँति बैठ जाती है और पुराणोंकी जो महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है, वह अच्छी तरह समझमें आ जाती है।

पुराण अठारह हैं। उनके नाम ये हैं— १—ब्रह्मपुराण, २—पद्मपुराण, ३—विष्णुपुराण, ४—शिवपुराण, ५—श्रीमद्भागवत, ६—नारदीयपुराण, ७—मार्कण्डेयपुराण, ८—अग्निपुराण, ९—भविष्यपुराण, १०—ब्रह्मवैवर्तपुराण, ११—नृसिंहपुराण, १२—वाराहपुराण, १३—स्कन्दपुराण, १४—वामनपुराण, १५—कूर्मपुराण, १६—मत्स्यपुराण, १७—गरुडपुराण और १८—ब्रह्माण्डपुराण। कहते हैं कि जो प्रतिदिन इन अठारहों पुराणोंका नाम लेता तथा प्रतिदिन तीनों समय इस नामावलीका जप करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है। पुराण भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति हैं।

वामनपुराण पुराणोंकी शृङ्खलामें चौदहवीं कड़ीपर पड़ता है। इसमें विष्णुके वामनावतार-सम्बन्धी प्रसङ्गोंके अतिरिक्त शिवकल्पका भी वर्णन मिलता है। नारदपुराणके मतानुसार इसमें दो भाग हैं तथा श्लोक-संख्या १० हजार है। आधुनिक संस्करणमें उक्त भाग नहीं मिलता। प्रथम भागकी सूची बहुत कुछ नारदपुराणकी सूचीसे मिलती है, जो इस प्रकार है—दक्षयज्ञध्वंस, मदनदहन, प्रह्लाद-नारायण-युद्ध, श्रीदुर्गाचरित, पार्वतीजन्म-कीर्तन, गौरी-उपाख्यान, कुमारचरित, बलिचरित, त्रिविक्रमचरित, प्रेतोपाख्यान,

ब्रह्माके द्वारा की गयी स्तुति आदि । इसका माहात्म्य भी अन्य पुराणोकी भाँति विशिष्ट है । वामनपुराणमें ही ९५ वें अध्यायमे वक्ता पुलस्त्यजीने कहा है कि नारदजी ! वामनपुराण चौदहवाँ उत्तम पुराण है । इसका श्रवण करनेसे शीघ्र ही पापोंके समूहका नाश हो जाता है और महापातक भी नष्ट हो जाते हैं— इसमें मुझे (कुछ भी) संदेह नहीं है । हे मुने ! हे विप्र ! इस वामन-(पुराण-) के पाठ करने, श्रवण करने और करानेसे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं—

चतुर्दशं वामनमाहुरग्र्यं
श्रुते च यस्याघचयाश्च नाशम् ।
प्रयान्ति नास्त्यत्र च संशयो मे
महान्ति पापान्यपि नारदाशु ॥
पाठात् संश्रवणाद् विप्र श्रावणादपि कस्यचित् ।
सर्वपापानि नश्यन्ति वामनस्य सदा मुने ॥
(९५ । ११-१२)

वेद-पुराणोंमें गोगरिमा

(योगिराज पूज्यपाद श्रीदेवरहवा बाबाका आशीर्वचन)

गाय सर्वदेवमयी है । अथर्ववेद उसे रुद्रोंकी माता, वसुओंकी दुहिता, आदित्योंकी स्वसा और अमृतकी नाभि कहता है—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।'

आर्थिक दृष्टिसे गाय भारतकी समृद्धि है । सामाजिक दृष्टिसे गाय 'गोधन'के महत्त्वको सूचित करती है । हमारे इतिहास-पुराणोंमें गोधनकी बड़ी महिमा है । गायके गोबरमें अष्ट ऐश्वर्ययुक्त लक्ष्मी सदा ही निवास करती हैं—**'अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मीर्गोमये वसते सदा ।'** इसलिये भारतको समृद्धिशाली बनानेके लिये गोरक्षा अत्यन्त आवश्यक है और हमारा विश्वास है, साथ ही आशीर्वाद भी कि गोरक्षाके प्रयत्नमें अवश्य सफलता मिलेगी । प्रयत्न जारी रखना चाहिये ।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे गाय राष्ट्रिय-स्वास्थ्यकी कुंजी है । पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड-(४५ । १३०)में आया है कि ब्रह्माने प्राचीनकालमें बिना किसी भेदभावके सबके पोषणके लिये ही गौको उत्पन्न किया था—

'अस्य कायो मया सृष्टः पुरैव पोषणं प्रति ।'

भारतीय जनसमाज गोमहिमासे प्राचीनतम कालसे ही प्रभावित होता चला आया है; अतएव गायके पशु होनेपर भी वह उसे माता मानता है एवं गोमाताके अनेक उपकारोंके लिये कृतज्ञ होकर उसकी पूजा-अर्चा करता है । धार्मिक कृत्योंमे पञ्चामृत और पञ्चगव्यकी बड़ी महिमा सभी इतिहास-पुराणोंमें वर्णित है । पञ्चगव्यकी महिमा अनुपम है । उसके प्राशनसे त्वग्-अस्थिगत पाप भी अग्निमें ईंधनकी भाँति भस्मसात् हो जाता है । अतः यह मन्त्र बोला जाता है कि—

यत् त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके ।
प्राशनं पञ्चगव्यस्य दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

वेदोंमे गायको जगह-जगह **'अघ्न्या'** कहा गया है । पर वेदको अपने ज्ञान-गौरवका स्रोत माननेवाला भारत अपने माथेपर गोवधका कलङ्क लगाये अपना स्वरूप विकृत कर रहा है । भारत धर्मप्राण देश है । धर्म गोरूप है । हम अपने स्वरूपकी रक्षा और पुष्टिके लिये इस गोरूप धर्मकी रक्षा यदि नहीं कर पायेंगे तो हम जीवित नहीं रह सकते । इसलिये एकजुट हो करके हमें इस सांस्कृतिक धनके रक्षोपायपर विचार कर उसे अनुष्ठित करना चाहिये । जो प्रयास चल रहे हैं, उन्हें और बढ़ाना चाहिये । हँडिया चढ़ी रहे, गोवध बंद होकर रहेगा । प्रजातान्त्रिक सरकार भी बहुमतकी उपेक्षा बहुत दिनोंतक नहीं कर सकेगी । बहुमत गोवध-बंदी चाहता है, अतः गोवध बंद होकर ही रहेगा ।

भगवान् वामनने बलिसे तीन पगका गोदान (गौ—पृथिवीका दान) माँग कर लिया था। उन्होंने बलिको वह सौभाग्य दिया कि उसके निवासके प्रत्येक द्वारपर उसे दर्शन देनेके लिये वे खड़े रहते हैं। गौण अर्थसे गोदानकी यह महिमा वामनपुराणमें है, परंतु अन्य पुराणोंमें—(मुख्य अर्थ गायोंका दानमें-) विद्यमान गोदान शब्द न जाने कितनी पुण्यराशि प्रदान करानेका विधान करता है। पुराणोंमें गोदानकी अत्यन्त महिमा गायी गयी है। यही कारण है कि हम गोदानके बाद यह कामना करते हैं कि गायें हमारे चारों ओर हों और हम गायोंके बीचमें रहें। पद्मपुराणका वचन है—

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावश्च सर्वगात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

गौ सर्वदेवमयी है—'पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः'—उसकी पीठमें ब्रह्मा, गलेमें विष्णु और मुखमें रुद्र आदि देवोंका वास है। भारतको देवोंसे अधिष्ठित रखने तथा उसकी समृद्धिके लिये गोरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। गोरक्षा होगी, अवश्य होगी—इसमें किञ्चित् भी संदेह नहीं है।

(वस्तुतः गोरक्षा हमारा पावन कर्तव्य है और गोवध धर्मप्राण भारतके लिये महान् कलङ्क है। यह कलङ्क शीघ्र छोड़ाया जाना चाहिये।)

पुराण-महिमा

(—नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतीय संस्कृत साहित्य-सागर अनन्त रत्नराशिसे पूर्ण है। उन रत्नोंमें पुराणका स्थान अत्यन्त महत्त्वका है। पुराण अध्यात्मशास्त्र है, पुराण दर्शनशास्त्र है, पुराण धर्मशास्त्र है, पुराण नीतिशास्त्र है, पुराण तन्त्र-मन्त्र-शास्त्र है, पुराण कलाशास्त्र है, पुराण इतिहास है, पुराण जीवनी कोष है, पुराण सनातन आर्य संस्कृतिका स्वरूप है और पुराण वेदकी सरस और सरलतम व्याख्या है। पुराणमें तीर्थरहस्य और तीर्थमाहात्म्य है, पुराणमें तीर्थोंका इतिहास और उनकी विस्तृत सूची है, पुराणमें परलोकविज्ञान, प्रेतविज्ञान, जन्मान्तर और लोकान्तर-रहस्य, कर्म-रहस्य तथा कर्मफलनिरूपण, नक्षत्रविज्ञान, रत्नविज्ञान, आयुर्वेद और शकुनशास्त्र आदि-आदि इतने महत्त्वपूर्ण और उपादेय विषय हैं कि जिनकी पूरी जानकारीके साथ व्याख्या करना तो बहुत दूरकी बात है, बिना पढ़े पूरी सूची बना पाना भी प्रायः असम्भव है। इतने महत्त्वपूर्ण विषयोंपर इतनी गम्भीर गवेषणा तथा सफल अनुसंधान करके उनका रहस्य सरल भाषामें खोल देना पुराणोंका ही काम है। पुराणोंको आधुनिक मानने और बतलानेवाले विद्वान् केवल बाहरी प्रमाणोंपर ही ध्यान देते हैं। पुराणोंके अन्तस्तलमें प्रवेश करके उन्होंने उनको नहीं देखा। यथार्थतः उन्होंने पुराणोंकी ज्ञान-परम्परापर भी दृष्टिपात नहीं किया। वस्तुतः पुराणोंमें जो कहीं-कहीं कुछ न्यूनाधिकता—उसमें विदेशी तथा विधर्मियोंके आक्रमण-अत्याचारसे ग्रन्थोंकी दुर्दशा—हुई उससे उसके बहुत-से अंश आज उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इससे पुराणोंकी मूल महत्ता तथा प्राचीनतामें कोई बाधा नहीं आती।

एक ही परमतत्त्व

पुराणोंमें भक्ति एवं ज्ञानकी बातें भरी हैं। सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्मा परात्पर ब्रह्म एक है, वह सर्वदा सर्वथा पूर्ण, सर्वग, सर्वगत, सर्वज्ञ, अनन्त, विभु है, वह सर्वातीत है, सर्वरूप है। सम्पूर्ण देशकालातीत है, सम्पूर्ण देश-कालमय है। वह नित्य निराकार, नित्य निर्गुण है; वह नित्य साकार, नित्य सगुण है। अवश्य ही उसकी आकृति पाञ्चभौतिक नहीं और उसके गुण त्रिगुणजनित नहीं हैं। वह ब्रह्म स्वरूपतः नित्य एकमात्र

होते हुए ही स्वरूपतः ही अनादिकालसे विविध स्वरूप-सम्पन्न, विविध शक्तिसम्पन्न एव विविध शक्ति-प्रकाश-प्रक्रिया-सम्पन्न है। नित्य एक होते हुए ही उसकी नित्य विभिन्न पृथक् सत्ता है। उन्हीं पृथक् रूपोके नाम—शिव, विष्णु, शक्ति, राम, कृष्ण, वामन, कूर्म, गणेश आदि हैं। वह एक ही अनादिकालसे इन विविध रूपोमे अभिव्यक्त है। ये सभी स्वरूप नित्य शाश्वत आनन्दमय ब्रह्मरूप ही है।

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः॥

'परात्पर ब्रह्मके वे सभी रूप नित्य शाश्वत परमात्म-स्वरूप है। उनके देह जन्म-मरणसे रहित होकर स्वरूपभूत हैं; वे प्रकृतिजनित कदापि नहीं है। वे परमानन्दसन्दोह हैं, सर्वतोभावेन ज्ञानैकस्वरूप है, वे सभी समस्त भगवद्गुणोसे परिपूर्ण हैं एव सभी दोपोसे (माया-प्रपञ्चसे) सर्वथा रहित है।'

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय परम सत्य तत्त्वके लीलानुरूप तीन नाम हैं। इस परम तत्त्व भगवान्‌के भ्रुकुटिविलासकी लीलामात्रसे सृष्टिका निर्माण और संहार हो सकता है। ये भगवान् निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे रहित), सर्वेश्वर, प्रकृतिसे परे और परमात्मा है। ये सब जीवोसे निर्लिप्त हैं और उनमें लिप्त भी हैं। ये (भौतिक रूपसे रहित) निराकार और (स्वस्वरूपमे स्थित) साकार, सर्वव्यापी और स्वेच्छामय है। योगिगण 'सनातन परब्रह्म' कहते हैं और रात-दिन इन सर्वमङ्गलमय सत्य-स्वरूप परमात्माका ध्यान करते रहते है। ये स्वतन्त्र तथा समस्त कारणोके भी कारण है। प्रलयके समय सर्वबीजस्वरूपा प्रकृति इनमे लीन रहती हैं और सृष्टिके समय प्रकट होकर क्रियाशीला हो जाती है। यह प्रकृति भगवान्‌की निज अभिन्ना शक्ति है और लीलानुसार अप्रकट या प्रकटरूपमे इनमे वैसे ही सदा-सर्वदा रहती है—जैसे अग्निमे उसकी दाहिका शक्ति रहती है।

पुराणोमे युगोतक धर्मका प्रचार हुआ। आज उनके प्रचारके अभावमे इस तत्त्वके प्रकाशन कथा—आख्यानों, उपाख्यानोके सिवा धर्मकी व्याख्या पुराणोका प्रमुख उद्देश्य है। धर्मकी स्थिति डावाँडोल हो उठी है। धर्मभावनाके अभावमे देशका वास्तव स्वरूप बिगड़ता जा रहा है। अपना देश धर्मप्राण देश है। अतः पुराणोके प्रचारके द्वारा धर्मस्थापनका कार्य बडे महत्त्वका होगा। सभीको सचेष्ट होकर इसपर प्रयत्नशील होना चाहिये।

वामनभगवान्‌ने बलिको क्यों छला ?

(लेखक—स्वामी श्रीशकरानन्दजी सरस्वती)

नास्तिक एवं आस्तिक जनताके मनमे स्वभावतया यह शङ्का उठती है कि भगवान् तो धर्मकी स्थापनाके लिये अवतार लेते हैं—**'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि'** किंतु वामन-अवतारमें उन्होने बलिको छलकर इसके विपरीत ही किया है। अवतारका यदि दूसरा प्रयोजन दुष्टोका विनाश—**'विनाशाय च दुष्कृताम्'** लिया जाय तो राजा बलि धर्मात्मा थे, उनका विनाश भगवान्‌ने छलसे क्यो किया ?

इस शङ्काका उत्तर यह है कि जब धर्मकी ओटमे अधर्मकी वृद्धि होकर सृष्टिचक्र-सचालनमे बाधा उत्पन्न हो जाती है और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि धर्म या धर्मात्माको विनष्ट किये बिना अधर्म या अधर्मात्माका विनाश नही किया जा सकता, तब समष्टि-धर्मकी रक्षाके लिये तामस-धर्मका विनाश ही सर्वजनहितकारी एवं शास्त्र-सम्मत माना गया है।

राजा बलि यद्यपि स्वयं धर्मात्मा थे तथापि उनके आश्रयसे रहनेवाले असुरोके अधर्मकार्योसे पृथ्वी आकुल थी। अतः भगवान्‌ने वामन शरीरसे तीन पग पृथ्वीको

माँगकर अति विशाल शरीरसे तीनो लोकोंको नापकर बलिको बाँध लिया। समष्टि-धर्मकी स्थापनाके लिये ही भगवान्‌ने बलिके व्यक्ति-धर्मकी उपेक्षा की, यह कार्य वैसे ही उचित है, जैसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये आवश्यक होनेपर एक अङ्गका काट देना होता है।

गम्भीर विचार कर देखा जाय तो राजा बलिके धर्मका विनाश नहीं हुआ; क्योंकि व्यक्ति-धर्मके पालनका सर्वोत्कृष्ट अन्तिम फल है परमात्माकी प्राप्ति। सो, राजा बलिको जैसी हुई है वैसी तो स्यात् ही किसीको हुई हो। राजा बलिके शयनगृहमें जितने द्वार हैं, उन सबमें प्रभु वरदानके कारण अनेक रूप धारण करके बलिको दर्शन देनेके लिये खड़े रहते हैं; क्योंकि बलिराजाने वरदान माँगा था कि जब मै सोकर उठूँ तो जहाँ, जिस द्वारपर, मेरी नजर पड़े वहीं, उसी द्वारपर आपका दर्शन हो।

समष्टि-व्यष्टि-धर्मके सामान्य-विशेष रूपकी बाध्य-बाधकता समझ ली जाय तो छलसे वृन्दाके पातिव्रत-धर्मको भंग करना आदि भगवान्‌की लीलाओंका रहस्य भी स्वयं ही समझमें आ जायगा; क्योंकि एक वृन्दा पातिव्रतधर्मकी ओटमें ही उसका पति अनेक स्त्रियों धर्मका विनाश कर रहा था। अतः भगवान्‌ने छलसे उस पतिका रूप धारण कर वृन्दाके व्यष्टि-पातिव्रतधर्मको न कर समष्टि-पातिव्रतधर्मकी रक्षा की थी। यहाँ भी गंभीरता देखा जाय तो वृन्दाको व्यष्टि-पातिव्रतधर्मके पालन सर्वोत्कृष्ट परम फल परमपति परमात्माकी प्राप्ति जै हुई, वैसी तो शायद किसीकी भी नहीं हुई; क्यों तुलसी रूपा वृन्दाका संयोग शालिग्रामरूप भगवानसे स बना रहता है। अतः भगवान्‌के पूजन, भोग आदि स उपचारोंमें तुलसीका उपयोग अनिवार्य है।

बलिको क्यों छला ? इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्त इतना ही है कि समष्टिधर्मकी स्थापनाके लिये छला अतः वामन-अवतारमें भी गीता-(४ । ८) में कथि अवतार-मर्यादाके अनुरूप ही भगवान्‌ने कार्य किया है फलतः वामनभगवान्‌की लीला और पुराणका स्वारस् लोकमङ्गलकारी है।

श्रीवामनपुराणकी उपादेयता

(परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। उसकी प्राप्तिके साधनोंका वर्णन वेदोंमें आता है, जो भगवान्‌के निःश्वास हैं—'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। वेदोंके तात्पर्यको समझानेके लिये ही वेदव्यासजी महाराजने पुराणोंकी रचना की। पुराणोंमें इतिहास-(कथानकों-)के द्वारा आख्यान-उपाख्यान एवं वेदोंके विषयोंको ही सरलतासे समझाया गया है। जिन लोगोंका वेदोंमें अधिकार नहीं है, वे भी वेदोंके तत्त्वको सरलतासे समझ सकें, इसीलिये पुराणोंका प्रणयन किया गया है एवं वेदार्थ-सिद्धिके लिये ही स्मृतियोंने भी आचरणका विधान किया है। पुराणों एवं स्मृतियोंको न जाननेसे वेदोंका ठीक अर्थ भी नहीं समझा जा सकता। सही तात्पर्य न समझनेवाले—अनजान मनुष्योंके द्वारा वेदोंकी मर्यादा नष्ट होती है। अतः वेदोंकी रक्षाके लिये पुराणों एवं स्मृतियोंका प्रकाशन हुआ, जिससे कि साधारण जनतातक वेदोंका तात्पर्य पहुँच जाय और वे उससे अपने जीवनको शुद्ध—निर्मल बनाकर उन्नति कर सकें।

'कल्याण' अपने छप्पनवें वर्षके प्रथम अङ्कके रूपमें श्रीवामनपुराणाङ्क (विशेषाङ्क) निकाल रहा है, जो बहुत ही उपादेय है। वामनपुराणमें अनेक अच्छे-अच्छे प्रकरण हैं, जिनमें व्यवहारकी शिक्षाके साथ ही परमार्थ सम्बन्धी बहुत-सी सार बातें बतायी गयी हैं। इस पुराणकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेसे लोक और परलोक विषयक कल्याण हो सकता है।

वामनावतारी भगवान् विष्णु

॥ श्रीहरिः ॥

ॐ नमो भगवते त्रिविक्रमाय

अथ श्रीवामनपुराणम्

[अथ प्रथमोऽध्यायः]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

भगवान् श्रीनारायण, मनुष्योंमें श्रेष्ठ नर, भगवती सरस्वती देवी और (पुराणोंके कर्ता) महर्षि व्यासजीको नमस्कार करके जय (पुराणों तथा महाभारत आदि ग्रन्थों)का उच्चारण (पठन) करना चाहिये[1] ।

त्रैलोक्यराज्यमाक्षिप्य बलेरिन्द्राय यो ददौ । श्रीधराय नमस्तस्मै छद्मवामनरूपिणे ॥ १ ॥
पुलस्त्यमृषिमासीनमाश्रमे वाग्विदां वरम् । नारदः परिपप्रच्छ पुराणं वामनाश्रयम् ॥ २ ॥
कथं भगवता ब्रह्मन् विष्णुना प्रभविष्णुना । वामनत्वं धृतं पूर्वं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३ ॥
कथं च वैष्णवो भूत्वा प्रह्लादो दैत्यसत्तमः । त्रिदशैर्युयुधे सार्धमत्र मे संशयो महान् ॥ ४ ॥
श्रूयते च द्विजश्रेष्ठ दक्षस्य दुहिता सती । शंकरस्य प्रिया भार्या बभूव वरवर्णिनी ॥ ५ ॥
किमर्थं सा परित्यज्य स्वशरीरं वरानना । जाता हिमवतो गेहे गिरीन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
पुनश्च देवदेवस्य पत्नीत्वमगमच्छुभा । एतन्मे संशयं छिन्धि सर्ववित् त्वं मतोऽसि मे ॥ ७ ॥
तीर्थानां चैव माहात्म्यं दानानां चैव सत्तम । व्रतानां विविधानां च विधिमाचक्ष्व मे द्विज ॥ ८ ॥

पहला अध्याय प्रारम्भ

(श्रीनारदजीका पुलस्त्य ऋषिसे वामनाश्रयी प्रश्न; शिवजीका लीलाचरित्र और जीमूतवाहन होना)

जिन्होंने बलिसे (भूमि, स्वर्ग और पाताल—इन) तीनों लोकोंके राज्यको छीनकर इन्द्रको दे दिया, उन मायामय वामनरूपधारी और लक्ष्मीको हृदयमें धारण करनेवाले विष्णुको नमस्कार है ।

(एक बारकी बात है कि—)वाग्मियोंमें श्रेष्ठ विद्वद्वर पुलस्त्य ऋषि अपने आश्रममें बैठे हुए थे; (वहीं) नारदजीने उनसे वामनपुराणकी कथा—(इस प्रकार) पूछी । उन्होंने कहा—ब्रह्मन् ! महाप्रभावशाली भगवान् विष्णुने कैसे वामनका अवतार ग्रहण किया था, इसे आप मुझ जिज्ञासुको बतलाये । एक तो मेरी यह शङ्का है कि दैत्यवर्य प्रह्लादने विष्णुभक्त होकर भी देवताओंके साथ युद्ध कैसे किया और ब्राह्मणश्रेष्ठ ! दूसरी जिज्ञासा यह है कि दक्षप्रजापतिकी पुत्री भगवती सती, जो भगवान् शंकरकी प्रिय पत्नी थीं, उन श्रेष्ठ मुखवाली-(सती-)ने अपना शरीर त्यागकर पर्वतराज हिमालयके घरमें किसलिये जन्म लिया ? और पुनः वे

१—महाभारतके उल्लेखानुसार नर-नारायण ब्रह्मर्षिरूपमें विभक्त परमात्मा ही हैं, जो बादमें अर्जुन और कृष्ण हुए । ये ही नारायणीय या भागवतधर्मके प्रधान प्रचारक हैं, अतः भागवतीय ग्रन्थोंमें सर्वत्र इन दोनोंको नमस्कार किया गया है । पुराण-प्रवचनमें भी इस श्लोकको माङ्गलिक रूपमें पढनेकी प्राचीन प्रथा है ।

महाभारतका प्राचीन नाम 'जय' है; पर उपलक्षणसे पुराणोंका भी ग्रहण किया जाता है । भविष्यपुराणका वचन है—अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितं तथा । कार्ष्णं वेदपञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः ॥
... ...। जयेति नाम चैतेषां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥(भविष्यपुराण १ । १ । ५-६)

अर्थात्-अठारहों पुराण, रामायण और सम्पूर्ण (वेदार्थ) पाँचवाँ वेद, जिसे महाभारत-रूपमें जानते हैं—इन सबको मनीषीलोग 'जय' कहते हैं ।

कल्याणी देवदेव- (महादेव-) की पत्नी कैसे बनीं ? मैं मानता हूँ कि आपको सब कुलका ज्ञान है, अतः आप मेरी इस शंकाको दूर कर दें। साथ ही सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ हे द्विज! तीर्थों तथा दानोंकी महिमा और विविध व्रतोंकी अनुष्ठान-विधि भी मुझे बताइये ॥ १—८ ॥

एवमुक्तो नारदेन पुलस्त्यो मुनिसत्तमः। प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो नारदं तपसो निधिम् ॥ ९ ॥

नारदजीके इस प्रकार कहनेपर मुनियोंमें मुख्य तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ तपोधन पुलस्त्यजी नारदजीसे कहने लगे ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुराणं वामनं वक्ष्ये क्रमान्निखिलमादितः। अवधानं स्थिरं कृत्वा शृणुष्व मुनिसत्तम ॥ १० ॥
पुरा हैमवती देवी मन्दरस्थं महेश्वरम्। उवाच वचनं दृष्ट्वा ग्रीष्मकालमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
ग्रीष्मः प्रवृत्तो देवेश न च ते विद्यते गृहम्। यत्र वातातपौ ग्रीष्मे स्थितयोर्नौ गमिष्यतः ॥ १२ ॥
एवमुक्तो भवान्या तु शंकरो वाक्यमब्रवीत्। निराश्रयोऽहं सुदति सदारण्यचरः शुभे ॥ १३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद! आपसे मैं सम्पूर्ण वामनपुराणकी कथा आदिसे (अन्ततक) वर्णन करूँगा। मुनिश्रेष्ठ! आप मनको स्थिर कर ध्यानसे सुनें।[1] प्राचीन समयमें देवी हैमवती-(सती-) ने ग्रीष्म-ऋतुका आगमन देखकर मन्दर पर्वतपर बैठे हुए भगवान् शंकरसे कहा—देवेश! ग्रीष्म-ऋतु तो आ गयी है, परंतु आपका कोई घर नहीं है, जहाँ हम दोनों ग्रीष्मकालमें निवास करते हुए वायु और तापजनित कठिन समयको बिता सकेंगे। सतीके ऐसा कहनेपर भगवान् शंकर बोले—हे सुन्दर दाँतोंवाली सति! मेरा कभी कोई घर नहीं रहा। मैं तो सदा वनोंमें ही घूमता रहता हूँ ॥ १०—१३ ॥

इत्युक्ता शंकरेणाथ वृक्षच्छायासु नारद। निदाघकालमनयत् समं शर्वेण सा सती ॥ १४ ॥
निदाघान्ते समुद्भूतो निर्जनाचरितोऽद्भुतः। घनान्धकारिताशो वै प्रावृट्कालोऽतिरागवान् ॥ १५ ॥
तं दृष्ट्वा दक्षतनुजा प्रावृट्कालमुपस्थितम्। प्रोवाच वाक्यं देवेशं सती सप्रणयं तदा ॥ १६ ॥

नारदजी! भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर सतीदेवीने उनके साथ वृक्षोंकी छायामें (जैसे-तैसे रहकर) निदाघ-(गर्मी-)का समय बिताया। फिर ग्रीष्मके अन्तमें अद्भुत वर्षाऋतु आ गयी, जो अत्यधिक रागको बढ़ानेवाली होती है और जिसमें प्रायः सबका आवागमन अवरुद्ध हो जाता है। (उस समय) मेघोंसे आवृत हो जानेसे दिशाएँ अन्धकारमय हो गयीं। उस वर्षाऋतुको आया देखकर दक्ष-पुत्री सतीने प्रेमसे महादेवजीसे यह वचन कहा—॥ १४–१६ ॥

विवहन्ति वाता हृदयावदारणा गर्जन्त्यमी तोयधरा महेश्वर।
स्फुरन्ति नीलाभ्रगणेषु विद्युतो वाशन्ति केकारवमेव बर्हिणः ॥ १७ ॥
पतन्ति धारा गगनात् परिच्युता बका बलाकाश्च सरन्ति तोयदान्।
कदम्बसर्जार्जुनकेतकीद्रुमाः पुष्पाणि मुञ्चन्ति सुमारुताहताः ॥ १८ ॥
श्रुत्वैव मेघस्य दृढं तु गर्जितं त्यजन्ति हंसाश्च सरांसि तत्क्षणात्।
यथाश्रयान् योगिगणाः समन्तात् प्रवृद्धमूलानपि संत्यजन्ति ॥ १९ ॥

१–भविष्यपुराणके प्रमाणानुसार वामनपुराणके वक्ता चतुर्मुख (ब्रह्माजी) हैं, पर यहाँ पुलस्त्यजी ऐसा उल्लेख नहीं करते कि 'पुराणं वामनं वक्ष्ये ब्रह्मणा च मयाश्रुतम्।' इससे प्रतीत होता है कि एतत्-सम्बन्धी १ श्लोक अनुपलब्ध हैं। मत्स्यपुराणमें भी चतुर्मुख (ब्रह्मा) के वक्ता होनेका उल्लेख है—

'त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः। त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम् ॥'

*

इमानि यूथानि वने मृगाणां चरन्ति धावन्ति रमन्ति शंभो।
तथाचिराभाः सुतरां स्फुरन्ति पश्येह नीलेषु घनेषु देव।
नूनं समृद्धिं सलिलस्य दृष्ट्वा चरन्ति शूरास्तरुणद्रुमेषु ॥ २० ॥
उद्वृत्तवेगाः सहसैव निम्नगा जाताः शशाङ्काङ्कितचारुमौले।
किमत्र चित्रं यदनुज्ज्वलं जनं निषेव्य योषिद् भवति त्वशीला ॥ २१ ॥

महेश्वर ! हृदयको विदीर्ण करनेवाली वायु वेगसे चल रही है। ये मेघ भी गर्जन कर रहे हैं, नीले मेघोंके बीचमें बिजलियाँ कौंध रही हैं और मयूरगण केकाध्वनि कर रहे हैं। आकाशसे गिरती हुई जलधाराएँ नीचे आ रही हैं। बगुले तथा बगुलोकी पंक्तियाँ जलाशयोमें तैर रहे हैं। प्रबल वायुके झोके खाकर कदम्ब, सर्ज, अर्जुन तथा केतकीके वृक्ष पुष्पोको गिरा रहे है—वृक्षोंसे फूल झड़ रहे हैं। मेघका गम्भीर गर्जन सुनकर हंस तुरंत जलाशयोंको छोड़कर चले जा रहे है, जिस प्रकार योगिजन अपने सब प्रकारसे समृद्ध घरको भी छोड़ देते हैं। शिवजी ! वनमें मृगोंके ये यूथ आनन्दित होकर इधर-उधर दौड़ लगाकर खेल-कूदकर आनन्दित हो रहे हैं और देव ! देखिये, नीले बादलोमें विद्युत् भलीभाँति चमक रही है। लगता है, जलकी वृद्धिको देखकर वीरगण हरे-भरे सुपुष्ट नये वृक्षोंपर विचरण कर रहे हैं। नदियॉ सहसा उद्दामवेगसे (बडे वेगसे) बहने लगीं हैं। चन्द्रशेखर ! ऐसे उत्तेजक समयमें यदि असुवृत्त व्यक्तिके फंदेमें आकर स्त्री दुःशील हो जाती है तो इसमें क्या आश्चर्य ॥ १७—२१ ॥

नीलैश्च मेघैश्च समावृतं नभः पुष्पैश्च सर्जा मुकुलैश्च नीपाः।
फलैश्च बिल्वाः पयसा तथापगाः पत्रैः सपद्मैश्च महासरांसि ॥ २२ ॥
इतीदृशे शंकर दुःसहेऽद्भुते काले सुरौद्रे ननु ते ब्रवीमि।
गृहं कुरुष्वात्र महाचलोत्तमे सुनिर्वृता येन भवामि शंभो ॥ २३ ॥
इत्थं त्रिनेत्रः श्रुतिरामणीयकं श्रुत्वा वचो वाक्यमिदं बभाषे।
न मेऽस्ति वित्तं गृहसंचयार्थे मृगारिचर्मावरणं मम प्रिये ॥ २४ ॥
ममोपवीतं भुजगेश्वरः शुभे कर्णेऽपि पद्मश्च तथैव पिङ्गलः।
केयूरमेकं मम कम्बलस्त्वहिर्द्वितीयमन्यो भुजगो धनंजयः ॥ २५ ॥
नागस्तथैवाश्वतरो हि कङ्कणं सव्येतरे तक्षक उत्तरे तथा।
नीलोऽपि नीलाञ्जनतुल्यवर्णः श्रोणीतटे राजति सुप्रतिष्ठः ॥ २६ ॥

आकाश नीले बादलोसे घिर गया है। इसी प्रकार पुष्पोंके द्वारा सर्ज, मुकुलों-(कलियों-) के द्वारा नीप (कदम्ब), फलोंके द्वारा बिल्व-वृक्ष एवं जलके द्वारा नदियाँ और कमल-पुष्पों एवं कमल-पत्रोसे बडे-बड़े सरोवर भी ढक गये हैं। हे शंकरजी ! ऐसी दुःसह, अद्भुत तथा भयंकर दशामें आपसे प्रार्थना करती हूँ कि इस महान् तथा उत्तम पर्वतपर गृह-निर्माण कीजिये; हे शंभो ! जिससे मै सर्वथा निश्चिन्त हो जाऊँ। कानोंको प्रिय लगनेवाले सतीके इन वचनोंको सुनकर तीन नयनवाले भगवान् शंकरजी बोले—प्रिये ! घर बनानेके लिये (और उसकी साज-सज्जाके लिये) मेरे पास धन नहीं है। मैं व्याघ्रके चर्ममात्रसे अपना शरीर ढकता हूँ। शुभे ! (सूत्रोंके अभावमें) सर्पराज ही मेरा उपवीत (जनेऊ) बना है। पद्म और पिंगल नामके दो सर्प मेरे दोनों कानोंमें (कुण्डलका काम करते) है। कंबल और धनंजय नामके ये दो सर्प मेरी दोनो बाहोंके बाजूबंद हैं। मेरे दाहिने और बाएँ हाथोमें भी क्रमशः अश्वतर तथा तक्षक नाग कङ्कण बने हुए हैं। इसी प्रकार मेरी कमरमें नीलाञ्जनके वर्णवाला नील नामका सर्प अवस्थित होकर सुशोभित हो रहा है ॥ २२—२६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इति वचनमथोग्रं शंकरात्सा मृडानी ऋतमपि तदसत्यं श्रीमदाकर्ण्य भीता।
अवनितलमवेक्ष्य स्वामिनो वासकृच्छ्रात् परिवदति सरोषं लज्जयोच्छ्वस्य चोष्णम॥ २७॥

पुलस्त्यजी बोले—महादेवजीसे इस प्रकार कठोर तथा ओजस्वी एवं सत्य होनेपर भी असत्य प्रतीत हो रहे वचनको सुनकर सतीजी बहुत डर गयीं और स्वामीके निवासकष्टको देखकर गरम साँस छोड़ती हुई और पृथ्वीकी ओर देखती हुई (कुछ) क्रोध और लज्जासे इस प्रकार कहने लगीं—॥ २७॥

देव्युवाच

कथं हि देवदेवेश प्रावृट्कालो गमिष्यति। वृक्षमूले स्थिताया मे सुदुःखेन वदाम्यतः॥ २८॥

सतीदेवी बोलीं—देवेश! वृक्षके मूलमें दुःखपूर्वक रहकर भी मेरा वर्षाकाल कैसे व्यतीत होगा! इसीलिये तो मैं आपसे (गृहके निर्माणकी बात) कहती हूँ॥ २८॥

शंकर उवाच

घनावस्थितदेहायाः प्रावृट्कालः प्रयास्यति। यथाम्बुधारा न तव निपतिष्यन्ति विग्रहे॥ २९॥

शंकरजी बोले—देवि! मेघ-मण्डलके ऊपर अपने शरीरको स्थित कर तुम वर्षाकाल भलीभाँति व्यतीत कर सकोगी। इससे वर्षाकी जलधाराएँ तुम्हारे शरीरपर नहीं गिर पायेंगी॥ २९॥

पुलस्त्य उवाच

ततो हरस्तद्घनखण्डमुन्नतमारुह्य तस्थौ सह दक्षकन्यया।
ततोऽभवन्नाम महेश्वरस्य जीमूतकेतुस्त्विति विश्रुतं दिवि॥ ३०॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद महादेवजी दक्षकन्या सतीके साथ आकाशमें उन्नत मेघमण्डलके ऊपर चढ़कर बैठ गये। तभीसे स्वर्गमें उन महादेवजीका नाम 'जीमूतकेतु' या 'जीमूतवाहन' विख्यात हो गया॥ ३०॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पहला अध्याय समाप्त हुआ॥ १॥

[अथ द्वितीयोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततस्त्रिनेत्रस्य गतः प्रावृट्कालो घनोपरि। लोकानन्दकरी रम्या शरत् समभवन्मुने॥ १॥
त्यजन्ति नीलाम्बुधरा नभस्तलं वृक्षांश्च कङ्काः सरितस्तटानि।
पद्माः सुगन्धं निलयानि वायसा रुरुर्विषाणं कलुषं जलाशयाः॥ २॥
विकासमायान्ति च पङ्कजानि चन्द्रांशवो भान्ति लताः सुपुष्पाः।
नन्दन्ति हृष्टान्यपि गोकुलानि सन्तश्च संतोषमनुव्रजन्ति॥ ३॥
सरःसु पद्मा गगने च तारका जलाशयेष्वेव तथा पयांसि।
सतां च चित्तं हि दिशां मुखैः समं वैमल्यमायान्ति शशाङ्ककान्तयः॥ ४॥

दूसरा अध्याय प्रारम्भ

(शरदागम होनेपर शंकरजीका मन्दरपर्वतपर जाना और दक्षका यज्ञ)

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार तीन नयनवाले भगवान् शिवका वर्षाकाल मेघोंपर बसते हुए ही व्यतीत हो गया। हे मुने! तत्पश्चात् लोगोंको आनन्द देनेवाली रमणीय शरद् ऋतु आ गयी। इस ऋतुमें नीले मेघ

आकाशको और बगुले वृक्षोंको छोडकर अलग हो जाते हैं। नदियाँ भी तटको छोड़कर बहने लगती हैं। इसमें कमलपुष्प सुगन्ध फैलाते है, कौवे भी घोसलोंको छोड़ देते है। रुरुमृगोके शृङ्ग गिर पडते हैं और जलाशय सर्वथा स्वच्छ हो जाते हैं। इस समय कमल विकसित होते हैं, शुभ्र चन्द्रमाकी किरणें आनन्ददायिनी होकर फैल जाती हैं, लताएँ पुष्पित हो जाती हैं, गौवे हृष्ट-पुष्ट होकर आनन्दसे विहरती हैं तथा संतोंको बड़ा सुख मिलता है। तालाबोंमें कमल, गगनमें तारागण, जलाशयोमें निर्मल जल और दिशाओंके मुखमण्डलके साथ सज्जनोका चित्त तथा चन्द्रमाकी ज्योति भी सर्वथा स्वच्छ एवं निर्मल हो जाती है ॥ १–४ ॥

एतादृशे हरः काले मेघपृष्ठाधिवासिनीम्। सतीमादाय शैलेन्द्रं मन्दरं समुपाययौ ॥ ५ ॥
ततो मन्दरपृष्ठेऽसौ स्थितः समशिलातले। रराम शंभुर्भगवान् सत्या सह महाद्युतिः ॥ ६ ॥
ततो व्यतीते शरदि प्रतिबुद्धे च केशवे। दक्षः प्रजापतिश्रेष्ठो यष्टुमारभत क्रतुम् ॥ ७ ॥
द्वादशैव स चादित्याञ्शक्रादींश्च सुरोत्तमान्। सकश्यपान् समामन्त्र्य सदस्यान् समचीकरत्॥ ८ ॥

ऐसी शरद्-ऋतुमें शंकरजी मेघके ऊपर वास करनेवाली सतीको साथ लेकर श्रेष्ठ मन्दर पर्वतपर पहुँचे और महातेजस्वी (महाकान्तिमान्) भगवान् शंकर मन्दराचलके ऊपरी भागमें एक समतल शिलापर अवस्थित होकर सतीके साथ विश्राम करने लगे। उसके बाद शरद्ऋतुके बीत जानेपर तथा भगवान् विष्णुके जाग जानेपर प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ दक्षने एक विशाल यज्ञका आयोजन किया। उन्होने द्वादश आदित्यो तथा कश्यप आदि (ऋषियों) के साथ ही इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओको भी निमन्त्रित कर उन्हे यज्ञका सदस्य बनाया ॥ ५–८ ॥

अरुन्धत्या च सहितं वसिष्ठं शंसितव्रतम्। सहानसूययात्रिं च सह धृत्या च कौशिकम् ॥ ९ ॥
अहल्यया गौतमं च भरद्वाजममायया। चन्द्रया सहितं ब्रह्मन्नृषिमङ्गिरसं तथा ॥ १० ॥
आमन्त्र्य कृतवान्दक्षः सदस्यान् यज्ञसंसदि। विद्वान् गुणसंपन्नान् वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ११ ॥
धर्मं च स समाहूय भार्ययाऽहिंसया सह। निमन्त्र्य यज्ञवाटस्य द्वारपालत्वमादिशत् ॥ १२ ॥

नारदजी! उन्होने अरुन्धतीसहित प्रशस्तव्रतधारी वसिष्ठको, अनसूया-सहित अत्रिमुनिको, धृतिके सहित कौशिक (विश्वामित्र) मुनिको, अहल्याके साथ गौतमको, अमायाके सहित भरद्वाजको और चन्द्राके साथ अङ्गिरा ऋषिको आमन्त्रित किया। विद्वान् दक्षने इन गुणसम्पन्न वेद-वेदाङ्गपारगामी विद्वान् ऋषियोंको निमन्त्रितकर उन्हें अपने यज्ञमें सदस्य बनाया। और, उन्होंने (प्रजापति दक्षने) यज्ञमें धर्मको भी उनकी पत्नी अहिंसाके साथ निमन्त्रितकर यज्ञमण्डपका द्वारपाल नियुक्त किया ॥ ९–१२ ॥

अरिष्टनेमिनं चक्रे इध्माहरणकारिणम्। भृगुं च मन्त्रसंस्कारे सम्यग् दक्षः प्रयुक्तवान् ॥१३॥
तथा चन्द्रमसं देवं रोहिण्या सहितं शुचिम्। धनानामाधिपत्ये च युक्तवान् हि प्रजापतिः ॥१४॥
जामातृदुहितॄंश्चैव दौहित्रांश्च प्रजापतिः। सशंकरां सतीं मुक्त्वा मखे सर्वान् न्यमन्त्रयत् ॥१५॥

दक्षने अरिष्टनेमिको समिधा लानेका कार्य सौंपा और भृगुको समुचित मन्त्र-पाठमें नियुक्त किया। फिर दक्षप्रजापतिने रोहिणीसहित 'अर्थशुचि' चन्द्रमाको कोषाध्यक्षके पदपर नियुक्त किया। इस प्रकार दक्षप्रजापतिने केवल शंकरसहित सतीको छोड़कर अपने सभी जामाताओं, पुत्रियों एवं दौहित्रोंको यज्ञमें आमन्त्रित किया ॥ १३–१५ ॥

नारद उवाच

किमर्थं लोकपतिना धनाध्यक्षो महेश्वरः । ज्येष्ठः श्रेष्ठो वरिष्ठोऽपि आद्योऽपि न निमन्त्रितः ॥१६॥

नारदजीने कहा (पूछा)—(पुलस्त्यजी महाराज !) लोकस्वामी दक्षने महेश्वरके सबसे बड़े, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, सबके आदिमें रहनेवाले एवं समग्र ऐश्वर्योंके स्वामी होनेपर भी उन्हें (यज्ञमें) क्यों नहीं निमन्त्रित किया ? ॥ १६ ॥

पुलस्त्य उवाच

ज्येष्ठः श्रेष्ठो वरिष्ठोऽपि आद्योऽपि भगवाञ्शिवः । कपालीति विदित्वेशो दक्षेण न निमन्त्रितः ॥१७॥

पुलस्त्यजीने कहा—(नारद !) ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ तथा अग्रगामी होनेपर भी भगवान् शिवको कपाली जानकर प्रजापति दक्षने उन्हें (यज्ञमें) निमन्त्रित नहीं किया ॥ १७ ॥

नारद उवाच

किमर्थं देवताश्रेष्ठः शूलपाणिस्त्रिलोचनः । कपाली भगवान् जातः कर्मणा केन शंकरः ॥१८॥

नारदजीने (फिर) पूछा—(महाराज !) देवश्रेष्ठ शूलपाणि, त्रिलोचन भगवान् शंकर किस कर्मसे और किस प्रकार कपाली हो गये, यह बतलायें ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम् । प्रोक्तामादिपुराणे च ब्रह्मणाऽव्यक्तमूर्त्तिना ॥१९॥
पुरा त्वेकार्णवं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । नष्टचन्द्रार्कनक्षत्रं प्रणष्टपवनानलम् ॥२०॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं भावाभावविवर्जितम् । निमग्नपर्वततरु तमोभूतं सुदुर्दशम् ॥२१॥
तस्मिन् स शेते भगवान् निद्रां वर्षसहस्रिकीम् । रात्र्यन्ते सृजते लोकान् राजसं रूपमास्थितः ॥२२॥

पुलस्त्यजीने कहा—नारदजी ! आप ध्यान देकर सुनें । यह पुरानी कथा आदिपुराणमें अव्यक्तमूर्ति ब्रह्माजीके द्वारा कही गयी है । (मैं उसी प्राचीन कथाको आपसे कहता हूँ ।) प्राचीन समयमें समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् एकीभूत महासमुद्रमें निमग्न (डूबा हुआ) था । चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वायु एवं अग्नि—किसीका भी कोई (अलग)अस्तित्व नहीं था । 'भाव' एवं 'अभाव' से रहित जगत्की उस समयकी अवस्थाका कोई ठीक-ठीक ज्ञान, विचार, तर्कना या वर्णन सम्भव नहीं है । सभी पर्वत एवं वृक्ष जलमें निमग्न थे तथा सम्पूर्ण जगत् अन्धकारसे व्याप्त एवं दुर्दशाग्रस्त था । ऐसे समयमें भगवान् विष्णु हजारों वर्षोंकी निद्रामें शयन करते हैं एवं रात्रिके अन्तमें राजस रूप ग्रहणकर वे सभी लोकोंकी रचना करते हैं ॥ १९–२२ ॥

राजसः पञ्चवदनो वेदवेदाङ्गपारगः । स्रष्टा चराचरस्यास्य जगतोऽद्भुतदर्शनः ॥२३॥
तमोमयस्तथैवान्यः समुद्भूतस्त्रिलोचनः । शूलपाणिः कपर्दी च अक्षमालां च दर्शयन् ॥२४॥
ततो महात्मा ह्यसृजदहंकारं सुदारुणम् । येनाक्रान्तावुभौ देवौ तावेव ब्रह्मशंकरौ ॥२५॥
अहंकारावृतो रुद्रः प्रत्युवाच पितामहम् । को भवानिह संप्राप्तः केन सृष्टोऽसि मां वद ॥२६॥

इस चराचरात्मक जगत्का स्रष्टा भगवान् विष्णुका वह अद्भुत राजस स्वरूप पञ्चमुख एवं वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञाता था । उसी समय तमोमय, त्रिलोचन, शूलपाणि, कपर्दी तथा रुद्राक्षमाला धारण किया हुआ एक अन्य पुरुष भी प्रकट हुआ । उसके बाद भगवान्ने अतिदारुण अहंकारकी रचना की, जिससे ब्रह्मा तथा शंकर—वे दोनों ही देवता आक्रान्त हो गये । अहंकारसे व्याप्त शिवने ब्रह्मासे कहा—तुम कौन हो और यहाँ कैसे आये हो ? तुम मुझे यह भी बतलाओ कि तुम्हारी सृष्टि किसने की है ? ॥ २३–२६ ॥

पितामहोऽप्यहंकारात् प्रत्युवाचाथ को भवान् । भवतो जनकः कोऽत्र जननी वा तदुच्यताम् ॥२७॥
इत्यन्योन्यं पुरा ताभ्यां ब्रह्मेशाभ्यां कलिप्रिय । परिवादोऽभवत् तत्र उत्पत्तिर्भवतोऽभवत् ॥२८॥

भवानप्यन्तरिक्षं हि जातमात्रस्तदोत्पतत्। धारयन्नतुलां वीणां कुर्वन् किलकिलाध्वनिम् ॥२९॥
ततो विनिर्जितः शंभुर्मानिना पद्मयोनिना। तस्थावधोमुखो दीनो ग्रहाक्रान्तो यथा शशी ॥३०॥

(फिर) इसपर ब्रह्माने भी अहंकारसे उत्तर दिया—आप भी बतलाइये कि आप कौन हैं तथा आपके माता-पिता कौन हैं? लोक-कल्याणके लिये कलहको प्रिय माननेवाले नारदजी! इस प्रकार प्राचीनकालमें ब्रह्मा और शंकरके बीच एक-दूसरेसे दुर्विवाद हुआ। उसी समय आपका भी प्रादुर्भाव हुआ। आप उत्पन्न होते ही अनुपम वीणा धारण किये किलकिला शब्द करते हुए अन्तरिक्षकी ओर ऊपर चले गये। इसके बाद भगवान् शिव मानो ब्रह्माद्वारा पराजित-से होकर राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान दीन एवं अधोमुख होकर खड़े हो गये॥ २७–३०॥

पराजिते लोकपतौ देवेन परमेष्ठिना। क्रोधान्धकारितं रुद्रं पञ्चमोऽथ मुखोऽब्रवीत् ॥३१॥
अहं ते प्रतिजानामि तमोमूर्ते त्रिलोचन। दिग्वासा वृषभारूढो लोकक्षयकरो भवान् ॥३२॥
इत्युक्तः शंकरः क्रुद्धो वदनं घोरचक्षुषा। निर्दग्धुकामस्त्वनिशं ददर्श भगवानजः ॥३३॥
ततस्त्रिनेत्रस्य समुद्भवन्ति वक्त्राणि पञ्चाथ सुदर्शनानि।
श्वेतं च रक्तं कनकावदातं नीलं तथा पिङ्गजटं च शुभ्रम् ॥ ३४ ॥

(ब्रह्माके द्वारा) लोकपति (शंकर)के पराजित हो जानेपर क्रोधसे अन्धे हुए रुद्रसे (श्रीब्रह्माजीके) पाँचवें मुखने कहा—तमोमूर्ति त्रिलोचन! मै आपको जानता हूँ। आप दिगम्बर, वृषारोही एवं लोकोंको नष्ट करनेवाले (प्रलयंकारी) हैं। इसपर अजन्मा भगवान् शंकर अपने तीसरे घोर नेत्रद्वारा भस्म करनेकी इच्छासे ब्रह्माके उस मुखको एकटक देखने लगे। तदनन्तर श्रीशंकरके श्वेत, रक्त, स्वर्णिम, नील एवं पिंगल वर्णके सुन्दर पाँच मुख समुद्भूत हो गये॥ ३१–३४॥

वक्त्राणि दृष्ट्वाऽर्कसमानि सद्यः पैतामहं वक्त्रमुवाच वाक्यम्।
समाहतस्याथ जलस्य बुद्बुदा भवन्ति किं तेषु पराक्रमोऽस्ति ॥ ३५ ॥
तच्छ्रुत्वा क्रोधयुक्तेन शंकरेण महात्मना। नखाग्रेण शिरश्छिन्नं ब्राह्मं परुषवादिनम् ॥ ३६ ॥
तच्छिन्नं शंकरस्यैव सव्ये करतलेऽपतत्। पतते न कदाचिच्च तच्छंकरकराच्छिरः ॥ ३७॥
अथ क्रोधावृतेनापि ब्रह्मणाद्भुतकर्मणा। सृष्टस्तु पुरुषो धीमान् कवची कुण्डली शरी ॥ ३८ ॥
धनुष्पाणिर्महाबाहुर्बाणशक्तिधरोऽव्ययः। चतुर्भुजो महातूणी आदित्यसमदर्शनः ॥ ३९ ॥

सूर्यके समान (उन) दीप्त मुखोंको देखकर पितामहके मुखने कहा—जलमें आघात करनेसे बुद्बुद तो उत्पन्न होते हैं, पर क्या उनमें कुछ शक्ति भी होती है? यह सुनकर क्रोधभरे भगवान् शंकरने ब्रह्माके कठोर भाषण करनेवाले सिरको अपने नखके अग्रभागसे काट डाला; पर वह कटा हुआ ब्रह्माजीका सिर शंकरजीके ही वाम हथेलीपर जा गिरा एवं वह कपाल श्रीशंकरके उस हथेलीसे (इस प्रकार चिपक गया कि गिरानेपर भी) किसी प्रकार न गिरा। इसपर अद्भुतकर्मा ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कवच-कुण्डल एवं शर धारण करनेवाले धनुर्धर विशाल बाहुवाले एक पुरुषकी रचना की। वह अव्यय, चतुर्भुज, बाण, शक्ति और भारी तरकस धारण किये था तथा सूर्यके समान तेजस्वी दीख पड़ता था॥ ३५–३९॥

स प्राह गच्छ दुर्बुद्धे मा त्वां शूलिन् निपातये। भवान् पापसमायुक्तः पापिष्ठं को जिघांसति ॥ ४० ॥
इत्युक्तः शंकरस्तेन पुरुषेण महात्मना। त्रपायुक्तो जगामाथ रुद्रो बदरिकाश्रमम् ॥ ४१ ॥
नरनारायणस्थानं पर्वते हि हिमाश्रये। सरस्वती यत्र पुण्या स्यन्दते सरितां वरा ॥ ४२ ॥

तत्र गत्वा च तं दृष्ट्वा नारायणमुवाच ह । भिक्षां प्रयच्छ भगवन् महाकापालिकोऽस्मि भोः ॥ ४३ ॥
इत्युक्तो धर्मपुत्रस्तु रुद्रं वचनमब्रवीत् । सव्यं भुजं ताडयस्व त्रिशूलेन महेश्वर ॥ ४४ ॥

उस नये पुरुषने शिवजीसे कहा—दुर्बुद्धि शूलधारी शंकर ! तुम शीघ्र (यहाँसे) चले जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें मार डालूँगा । पर तुम पापयुक्त हो; भला, इतने बड़े पापीको कौन मारना चाहेगा ? जब उस महापुरुषने शंकरसे इस प्रकार कहा, तब शिवजी लज्जित होकर हिमालय पर्वतपर स्थित बदरिकाश्रमको चले गये, जहाँ नर-नारायणका स्थान है और जहाँ नदियोंमें श्रेष्ठ पवित्र सरस्वती नदी बहती है । वहाँ जाकर और उन नारायणको देखकर शंकरने कहा—भगवन् ! मैं महाकापालिक हूँ । आप मुझे भिक्षा दें । ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र-(नारायण-) ने रुद्रसे कहा—महेश्वर ! तुम अपने त्रिशूलके द्वारा मेरी बायीं भुजापर ताड़ना करो ॥ ४०—४४ ॥

नारायणवचः श्रुत्वा त्रिशूलेन त्रिलोचनः । सव्यं नारायणभुजं ताडयामास वेगवान् ॥ ४५ ॥
त्रिशूलाभिहतान्मार्गात् तिस्रो धारा विनिर्ययुः । एका गगनमाक्रम्य स्थिता ताराभिमण्डिता ॥ ४६ ॥
द्वितीया न्यपतद् भूमौ तां जग्राह तपोधनः । अत्रिस्तस्मात् समुद्भूतो दुर्वासा शंकरांशजः ॥ ४७ ॥
तृतीया न्यपतद्धारा कपाले रौद्रदर्शने । तस्माच्छिशुः समभवत् संनद्धकवचो युवा ॥ ४८ ॥
श्यामावदातः शरचापपाणिर्गर्जन्यथा प्रावृषि तोयदोऽसौ ।
इत्थं ब्रुवन् कस्य विशातयामि स्कन्धाच्छिरस्तालफलं यथैव ॥ ४९ ॥

शिवजीने नारायणकी बात सुनकर त्रिशूलद्वारा बड़े वेगसे उनकी वाम भुजापर आघात किया । त्रिशूलद्वारा (भुजापर) प्रताड़ित मार्गसे जलकी तीन धाराएँ निकल पड़ीं । एक धारा आकाशमें जाकर ताराओंसे मण्डित आकाशगङ्गा हुई; दूसरी धारा पृथ्वीपर गिरी, जिसे तपोधन अत्रिने (मन्दाकिनीके रूपमें) प्राप्त किया । शंकरके उसी अंशसे दुर्वासाका प्रादुर्भाव हुआ । तीसरी धारा भयानक दिखायी पड़नेवाले कपालपर गिरी, जिससे एक शिशु उत्पन्न हुआ । वह (जन्म लेते ही) कवच बाँधे, श्यामवर्णका युवक था । उसके हाथोंमें धनुष और बाण था । फिर वह वर्षाकालमें मेघ-गर्जनके समान कहने लगा—मैं किसके स्कन्धसे सिरको तालफलके सदृश काट गिराऊँ ?' ॥ ४५—४९ ॥

तं शंकरोऽभ्येत्य वचो बभाषे चरं हि नारायणबाहुजातम् ।
निपातयैनं नर दुष्टवाक्यं ब्रह्मात्मजं सूर्यशतप्रकाशम् ॥ ५० ॥
इत्येवमुक्तः स तु शंकरेण आद्यं धनुस्त्वाजगवं प्रसिद्धम् ।
जग्राह तूणानि तथाऽक्षयाणि युद्धाय वीरः स मतिं चकार ॥ ५१ ॥
ततः प्रयुद्धौ सुभृशं महाबलौ ब्रह्मात्मजो बाहुभवश्च शार्वः ।
दिव्यं सहस्रं परिवत्सराणां ततो हरोऽभ्येत्य विरिञ्चिमूचे ॥ ५२ ॥
जितस्त्वदीयः पुरुषः पितामह नरेण दिव्याद्भुतकर्मणा बली ।
महापृषत्कैरभिपत्य ताडितस्तदद्भुतं चेह दिशो दशैव ॥ ५३ ॥
ब्रह्मा तमीशं वचनं बभाषे नेहास्य जन्मान्यजितस्य शंभो ।
पराजितश्चेष्यतेऽसौ त्वदीयो नरो मदीयः पुरुषो महात्मा ॥ ५४ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं त्रिनेत्रश्चिक्षेप सूर्ये पुरुषं विरिञ्चेः ।
नरं नरस्यैव तदा स विग्रहे चिक्षेप धर्मप्रभवस्य देवः ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीनारायणकी बाहुसे उत्पन्न उस पुरुषके समीप जाकर श्रीशंकरने कहा—हे नर ! तुम सूर्यके समान प्रकाशमान, पर कटुभाषी, ब्रह्मासे उत्पन्न इस पुरुषको मार डालो। शंकरजीके ऐसा कहनेपर उस और नरने प्रसिद्ध आजगव नामका धनुष एवं अक्षय तूणीर ग्रहणकर युद्धका निश्चय किया। उसके बाद ब्रह्मात्मज और नारायणकी भुजासे उत्पन्न दोनो नरोंमें सहस्र दिव्य वर्षोतक प्रबल युद्ध होता रहा। तत्पश्चात् श्रीशंकरजीने ब्रह्माके पास जाकर कहा—पितामह ! यह एक अद्भुत बात है कि दिव्य एवं अद्भुत कर्मवाले (मेरे) नरने दशों दिशाओंमें व्याप्त महान् बाणोके प्रहारसे ताडित कर आपके पुरुषको जीत लिया। ब्रह्माने उस ईशसे कहा कि इस अजिनका जन्म यहाँ दूसरोंद्वारा पराजित होनेके लिये नहीं हुआ है। यदि किसीको पराजित कहा जाना अभीष्ट है तो यह तेरा नर ही है। मेरा पुरुष तो महाबली है—ऐसा कहे जानेपर श्रीशंकरजीने ब्रह्माजीके पुरुषको सूर्यमण्डलमे फेक दिया तथा उन्हीं शंकरने उस नरको धर्मपुत्र नरके शरीरमें फेक दिया ॥ ५०—५५ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमे दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

[अथ तृतीयोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः करतले रुद्रः कपाले दारुणे स्थिते। संतापमगमद् ब्रह्मंश्चिन्तया व्याकुलेन्द्रियः ॥ १ ॥
ततः समागता रौद्रा नीलाञ्जनचयप्रभा। संरक्तमूर्द्धजा भीमा ब्रह्महत्या हरान्तिकम् ॥ २ ॥
तामागतां हरो दृष्ट्वा पप्रच्छ विकरालिनीम्। काऽसि त्वमागता रौद्रे केनाप्यर्थेन तद्वद ॥ ३ ॥
कपालिनमथोवाच ब्रह्महत्या सुदारुणा। ब्रह्मवध्याऽस्मि संप्राप्ता मां प्रतीच्छ त्रिलोचन ॥ ४ ॥

तीसरा अध्याय प्रारम्भ

(शंकरजीका ब्रह्महत्यासे छूटनेके लिये तीर्थोंमे भ्रमण; बदरिकाश्रममें नारायणकी स्तुति; वाराणसीमे ब्रह्महत्यासे मुक्ति एवं कपाली नाम पड़ना)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! तत्पश्चात् शिवजीको अपने करतलमें भयंकर कपालके सट जानेसे बड़ी चिन्ता हुई। उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं। उन्हें बडा संताप हुआ। उसके बाद कालिखके समान नीले रंगकी, रक्त वर्णके केशवाली भयंकर ब्रह्महत्या शंकरके निकट आयी। उस विकराल रूपवाली स्त्रीको आयी देखकर शंकरजीने पूछा—ओ भयावनी स्त्री ! यह बतलाओ कि तुम कौन हो एवं किसलिये यहाँ आयी हो ? इसपर उस अत्यन्त दारुण ब्रह्महत्याने उनसे कहा—मैं ब्रह्महत्या हूँ; हे त्रिलोचन ! आप मुझे स्वीकार करें—इसलिये यहाँ आयी हूँ ॥ १—४ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्महत्या विवेश ह। त्रिशूलपाणिनं रुद्रं सम्प्रतापितविग्रहम् ॥ ५ ॥
ब्रह्महत्याभिभूतश्च शर्वो बदरिकाश्रमम्। आगच्छन्न ददर्शाथ नरनारायणावृषी ॥ ६ ॥
अदृष्ट्वा धर्मतनयौ चिन्ताशोकसमन्वितः। जगाम यमुनां स्नातुं साऽपि शुष्कजलाऽभवत् ॥ ७ ॥
कालिन्दीं शुष्कसलिलां निरीक्ष्य वृषकेतनः। प्लक्षजां स्नातुमगमदन्तर्द्धानं च सा गता ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर ब्रह्महत्या संतापसे जलते शरीरवाले त्रिशूलपाणि शिवके शरीरमें समा गयी। ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर श्रीशंकर बदरिकाश्रममें आये; किंतु वहाँ नर एवं नारायण ऋषियोंके उन्हे दर्शन नहीं हुए। धर्मके उन दोनो पुत्रोंको वहाँ न देखकर वे चिन्ता और शोकसे युक्त हो यमुनाजीमें स्नान करने गये, परंतु उसका जल भी सूख गया। यमुनाजीको निर्जल देखकर भगवान् शंकर सरस्वतीमें स्नान करने गये, किंतु वह भी लुप्त हो गयी ॥ ५—८ ॥

ततोऽनु पुष्करारण्यं मागधारण्यमेव च। सैन्धवारण्यमेवासौ गत्वा स्नातो यथेच्छया ॥ ९ ॥
तथैव नैमिषारण्यं धर्मारण्यं तथेश्वरः। स्नातो नैव च सा रौद्रा ब्रह्महत्या व्यमुञ्चत ॥ १० ॥
सरित्सु तीर्थेषु तथाश्रमेषु पुण्येषु देवायतनेषु शर्वः।
समायुतो योगयुतोऽपि पापान्नावाप मोक्षं जलदध्वजोऽसौ ॥ ११ ॥
ततो जगाम निर्विण्णः शंकरः कुरुजाङ्गलम्। तत्र गत्वा ददर्शाथ चक्रपाणिं खगध्वजम् ॥ १२ ॥
तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं शङ्खचक्रगदाधरम्। कृताञ्जलिपुटो भूत्वा हरः स्तोत्रमुदीरयत् ॥ १३ ॥

फिर पुष्करारण्य, धर्मारण्य और सैन्धवारण्यमें जाकर उन्होंने बहुत समयतक स्नान किया। उसी प्रकार वे नैमिषारण्य तथा सिद्धपुरमें भी गये और स्नान किये; फिर भी उस भयंकर ब्रह्महत्याने उन्हें नहीं छोड़ा। जीमूतकेतु शंकरने अनेक नदियों, तीर्थों, आश्रमों एवं पवित्र देवायतनोंकी यात्रा की; पर योगी होनेपर भी वे पापसे मुक्ति न प्राप्त कर सके। तत्पश्चात् वे खिन्न होकर कुरुक्षेत्र गये। वहाँ जाकर उन्होंने गरुडध्वज चक्रपाणि-(विष्णु-)को देखा और उन शङ्ख-चक्र-गदाधारी पुण्डरीकाक्ष-(श्रीनारायण-) का दर्शनकर वे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—॥ ९-१३ ॥

हर उवाच

नमस्ते देवतानाथ नमस्ते गरुडध्वज। शङ्खचक्रगदापाणे वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
नमस्ते निर्गुणानन्त अप्रतर्क्याय वेधसे। ज्ञानाज्ञान निरालम्ब सर्वालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥
रजोयुक्त नमस्तेऽस्तु ब्रह्ममूर्ते सनातन। त्वया सर्वमिदं नाथ जगत्सृष्टं चराचरम् ॥ १६ ॥
सत्त्वाधिष्ठित लोकेश विष्णुमूर्ते अधोक्षज। प्रजापाल महाबाहो जनार्दन नमोऽस्तु ते ॥ १७ ॥
तमोमूर्ते अहं ह्येष त्वदंशक्रोधसंभवः। गुणाभियुक्त देवेश सर्वव्यापिन् नमोऽस्तु ते ॥ १८ ॥

भगवान् शंकर बोले—हे देवताओंके स्वामी! आपको नमस्कार है। गरुडध्वज! आपको प्रणाम है। शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेव! आपको नमस्कार है। निर्गुण अनन्त एवं अतर्कनीय विधाता! आपको नमस्कार है। ज्ञानाज्ञानस्वरूप, स्वयं निराश्रय किंतु सबके आश्रय! आपको नमस्कार है। रजोगुण, सनातन, ब्रह्ममूर्ति! आपको नमस्कार है। नाथ! आपने इस सम्पूर्ण चराचर विश्वकी रचना की है। सत्वगुणके आश्रय लोकेश! विष्णुमूर्ति, अधोक्षज, प्रजापालक, महाबाहु, जनार्दन! आपको नमस्कार है। हे तपोमूर्ति! मैं आपके अंशभूत क्रोधसे उत्पन्न हूँ। हे महान् गुणवाले सर्वव्यापी देवेश! आपको नमस्कार है ॥ १४-१८ ॥

भूरियं त्वं जगन्नाथ जलाम्बरहुताशनः। वायुर्बुद्धिर्मनश्चापि शर्वरी त्वं नमोऽस्तु ते ॥ १९ ॥
धर्मो यज्ञस्तपः सत्यमहिंसा शौचमार्जवम्। क्षमा दानं दया लक्ष्मीर्ब्रह्मचर्यं त्वमीश्वर ॥ २० ॥
त्वं साङ्गाश्चतुरो वेदास्त्वं वेद्यो वेदपारगः। उपवेदा भवानीश सर्वोऽसि त्वं नमोऽस्तु ते ॥ २१ ॥
नमो नमस्तेऽच्युत चक्रपाणे नमोऽस्तु ते माधव मीनमूर्ते।
लोके भवान् कारुणिको मतो मे त्रायस्व मां केशव पापबन्धात् ॥ २२ ॥
ममाशुभं नाशय विग्रहस्थं यद् ब्रह्महत्याऽभिभवं बभूव।
दग्धोऽस्मि नष्टोऽस्म्यसमीक्ष्यकारी पुनीहि तीर्थोऽसि नमो नमस्ते ॥ २३ ॥

जगन्नाथ! आप ही पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु, बुद्धि, मन एवं रात्रि हैं; आपको नमस्कार है। ईश्वर! आप ही धर्म, यज्ञ, तप, सत्य, अहिंसा, पवित्रता, सरलता, क्षमा, दान, दया, लक्ष्मी एवं ब्रह्मचर्य हैं। हे ईश! आप अङ्गोंसहित चतुर्वेदस्वरूप, वेद्य एवं वेदपारगामी हैं। आप ही उपवेद हैं तथा सभी कुछ

आप ही हैं; आपको नमस्कार है । अच्युत ! चक्रपाणि ! आपको बारंबार नमस्कार है । मीनमूर्तिधारी (मत्स्यावतारी) माधव ! आपको नमस्कार है । मै आपको लोकमें दयालु मानता हूँ । केशव ! आप मेरे शरीरमें स्थित ब्रह्महत्यासे उत्पन्न अशुभको नष्ट कर मुझे पाप-बन्धनसे मुक्त करें । बिना विचार किये कार्य करनेवाला मैं दग्ध एवं नष्ट हो गया हूँ । आप साक्षात् तीर्थ हैं, अतः आप मुझे पवित्र करें । आपको बारंबार नमस्कार है ॥१९-२३॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं स्तुतश्चक्रधरः शंकरेण महात्मना । प्रोवाच भगवान् वाक्यं ब्रह्महत्याक्षयाय हि ॥ २४ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—भगवान् शंकरद्वारा इस प्रकार स्तुत होनेपर चक्रधारी भगवान् विष्णु शंकरकी ब्रह्महत्याको नष्ट करनेके लिये उनसे वचन बोले—॥ २४ ॥

हरिरुवाच

महेश्वर शृणुष्वेमां मम वाचं कलस्वनाम् । ब्रह्महत्याक्षयकरीं शुभदां पुण्यवर्धनीम् ॥ २५ ॥
योऽसौ प्राङ्मण्डले पुण्ये मदंशप्रभवोऽव्ययः । प्रयागे वसते नित्यं योगशायीति विश्रुतः ॥ २६ ॥
चरणाद् दक्षिणात्तस्य विनिर्याता सरिद्वरा । विश्रुता वरणेत्येव सर्वपापहरा शुभा ॥ २७ ॥
सव्यादन्या द्वितीया च असिरित्येव विश्रुता । ते उभे तु सरिच्छ्रेष्ठे लोकपूज्ये बभूवतुः ॥ २८ ॥

भगवान् विष्णु बोले—महेश्वर ! आप ब्रह्महत्याको नष्ट करनेवाली मेरी मधुर वाणी सुनें । यह शुभप्रद एवं पुण्यको बढ़ानेवाली है ।

यहाँसे पूर्व प्रयागमें मेरे अंशसे उत्पन्न 'योगशायी' नामसे विख्यात देवता हैं । वे अव्यय—विकाररहित पुरुष हैं । वहाँ उनका नित्य निवास है । वहींसे उनके दक्षिण चरणसे 'वरणा' नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ नदी निकली है । वह सब पापोंको हरनेवाली एवं पवित्र है । वहीं उनके वाम पादसे 'असि'नामसे प्रसिद्ध एक दूसरी नदी भी निकली है । ये दोनों नदियाँ श्रेष्ठ एवं लोकपूज्य हैं ॥ २५-२८ ॥

ताभ्यां मध्ये तु यो देशस्तत्क्षेत्रं योगशायिनः । त्रैलोक्यप्रवरं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम् ।
न तादृशोऽस्ति गगने न भूम्यां न रसातले ॥ २९ ॥
तत्रास्ति नगरी पुण्या ख्याता वाराणसी शुभा । यस्यां हि भोगिनोऽपीश प्रयान्ति भवतो लयम् ॥ ३० ॥

विलासिनीनां रशनास्वनेन श्रुतिस्वनैर्ब्राह्मणपुंगवानाम् ।
शुचिस्वरत्वं गुरवो निशम्य हास्यादशासन्त मुहुर्मुहुस्तान् ॥ ३१ ॥
व्रजत्सु योषित्सु चतुष्पथेषु पदान्यलक्तारुणितानि दृष्ट्वा ।
ययौ शशी विस्मयमेव यस्यां किंस्वित् प्रयाता स्थलपद्मिनीयम् ॥ ३२ ॥
तुङ्गानि यस्यां सुरमन्दिराणि रुन्धन्ति चन्द्रं रजनीमुखेषु ।
दिवाऽपि सूर्यं पवनाप्लुताभिर्दीर्घाभिरेवं सुपताकिकाभिः ॥ ३३ ॥

उन दोनोंके मध्यका प्रदेश योगशायीका क्षेत्र है । वह तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा सभी पापोंसे छुड़ा देनेवाला तीर्थ है । उसके समान अन्य कोई तीर्थ आकाश, पृथ्वी एवं रसातलमें नहीं है । ईश ! वहाँ पवित्र शुभप्रद विख्यात वाराणसी नगरी है, जिसमें भोगी लोग भी आपके लोकको प्राप्त करते हैं । श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि विलासिनी स्त्रियोंकी करधनीकी ध्वनिसे मिश्रित होकर मङ्गल स्वरका रूप धारण करती है । उस ध्वनिको सुनकर गुरुजन बारंबार उपहासपूर्वक उनका शासन करते हैं । जहाँ चौराहोंपर भ्रमण करनेवाली स्त्रियोंके अलक्त

(महावर) से अरुणित चरणोंको देखकर चन्द्रमाको स्थल-पद्मिनीके चलनेका भ्रम हो जाता है और जहाँ रात्रिका आरम्भ होनेपर ऊँचे-ऊँचे देवमन्दिर चन्द्रमाका (मानो) अवरोध करते हैं एवं दिनमें पवनान्दोलित (हवामें फहरा रही) दीर्घ पताकाओंसे सूर्य भी छिपे रहते हैं ॥ २९–३३ ॥

भृङ्गाश्च यस्यां शशिकान्तभित्तौ प्रलोभ्यमानाः प्रतिबिम्बितेषु ।
आलेख्ययोषिद्विमलाननाब्जेष्वीयुर्भ्रमान्नैव च पुष्पकान्तरम् ॥ ३४ ॥
परिभ्रमश्चापि पराजितेषु नरेषु संमोहनलेखनेन ।
यस्यां जलक्रीडनसंगतासु न स्त्रीषु शंभो गृहदीर्घिकासु ॥ ३५ ॥
न चैव कश्चित् परमन्दिराणि रुणद्धि शंभो सहसा ऋतेऽक्षान् ।
न चाबलानां तरसा पराक्रमं करोति यस्यां सुरतं हि मुक्त्वा ॥ ३६ ॥
पाशग्रन्थिर्गजेन्द्राणां दानच्छेदो मदच्युतौ । यस्यां मानमदौ पुंसां करिणां यौवनागमे ॥ ३७ ॥

जिस-(वाराणसी-) में चन्द्रकान्तमणिकी भित्तियोंपर प्रतिबिम्बित चित्रमें निर्मित स्त्रियोंके निर्मल मुख-कमलोंको देखकर भ्रमर उनपर भ्रमवश लुब्ध हो जाते हैं और दूसरे पुष्पोंकी ओर नहीं जाते; हे शम्भो ! वहाँ सम्मोहनलेखनसे पराजित पुरुषोंमें तथा घरकी बावलियोंमें जलक्रीडाके लिये एकत्र हुई स्त्रियोंमें ही 'भ्रमण' देखा जाता है, अन्यत्र किसीको 'भ्रमण' (चक्कर रोग) नहीं होता[1], द्यूतक्रीडा-(जुआके खेल-)के पासोंके सिवाय अन्य कोई भी दूसरेके 'पाश'-(बन्धन-)में नहीं डाला जाता तथा सुरत-समयके सिवाय स्त्रियोंके साथ कोई आवेगयुक्त पराक्रम नहीं करता । जहाँ हाथियोंके बन्धनमें ही पाशग्रन्थि (रस्सीकी गाँठ) होती है, उनकी मदच्युतिमें (मदके चूनेमें) ही 'दानच्छेद' (मदकी धाराका टूटना) एवं नर हाथियोंके यौवनागममें ही 'मान' और 'मद' होते हैं, अन्यत्र नहीं; तात्पर्य यह कि दान देनेकी धारा निरन्तर चलती रहती है और अभिमानी एवं मदवाले लोग नहीं हैं ॥ ३४–३७ ॥

प्रियदोषाः सदा यस्यां कौशिका नेतरे जनाः । तारागणेऽकुलीनत्वं गद्ये वृत्तच्युतिर्विभो ॥ ३८ ॥
भूतिलुब्धा विलासिन्यो भुजंगपरिवारिताः । चन्द्रभूषितदेहाश्च यस्यां त्वमिव शंकर ॥ ३९ ॥
ईदृशायां सुरेशान वाराणस्यां महाश्रमे । वसते भगवाँल्लोलः सर्वपापहरो रविः ॥ ४० ॥
दशाश्वमेधं यत्प्रोक्तं मदंशो यत्र केशवः । तत्र गत्वा सुरश्रेष्ठ पापमोक्षमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥

विभो ! जहाँ उलूक ही सदा दोषा-(रात्रि-) प्रिय होते हैं, अन्य लोग दोषोंके प्रेमी नहीं हैं । तारागणोंमें ही अकुलीनता (पृथ्वीमें न छिपना) है, लोगोंमें कहीं अकुलीनताका नाम नहीं है; गद्यमें ही वृत्तच्युति (छन्दोभङ्ग) होती है, अन्यत्र वृत्त-(चरित्र-) च्युति नहीं दीखती । शंकर ! जहाँकी विलासिनियाँ आपके सदृश (भस्म) 'भूतिलुब्धा' 'भुजंग-(सर्प-) परिवारिता' एवं 'चन्द्रभूषितदेहा' होती हैं । (यहाँ पक्षान्तरमें—विलासिनियोंके पक्षमें—संगतिके लिये, 'भूति' पद 'भस्म' और 'धन' के अर्थमें, 'भुजङ्ग' पद 'सर्प' एवं 'जार' के अर्थमें तथा 'चन्द्र' पद 'चन्द्रभूषण'के अर्थमें प्रयुक्त हैं ।) सुरेशान ! इस प्रकारकी वाराणसीके महान् आश्रममें सभी पापोंको दूर करनेवाले भगवान् 'लोल' नामके सूर्य निवास करते हैं । सुरश्रेष्ठ ! वहीं दशाश्वमेध नामका स्थान है तथा वहीं मेरे अंशस्वरूप केशव स्थित हैं । वहाँ जाकर आप पापसे छुटकारा प्राप्त करेंगे ॥ ३८–४१ ॥

१–यहाँ सर्वत्र परिसंख्यालंकार है । परिसंख्यालंकार वहाँ होता है, जहाँ किसी वस्तुका एक स्थानमें निषेध करके उसका दूसरे स्थानमें स्थापन हो । ऐसा वर्णन आनन्दरामायणके अयोध्या-वर्णनमें, कादम्बरीमें, काशीखण्डमें काशी आदिके वर्णनमें भी प्राप्त होता है ।

इत्येवमुक्तो गरुडध्वजेन वृषध्वजस्तं शिरसा प्रणम्य।
जगाम वेगाद् गरुडो यथाऽसौ वाराणसीं पापविमोचनाय ॥ ४२ ॥
गत्वा सुपुण्यां नगरीं सुतीर्थां दृष्ट्वा च लोलं सदशाश्वमेधम्।
स्नात्वा च तीर्थेषु विमुक्तपापः स केशवं द्रष्टुमुपाजगाम ॥ ४३ ॥
केशवं शंकरो दृष्ट्वा प्रणिपत्येदमब्रवीत्। त्वत्प्रसादाद् हृषीकेश ब्रह्महत्या क्षयं गता ॥ ४४ ॥
नेदं कपालं देवेश मद्धस्तं परिमुञ्चति। कारणं वेद्मि न च तदेतन्मे वक्तुमर्हसि ॥ ४५ ॥

भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर शिवजीने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर वे पाप छुडानेके लिये गरुडके समान तेज वेगसे वाराणसी गये। वहाँ परमपवित्र तथा तीर्थभूत नगरीमें जाकर दशाश्वमेधके साथ 'असी' स्थानमें स्थित भगवान् लोलार्कका[1] दर्शन किया तथा (वहाँके) तीर्थोंमें स्नान कर और पाप-मुक्त होकर वे (वरुणा-संगमपर) केशवका दर्शन करने गये। उन्होंने केशवका दर्शन करके प्रणामकर कहा—हृषीकेश ! आपके प्रसादसे ब्रह्महत्या तो नष्ट हो गयी, पर देवेश ! यह कपाल मेरे हाथको नहीं छोड रहा है। इसका कारण मैं नहीं जानता। आप ही मुझे यह बतला सकते हैं ॥ ४२—४५ ॥

पुलस्त्य उवाच

महादेववचः श्रुत्वा केशवो वाक्यमब्रवीत्। विद्यते कारणं रुद्र तत्सर्वं कथयामि ते ॥ ४६ ॥
योऽसौ ममाग्रतो दिव्यो ह्रदः पद्मोत्पलैर्युतः। एष तीर्थवरः पुण्यो देवगन्धर्वपूजितः ॥ ४७ ॥
एतस्मिन्प्रवरे तीर्थे स्नानं शंभो समाचर। स्नातमात्रस्य चाद्यैव कपालं परिमोक्ष्यति ॥ ४८ ॥
ततः कपाली लोके च ख्यातो रुद्र भविष्यसि। कपालमोचनेत्येवं तीर्थं चेदं भविष्यति ॥ ४९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महादेवका वचन सुनकर केशवने यह वाक्य कहा—रुद्र ! इसके समस्त कारणोंको मैं तुम्हें बतलाता हूँ। मेरे सामने कमलोंसे भरा यह जो दिव्य सरोवर है, यह पवित्र तथा तीर्थोंमें श्रेष्ठ है एवं देवताओं तथा गन्धर्वोंसे पूजित है। शिवजी ! आप इस परम श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करें। स्नान करनेमात्रसे आज ही यह कपाल (आपके हाथको) छोड़ देगा। इससे रुद्र ! संसारमें आप 'कपाली' नामसे प्रसिद्ध होंगे तथा यह तीर्थ भी 'कपालमोचन' नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ४६—४९ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तः सुरेशेन केशवेन महेश्वरः। कपालमोचने सस्नौ वेदोक्तविधिना मुने ॥ ५० ॥
स्नातस्य तीर्थे त्रिपुरान्तकस्य परिच्युतं हस्तनलात् कपालम्।
नाम्ना बभूवाथ कपालमोचनं तत्तीर्थवर्यं भगवत्प्रसादात् ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! सुरेश्वर केशवके ऐसा कहनेपर महेश्वरने कपालमोचनतीर्थमें वेदोक्त विधिसे स्नान किया। उस तीर्थमें स्नान करते ही उनके हाथसे ब्रह्म-कपाल गिर गया। तभीसे भगवान्‌की कृपासे उस उत्तम तीर्थका नाम 'कपालमोचन' पडा[2] ॥ ५०—५१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१—लोलार्कके सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये देखिये सूर्याङ्कके ३०८ वें से ३१० वें पृष्ठतक प्रकाशित विवरण।
२—कपालमोचन तीर्थ काशीके परिसरमें बकरियाकुण्डसे १ मीलपर स्थित है। इस सम्बन्धमें द्रष्टव्य तीर्थाङ्क पृ० १३४।

[अथ चतुर्थोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एवं कपाली संजातो देवर्षे भगवान्हरः। अनेन कारणेनासौ दक्षेण न निमन्त्रितः॥ १॥
कपालिजायेति सतीं विज्ञायाथ प्रजापतिः। यज्ञे चार्हापि दुहिता दक्षेण न निमन्त्रिता॥ २॥
एतस्मिन्नन्तरे देवीं द्रष्टुं गौतमनन्दिनी। जया जगाम शैलेन्द्रं मन्दरं चारुकन्दरम्॥ ३॥
तामागतां सती दृष्ट्वा जयामेकामुवाच ह। किमर्थं विजया नागाज्जयन्ती चापराजिता॥ ४॥

चौथा अध्याय प्रारम्भ

(विजयाका मौसी सतीसे दक्ष-यज्ञकी वार्ता, सतीका प्राण-त्याग; शिवका क्रोध एवं उनके गणोंद्वारा दक्ष-यज्ञका विध्वंस)

पुलस्त्यजी बोले—देवर्षे! भगवान् शिव इस प्रकार कपाली नामसे ख्यात हुए और इसी कारण वे दक्षके द्वारा निमन्त्रित नहीं हुए। प्रजापति दक्षने सतीको अपनी पुत्री होनेपर भी कपालीकी पत्नी समझकर निमन्त्रणके योग्य न मानकर उन्हे यज्ञमें नहीं बुलाया। इसी बीच देवीका दर्शन करनेके लिये गौतम-पुत्री जया सुन्दर गुफावाले पर्वतश्रेष्ठ मन्दरपर गयी। जयाको वहाँ अकेली आयी देखकर सती बोलीं—विजये! जयन्ती और अपराजिता यहाँ क्यो नहीं आयीं? ॥ १—४॥

सा देव्या वचनं श्रुत्वा उवाच परमेश्वरीम्। गता निमन्त्रिताः सर्वा मखे मातामहस्य ताः॥ ५॥
समं पित्रा गौतमेन मात्रा चैवाप्यहल्यया। अहं समागता द्रष्टुं त्वां तत्र गमनोत्सुका॥ ६॥
किं त्वं न व्रजसे तत्र तथा देवो महेश्वरः। नामन्त्रिताऽसि तातेन उताहोस्विद् व्रजिष्यसि॥ ७॥
गतास्तु ऋषयः सर्वे ऋषिपत्न्यः सुरास्तथा। मातृष्वसः शशाङ्कश्च सपत्नीको गतः क्रतुम्॥ ८॥
चतुर्दशेषु लोकेषु जन्तवो ये चराचराः। निमन्त्रिताः क्रतौ सर्वे किं नासि त्वं निमन्त्रिता॥ ९॥

देवीके वचनको सुनकर विजयाने उन सती परमेश्वरीसे कहा—अपने पिता गौतम और माता अहल्याके साथ वे मातामहके सत्र-(यज्ञ-)में निमन्त्रित होकर चली गयीं हैं। वहाँ जानेके लिये उत्सुक मै आपसे मिलने आयी हूँ। क्या आप तथा भगवान् शिव वहाँ नहीं जा रहे हैं? क्या पिताजीने आपको नहीं बुलाया है? अथवा आप वहाँ जायेंगी? सभी ऋषि, ऋषि-पत्नियाँ तथा देवगण वहाँ गये है। हे मातृष्वसः (मौसी)! पत्नीके सहित शशाङ्क भी उस यज्ञमें गये है। चौदहो लोकोके समस्त चराचर प्राणी उस यज्ञमें निमन्त्रित हुए हैं। क्या आप निमन्त्रित नहीं है? ॥ ५—९॥

पुलस्त्य उवाच

जयायास्तद्वचः श्रुत्वा वज्रपातसमं सती। मन्युनाऽभिप्लुता ब्रह्मन् पञ्चत्वमगमत् ततः॥ १०॥
जया मृतां सतीं दृष्ट्वा क्रोधशोकपरिप्लुता। मुञ्चती वारि नेत्राभ्यां सस्वरं विललाप ह॥ ११॥
आक्रन्दितध्वनिं श्रुत्वा शूलपाणिस्त्रिलोचनः। आः किमेतदितीत्युक्त्वा जयाभ्याशमुपागतः॥ १२॥
आगतो ददृशे देवीं लतामिव वनस्पतेः। कृत्तां परशुना भूमौ श्लथाङ्गीं पतितां सतीम्॥ १३॥
देवीं निपतितां दृष्ट्वा जयां पप्रच्छ शंकरः। किमियं पतिता भूमौ निकृत्तेव लता सती॥ १४॥
सा शंकरवचः श्रुत्वा जया वचनमब्रवीत्। श्रुत्वा मखस्था दक्षस्य भगिन्यः पतिभिः सह॥ १५॥
आदित्याद्यास्त्रिलोकेश समं शक्रादिभिः सुरैः। मातृष्वसा विपन्नेयमन्तर्दुःखेन दह्यती॥ १६॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन्! (नारदजी!) वज्रपातके-समान जयाकी उस बातको सुनकर क्रोध एवं दुःखसे भरकर सतीने प्राण छोड़ दिये। सतीको मरी हुई देखकर क्रोध एवं दुःखसे भरी जया आँसू बहाते हुए जोर-जोरसे विलाप

करने लगी। रोनेकी करुणध्वनि सुनकर शूलपाणि भगवान् शिव 'अरे क्या हुआ, क्या हुआ'—ऐसा कहकर उसके पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने फरसेसे कटी वृक्षपर चढ़ी लताकी तरह सतीको भूमिपर मरी पड़ी देखा तो जयासे पूछा—ये सती कटी लताकी तरह भूमिपर क्यों पड़ी हुई है ? शिवके वचनको सुनकर जया बोली—हे त्रिलोकेश्वर ! दक्षके यज्ञमे अपने-अपने पतिके साथ बहनोंका एवं इन्द्र आदि देवोंके साथ आदित्य आदिका निमन्त्रित होकर उपस्थित होना सुनकर आन्तरिक दुःख (की ज्वाला)से दग्ध हो गयीं। इससे मेरी माताकी बहन (सती)के प्राण निकल गये॥ १०—१६ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो रौद्रं रुद्रः क्रोधाप्लुतो बभौ। क्रुद्धस्य सर्वगात्रेभ्यो निश्चेरुः सहसार्चिषः॥१७॥
ततः क्रोधात् त्रिनेत्रस्य गात्ररोमोद्भवा मुने। गणाः सिंहमुखा जाता वीरभद्रपुरोगमाः॥१८॥
गणैः परिवृतस्तस्मान्मन्दराद्धिमसाह्वयम्। गतः कनखलं तस्माद् यत्र दक्षोऽयजत् क्रतुम्॥१९॥
ततो गणानामधिपो वीरभद्रो महाबलः। दिशि प्रतीच्युत्तरायां तस्थौ शूलधरो मुने॥२०॥

पुलस्त्यजीने कहा—जयाके इस भयंकर (अमङ्गल) वचनको सुनकर शिवजी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उनके शरीरसे सहसा अग्निकी तेज ज्वालाएँ निकलने लगीं। मुने ! इसके बाद क्रोधके कारण त्रिनेत्र भगवान् शिवके शरीरके लोमोंसे सिंहके समान मुखवाले वीरभद्र आदि बहुत-से रुद्रगण उत्पन्न हो गये। अपने गणोंसे घिरे भगवान् शिव मंदर पर्वतसे हिमालयपर गये और वहाँसे कनखल चले गये, जहाँ दक्ष यज्ञ कर रहे थे। इसके बाद सभी गणोंमें अग्रगी महाबली वीरभद्र शूल धारण किये पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशामें चले गये॥ १७—२०॥

जया क्रोधाद् गदां गृह्य पूर्वदक्षिणतः स्थिता। मध्ये त्रिशूलधृक् शर्वस्तस्थौ क्रोधान्महामुने॥२१॥
मृगारिवदनं दृष्ट्वा देवाः शक्रपुरोगमाः। ऋषयो यक्षगन्धर्वाः किमिदं त्वित्यचिन्तयन्॥२२॥
ततस्तु धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान्। द्वारपालस्तदा धर्मो वीरभद्रमुपाद्रवत्॥२३॥
तमापतन्तं सहसा धर्मं दृष्ट्वा गणेश्वरः। करेणैकेन जग्राह त्रिशूलं वह्निसन्निभम्॥२४॥
कार्मुकं च द्वितीयेन तृतीयेनाथ मार्गणान्। चतुर्थेन गदां गृह्य धर्ममभ्यद्रवद् गणः॥२५॥

महामुने ! क्रोधसे गदा लेकर जया पूर्व-दक्षिण दिशा (अग्निकोण) में खड़ी हो गयी और मध्यमें क्रोधसे भरे त्रिशूल लिये शंकर खड़े हो गये। सिंहवदन-(वीरभद्र-)को देखकर इन्द्र आदि देवता, ऋषि, यक्ष एवं गन्धर्वलोग सोचने लगे कि यह क्या है ? तदनन्तर द्वारपाल धर्म धनुष एवं सर्पके समान बाणोंको लेकर वीरभद्रकी ओर दौड़े। सहसा धर्मको आता हुआ देखकर गणेश्वर एक हाथमें अग्निके सदृश त्रिशूल, दूसरे हाथमें धनुष, तीसरे हाथमें बाण और चौथे हाथमें गदा लेकर उनकी ओर दौड़ पड़े॥ २१—२५॥

ततश्चतुर्भुजं दृष्ट्वा धर्मराजो गणेश्वरम्। तस्थावष्टभुजो भूत्वा नानायुधधरोऽव्ययः॥२६॥
खड्गचर्मगदाप्रासपरश्वधवराङ्कुशैः। चापमार्गणभृत्तस्थौ हन्तुकामो गणेश्वरम्॥२७॥
गणेश्वरोऽपि संक्रुद्धो हन्तुं धर्मं सनातनम्। ववर्ष मार्गणांस्तीक्ष्णान् यथा प्रावृषि तोयदः॥२८॥
तावन्योन्यं महात्मानौ शरचापधरौ मुने। रुधिरारुणसिक्ताङ्गौ किंशुकाविव रेजतुः॥२९॥

इसके बाद धर्मराजने चतुर्भुज गणेश्वरको देख और नानाप्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सज्जित हो तथा आठ भुजाओंको धारणकर उनका सामना किया और गणोंके स्वामी वीरभद्रपर प्रहार करनेकी इच्छासे वे अपने हाथोंमें ढाल, तलवार, गदा, भाला, फरसा, अंकुश, धनुष एवं बाण लेकर खड़े हो गये। गणेश्वर वीरभद्र भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर

यमको मारनेके लिये वर्षाकालिक मेघके सदृश उनके ऊपर तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षा करने लगे। मुने! धनुषको लिये रुधिरसे लथपथ (अतएव) लाल शरीरवाले वे दोनों महात्मा पलाश-पुष्पके समान दीखने लगे॥ २६-२९॥

ततो वरास्त्रैर्गणनायकेन जितः स धर्मः तरसा प्रसह्य।
पराङ्मुखोऽभूद्विमना मुनीन्द्र स वीरभद्रः प्रविवेश यज्ञम्॥ ३०॥

यज्ञवाटं प्रविष्टं तं वीरभद्रं गणेश्वरम्। दृष्ट्वा तु सहसा देवा उत्तस्थुः सायुधा मुने॥ ३१॥
वसवोऽष्टौ महाभागा ग्रहा नव सुदारुणाः। इन्द्राद्या द्वादशादित्या रुद्रास्त्वेकादशैव हि॥ ३२॥
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च सिद्धगन्धर्वपन्नगाः। यक्षाः किंपुरुषाश्चैव खगाश्चक्रधरास्तथा॥ ३३॥
राजा वैवस्वताद् वंशाद् धर्मकीर्तिस्तु विश्रुतः। सोमवंशोद्भवश्चोग्रो भोजकीर्तिर्महाभुजः॥ ३४॥
दितिजा दानवाश्चान्ये येऽन्ये तत्र समागताः। ते सर्वेऽभ्यद्रवन् रौद्रं वीरभद्रमुदायुधाः॥ ३५॥

मुनिराज! इसके बाद श्रेष्ठ शस्त्रोंके कारण वीरभद्रसे पराजित होकर यमराज खिन्न हो कर पीछे हट गये। इधर वीरभद्र यज्ञशालामें घुस गये। मुने! गणेश्वर वीरभद्रको यज्ञमण्डपमें घुसते देखकर सहसा सभी देवता अस्त्र-शस्त्र लेकर उठ खड़े हुए। महाभाग आठों वसु, अत्यन्त दारुण नवों ग्रह, इन्द्र आदि दिक्पाल, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, सिद्ध, गन्धर्व, पन्नग, यक्ष, किंपुरुष, महाबाहु, विहंगम, चक्रधर, वैवस्वत-वंशीय प्रसिद्ध राजा धर्मकीर्ति, चन्द्रवंशीय महाबाहु, उग्र बलशाली राजा भोजकीर्ति, दैत्य-दानव तथा वहाँ हुए अन्य सभी लोग आयुध लेकर रौद्र वीरभद्रकी ओर दौड़ पड़े॥ ३०-३५॥

तानापतत एवाशु चापबाणधरो गणः। अभिदुद्राव वेगेन सर्वानेव शरोत्करैः॥ ३६॥
ते शस्त्रवर्षमतुलं गणेशाय समुत्सृजन्। गणेशोऽपि वरास्त्रैस्तान् प्रचिच्छेद बिभेद च॥ ३७॥
शरैः शस्त्रैश्च सततं वध्यमाना महात्मना। वीरभद्रेण देवाद्या अवहारमकुर्वत॥ ३८॥
ततो विवेश गणपो यज्ञमध्यं सुविस्तृतम्। जुह्वाना ऋषयो यत्र हवींषि प्रवितन्वते॥ ३९॥

धनुष-बाण धारण किये गणोंने उन देवताओंके आते ही उनपर वेगपूर्वक शस्त्रोंद्वारा आक्रमण कर दिया। इधर देवताओंने भी वीरभद्रके ऊपर अतुलनीय बाणोंकी वर्षा की। गणनायक वीरभद्रने देवताओंके अस्त्रोंको छिन्न-भिन्न कर डाला। महात्मा वीरभद्रद्वारा विविध बाणों और अस्त्रोंसे आहत होकर देवता आदि रणभूमिसे भाग चले। तब गणपति वीरभद्र सुविस्तृत यज्ञके मध्यमें प्रविष्ट हुए जहाँ मुनिगण यज्ञकुण्डमें हविकी आहुति दे रहे थे॥ ३६-३९॥

ततो महर्षयो दृष्ट्वा मृगेन्द्रवदनं गणम्। भीता होत्रं परित्यज्य जग्मुः शरणमच्युतम्॥ ४०॥
तानार्तांश्चक्रभृद् दृष्ट्वा महर्षींस्त्रस्तमानसान्। न भेतव्यमितीत्युक्त्वा समुत्तस्थौ वरायुधः॥ ४१॥
समानम्य ततः शार्ङ्गं शरानग्निशिखोपमान्। मुमोच वीरभद्राय कायावरणदारणान्॥ ४२॥
ते तस्य कायमासाद्य अमोघा वै हरेः शराः। निपेतुर्भुवि भग्नाशा नास्तिकादिव याचकाः॥ ४३॥

तब वे महर्षि सिंहमुख वीरभद्रको देखकर भयसे हवन छोड़कर विष्णुकी शरणमें चले गये। चक्रधारी विष्णुने भयभीत महर्षियोंको दुःखी देखकर 'डरो मत' ऐसा कहकर अपने श्रेष्ठ अस्त्र लेकर खड़े हो गये और अपने शार्ङ्ग धनुषको चढ़ाकर वीरभद्रके ऊपर शरीरको विदीर्ण करनेवाले अग्निशिखाके तुल्य बाणोंकी वर्षा करने लगे। पर श्रीहरिके वे अमोघ (सफल) बाण वीरभद्रके शरीरपर पहुँचकर भी पृथ्वीपर ऐसे (यों ही व्यर्थ होकर) गिर पड़े, जैसे कि याचक नास्तिकके पाससे विफल—निराश होकर लौट जाता है॥ ४०-४३॥

शरांस्त्वमोघान्मोघत्वमापन्नान्वीक्ष्य केशवः । दिव्यैरस्त्रैर्वीरभद्रं प्रच्छादयितुमुद्यतः ॥ ४४ ॥
तानस्त्रान्वासुदेवेन प्रक्षिप्तान्गणनायकः । वारयामास शूलेन गदया मार्गणैस्तथा ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वा विपन्नान्यस्त्राणि गदां चिक्षेप माधवः । त्रिशूलेन समाहत्य पातयामास भूतले ॥ ४६ ॥
मुशलं वीरभद्राय प्रचिक्षेप हलायुधः । लाङ्गलं च गणेशोऽपि गदया प्रत्यवारयत् ॥ ४७ ॥
मुशलं सगदं दृष्ट्वा लाङ्गलं च निवारितम् । वीरभद्राय चिक्षेप चक्रं क्रोधात् खगध्वजः ॥ ४८ ॥

अपने (अव्यर्थ) बाणोंको व्यर्थ होते देखकर भगवान् विष्णु पुनः वीरभद्रको दिव्य अस्त्रोंसे ढक देनेके लिये तैयार हो गये । वासुदेवके द्वारा प्रयुक्त उन बाणोंको गणश्रेष्ठ वीरभद्रने शूल, गदा और बाणोंसे रोककर विफल कर दिया । भगवान् विष्णुने अपने अस्त्रोंको नष्ट होते देखकर उसपर कौमोदकी गदा फेंकी । किंतु वीरभद्रने उसे भी अपने त्रिशूलसे काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया । हलायुधने वीरभद्रकी ओर मूसल और हल फेंका जिसे वीरभद्रने गदासे निवारित कर दिया । गदाके सहित मूसल और हलको नष्ट हुआ देखकर गरुडध्वज विष्णुने क्रोधसे वीरभद्रके ऊपर सुदर्शनचक्र चला दिया ॥ ४४–४८ ॥

तमापतन्तं शतसूर्यकल्पं सुदर्शनं वीक्ष्य गणेश्वरस्तु ।
शूलं परित्यज्य जग्राह चक्रं यथा मधुं मीनवपुः सुरेन्द्रः ॥ ४९ ॥
चक्रे निगीर्णे गणनायकेन क्रोधानिरक्तोऽसितचारुनेत्रः ।
मुरारिरभ्येत्य गणाधिपेन्द्रमुत्क्षिप्य वेगाद् भुवि निष्पिपेष ॥ ५० ॥
हरिबाहूरुवेगेन विनिष्पिष्टस्य भूतले । सहितं रुधिरोद्‌गारैर्मुखाच्चक्रं विनिर्गतम् ॥ ५१ ॥
ततो निःसृतमालोक्य चक्रं कैटभनाशनः । समादाय हृषीकेशो वीरभद्रं मुमोच ह ॥ ५२ ॥

गणेश्वर वीरभद्रने सैकड़ों सूर्योंके सदृश सुदर्शन चक्रको अपनी ओर आते देखा तो शूलको छोड़कर चक्रको वह ऐसे निगल लिया जैसे मीनशरीरधारी विष्णु मधुदैत्यको निगल गये थे । वीरभद्रद्वारा चक्रके निगल लिये जानेपर विष्णुके सुन्दर काले नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । वे उसके निकट पहुँच गये और उसे वेगसे उठा लिया तथा पृथ्वीपर पटककर उसे पीसने लगे । भगवान् विष्णुकी भुजाओं और जाँघोंके प्रबल वेगसे भूतलमें पटके गये वीरभद्रके मुखसे रुधिरके फौहारेके साथ चक्र बाहर निकल आया । चक्रको मुखसे निकला देखकर भगवान् विष्णुने उसे ले लिया और वीरभद्रको छोड़ दिया ॥ ४९–५२ ॥

हृषीकेशेन मुक्तस्तु वीरभद्रो जटाधरम् । गत्वा निवेदयामास वासुदेवात्पराजयम् ॥ ५३ ॥
ततो जटाधरो दृष्ट्वा गणेशं शोणिताप्लुतम् । निःश्वसन्तं यथा नागं क्रोधं चक्रे तदाव्ययः ॥ ५४ ॥
ततः क्रोधाभिभूतेन वीरभद्रोऽथ शंभुना । पूर्वोद्दिष्टे तदा स्थाने सायुधस्तु निवेशितः ॥ ५५ ॥
वीरभद्रमथादिश्य भद्रकालीं च शंकरः । विवेश क्रोधताम्राक्षो यज्ञवाटं त्रिशूलभृत् ॥ ५६ ॥
ततस्तु देवप्रवरे जटाधरे त्रिशूलपाणौ त्रिपुरान्तकारिणि ।
दक्षस्य यज्ञं विशति क्षयंकरे जातो ऋषीणां प्रवरो हि साध्वसः ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णुद्वारा छोड़ दिये जानेपर वीरभद्रने जटाधारी शिवके निकट जाकर वासुदेवसे हुई अपनी पराजयका वर्णन किया । फिर वीरभद्रको खूनसे लथ-पथ तथा सर्पके सदृश निःश्वास लेते देख अव्यय जटाधर (शंकर) ने क्रोध किया । इसके बाद क्रोधसे तिलमिलाये शंकरने अस्त्र-सहित वीरभद्रको पहले बतलाये स्थानपर बैठा दिया । वे त्रिशूलधर

शंकर वीरभद्र तथा भद्रकालीको आदेश देकर क्रोधसे लाल आँखें किये यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए। त्रिपुर नामक राक्षसको मारनेवाले उन त्रिशूलपाणि त्रिपुरारि देवश्रेष्ठ जटाधरके दक्ष-यज्ञमें प्रवेश करते ही ऋषियोंमें भारी भय उत्पन्न हो गया ॥ ५३—५७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

[अथ पञ्चमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

जटाधरं हरिर्दृष्ट्वा क्रोधादारक्तलोचनम्। तस्मात् स्थानादपाक्रम्य कुब्जाम्रेऽन्तर्हितः स्थितः ॥ १ ॥
वसवोऽष्टौ हरं दृष्ट्वा सुस्रुवुर्वेगतो मुने। सा तु जाता सरिच्छ्रेष्ठा सीता नाम सरस्वती ॥ २ ॥
एकादश तथा रुद्रास्त्रिनेत्रा वृषकेतनाः। कान्दिशीका लयं जग्मुः समभ्येत्यैव शंकरम् ॥ ३ ॥
विश्वेऽश्विनौ च साध्याश्च मरुतोऽनलभास्कराः। समासाद्य पुरोडाशं भक्षयन्तो महामुने ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दक्ष-यज्ञका विध्वंस, देवताओंका प्रताड़न, शंकरके कालरूप और राश्यादि रूपोंमें स्वरूप-कथन)

पुलस्त्यजी बोले—जटाधारी भगवान् शिवको क्रोधसे आँखें लाल किये देखकर भगवान् विष्णु उस स्थानसे हटकर कुब्जाम्र-(ऋषिकेश-) में छिप गये। मुने! क्रुद्ध शिवको देखकर आठ वसु तेजीसे पिघलने लगे। इस कारण वहाँ सीता नामकी श्रेष्ठ नदी प्रवाहित हुई। वहाँ पूजाके लिये स्थित त्रिनेत्रधारी ग्यारहों रुद्र भयके मारे इधर-उधर भागते हुए शंकरके निकट जाकर उनमें ही लीन हो गये। महामुनि नारद! शंकरको निकट आते देख विश्वेदेवगण, अश्विनीकुमार, साध्यवृन्द, वायु, अग्नि एवं सूर्य पुरोडाश खाते हुए भाग गये ॥ १—४ ॥

चन्द्रः सममृक्षगणैर्निशां समुपदर्शयन्। उत्पत्यारुह्य गगनं स्वमधिष्ठानमास्थितः ॥ ५ ॥
कश्यपाद्याश्च ऋषयो जपन्तः शतरुद्रियम्। पुष्पाञ्जलिपुटा भूत्वा प्रणताः संस्थिता मुने ॥ ६ ॥
असकृद् दक्षदयिता दृष्ट्वा रुद्रं बलाधिकम्। शक्रादीनां सुरेशानां कृपणं विललाप ह ॥ ७ ॥
ततः क्रोधाभिभूतेन शंकरेण महात्मना। तलप्रहारैरमरा बहवो विनिपातिताः ॥ ८ ॥

फिर तो ताराओंके साथ चन्द्रमा रात्रिको प्रकाशित करते हुए आकाशमें ऊपर जाकर अपने स्थानपर स्थित हो गये। इधर कश्यप आदि ऋषि शतरुद्रिय-(मन्त्र-) का जप करते हुए अञ्जलिमें पुष्प लेकर विनीतभावसे खड़े हो गये। इन्द्रादि सभी देवताओंसे अधिक बली रुद्रको देखकर दक्ष-पत्नी अत्यन्त दीन होकर बार-बार करुण विलाप करने लगी। इधर क्रुद्ध भगवान् शंकरने थप्पड़ोंके प्रहारसे अनेक देवताओंको मार गिराया ॥ ५—८ ॥

पादप्रहारैरपरे त्रिशूलेनापरे मुने। दृष्ट्यग्निना तथैवान्ये देवाद्याः प्रलयीकृताः ॥ ९ ॥
ततः पूषा हरं वीक्ष्य विनिघ्नन्तं सुरासुरान्। क्रोधाद् बाहू प्रसार्याथ प्रदुद्राव महेश्वरम् ॥ १० ॥
तमापतन्तं भगवान् संनिरीक्ष्य त्रिलोचनः। बाहुभ्यां प्रतिजग्राह करेणैकेन शंकरः ॥ ११ ॥
कराभ्यां प्रगृहीतस्य शंभुनांशुमतोऽपि हि। कराङ्गुलिभ्यो निश्चेरुरसृग्धाराः समन्ततः ॥ १२ ॥

मुने! शंकरने इसी प्रकार कुछ देवताओंको पैरोंके प्रहारसे, कुछको त्रिशूलसे और कुछको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निद्वारा नष्ट क दिया। उसके बाद देवों एवं असुरोंका संहार करते हुए शंकरको देखकर पूषादेवता (अन्यतम

*

सूर्य) क्रोधपूर्वक दोनों बाँहोंको फैलाकर शिवजीकी ओर दौड़े। त्रिलोचन शिवने उन्हें अपनी ओर आते देख एक ही हाथसे उनकी दोनों भुजाओंको पकड़ लिया। शिवद्वारा सूर्यकी पकड़ी गयी दोनों भुजाओंकी अङ्गुलियोंसे चारों ओर रक्तकी धारा प्रवाहित होने लगी ॥ ९-१२ ॥

ततो वेगेन महता अंशुमन्तं दिवाकरम्। भ्रामयामास सततं सिंहो मृगशिशुं यथा ॥ १३ ॥
भ्रामितस्यातिवेगेन नारदांशुमतोऽपि हि। भुजौ ह्रस्वत्वमापन्नौ त्रुटितस्नायुबन्धनौ ॥ १४ ॥
रुधिराप्लुतसर्वाङ्गमंशुमन्तं महेश्वरः। संनिरीक्ष्योत्ससर्जैनमन्यतोऽभिजगाम ह ॥ १५ ॥
ततस्तु पूषा विहसन् दशनानि विदर्शयन्। प्रोवाचैह्येहि कापालिन् पुनः पुनरथेश्वरम् ॥ १६ ॥

फिर भगवान् शिव दिवाकर सूर्यदेवको अत्यन्त वेगसे ऐसे घुमाने लगे जैसे सिंह हिरण-शावकको घुमाता (दौड़ाता) है। नारदजी ! अत्यन्त वेगसे घुमाये गये सूर्यकी भुजाओंके स्नायुबन्ध टूट गये और वे (स्नायुएँ) बहुत छोटी—नष्टप्राय हो गयीं। सूर्यके सभी अङ्गोंको रक्तसे लथपथ देखकर उन्हें छोड़कर शंकरजी दूसरी ओर चले गये। उसी समय हँसते एवं दाँत दिखलाते हुए पूषा देवता (बारह आदित्योंमेंसे एक सूर्य) कहने लगे—ओ कपालिन् ! आओ, इधर आओ ॥ १३-१६ ॥

ततः क्रोधाभिभूतेन पूष्णो वेगेन शंभुना। मुष्टिनाहत्य दशनाः पातिता धरणीतले ॥ १७ ॥
भग्नदन्तस्तथा पूषा शोणिताभिप्लुताननः। पपात भुवि निःसंज्ञो वज्राहत इवाचलः ॥ १८ ॥
भगोऽभिवीक्ष्य पूषाणं पतितं रुधिरोक्षितम्। नेत्राभ्यां घोररूपाभ्यां वृषध्वजमवैक्षत ॥ १९ ॥
त्रिपुरघ्नस्ततः क्रुद्धस्तलेनाहत्य चक्षुषी। निपातयामास भुवि क्षोभयन्सर्वदेवताः ॥ २० ॥

इसपर क्रुद्ध रुद्रने वेगपूर्वक मुक्केसे मारकर पूषाके दाँतोंको धरतीपर गिरा दिया। इस प्रकार दाँत टूटने एवं रक्तसे लथपथ होकर पूषा देवता वज्रसे नष्ट हुए पर्वतके समान बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार गिरे हुए पूषाको रुधिरसे लथपथ देखकर भग देवता (तृतीय सूर्यदेव) भयंकर नेत्रोंसे शिवजीको देखने लगे। इससे क्रुद्ध त्रिपुरान्तक शिवने सभी देवताओंको क्षुब्ध करते हुए हथेलीसे पीटकर भगकी दोनो आँखें पृथ्वीपर गिरा दीं ॥ १७-२० ॥

ततो दिवाकराः सर्वे पुरस्कृत्य शतक्रतुम्। मरुद्भिश्च हुताशैश्च भयाज्जग्मुर्दिशो दश ॥ २१ ॥
प्रतियातेषु देवेषु प्रह्लादाद्या दितीश्वराः। नमस्कृत्य ततः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयो मुने ॥ २२ ॥
ततस्तं यज्ञवाटं तु शंकरो घोरचक्षुषा। ददर्श दग्धुं कोपेन सर्वांश्चैव सुरासुरान् ॥ २३ ॥
ततो निलिल्यिरे वीराः प्रणेमुर्दुद्रुवुस्तथा। भयादन्ये हरं दृष्ट्वा गता वैवस्वतक्षयम् ॥ २४ ॥

फिर क्या था ? सभी दसो सूर्य इन्द्रको आगे कर मरुद्गणो तथा अग्नियोंके साथ भयसे दसो दिशाओंमें भाग गये। मुने ! देवताओंके चले जानेपर प्रह्लाद आदि दैत्य महेश्वरको प्रणामकर अञ्जलि बाँधकर खड़े हो गये। इसके बाद शकर उस यज्ञमण्डपको तथा सभी देवासुरोंको दग्ध करनेके लिये क्रोधपूर्ण घोर दृष्टिसे देखने लगे। इधर दूसरे वीर महादेवको देखकर भयसे जहाँ-तहाँ छिप गये। कुछ लोग प्रणाम करने लगे, कुछ भाग गये और कुछ तो भयसे ही सीधे यमपुरी पहुँच गये ॥ २१-२४ ॥

त्रयोऽग्नयस्त्रिभिर्नेत्रैर्दुःसहं समवैक्षत। दृष्टमात्रास्त्रिनेत्रेण भस्मीभूताभवन् क्षणात् ॥ २५ ॥
अग्नौ प्रणष्टे यज्ञोऽपि भूत्वा दिव्यवपुर्मृगः। दुद्राव विक्लवगतिर्दक्षिणासहितोऽम्बरे ॥ २६ ॥

तमेवानुससारेशश्चापमानम्य वेगवान् । शरं पाशुपतं कृत्वा कालरूपी महेश्वरः ॥२७॥
अर्द्धेन यज्ञवाटान्ते जटाधर इति श्रुतः । अर्द्धेन गगने शर्वः कालरूपी च कथ्यते ॥२८॥

फिर भगवान् शिवने अपने तीनों नेत्रोंसे तीनों अग्नियो-(आहवनीय, गार्हपत्य और शालाग्नियो-) को देखा। उनके देखते ही वे अग्नियाँ क्षणभरमें नष्ट हो गयीं। उनके नष्ट होनेपर यज्ञ भी मृगका शरीर धारण कर आकाशमे दक्षिणाके साथ तीव्रगतिसे भाग गया। कालरूपी वेगवान् भगवान् शिव धनुषको झुकाकर उसपर पाशुपत बाण संधानकर उस मृगके पीछे दौडे और आधे रूपसे तो यज्ञशालामें स्थित हुए जिनका नाम 'जटाधर' पड़ा। इधर आधे दूसरे रूपसे वे आकाशमें स्थित होकर 'काल' कहलाये ॥ २५-२८ ॥

नारद उवाच

कालरूपी त्वयाख्यातः शंभुर्गगनगोचरः । लक्षणं च स्वरूपं च सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥२९॥

नारदजी बोले—(मुने !) आपने आकाशमें स्थित शिवको कालरूपी कहा है। आप उनके सम्पूर्ण स्वरूप और लक्षणोंकी भी व्याख्या कर दें ॥ २९ ॥

पुलस्त्य उवाच

स्वरूपं त्रिपुरघ्नस्य वदिष्ये कालरूपिणः । येनाम्बरं मुनिश्रेष्ठ व्याप्तं लोकहितेप्सुना ॥ ३० ॥
यत्राश्विनी च भरणी कृत्तिकायास्तथांशकः । मेषो राशिः कुजक्षेत्रं तच्छिरः कालरूपिणः ॥ ३१ ॥
आग्नेयांशास्त्रयो ब्रह्मन् प्राजापत्यं कवेर्गृहम् । सौम्यार्द्धं वृषनामेदं वदनं परिकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
मृगार्द्धमार्द्रादित्यांशास्त्रयः सौम्यगृहं त्विदम् । मिथुनं भुजयोस्तस्य गगनस्थस्य शूलिनः ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—मुनिवर ! मैं त्रिपुरको मारनेवाले कालरूपी उन शंकरके स्वरूपको (वास्तविक रूपको) बतलाता हूँ। उन्होंने लोककी भलाईकी इच्छासे ही आकाशको व्याप्त किया है। सम्पूर्ण अश्विनी तथा भरणी नक्षत्र एवं कृत्तिकाके एक चरणसे युक्त भौमका क्षेत्र मेष राशि ही कालरूपी महादेवका सिर कही गयी है। ब्रह्मन् ! इसी प्रकार कृत्तिकाके तीन चरण, सम्पूर्ण रोहिणी नक्षत्र एवं मृगशिराके दो चरण, यह शुक्रकी वृष राशि ही उनका मुख है। मृगशिराके शेष दो चरण, सम्पूर्ण आर्द्रा और पुनर्वसुके तीन चरण बुधकी (प्रथम) स्थितिस्थान मिथुन राशि आकाशमें स्थित शिवकी दोनों भुजाएँ हैं ॥ ३०-३३ ॥

आदित्यांशश्च पुष्यं च आश्लेषा शशिनो गृहम् । राशिः कर्कटको नाम पार्श्वे मखविनाशिनः ॥ ३४ ॥
पित्र्यर्क्षं भगदैवत्यमुत्तरांशश्च केसरी । सूर्यक्षेत्रं विभोर्ब्रह्मन् हृदयं परिगीयते ॥ ३५ ॥
उत्तरांशास्त्रयः पाणिश्चित्रार्धं कन्यका त्वियम् । सोमपुत्रस्य सद्मैतद् द्वितीयं जठरं विभोः ॥ ३६ ॥
चित्रांशद्वितयं स्वातिर्विशाखायांशकत्रयम् । द्वितीयं शुक्रसदनं तुला नाभिरुदाहृता ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार पुनर्वसुका अन्तिम चरण, सम्पूर्ण पुष्य और अश्लेषा नक्षत्रोंवाला चन्द्रमाका क्षेत्र कर्क राशि यज्ञविनाशक शंकरके दोनो पार्श्व (बगल) हैं। ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण मघा, सम्पूर्ण पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनीका प्रथम चरण, सूर्यकी सिंह राशि शंकरका हृदय कही जाती है। उत्तराफाल्गुनीके तीन चरण, सम्पूर्ण हस्त नक्षत्र एवं चित्राके दो पहले चरण, बुधकी द्वितीय राशि, कन्या राशि शंकरका जठर है। चित्राके शेष दो चरण, स्वातीके चारों चरण एवं विशाखाके तीन चरणोसे युक्त शुक्रका दूसरा क्षेत्र तुला राशि महादेवकी नाभि है ॥ ३४-३७ ॥

विशाखांशमनूराधा ज्येष्ठा भौमगृहं त्विदम्। द्वितीयं वृश्चिको राशिर्मेढ्रं कालस्वरूपिणः ॥ ३८ ॥
मूलं पूर्वोत्तरांशश्च देवाचार्यगृहं धनुः। ऊरुयुगलमीशस्य अमरर्षे प्रगीयते ॥ ३९ ॥
उत्तरांशास्त्रयो ऋक्षं श्रवणं मकरो मुने। धनिष्ठार्धं शनिक्षेत्रं जानुनी परमेष्ठिनः ॥ ४० ॥
धनिष्ठार्धं शतभिषा प्रौष्ठपद्यांशकत्रयम्। सौरेः सद्मापरमिदं कुम्भो जङ्घे च विश्रुते ॥ ४१ ॥

विशाखाका एक चरण, सम्पूर्ण अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्र, मङ्गलका द्वितीय क्षेत्र वृश्चिक राशि कालरूपी महादेवका उपस्थ है। सम्पूर्ण मूल, पूरा पूर्वाषाढ और उत्तराषाढकी प्रथम चरणवाली धनु राशि जो बृहस्पतिका क्षेत्र है, महेश्वरके दोनों ऊरु हैं। मुने! उत्तराषाढके शेष तीन चरण, सम्पूर्ण श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठाके दो पूर्व चरणकी मकर राशि शनिका क्षेत्र और परमेष्ठी महेश्वरके दोनों घुटने हैं। धनिष्ठाके दो चरण, सम्पूर्ण शतभिष और पूर्वभाद्रपदके तीन चरणवाली कुम्भ राशि शनिका द्वितीय गृह और शिवकी दो जंघाएँ हैं॥ ३८–४१ ॥

प्रौष्ठपद्यांशमेकं तु उत्तरा रेवती तथा। द्वितीयं जीवसद्नं मीनस्तु चरणावुभौ ॥ ४२ ॥
एवं कृत्वा कालरूपं त्रिनेत्रो यज्ञं क्रोधान्मार्गणैराजघान।
विद्धश्चासौ वेदनाबुद्धिमुक्तः खे संतस्थौ तारकाभिश्चिताङ्गः ॥ ४३ ॥

पूर्वभाद्रपदके शेष एक चरण, सम्पूर्ण उत्तरभाद्रपद और सम्पूर्ण रेवती नक्षत्रोंवाला, बृहस्पतिका द्वितीय क्षेत्र एवं मीन राशि उनके दो चरण हैं। इस प्रकार कालरूप धारणकर शिवने क्रोधपूर्वक हरिणरूपधारी यज्ञको बाणोंसे मारा। उसके बाद बाणोंसे विद्ध होकर, किंतु वेदनाकी अनुभूति न करता हुआ, वह यज्ञ ताराओंसे घिरे शरीरवाला होकर आकाशमें स्थित हो गया॥ ४२-४३ ॥

नारद उवाच

राशयो गदिता ब्रह्मंस्त्वया द्वादश वै मम। तेषां विशेषतो ब्रूहि लक्षणानि स्वरूपतः ॥ ४४ ॥

नारदजीने कहा—ब्रह्मन्! आपने मुझसे बारहों राशियोंका वर्णन किया। अब विशेष रूपसे उनके स्वरूपके अनुसार लक्षणोंको बतलायें॥ ४४ ॥

पुलस्त्य उवाच

स्वरूपं तव वक्ष्यामि राशीनां शृणु नारद। यादृशा यत्र संचारा यस्मिन् स्थाने वसन्ति च ॥ ४५ ॥
मेषः समानमूर्तिश्च अजाविकधनादिषु। संचारस्थानमेवास्य धान्यरत्नाकरादिषु ॥ ४६ ॥
नवशाद्वलसंछन्नवसुधायां च सर्वशः। नित्यं चरति फुल्लेषु सरसां पुलिनेषु च ॥ ४७ ॥
वृषः सदृशरूपो हि चरते गोकुलादिषु। तस्याधिवासभूमिस्तु कृषीवलधराश्रयः ॥ ४८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! आपको मैं राशियोंका स्वरूप बतलाता हूँ; सुनिये। वे जैसी हैं तथा जहाँ संचार और निवास करती हैं वह सभी वर्णित करता हूँ। मेष राशि भेड़के समान आकारवाली है। बकरी, भेड़, धन-धान्य एवं रत्नाकरादि इसके संचार-स्थान हैं तथा नवदुर्वासे आच्छादित समग्र पृथ्वी एवं पुष्पित वनस्पतियोंसे युक्त सरोवरोंके पुलिनोंमें यह नित्य संचरण करती है। वृषभके समान रूपयुक्त वृषराशि गोकुलादिमें विचरण करती है तथा कृषकोंकी भूमि इसका निवासस्थान है॥ ४५-४८ ॥

स्त्रीपुंसयोः समं रूपं शय्यासनपरिग्रहः। वीणावाद्यधृङ् मिथुनं गीतनर्तकशिल्पिषु ॥ ४९ ॥
स्थितः क्रीडारतिर्नित्यं विहारावनिरस्य तु। मिथुनं नाम विख्यातं राशिर्द्वैधात्मकः स्थितः ॥ ५० ॥

कर्कः कुलीरेण समः सलिलस्थः प्रकीर्तितः। केदारवापीपुलिने विविक्तावनिरेव च ॥ ५१ ॥
सिंहस्तु पर्वतारण्यदुर्गकन्दरभूमिषु। वसते व्याधपल्लीषु गह्वरेषु गुहासु च ॥ ५२ ॥

मिथुन राशि एक स्त्री और एक पुरुषके साथ-साथ रहनेके समान रूपवाली है। यह शय्या और आसनोंपर स्थित है। पुरुष-स्त्रीके हाथोंमें वीणा एवं (अन्य) वाद्य हैं। इस राशिका संचरण गानेवालों, नाचनेवालों एवं शिल्पियोंमें होता है। इस द्विस्वभाव राशिको मिथुन कहते हैं। इस राशिका निवास क्रीडास्थल एवं विहार-भूमियोंमें होता है। कर्क राशि केकड़ेके समान रूपवाली है एवं जलमें रहनेवाली है। जलसे पूर्ण क्यारी एवं नदी-तीर अथवा बालुका एवं एकान्त भूमि इसके रहनेके स्थान हैं। सिंह राशिका निवास वन, पर्वत, दुर्गमस्थान, कन्दरा, व्याधोंके स्थान, गुफा आदि होता है ॥ ४९-५२ ॥

व्रीहिप्रदीपिककरा नावारूढा च कन्यका। चरते स्त्रीरतिस्थाने वसते नड्वलेषु च ॥ ५३ ॥
तुलापाणिश्च पुरुषो वीथ्यापणविचारकः। नगराध्वानशालासु वसते तत्र नारद ॥ ५४ ॥
श्वभ्रवल्मीकसंचारी वृश्चिको वृश्चिकाकृतिः। विषगोमयकीटादिपाषाणादिषु संस्थितः ॥ ५५ ॥
धनुस्तुरङ्गजघनो दीप्यमानो धनुर्धरः। वाजिशूरास्त्रविद्धीरः स्थायी गजरथादिषु ॥ ५६ ॥

कन्या राशि अन्न एवं दीपक हाथमें लिये हुए है तथा नौकापर आरूढ़ है। यह स्त्रियोंके रतिस्थान और सरपत, कण्डा आदिमें विचरण करती है। नारद! तुला राशि हाथमें तुला लिये हुए पुरुषके रूपमें गलियों और बाजारोंमें विचरण करती है तथा नगरों, मार्गों एवं भवनोंमें निवास करती है। वृश्चिक राशिका आकार बिच्छू-जैसा है। यह गड्ढे एवं वल्मीक आदिमें विचरण करती है। यह विष, गोबर, कीट एवं पत्थर आदिमें भी निवास करती है। धनु राशिकी जंघा घोड़ेके समान है। यह ज्योतिःस्वरूप एवं धनुष लिये है। यह घुड़सवारी, वीरताके कार्य एवं अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञाता तथा शूर है। गज एवं रथ आदिमें इसका निवास होता है ॥ ५३—५६ ॥

मृगास्यो मकरो ब्रह्मन् वृषस्कन्धेक्षणाङ्गजः। मकरोऽसौ नदीचारी वसते च महोदधौ ॥ ५७ ॥
रिक्तकुम्भश्च पुरुषः स्कन्धधारी जलाप्लुतः। द्यूतशालाचरः कुम्भः स्थायी शौण्डिकसद्मसु ॥ ५८ ॥
मीनद्वयमथासक्तं मीनस्तीर्थाब्धिसंचरः। वसते पुण्यदेशेषु देवब्राह्मणसद्मसु ॥ ५९ ॥
लक्षणा गदितास्तुभ्यं मेषादीनां महामुने। न कस्यचित् त्वयाख्येयं गुह्यमेतत्पुरातनम् ॥ ६० ॥
एतन्मया ते कथितं सुरर्षे यथा त्रिनेत्रः प्रममाथ यज्ञम्।
पुण्यं पुराणं परमं पवित्रमाख्यातवान्पापहरं शिवं च ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ब्रह्मन्! मकर राशिका मुख मृगके मुख-सदृश एवं कंधे वृषके कन्धोंके तुल्य तथा नेत्र हाथीके नेत्रके समान हैं। यह राशि नदीमें विचरण करती तथा समुद्रमें विश्राम करती है। कुम्भ राशि रिक्त घड़ेको कंधेपर लिये जलसे भीगे पुरुषके समान है। इसका संचार-स्थान द्यूतगृह एवं सुरालय (मद्यशाला) है। मीन राशि दो संयुक्त मछलियोंके आकारवाली है। यह तीर्थस्थान एवं समुद्र-देशमें संचरण करती है। इसका निवास पवित्र देशों, देवमन्दिरों एवं ब्राह्मणोंके घरोंमें होता है। महामुने! मैंने आपको मेषादि राशियोंका लक्षण बतलाया। आप इस प्राचीन रहस्यको किसी अपात्रसे न बतलाइयेगा। देवर्षे! भगवान् शिवने जिस प्रकार यज्ञको प्रमथित किया, उसका मैंने आपसे वर्णन कर दिया। इस प्रकार मैंने आपको श्रेयस्कर, परम पवित्र, पापहारी एवं कल्याण-कारी अत्यन्त पुराना पुराण-आख्यान सुनाया ॥ ५७—६१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

[अथ षष्ठोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

हृद्भवो ब्रह्मणो योऽसौ धर्मो दिव्यवपुर्मुने। दाक्षायणी तस्य भार्या तस्यामजनयत्सुतान् ॥ १ ॥
हरिं कृष्णं च देवर्षे नारायणनरौ तथा। योगाभ्यासरतौ नित्यं हरिकृष्णौ बभूवतुः ॥ २ ॥
नरनारायणौ चैव जगतो हितकाम्यया। तप्येतां च तपः सौम्यौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ ३ ॥
प्रालेयाद्रिं समागम्य तीर्थे बदरिकाश्रमे। गृणन्तौ तत्परं ब्रह्म गङ्गाया विपुले तटे ॥ ४ ॥

छठा अध्याय प्रारम्भ

(नर-नारायणकी उत्पत्ति, तपश्चर्या, बदरिकाश्रमकी वसन्तकी शोभा, काम-दाह और कामकी अनङ्गताका वर्णन)

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! ब्रह्माजीके हृदयसे जो दिव्यदेहधारी धर्म प्रकट हुआ था, उसने दक्षकी पुत्री 'मूर्ति' नामकी भार्यासे हरि, कृष्ण, नर और नारायण नामक चार पुत्रोंको उत्पन्न किया[1]। देवर्षे ! इनमें हरि और कृष्ण ये दो तो नित्य योगाभ्यासमें निरत हो गये और पुरातन ऋषि शान्तमना नर तथा नारायण संसारके कल्याणके लिये हिमालय पर्वतपर जाकर बदरिकाश्रम तीर्थमें गङ्गाके निर्मल तटपर (परब्रह्मका नाम ॐकारका जप करते हुए) तप करने लगे ॥ १-४ ॥

नरनारायणाभ्यां च जगदेतच्चराचरम्। तापितं तपसा ब्रह्मञ्शक्रः क्षोभं तदा ययौ ॥ ५ ॥
संक्षुब्धस्तपसा ताभ्यां क्षोभणाय शतक्रतुः। रम्भाद्याप्सरसः श्रेष्ठाः प्रेषयत्स महाश्रमम् ॥ ६ ॥
कन्दर्पश्च सुदुर्धर्षश्चूताङ्कुरमहायुधः। समं सहचरेणैव वसन्तेनाश्रमं गतः ॥ ७ ॥
ततो माधवकन्दर्पौ ताश्चैवाप्सरसो वराः। बदर्याश्रममागम्य विचिक्रीडुर्यथेच्छया ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! नर-नारायणकी दुष्कर तपस्यासे सारा स्थावर-जंगमात्मक यह जगत् परितप्त हो गया। इससे इन्द्र विक्षुब्ध हो उठे। उन दोनोंकी तपस्यासे अत्यन्त व्यग्र इन्द्रने उन्हें मोहित करनेके लिये रम्भा आदि श्रेष्ठ अप्सराओंको उनके विशाल आश्रममें भेजा। कामदेवके आयुधोंमें अशोक, आम्रादिकी मंजरियाँ विशेष प्रभावक हैं। इन्हें तथा अपने सहयोगी वसन्त ऋतुको साथ लेकर वह भी उस आश्रममें गया। अब वे वसन्त, कामदेव तथा श्रेष्ठ अप्सराएँ—ये सब बदरिकाश्रममें जाकर निर्बाध क्रीड़ा करने लग गये ॥ ५-८ ॥

ततो वसन्ते संप्राप्ते किंशुका ज्वलनप्रभाः। निष्पत्राः सततं रेजुः शोभयन्तो धरातलम् ॥ ९ ॥
शिशिरं नाम मातङ्गं विदार्य नखरैरिव। वसन्तकेसरी प्राप्तः पलाशकुसुमैर्मुने ॥ १० ॥
मया तुषारौघकरी निर्जितः स्वेन तेजसा। तमेव हसतेत्युच्चैः वसन्तः कुन्दकुड्मलैः ॥ ११ ॥
वनानि कर्णिकाराणां पुष्पितानि विरेजिरे। यथा नरेन्द्रपुत्राणि कनकाभरणानि हि ॥ १२ ॥

तब वसन्त ऋतुके आ जानेपर अग्नि-शिखाके सदृश कान्तिवाले पलाश पत्रहीन होकर रातदिन पृथ्वीकी शोभा बढ़ाते हुए सुशोभित होने लगे। मुने ! वसन्तरूपी सिंह मानो पलाश-पुष्परूपी नखोंसे शिशिररूपी गजराजको विदीर्ण कर वहाँ अपना साम्राज्य जमा चुका था। यह सोचने लगा—मैंने अपने तेजसे शीतसमूह-रूपी हाथीको जीत लिया है और वह कुन्दकी कलियोंके बहाने उसका उपहास भी करने लगा है। इधर सुवर्णके अलंकारोंसे मण्डित राजकुमारोंके समान पुष्पित कचनार-अमलतासके वन सुशोभित होने लगे ॥ ९-१२ ॥

---

[1] यह बात भागवत २। ७। ६ आदिमें विशेष स्पष्टरूपमें कही गयी है। जिज्ञासु वहाँ भी देखें।

तेषामनु तथा नीपाः किङ्करा इव रेजिरे। स्वामिसंलब्धसंमाना भृत्या राजसुतानिव ॥१३॥
रक्ताशोकवना भान्ति पुष्पिताः सहसोज्ज्वलाः। भृत्या वसन्तनृपतेः संग्रामे रक्तरञ्जिता इव ॥१४॥
मृगवृन्दाः पिञ्जरिता राजन्ते गहने वने। पुलकाभिर्वृता यद्वत् सज्जना: सुहृदागमे ॥१५॥
मञ्जरीभिर्विराजन्ते नदीकूलेषु वेतसाः। वक्तुकामा इवाङ्गुल्याकोऽस्माकं सदृशो नगः ॥१६॥

जैसे राजपुत्रोंके पीछे उनके द्वारा सम्मानित सेवक खड़े रहते हैं, वैसे ही उन (वर्णित वनों-)के पीछे-पीछे कदम्ब-वृक्ष सुशोभित हो रहे थे। इसी प्रकार लाल अशोक आदिके समूह भी सहसा पुष्पित एवं उद्भासित हो सुशोभित होने लगे। लगता था मानो ऋतुराज वसन्तके अनुयायी युद्धमें रक्तसे लथपथ हो रहे हों। घने वनमें पीले रंगके हरिण इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार सुहृद्‌के आनेसे सज्जन (आनन्दसे) पुलकित होकर सुशोभित होते हैं। नदीके तटोंपर अपनी मंजरियोंके द्वारा वेतस ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे अंगुलियोंके द्वारा यह कहना चाहते हैं कि हमारे सदृश अन्य कौन वृक्ष है ॥ १३-१६ ॥

रक्ताशोककरा तन्वी देवर्षे किंशुकाङ्घ्रिका। नीलाशोककचा श्यामा विकासिकमलानना ॥ १७ ॥
नीलेन्दीवरनेत्रा च ब्रह्मन् बिल्वफलस्तनी। प्रफुल्लकुन्ददशना मञ्जरीकरशोभिता ॥ १८ ॥
बन्धुजीवाधरा शुभ्रा सिन्दुवारनखाङ्किता। पुंस्कोकिलस्वना दिव्या अङ्कोलवसना शुभा ॥ १९ ॥
बर्हिवृन्दकलापा च सारसस्वरनूपुरा। प्राग्वंशरसना ब्रह्मन् मत्तहंसगतिस्तथा ॥ २० ॥
पुत्रजीवांशुका भृङ्गरोमराजिविराजिता। वसन्तलक्ष्मीः सम्प्राप्ता ब्रह्मन् बदरिकाश्रमे ॥ २१ ॥
ततो नारायणो दृष्ट्वा आश्रमस्यानवद्यताम्। समीक्ष्य च दिशः सर्वास्ततोऽनङ्गमपश्यत ॥ २२ ॥

देवर्षे! जो दिव्य पतली एवं यौवनमें भरी वसन्त-लक्ष्मी उस बदरिकाश्रममें प्रकट हुई थी, उसके मानो रक्ताशोक ही हाथ, पलाश ही चरण, नीलाशोक केश-पाश, विकसित कमल ही मुख और नीलकमल ही नेत्र थे। उसके बिल्वफल मानो स्तन, कुन्दपुष्प दन्त, मञ्जरी हाथ, दुपहरियाफूल अधर, सिन्दुवार नख, नर कोयलकी काकली (बोली) स्वर, अंकोल वस्त्र, मयूरयूथ आभूषण, सारस नूपुरस्वरूप और आश्रमके शिखर करधनी थे। उसके मत्त हंस गति, पुत्रजीव ऊर्ध्व वस्त्र और भ्रमर मानो रोमावलीरूपमें विराजित थे। तब नारायणने आश्रमकी अद्भुत रमणीयता देखकर सभी दिशाओंकी ओर देखा और फिर कामदेवको भी देखा ॥ १७—२२ ॥

नारद उवाच

कोऽसावनङ्गो ब्रह्मर्षे तस्मिन् बदरिकाश्रमे। यं ददर्श जगन्नाथो देवो नारायणोऽव्ययः ॥ २३ ॥

नारदजीने पूछा—ब्रह्मर्षे! जिसे अव्यय जगन्नाथ नारायणने बदरिकाश्रममें देखा था, वह अनङ्ग (काम) कौन है? ॥ २३ ॥

पुलस्त्य उवाच

कन्दर्पो हर्षतनयो योऽसौ कामो निगद्यते। स शंकरेण संदग्धो ह्यनङ्गत्वमुपागतः ॥ २४ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—यह कंदर्प हर्षका पुत्र है, इसे ही काम कहा जाता है। शंकर-(की नेत्राग्नि-) द्वारा भस्म होकर वह 'अनङ्ग' हो गया ॥ २४ ॥

नारद उवाच

किमर्थं कामदेवोऽसौ देवदेवेन शंभुना। दग्धस्तु कारणे कस्मिन्नेतद्व्याख्यातुमर्हसि ॥ २५ ॥

नारदजीने पूछा—पुलस्त्यजी! आप यह बतलाएँ कि देवाधिदेव शंकरने कामदेवको किस कारणसे भस्म किया? ॥ २५ ॥

पुलस्त्य उवाच

यदा दक्षसुता ब्रह्मन् सती याता यमक्षयम्। विनाश्य दक्षयज्ञं तं विचचार त्रिलोचनः ॥ २६ ॥
ततो वृषध्वजं दृष्ट्वा कन्दर्पः कुसुमायुधः। अपत्नीकं तदाऽस्त्रेण उन्मादेनाभ्यताडयत् ॥ २७ ॥
ततो हरः शरेणाथ उन्मादेनाशु ताडितः। विचचार मदोन्मत्तः काननानि सरांसि च ॥ २८ ॥
स्मरन् सतीं महादेवस्तथोन्मादेन ताडितः। न शर्म लेभे देवर्षे बाणविद्ध इव द्विपः ॥ २९ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—ब्रह्मन् ! दक्ष-पुत्री सतीके प्राण-त्याग करनेपर शिवजी दक्ष-यज्ञका ध्वंस कर (जहाँ-तहाँ) विचरण करने लगे । तब शिवजीको स्त्री-रहित देखकर पुष्पास्त्रवाले कामदेवने उनपर अपना 'उन्मादन'-नामक अस्त्र छोड़ा । इस उन्मादन-बाणसे आहत होकर शिवजी उन्मत्त होकर वनों और सरोवरोंमें घूमने लगे । देवर्षे ! बाणविद्ध गजके समान उन्मादसे व्यथित महादेव सतीका स्मरण करते हुए बड़े अशान्त हो रहे थे—उन्हें चैन नहीं था ॥ २६–२९ ॥

ततः पपात देवेशः कालिन्दीसरितं मुने। निमग्ने शंकरे आपो दग्धाः कृष्णत्वमागताः ॥ ३० ॥
तदाप्रभृति कालिन्द्या भृङ्गाञ्जननिभं जलम्। आस्यन्दत् पुण्यतीर्था सा केशपाशमिवावनेः ॥ ३१ ॥
ततो नदीषु पुण्यासु सरस्सु च नदेषु च। पुलिनेषु च रम्येषु वापीषु नलिनीषु च ॥ ३२ ॥
पर्वतेषु च रम्येषु काननेषु च सानुषु। विचरन् स्वेच्छया नैव शर्म लेभे महेश्वरः ॥ ३३ ॥

मुने ! उसके बाद शिवजी यमुना नदीमें कूद पड़े । उनके जलमें निमज्जन करनेसे उस नदीका जल काला हो गया । उस समयसे कालिन्दी नदीका जल भृंग और अंजनके सदृश कृष्णवर्णका हो गया एवं वह पवित्र तीर्थोंवाली नदी पृथ्वीके केशपाशके सदृश प्रवाहित होने लगी । उसके बाद पवित्र नदियों, सरोवरों, नदों, रमणीय नदी-तटों, वापियों, कमलवनों, पर्वतों, मनोहर काननों तथा पर्वत-शृङ्गोंपर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हुए भगवान् शिव कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सके ॥ ३०–३३ ॥

क्षणं गायति देवर्षे क्षणं रोदिति शंकरः। क्षणं ध्यायति तन्वङ्गीं दक्षकन्यां मनोरमाम् ॥ ३४ ॥
ध्यात्वा क्षणं प्रस्वपिति क्षणं स्वप्नायते हरः। स्वप्ने तथेदं गदति तां दृष्ट्वा दक्षकन्यकाम् ॥ ३५ ॥
निर्घृणे तिष्ठ किं मूढे त्यजसे मामनिन्दिते। मुग्धे त्वया विरहितो दग्धोऽस्मि मदनाग्निना ॥ ३६ ॥
सति सत्यं प्रकुपिता मा कोपं कुरु सुन्दरि। पादप्रणामावनतमभिभाषितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

देवर्षे ! वे कभी गाते, कभी रोते और कभी कृशाङ्गी सुन्दरी सतीका ध्यान करते । ध्यान करके कभी सोते और कभी स्वप्न देखने लगते थे; स्वप्नकालमें सतीको देखकर वे इस प्रकार कहते थे—निर्दये ! रुको, हे मूढे ! मुझे क्यों छोड़ रही हो ? हे अनिन्दिते ! हे मुग्धे ! तुम्हारे विरहमें मैं कामाग्निसे दग्ध हो रहा हूँ । हे सति ! क्या तुम वस्तुतः क्रुद्ध हो ? सुन्दरि ! क्रोध मत करो । मैं तुम्हारे चरणोंमें अवनत होकर प्रणाम करता हूँ । तुम्हें मेरे साथ बात तो करनी ही चाहिये ॥ ३४–३७ ॥

श्रूयसे दृश्यसे नित्यं स्पृश्यसे वन्द्यसे प्रिये। आलिङ्ग्यसे च सततं किमर्थं नाभिभाषसे ॥ ३८ ॥
विलपन्तं जनं दृष्ट्वा कृपा कस्य न जायते। विशेषतः पतिं बाले ननु त्वमतिनिर्घृणा ॥ ३९ ॥
त्वयोक्तानि वचांस्येवं पूर्वं मम कृशोदरि। विना त्वया न जीवेयं तदसत्यं त्वया कृतम् ॥ ४० ॥
एह्येहि कामसंतप्तं परिष्वज सुलोचने। नान्यथा नश्यते तापः सत्येनापि शपे प्रिये ॥ ४१ ॥

प्रिये ! मैं सतत तुम्हारी ध्वनि सुनता हूँ, तुम्हें देखता हूँ, तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, तुम्हारी वन्दना करता हूँ और तुम्हारा परिष्वङ्ग करता हूँ। तुम मुझसे बात क्यों नहीं कर रही हो ? बाले ! विलाप करनेवाले व्यक्तिको देखकर किसे दया नहीं उत्पन्न होती ? विशेषतः अपने पतिको विलाप करता देखकर तो किसे दया नहीं आती ? निश्चय ही तुम अति निर्दयी हो। सूक्ष्मकटिवाली ! तुमने पहले मुझसे कहा था कि तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रहूँगी। उसे तुमने असत्य कर दिया। सुलोचने ! आओ, आओ; कामसन्तप्त मुझे आलिङ्गित करो। प्रिये ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि अन्य किसी प्रकार मेरा ताप नहीं शान्त होगा ॥ ३८–४१ ॥

इत्थं विलप्य स्वप्नान्ते प्रतिबुद्धस्तु तत्क्षणात्। उत्कूजति तथारण्ये मुक्तकण्ठं पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
तं कूजमानं विलपन्तमारात् समीक्ष्य कामो वृषकेतनं हि।
विव्याध चापं तरसा विनाम्य संतापनाम्ना तु शरेण भूयः ॥ ४३ ॥
संतापनास्त्रेण तदा स विद्धो भूयः स संतप्ततरो बभूव।
संतापयंश्चापि जगत्समग्रं फूत्कृत्य फूत्कृत्य विवासते स्म ॥ ४४ ॥
तं चापि भूयो मदनो जघान विजृम्भणास्त्रेण ततो विजृम्भे।
ततो भृशं कामशरैर्वितुन्नो विजृम्भमाणः परितो भ्रमंश्च ॥ ४५ ॥
ददर्श यक्षाधिपतेस्तनूजं पाञ्चालिकं नाम जगत्प्रधानम्।
दृष्ट्वा त्रिनेत्रो धनदस्य पुत्रं पार्श्वं समभ्येत्य वचो बभाषे ॥
भ्रातृव्य वक्ष्यामि वचो यदद्य तत् त्वं कुरुष्वामितविक्रमोऽसि ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे विलाप कर स्वप्नके अन्तमें उठकर वनमें बार-बार रोने लगे। इस प्रकार मुक्तकण्ठसे विलाप करते हुए भगवान् शंकरको दूरसे देखकर कामने अपना धनुष झुका-(चढा-)कर पुनः वेगसे उन्हें संतापक अस्त्रसे वेध डाला। अब वे इससे विद्ध होकर और भी अधिक संतप्त हो गये एवं मुखसे बारंबार (विलख) फूत्कार कर सम्पूर्ण विश्वको दुःखी करते हुए जैसे-तैसे समय बिताने लगे। फिर कामने उनपर विजृम्भण नामक अस्त्रसे प्रहार किया। इससे उन्हें जँभाई आने लगी। अब कामके बाणोंसे विशेष पीड़ित होकर जँभाई लेते हुए वे चारों ओर घूमने लगे। इसी समय उन्होंने कुबेरके पुत्र पाञ्चालिकको देखा और उसको देखकर उसके पास जाकर त्रिनेत्र शंकरने यह बात कही—भ्रातृव्य ! तुम अमित विक्रमशाली हो, मैं जो आज बात कहता हूँ तुम उसे करो ॥ ४२–४६ ॥

पाञ्चालिक उवाच

यन्नाथ मां वक्ष्यसि तत्करिष्ये सुदुष्करं यद्यपि देवसंघैः।
आज्ञापयस्वातुलवीर्य शंभो दासोऽस्मि ते भक्तियुतस्तथेश ॥ ४७ ॥

पाञ्चालिकने कहा—स्वामिन् ! आप जो कहेंगे, देवताओंद्वारा सुदुष्कर होनेपर भी उसे मैं करूँगा। हे अतुल बलशाली शिव ! आप आज्ञा करें। ईश ! मैं आपका श्रद्धालु भक्त एवं दास हूँ ॥ ४७ ॥

ईश्वर उवाच

नाशं गतायां वरदाम्बिकायां कामाग्निना प्लुष्टसुविग्रहोऽस्मि।
विजृम्भणोन्मादशरैर्विभिन्नो धृतिं न विन्दामि रतिं सुखं वा ॥ ४८ ॥
विजृम्भणं पुत्र तथैव तापमुन्मादमुग्रं मदनप्रणुन्नम्।
नान्यः पुमान धारयितुं हि शक्तो मुक्त्वा भवन्तं हि ततः प्रतीच्छ ॥ ४९ ॥

भगवान् शिव बोले—वरदायिनी अम्बिका-(सती-)के नष्ट होनेसे मेरा सुन्दर शरीर कामाग्निसे अत्यन्त दग्ध हो रहा है। कामके विजृम्भण और उन्माद-शरोंसे विद्ध होनेसे मुझे धैर्य, रति या सुख नहीं प्राप्त हो रहा है। पुत्र ! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष, कामदेवसे प्रेरित विजृम्भण, संतापन और उन्माद नामक उग्र अस्त्र सहन करनेमें समर्थ नहीं है। अतः तुम इन्हें ग्रहण कर लो ॥ ४८-४९ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्तो वृषभध्वजेन यक्षः प्रतीच्छत् स विजृम्भणादीन्।
तोषं जगामाशु ततस्त्रिशूली तुष्टस्तदैवं वचनं बभाषे ॥ ५० ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर उस यक्ष-(कुबेरपुत्र-पाञ्चालिक-) ने विजृम्भण आदि सभी अस्त्रोंको उनसे ले लिया। इससे त्रिशूलीको तत्काल संतोष प्राप्त हो गया और प्रसन्न होकर उन्होंने उससे ये वचन कहे—॥ ५० ॥

हर उवाच

यस्मात्त्वया पुत्र सुदुर्धराणि विजृम्भणादीनि प्रतीच्छितानि।
तस्माद्वरं त्वां प्रतिपूजनाय दास्यामि लोकस्य च हास्यकारि ॥ ५१ ॥
यस्त्वां यदा पश्यति चैत्रमासे स्पृशेन्नरो वार्चयते च भक्त्या।
वृद्धोऽथ बालोऽथ युवाथ योषित् सर्वे तदोन्मादधरा भवन्ति ॥ ५२ ॥
गायन्ति नृत्यन्ति रमन्ति यक्ष वाद्यानि यत्नादपि वादयन्ति।
तवाग्रतो हास्यवचोऽभिरक्ता भवन्ति ते योगयुतास्तु ते स्युः ॥ ५३ ॥
ममैव नाम्ना भवितासि पूज्यः पाञ्चालिकेशः प्रथितः पृथिव्याम्।
मम प्रसादाद् वरदो नराणां भविष्यसे पूज्यतमोऽभिगच्छ ॥ ५४ ॥

भगवान् महादेवजी बोले—पुत्र ! तुमने अति भयंकर विजृम्भण आदि अस्त्रोंको ग्रहण कर लिया, अतः प्रत्युपकारमें तुम्हें सब लोगोंके लिये आनन्ददायक वर दूँगा। चैत्रमासमें जो वृद्ध, बालक, युवा या स्त्री तुम्हारा स्पर्श करेंगे या भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करेंगे वे सभी उन्मत्त हो जायँगे। यक्ष ! फिर वे गायेंगे, नाचेंगे, आनन्दित होंगे और निपुणताके साथ बाजे बजायेंगे। किंतु तुम्हारे सम्मुख हँसीकी बात करते हुए भी वे योगयुक्त रहेंगे। मेरे ही नामसे तुम पूज्य होगे। विश्वमें तुम्हारा पाञ्चालीकेश नाम प्रसिद्ध होगा। मेरे आशीर्वादसे तुम लोगोंके वरदाता और पूज्यतम होगे; जाओ ॥ ५१—५४ ॥

इत्येवमुक्तो विभुना स यक्षो जगाम देशान् सहसैव सर्वान्।
कालञ्जरस्योत्तरतः सुपुण्यो देशो हिमाद्रेरपि दक्षिणस्थः ॥ ५५ ॥
तस्मिन् सुपुण्ये विषये निविष्टो रुद्रप्रसादादभिपूज्यतेऽसौ।
तस्मिन् प्रयाते भगवांस्त्रिनेत्रो देवोऽपि विन्ध्यं गिरिमभ्यगच्छत् ॥ ५६ ॥
तत्रापि मदनो गत्वा ददर्श वृषकेतनम्। दृष्ट्वा प्रहर्तुकामं च ततः प्राद्रवद्धरः ॥ ५७ ॥
ततो दारुवनं घोरं मदनाभिसृतो हरः। विवेश ऋषयो यत्र सपत्नीका व्यवस्थिताः ॥ ५८ ॥

भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर वह यक्ष तुरंत सब देशोंमें घूमने लगा। फिर वह कालंजरके उत्तर और हिमालयके दक्षिण परम पवित्र स्थानमें स्थिर हो गया। वह शिवजीकी कृपासे पूजित हुआ। उसके चले जानेपर भगवान् त्रिनेत्र भी विन्ध्यपर्वतपर आ गये। वहाँ भी कामने उन्हें देखा। उसे पुनः प्रहारकी चेष्टा करते देख

शिवजी भागने लगे । उसके बाद कामदेवके द्वारा पीछा किये जानेपर महादेवजी घोर दारुवनमें चले गये, जहाँ ऋषिगण अपनी पत्नियोंके साथ निवास करते थे ॥ ५५–५८ ॥

ते चापि ऋषयः सर्वे दृष्ट्वा मूर्ध्ना नताभवन् । ततस्तान् प्राह भगवान् भिक्षा मे प्रतिदीयताम् ॥ ५९ ॥
ततस्ते मौनिनस्तस्थुः सर्व एव महर्षयः । तदाश्रमाणि सर्वाणि परिचक्राम नारद ॥ ६० ॥
तं प्रविष्टं तदा दृष्ट्वा भार्गवात्रेययोषितः । प्रक्षोभमगमन् सर्वा हीनसत्त्वाः समन्ततः ॥ ६१ ॥
ऋते ह्यरुन्धतीमेकामनसूयां च भामिनीम् । एताभ्यां भर्तृपूजासु तच्चिन्तासु स्थितं मनः ॥ ६२ ॥

उन ऋषियोंने भी उन्हें देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया । फिर भगवान्‌ने उनसे कहा—आपलोग मुझे भिक्षा दीजिये । इसपर सभी महर्षि मौन रह गये । नारदजी ! इसपर महादेवजी सभी आश्रमोंमें घूमने लगे । उस समय उन्हें आश्रममें आया हुआ देख पतिव्रता अरुन्धती और अनुसूयाको छोड़कर ऋषियोंकी समस्त पत्नियाँ प्रक्षुब्ध एवं सत्त्वहीन हो गयीं । पर अरुन्धती और अनुसूया पतिसेवामें ही लगी रहीं ॥ ५९–६२ ॥

ततः संक्षुभिताः सर्वा यत्र याति महेश्वरः । तत्र प्रयान्ति कामार्त्ता मदविह्वलितेन्द्रियाः ॥ ६३ ॥
त्यक्त्वाश्रमाणि शून्यानि स्वानि ता मुनियोषितः । अनुजग्मुर्यथा मत्तं करिण्य इव कुञ्जरम् ॥ ६४ ॥
ततस्तु ऋषयो दृष्ट्वा भार्गवाङ्गिरसो मुने । क्रोधान्विताब्रुवन्सर्वे लिङ्गोऽस्य पततां भुवि ॥ ६५ ॥
ततः पपात देवस्य लिङ्गं पृथ्वीं विदारयन् । अन्तर्धानं जगामाथ त्रिशूली नीललोहितः ॥ ६६ ॥

अब शिवजी जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ संक्षुभित, कामार्त एवं मदसे विकल इन्द्रियोंवाली स्त्रियाँ भी जाने लगीं । मुनियोंकी वे स्त्रियाँ अपने आश्रमोंको सूना छोड़ उनका इस प्रकार अनुसरण करने लगीं, जैसे हथिनी मदमत्त गजका अनुसरण करे । मुने ! यह देखकर ऋषिगण क्रुद्ध हो गये एवं कहा कि इनका लिङ्ग भूमिपर गिर जाय । फिर तो महादेवका लिङ्ग पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ गिर गया एवं तब नीललोहित त्रिशूली अन्तर्धान हो गये ॥ ६३–६६ ॥

ततः स पतितो लिङ्गो विभिद्य वसुधातलम् । रसातलं विवेशाशु ब्रह्माण्डं चोर्ध्वतोऽभिनत् ॥ ६७ ॥
ततश्चचाल पृथिवी गिरयः सरितो नगाः । पातालभुवनाः सर्वे जङ्गमाजङ्गमैर्वृताः ॥ ६८ ॥
संक्षुब्धान् भुवनान् दृष्ट्वा भूर्लोकादीन् पितामहः । जगाम माधवं द्रष्टुं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ६९ ॥
तत्र दृष्ट्वा हृषीकेशं प्रणिपत्य च भक्तितः । उवाच देव भुवनाः किमर्थं क्षुभिता विभो ॥ ७० ॥

वह पृथ्वीपर गिरा लिंग उसका भेदन कर तुरंत रसातलमें प्रविष्ट हो गया एवं ऊपरकी ओर भी उसने विश्व-ब्रह्माण्डका भेदन कर दिया । इसके बाद पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, पादप तथा चराचरसे पूर्ण समस्त पाताललोक काँप उठे । पितामह ब्रह्मा भूर्लोक आदि भुवनोंको संक्षुब्ध देखकर श्रीविष्णुसे मिलने क्षीरसागर पहुँचे । वहाँ उन्हें देख भक्तिपूर्वक प्रणाम कर ब्रह्माने कहा—देव ! समस्त भुवन विक्षुब्ध कैसे हो गये हैं ? ॥ ६७–७० ॥

अथोवाच हरिर्ब्रह्मन् शार्वो लिङ्गो महर्षिभिः । पातितस्तस्य भारार्ता संचचाल वसुंधरा ॥ ७१ ॥
ततस्तदद्भुततमं श्रुत्वा देवः पितामहः । तत्र गच्छाम देवेश एवमाह पुनः पुनः ॥ ७२ ॥
ततः पितामहो देवः केशवश्च जगत्पतिः । आजग्मतुस्तमुद्देशं यत्र लिङ्गं भवस्य तत् ॥ ७३ ॥
ततोऽनन्तं हरिर्लिङ्गं दृष्ट्वारुह्य खगेश्वरम् । पातालं प्रविवेशाथ विस्मयान्तरितो विभुः ॥ ७४ ॥

इसपर श्रीहरिने कहा—ब्रह्मन् ! महर्षियोंने शिवके लिंगको गिरा दिया है । उसके भारसे कष्टमें पड़ी आर्त पृथ्वी विचलित हो रही है । इसके बाद ब्रह्माजी उस अद्भुत बातको सुनकर देवेश ! हमलोग वहाँ चलें—

ऐसा बार-बार कहने लगे। फिर ब्रह्मा और जगत्पति विष्णु वहाँ पहुँचे, जहाँ शंकरका लिङ्ग गिरा था। वहाँ उस अनन्त लिङ्गको देखकर आश्चर्यचकित होकर हरि गरुड़पर सवार हो उसका पता लगानेके लिये पातालमें प्रविष्ट हुए ॥ ७१–७४ ॥

ब्रह्मा पद्मविमानेन ऊर्ध्वमाक्रम्य सर्वतः। नैवान्तमलभद् ब्रह्मन् विस्मितः पुनरागतः ॥ ७५ ॥
विष्णुर्गत्वाऽथ पातालान् सप्त लोकपरायणः। चक्रपाणिर्विनिष्क्रान्तो लेभेऽन्तं न महामुने ॥ ७६ ॥
विष्णुः पितामहश्चोभौ हरलिङ्गं समेत्य हि। कृताञ्जलिपुटौ भूत्वा स्तोतुं देवं प्रचक्रतुः ॥ ७७ ॥

नारदजी! ब्रह्माजी अपने पद्मयानके द्वारा सम्पूर्ण ऊर्ध्वाकाशको लाँघ गये, पर उस लिङ्गका अन्त नहीं पा सके और आश्चर्यचकित होकर वे लौट आये। मुने! इसी प्रकार जब चक्रपाणि भगवान् विष्णु भी सातों पातालोंमें प्रवेश कर उस लिङ्गका बिना अन्त पाये ही वहाँसे बाहर आये, तब ब्रह्मा, विष्णु दोनों शिवलिङ्गके पास जाकर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ ७५–७७ ॥

हरिब्रह्माणावूचतुः

नमोऽस्तु ते शूलपाणे नमोऽस्तु वृषभध्वज। जीमूतवाहन कवे शर्व त्र्यम्बक शंकर ॥ ७८ ॥
महेश्वर महेशान सुवर्णाक्ष वृषाकपे। दक्षयज्ञक्षयकर कालरूप नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥
त्वमादिरस्य जगतस्त्वं मध्यं परमेश्वर। भवानन्तश्च भगवान् सर्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ८० ॥

ब्रह्मा-विष्णु बोले—शूलपाणिजी! आपको प्रणाम है। वृषभध्वज! जीमूतवाहन! कवि! शर्व! त्र्यम्बक! शंकर! आपको प्रणाम है। महेश्वर! महेशान! सुवर्णाक्ष! वृषाकपे! दक्ष-यज्ञ-विध्वंसक! कालरूप शिव! आपको प्रणाम है। परमेश्वर! आप इस जगत्के आदि, मध्य एवं अन्त हैं। आप षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् सर्वत्रगामी या सर्वत्रव्याप्त हैं। आपको प्रणाम है ॥ ७८–८० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं संस्तूयमानस्तु तस्मिन् दारुवने हरः। स्वरूपी ताविदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ ८१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उस दारुवनमें इस प्रकार स्तुति किये जानेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ हरने अपने स्वरूपमें प्रकट होकर (अर्थात् मूर्तिमान् होकर) उन दोनोंसे इस प्रकार कहा—॥ ८१ ॥

हर उवाच

किमर्थं देवतानाथौ परिभूतक्रमं त्विह। मां स्तुवाते भृशास्वस्थं कामतापितविग्रहम् ॥ ८२ ॥

भगवान् शंकर बोले—आप दोनो सभी देवताओंके स्वामी हैं। आपलोग चलते-चलते थके हुए तथा कामाग्निसे दग्ध और मुझ सब प्रकारसे अस्वस्थ व्यक्तिकी क्यों स्तुति कर रहे हैं? ॥ ८२ ॥

देवावूचतुः

भवतः पातितं लिङ्गं यदेतद् भुवि शंकर। एतत् प्रगृह्यतां भूय अतो देव स्तुवावहे ॥ ८३ ॥

इसपर ब्रह्मा-विष्णु दोनो बोले—शिवजी! पृथ्वीपर आपका जो यह लिंग गिराया गया है, उसे पुनः आप ग्रहण करें। इसीलिये हम आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

हर उवाच

यद्यर्चयन्ति त्रिदशा मम लिङ्गं सुरोत्तमौ। तदेतत्प्रतिगृह्णीयां नान्यथेति कथंचन ॥ ८४ ॥
ततः प्रोवाच भगवानेवमस्त्विति केशवः। ब्रह्मा स्वयं च जग्राह लिङ्गं कनकपिङ्गलम् ॥ ८५ ॥

ततश्चकार भगवांश्चातुर्वर्ण्यं हरार्चने। शास्त्राणि चैषां मुख्यानि नानोक्तिविदितानि च ॥ ८६ ॥
आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत्पाशुपतं मुने। तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिनम् ॥ ८७ ॥

शिवजीने कहा—श्रेष्ठ देवो! यदि सभी देवता मेरे लिंगकी पूजा करना स्वीकार करें, तभी मैं इसे पुनः ग्रहण करूँगा, अन्यथा किसी प्रकार भी इसे नहीं धारण करूँगा। तब भगवान् विष्णु बोले—ऐसा ही होगा। फिर ब्रह्माजीने स्वयं उस स्वर्णके सदृश पिंगल लिंगको ग्रहण किया। तब भगवान्ने चारों वर्णोंको हर-लिङ्गकी अर्चनाका अधिकारी बनाया। इनके मुख्य शास्त्र नाना प्रकारके वचनोंसे प्रख्यात हैं। मुने! उन शिवभक्तोंका प्रथम सम्प्रदाय शैव, द्वितीय पाशुपत, तृतीय कालमुख और चतुर्थ सम्प्रदाय कापालिक या भैरवनामसे विख्यात है[२] ॥ ८४–८७ ॥

शैवश्चासीत्स्वयं शक्तिर्वसिष्ठस्य प्रियः सुतः। तस्य शिष्यो बभूवाथ गोपायन इति श्रुतः ॥ ८८ ॥
महापाशुपतश्चासीद्भरद्वाजस्तपोधनः । तस्य शिष्योऽप्यभूद्राजा ऋषभः सोमकेश्वरः ॥ ८९ ॥
कालास्यो भगवानासीदापस्तम्बस्तपोधनः। तस्य शिष्योभवद्वैश्यो नाम्ना क्राथेश्वरो मुने ॥९०॥
महाव्रती च धनदस्तस्य शिष्यश्च वीर्यवान्। कर्णोदर इति ख्यातो जात्या शूद्रो महातपाः ॥९१॥

महर्षि वसिष्ठके प्रियपुत्र शक्ति ऋषि स्वयं शैव थे। उनके एक शिष्य गोपायन नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्होंने शैव-सम्प्रदायको दूरतक फैलाया। तपोधन भरद्वाज महापाशुपत थे और सोमकेश्वर राजा ऋषभ उनके शिष्य हुए, जिनसे पाशुपत-सम्प्रदाय विशेषरूपसे परिवर्तित हुआ। मुने! ऐश्वर्य एवं तपस्याके धनी महर्षि आपस्तम्ब, कालमुख-सम्प्रदायके आचार्य थे। क्राथेश्वर नामके उनके वैश्य शिष्यने इस सम्प्रदायका विशेष रूपसे प्रचार किया। महाव्रती साक्षात् कुबेर प्रथम कापालिक या भैरव-सम्प्रदायके आचार्य हुए थे। शूद्र-जातिके महातपस्वी कर्णोदर नामक उनके एक प्रसिद्ध शिष्य हुए। इन्होंने इस मतका विशेष प्रचार किया[३] ॥ ८८–९१ ॥

एवं स भगवान्ब्रह्मा पूजनाय शिवस्य तु। कृत्वा तु चातुराश्रम्यं स्वमेव भवनं गतः ॥९२॥
गते ब्रह्मणि शर्वोऽपि उपसंहृत्य तं तदा। लिङ्गं चित्रवने सूक्ष्मं प्रतिष्ठाप्य चचार ह ॥९३॥
विचरन्तं तदा भूयो महेशं कुसुमायुधः। आरात्स्थित्वाऽग्रतो धन्वी संतापयितुमुद्यतः ॥९४॥
ततस्तमग्रतो दृष्ट्वा क्रोधाध्मातदृशा हरः। स्मरमालोकयामास शिखाग्रोच्चरणान्तिकम् ॥९५॥

इस प्रकार ब्रह्माजी शिवकी उपासनाके लिये चार सम्प्रदायोंका विधान कर ब्रह्मलोकको चले गये। ब्रह्माजीके जानेपर महादेवने उस लिङ्गको उपसंहृत कर लिया—समेट लिया एवं वे चित्रवनमें सूक्ष्म लिङ्ग प्रतिष्ठापित कर विचरण करने लगे। यहाँ भी शिवजीको घूमते देख पुष्पधनुर कामदेव पुनः उनके सामने सहसा बहुत निकट आकर उन्हें संतापन बाणसे बेधनेको उद्यत हुआ। तब उसे इस प्रकार सामने खड़ा देखकर शिवजीने उस कामदेवको सिरसे चरणतक क्रोधभरी दृष्टिसे देखा ॥ ९२–९५ ॥

आलोकितस्त्रिनेत्रेण मदनो द्युतिमानपि। प्रादह्यत तदा ब्रह्मन् पादादारभ्य कक्षवत् ॥९६॥
प्रदह्यमानौ चरणौ दृष्ट्वाऽसौ कुसुमायुधः। उत्ससर्ज धनुः श्रेष्ठं तज्जगामाथ पञ्चधा ॥९७॥

१—गणेशसहस्रनामके 'खम्भात' भाष्यमें कालमुखमतका विशेष परिचय है। २—शैवं पाशुपतं कालमुखं भैरवशासनम्। (गणेशसहस्रनाम १२९) ३—इसपर डॉ० भण्डारकरके 'वैष्णविज्म'-'शैविज्म'में विस्तृत विचार है।

यदासीन्मुष्टिबन्धं तु रुक्मपृष्ठं महाप्रभम्। स चम्पकतरुर्जातः सुगन्धाढ्यो गुणाकृतिः ॥९८॥
नाहस्थानं शुभाकारं यदासीद्वज्रभूषितम्। तज्जातं केसरारण्यं वकुलं नामतो मुने ॥९९॥
या च कोटी शुभा ह्यासीदिन्द्रनीलविभूपिता। जाता सा पाटला रम्या भृङ्गराजिविभूपिता ॥१००॥

ब्रह्मन्! वह कामदेव अत्यन्त तेजस्वी था। फिर भी भगवान्-द्वारा इस प्रकार दृष्ट होनेपर वह पैरसे लेकर कटिपर्यन्त दग्ध हो गया। अपने चरणोंको जलते हुए देखकर पुष्पायुध कामने अपने श्रेष्ठ धनुषको दूर फेंक दिया। इससे उसके पाँच टुकड़े हो गये। उस धनुषका जो चमचमाता हुआ सुवर्णयुक्त मुठबंध था, वह सुगन्धपूर्ण सुन्दर चम्पक वृक्ष हो गया। मुने! उस धनुषका जो हीरा जड़ा हुआ सुन्दर कृतिवाला नाहस्थान था, वह केसरवनमें वकुल (मौलसिरी) नामका वृक्ष बना। इन्द्रनीलसे सुशोभित उसकी सुन्दर कोटि भृंगोसे विभूषित सुन्दर पाटला-(गुलाब-) के रूपमें परिणत हो गयी ॥ ९६–१०० ॥

नाहोपरि तथा मुष्टौ स्थानं शशिमणिप्रभम्। पञ्चगुल्माऽभवज्जाती शशाङ्ककिरणोज्ज्वला ॥१०१॥
ऊर्ध्वं मुष्ट्या अधः कोट्योः स्थानं विद्रुमभूषितम्। तस्माद्बहुपुटा मल्ली संजाता विविधा मुने ॥१०२॥
पुष्पोत्तमानि रम्याणि सुरभीणि च नारद। जातियुक्तानि देवेन स्वयमाचरितानि च ॥१०३॥
मुमोच मार्गणान् भूम्यां शरीरे दह्यति स्मरः। फलोपगानि वृक्षाणि संभूतानि सहस्रशः ॥१०४॥
चूतादीनि सुगन्धीनि स्वादूनि विविधानि च। हरप्रसादाज्जातानि भोज्यान्यपि सुरोत्तमैः ॥१०५॥
एवं दग्ध्वा स्मरं रुद्रः संयम्य स्वतनुं विभुः। पुण्यार्थी शिशिराद्रिं स जगाम तपसेऽव्ययः ॥१०६॥
एवं पुरा देववरेण शम्भुना कामस्तु दग्धः सशरः सचापः।
ततस्त्वनङ्गेति महाधनुर्द्धरो देवैस्तु गीतः सुरपूर्वपूजितः ॥१०७॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

धनुषनाहके ऊपर मुष्टिमें स्थित चन्द्रकान्तमणिकी प्रभासे युक्त स्थान चन्द्रकिरणके समान उज्ज्वल पाँच गुल्मवाली जाती (चमेली) पुष्प बन गया। मुने! मुष्टिके ऊपर और दोनो कोटियोंके नीचेवाले विद्रुममणि-विभूषित स्थानसे अनेक पुटोंवाली मल्लिका (मालती) हो गयी। नारदजी! देवके द्वारा जातीके साथ अन्य सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्पोंकी सृष्टि हुई। ऊर्ध्व शरीरके दग्ध होनेके समय कामदेवने अपने बाणोंको भी पृथ्वीपर फेंका था, इससे हजारो प्रकारके फलयुक्त वृक्ष उत्पन्न हो गये। शिवजीकी कृपासे श्रेष्ठ देवताओद्वारा भी अनेक प्रकारके सुगन्धित एवं स्वादिष्ट आम्र आदि फल उत्पन्न हुए, जो खानेमे स्वादुयुक्त हैं। इस प्रकार कामदेवको भस्म कर एवं अपने शरीरको संयतकर समर्थ, अविनाशी शिव पुण्यकी कामनासे हिमालयपर तपस्या करने चले गये। इस प्रकार प्राचीन समयमें देवश्रेष्ठ शिवजीद्वारा धनुषबाण-सहित काम दग्ध किया गया था। तबसे देवताओमे प्रथम पूजित वह महाधनुर्धर देवोद्वारा 'अनङ्ग' कहा गया ॥ १०१–१०७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

[अथ सप्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततोऽनङ्गं विभुर्दृष्ट्वा ब्रह्मन् नारायणो मुनिः। प्रहस्यैवं वचः प्राह कन्दर्प इह आस्यताम् ॥ १ ॥
तदक्षुब्धत्वमीक्ष्यास्य कामो विस्मयमागतः। वसन्तोऽपि महाचिन्तां जगामाशु महामुने ॥ २ ॥
ततश्चाप्सरसो दृष्ट्वा स्वागतेनाभिपूज्य च। वसन्तमाह भगवानेह्येहि स्थीयतामिति ॥ ३ ॥
ततो विहस्य भगवान् मञ्जरीं कुसुमावृताम्। आदाय प्राक्सुवर्णाङ्गीमूर्वोर्बालां विनिर्ममे ॥ ४ ॥
ऊरूद्भवां स कन्दर्पो दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरीम्। अमन्यत तदाऽनङ्गः किमियं सा प्रिया रतिः ॥ ५ ॥

सातवाँ अध्याय प्रारम्भ

(उर्वशीकी उत्पत्ति-कथा, प्रह्लाद-प्रसंग—नरनारायणसे संवाद एवं युद्धोपक्रम)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! उसके बाद समर्थ नारायण ऋषि कामदेवको देखकर हँसते हुए यों बोले—काम! तुम यहाँ बैठो। काम उनकी उस अक्षुब्धता-(स्थिरता-) को देखकर चकित हो गया। महामुने! वसन्तको भी उस समय बड़ी चिन्ता हुई। फिर अप्सराओंकी ओर देखकर स्वागतके द्वारा उनकी पूजा कर भगवान् नारायणने वसन्तसे कहा—आओ बैठो। उसके पश्चात् भगवान् नारायण मुनिने हँसकर एक फूलसे भरी मञ्जरी ली और अपने ऊरुपर एक सुवर्ण अङ्गवाली तरुणीका चित्र लिखकर उसकी सजीव रचना कर दी। नारायणकी जाँघसे उत्पन्न उस सर्वाङ्ग सुन्दरीको देखकर कामदेव मनमें सोचने लगा—क्या यह सुन्दरी मेरी पत्नी रति है! ॥ १—५ ॥

तदेव वदनं चारु स्वाक्षिभ्रुकुटिलालकम्। सुनासावंशाधरोष्ठमालोकनपरायणम् ॥ ६ ॥
तावेवाहार्यचिरलौ पीवरौ मग्नचूचुकौ। राजेतेऽस्याः कुचौ पीनौ सज्जनाविव संहतौ ॥ ७ ॥
तदेव तनु चार्वङ्ग्या वलित्रयविभूषितम्। उदरं राजते श्लक्ष्णं रोमावलिविभूषितम् ॥ ८ ॥
रोमावली च जघनाद् यान्ती स्तनतटं त्वियम्। राजते भृङ्गमालेव पुलिनात् कमलाकरम् ॥ ९ ॥

इसकी वैसी ही सुन्दर आँखें, भौंह एवं कुटिल अलकें हैं। इसका वैसा ही मुखमण्डल, वैसी सुन्दर नासिका, वैसा वंश और वैसा ही इसका अधरोष्ठ भी सुन्दर है। इसे देखनेसे तृप्ति नहीं होती है। यतिके समान ही मनोहर तथा अत्यन्त मग्न चूचुकवाले स्थूल (मांसल) स्तन दो सज्जन पुरुषोंके सदृश परस्पर मिले हैं। इस सुन्दरीका वैसा ही कृश, त्रिवलीयुक्त, कोमल तथा रोमावलिवाला उदर भी शोभित हो रहा है। उदरपर नीचेसे ऊपरकी ओर स्तन तटतक जाती हुई इसकी रोमराजि सरोवर आदिके तटसे कमलवृन्दकी ओर जाती हुई भ्रमर-मण्डलीके समान सुशोभित हो रही है ॥ ६—९ ॥

जघनं त्वतिविस्तीर्णं भात्यस्या रशनावृतम्। क्षीरोदमथने नद्धं भुजङ्गेनेव मन्दरम् ॥ १० ॥
कदलीस्तम्भसदृशैरूर्ध्वमूलैरथोरुभिः। विभाति सा सुचार्वङ्गी पद्मकिञ्जल्कसंनिभा ॥ ११ ॥
जानुनी गूढगुल्फे च शुभे जङ्घे त्वरोमशे। विभातोऽस्यास्तथा पादावलक्तकसमन्वितौ ॥ १२ ॥
इति संचिन्तयन् कामस्तामनिन्दितलोचनाम्। कामातुरोऽसौ संजातः किमुतान्यो जनो मुने ॥ १३ ॥

इसका करधनीसे मण्डित स्थूल जघन-प्रदेश क्षीरसागरके मन्थनके समयमें वासुकि नागसे वेष्टित मन्दर-पर्वतके समान सुशोभित हो रहा है। कदली-स्तम्भके समान ऊर्ध्वमूल ऊरुओंवाली कमलके केसरके समान गौर-वर्णकी यह सुन्दरी है। इसके दोनों घुटने, गूढगुल्फ, रोमरहित सुन्दर जंघा तथा अलक्तकके समान कान्तिवाले दोनों पैर अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं। मुने! इस प्रकार उस सुन्दरीके विषयमें सोचते हुए जब यह कामदेव स्वयमेव कामातुर हो गया तो फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या थी ॥ १०—१३ ॥

माधवोऽप्युर्वशीं दृष्ट्वा संचिन्तयत नारद। किंस्वित् कामनरेन्द्रस्य राजधानी स्वयं स्थिता ॥ १४ ॥
आयाता शशिनो नूनमियं कान्तिर्निराश्रये। रविरश्मिप्रतापार्तिभीता शरणमागता ॥ १५ ॥
इत्थं संचितयन्नेव अवष्टभ्याप्सरोगणम्। तस्थौ मुनिरिव ध्यानमास्थितः स तु माधवः ॥ १६ ॥
ततः स विस्मितान् सर्वान् कन्दर्पादीन् महामुने। दृष्ट्वा प्रोवाच वचनं स्मितं कृत्वा शुभव्रतः ॥ १७ ॥
इयं ममोरुसम्भूता कामाप्सरस माधव। नीयतां सुरलोकाय दीयतां वासवाय च ॥ १८ ॥
इत्युक्ताः कम्पमानास्ते जग्मुर्गृह्योर्वशीं दिवम्। सहस्राक्षाय तां प्रादाद् रूपयौवनशालिनीम् ॥ १९ ॥
आचख्युश्चरितं ताभ्यां धर्मजाभ्यां महामुने। देवराजाय कामाद्यास्ततोऽभूद् विस्मयः परः ॥ २० ॥
एतादृशं हि चरितं ख्यातिमग्र्यां जगाम ह। पातालेषु तथा मर्त्ये दिक्ष्वष्टासु जगाम च ॥ २१ ॥

नारदजी ! अब वसन्त भी उस उर्वशीको देखकर सोचने लगा कि क्या यह राजा कामकी राजधानी ही स्वयं आकर उपस्थित हो गयी है ? अथवा रात्रिका अन्त होनेपर सूर्यकी किरणोंके तापके भयसे स्वयं चन्द्रिका ही शरणमें आ गयी है। इस प्रकार सोचते हुए अप्सराओंको रोककर वसन्त मुनिके सदृश ध्यानस्थ हो गया। महामुने ! उसके बाद शुभव्रत नारायण मुनिने कामादि सभीको चकित देखकर हँसते हुए कहा—हे काम, हे अप्सराओ, हे वसन्त ! यह अप्सरा मेरी जाँघसे उत्पन्न हुई है। इसे तुमलोग देवलोकमें ले जाओ और इन्द्रको दे दो। उनके ऐसा कहनेपर वे सभी भयसे काँपते हुए उर्वशीको लेकर स्वर्गमें चले गये और उस रूप-यौवनशालिनी अप्सराको इन्द्रको दे दिया। महामुने ! उन कामादिने इन्द्रसे उन दोनों धर्मके पुत्रों- (नर-नारायण-) के चरित्रको कहा, जिससे इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ। नर और नारायणके इस चरित्रकी चर्चा आगे सर्वत्र बढ़ती गयी तथा वह पाताल, मर्त्यलोक एवं सभी दिशाओंमें व्याप्त हो गयी ॥ १४–२१ ॥

एकदा निहते रौद्रे हिरण्यकशिपौ मुने। अभिषिक्तस्तदा राज्ये प्रह्लादो नाम दानवः ॥ २२ ॥
तस्मिञ्शासति दैत्येन्द्रे देवब्राह्मणपूजके। मखानि भुवि राजानो यजन्ते विधिवत्तदा ॥ २३ ॥
ब्राह्मणाश्च तपो धर्मं तीर्थयात्राश्च कुर्वते। वैश्याश्च पशुवृत्तिस्थाः शूद्राः शुश्रूषणे रताः ॥ २४ ॥

मुने ! एक बारकी बात है। जब भयंकर हिरण्यकशिपु मारा गया तब प्रह्लाद नामक दानव राजगद्दीपर बैठा। वह देवता और ब्राह्मणोंका पूजक था। उसके शासनकालमें पृथ्वीपर राजा लोग विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते थे। ब्राह्मण लोग तपस्या, धर्म-कार्य और तीर्थयात्रा, वैश्य लोग पशुपालन तथा शूद्र लोग सबकी सेवा प्रेमसे करते थे ॥ २२–२४ ॥

चातुर्वर्ण्यं ततः स्वे स्वे आश्रमे धर्मकर्मणि। आवर्त्तत ततो देवा वृत्त्या युक्ताभवन् मुने ॥ २५ ॥
ततस्तु च्यवनो नाम भार्गवेन्द्रो महातपाः। जगाम नर्मदां स्नातुं तीर्थं चैवाकुलीश्वरम् ॥ २६ ॥
तत्र दृष्ट्वा महादेवं नदीं स्नातुमवातरत्। अवतीर्णं प्रजग्राह नागः केकरलोहितः ॥ २७ ॥
गृहीतस्तेन नागेन सस्मार मनसा हरिम्। संस्मृते पुण्डरीकाक्षे निर्विषोऽभून्महोरगः ॥ २८ ॥

मुने ! इस प्रकार चारों वर्ण अपने आश्रममें स्थित रहकर धर्म-कार्योंमें लगे रहते थे। इससे देवता भी अपने कर्ममें संलग्न हो गये।[1] उसी समय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ भार्गववंशी महातपस्वी च्यवन नामक ऋषि नर्मदाके नकुलीश्वर तीर्थमें स्नान करने गये। वहाँ वे महादेवका दर्शनकर नदीमें स्नान करनेके लिये उतरे। जलमें उतरते ही ऋषिको एक भूरे वर्णके साँपने पकड़ लिया। उस साँपद्वारा पकड़े जानेपर ऋषिने अपने मनमें

१— देवताओंके धर्मका वर्णन सुकेशी-उपाख्यानमें आगे आया है।

विष्णु भगवान्‌का स्मरण किया। कमलनयन भगवान् श्रीहरिको स्मरण करनेपर वह महान् सर्प विषहीन हो गया ॥ २५–२८ ॥

नीतस्तेनातिरौद्रेण पन्नगेन रसातलम्। निर्विषश्चापि तन्याज च्यवनं भुजगोत्तमः ॥२९॥
संत्यक्तमात्रो नागेन च्यवनो भार्गवोत्तमः। चचार नागकन्याभिः पूज्यमानः समन्ततः ॥३०॥
विचरन् प्रविवेशाथ दानवानां महत् पुरम्। संपूज्यमानो दैत्येन्द्रैः प्रह्लादोऽथ ददर्श तम् ॥३१॥
भृगुपुत्रे महातेजाः पूजां चक्रे यथार्हतः। संपूजितोपविष्टश्च पृष्टश्चागमनं प्रति ॥३२॥

फिर उस भयंकर विषरहित सर्पने च्यवन मुनिको रसातलमें ले जाकर छोड़ दिया। सर्पने भार्गवश्रेष्ठ च्यवनको मुक्त कर दिया। फिर वे नागकन्याओंसे पूजित होते हुए चारों ओर विचरण करने लगे। वहाँ घूमते हुए वे दानवोंके विशाल नगरमें प्रविष्ट हुए। इसके बाद श्रेष्ठ दैत्योंद्वारा पूजित प्रह्लादने उन्हें देखा। महातेजस्वी प्रह्लादने भृगुपुत्रकी यथायोग्य पूजा की। पूजाके बाद उनके बैठनेपर प्रह्लादने उनसे उनके आगमनका कारण पूछा ॥२९–३२॥

स चोवाच महाराज महातीर्थं महाफलम्। स्नातुमेवागतोऽस्म्यद्य द्रष्टुञ्चैवाकुलीश्वरम् ॥ ३३ ॥
नद्यामेवावतीर्णोऽस्मि गृहीतश्चाहिना बलात्। समानीतोऽस्मि पाताले दृष्टश्चात्र भवानपि ॥ ३४ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं च्यवनस्य दितीश्वरः। प्रोवाच धर्मसंयुक्तं स वाक्यं वाक्यकोविदः ॥ ३५ ॥

उन्होंने कहा—महाराज! आज मैं महाफलदायक महातीर्थमें स्नान एवं नकुलीश्वरका दर्शन करने आया था। वहाँ नदीमें उतरते ही एक नागने मुझे बलात् पकड़ लिया। वही मुझे पातालमें लाया और मैंने यहाँ आपको भी देखा। च्यवनकी इस बातको सुनकर सुन्दर वचन बोलनेवाले दैत्योंके ईश्वर (प्रह्लाद) ने धर्मसंयुक्त यह वाक्य कहा ॥ ३३–३५ ॥

प्रह्लाद उवाच

भगवन् कानि तीर्थानि पृथिव्यां कानि चाम्बरे। रसातले च कानि स्युरेतद् वक्तुं त्वमर्हसि ॥३६॥

प्रह्लादने पूछा—भगवन्! कृपा करके मुझे बतलाइये कि पृथ्वी, आकाश और पातालमें कौन-कौनसे (महान्) तीर्थ हैं? ॥ ३६ ॥

च्यवन उवाच

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम्। चक्रतीर्थं महाबाहो रसातलतले विदुः ॥३७॥

(प्रह्लादके वचनको सुनकर) **च्यवनजीने कहा**—महाबाहो! पृथ्वीमें नैमिषारण्यतीर्थ, अन्तरिक्षमें पुष्कर, और पातालमें चक्रतीर्थ प्रसिद्ध हैं ॥ ३७ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रुत्वा तद्भार्गववचो दैत्यराजो महामुने। नैमिषं गन्तुकामस्तु दानवानिदमब्रवीत् ॥३८॥

पुलस्त्यजीने कहा—महामुने! भार्गवकी इसी बातको सुनकर दैत्यराज प्रह्लादने नैमिषतीर्थमें जानेके लिये इच्छा प्रकट की और दानवोंसे यह बात कही ॥ ३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

उत्तिष्ठध्वं गमिष्यामः स्नातुं तीर्थं हि नैमिषम्। द्रक्ष्यामः पुण्डरीकाक्षं पीतवाससमच्युतम् ॥३९॥

प्रह्लाद बोले—उठो, हम सभी नैमिषतीर्थमें स्नान करने जायँगे तथा वहाँ पीताम्बरधारी एवं कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् अच्युत (विष्णु)के दर्शन करेंगे ॥ ३९ ॥

*

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्ता दानवेन्द्रेण सर्वे ते दैत्यदानवाः। चक्रुरुद्योगमतुलं निर्जग्मुश्च रसानलात् ॥४०॥
ते समभ्येत्य दैतेया दानवाश्च महाबलाः। नैमिषारण्यमागत्य स्नानं चक्रुर्मुदान्विताः ॥४१॥
ततो दितीश्वरः श्रीमान् मृगव्यां स चचार ह। चरन् सरस्वतीं पुण्यां ददर्श विमलोदकाम् ॥४२॥
तस्यादूरे महाशाखं शालवृक्षं शरैश्चितम्। ददर्श बाणानपरान् मुखे लग्नान् परस्परम् ॥४३॥

पुलस्त्यजीने कहा—दैत्यराज प्रह्लादके ऐसा कहनेपर वे सभी दैत्य और दानव रसातलसे बाहर निकले एवं अतुलनीय उद्योगमे लग गये। उन महाबलवान् दितिपुत्रो एवं दानवोने नैमिषारण्यमें आकर आनन्दपूर्वक स्नान किया। इसके बाद श्रीमान् दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद मृगया (आखेट या शिकार) के लिये वनमें घूमने लगे। वहाँ घूमते हुए उन्होने पवित्र एवं निर्मल जलवाली सरस्वती नदीको देखा। वहीं समीप ही बाणोसे खचाखच बिंधे बड़ी-बड़ी शाखाओवाले एक शाल वृक्षको देखा। वे सभी बाण एक-दूसरेके मुखसे लगे हुए थे ॥ ४०—४३ ॥

ततस्तानद्भुताकारान् बाणान् नागोपवीतकान्। दृष्ट्वाऽतुलं तदा चक्रे क्रोधं दैत्येश्वरः किल ॥४४॥
स ददर्श ततो दूरात्कृष्णाजिनधरौ मुनी। समुन्नतजटाभारौ तपस्यासक्तमानसौ ॥४५॥
तयोश्च पार्श्वयोर्दिव्ये धनुषी लक्षणान्विते। शार्ङ्गमाजगवं चैव अक्षय्यौ च महेषुधी ॥४६॥
तौ दृष्ट्वाऽमन्यत तदा दाम्भिकाविति दानवः। ततः प्रोवाच वचनं तावुभौ पुरुषोत्तमौ ॥४७॥

तब उन अद्भुत आकारवाले नागोपवीत (साँपोसे लिपटे) बाणोंको देखकर दैत्येश्वरको बड़ा क्रोध हुआ। फिर उन्होने दूरसे ही काले मृगचर्मको धारण किये हुए बड़ी-बड़ी जटाओंवाले तथा तपस्यामें लगे दो मुनियोको देखा। उन दोनोकी बगलमें सुलक्षण शार्ङ्ग और आजगव नामक दो दिव्य धनुष एवं दो अक्षय तथा बडे-बड़े तरकस वर्तमान थे। उन दोनोको इस प्रकार देखकर दानवराज प्रह्लादने उन्हे दम्भसे युक्त समझा। फिर उन्होने उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोसे कहा—॥ ४४—४७ ॥

किं भवद्भ्यां समारब्धं दम्भं धर्मविनाशनम्। क्व तपः क्व जटाभारः क्व चेमौ प्रवरायुधौ ॥४८॥
अथोवाच नरो दैत्यं का ते चिन्ता दितीश्वर। सामर्थ्ये सति यः कुर्यात् तत्संपद्येत तस्य हि ॥४९॥
अथोवाच दितीशस्तौ का शक्तिर्युवयोरिह। मयि तिष्ठति दैत्येन्द्रे धर्मसेतुप्रवर्तके ॥५०॥
नरस्तं प्रत्युवाचाथ आवाभ्यां शक्तिरूर्जिता। न कश्चिच्छक्नुयाद् योद्धुं नरनारायणौ युधि ॥५१॥

आप दोनो यह धर्मविनाशक दम्भपूर्ण कार्य क्यो कर रहे है ? कहाँ तो आपकी यह तपस्या और जटाभार, कहाँ ये दोनो श्रेष्ठ अस्त्र ? इसपर नरने उनसे कहा—दैत्येश्वर ! तुम उसकी चिन्ता क्यो कर रहे हो ? सामर्थ्य रहनेपर कोई भी व्यक्ति जो कार्य करता है, उसे वही शोभा देता है। तब दितीश्वर प्रह्लादने उन दोनोसे कहा—धर्मसेतुके स्थापित करनेवाले मुझ दैत्येन्द्रके रहते यहाँ आप लोग (सामर्थ्य-बलसे) क्या कर सकते हैं ? इसपर नरने उन्हे उत्तर दिया—हमने पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर ली है। हम नर और नारायण—दोनोसे कोई भी युद्ध नहीं कर सकता ॥ ४८—५१ ॥

दैत्येश्वरस्ततः क्रुद्धः प्रतिज्ञामारुरोह च। यथा कथंचिज्जेष्यामि नरनारायणौ रणे ॥५२॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा दितीश्वरः स्थाप्य बलं वनान्ते।
वितत्य चापं गुणमाविकृष्य तलध्वनिं घोरतरं चकार ॥५३॥
ततो नरस्त्वाजगवं हि चापमानम्य बाणान् सुबहूञ्शिताग्रान्।
मुमोच तानप्रतिमैः पृषत्कैश्चिच्छेद दैत्यस्तपनीयपुङ्खैः ॥५४॥

छिन्नान् समीक्ष्याथ नरः पृषत्कान् दैत्येश्वरेणाप्रतिमेन संख्ये ।
क्रुद्धः समानम्य गदाधनुस्ततो मुमोच चान्यान् विविधान् पृषत्कान् ॥ ५५ ॥

इसपर दैत्येश्वरने क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा कर दी कि मैं युद्धमें जिस किसी भी प्रकार आप नर और नारायण दोनोको जीतूँगा । ऐसी प्रतिज्ञाकर दैत्येश्वर प्रह्लादने वनकी सीमापर अपनी सेना खड़ी कर दी और धनुषको फैलाकर उसपर डोरी चढायी तथा घोरतर करतलध्वनि की—ताल ठोकी । इसपर नरने भी आजगव धनुषको चढ़ाकर बहुत-से तेज बाण छोडे । परतु प्रह्लादने अनेक स्वर्ण-पुंखवाले अप्रतिम बाणोंसे उन बाणोंको काट डाला । फिर नरने युद्धमें अप्रतिम दैत्येश्वरके द्वारा बाणोको नष्ट हुआ देख क्रुद्ध होकर अपने महान् धनुषको चढ़ाकर पुनः अन्य अनेक तीक्ष्ण बाण छोड़े ॥ ५२—५५ ॥

एकं नरो द्वौ दितिजेश्वरश्च त्रीन् धर्मसूनुश्चतुरो दितीशः ।
नरस्तु बाणान् प्रमुमोच पञ्च षड् दैत्यनाथो निशितान् पृषत्कान् ॥ ५६ ॥
सप्तर्षिमुख्यो द्विचतुश्च दैत्यो नरस्तु षट् त्रीणि च दैत्यमुख्ये ।
षट्त्रीणि चैकं च दितीश्वरेण मुक्तानि बाणानि नराय विप्र ॥ ५७ ॥
एकं च षट् पञ्च नरेण मुक्तास्त्वष्टौ शराः सप्त च दानवेन ।
षट् सप्त चाष्टौ नव षण्नरेण द्विसप्ततिं दैत्यपतिः ससर्ज ॥ ५८ ॥
शतं नरस्त्रीणि शतानि दैत्यः षड् धर्मपुत्रो दश दैत्यराजः ।
ततोऽप्यसंख्येयतरान् हि बाणान् मुमोचतुस्तौ सुभृशं हि कोपात् ॥ ५९ ॥

नरके एक बाण छोड़नेपर प्रह्लादने दो बाण छोडे; नरके तीन बाण छोड़नेपर प्रह्लादने चार बाण छोडे । इसके बाद पुनः नरने पाँच बाण और फिर दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लादने छः तेज बाण छोडे । फिर नरके सात बाण छोड़नेपर दैत्यने आठ बाण छोडे । नरके नव बाण छोड़नेपर प्रह्लादने उनपर दस बाण छोडे । नरके बारह बाण छोड़नेपर दानवने पद्रह बाण छोडे । नरके छत्तीस बाण छोड़नेपर दैत्यपतिने बहत्तर बाण चलाये । नरके सौ बाणोपर दैत्यने तीन सौ बाण चलाये । धर्मपुत्रके छः सौ बाणोपर दैत्यराजने एक हजार बाण छोडे । फिर तो उन दोनोने अत्यन्त क्रोधसे (एक दूसरेपर) असंख्य बाण छोडे ॥ ५६—५९ ॥

ततो नरो बाणगणैरसंख्यैरवास्तरद्भूमिमथो दिशः खम् ।
स चापि दैत्यप्रवरः पृषत्कैश्चिच्छेद वेगात् तपनीयपुङ्खैः ॥ ६० ॥
ततः पतत्रिभिर्वीरौ सुभृशं नरदानवौ । युद्धे वरास्त्रैर्युध्येतां घोररूपैः परस्परम् ॥ ६१ ॥
ततस्तु दैत्येन वरास्त्रपाणिना चापे नियुक्तं तु पितामहास्त्रम् ।
महेश्वरास्त्रं पुरुषोत्तमेन समं समाहत्य निपेततुस्तौ ॥ ६२ ॥
ब्रह्मास्त्रे तु प्रशमिते प्रह्लादः क्रोधमूर्छितः । गदां प्रगृह्य तरसा प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ॥ ६३ ॥

उसके बाद नरने असख्य बाणोसे पृथ्वी, आकाश और दिशाओको ढक दिया । फिर दैत्यप्रवर प्रह्लादने स्वर्णपुंखवाले बाणोको बडे वेगसे छोड़कर उनके बाणोंको काट दिया । तब नर और दानव दोनो वीर बाणों तथा भयंकर श्रेष्ठ अस्त्रोसे परस्पर युद्ध करने लगे । इसके बाद दैत्यने हाथमें ब्रह्मास्त्र लेकर उसे धनुषपर नियोजित कर चला दिया एवं उन पुरुषोत्तमने भी माहेश्वरास्त्रका प्रयोग कर दिया । वे दोनो अस्त्र परस्पर एक दूसरेसे टक्कर खाकर गिर गये । ब्रह्मास्त्रके व्यर्थ होनेपर क्रोधसे मूर्च्छित हुए प्रह्लाद वेगसे गदा लेकर उत्तम रथसे कूद पडे ॥ ६०—६३ ॥

गदापाणिं समायान्तं दैत्यं नारायणस्तदा । दृष्ट्वाऽथ पृष्ठतश्चक्रे नरं योद्धुमनाः स्वयम् ॥ ६४ ॥
ततो दितीशः सगदः समाद्रवत् सशार्ङ्गपाणिं तपसां निधानम् ।
ख्यातं पुराणर्षिमुदारविक्रमं नारायणं नारद लोकपालम् ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ऋषि नारायणने उस समय दैत्यको हाथमें गदा लिये अपनी ओर आते देखकर स्वयं युद्ध करनेकी इच्छासे नरको पीछे हटा दिया । नारदजी ! तब प्रह्लादजी गदा लेकर तपोनिधान, शार्ङ्गधनुषको धारण करनेवाले, प्रसिद्ध पुरातन ऋषि, महापराक्रमशाली, लोकपति नारायणकी ओर दौड़ पड़े ॥ ६४-६५ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

[अथाष्टमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

शार्ङ्गपाणिनमायान्तं दृष्ट्वाऽग्रे दानवेश्वरः । परिभ्राम्य गदां वेगात् मूर्ध्नि साध्यमताडयत् ॥ १ ॥
ताडितस्याथ गदया धर्मपुत्रस्य नारद । नेत्राभ्यामपतद् वारि वह्निवर्षनिभं भुवि ॥ २ ॥
मूर्ध्नि नारायणस्यापि सा गदा दानवार्पिता । जगाम शतधा ब्रह्मन्शैलशृङ्गे यथाऽशनिः ॥ ३ ॥
ततो निवृत्य दैत्येन्द्रः समास्थाय रथं द्रुतम् । आदाय कार्मुकं वीरस्तूणाद् बाणं समाददे ॥ ४ ॥

आठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लाद और नारायणका तुमुल युद्ध, भक्तिसे विजय)

पुलस्त्यजी बोले—प्रह्लादने जब हाथमें शार्ङ्गधनुष लिये भगवान् नारायणको सामनेसे आते देखा तो अपनी गदा घुमाकर वेगसे उनके सिरपर प्रहार कर दिया । नारदजी ! गदासे प्रताडित होनेपर नारायणके नेत्रोंसे आगके स्फुलिंगके समान आँसू पृथ्वीपर गिरने लगे । ब्रह्मन् ! पर्वतकी चोटीपर गिरकर जैसे वज्र टूट जाता है, उसी प्रकार दानवद्वारा नारायणके सिरपर चलायी गयी वह गदा भी सैकड़ों टुकड़े हो गयी । उसके बाद शीघ्रतापूर्वक लौटकर वीर दैत्येन्द्रने रथपर आरूढ हो धनुष लेकर अपनी तरकससे बाण निकाल लिया ॥ १–४ ॥

आनम्य चापं वेगेन गार्ध्रपत्राञ्छिलीमुखान् । मुमोच साध्याय तदा क्रोधान्धकारिताननः ॥ ५ ॥
तानापतत एवाशु बाणांश्चन्द्रार्द्धसन्निभान् । चिच्छेद बाणैरपरैर्निर्बिभेद च दानवम् ॥ ६ ॥
ततो नारायणं दैत्यो दैत्यं नारायणः शरैः । आविध्येतां तदाऽन्योन्यं मर्मभिद्भिरजिह्मगैः ॥ ७ ॥
ततोऽम्बरे संनिपातो देवानामभवन्मुने । दिदृक्षूणां तदा युद्धं लघु चित्रं च सुष्ठु च ॥ ८ ॥

फिर क्रोधान्ध प्रह्लादने शीघ्रतासे धनुषको चढ़ाकर गृध्रके पंखवाले अनेक बाणोंको नारायणकी ओर चलाया । नारायणने भी बड़ी शीघ्रतासे अपनी ओर आ रहे उन अर्धचन्द्र-तुल्य बाणोंको अपने बाणोंसे काट डाला और कुछ दूसरे बाणोंसे प्रह्लादको विद्ध कर दिया । तब दैत्यने नारायणको और नारायणने दैत्यको—एक-दूसरेको—मर्मभेदी एवं सीधे चलनेवाले बाणोंसे बेध दिया । मुने ! उस समय शीघ्रतापूर्वक हो रहे इस कौशलयुक्त विचित्र एवं सुन्दर युद्धको देखनेकी इच्छावाले देवताओंका समूह आकाशमें एकत्र हो गया ॥ ५–८ ॥

ततः सुराणां दुन्दुभयस्त्ववाद्यन्त महास्वनाः । पुष्पवर्षमनौपम्यं मुमुचुः साध्यदैत्ययोः ॥ ९ ॥
ततः पश्यत्सु देवेषु गगनस्थेषु तावुभौ । अयुध्येतां महेष्वासौ प्रेक्षकप्रीतिवर्द्धनम् ॥ १० ॥

ववन्धतुस्तदाकाशं तावुभौ शरवृष्टिभिः। दिशश्च विदिशश्चैवच्छादयेतां शरोत्करैः ॥ ११ ॥
ततो नारायणश्चापं समाकृष्य महामुने। विभेद मार्गणैस्तीक्ष्णैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥ १२ ॥
तथा दैत्येश्वरः क्रुद्धश्चापमानम्य वेगवान्। विभेद हृदये बाह्वोर्वदने च नरोत्तमम् ॥ १३ ॥

उसके बाद बडे जोरसे बजनेवाले नगाड़ोंको बजाकर देवताओंने भगवान् नारायणके और दैत्यके ऊपर अनुपमरूपमें पुष्पोंकी वर्षा की। फिर उन दोनों धनुर्धारियोंने आकाशमें स्थित देवताओंके सामने दर्शकोंको आनन्द देनेवाला (दिलचस्प) अनूठा युद्ध किया। उस समय उन दोनोंने बाणोंकी वृष्टिसे आकाशको मानो बाँध दिया और बाणवृष्टिसे दिशाओं एवं विदिशाओंको ढक दिया। महामुनि नारदजी ! तब नारायणने धनुषको खींचकर तेज बाणोंसे प्रह्लादके सभी मर्मस्थलोंमें प्रहार किया और फुर्तीवाले दैत्येश्वरने क्रोधपूर्वक धनुषको चढ़ाकर नरोत्तमके हृदय, दोनों भुजाओं और मुँहको भी (बाणोंसे) वेध दिया ॥ ९—१३ ॥

ततोऽस्यतो दैत्यपतेः कार्मुकं मुष्टिबन्धनात्। चिच्छेदैकेन बाणेन चन्द्रार्धाकारवर्चसा ॥ १४ ॥
अपास्यत धनुश्छिन्नं चापमादाय चापरम्। अधिज्यं लाघवात् कृत्वा ववर्ष निशिताञ्छरान् ॥ १५ ॥
तानप्यस्य शरान् साध्यश्छित्त्वा बाणैरवारयत्। कार्मुकं च क्षुरप्रेण चिच्छेद पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥
छिन्नं छिन्नं धनुर्दैत्यस्त्वन्यदन्यत्समाददे। समादत्ते तदा साध्यो मुने चिच्छेद लाघवात् ॥ १७ ॥

उसके बाद नारायणने बाण चला रहे प्रह्लादके धनुषके मुष्टिबन्धको अर्धचन्द्रके आकारवाले एक तेजस्वी बाणसे काट दिया। प्रह्लादने भी कटे धनुषको झट फेंककर दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और शीघ्र ही उसकी प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ाकर तेज बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। पर उसके उन शरोंको भी नारायणने बाणोंसे काटकर निवारित कर दिया और उन पुरुषोत्तमने तीक्ष्ण बाणसे उसके धनुषको भी काट डाला। नारदजी ! एक धनुषके छिन्न होनेपर दैत्यराजने बारम्बार दूसरा धनुष ग्रहण किया, किंतु नारायणने लिये हुए उन-उन धनुषोंको भी तुरंत काटकर गिरा दिया ॥ १४—१७ ॥

संछिन्नेष्वथ चापेषु जग्राह दितिजेश्वरः। परिघं दारुणं दीर्घं सर्वलोहमयं दृढम् ॥ १८ ॥
परिगृह्याथ परिघं भ्रामयामास दानवः। भ्राम्यमाणं स चिच्छेद नाराचेन महामुनिः ॥ १९ ॥
छिन्ने तु परिघे श्रीमान् प्रह्लादो दानवेश्वरः। मुद्गरं भ्राम्य वेगेन प्रचिक्षेप नराग्रजे ॥ २० ॥
तमापतन्तं बलवान् मार्गणैर्दशभिर्मुने। चिच्छेद दशधा साध्यः स छिन्नो न्यपतद् भुवि ॥ २१ ॥

फिर धनुषोंके कट जानेपर दैत्यपति प्रह्लादने एक भयंकर, मजबूत और लौह-(फौलाद-) से बने 'परिघ' नामक अस्त्रको उठा लिया। उसे लेकर वे दानव (प्रह्लाद) चारों ओर घुमाने लगे। उस घुमाये जाते हुए परिघको भी महामुनि नारायणने बाणसे काट दिया। उसके कट जानेपर श्रीमान् दनुजेश्वर प्रह्लादने पुनः एक मुद्गरको वेगसे घुमाकर उसे नारायणके ऊपर फेंका। नारदजी ! उस आते हुए मुद्गरको भी बलवान् नारायणने दस बाणोंसे दस भागोंमें काट दिया; वह नष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८—२१ ॥

मुद्गरे वितथे जाते प्रासमाविध्य वेगवान्। प्रचिक्षेप नराग्र्याय तं च चिच्छेद धर्मजः ॥ २२ ॥
प्रासे छिन्ने ततो दैत्यः शक्तिमादाय चिक्षिपे। तां च चिच्छेद बलवान् क्षुरप्रेण महातपाः ॥ २३ ॥
छिन्नेषु तेषु शस्त्रेषु दानवोऽन्यन्महद्धनुः। समादाय ततो बाणैरवतस्तार नारद ॥ २४ ॥
ततो नारायणो देवो दैत्यनाथं जगद्गुरुः। नाराचेन जघानाथ हृदये सुरतापसः ॥ २५ ॥

प्रह्लादने मुद्गरके विफल हो जानेपर 'प्राश' नामक अस्त्र लेकर बड़े जोरसे नरके बडे भाई नारायणके ऊपर चला दिया; पर उन्होंने उसे भी काट डाला। प्राशके नष्ट हो जानेपर दैत्यने तेज 'शक्ति' फेंकी, पर बलवान् महातपा नारायणने उसे भी अपने क्षुरप्रके द्वारा काट डाला। नारदजी! उन सभी अस्त्रोंके नष्ट हो जानेपर प्रह्लाद दूसरे विशाल धनुषको लेकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। तब परम तपस्वी जगद्गुरु नारायणदेवने प्रह्लादके हृदयमें नाराचसे प्रहार किया ॥ २२–२५ ॥

संभिन्नहृदयो ब्रह्मन् देवेनाद्भुतकर्मणा। निपपात रथोपस्थे तमपोवाह सारथिः ॥२६॥
स संज्ञां सुचिरेणैव प्रतिलभ्य दितीश्वरः। सुदृढं चापमादाय भूयो योद्धुमुपागतः ॥२७॥
तमागतं संनिरीक्ष्य प्रत्युवाच नराग्रजः। गच्छ दैत्येन्द्र योत्स्यामः प्रातस्त्वाह्निकमाचर ॥२८॥
एवमुक्तो दितीशस्तु साध्येनाद्भुतकर्मणा। जगाम नैमिषारण्यं क्रियां चक्रे तदाह्निकीम् ॥२९॥

नारदजी! अद्भुत पराक्रमी नारायणके प्रहारसे प्रह्लादका हृदय विंध गया, फलतः वे बेहोश होकर रथके पिछले भागमें गिर पडे। यह देखकर सारथी उन्हें वहाँसे हटाकर दूर ले गया। बहुत देरके बाद जब उन्हें चेतना प्राप्त हुई—होश आया, तब वे पुनः सुदृढ धनुष लेकर नर-नारायणसे युद्ध करनेके लिये संग्रामभूमिमें आ गये। उन्हें आया देख नारायणने कहा—दैत्येन्द्र! अब हम कल प्रातः युद्ध करेंगे; तुम भी जाओ, इस समय अपना नित्य कर्म करो। अद्भुत पराक्रमी श्रीनारायणके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद नैमिषारण्य चले गये और वहाँ अपने नित्य कर्म सम्पन्न किये ॥ २६–२९ ॥

एवं युध्यति देवे च प्रह्लादो ह्यसुरो मुने। रात्रौ चिन्तयते युद्धे कथं जेष्यामि दाम्भिकम् ॥ ३० ॥
एवं नारायणेनाऽसौ सहायुध्यत नारद। दिव्यं वर्षसहस्रं तु दैत्यो देवं न चाजयत् ॥ ३१ ॥
ततो वर्षसहस्रान्ते ह्यजिते पुरुषोत्तमे। पीतवाससमभ्येत्य दानवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३२ ॥
किमर्थं देवदेवेश साध्यं नारायणं हरिम्। विजेतुं नाऽद्य शक्नोमि एतन्मे कारणं वद ॥ ३३ ॥

नारदजी! इस प्रकार भगवान् नारायण एवं दानवेन्द्र प्रह्लाद—दोनोंमें युद्ध चलता रहा। रात्रिमें प्रह्लाद यह विचार किया करते थे कि मैं युद्धमें इन दम्भ करनेवाले ऋषिको कैसे जीतूँगा? नारदजी! इस प्रकार प्रह्लादने भगवान् नारायणके साथ एक हजार दिव्य वर्षोंतक युद्ध किया, परन्तु वे उन्हे (नारायणको) जीत न पाये। फिर हजार दिव्य वर्षोंके बीत जानेपर भी पुरुषोत्तम नारायणको न जीत सकनेपर प्रह्लादने वैकुण्ठमें जाकर पीतवस्त्रधारी भगवान् विष्णुसे कहा—देवेश! मैं (सरलतासे) साध्य नारायणको आजतक क्यों न जीत पाया, आप मुझे इसका कारण बतलायें ॥ ३०–३३ ॥

पीतवासा उवाच

दुर्जयोऽसौ महाबाहुस्त्वया प्रह्लाद धर्मजः। साध्यो विप्रवरो धीमान् मृधे देवासुरैरपि ॥ ३४ ॥

इसपर पीतवस्त्रधारी भगवान् विष्णु बोले—प्रह्लाद! महाबाहु धर्मपुत्र नारायण तुम्हारे द्वारा दुर्जेय हैं। वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ऋषि परम ज्ञानी हैं। वे सभी देवताओं एवं असुरोंसे भी युद्धमें नहीं जीते जा सकते ॥३४॥

प्रह्लाद उवाच

यद्यसौ दुर्जयो देव मया साध्यो रणाजिरे। तत्कथं यत्प्रतिज्ञातं तदसत्यं भविष्यति ॥ ३५ ॥
हीनप्रतिज्ञो देवेश कथं जीवेत मादृशः। तस्मात्तवाग्रतो विष्णो करिष्ये कायशोधनम् ॥ ३६ ॥

प्रह्लादने कहा—देव ! यदि ये साध्यदेव (नारायण) युद्धभूमिमें मुझसे जीते नहीं जा सकते हैं तो मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसका क्या होगा ? वह तो मिथ्या हो जायगी । देवेश ! मुझ-जैसा व्यक्ति हीनप्रतिज्ञ होकर कैसे जीवित रह सकेगा ? इसलिये हे विष्णु ! अब मैं आपके सामने अपने शरीरकी शुद्धि करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं देवाग्रे दानवेश्वरः । शिरःस्नातस्तदा तस्थौ गृणन् ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥
ततो दैत्यपतिं विष्णुः पीतवासाऽब्रवीद्वचः । गच्छ जेष्यसि भक्त्या तं न युद्धेन कथंचन ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान्‌से ऐसा कहकर दानवेश्वर प्रह्लाद सिरसे पैरतक स्नानकर वहाँ बैठ गये और 'ब्रह्म-गायत्री'का जप करने लगे । उसके बाद पीताम्बरधारी विष्णुने प्रह्लादसे कहा—हाँ, तुम जाओ, तुम उन्हें भक्तिसे जीत सकोगे, युद्धसे कथमपि नहीं ॥ ३७-३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

मया जितं देवदेव त्रैलोक्यमपि सुव्रत । जितोऽयं त्वत्प्रसादेन शक्रः किमुत धर्मजः ॥ ३९ ॥
असौ यद्यजयो देव त्रैलोक्येनापि सुव्रतः । न स्थातुं त्वत्प्रसादेन शक्यं किमु करोम्यज ॥ ४० ॥

प्रह्लादजी बोले—देवाधिदेव ! सुव्रत ! आपकी कृपासे मैंने तीनो लोकों तथा इन्द्रको भी जीत लिया है; इन धर्मपुत्रकी बात ही क्या है ? हे अज ! यदि ये सद्व्रती त्रिलोकीसे भी अजेय हैं तथा आपके प्रसादसे भी मैं उनके सामने नहीं ठहर सकता तो फिर मैं क्या करूँ ? ॥ ३९-४० ॥

पीतवासा उवाच

सोऽहं दानवशार्दूल लोकानां हितकाम्यया । धर्मं प्रवर्त्तयितुं तपश्चर्यां समास्थितः ॥ ४१ ॥
तस्माद्यदिच्छसि जयं तमाराधय दानव । तं पराजेष्यसे भक्त्या तस्माच्छुश्रूष धर्मजम् ॥ ४२ ॥

(इसपर) भगवान् विष्णु बोले—दानवश्रेष्ठ ! वस्तुतः नारायणरूपमें वहाँ मैं ही हूँ । मैं ही जगत्‌की भलाईकी इच्छासे धर्मप्रवर्तनके लिये उस रूपमें तप कर रहा हूँ । इसलिये प्रह्लाद ! यदि तुम विजय चाहते हो तो मेरे उस रूपकी आराधना करो । तुम नारायणको भक्तिद्वारा ही पराजित कर सकोगे । इसलिये धर्मपुत्र नारायणकी आराधना करो—इसी अर्थमें वे सुसाध्य हैं ॥ ४१-४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्तः पीतवासेन दानवेन्द्रो महात्मना । अब्रवीद्वचनं हृष्टः समाहूयाऽन्धकं मुने ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद प्रसन्न हो गये । उन्होने फिर अन्धकको बुलाकर इस प्रकार कहा॥ ४३ ॥

प्रह्लाद उवाच

दैत्याश्च दानवाश्चैव परिपाल्यास्त्वयान्धक । मयोत्सृष्टमिदं राज्यं प्रतीच्छस्व महाभुज ॥ ४४ ॥
इत्येवमुक्तो जग्राह राज्यं हैरण्यलोचनिः । प्रह्लादोऽपि तदाऽगच्छत् पुण्यं बदरिकाश्रमम् ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वा नारायणं देवं नरं च दितिजेश्वरः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा ववन्दे चरणौ तयोः ॥ ४६ ॥
तमुवाच महातेजा वाक्यं नारायणोऽव्ययः । किमर्थं प्रणतोऽसीह मामजित्वा महासुर ॥ ४७ ॥

प्रह्लादजी बोले—अन्धक ! तुम दैत्यों और दानवोंका प्रतिपालन करो । महाबाहो ! मैं यह राज्य छोड़ रहा हूँ । इसे तुम ग्रहण करो । इस प्रकार कहनेपर जब हिरण्याक्षके पुत्रने राज्यको स्वीकार कर लिया,

तब प्रह्लाद पवित्र बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ उन्होंने भगवान् नारायण तथा नरको देखकर हाथ जोडकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। महातेजस्वी भगवान् नारायणने उनसे कहा—महासुर! मुझे विना जीते ही अब तुम क्यों प्रणाम कर रहे हो? ॥ ४४-४७ ॥

प्रह्लाद उवाच

कस्त्वां जेतुं प्रभो शक्तः कस्त्वत्तः पुरुषोऽधिकः। त्वं हि नारायणोऽनन्तः पीतवासा जनार्दनः ॥ ४८ ॥
त्वं देवः पुण्डरीकाक्षस्त्वं विष्णुः शार्ङ्गचापधृक्। त्वमव्ययो महेशानः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥ ४९ ॥
त्वां योगिनश्चिन्तयन्ति चार्चयन्ति मनीषिणः। जपन्ति स्नातकास्त्वां च यजन्ति त्वां च याज्ञिकाः॥ ५० ॥
त्वमच्युतो हृषीकेशश्चक्रपाणिर्धराधरः। महामीनो हयशिरास्त्वमेव वरकच्छपः ॥ ५१ ॥

प्रह्लाद बोले—प्रभो! आपको भला कौन जीत सकता है? आपसे बढ़कर कौन हो सकता है? आप ही अनन्त नारायण पीताम्बरधारी जनार्दन हैं। आप ही कमलनयन शार्ङ्गधनुषधारी विष्णु हैं। आप अव्यय, महेश्वर तथा शाश्वत परम पुरुषोत्तम हैं। योगिजन आपका ही ध्यान करते हैं। विद्वान् पुरुष आपकी ही पूजा करते हैं। वेदज्ञ आपके नामका जप करते है तथा याज्ञिकजन आपका यजन करते हैं। आप ही अच्युत, हृषीकेश, चक्रपाणि, धराधर, महामत्स्य, हयग्रीव तथा श्रेष्ठ कच्छप (कूर्म) अवतारी हैं ॥ ४८—५१ ॥

हिरण्याक्षरिपुः श्रीमान् भगवानथ सूकरः। मत्पितुर्नाशनकरो भवानपि नृकेसरी ॥ ५२ ॥
ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽमरराड् हुताशः प्रेताधिपो नीरपतिः समीरः।
सूर्यो मृगाङ्कोऽचलजङ्गमाद्यो भवान् विभो नाथ खगेन्द्रकेतो ॥५३॥
त्वं पृथ्वी ज्योतिराकाशं जलं भूत्वा सहस्रशः। त्वया व्याप्तं जगत्सर्वं कस्त्वां जेष्यति माधव ॥ ५४ ॥
भक्त्या यदि हृषीकेश तोषमेषि जगद्गुरो। नान्यथा त्वं प्रशक्योऽसि जेतुं सर्वगताव्यय ॥ ५५ ॥

आप हिरण्याक्ष दैत्यको वध करनेवाले ऐश्वर्य-युक्त और भगवान् आदि वाराह हैं। आप ही मेरे पिताको मारनेवाले भगवान् नृसिंह हैं। आप ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण और वायु हैं। हे स्वामिन्! हे खगेन्द्रकेतु (गरुड़ध्वज)! आप सूर्य, चन्द्र तथा स्थावर और जंगमके आदि है। पृथ्वी, अग्नि, आकाश और जल आप ही हैं। सहस्रों रूपोंसे आपने समस्त जगत्को व्याप्त किया है। माधव! आपको कौन जीत सकेगा? जगद्गुरो! हृषीकेश! आप भक्तिसे ही संतुष्ट हो सकते हैं। हे सर्वगत! हे अविनाशिन्! आप दूसरे किसी भी अन्य प्रकारसे नहीं जीते जा सकते ॥ ५२—५५ ॥

भगवानुवाच

परितुष्टोऽस्मि ते दैत्य स्तवेनानेन सुव्रत। भक्त्या त्वनन्यया चाहं त्वया दैत्य पराजितः ॥ ५६ ॥
पराजितश्च पुरुषो दैत्य दण्डं प्रयच्छति। दण्डार्थं ते प्रदास्यामि वरं वृणु यमिच्छसि ॥ ५७ ॥

श्रीभगवान् बोले—सुव्रत! दैत्य! तुम्हारी इस स्तुतिसे मैं अत्यन्त संतुष्ट हूँ। दैत्य! अनन्य भक्तिसे तुमने मुझे जीत लिया है। प्रह्लाद! पराजित पुरुष विजेताको दण्ड (-के रूपमें कुछ) देता है। परन्तु मैं तुम्हारे दण्डके बदले तुम्हें वर दूँगा; तुम इच्छित वर माँगो ॥ ५६—५७ ॥

प्रह्लाद उवाच

नारायण वरं याचे यं त्वं मे दातुमर्हसि। तन्मे पापं लयं यातु शारीरं मानसं तथा ॥ ५८ ॥
वाचिकं च जगन्नाथ यत्त्वया सह युध्यतः। नरेण यद्यप्यभवद् वरमेतत्प्रयच्छ मे ॥ ५९ ॥

प्रह्लादजी बोले—हे नारायण ! मैं आपसे वर माँग रहा हूँ; आप उसे देनेकी कृपा करें । हे जगन्नाथ ! आपके तथा नरके साथ युद्ध करनेमें मेरे शरीर, मन और वाणीसे जो भी पाप (अपकर्म) हुआ हो वह सब नष्ट हो जाय । आप मुझे यही वर दें ॥ ५८–५९ ॥

नारायण उवाच

एवं भवतु दैत्येन्द्र पापं ते यातु संक्षयम् । द्वितीयं प्रार्थय वरं तं ददामि तवासुर ॥ ६० ॥

नारायणने कहा—दैत्येन्द्र ! ऐसा ही होगा । तुम्हारा पाप नष्ट हो जाय । अब प्रह्लाद ! तुम दूसरा एक वर और माँग लो, मैं उसे भी तुम्हें दूँगा ॥ ६० ॥

प्रह्लाद उवाच

या या जायेत मे बुद्धिः सा सा विष्णो त्वदाश्रिता । देवार्चने च निरता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ॥ ६१ ॥

प्रह्लादजी बोले—हे भगवन् ! मेरी जो भी बुद्धि हो, वह आपसे ही सम्बद्ध हो, वह देवपूजामें लगी रहे । मेरी बुद्धि, आपका ही ध्यान करे और आपके चिन्तनमें लगी रहे । ॥ ६१ ॥

नारायण उवाच

एवं भविष्यत्यसुर वरमन्यं यमिच्छसि । तं वृणीष्व महाबाहो प्रदास्याम्यविचारयन् ॥ ६२ ॥

नारायणने कहा—प्रह्लाद ! ऐसा ही होगा । पर हे महाबाहो ! तुम एक और अन्य वर भी, जो तुम चाहो, माँगो । मैं बिना विचारे ही—बिना देय-अदेयका विचार किये ही—वह भी तुम्हें दूँगा ॥ ६२ ॥

प्रह्लाद उवाच

सर्वमेव मया लब्धं त्वत्प्रसादादधोक्षज । त्वत्पादपङ्कजाभ्यां हि ख्यातिरस्तु सदा मम ॥ ६३ ॥

प्रह्लादने कहा—अधोक्षज ! आपके अनुग्रहसे मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया । आपके चरणकमलोंसे मैं सदा लगा रहूँ और ऐसी ही मेरी प्रसिद्धि भी हो अर्थात् मैं आपके भक्तके रूपमें ही चर्चित होऊँ ॥ ६३ ॥

नारायण उवाच

एवमस्त्वपरं चास्तु नित्यमेवाक्षयोऽव्ययः । अजरश्चामरश्चापि मत्प्रसादाद् भविष्यसि ॥ ६४ ॥
गच्छस्व दैत्यशार्दूल स्वमावासं क्रियारतः । न कर्मबन्धो भवतो मच्चित्तस्य भविष्यति ॥ ६५ ॥
प्रशासयदमून् दैत्यान् राज्यं पालय शाश्वतम् । स्वजातिसदृशं दैत्य कुरु धर्ममनुत्तमम् ॥ ६६ ॥

नारायणने कहा—ऐसा ही होगा । इसके अतिरिक्त मेरे प्रसादसे तुम अक्षय, अविनाशी, अजर और अमर होगे । दैत्यश्रेष्ठ ! अब तुम अपने घर जाओ और सदा (धर्म) कार्यमें रत रहो । मुझमें मन लगाये रखनेसे तुम्हें कर्मबन्धन नहीं होगा । इन दैत्योंपर शासन करते हुए तुम शाश्वत (सदा बने रहनेवाले) राज्यका पालन करो । दैत्य ! अपनी जातिके अनुकूल श्रेष्ठ धर्मोंका अनुष्ठान करो ॥ ६४-६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन प्रह्लादो देवमब्रवीत् । कथं राज्यं समादास्ये परित्यक्तं जगद्गुरो ॥ ६७ ॥
तमुवाच जगत्स्वामी गच्छ त्वं निजमाश्रयम् । हितोपदेष्टा दैत्यानां दानवानां तथा भव ॥ ६८ ॥
नारायणेनैवमुक्तः स तदा दैत्यनायकः । प्रणिपत्य विभुं तुष्टो जगाम नगरं निजम् ॥ ६९ ॥
दृष्टः सभाजितश्चापि दानवैरन्धकेन च । निमन्त्रितश्च राज्याय न प्रत्यैच्छत्स नारद ॥ ७० ॥

राज्यं परित्यज्य महाऽसुरेन्द्रो नियोजयन् सत्पथि दानवेन्द्रान् ।
ध्यायन् स्मरन् केशवमप्रमेयं तस्थौ तदा योगविशुद्धदेहः ॥ ७१ ॥

एवं पुरा नारद दानवेन्द्रो नारायणेनोत्तमपूरुषेण।
पराजितश्चापि विसृज्य राज्यं तस्थौ मनो धातरि सन्निवेश्य ॥७२॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—लोकनाथके ऐसा कहनेपर प्रह्लादने भगवान्‌से कहा—जगद्गुरो ! अब मैं छोड़े हुए राज्यको कैसे ग्रहण करूँ ? इसपर भगवान्‌ने उनसे कहा—तुम अपने घर जाओ तथा दैत्यों एवं दानवोंको कल्याणकारी बातोंका उपदेश करो। नारायणके ऐसा कहनेपर वे दैत्यनायक (प्रह्लाद) परमेश्वरको प्रणाम कर प्रसन्नतापूर्वक अपने नगर निवास-स्थानको चले गये। नारदजी ! अन्धक तथा दानवोंने प्रह्लादको देखा एवं उनका सम्मान किया और उन्हें राज्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोधित किया; किंतु उन्होंने राज्य स्वीकार नहीं किया। दैत्येश्वर प्रह्लाद राज्यको छोड़ अपने उपदेशोंसे दानव-श्रेष्ठोंको शुभ मार्गमें नियोजित तथा भगवान् नारायणका ध्यान और स्मरण करते हुए योगके द्वारा शुद्ध शरीर होकर विराजित हुए। नारदजी ! इस प्रकार पहले पुरुषोत्तम नारायणद्वारा पराजित दानवेन्द्र प्रह्लाद राज्य छोड़कर भगवान् नारायणके ध्यानमें लीन होकर शान्त एवं सुस्थिर हुए थे ॥ ६७-७२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

[अथ नवमोऽध्यायः]

नारद उवाच

नेत्रहीनः कथं राज्ये प्रह्लादेनान्धको मुने। अभिषिक्तो जानताऽपि राजधर्मं सनातनम् ॥ १ ॥

नवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकासुरकी विजिगीषा, देवों और असुरोंके वाहनों एवं युद्धका वर्णन)

नारदजीने कहा—मुने ! प्रह्लादजी सनातन राजधर्मको भलीभाँति जानते थे।, ऐसी दशामें उन्होंने नेत्रहीन अन्धकको राजगद्दीपर कैसे बैठाया ? ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

लब्धचक्षुरसौ भूयो हिरण्याक्षेऽपि जीवति। ततोऽभिषिक्तो दैत्येन प्रह्लादेन निजे पदे ॥ २ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिरण्याक्षके जीवनकालमें ही अन्धकको पुनः दृष्टि प्राप्त हो गयी थी, अतः दैत्यवर्य प्रह्लादने उसे अपने पदपर अभिषिक्त किया था ॥ २ ॥

नारद उवाच

राज्येऽन्धकोऽभिषिक्तस्तु किमाचरत सुव्रत। देवादिभिः सह कथं समास्ते तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—सुव्रत ! मुझे यह बतलाइये कि अन्धकने राज्यपर अभिषिक्त होनेपर क्या-क्या किया तथा वह देवताओ आदिके साथ कैसा व्यवहार करता था ॥ ३ ॥

पुलस्त्य उवाच

राज्येऽभिषिक्तो दैत्येन्द्रो हिरण्याक्षसुतोऽन्धकः। तपसाराध्य देवेशं शूलपाणिं त्रिलोचनम् ॥ ४ ॥
अजेयत्वमवध्यत्वं सुरसिद्धर्षिपन्नगैः। अदाह्यत्वं हुताशेन अक्लेद्यत्वं जलेन च ॥ ५ ॥

एवं स वरलब्धस्तु दैत्यो राज्यमपालयत्। शुक्रं पुरोहितं कृत्वा समध्यास्ते ततोऽन्धकः ॥ ६ ॥
ततश्चक्रे समुद्योगं देवानामन्धकोऽसुरः। आक्रम्य वसुधां सर्वां मनुजेन्द्रान् पराजयत् ॥ ७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिरण्याक्षके पुत्र दैत्यराज अन्धकने राज्य प्राप्त करके तपस्याद्वारा शूलपाणि भगवान् शंकरकी आराधना की और उनसे देवता, सिद्ध, ऋषि एवं नागोंद्वारा नहीं जीते जाने और नहीं मारे जानेका वर प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार वह अग्निके द्वारा न जलने, जलसे न भीगने आदिका भी वरदान प्राप्त कर राज्यका संचालन कर रहा था। उसने शुक्राचार्यको अपना पुरोहित बना लिया था। फिर अन्धकासुरने देवताओंको जीतनेका उपक्रम (आरम्भ) किया और उन्हें जीतकर सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया—सभी श्रेष्ठ राजाओंको परास्त कर दिया ॥ ४—७ ॥

पराजित्य महीपालान् सहायार्थे नियोज्य च। तैः समं मेरुशिखरं जगामाद्भुतदर्शनम् ॥ ८ ॥
शक्रोऽपि सुरसैन्यानि समुद्योज्य महागजम्। समारुह्यामरावत्यां गुप्तिं कृत्वा विनिर्ययौ ॥ ९ ॥
शक्रस्यानु तथैवान्ये लोकपाला महौजसः। आरुह्य वाहनं स्वं स्वं सायुधा निर्ययुर्बहिः ॥ १० ॥
देवसेनाऽपि च समं शक्रेणाद्भुतकर्मणा। निर्जगामातिवेगेन गजवाजिरथादिभिः ॥ ११ ॥
अग्रतो द्वादशादित्याः पृष्ठतश्च त्रिलोचनाः।
मध्येऽष्टौ वसवो विश्वे साध्याश्विमरुतां गणाः। यक्षविद्याधराद्याश्च स्वं स्वं वाहनमास्थिताः ॥ १२ ॥

उसने सभी राजाओंको पराजित कर उन्हें (सामन्त बनाकर) अपनी सहायतामें नियुक्त कर दिया। फिर उनके साथ वह सुमेरुगिरि पर्वतको देखनेके लिये उसके अद्भुत शिखरपर गया। इधर इन्द्र भी देव-सेनाको तैयारकर और अमरावतीमें सुरक्षाकी व्यवस्था कर अपने ऐरावत हाथीपर सवार होकर युद्धके लिये बाहर निकले। इसी प्रकार दूसरे तेजस्वी लोकपालगण भी अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर तथा अपने अस्त्र लेकर इन्द्रके पीछे-पीछे चल पड़े। हाथी, घोड़े, रथ आदिसे युक्त देवसेना भी बड़े अद्भुत पराक्रमी इन्द्रके साथ तेजीसे निकल पड़ी। सेनाके आगे-आगे बारहो आदित्य और उनके पृष्ठभागमें ग्यारह रुद्रगण थे। उसके मध्यमें आठो वसु, तेरहो विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, यक्ष, विद्याधर आदि अपने-अपने वाहनपर सवार होकर चल रहे थे ॥ ८—१२ ॥

नारद उवाच

रुद्रादीनां वदस्वेह वाहनानि च सर्वशः। एकैकस्यापि धर्मज्ञ परं कौतूहलं मम ॥ १३ ॥

नारदजीने पूछा—धर्मज्ञ! रुद्र आदिके वाहनोंका एक-एक कर पूरी तरह वर्णन कीजिये। इस विषयमें मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ १३ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि सर्वेषामपि नारद। वाहनानि समासेन एकैकस्यानुपूर्वशः ॥ १४ ॥
रुद्रहस्ततलोत्पन्नो महावीर्यो महाजवः। श्वेतवर्णो गजपतिर्देवराजस्य वाहनम् ॥ १५ ॥
रुद्रोरुसंभवो भीमः कृष्णवर्णो मनोजवः। पौण्ड्रको नाम महिषो धर्मराजस्य नारद ॥ १६ ॥
रुद्रकर्णमलोद्भवः श्यामो जलधिसंज्ञकः। शिशुमारो दिव्यगतिः वाहनं वरुणस्य च ॥ १७ ॥
रौद्रः शकटचक्राक्षः शैलाकारो नरोत्तमः। अम्बिकापादसंभूतो वाहनं धनदस्य तु ॥ १८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! सुनिये; मैं एक-एक करके क्रमशः सभी देवताओंके वाहनोंका संक्षेपमें वर्णन करता हूँ। रुद्रके करतलसे उत्पन्न अति पराक्रमवाला, अति तीव्रगतिवाला, श्वेत वर्णका ऐरावत हाथी देवराज-

(इन्द्र-) का वाहन है। हे नारद ! रुद्रके ऊरुसे उत्पन्न भयंकर कृष्णवर्णवाला एवं मनके सदृश गतिमान् पौण्ड्रक नामक महिष धर्मराजका वाहन है। रुद्रके कर्ण-मलसे उत्पन्न श्यामवर्णवाला दिव्यगतिशील जलधि नामक शिशुमार (सूँस) वरुणका वाहन है। अम्बिकाके चरणोंसे उत्पन्न गाड़ीके चक्केके समान भयंकर आँखवाला, पर्वताकार नरोत्तम कुबेरका वाहन है ॥ १४–१८ ॥

एकादशानां रुद्राणां वाहनानि महामुने।
गन्धर्वाश्च महावीर्या भुजगेन्द्राश्च दारुणाः। श्वेतानि सौरभेयाणि वृषाण्युग्रजवानि च ॥ १९ ॥
रथं चन्द्रमसश्चार्द्धसहस्रं हंसवाहनम्। हरयो रथवाहाश्च आदित्या मुनिसत्तम ॥ २० ॥
कुञ्जरस्थाश्च वसवो यक्षाश्च नरवाहनाः। किन्नरा भुजगारूढा हयारूढौ तथाश्विनौ ॥ २१ ॥
सारङ्गाधिष्ठिता ब्रह्मन् मरुतो घोरदर्शनाः। शुकारूढाश्च कवयो गन्धर्वाश्च पदातिनः ॥ २२ ॥

हे महामुने ! एकादश रुद्रोंके वाहन महापराक्रमशाली गन्धर्वगण, भयंकर सर्पराजगण तथा सुरभिके अंशसे उत्पन्न तीव्रगतिवाले सफेद बैल हैं। मुनिश्रेष्ठ ! चन्द्रमाके रथके खींचनेवाले आधे हजार (पाँच सौ) हंस हैं। आदित्योंके रथके वाहन घोड़े हैं। वसुओंके वाहन हाथी, यक्षोंके वाहन नर, किन्नरोंके वाहन सर्प एवं अश्विनी-कुमारोंके वाहन घोड़े हैं। ब्रह्मन् ! भयंकर दीखनेवाले मरुद्गणोंके वाहन हरिण हैं, भृगुओंके वाहन शुक हैं और गन्धर्वलोग पैदल ही चलते हैं ॥ १९–२२ ॥

आरुह्य वाहनान्येवं स्वानि स्वान्यमरोत्तमाः। संनह्य निर्ययुर्हृष्टा युद्धाय सुमहौजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार बड़े तेजस्वी श्रेष्ठ देवगण अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ एवं सन्नद्ध (तैयार) होकर प्रसन्नता-पूर्वक युद्धके लिये निकल पड़े ॥ २३ ॥

नारद उवाच

गदितानि सुरादीनां वाहनानि त्वया मुने। दैत्यानां वाहनान्येवं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

नारदने कहा— मुने ! आपने देवादिकोंके वाहनोंका वर्णन किया; इसी प्रकार अब असुरोंके वाहनोंका भी यथावत् वर्णन करें ॥ २४ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व दानवादीनां वाहनानि द्विजोत्तम। कथयिष्यामि तत्त्वेन यथावच्छ्रोतुमर्हसि ॥ २५ ॥
अन्धकस्य रथो दिव्यो युक्तः परमवाजिभिः। कृष्णवर्णैः सहस्रारस्त्रिनल्वपरिमाणवान् ॥ २६ ॥
प्रह्लादस्य रथो दिव्यश्चन्द्रवर्णैर्हयोत्तमैः। उह्यमानस्तथाऽष्टाभिः श्वेतरुक्ममयः शुभः ॥ २७ ॥
विरोचनस्य च गजः कुजम्भस्य तुरंगमः। जम्भस्य तु रथो दिव्यो हयैः काञ्चनसन्निभैः ॥ २८ ॥

पुलस्त्यजी बोले— द्विजोत्तम ! (अब) दानवोंके वाहनको सुनो। मैं तत्त्वतः उनका ठीक-ठीक वर्णन करता हूँ। अन्धकका अलौकिक रथ कृष्णवर्णके श्रेष्ठ अश्वोंसे परिचालित होता था। वह हजार अरों—पहियेकी नाभि और नेमिके बीचकी लकड़ियोंसे युक्त बारह सौ हाथोंका परिमाणवाला था। प्रह्लादका दिव्य रथ सुन्दर एवं सुवर्ण-रजत-मण्डित था। उसमें चन्द्रवर्णवाले आठ उत्तम घोड़े जुते हुए थे। विरोचनका वाहन हाथी था एवं कुजम्भ घोड़ेपर सवार था। जम्भका दिव्य रथ स्वर्णवर्णके घोड़ोंसे युक्त था ॥ २५—२८ ॥

शङ्कुकर्णस्य तुरगो हयग्रीवस्य कुञ्जरः।
रथो मयस्य विख्यातो दुन्दुभेश्च महोरगः। शम्बरस्य विमानोऽभूदयःशङ्कोर्मृगाधिपः ॥ २९ ॥
बलवृत्रौ च बलिनौ गदामुसलधारिणौ। पद्भ्यां दैवतसैन्यानि अभिद्रवितुमुद्यतौ ॥ ३० ॥

ततो रणोऽभूत् तुमुलः संकुलोऽतिभयंकरः। रजसा संवृतो लोको पिङ्गवर्णेन नारद ॥ ३१ ॥
नाज्ञासीच्च पिता पुत्रं न पुत्रः पितरं तथा। स्वानेवान्ये निजघ्नुर्वै परानन्ये च सुव्रत ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार शकुकर्णका वाहन घोडा, हयग्रीवका हाथी और मय दानवका वाहन दिव्य रथ था। दुन्दुभिका वाहन विशाल नाग था। शम्बर विमानपर चढा हुआ था तथा अयःशंकु सिंहपर सवार था। गदा और मुसलधारी बलवान् बल और वृत्र पैदल थे; पर देवताओंकी सेनापर चढाई करनेके लिये उद्यत थे। फिर अति भयङ्कर घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। नारदजी! समस्त लोक पीली धूलसे ढक गया, जिससे पिता पुत्रको और पुत्र पिताको भी परस्पर एक-दूसरेको पहचान नहीं पाते थे। सुव्रत! कुछ लोग अपने ही पक्षके लोगोंको तथा कुछ लोग विरोधी पक्षके लोगोंको मारने लगे ॥ २९—३२ ॥

अभिद्रुतो महावेगो रथोपरि रथस्तदा। गजो मत्तगजेन्द्रं च सादी सादिनमभ्यगात् ॥ ३३ ॥
पदातिरपि संक्रुद्धः पदातिनमथोल्बणम्। परस्परं तु प्रत्यघ्नन्नन्योन्यजयकाङ्क्षिणः ॥ ३४ ॥
ततस्तु संकुले तस्मिन् युद्धे दैवासुरे मुने। प्रावर्तत नदी घोरा शमयन्ती रणाद्रजः ॥ ३५ ॥
शोणितोदा रथावर्त्ता योधसंघट्टवाहिनी। गजकुम्भमहाकूर्मा शरमीना दुरत्यया ॥ ३६ ॥

उस युद्धमें रथके ऊपर रथ और हाथीके ऊपर हाथी टूट पड़े तथा घुड़सवार घुड़सवारोंकी ओर वेगसे आक्रमण करने लगे। इसी प्रकार पादचारी (पैदल) सैनिक क्रुद्ध होकर अन्य बलशाली पैदलोंपर चढ़ बैठे। इस प्रकार एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे सभी परस्पर प्रहार करने लगे। मुने! उसके बाद देवताओं और असुरोंके उस घोर संग्राममें,युद्धसे उत्पन्न धूलिको शान्त करती हुई रक्तरूपी जल-धारावाली एवं रथरूपी भँवरवाली और योद्धाओंके समूहको बहा ले जानेवाली एवं गजकुम्भरूपी महान् कूर्म तथा शररूपी मीनसे युक्त बड़ी भारी नदी बह चली॥ ३३—३६॥

तीक्ष्णाग्रप्रासमकरा महासिग्राहवाहिनी। अन्त्रशैवालसंकीर्णा पताकाफेनमालिनी ॥ ३७ ॥
गृध्रकङ्कमहाहंसा श्येनचक्राह्वमण्डिता। वनवायसकादम्बा गोमायुश्वापदाकुला ॥ ३८ ॥
पिशाचमुनिसंकीर्णा दुस्तरा प्राकृतैर्जनैः। रथप्लवैः संतरन्तः शूरास्तां प्रजगाहिरे ॥ ३९ ॥
आगुल्फादवमज्जन्तः सूदयन्तः परस्परम्। समुत्तरन्तो वेगेन योधा जयधनेप्सवः ॥ ४० ॥

उस नदीमें तेज धारवाले प्रास (एक प्रकारका अस्त्र) ही मकर थे, बड़ी-बड़ी तलवारें ही ग्राह थीं, उसमें आँतें ही शैवाल, पताका ही फेन, गृध्र एवं कङ्क पक्षी महाशंख, बाज ही चक्रवाक और जंगली कौवे ही मानो कलहंस थे। वह नदी शृगालरूपी हिंस्र एवं पिशाचरूपी मुनियोंसे संकीर्ण थी और साधारण मनुष्योंसे दुस्तर थी। जयरूप धनकी इच्छावाले शूर योद्धा लोग घुटनोंतक डूबते और एक दूसरेको मारते हुए रथरूपी नौकाओंद्वारा उस नदीको वेगसे पार कर रहे थे ॥ ३७—४० ॥

ततस्तु रौद्रे सुरदैत्यसादने महाहवे भीरुभयंकरेऽथ।
रक्षांसि यक्षाश्च सुसंप्रहृष्टाः पिशाचयूथास्त्वगिरेगिरे च ॥ ४१ ॥
पिबन्त्यसृग्गाढतरं भटानामालिङ्गय मांसानि च भक्षयन्ति।
वसां विलुम्पन्ति च विस्फुरन्ति गर्जन्त्यथान्योन्यमथो वयांसि ॥ ४२ ॥
मुञ्चन्ति फेत्काररवाञ्शिवाश्च क्रन्दन्ति योधा भुवि वेदनार्त्ताः।
शस्त्रप्रतप्ता निपतन्ति चान्ये युद्धं श्मशानप्रतिमं बभूव ॥ ४३ ॥
तस्मिञ्शिवाघोररवे प्रवृत्ते सुरासुराणां सुभयंकरे ह।
युद्धं बभौ प्राणपणोपविद्धं द्वन्द्वेऽतिशस्त्राक्षगतो दुरोदरः ॥ ४४ ॥

वह युद्ध डरपोकोंके लिये भयावना, देवों एवं दैत्योंका संहार करनेवाला तथा वस्तुतः अत्यन्त भयंकर था। उसमें यक्ष और राक्षस लोग अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे। पिशाचोका समूह भी प्रसन्न था। वे वीरोंके गाढ़े रुधिरका पान करते थे तथा (उनके शवोंका) आलिंगन कर मांसका भक्षण करते थे। पक्षी चर्बीको नोचते और उछलते थे एवं एक दूसरेके प्रति गर्जन करते थे। सियारिनें 'फेत्कार' शब्द कर रही थीं, भूमिपर पड़े हुए वेदनासे दुःखी योद्धा कराह रहे थे। कुछ लोग शस्त्रसे आहत होकर गिर रहे थे। युद्धभूमि मरघटके समान हो गयी थी। सियारिनोंके भंयकर शब्दसे युक्त देवासुर-संग्राम ऐसा लगता था, मानो युद्धमें निपुण योद्धालोग शस्त्ररूपी पाशा लेकर अपने प्राणोंकी बाजी लगाते हुए जुआ खेल रहे हैं ॥ ४१–४४ ॥

हिरण्यचक्षुस्तनयो रणेऽन्धको रथे स्थितो वाजिसहस्रयोजिते।
मत्तेभपृष्ठस्थितमुग्रतेजसं समेयिवान् देवपतिं शतक्रतुम् ॥ ४५ ॥
समापतन्तं महिषाधिरूढं यमं प्रतीच्छद् बलवान् दितीशः।
प्रह्लादनामा तुरगाष्टयुक्तं रथं समास्थाय समुद्यतास्त्रः ॥ ४६ ॥
विरोचनश्चापि जलेश्वरं त्वगाज्जम्भस्त्वथागाद् धनदं बलाढ्यम्।
वायुं समभ्येत्य च शम्बरोऽथ मयो हुताशं युयुधे मुनीन्द्र ॥ ४७ ॥
अन्ये हयग्रीवमुखा महाबला दितेस्तनूजा दनुपुङ्गवाश्च।
सुरान् हुताशार्कवसूरगेश्वरान् द्वन्द्वं समासाद्य महाबलान्विताः ॥ ४८ ॥

हिरण्याक्षका पुत्र अन्धक हजारों घोड़ोंसे युक्त रथपर आरुढ होकर मतवाले हाथीकी पीठपर स्थित महातेजस्वी देवराज इन्द्रके साथ जा भिड़ा। इधर आठ घोड़ोंसे युक्त रथपर आरूढ़ अस्त्र उठाये बलवान् दैत्यराज प्रह्लादने महिषपर सवार यमराजका सामना किया। नारदजी! उधर विरोचन वरुणदेवसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा तथा जम्भ बलशाली कुबेरकी ओर चला। शम्बर वायुदेवताके सामने जा खड़ा हुआ एवं मय अग्निके साथ युद्ध करने लगा। हयग्रीव आदि अन्यान्य महाबलवान् दैत्य तथा दानव अग्नि, सूर्य, अष्ट वसुओ तथा शेषनाग आदि देवताओंके साथ द्वन्द्व युद्ध करने लगे ॥ ४५–४८ ॥

गर्जन्त्यथान्योन्यमुपेत्य युद्धे चापानि कर्षन्त्यतिवेगिताश्च।
मुञ्चन्ति नाराचगणान् सहस्रश आगच्छ हे तिष्ठसि किं ब्रुवन्तः ॥ ४९ ॥
शरैस्तु तीक्ष्णैरतितापयन्तः शस्त्रैरमोघैरभिताडयन्तः।
मन्दाकिनीवेगनिभां वहन्तीं प्रवर्तयन्तो भयदां नदीं च ॥ ५० ॥
त्रैलोक्यमाकांक्षिभिरुग्रवेगैः सुरासुरैर्नारद संप्रयुद्धे।
पिशाचरक्षोगणपुष्टिवर्धनीमुत्तर्तुमिच्छद्भिरसृङ्नदी बभौ ॥ ५१ ॥
वाद्यन्ति तूर्याणि सुरासुराणां पश्यन्ति खस्था मुनिसिद्धसंघाः।
नयन्ति तानप्सरसां गणाग्र्या हता रणे येऽभिमुखास्तु शूराः ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

वे एक-दूसरेके साथ युद्ध करते हुए भीषण गर्जन कर रहे थे। वे वेगपूर्वक धनुष चढ़ा करके हजारो बाणोकी झड़ी लगाकर कहने लगे—अरे! आओ, आओ, रुक क्यो गये ! तेज बाणोकी वर्षा करते हुए तथा अमोघ शस्त्रोंसे प्रहार करते हुए उन लोगोंने गङ्गाके समान तीव्र वेगसे प्रवाहित होनेवाली, (किन्तु) भयंकर नदीको प्रवर्तित कर दिया। नारदजी! उस युद्धमे तीनों लोकोको चाहनेवाले उग्रवेगशाली देवता

एवं असुरगण पिशाचों एवं राक्षसोंकी पुष्टि बढ़ानेवाली शोणित-सरिताको पार करनेकी इच्छा कर रहे थे। उस समय देवता और दानवोंके बाजे बज रहे थे। आकाशमें स्थित मुनियों और सिद्धोंके समूह उस युद्धको देख रहे थे। जो वीर उस युद्धमें सम्मुख मारे गये थे, उन्हें अप्सराएँ सीधे स्वर्गमें लिये चली जा रही थीं ॥४९-५२॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

[अथ दशमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः प्रवृत्ते संग्रामे भीरूणां भयवर्धने। सहस्राक्षो महाचापमादाय व्यसृजच्छरान् ॥ १ ॥
अन्धकोऽपि महावेगं धनुराकृष्य भास्वरम्। पुरंदराय चिक्षेप शरान् बर्हिणवाससः ॥ २ ॥
तावन्योन्यं सुतीक्ष्णाग्रैः शरैः संनतपर्वभिः। रुक्मपुङ्खैर्महावेगैराजघ्नतुरुभावपि ॥ ३ ॥
ततः क्रुद्धः शतमखः कुलिशं भ्राम्य पाणिना। चिक्षेप दैत्यराजाय तं ददर्श तथान्धकः ॥ ४ ॥
आजघान च बाणौघैरस्त्रैः शस्त्रैः स नारद। तान् भस्मसात्तदा चक्रे नगानिव हुताशनः ॥ ५ ॥

दसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकके साथ देवताओंका युद्ध और अन्धककी विजय)

पुलस्त्यजी बोले—तत्पश्चात् भीरुओंके लिये भय बढ़ानेवाला समर आरम्भ हो गया। हजार नेत्रोंवाले इन्द्र अपने विशाल धनुषको लेकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। अन्धक भी अपने दीप्तिमान् धनुषको लेकर बड़े वेगसे मयूरपंख लगे बाणोंको इन्द्रपर छोड़ने लगा। वे दोनों एक-दूसरेको झुके हुए पर्वोवाले स्वर्णपंखयुक्त तथा महावेगवान् तीक्ष्ण बाणोंसे आहत कर दिया। फिर इन्द्रने क्रुद्ध होकर वज्रको अपने हाथसे घुमाकर उसे अंधकके ऊपर फेंका। नारदजी! अंधकने उसे आते देखा। उसने बाणों, अस्त्रों और शस्त्रोंसे उसपर प्रहार किया; पर अग्नि जिस प्रकार वनों, पर्वतों (या वृक्षों) को भस्म कर देती है, उसी प्रकार उस वज्रने उन सभी अस्त्रोंको भस्म कर डाला ॥ १-५ ॥

ततोऽतिवेगिनं वज्रं दृष्ट्वा बलवतां वरः। समाप्लुत्य रथात्तस्थौ भुवि बाहुसहायवान् ॥ ६ ॥
रथं सारथिना सार्धं साश्वध्वजसकूबरम्। भस्म कृत्वाथ कुलिशमन्धकं समुपाययौ ॥ ७ ॥
तमापतन्तं वेगेन मुष्टिनाहत्य भूतले। पातयामास बलवाञ्जगर्ज च तदान्धकः ॥ ८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ अन्धक अति वेगवान् वज्रको आते देखकर रथसे कूदकर बाहुबलका आश्रय लेकर पृथ्वीपर खड़ा हो गया। वह वज्र सारथि, अश्व, ध्वजा एवं कूबरके साथ रथको भस्मकर अन्धकके पास पहुँच गया। उस- (वज्र-) को वेगपूर्वक आते देख बलवान् अन्धकने मुष्टिसे मारकर उसे भूमिपर गिरा दिया और गर्जन करने लगा ॥ ६-८ ॥

तं गर्जमानं वीक्ष्याथ वासवः सायकैर्दृढम्। ववर्ष तान् वारयन् स समभ्यायाच्छतक्रतुम् ॥ ९ ॥
आजघान तलेनेभं कुम्भमध्ये पदा करे। जानुना च समाहत्य विषाणं प्रबभञ्ज च ॥ १० ॥
वाममुष्ट्या तथा पार्श्वं समाहत्यान्धकस्त्वरन्। गजेन्द्रं पातयामास प्रहारैर्जर्जरीकृतम् ॥ ११ ॥
गजेन्द्रात् पतमानाच्च अवप्लुत्य शतक्रतुः। पाणिना वज्रमादाय प्रविवेशामरावतीम् ॥ १२ ॥

उसे इस प्रकार गरजते देखकर इन्द्रने उसके ऊपर जोरोंसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। अन्धक भी उनको निवारित करते हुए इन्द्रके पास पहुँच गया। उसने अपने हाथसे ऐरावत हाथीके सिरपर एवं अपने पैरसे सूँडपर प्रहार कर और घुटनोंसे दाँतोंपर प्रहार कर उन्हें तोड़ डाला। फिर अन्धकने बायीं मुट्ठीसे ऐरावतकी कमरपर शीघ्रतापूर्वक चोट मारकर उसे जर्जर कर गिरा दिया। इन्द्र भी हाथीसे नीचे गिरे जा रहे थे। वे झटसे कूदकर एवं हाथमें वज्र लेकर अमरावतीमें प्रविष्ट हो गये॥ ९–१२॥

पराङ्मुखे सहस्राक्षे तद् दैवतबलं महत्। पातयामास दैत्येन्द्रः पादमुष्टितलादिभिः॥ १३॥
ततो वैवस्वतो दण्डं परिभ्राम्य द्विजोत्तम। समभ्यधावत् प्रह्लादं हन्तुकामः सुरोत्तमः॥ १४॥
तमापतन्तं बाणौघैर्ववर्ष रविनन्दनम्। हिरण्यकशिपोः पुत्रश्चापमानम्य वेगवान्॥ १५॥
तां बाणवृष्टिमतुलां दण्डेनाहत्य भास्करिः। शातयित्वा प्रचिक्षेप दण्डं लोकभयंकरम्॥ १६॥

इन्द्रके रणसे विमुख हो जानेपर अन्धकने उस विशाल देव-सेनाको पैर, मुट्ठी एवं थप्पड़ो आदिसे मारकर गिरा दिया। नारदजी! इसके बाद देवश्रेष्ठ यमराज अपना दण्ड घुमाते हुए प्रह्लादको मारनेकी इच्छासे दौड़ पडे। यमराजको अपनी ओर आते देख प्रह्लादने भी अपने धनुषको चढ़ाकर फुर्तीसे बाण-समूहोंकी झडी लगा दी। यमराजने अपने दण्डके प्रहारसे उस अतुलनीय बाण-वृष्टिको व्यर्थ कर लोकभयकारी दण्ड चला दिया॥ १३–१६॥

स वायुपथमास्थाय धर्मराजकरे स्थितः। जज्वाल कालाग्निनिभो यद्वद् दग्धुं जगत्त्रयम्॥ १७॥
जाज्वल्यमानमायान्तं दण्डं दृष्ट्वा दितेः सुताः। प्राक्रोशन्ति हतः कष्टं प्रह्लादोऽयं यमेन हि॥ १८॥
तमाक्रन्दितमाकर्ण्य हिरण्याक्षसुतोऽन्धकः। प्रोवाच मामैष्ट मयि स्थिते कोऽयं सुराधमः॥ १९॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं वेगेनाभिससार च। जग्राह पाणिना दण्डं हसन् सव्येन नारद॥ २०॥

धर्मराजके हाथमें स्थित वह दण्ड हवामें ऊपर घूम रहा था। वह ऐसा लगता था मानो तीनों लोकोंको जलानेके लिये कालाग्नि प्रज्वलित हो रही हो। उस प्रज्वलित दण्डको अपनी ओर आते देखकर दैत्यलोग चिल्लाने लगे—हाय! हाय! यमराजने प्रह्लादको मार दिया। उस आक्रन्दनको सुनकर हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकने कहा—डरो मत। मेरे रहते ये यमराज क्या वस्तु हैं? नारदजी! ऐसा कहकर वह वेगसे दौड़ पड़ा और हँसते हुए उस दण्डको बायें हाथसे पकड़ लिया॥ १७—२०॥

तमादाय ततो वेगाद् भ्रामयामास चान्धकः। जगर्ज च महानादं यथा प्रावृषि तोयदः॥ २१॥
प्रह्लादं रक्षितं दृष्ट्वा दण्डाद् दैत्येश्वरेण हि। साधुवादं ददुर्हृष्टा दैत्यदानवयूथपाः॥ २२॥
भ्रामयन्तं महादण्डं दृष्ट्वा भानुसुतो मुने। दुःसहं दुर्धरं मत्वा अन्तर्धानमगाद् यमः॥ २३॥
अन्तर्हिते धर्मराजे प्रह्लादोऽपि महामुने। दारयामास बलवान् देवसैन्यं समन्ततः॥ २४॥

फिर अन्धक उसे लेकर घुमाने लगा और साथ ही वर्षाकालिक मेघके तुल्य वह महानाद करते हुए गर्जन करने लगा। अन्धकके द्वारा यम-दण्डसे प्रह्लादको सुरक्षित देखकर दैत्यों एवं दानवोंके सेनानायक प्रसन्न होकर उसे धन्यवाद देने लगे। मुने! अपने महादण्डको अन्धकद्वारा घुमाते देख सूर्यतनय यम दैत्यको दुःसह और दुर्धर समझकर अन्तर्धान हो गये। महामुने! धर्मराजके अन्तर्हित होनेपर अब बली प्रह्लाद भी सभी ओरसे देवसेनाको नष्ट करने लगे॥ २१–२४॥

वरुणः शिशुमारस्थो बद्ध्वा पाशैर्महासुरान्। गदया दारयामास तमभ्यगाद् विरोचनः॥ २५॥
तोमरैर्वज्रसंस्पर्शैः शक्तिभिर्मार्गणैरपि। जलेशं ताडयामास मुद्गरैः कणपैरपि॥ २६॥

ततस्तं गदयाभ्येत्य पातयित्वा धरातले। अभिद्रुत्य ववन्धाथ पाशैर्मत्तगजं वली ॥२७॥
तान् पाशशतधा चक्रे वेगाच्च दनुजेश्वरः। वरुणं च समभ्येत्य मध्ये जग्राह नारद ॥२८॥

वरुणदेव मकरपर स्थित थे। वे प्रबल असुरोंको अपने पाशोंसे बाँधकर गदाद्वारा विदीर्ण करने लगे। इसपर विरोचनने उनका सामना किया। उसने वज्रतुल्य तोमर, शक्ति, बाण, मुद्गर और कणपों[1]-(भल्लो-)से वरुणदेवपर प्रहार किया। इसपर वरुणने उसके निकट जाकर गदासे मारकर उन्हें पृथ्वीपर गिरा दिया। फिर दौड़कर उन्होंने पाशोंसे उसके मतवाले हाथीको बाँध लिया। पर अन्धकने तुरन्त ही उन पाशोंके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। नारदजी! इतना ही नहीं, उसने वरुणके निकट जाकर उनकी कमर भी पकड़ ली ॥२५—२८॥

ततो दन्ती च शृङ्गाभ्यां प्रचिक्षेप तदाऽव्ययः। ममर्द च तथा पद्भ्यां सवाहं सलिलेश्वरम् ॥२९॥
तं मर्द्यमानं वीक्ष्याथ शशाङ्कः शिशिरांशुमान्। अभ्येत्य ताडयामास मार्गणैः कायदारणैः ॥३०॥

स ताड्यमानः शिशिरांशुबाणैरवाप पीडां परमां गजेन्द्रः।
दुद्राव वेगात् पयसामधीशं मुहुर्मुहुः पादतलैर्ममर्द ॥ ३१ ॥
स मृद्यमानो वरुणो गजेन्द्रं पद्भ्यां सुगाढं जगृहे महर्षे।
पादेषु भूमिं करयोः स्पृशंश्च मूर्द्धानमुल्लाल्य बलान्महात्मा ॥ ३२ ॥
गृह्याङ्गुलीभिश्च गजस्य पुच्छं कृत्वेह बन्धं भुजगेश्वरेण।
उत्पाट्य चिक्षेप विरोचनं हि सकुञ्जरं खे सनियन्तृवाहम् ॥ ३३ ॥

उस हाथीने भी अपने प्रबल दाँतोंसे वरुणको उठाकर फेंक दिया। साथ ही वह वाहनसहित वरुणको अपने पैरोंसे कुचलने लगा। यह देख शीतकिरण चन्द्रमाने हाथीके पास पहुँचकर अपने तेज नुकीले बाणोंसे उसके शरीरको विदीर्ण कर दिया। चन्द्रमाके बाणोंसे विद्ध होनेपर अन्धकके हाथीको अत्यधिक पीड़ा हुई। वह अपने पैरोंसे वरुणको तेजीसे बार-बार कुचलने लगा। नारदजी! वरुणदेवने भी हाथीके दोनों पैरोंको दृढतापूर्वक पकड़ लिया एवं अपने हाथों तथा पैरोंसे भूमिका स्पर्श करते हुए मस्तक उठाकर बलपूर्वक अङ्गुलियोंसे उस हाथीकी पूँछ पकड़ ली और सर्पराज वासुकिसे विरोचनको बाँधकर उसे हाथी और पिलवानके सहित उठाकर आकाशमें फेंक दिया ॥ २९—३३ ॥

क्षिप्तो जलेशेन विरोचनस्तु सकुञ्जरो भूमितले पपात।
साट्टं सयन्त्रार्गलहर्म्यभूमि पुरं सुकेशेरिव भास्करेण ॥ ३४ ॥
ततो जलेशः सगदः सपाशः समभ्यधावद् दितिजं निहन्तुम्।
ततः समाक्रन्दमनुत्तमं हि मुक्तं तु दैत्यैर्घनरावतुल्यम् ॥ ३५ ॥
हा हा हतोऽसौ वरुणेन वीरो विरोचनो दानवसैन्यपालः।
प्रह्लाद हे जम्भकुजम्भकाद्या रक्षध्वमभ्येत्य सहान्धकेन ॥ ३६ ॥
अहो महात्मा बलवाञ् जलेशः संचूर्णयन् दैत्यभटं सवाहम्।
पाशेन बद्ध्वा गदया निहन्ति यथा पशुं वाजिमखे महेन्द्रः ॥ ३७ ॥
श्रुत्वाथ शब्दं दितिजैः समीरितं जम्भप्रधाना दितिजेश्वरास्ततः।
समभ्यधावंस्त्वरिता जलेश्वरं यथा पतङ्गा ज्वलितं हुताशनम् ॥ ३८ ॥

[1] —कणप अस्त्रका वर्णन महाभारत तथा दशकुमारचरितमें आया है।

*

वरुणद्वारा फेंका गया विरोचन आकाशसे हाथीसहित पृथ्वीपर इस प्रकार आ गिरा, जैसे सूर्यद्वारा पहले सुकेशी दैत्यका नगर अट्टालिकाओं, यन्त्रों, अर्गलाओं एवं महलोंके सहित पृथ्वीपर गिराया गया था। उसके बाद वरुण गदा और पाश लेकर दैत्यको मारनेके लिये दौडे। अब दैत्यलोग मेघ-गर्जन-जैसे जोर-जोरसे रोने लगे—'हाय! हाय! राक्षस-सेनाके रक्षक वीर विरोचन वरुणद्वारा मारे जा रहे हैं। हे प्रह्लाद! हे जम्भ! हे कुजम्भ! तुम सभी अन्धकके साथ आकर (उन्हे) बचाओ। हाय! बलवान् वरुण दैत्यवीर विरोचनको वाहनसहित चूर्ण करते हुए उन्हे पाशमें बाँधकर गदासे इस प्रकार मार रहे हैं, जैसे अश्वमेध यज्ञमें इन्द्र पशुको मारते हैं। दैत्योंके रुदनको सुनकर जम्भ आदि प्रमुख दैत्यगण वरुणकी ओर शीघ्रतासे ऐसे दौडे जैसे पतङ्ग प्रज्वलित अग्निकी ओर दौडते हैं॥ ३४—३८॥

तानागतान् वै प्रसमीक्ष्य देवः प्राह्लादिमुत्सृज्य वितत्य पाशम्।
गदां समुद्भ्राम्य जलेश्वरस्तु दुद्राव ताञ्जम्भमुखानरातीन्॥ ३९॥
जम्भं च पाशेन तथा निहत्य तारं तलेनाशनिसंनिभेन।
पादेन वृत्रं तरसा कुजम्भं निपातयामास बलं च मुष्ट्या॥ ४०॥
तेनार्दिता देववरेण दैत्याः संप्राद्रवन् दिक्षु विमुक्तशस्त्राः।
ततोऽन्धकः स त्वरितोऽभ्युपेयाद् रणाय योद्धुं जलनायकेन॥ ४१॥
तमापतन्तं गदया जघान पाशेन बद्ध्वा वरुणो सुरेशम्।
तं पाशमाविध्य गदां प्रगृह्य चिक्षेप दैत्यः स जलेश्वराय॥ ४२॥

उन दैत्योंको आया देख वरुण प्रह्लाद-पुत्र-(विरोचन-)को छोड़ करके पाश फैलाकर और गदा घुमाकर उन जम्भप्रभृति शत्रुओंकी ओर दौडे। उन्होंने जम्भको पाशसे, तार-दैत्यको वज्र-तुल्य करतलके प्रहारसे, वृत्रासुरको पैरोंसे, कुजम्भको अपने वेगसे और बल नामक असुरको मुक्केसे मारकर गिरा दिया। देवप्रवर! वरुणद्वारा मर्दित दैत्य अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे। उसके बाद अन्धक वरुणदेवके साथ युद्ध करनेके लिये बड़ी तेजीसे उनके पास पहुँचा। अपनी ओर आते देख वरुणने उस दैत्यनायक अन्धकको अपने पाशसे बाँधकर गदासे मारा, किंतु दैत्यने उस पाश और गदाको छीनकर वरुणपर ही फेंक दिया॥ ३९—४२॥

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाशं गदां च दाक्षायणिनन्दनस्तु।
विवेश वेगात् पयसां निधानं ततोऽन्धको देवबलं ममर्द॥ ४३॥
ततो हुताशः सुरशत्रुसैन्यं ददाह रोषात् पवनावधूतः।
तमभ्ययाद् दानवविश्वकर्मा मयो महाबाहुरुदग्रवीर्यः॥ ४४॥
तमापतन्तं सह शम्बरेण समीक्ष्य वह्निः पवनेन सार्धम्।
शक्त्या मयं शम्बरमेत्य कण्ठे संताड्य जग्राह बलान्महर्षे॥ ४५॥
शक्त्या स कायावरणे विदारिते संभिन्नदेहो न्यपतत् पृथिव्याम्।
मयः प्रजज्वाल च शम्बरोऽपि कण्ठावलग्ने ज्वलने प्रदीप्ते॥ ४६॥
स दह्यमानो दितिजोऽग्निनाथ सुविस्वरं घोरतरं रुराव।
सिंहाभिपन्नो विपिने यथैव मत्तो गजः क्रन्दति वेदनार्त्तः॥ ४७॥

उस पाश और गदाको अपनी ओर आते देखकर दाक्षायणीके पुत्र वरुण शीघ्रतासे समुद्रमें पैठ गये। तब अन्धक देवसेनाका मर्दन करने लगा। उसके बाद पवनद्वारा प्रज्वलित अग्निदेव क्रोधपूर्वक असुरोंकी सेनाको

दग्ध करने लगे। तब दानवोंका 'विश्वकर्मा' (शिल्पिराज) प्रचण्ड प्रतापी महाबाहु मय उनके सामने आया। नारदजी ! शम्बरके साथ उसे आते देख अग्निदेवने वायुदेवताके साथ शक्तिके प्रहारसे मय और शम्बरके कण्ठमें चोट पहुँचाकर उन दोनोंको ही जोरसे पकड़ लिया। शक्तिसे कवचके फट जानेपर छिन्न-भिन्न शरीरवाला मय पृथ्वीपर गिर पड़ा और शम्बरासुर कण्ठमें प्रदीप्त अग्निके लग जानेसे दग्ध होने लगा। अग्निद्वारा जलते दैत्यने उस समय मुक्त कण्ठसे इस प्रकार रोदन किया, जैसे वनमें सिंहसे आक्रान्त मतवाला हाथी वेदनासे दुःखी होकर करुण चिग्घाड करता है ॥ ४३—४७ ॥

तं शब्दमाकर्ण्य च शम्बरस्य दैत्येश्वरः क्रोधविरक्तदृष्टिः।
आः किं किमेतन्ननु केन युद्धे जितो मयः शम्बरदानवश्च ॥ ४८ ॥
ततोऽब्रुवन् दैत्यभटा दितीशं प्रदह्यते ह्येष हुताशनेन।
रक्षस्व चाभ्येत्य न शक्यतेऽन्यैर्हुताशनो वारयितुं रणाग्रे ॥ ४९ ॥
इत्थं स दैत्यैरभिनोदितस्तु हिरण्यचक्षुस्तनयो महर्षे।
उद्यम्य वेगात् परिघं हुताशं समाद्रवत् तिष्ठ तिष्ठ ब्रुवन् हि ॥ ५० ॥
श्रुत्वाऽन्धकस्यापि वचो व्ययात्मा संक्रुद्धचित्तस्त्वग्निर्हि दैत्यम्।
उत्पाट्य भूम्यां च विनिष्पिपेष ततोऽन्धकः पावकमाससाद ॥ ५१ ॥

शम्बरके उस शब्दको सुनकर क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले दैत्येश्वरने कहा—अरे ! यह क्या है ? युद्धमें मय और शम्बरको किसने जीता है ? इसपर दैत्ययोद्धाओंने अन्धकसे कहा—अग्निदेव इनको जला रहे हैं। आप जाकर उनकी रक्षा करें। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी अग्निको नहीं रोक सकता। नारदजी ! दैत्योंके ऐसा कहनेपर हिरण्याक्षपुत्र शीघ्रतासे परिघ उठाकर 'ठहरो-ठहरो'—कहता हुआ अग्निकी ओर दौड़ पड़ा। अन्धकके वचनको सुनकर अव्ययात्मा अग्निदेवने अत्यन्त क्रोधसे उस दैत्यको शीघ्र ही उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया। उसके बाद अन्धक अग्निके पास पहुँचा ॥ ४८—५१ ॥

समाजघानाथ हुताशनं हि वरायुधेनाथ वराङ्गमध्ये।
समाहतोऽग्निः परिमुच्य शम्बरं तथाऽन्धकं स त्वरितोऽभ्यधावत् ॥ ५२ ॥
तमापतन्तं परिघेण भूयः समाहनन्मूर्ध्नि तदान्धकोऽपि।
स ताडितोऽग्निर्दितिजेश्वरेण भयात् प्रदुद्राव रणाजिराद्धि ॥ ५३ ॥
ततोऽन्धको मारुतचन्द्रभास्करान् साध्यान् सरुद्राश्विवसून् महोरगान्।
यान् या शरेण स्पृशते पराक्रमी पराङ्मुखांस्तान् कृतवान् रणाजिरात् ॥ ५४ ॥
ततो विजित्यामरसैन्यमुग्रं सेन्द्रं सरुद्रं सयमं ससोमम्।
संपूज्यमानो दनुपुंगवैस्तु तदाऽन्धको भूमिमुपाजगाम ॥ ५५ ॥
आसाद्य भूमिं करदान् नरेन्द्रान् कृत्वा वशे स्थाप्य चराचरं च।
जगत्समग्रं प्रविवेश धीमान् पातालमग्र्यं पुरमश्मकाह्वम् ॥ ५६ ॥
तत्र स्थितस्यापि महासुरस्य गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः।
सहाप्सरोभिः परिचारणाय पातालमभ्येत्य समावसन्त ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

उसने श्रेष्ठ अस्त्रके द्वारा अग्निके सिरपर प्रहार किया। इस प्रकार आहत अग्निदेव शम्बरको छोड़कर तत्काल अन्धककी ओर दौड़े। अन्धकने आते हुए अग्निदेवके सिरपर पुनः परिघसे प्रहार किया। अन्धकद्वारा

ताडित अग्निदेव भयभीत हो रणक्षेत्रसे भाग गये। उसके बाद पराक्रमी अन्धक वायु, चन्द्र, सूर्य, साध्य, रुद्र, अश्विनीकुमार, वसु और महानागोंमें जिन-जिनको बाणसे स्पर्श करता था, वे सभी युद्धभूमिसे पराङ्मुख हो जाते थे। इस प्रकार इन्द्र, रुद्र, यम, सोमसहित देवताओंकी उग्र सेनाको जीतकर अन्धक श्रेष्ठ दानवोंके द्वारा पूजित होकर पृथ्वीपर आ गया। वहाँ वह बुद्धिमान् दैत्य सभी राजाओंको अपना करद (सामन्त) बना करके तथा समस्त चराचर जगत्को वशमें कर पातालमें स्थित अपने अश्मक नामक उत्तम नगरमें चला गया। वहाँ उस महासुर अन्धककी सेवा करनेके लिये अप्सराओंके साथ सभी प्रमुख गन्धर्व, विद्याधर एवं सिद्धोंके समूह पातालमें आकर निवास करने लगे ॥ ५२-५७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

[अथैकादशोऽध्यायः]

नारद उवाच

यदेतद् भवता प्रोक्तं सुकेशिनगरोऽम्बरात्। पातितो भुवि सूर्येण तत्कदा कुत्र कुत्र च ॥ १ ॥
सुकेशीति च कस्त्वासौ केन दत्तः पुरोऽस्य च। किमर्थं पातितो भूम्यामाकाशाद् भास्करेण हि ॥ २ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिकी कथा, मगधारण्यमें ऋषियोंसे प्रश्न करना, ऋषियोंका धर्मोपदेश, देवादिके धर्म, भुवनकोश एवं इक्कीस नरकोंका वर्णन)

नारदजीने (पुलस्त्यजीसे) पूछा—आपने जो यह कहा है कि सूर्यने सुकेशीके नगरको आकाशसे पृथ्वीपर गिरा दिया था तो यह घटना कब और कहाँ हुई थी ? सुकेशी नामका वह कौन व्यक्ति था ? उसे वह नगर किसने दिया था और भगवान् सूर्यने उसे आकाशसे पृथ्वीपर क्यों गिरा दिया ? ॥ १-२ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम्। यथोक्तवान् स्वयम्भूर्मां कथ्यमानां मयाऽनघ ॥ ३ ॥
आसीन्निशाचरपतिर्विद्युत्केशीति विश्रुतः। तस्य पुत्रो गुणज्येष्ठः सुकेशिरभवत्ततः ॥ ४ ॥
तस्य तुष्टस्तथेशानः पुरमाकाशचारिणम्। प्रादादजेयत्वमपि शत्रुभिश्चाप्यवध्यताम् ॥ ५ ॥
स चापि शंकरात् प्राप्य वरं गगनगं पुरम्। रेमे निशाचरैः सार्द्धं सदा धर्मपथि स्थितः ॥ ६ ॥
स कदाचिद् गतोऽरण्यं मागधं राक्षसेश्वरः। तत्राश्रमांस्तु ददृशे ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ ७ ॥
महर्षीन् स तदा दृष्ट्वा प्रणिपत्याभिवाद्य च। प्रत्युवाच ऋषीन् सर्वान् कृतासनपरिग्रहः ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—निष्पाप नारदजी ! यह कथा बहुत पुरानी है; आप इसे सावधानीसे सुनिये। ब्रह्माजीने जैसे यह कथा मुझे सुनायी थी, वैसे ही इसे मैं आपसे सुना रहा हूँ। पहले विद्युत्केशी नामसे प्रसिद्ध राक्षसोंका एक राजा था। उसका पुत्र सुकेशी गुणोंमें उससे भी बढ़कर था। उसपर प्रसन्न होकर शिवजीने उसे एक आकाशचारी नगर और शत्रुओंसे अजेय एवं अवध्य होनेका वर भी दिया। वह शंकरसे आकाशचारी श्रेष्ठ नगर पाकर राक्षसोंके साथ सदा धर्मपथपर रहते हुए विचरने लगा। एक समय मगधारण्यमें जाकर उस राक्षसराजने वहाँ ध्यान-परायण ऋषियोंके आश्रमोंको देखा। उस समय महर्षियोंको देखकर अभिवादन और प्रणाम किया। फिर एक जगह बैठकर उसने समस्त ऋषियोंसे कहा—॥ ३-८ ॥

सुकेशिरुवाच

प्रष्टुमिच्छामि भवतः संशयोऽयं हृदि स्थितः। कथयन्तु भवन्तो मे न चैवाज्ञापयाम्यहम् ॥ ९ ॥
किंस्विच्छ्रेयः परे लोके किमु चेह द्विजोत्तमाः। केन पूज्यस्तथा सत्सु केनासौ सुखमेधते ॥ १० ॥

सुकेशि बोला—मैं आपलोगोंको आदेश नहीं दे रहा हूँ; बल्कि मेरे हृदयमें एक संदेह है, उसे मैं आपसे पूछना चाहता हूँ। आप मुझको उसे बतलाइये। द्विजोत्तमो ! इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी क्या है ? मनुष्य सज्जनोंमें कैसे पूज्य होता है और उसे सुखकी प्राप्ति कैसे होती है ? ॥९-१० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं सुकेशिवचनं निशम्य परमर्षयः। प्रोचुर्विमृश्य श्रेयोऽर्थमिह लोके परत्र च ॥ ११ ॥

पुलस्त्यजी बोले—सुकेशीके इस प्रकारके वचनको सुनकर श्रेष्ठ ऋषियोंने विचारकर उससे इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी बातें कहीं ॥ ११ ॥

ऋषय ऊचुः

श्रूयतां कथयिष्यामस्तव राक्षसपुंगव। यद्धि श्रेयो भवेद् वीर इह चामुत्र चाव्ययम् ॥ १२ ॥
श्रेयो धर्मः परे लोके इह च क्षणदाचर। तस्मिन् समाश्रितः सत्सु पूज्यस्तेन सुखी भवेत् ॥ १३ ॥

ऋषिगण बोले—वीर राक्षस-श्रेष्ठ ! इस लोक और परलोकमें जो अक्षय श्रेयस्कर वस्तु है, उसे हम तुमसे कहते हैं, उसे सुनो। निशाचर ! इस लोक और परलोकमें धर्म ही कल्याणकारी है। उसमे स्थित रहकर व्यक्ति सज्जनोंमें आदरणीय एवं सुखी होता है ॥ १२-१३ ॥

सुकेशिरुवाच

किंलक्षणो भवेद् धर्मः किमाचरणसत्क्रियः। यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु तदुच्यताम् ॥ १४ ॥

सुकेशि बोला—'धर्मका लक्षण (परिचय) क्या है ? उसमें कौनसे आचरण एवं सत्कर्म होते हैं, जिनका आश्रय लेकर देवादि कभी दुःखी नहीं होते। आप उसका वर्णन करें ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

देवानां परमो धर्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः। स्वाध्यायवेदवेत्तृत्वं विष्णुपूजारतिः स्मृता ॥ १५ ॥
दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्यं युद्धसत्क्रिया। वेदनं नीतिशास्त्राणां हरभक्तिरुदाहृता ॥ १६ ॥
सिद्धानामुदितो धर्मो योगयुक्तिरनुत्तमा। स्वाध्यायं ब्रह्मविज्ञानं भक्तिर्द्वाभ्यामपि स्थिरा ॥ १७ ॥
उत्कृष्टोपासनं ज्ञेयं नृत्यवाद्येषु वेदिता। सरस्वत्यां स्थिरा भक्तिर्गान्धर्वो धर्म उच्यते ॥ १८ ॥

ऋषियोंने कहा—सदा यज्ञादि कार्य, स्वाध्याय, वेदज्ञान और विष्णुपूजामें रति—ये देवताओंके शाश्वत परम धर्म हैं। बाहुबल, ईर्ष्याभाव, युद्धकार्य, नीतिशास्त्रका ज्ञान और हर-भक्ति—ये दैत्योंके धर्म कहे गये हैं। श्रेष्ठ योगसाधन, वेदाध्ययन, ब्रह्मविज्ञान तथा विष्णु और शिव—इन दोनोंमें अचल भक्ति—ये सब सिद्धोंके धर्म कहे गये हैं। ऊँची उपासना, नृत्य और वाद्यका ज्ञान तथा सरस्वतीके प्रति निश्चल भक्ति—ये गन्धर्वोंके धर्म कहे जाते हैं ॥ १५—१८ ॥

विद्याधरत्वमतुलं विज्ञानं पौरुषे मतिः। विद्याधराणां धर्मोऽयं भवान्यां भक्तिरेव च ॥ १९ ॥
गन्धर्वविद्यावेदित्वं भक्तिर्भानौ तथा स्थिरा। कौशल्यं सर्वशिल्पानां धर्मः किम्पुरुषः स्मृतः ॥ २० ॥
ब्रह्मचर्यममानित्वं योगाभ्यासरतिर्दृढा। सर्वत्र कामचारित्वं धर्मोऽयं पैतृकः स्मृतः ॥ २१ ॥

ब्रह्मचर्यं यताशित्वं जप्यं ज्ञानं च राक्षस। नियमाद्धर्मवेदित्वमार्षो धर्मः प्रचक्ष्यते ॥ २२ ॥
स्वाध्यायं ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च। अकार्पण्यमनायासं दया हिंसा क्षमा दमः ॥ २३ ॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते। शंकरे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥ २४ ॥

अद्भुत विद्याका धारण करना, विज्ञान, पुरुषार्थकी बुद्धि और भवानीके प्रति भक्ति— ये विद्याधरोंके धर्म हैं। गन्धर्वविद्याका ज्ञान, सूर्यके प्रति अटल भक्ति और सभी शिल्प-कलाओंमें कुशलता—ये किम्पुरुषोंके धर्म माने जाते हैं। ब्रह्मचर्य, अमानित्व (अभिमानसे बचना) योगाभ्यासमें दृढ प्रीति एवं सर्वत्र इच्छानुसार भ्रमण—ये पितरोंके धर्म कहलाते हैं। राक्षस! ब्रह्मचर्य, नियताहार, जप, आत्मज्ञान और नियमानुसार धर्मज्ञान—ये ऋषियोंके धर्म कहे जाते हैं। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, उदारता, विश्रान्ति, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शौच, माङ्गल्य तथा विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा देवीमें भक्ति—ये मानवोंके (सामान्य) धर्म हैं ॥ १९—२४ ॥

धनाधिपत्यं भोगानि स्वाध्यायं शंकरार्चनम्। अहंकारमशौण्डीर्यं धर्मोऽयं गुह्यकेष्विति ॥ २५ ॥
परदारावमर्शित्वं पारक्येऽर्थे च लोलता। स्वाध्यायं त्र्यम्बके भक्तिर्धर्मोऽयं राक्षसः स्मृतः॥ २६ ॥
अविवेकमथाज्ञानं शौचहानिरसत्यता। पिशाचानामयं धर्मः सदा चामिषगृध्नुता ॥ २७ ॥
योनयो द्वादशैवैतास्तासु धर्माश्च राक्षस। ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥ २८ ॥

धनका स्वामित्व, भोग, स्वाध्याय, शिवजीकी पूजा, अहंकार और सौम्यता—ये गुह्यकोंके धर्म हैं। परस्त्रीगमन, दूसरेके धनमें लोलुपता, वेदाध्ययन और शिवभक्ति—ये राक्षसोंके धर्म कहे गये हैं। अविवेक, अज्ञान, अपवित्रता, असत्यता एवं सदा मांस-भक्षणकी प्रवृत्ति—ये पिशाचोंके धर्म हैं। राक्षस! ये ही बारह योनियाँ हैं। पितामह ब्रह्माने उनके ये बारह गति देनेवाले धर्म कहे हैं ॥ २५–२८ ॥

सुकेशिरुवाच

भवद्भिरुक्ता ये धर्माः शाश्वता द्वादशाव्ययाः। तत्र ये मानवा धर्मास्तान् भूयो वक्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

सुकेशिने कहा—आपलोगोंने जो शाश्वत एवं अव्यय बारह धर्म बताये हैं, उनमें मनुष्योंके धर्मोंको एक बार पुनः कहनेकी कृपा करें ॥ २९ ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुष्व मनुजादीनां धर्मोऽस्तु क्षणदाचर। ये वसन्ति महीपृष्ठे नरा द्वीपेषु सप्तसु ॥ ३० ॥
योजनानां प्रमाणेन पञ्चाशत्कोटिरायता। जलोपरि महीयं हि नौरिवास्ते सरिज्जले ॥ ३१ ॥
तस्योपरि च देवेशो ब्रह्मा शैलेन्द्रमुत्तमम्। कर्णिकाकारमत्युच्चं स्थापयामास सत्तम ॥ ३२ ॥
तस्येमां निर्ममे पुण्यां प्रजां देवश्चतुर्दिशम्। स्थानानि द्वीपसंज्ञानि कृतवांश्च प्रजापतिः ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा— निशाचर! पृथ्वीके सात द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्य आदिके धर्मोंको सुनो। यह पृथ्वी पचास करोड़ योजन विस्तारवाली है और यह नदीमें नावके समान जलपर स्थित है। सज्जनश्रेष्ठ! उसके ऊपर देवेश ब्रह्माने कर्णिकाके आकारवाले अत्यन्त ऊँचे सुमेरुगिरिको स्थापित किया है। फिर उसपर ब्रह्माने चारों दिशाओंमें पवित्र प्रजाका निर्माण किया और द्वीप-नामवाले अनेक स्थानोंकी भी रचना की है ॥ ३०—३३ ॥

तत्र मध्ये च कृतवाञ्जम्बूद्वीपमिति श्रुतम्। तल्लक्षं योजनानां च प्रमाणेन निगद्यते ॥ ३४ ॥
ततो जलनिधी रौद्रो बाह्यतो द्विगुणः स्थितः। तस्यापि द्विगुणः प्लक्षो बाह्यतः संप्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥

ततस्त्विक्षुरसोदश्च बाह्यतो वलयाकृतिः । द्विगुणः शाल्मलिद्वीपो द्विगुणोऽस्य महोदधेः ॥ ३६ ॥
सुरोदो द्विगुणस्तस्य तस्माच्च द्विगुणः कुशः । घृतोदो द्विगुणश्चैव कुशद्वीपात् प्रकीर्तितः ॥ ३७ ॥

उनके मध्यमे उन्होंने जम्बूद्वीपकी रचना की । इसका प्रमाण एक लक्ष योजनका कहा जाता है । उसके बाहर दुगुना परिमाणमें लवण-समुद्र है तथा उसके बाद उसका दुगुना प्लक्षद्वीप है । उसके बाहर दुगुने प्रमाण-वाला वलयाकार इक्षुरस-सागर है । इस महोदधिका दुगुना शाल्मलिद्वीप है । उसके बाहर उससे दुगुना सुरसागर है तथा उससे दुगुना कुशद्वीप है । कुशद्वीपसे दुगुना घृतसागर है ॥ ३४–३७ ॥

घृतोदाद् द्विगुणः प्रोक्तः क्रौञ्चद्वीपो निशाचर । ततोऽपि द्विगुणः प्रोक्तः समुद्रो दधिसंज्ञितः ॥ ३८ ॥
समुद्राद् द्विगुणः शाकः शाकाद् दुग्धाब्धिरुत्तमः ।
द्विगुणः संस्थितो यत्र शेषपर्यङ्कगो हरिः । एते च द्विगुणाः सर्वे परस्परमपि स्थिताः ॥ ३९ ॥
चत्वारिंशदिमाः कोट्यो लक्षाश्च नवतिः स्मृताः ।
योजनानां राक्षसेन्द्र पञ्च चातिसुविस्तृताः । जम्बूद्वीपात् समारभ्य यावत्क्षीराब्धिरन्ततः ॥ ४० ॥

निशाचर ! घृतसागरसे दुगुना क्रौंचद्वीप कहा गया है तथा उससे दुगुना दधिसमुद्र है । दधिसागरसे दुगुना शाकद्वीप है और शाकद्वीपसे द्विगुण उत्तम क्षीरसागर है जिसमें शेषशय्यापर सोये श्रीहरि स्थित हैं । ये सभी परस्पर एक-दूसरेसे द्विगुण प्रमाणमें स्थित हैं । राक्षसेन्द्र ! जम्बूद्वीपसे लेकर क्षीरसागरके अन्ततकका विस्तार चालीस करोड़ नब्बे लाख पाँच योजन है ॥ ३८–४० ॥

तस्माच्च पुष्करद्वीपः स्वादूदस्तदनन्तरम् । कोट्यश्चतस्रो लक्षाणां द्विप चाशच्च राक्षस ॥ ४१ ॥
पुष्करद्वीपमानोऽयं तावदेव तथोदधिः । लक्षमण्डकटाहेन समन्तादभिपूरितम् ॥ ४२ ॥
एवं द्वीपास्त्विमे सप्त पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः । गदिष्यामस्तव वयं शृणुष्व त्वं निशाचर ॥ ४३ ॥
प्लक्षादिषु नरा वीर ये वसन्ति सनातनाः । शाकान्तेषु न तेष्वस्ति युगावस्था कथंचन ॥ ४४ ॥
मोदन्ते देववत्तेषां धर्मो दिव्य उदाहृतः । कल्पान्ते प्रलयस्तेषां निगद्येत महाभुज ॥ ४५ ॥
ये जनाः पुष्करद्वीपे वसन्ते रौद्रदर्शने । पैशाचमाश्रिता धर्मं कर्मान्ते ते विनाशिनः ॥ ४६ ॥

राक्षस ! उसके बाद पुष्करद्वीप एवं तदनन्तर स्वादु जलका समुद्र है । पुष्करद्वीपका परिमाण चार करोड़ बावन लाख योजन है । उसके चारों ओर उतने ही परिमाणका समुद्र है । उसके चारों ओर लाख योजनका अण्डकटाह है । इस प्रकार वे सातो द्वीप भिन्न धर्मो और क्रियावाले हैं । निशाचर ! हम उनका वर्णन करते हैं । तुम उसे सुनो । वीर ! प्लक्षसे शाकतकके द्वीपोंमें जो सनातन (नित्य) पुरुष निवास करते हैं, उनमें किसी प्रकारकी युग-व्यवस्था नहीं है । महाबाहो ! वे देवताओंके समान सुखभोग करते हैं । उनका धर्म दिव्य कहा जाता है । कल्पके अन्तमें उनका प्रलयमात्र होना वर्णित है । पुष्करद्वीप देखनेमें भयंकर है । वहाँके निवासी पैशाच-धर्मोंका पालन करते हैं । कर्मके अन्तमें उनका नाश होता है ॥ ४१–४६ ॥

सुकेशिरुवाच

किमर्थं पुष्करद्वीपो भवद्भिः समुदाहृतः । दुर्दर्शः शौचरहितो घोरः कर्मान्तनाशकृत् ॥ ४७ ॥

सुकेशिने कहा—आपलोगोने पुष्करद्वीपको भयंकर, पवित्रता-रहित, घोर एवं कर्मके अन्तमें नाश करनेवाला क्यों बतलाया ? कृपाकर यह बात हमें समझाये ॥ ४७ ॥

ऋषय ऊचुः

तस्मिन् निशाचर द्वीपे नरकाः सन्ति दारुणाः । रौरवाद्यास्ततो रौद्रः पुष्करो घोरदर्शनः ॥४८॥

ऋषियोंने कहा—निशाचर ! उस द्वीपमें रौरव आदि भयानक नरक हैं । इसीसे पुष्करद्वीप देखनेमें बड़ा भयकर है ॥ ४८ ॥

सुकेशिरुवाच

कियन्त्येतानि रौद्राणि नरकाणि तपोधनाः । कियन्मात्राणि मार्गेण का च तेषु स्वरूपता ॥ ४९ ॥

सुकेशिने पूछा—तपस्विगण ! वे रौद्र नरक कितने हैं ? उनका मार्ग कितना है ? उनका स्वरूप कैसा है ? ॥ ४९ ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुष्व राक्षसश्रेष्ठ प्रमाणं लक्षणं तथा । सर्वेषां रौरवादीनां संख्या या त्वेकविंशतिः ॥ ५० ॥
द्वे सहस्रे योजनानां ज्वलिताङ्गारविस्तृते । रौरवो नाम नरकः प्रथमः परिकीर्तितः ॥ ५१ ॥
तप्तताम्रमयी भूमिरधस्ताद्वह्नितापिता । द्वितीयो द्विगुणस्तस्मान्महारौरव उच्यते ॥ ५२ ॥
ततोऽपि द्विःस्थितश्चान्यस्तामिस्रो नरकः स्मृतः । अन्धतामिस्रको नाम चतुर्थो द्विगुणः परः ॥ ५३ ॥
ततस्तु कालचक्रेति पञ्चमः परिगीयते । अप्रतिष्ठं च नरकं घटीयन्त्रं च सप्तमम् ॥ ५४ ॥

ऋषियोंने कहा—राक्षसश्रेष्ठ ! उन समस्त रौरव आदि नरकोंका लक्षण और प्रमाण सुनो, जिन (मुख्य नरकों)की संख्या इक्कीस है । उनमें प्रथम रौरव नरक कहा जाता है । वह दो हजार योजन विस्तृत एवं प्रज्वलित अङ्गारमय है । उससे द्विगुणित महारौरव नामक द्वितीय नरक है । उसकी भूमि जलते हुए ताँबेसे बनी है, जो नीचेसे अग्निद्वारा तापित होती रहती है । उससे द्विगुणित विस्तृत तीसरा तामिस्र नामक नरक कहा जाता है । उससे द्विगुणित अन्धतामिस्र नामक चतुर्थ नरक है । उसके बाद पञ्चम नरकको कालचक्र कहते हैं । अप्रतिष्ठ नामक नरक षष्ठ और घटीयन्त्र सप्तम है ॥ ५०—५४ ॥

असिपत्रवनं चान्यत्सहस्राणि द्विसप्ततिः । योजनानां परिख्यातमष्टमं नरकोत्तमम् ॥ ५५ ॥
नवमं तप्तकुम्भं च दशमं कूटशाल्मलिः । करपत्रस्तथैवोक्तस्तथाऽन्यः श्वानभोजनः ॥ ५६ ॥
संदंशो लौहपिण्डश्च करम्भसिकता तथा ।
घोरा क्षारनदी चान्या तथान्यः कृमिभोजनः । तथाऽष्टादशमो प्रोक्ता घोरा वैतरणी नदी ॥ ५७ ॥
तथा परः शोणितपूयभोजनः क्षुराग्रधारो निशितश्च चक्रकः ।
संशोषणो नाम तथाप्यनन्तः प्रोक्तास्तवैते नरकाः सुकेशिन् ॥ ५८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

नरकोंमें श्रेष्ठ असिपत्रवन नामक आठवाँ नरक बहत्तर हजार योजन विस्तृत कहा जाता है । नवाँ तप्तकुम्भ, दशवाँ कूटशाल्मलि, ग्यारहवाँ करपत्र और बारहवाँ नरक श्वानभोजन है । उसके बाद क्रमशः संदंश, लोहपिण्ड, करम्भसिकता, भयंकर क्षार नदी, कृमिभोजन और अठारहवेंको घोर वैतरणी नदी कहा जाता है । उनके अतिरिक्त शोणित-पूयभोजन, क्षुराग्रधार, निशितचक्रक तथा संशोषण नामक अन्तरहित नरक हैं । सुकेशिन् ! हमलोगोंने तुमसे इन नरकोंका वर्णन कर दिया ॥ ५५—५८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

[अथ द्वादशोऽध्यायः]

सुकेशिरुवाच

कर्मणा नरकानेतान् केन गच्छन्ति वै कथम्। एतद् वदन्तु विप्रेन्द्राः परं कौतूहलं मम ॥ १ ॥

बारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिका नरक देनेवाले कर्मोंके सम्बन्धमें प्रश्न, ऋषियोंका उत्तर और नरकोंका वर्णन)

सुकेशिने पूछा—'हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! इन नरकोंमें लोग किस कर्मसे और कैसे जाते हैं, यह आपलोग बतलायें। इस विषयको जाननेकी मेरी बड़ी उत्सुकता है ॥ १ ॥

ऋषय ऊचुः

कर्मणा येन येनेह यान्ति शालकटंकट[1]। स्वकर्मफलभोगार्थं नरकान् शृणुष्व मेतान् ॥ २ ॥
वेददेवद्विजातीनां यैर्निन्दा सततं कृता। ये पुराणेतिहासार्थान् नाभिनन्दन्ति पापिनः ॥ ३ ॥
गुरुनिन्दाकरा ये च मखविघ्नकराश्च ये। दातुर्निवारका ये च तेषु ते निपतन्ति हि ॥ ४ ॥
सुहृद्दम्पतिसोदर्यस्वामिभृत्यपितासुतान्। याज्योपाध्याययोर्यैश्च कृता भेदोऽधमैर्मिथः ॥ ५ ॥
कन्यामेकस्य दत्त्वा च ददत्यन्यस्य येऽधमाः। करपत्रेण पाट्यन्ते ते द्विधा यमकिंकरैः ॥ ६ ॥

ऋषिजन बोले—सुकेशिन्! मनुष्य अपने जिन-जिन कर्मोंके फल भोग करनेके लिये इन नरकोंमें जाते हैं, उन्हें हमसे सुनो। जिन लोगोंने वेद, देवता एवं द्विजातियोंकी सदा निन्दा की है, जो पुराण एवं इतिहासके अर्थोंमें आदरबुद्धि या श्रद्धा नहीं रखते और जो गुरुओंकी निन्दा करते हैं तथा यज्ञोंमें विघ्न डालते हैं, जो दाताको दान देनेसे रोकते हैं, वे सभी उन (वर्णित हो रहे) नरकोंमें गिरते हैं। जो अधम व्यक्ति मित्र, स्त्री-पुरुष, सहोदर भाई, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र एवं आचार्य तथा यजमानोंमें परस्पर झगड़ा लगाते हैं तथा जो अधम व्यक्ति एकको कन्या देकर पुनः दूसरेको दे देते हैं, वे सभी यमदूतोंद्वारा नरकोंमें आरासे दो भागोंमें चीरे जाते हैं ॥ २—६ ॥

परोपतापजनकाश्चन्दनोशीरहारिणः। बालव्यजनहर्त्तारः करम्भसिकताश्रिताः ॥ ७ ॥
निमन्त्रितोऽन्यतो भुङ्क्ते श्राद्धे दैवे सपैतृके। स द्विधा कृष्यते मूढस्तीक्ष्णतुण्डैः खगोत्तमैः ॥ ८ ॥
मर्माणि यस्तु साधूनां तुदन् वाग्भिर्निकृन्तति। तस्योपरि तुदन्तस्तु तुण्डैस्तिष्ठन्ति पतत्रिणः ॥ ९ ॥
यः करोति च पैशुन्यं साधूनामन्यथामतिः। वज्रतुण्डनखा जिह्वामाकर्षन्तेऽस्य वायसाः ॥ १० ॥

(इसी प्रकार) जो दूसरेको संताप देते, चन्दन और खसकी चोरी करते और बालोंसे बने व्यंजनों-चँवरोंको चुराते हैं, वे करम्भसिकता नामक नरकमें जाते हैं। जो देव या पितृश्राद्धमें निमन्त्रित होकर अन्यत्र भोजन करता है, उस मूर्खको नरकमें तीक्ष्ण चोंचवाले बड़े-बड़े नरकपक्षी पकड़कर दोनों ओर खींचते हैं। जो तीखे वचनोंके द्वारा चोट करते हुए साधुओंके हृदयको दुखाता है, उसके ऊपर भयंकर पक्षी अपने चोंचोंसे कठोर प्रहार करते हैं। जो दुष्टबुद्धि मनुष्य साधुओंकी चुगली-निन्दा करता है, उसकी जीभको वज्रतुल्य चोंच और नखवाले कौए खींच लेते हैं ॥ ७—१० ॥

मातापितृगुरूणां च येऽवज्ञां चक्रुरुद्धताः। मज्जन्ते पूयविण्मूत्रे त्वप्रतिष्ठे ह्यधोमुखाः ॥ ११ ॥
देवतातिथिभूतेषु भृत्येष्वभ्यागतेषु च। अभुक्तवत्सु ये ध्नन्ति बालपित्रग्निमातृषु ॥ १२ ॥

१—शालकटंकट महाभारत ७। १०९। २२—३१ में अलम्बुषका तथा यहाँ सुकेशीका नामान्तर है। सुकेशि और सुकेशी भी चलते हैं।

दुष्टासृक्पूयनिर्यासं भुञ्जते त्वधमा इमे। सूचीमुखाश्च जायन्ते क्षुधार्त्ता गिरिविग्रहाः ॥१३॥
एकपङ्क्त्युपविष्टानां विषमं भोजयन्ति ये। विड्भोजनं राक्षसेन्द्र नरकं ते व्रजन्ति च ॥१४॥

जो उद्धत लड़के अपने माता-पिता एवं गुरुकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, वे पीब, विष्ठा एव मूत्रसे पूर्ण अप्रतिष्ठ नामक नरकमें नीचेकी ओर मुँह कर डुबाये जाते हैं। जो देवता, अतिथि, अन्य प्राणी, सेवक, बाहरसे आये व्यक्ति, बालक, पिता, अग्नि एव माताओंको बिना भोजन कराये पहले ही खा लेते हैं, वे अधम पुरुष पर्वततुल्य शरीर एवं सूची-सदृश मुखवाले होकर भूखसे व्याकुल रहते हुए दूषित रक्त एव पीबका सार भक्षण करते हैं। हे राक्षसराज! एक ही पङ्क्तिमें बैठे हुए लोगोंको जो समानरूपसे भोजन नहीं कराते, वे विड्भोजन नामक नरकमें जाते हैं ॥ ११-१४ ॥

एक सार्थप्रयातं ये पश्यन्तश्चार्थिनं नराः। असंविभज्य भुञ्जन्ति ते यान्ति श्लेष्मभोजनम् ॥ १५ ॥
गोब्राह्मणाग्नयः स्पृष्टा यैरुच्छिष्टैः क्षपाचर। छिप्यन्ते हि करास्तेषां तप्तकुम्भे सुदारुणे ॥ १६ ॥
सूर्येन्दुतारका दृष्टा यैरुच्छिष्टैश्च कामतः। तेषां नेत्रगतो वह्निर्धम्यते यमकिंकरैः ॥ १७ ॥
मित्रजायाथ जननी ज्येष्ठो भ्राता पिता स्वसा। जामयो गुरवो वृद्धा यैः संस्पृष्टाः पदा नृभिः ॥ १८ ॥
बद्धाङ्घ्रयस्ते निगडैर्लोहैर्वह्निप्रतापितैः। क्षिप्यन्ते रौरवे घोरे ह्याजानुपरिदाहिनः ॥ १९ ॥

जो लोग एक साथ चलनेवाले किसी बहुत तीव्र चाहवालेको देखते हुए भी उसे अन्न नहीं देते—अकेले भोजन करते हैं, वे श्लेष्मभोजन नामक नरकमें जाते हैं। हे राक्षस! जो उच्छिष्टावस्थामें (जूठे रहते हुए) गाय, ब्राह्मण और अग्निको स्पर्श करते हैं, उनके हाथ भयंकर तप्तकुम्भमें डाले जाते हैं। जो उच्छिष्टावस्थामें स्वेच्छासे सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रको देखते हैं, उनके नेत्रोंमें यमदूत अग्नि जलाते हैं। जो मित्रकी पत्नी, माता, जेठ भाई, पिता, बहन, पुत्री, गुरु और वृद्धोंको पैरसे छूते हैं, उन मनुष्योंके पैर खूब जलते हुए बेड़ीसे बाँधकर उन्हें रौरव-नरकमें डाला जाता है, जहाँ वे घुटनोंतक जलते रहते हैं ॥ १५-१९ ॥

पायसं कृशरं मांसं वृथा भुक्तानि यैर्नरैः। तेषामयोगुडास्तप्ताः क्षिप्यन्ते वदनेऽद्भुता ॥ २० ॥
गुरुदेवद्विजातीनां वेदानां च नराधमैः। निन्दा निशामिता यैस्तु पापानामिति कुर्वताम् ॥ २१ ॥
तेषां लोहमया कीला वह्निवर्णाः पुनः पुनः। श्रवणेषु निखन्यन्ते धर्मराजस्य किंकरैः ॥ २२ ॥
प्रपादेवकुलारामान् विप्रवेश्मसभामठान्। कूपवापीतडागांश्च भङ्क्त्वा विध्वंसयन्ति ये ॥ २३ ॥
तेषां विलपतां चर्म देहतः क्रियते पृथक्। कर्तिकाभिः सुतीक्ष्णाभिः सुरौद्रैर्यमकिंकरैः ॥ २४ ॥

जो बिना विशेष प्रयोजनके—खीर, खिचड़ी एवं मांसका भोजन करते हैं, उनके मुँहमें जलता हुआ लोहेका पिण्ड डाला जाता है। जो पापियोंद्वारा की गयी गुरु, देवता, ब्राह्मण और वेदोंकी निन्दाको सुनते हैं, उन नीच मनुष्योंके कानोंमें धर्मराजके किंकर अग्निवर्ण लोहेकी कीलें बार-बार ठोकते रहते हैं। जो प्याऊ (पौसार), देवमन्दिर, बगीचा, ब्राह्मणगृह, सभा, मठ, कुआँ, बावली एव तडागको तोड़कर नष्ट करते हैं, उन मनुष्योंके विलाप करते रहनेपर भी भयकर यमकिंकर सुतीक्ष्ण छुरिकाओंद्वारा उनकी चमड़ी उधेड़ते हैं—उनकी देहसे चर्मको काटकर पृथक् करते रहते हैं ॥ २०-२४ ॥

गोब्राह्मणार्कमग्निं च ये वै मेहन्ति मानवाः। तेषां गुदेन चान्त्राणि विनिष्कृन्तन्ति वायसाः ॥ २५ ॥
स्वपोषणपरो यस्तु परित्यजति मानवः। पुत्रभृत्यकलत्रादिबन्धुवर्गमकिंचनम् ।
दुर्भिक्षे संभ्रमे चापि स श्वभोज्ये निपात्यते ॥ २६ ॥

शरणागतं ये त्यजन्ति ये च बन्धनपालकाः । पतन्ति यन्त्रपीडे ते ताड्यमानास्तु किंकरैः ॥ २७ ॥
क्लेशयन्ति हि विप्रादीन् ये ह्यकर्मसु पापिनः । ते पिष्यन्ते शिलापेषे शोष्यन्तेऽपि च शोषकैः ॥ २८ ॥

जो गाय, ब्राह्मण, सूर्य और अग्निके सम्मुख मल-मूत्रादिका त्याग करते हैं, उनकी गुदासे कौए उनकी ऑतोंको नोच-नोचकर काटते हैं। जो दुर्भिक्ष (अकाल) एवं विप्लवके समय अकिंचन, पुत्र, भृत्य एवं कलत्र (स्त्री) आदि बन्धुवर्गको छोड़कर आत्म-पोषण करता है, वह यमदूतोंद्वारा श्वभोजन नामक नरकमें डाला जाता है। जो रक्षाके लिये शरणमें आये व्यक्तिका परित्याग करता है, वह मनुष्य बन्दीगृह-रक्षक यमदूतोंके द्वारा पीटे जाते हुए यन्त्रपीड नामक नरकमें गिरते हैं। जो लोग ब्राह्मणोंको कुकर्मोंमें लगाकर उन्हें क्लेश देते हैं, वे पापी मनुष्य शिलाओंपर पीसे जाते हैं और अग्नि-सूर्य आदिद्वारा शोषित भी किये जाते हैं ॥ २५–२८ ॥

न्यासापहारिणः पापा बध्यन्ते निगडैरपि । क्षुत्क्षामाः शुष्कताल्वोष्ठाः पात्यन्ते वृश्चिकाशने ॥ २९ ॥
पर्वमैथुनिनः पापाः परदाररताश्च ये । ते वह्नितप्तां कूटाग्रामालिङ्गन्ते च शाल्मलीम् ॥ ३० ॥
उपाध्यायमधःकृत्य यैरधीतं द्विजाधमैः । तेषामध्यापको यश्च स शिलां शिरसा वहेत् ॥ ३१ ॥
मूत्रश्लेष्मपुरीषाणि यैरुत्सृष्टानि वारिणि । ते पात्यन्ते च विण्मूत्रे दुर्गन्धे पूयपूरिते ॥ ३२ ॥

जो धरोहरको चुरा लेते हैं, उन्हें बेड़ी लगाकर भूखसे पीड़ित एवं सूखे तालु और ओठकी अवस्थामें वृश्चिकाशन नामक नरकमें गिराया जाता है। जो पर्वोंमें मैथुन करते तथा परस्त्री-संग करते हैं, उन पापियोंको वह्नितप्त कीलोंवाले शाल्मलिका (विवशतासे) आलिङ्गन करना पड़ता है। जो द्विज उपाध्यायको स्वयंकी अपेक्षा निम्नासनपर बैठाकर अध्ययन करता है, उन अधम द्विजों एवं उनके अध्यापकको शिरपर शिला वहन करनी पड़ती है। जो जलमें मूत्र, कफ एवं मलका त्याग करते हैं, उन्हें दुर्गन्धयुक्त विष्ठा और पीवसे पूर्ण विण्मूत्रनामक नरकमें गिराया जाता है ॥ २९—३२ ॥

श्राद्धातिथेयमन्योन्यं यैर्भुक्तं भुवि मानवैः । परस्परं भक्षयन्ते मांसानि स्वानि बालिशाः ॥ ३३ ॥
वेदवह्निगुरुत्यागी भार्यापित्रोस्तथैव च । गिरिशृङ्गादधःपातं पात्यन्ते यमकिंकरैः ॥ ३४ ॥
पुनर्भूपतयो ये च कन्याविध्वंसकाश्च ये । तद्गर्भश्राद्धभुग् यश्च कृमीन्भक्षेत्पिपीलिकाः ॥ ३५ ॥
चाण्डालादन्त्यजाद्वापि प्रतिगृह्णाति दक्षिणाम् । याजको यजमानश्च सोऽश्मान्तः स्थूलकीटकः ॥ ३६ ॥

जो इस संसारमें श्राद्धके अवसरपर अतिथिके निमित्त तैयार किये गये पदार्थको परस्पर भक्षण कर लेते हैं, उन मूर्खोंको परलोकमें एक-दूसरेका मांस खाना पड़ता है। जो वेद, अग्नि, गुरु, भार्या, पिता एवं माताका त्याग करते हैं, उन्हें यमदूत गिरिशिखरके ऊपरसे नीचे गिराते हैं। जो विधवासे विवाह कराते, अविवाहित कन्याको दूषित करते एवं उक्त प्रकारसे उत्पन्न व्यक्तियोंकी सन्तानके यहाँ श्राद्धमें भोजन करते हैं, उन्हें कृमि तथा पिपीलिकाका भक्षण करना पड़ता है। जो ब्राह्मण चाण्डाल और अन्त्यजोंसे दक्षिणा लेते हैं उन्हें उनके यजमानको पत्थरमें रहनेवाला स्थूल कीट बनना पड़ता है ॥ ३३—३६ ॥

पृष्ठमांसाशिनो मूढास्तथैवोत्कोचजीविनः । क्षिप्यन्ते वृकभक्षे ते नरके रजनीचर ॥ ३७ ॥
स्वर्णस्तेयी च ब्रह्मघ्नः सुरापी गुरुतल्पगः । तथा गोभूमिहर्त्तारो गोस्त्रीबालहनाश्च ये ॥ ३८ ॥
एते नरा द्विजा ये च गोषु विक्रयिणस्तथा । सोमविक्रयिणो ये च वेदविक्रयिणस्तथा ॥ ३९ ॥
कूटसभ्यास्त्वशौचाश्च नित्यनैमित्तनाशकाः । कूटसाक्ष्यप्रदा ये च ते महारौरवे स्थिताः ॥ ४० ॥

राक्षस ! जो पीठपीछे शिकायत करते हैं—चुगली करते एवं घूस लेते हैं, उन्हें वृकभक्ष नामक नरकमें डाला जाता है। इसी प्रकार सोना चुरानेवाले, ब्रह्महत्यारे, मद्यपी, गुरुपत्नीगामी, गाय तथा भूमिकी चोरी करनेवाले एवं स्त्री तथा बालकको मारनेवाले मनुष्यो तथा गो, सोम एवं वेदका विक्रय करनेवाले, दम्भी, टेढ़ी भाषामें झूठी गवाही देनेवाले तथा पवित्रताके आचरणको छोड देनेवाले और नित्य एवं नैमित्तिककर्मोंके नाश करनेवाले द्विजोंको महारौरव नामक नरकमें रहना पड़ता है ॥ ३७—४० ॥

दशवर्षसहस्राणि तावत् तामिस्रके स्थिताः। तावच्चैवान्धतामिस्रे असिपत्रवने ततः ॥ ४१ ॥
तावच्चैव घटीयन्त्रे तप्तकुम्भे ततः परम्। प्रपातो भवते तेषां यैरिदं दुष्कृतं कृतम् ॥ ४२ ॥
ये त्वेते नरका रौद्रा रौरवाद्यास्तवोदिताः। ते सर्वे क्रमशः प्रोक्ताः कृतघ्ने लोकनिन्दिते ॥ ४३ ॥

उपर्युक्त प्रकारके पापियोको दस हजार वर्ष तामिस्र नरकमें तथा उतने ही वर्षोंतक अन्धतामिस्र और असिपत्रवन नामक नरकमें रहनेके बादसे भी—उतने ही वर्षोंतक घटीयन्त्र और तप्तकुम्भमें रहना पडता है। जिन भयङ्कर रौरव आदि नरकोंमें हमने तुमसे वर्णन किया है, वे सभी लोक-निन्दित कृतघ्नोको बारी-बारीसे प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४१—४३ ॥

यथा सुराणां प्रवरो जनार्दनो यथा गिरीणामपि शैशिराद्रिः।
यथा युधानां प्रवरं सुदर्शनं यथा खगानां विनतातनूजः ॥
महोरगाणां प्रवरोऽप्यनन्तो यथा च भूतेषु मही प्रधाना ॥ ४४ ॥
नदीषु गङ्गा जलजेषु पद्मं सुरारिमुख्येषु हराङ्घ्रिभक्तः।
क्षेत्रेषु यद्वत्कुरुजाङ्गलं वरं तीर्थेषु यद्वत् प्रवरं पृथूदकम् ॥ ४५ ॥
सरस्सु चैवोत्तरमानसं यथा वनेषु पुण्येषु हि नन्दनं यथा।
लोकेषु यद्वत्सदनं विरिञ्चेः सत्यं यथा धर्मविधिक्रियासु ॥ ४६ ॥
यथाश्वमेधः प्रवरः क्रतूनां पुत्रो यथा स्पर्शवतां वरिष्ठः।
तपोधनानामपि कुम्भयोनिः श्रुतिर्वरा यद्वदिहागमेषु ॥ ४७ ॥
मुख्यः पुराणेषु यथैव मात्स्यः स्वायंभुवोक्तिस्त्वपि संहितासु।
मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव तिथीषु दर्शो विषुवेषु दानम् ॥ ४८ ॥

जैसे देवताओमे श्रीविष्णु, पर्वतोमें हिमालय, अस्त्रोमें सुदर्शन, पक्षियोमे गरुड, महान् सर्पोंमे अनन्तनाग तथा भूतोमें पृथ्वी श्रेष्ठ हैं; नदियोमे गङ्गा, जलमे उत्पन्न होनेवालोंमें कमल, देव-शत्रु-दैत्योमें महादेवके चरणोका भक्त और क्षेत्रोमे जैसे कुरुजांगल और तीर्थोंमे पृथूदक हैं; जलाशयोमे उत्तरमानस, पवित्र वनोमें नन्दनवन, लोकोमें ब्रह्मलोक, धर्म-कार्योंमें सत्य प्रधान है तथा जैसे यज्ञोमे अश्वमेध, छूनेयोग्य (स्पर्शसुख) पदार्थोंमें पुत्र सुखदायक है; तपस्वियोमें अगस्त्य, आगम शास्त्रोमे वेद श्रेष्ठ है; जैसे पुराणोमें मत्स्यपुराण, सहिताओमे स्वयम्भूसंहिता, स्मृतियोमें मनुस्मृति, तिथियोमे अमावस्या और विषुवो अर्थात मेष और तुला राशिमे सूर्यके सक्रमण संक्रान्तिके अवसरपर किया गया दान श्रेष्ठ होता है; ॥ ४४—४८ ॥

तेजस्विनां यद्वदिहार्क उक्तो ऋक्षेषु चन्द्रो जलधिर्ह्रदेषु।
भवान् तथा राक्षससत्तमेषु पाशेषु नागस्तिमितेषु बन्धः ॥ ४९ ॥

धान्येषु शालिर्द्विपदेषु विप्रः चतुष्पदे गोः श्वपदां मृगेन्द्रः ।
पुष्पेषु जाती नगरेषु काञ्ची नारीषु रम्भाऽऽश्रमिणां गृहस्थः ॥ ५० ॥
कुशस्थली श्रेष्ठतमा पुरेषु देशेषु सर्वेषु च मध्यदेशः ।
फलेषु चूतो मुकुलेष्वशोकः सर्वौषधीनां प्रवरा च पथ्या ॥ ५१ ॥
मूलेषु कन्दः प्रवरो यथोक्तो व्याधिष्वजीर्णं क्षणदाचरेन्द्र ।
श्वेतेषु दुग्धं प्रवरं यथैव कार्पासिकं प्रावरणेषु यद्वत् ॥ ५२ ॥

जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, जलाशयोंमें समुद्र, अच्छे राक्षसोंमें आप और निग्रह करनेवाले पाशोंमें नागपाश श्रेष्ठ हैं एवं जैसे धानोंमें शालि, दो पैरवालोंमें ब्राह्मण, चौपायोंमें गाय, जंगली जानवरोंमें सिंह, फूलोंमें जाती (चमेली), नगरोंमें काञ्ची, नारियोंमें रम्भा और आश्रमियोंमें गृहस्थ श्रेष्ठ हैं; जैसे सप्तपुरियोंमें द्वारका, समस्त देशोंमें मध्यदेश, फलोंमें आम, मुकुलोंमें अशोक और जड़ी-बूटियोंमें हरीतकी सर्वश्रेष्ठ है; हे निशाचर! जैसे मूलोंमें कन्द, रोगोंमें अपच, श्वेत वस्तुओंमें दुग्ध और वस्त्रोंमें रूईके कपड़े श्रेष्ठ हैं; ॥ ४९–५२ ॥

कलासु मुख्या गणितज्ञता च विज्ञानमुख्येषु यथेन्द्रजालम् ।
शाकेषु मुख्या त्वपि काकमाची रसेषु मुख्यं लवणं यथैव ॥ ५३ ॥
तुङ्गेषु तालो नलिनीषु पम्पा वनौकसेष्वेव च ऋक्षराजः ।
महीरुहेष्वेव यथा वटश्च यथा हरो ज्ञानवतां वरिष्ठः ॥ ५४ ॥
यथा सतीनां हिमवत्सुता हि यथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ।
यथा वृषाणामपि नीलवर्णो यथैव सर्वेष्वपि दुःसहेषु ।
दुर्गेषु रौद्रेषु निशाचरेश नृपातनं वैतरणी प्रधाना ॥ ५५ ॥
पापीयसां तद्वदिह कृतघ्नः सर्वेषु पापेषु निशाचरेन्द्र ।
ब्रह्मघ्नगोघ्नादिषु निष्कृतिर्हि विद्येत नैवास्य तु दुष्टचारिणः ।
न निष्कृतिश्चास्ति कृतघ्नवृत्तेः सुहृत्कृतं नाशयतोऽब्दकोटिभिः ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

निशाचर! जैसे कलाओंमें गणितका जानना, विज्ञानोंमें इन्द्रजाल, शाकोंमे मकोय, रसोंमें नमक, ऊँचे पेड़ोंमें ताड़, कमल-सरोवरोंमे पंपासर, वनैले जीवोंमें भालू, वृक्षोंमें वट, ज्ञानियोंमें महादेव वरिष्ठ हैं; जैसे सतियोंमे हिमालयकी पुत्री पार्वती, गौओंमें काली गाय, बैलोंमें नील रंगका बैल, सभी दुःसह कठिन एवं भयंकर नरकोंमें नृपातन वैतरणी प्रधान है, उसी प्रकार हे निशाचरेन्द्र! पापियोंमें कृतघ्न प्रधानतम पापी होता है। ब्रह्महत्या एवं गोहत्या आदि पापोंकी निष्कृति तो हो जाती है, पर दुराचारी पापी एवं मित्रद्रोही कृतघ्नका करोड़ों वर्षोंमें भी निस्तार नहीं होता ॥ ५३–५६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

[अथ त्रयोदशोऽध्यायः]

सुकेशिरुवाच

भवद्भिरुदिता घोरा पुष्करद्वीपसंस्थितिः। जम्बूद्वीपस्य तु संस्थानं कथयन्तु महर्षयः॥ १॥

तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिके प्रश्नके उत्तरमें ऋषियोंका जम्बू-द्वीपकी स्थिति और उनमें स्थित पर्वत तथा नदियोंका वर्णन)

सुकेशीने कहा—आदरणीय ऋषियो! आपलोगोंने पुष्करद्वीपके भयंकर अवस्थानका वर्णन किया, अब आपलोग (कृपाकर) जम्बूद्वीपकी स्थितिका वर्णन करें॥ १॥

ऋषय ऊचुः

जम्बूद्वीपस्य संस्थानं कथ्यमानं निशामय। नवभेदं सुविस्तीर्णं स्वर्गमोक्षफलप्रदम्॥ २॥
मध्ये त्विलावृतो वर्षो भद्राश्वः पूर्वतोऽद्भुतः। पूर्वे उत्तरतश्चापि हिरण्यो राक्षसेश्वर॥ ३॥
पूर्वदक्षिणतश्चापि किंनरो वर्ष उच्यते। भारतो दक्षिणे प्रोक्तो हरिर्दक्षिणपश्चिमे॥ ४॥
पश्चिमे केतुमालश्च रम्यकः पश्चिमोत्तरे। उत्तरे च कुरुर्वर्षः कल्पवृक्षसमावृतः॥ ५॥

ऋषियोंने कहा—राक्षसेश्वर! (अब) तुम हमलोगोंसे जम्बूद्वीपकी स्थितिका वर्णन सुनो। यह द्वीप अत्यन्त विशाल है और नव भागोंमें विभक्त है। यह स्वर्ग एवं मोक्ष-फलको देनेवाला है। जम्बूद्वीपके बीचमें इलावृत-वर्ष, पूर्वमें अद्भुत भद्राश्ववर्ष तथा पूर्वोत्तरमें हिरण्यकवर्ष है। पूर्व-दक्षिणमें किन्नरवर्ष, दक्षिणमें भारतवर्ष तथा दक्षिण-पश्चिममें हरिवर्ष बताया गया है। इसके पश्चिममें केतुमालवर्ष, पश्चिमोत्तरमें रम्यकवर्ष और उत्तरमें कल्प-वृक्षसे समावृत कुरुवर्ष है॥ २—५॥

पुण्या रम्या नवैवैते वर्षाः शालकटंकट। इलावृताद्या ये चाष्टौ वर्षमुक्त्वैव भारतम्॥ ६॥
न तेष्वस्ति युगावस्था जरामृत्युभयं न च।
तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः। विपर्ययो न तेष्वस्ति नोत्तमाधममध्यमाः॥ ७॥
यदेतद् भारतं वर्षं नवद्वीपं निशाचर। सागरान्तरिताः सर्वे अगम्याश्च परस्परम्॥ ८॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुमांस्ताम्रवर्णो गभस्तिमान्। नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा॥ ९॥
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः। कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः॥ १०॥

सुकेशि! ये नव पवित्र और रमणीय व[र्ष] हैं। भारतवर्षके अतिरिक्त इलावृतादि आठ वर्षोंमें युगावस्था तथा जरामृत्युका भय नहीं होता। उन वर्षोंमें बिना प्रयत्नके स्वभावतः बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ मिलती हैं। उनमें उत्तम, मध्यम, अधम आदिका किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है। निशाचर! इस भारतवर्षके भी नव उपद्वीप हैं। ये सभी द्वीप समुद्रोंसे घिरे हैं और परस्पर अगम्य हैं। भारतवर्षके नव उपद्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, कटाह, सिंहल और वारुण नवाँ मुख्य यह कुमारद्वीप भारत-सागरसे लगा हुआ दक्षिणसे उत्तरकी ओर फैला है।॥ ६—१०॥

पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः। आन्ध्रा दक्षिणतो वीर तुरुष्कास्त्वपि चोत्तरे॥ ११॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्तरवासिनः। इज्यायुद्धवणिज्याद्यैः कर्मभिः कृतपावनाः॥ १२॥
तेषां संव्यवहारश्च एभिः कर्मभिरिष्यते। स्वर्गापवर्गप्राप्तिश्च पुण्यं पापं तथैव च॥ १३॥
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ १४॥

वीर ! भारतवर्षके पूर्वकी सीमापर किरात, पश्चिममें यवन, दक्षिणमें आन्ध्र तथा उत्तरमें तुरुष्कलोग निवास करते हैं। इसके बीचमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रलोग रहते हैं। यज्ञ, युद्ध एवं वाणिज्य आदि कर्मोंके द्वारा वे सभी पवित्र हो गये हैं। उनका व्यवहार, स्वर्ग और अपवर्ग- (मोक्ष-) की प्राप्ति तथा पाप एवं पुण्य इन्हीं (यज्ञादि) कर्मोंद्वारा होते हैं। इस वर्षमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान् ऋक्ष, विन्ध्य एवं पारियात्र नामवाले सात मुख्य कुल पर्वत हैं ॥ ११-१४ ॥

तथान्ये शतसाहस्रा भूधरा मध्यवासिनः। विस्तारोच्छ्रायिणो रम्या विपुलाः शुभसानवः ॥ १५ ॥
कोलाहलः स वैभ्राजो मन्दरो दर्दुराचलः। वातंधमो वैद्युतश्च मैनाकः सरसस्तथा ॥ १६ ॥
तुङ्गप्रस्थो नागगिरिस्तथा गोवर्धनाचलः। उज्जायनः पुष्पगिरिरर्बुदो रैवतस्तथा ॥ १७ ॥
ऋष्यमूकः सगोमन्तश्चित्रकूटः कृतस्मरः। श्रीपर्वतः कोङ्कणश्च शतशोऽन्येऽपि पर्वताः ॥ १८ ॥

इसके मध्यमें अन्य लाखों पर्वत हैं जो अत्यन्त विस्तृत, उत्तुङ्ग (ऊँचे) रम्य एवं सुन्दर शिखरोंसे सुशोभित हैं। यहाँ कोलाहल, वैभ्राज, मन्दार गिरि, दर्दुर, वातंधम, वैद्युत, मैनाक, सरस, तुङ्गप्रस्थ, नागगिरि, गोवर्धन, उज्जयन्त (गिरिनार), पुष्पगिरि, अर्बुद (आबू), रैवत, ऋष्यमूक, गोमन्त (गोवाका पर्वत), चित्रकूट, कृतस्मर, श्रीपर्वत, कोङ्कण तथा अन्य सैकड़ो पर्वत भी विराज रहे हैं ॥ १५-१८ ॥

तैर्विमिश्रा जनपदा म्लेच्छा आर्याश्च भागशः। तैः पीयन्ते सरिच्छ्रेष्ठा यास्ताः सम्यङ्निशामय ॥ १९ ॥
सरस्वती पञ्चरूपा कालिन्दी सहिरण्वती। शतद्रुश्चन्द्रिका नीला वितस्तैरावती कुहूः ॥ २० ॥
मधुरा देविका चैव उशीरा धातकी रसा। गोमती धूतपापा च बाहुदा सदृषद्वती ॥ २१ ॥
निश्चीरा गण्डकी चित्रा कौशिकी च वधूसरा। सरयूश्च सलौहित्या हिमवत्पादनिःसृताः ॥ २२ ॥

उनसे संयुक्त आर्यों और म्लेच्छोंके विभागोंके अनुसार जनपद हैं। यहाँके निवासी जिन उत्तम नदियोंके जल पीते हैं उनका वर्णन भलीभाँति सुनो। पाँच रूपकी सरस्वती, यमुना, हिरण्वती, सतलज, चन्द्रिका, नीला, वितस्ता, ऐरावती, कुहू, मधुरा, देविका, उशीरा, धातकी, रसा, गोमती, धूतपापा, बाहुदा, दृषद्वती, निश्चीरा, गण्डकी, चित्रा, कौशिकी, वधूसरा, सरयू तथा लौहित्या—ये नदियाँ हिमालयकी तलहटीसे निकली हैं ॥ १९-२२ ॥

वेदस्मृतिर्वेदवती वृत्रघ्नी सिन्धुरेव च। पर्णाशा नन्दिनी चैव पावनी च मही तथा ॥ २३ ॥
पारा चर्मण्वती लूपी विदिशा वेणुमत्यपि। सिप्रा ह्यवन्ती च तथा पारियात्राश्रयाः स्मृताः ॥ २४ ॥
शोणो महानदश्चैव नर्मदा सुरसा कृपा। मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटापवाहिका ॥ २५ ॥
चित्रोत्पला वै तमसा करमोदा पिशाचिका। तथान्या पिप्पलश्रोणी विपाशा वञ्जुलावती ॥ २६ ॥
सत्सन्तजा शुक्तिमती मञ्जिष्ठा कृत्तिमा वसुः। ऋक्षपादप्रसूता च तथान्या वालुवाहिनी ॥ २७ ॥

वेदस्मृति, वेदवती, वृत्रघ्नी, सिन्धु, पर्णाशा, नन्दिनी, पावनी, मही, पारा, चर्मण्वती, लूपी, विदिशा, वेणुमती, सिप्रा तथा अवन्ती—ये नदियाँ पारियात्र पर्वतसे निकली हुई हैं। महानद शोण, नर्मदा, सुरसा, कृपा, मन्दाकिनी, दशार्णा, चित्रकूटा, अपवाहिका, चित्रोत्पला, तमसा, करमोदा, पिशाचिका, पिप्पलश्रोणी, विपाशा, वञ्जुलवती, सत्सन्तजा, शुक्तिमती, मञ्जिष्ठा, कृत्तिमा, वसु और वालुवाहिनी—ये नदियाँ तथा दूसरी जो वालुका बहानेवाली हैं, ऋक्षपर्वतकी तलहटीसे निकली हुई हैं ॥ २३-२७ ॥

शिवा पयोष्णी निर्विन्ध्या तापी सनिषधावती। वेणा वैतरणी चैव सिनीवाहुः कुमुद्वती ॥ २८ ॥
तोया चैव महागौरी दुर्गन्धा वाशिला तथा। विन्ध्यपादप्रसूताश्च नद्यः पुण्यजलाः शुभाः ॥ २९ ॥

गोदावरी भीमरथी कृष्णा वेणा सरस्वती। तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा वाह्या कावेरिरेव च ॥ ३० ॥
दुग्धोदा नलिनी रेवा वारिसेना कलस्वना। एतास्त्वपि महानद्यः सह्यपादविनिर्गताः ॥ ३१ ॥

शिवा, पयोष्णी (पैनगंगा), निर्विन्ध्या (कालीसिंध), तापी, निषधावती, वेणा, वैतरणी, सिनीबाहु, कुमुद्वती, तोया, महागौरी, दुर्गन्धा तथा वाशिला—ये पवित्र जलवाली कल्याणकारिणी नदियाँ विन्ध्यपर्वतसे निकली हुई हैं। गोदावरी, भीमरथी, कृष्णा, वेणा, सरस्वती, तुङ्गभद्रा, सुप्रयोगा, वाह्या, कावेरी, दुग्धोदा, नलिनी, रेवा (नर्मदा), वारिसेना तथा कलस्वना—ये महानदियाँ सह्यपर्वतके पाद-(नीचे-)से निकली हैं ॥२८-३१॥

कृतमाला ताम्रपर्णी वञ्जुला चोत्पलावती। सिनी चैव सुदामा च शुक्तिमत्प्रभवास्त्विमाः ॥ ३२ ॥
सर्वाः पुण्याः सरस्वत्यः पापप्रशमनास्तथा। जगतो मातरः सर्वाः सर्वाः सागरयोषितः ॥ ३३ ॥
अन्याः सहस्रशश्चात्र क्षुद्रनद्यो हि राक्षस। सदाकालवहाश्चान्याः प्रावृट्कालवहास्तथा।
उदङ्मध्योद्भवा देशाः पिबन्ति स्वेच्छया शुभाः ॥ ३४ ॥
मत्स्याः कुशट्टाः कुणिकुण्डलाश्च। पाञ्चालकाश्याः सह कोसलाभिः ॥ ३५ ॥
वृकाः शबरकौवीराः सभूलिङ्गा जनास्त्विमे। शकाश्चैव समशका मध्यदेश्या जनास्त्विमे ॥ ३६ ॥

कृतमाला, ताम्रपर्णी, वञ्जुला, उत्पलावती, सिनी तथा सुदामा—ये नदियाँ शुक्तिमान् पर्वतसे निकली हुई हैं। ये सभी नदियाँ पवित्र, पापोंका प्रशमन करनेवाली, जगत्की माताएँ तथा सागरकी पत्नियाँ हैं। राक्षस! इनके अतिरिक्त भारतमें अन्य हजारों छोटी नदियाँ भी बहती हैं। इनमें कुछ तो सदैव प्रवाहित होनेवाली हैं। उत्तर एवं मध्यके देशोंके निवासी इन पवित्र नदियोंके जलको स्वेच्छया पान करते हैं। मत्स्य, कुशट्ट, कुणि, कुण्डल, पाञ्चाल, काशी, कोसल, वृक, शबर, कौवीर, भूलिङ्ग, शक तथा मशक-जातियोंके मनुष्य मध्यदेशमें रहते हैं ॥ ३२–३६ ॥

वाह्लीका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः। अपरान्तास्तथा शूद्राः पह्लवाश्च सखेटकाः ॥ ३७ ॥
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरमद्रकाः। शातद्रवा ललित्थाश्च पारावतसमूषकाः ॥ ३८ ॥
माठरोदकधाराश्च कैकेया दशमास्तथा। क्षत्रियाः प्रातिवैश्याश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ॥ ३९ ॥
काम्बोजा दरदाश्चैव बर्बरा ह्यङ्गलौकिकाः। चीनाश्चैव तुषाराश्च बहुधा बाह्यतोदराः ॥ ४० ॥
आत्रेयाः सभरद्वाजाः प्रस्थलाश्च दशेरकाः। लम्पकास्तावका रामाः शूलिकास्तङ्गणैः सह ॥ ४१ ॥
औरसाश्चालिमद्राश्च किरातानां च जातयः। तामसाः क्रममासाश्च सुपार्श्वाः पुण्ड्रकास्तथा ॥ ४२ ॥
कुलूताः कुहुका ऊर्णास्तूणीपादाः सकुक्कुटाः। माण्डव्या मालवीयाश्च उत्तरापथवासिनः ॥ ४३ ॥

वाह्लीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, शूद्र, पह्लव, खेटक, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्रक, शातद्रव, ललित्थ, पारावत, मूषक, माठर, उदकधार, कैकेय, दशम, क्षत्रिय, प्रातिवैश्य तथा वैश्य एवं शूद्रोंके कुल, काम्बोज, दरद, बर्बर, अङ्गलौकिक, चीन, तुषार, बहुधा, बाह्यतोदर, आत्रेय, भरद्वाज, प्रस्थल, दशेरक, लम्पक, तावक, राम, शूलिक, तङ्गण, औरस, अलिभद्र, किरातोंकी जातियाँ, तामस, क्रममास, सुपार्श्व, पुण्ड्रक, कुलूत, कुहुक, ऊर्ण, तूणीपाद, कुक्कुट, माण्डव्य एवं मालवीय—ये जातियाँ[1] उत्तर भारतमें निवास करती हैं ॥ ३७–४३ ॥

१—मनुस्मृति (८ । ४१) में भी जाति-जनपदादि धर्म मान्य हैं। इन्हें विस्तारसे समझनेके लिये 'जातिभास्कर' आदि देखना चाहिये।

अङ्गा वङ्गा मुद्गरवास्त्वन्तर्गिरिर्बहिर्गिराः । तथा प्रवङ्गा वाङ्गेया मांसादा बलदन्तिकाः ॥ ४४ ॥
ब्रह्मोत्तरा प्राविजया भार्गवाः केशवर्बराः । प्राग्ज्योतिषाश्च शूद्राश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः ॥ ४५ ॥
माला मगधगोनन्दाः प्राच्या जनपदास्त्विमे । पुण्ड्राश्च केरलाश्चैव चौडाः कुल्याश्च राक्षस ॥ ४६ ॥
जातुषा मूषिकादाश्च कुमारादा महाशकाः । महाराष्ट्रा माहिषिकाः कालिङ्गाश्चैव सर्वशः ॥ ४७ ॥
आभीराः सह नैषीका आरण्याः शबराश्च ये । बलिन्ध्या विन्ध्यमौलेया वैदर्भा दण्डकैः सह ॥ ४८ ॥
पौरिकाः सौशिकाश्चैव अश्मका भोगवर्द्धनाः । वैषिकाः कुन्दला अन्ध्रा उद्‌भिदा नलकारकाः ।
दाक्षिणात्या जनपदास्त्विमे शालकटङ्कट ॥ ४९ ॥

अङ्ग (भागलपुर), वंग एवं मुद्गरव (मुंगेर), अन्तर्गिरि, बहिर्गिर, प्रवङ्ग, वाङ्गेय, मांसाद, बलदन्तिक, ब्रह्मोत्तर, प्राविजय, भार्गव, केशवर्बर, प्राग्ज्योतिष, शूद्र, विदेह, ताम्रलिप्तक, माला, मगध एवं गोनन्द—ये पूर्वके जनपद हैं । हे राक्षस ! हे शालकटङ्कट ! पुण्ड्र, केरल, चौड, कुल्य, जातुष, मूषिकाद, कुमाराद, महाशक, महाराष्ट्र, माहिषिक, कालिङ्ग (उड़ीसा) आभीर, नैषीक, आरण्य, शबर, बलिन्ध्य, विन्ध्यमौलेय, वैदर्भ, दण्डक, पौरिक, सौशिक, अश्मक, भोगवर्द्धन, वैषिक, कुन्दल, अन्ध्र, उद्भिद् एवं नलकारक—ये दक्षिणके जनपद हैं ॥ ४४–४९ ॥

शूर्पारका कारिवना दुर्गास्तालीकटैः सह । पुलीयाः ससिनीलाश्च तापसास्तामसास्तथा ॥ ५० ॥
कारस्करास्तु रमिनो नासिक्यान्तरनर्मदाः । भारुकच्छा समाहेयाः सह सारस्वतैरपि ॥ ५१ ॥
वात्सेयाश्च सुराष्ट्राश्च आवन्त्याश्चार्बुदैः सह । इत्येते पश्चिमामाशां स्थिता जानपदा जनाः ॥ ५२ ॥
कारुषाश्चैकलव्याश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह । उत्तमर्णा दशार्णाश्च भोजाः किंकवरैः सह ॥ ५३ ॥
तोशला कोशलाश्चैव त्रैपुराश्चैल्लिकास्तथा । तुरुसास्तुम्बराश्चैव वहनाः नैषधैः सह ॥ ५४ ॥
अनूपास्तुण्डिकेराश्च वीतहोत्रास्त्ववन्तयः । सुकेशे विन्ध्यमूलस्थास्त्विमे जनपदाः स्मृताः ॥ ५५ ॥

सुकेशि ! शूर्पारक (बम्बईका क्षेत्र), कारिवन, दुर्ग, तालीकट, पुलीय, ससिनील, तापस, तामस, कारस्कर, रमी, नासिक्य, अन्तर, नर्मद, भारुकच्छ, माहेय, सारस्वत, वात्सेय, सुराष्ट्र, आवन्त्य एवं अर्बुद—ये पश्चिम दिशामें स्थित जनपदोंके निवासी हैं । कारूष, एकलव्य, मेकल, उत्कल, उत्तमर्ण, दशार्ण, भोज, किंकवर, तोशल, कोशल, त्रैपुर, ऐल्लिक, तुरुस, तुम्बर, वहन, नैषध, अनूप, तुण्डिकेर, वीतहोत्र एवं अवन्ती—ये सभी जनपद विन्ध्याचलके मूलमें (उपत्यका—तराईमें) स्थित हैं ॥ ५०–५५ ॥

अथो देशान् प्रवक्ष्यामः पर्वताश्रयिणस्तु ये । निराहारा हंसमार्गाः कुपथास्तङ्गणाः खशाः ॥ ५६ ॥
कुथप्रावरणाश्चैव ऊर्णाः पुण्याः सहूहुकाः । त्रिगर्ताश्च किराताश्च तोमराः शिशिराद्रिकाः ॥ ५७ ॥
इमे तवोक्ता विषयाः सुविस्तराद् द्वीपे कुमारे रजनीचरेश ।
एतेषु देशेषु च देशधर्मान् संकीर्त्यमानाञ्शृणु तत्त्वतो हि ॥ ५८ ॥
॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अच्छा, अब हम पर्वताश्रित प्रदेशोंके नामोंका वर्णन करेंगे । उनके नाम इस प्रकार हैं—निराहार, हंसमार्ग, कुपथ, तंगण, खश, कुथप्रावरण, ऊर्ण, पुण्य, हूहुक, त्रिगर्त, किरात, तोमर एवं शिशिराद्रिक । निशाचर ! तुमसे कुमारद्वीपके इन देशोंका विस्तारसे हमलोगोंने वर्णन किया । अब हम इन देशोंमें वर्तमान देश-धर्मोंका यथार्थतः वर्णन करेंगे, उसे सुनो ॥ ५६–५८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

*

[अथ चतुर्दशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

अहिंसा सत्यमस्तेयं दानं क्षान्तिर्दमः शमः। अकार्पण्यं च शौचं च तपश्च रजनीचर ॥ १ ॥
दशाङ्गो राक्षसश्रेष्ठ धर्मोऽसौ सार्ववर्णिकः। ब्राह्मणस्यापि विहिता चातुराश्रम्यकल्पना ॥ २ ॥

चौदहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दशाङ्ग धर्म, आश्रम-धर्म और सदाचार-स्वरूपका वर्णन)

ऋषिगण बोले—राक्षसश्रेष्ठ ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), दान, क्षमा, दम (इन्द्रिय-निग्रह), शम, अकार्पण्य, शौच एवं तप—धर्मके ये दसो अङ्ग सभी वर्गोंके लिये उपदिष्ट हैं। ब्राह्मणोंके लिये तो चार आश्रमोंका और भी विधान विहित किया गया है ॥ १-२ ॥

सुकेशिरुवाच

विप्राणां चातुराश्रम्यं विस्तरान्मे तपोधनाः। आचक्षध्वं न मे तृप्तिः शृण्वतः प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

सुकेशि बोला—तपोधनो ! ब्राह्मणोके लिये विहित चारो आश्रमोंके नियम आदिको आपलोग विस्तारसे कहें। मुझे उसे सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है—मै और भी सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

कृतोपनयनः सम्यग् ब्रह्मचारी गुरौ वसेत्। तत्र धर्मोऽस्य यस्तं च कथ्यमानं निशामय ॥ ४ ॥
स्वाध्यायोऽथाग्निशुश्रूषा स्नानं भिक्षाटनं तथा। गुरोर्निवेद्य तच्चाद्यमनुज्ञातेन सर्वदा ॥ ५ ॥
गुरोः कर्माणि सोद्योगः सम्यक्प्रीत्युपपादनम्। तेनाहूतः पठेच्चैव तत्परो नान्यमानसः ॥ ६ ॥
एकं द्वौ सकलान् वापि वेदान् प्राप्य गुरोर्मुखात्। अनुज्ञातो वरं दत्त्वा गुरवे दक्षिणां ततः ॥ ७ ॥
गार्हस्थ्याश्रमकामस्तु गार्हस्थ्याश्रममावसेत्। वानप्रस्थाश्रमं वाऽपि चतुर्थं स्वेच्छयात्मनः ॥ ८ ॥

ऋषिगण बोले—सुकेशि ! ब्रह्मचारी ब्राह्मण भलीभाँति उपनयन-संस्कार कराकर गुरुके गृहपर निवास करे। वहाँके जो कर्तव्य है, उन्हें बतलाया जा रहा है, तुम उन्हें सुनो। उनके कर्त्तव्य हैं—स्वाध्याय, दैनिक हवन, स्नान, भिक्षा माँगना और उसे गुरुको निवेदित करके तथा उनसे आज्ञा प्राप्त कर भोजन करना, गुरुके कार्य-हेतु उद्यत रहना, सम्यक् रूपसे गुरुमें भक्ति रखना, उनके बुलानेपर तत्पर एवं एकाग्रचित्त होकर पढ़ना (—ये ब्राह्मण ब्रह्मचारीके धर्म हैं)। गुरुके मुखसे एक, दो या सभी वेदोंका अध्ययन कर गुरुको धन तथा दक्षिणा दे करके उनसे आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थाश्रममें जानेका इच्छुक (शिष्य) गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करे अथवा अपनी इच्छाके अनुसार वानप्रस्थ या सन्यासका अवलम्बन करे ॥ ४-८ ॥

तत्रैव वा गुरोर्गेहे द्विजो निष्ठामवाप्नुयात्। गुरोरभावे तत्पुत्रे तच्छिष्ये तन्सुतं विना ॥ ९ ॥
शुश्रूषन् निरभिमानो ब्रह्मचर्याश्रमं वसेत्। एवं जयति मृत्युं स द्विजः शालकटङ्कट ॥ १० ॥
उपावृत्तस्ततस्तस्माद् गृहस्थाश्रमकाम्यया। असमानर्षिकुलजां कन्यामुद्वहेद् निशाचर ॥ ११ ॥
स्वकर्मणा धनं लब्ध्वा पितृदेवातिथीनपि। सम्यक् संप्रीणयेद् भक्त्या सदाचाररतो द्विजः ॥ १२ ॥

अथवा ब्राह्मण ब्रह्मचारी वहीं गुरुके घरमें ब्रह्मचर्यकी निष्ठा प्राप्त करे अर्थात् जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। गुरुके अभावमें उनके पुत्र एवं पुत्र न हो तो उनके शिष्यके समीप निवास करे। राक्षस सुकेशि ! अभिमानरहित तथा शुश्रूषा

करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें रहे । इस प्रकार अनुष्ठान करनेवाला द्विज मृत्युको जीत लेता है । हे निशाचर ! वहाँकी अवधि समाप्त कर ब्रह्मचारी द्विज गृहस्थाश्रमकी कामनासे अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रके ऋषियोंके कुलमें उत्पन्न कन्यासे विवाह करे । सदाचारमें रत द्विज अपने नियत कर्मद्वारा धनोपार्जनकर पितरों, देवों एवं अतिथियोंको अपनी भक्तिसे अच्छी तरह तृप्त करे ॥ ९-१२ ॥

सुकेशिरुवाच

सदाचारो निगदितो युष्माभिर्मम सुव्रताः । लक्षणं श्रोतुमिच्छामि कथयध्वं तमद्य मे ॥ १३ ॥

(ब्रह्मचारी ब्राह्मणके नियमोंको सुननेके बाद) सुकेशिने कहा—श्रेष्ठ व्रतवाले ऋषियो ! आपलोगोंने मुझसे इसके पूर्व सदाचारका वर्णन किया है । सदाचारका लक्षण क्या है ? अब मैं उसे सुनना चाहता हूँ । कृपया मुझसे अब उसका वर्णन करें ॥ १३ ॥

ऋषय ऊचुः

सदाचारो निगदितस्तव योऽस्माभिरादरात् । लक्षणं तस्य वक्ष्यामस्तच्छृणुष्व निशाचर ॥ १४ ॥
गृहस्थेन सदा कार्यमाचारपरिपालनम् । न ह्याचारविहीनस्य भद्रमत्र परत्र च ॥ १५ ॥
यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये । भवन्ति यः समुल्लङ्घ्य सदाचारं प्रवर्तते ॥ १६ ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेह नामुत्र नन्दते । कार्यो यत्नः सदाचारे आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १७ ॥

ऋषियोंने कहा—राक्षस ! हमलोगोंने तुमसे श्रद्धापूर्वक जिस सदाचारका वर्णन किया है, उसका (अब) लक्षण बतलाते हैं; तुम उसे सुनो । गृहस्थको आचारका सदा पालन करना चाहिये । आचारहीन व्यक्तिका इस लोक और परलोकमें कल्याण नहीं होता है । सदाचारका उल्लङ्घन कर लोक-व्यवहार तथा शास्त्र-व्यवहार करनेवाले पुरुषके यज्ञ, दान एवं तप कल्याणकर नहीं होते । दुराचारी पुरुष इस लोक तथा परलोकमें सुख नहीं पाता । अतः आचार-पालनमें सदा तत्पर रहना चाहिये । आचार दुर्लक्षणोंको नष्ट कर देता है ॥ १४-१७ ॥

तस्य स्वरूपं वक्ष्यामः सदाचारस्य राक्षस । शृणुष्वैकमनास्तच्च यदि श्रेयोऽभिवाञ्छसि ॥ १८ ॥

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः ।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन् संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता ॥ १९ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते प्रथमं विबुध्येदनुस्मरेद् देववरान् महर्षीन् ।
प्राभातिकं मङ्गलमेव वाच्यं यदुक्तवान् देवपतिस्त्रिनेत्रः ॥ २० ॥

राक्षस ! हम उस (पृष्ट) सदाचारका स्वरूप कहते हैं । यदि तुम कल्याण चाहते हो तो एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो । सुकेशिन् ! सदाचारका मूल धर्म है, धन इसकी शाखा है, काम (मनोरथ) इसका पुष्प है एवं मोक्ष इसका फल है—ऐसे सदाचाररूपी वृक्षका जो सेवन करता है, वह पुण्यभोगी बन जाता है । मनुष्योंको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर सर्वप्रथम श्रेष्ठ देवों एवं महर्षियोंका स्मरण करना चाहिये तथा देवाधिदेव महादेवद्वारा कथित प्रभात-कालीन मङ्गलस्तोत्रका पाठ करना चाहिये ॥ १८-२० ॥

सुकेशिरुवाच

किं तदुक्तं सुप्रभातं शंकरेण महात्मना । प्रभाते यत् पठन्मर्त्यो मुच्यते पापबन्धनात् ॥ २१ ॥

सुकेशिने पूछा—ऋषियो ! महादेव शंकरने कौन-सा 'सुप्रभात' कहा है कि जिसका प्रातःकाल पाठ करनेसे मनुष्य पाप-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ? ॥ २१ ॥

ऋषय ऊचुः

श्रूयतां राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभातं हरोदितम्। श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २२ ॥
ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः सह भानुजेन कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २३ ॥
भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहः सगौतमः।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनो ऋभुश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २४ ॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च।
सप्त स्वराः सप्त रसातलाश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २५ ॥

ऋषिगण बोले—राक्षसश्रेष्ठ! महादेवजीद्वारा वर्णित 'सुप्रभात' स्तोत्रको सुनो। इसको सुनने, स्मरण करने और पढनेसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। (स्तुति इस प्रकार है—) 'ब्रह्मा, विष्णु, शंकर ये देवता तथा सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनैश्चर ग्रह ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें। भृगु, वसिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन तथा ऋभु—ये सभी (ऋषि) मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनाये। सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सातो स्वर एवं सातो रसातल—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनाये ॥ २२–२५ ॥

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः स्पर्शश्च वायुर्ज्वलनः सतेजाः।
नभः सशब्दं महता सहैव यच्छन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २६ ॥
सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त ददन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २७ ॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं पठेत् स्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या।
दुःस्वप्ननाशोऽनघ सुप्रभातं भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात् ॥ २८ ॥
ततः समुत्थाय विचिन्तयेत धर्मं तथार्थं च विहाय शय्याम्।
उत्थाय पश्चाद्धरिरित्युदीर्य गच्छेत् तदोत्सर्गविधिं हि कर्तुम् ॥ २९ ॥

गन्धगुणवाली पृथ्वी, रसगुणवाला जल, स्पर्शगुणवाली वायु, तेजोगुणवाली अग्नि, शब्दगुणवाला आकाश एवं महत्तत्त्व—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनावें। सातों समुद्र, सातों कुलपर्वत, सप्तर्षि, सातो श्रेष्ठ द्वीप और भू आदि सातो लोक—ये सभी प्रभातकालमें मुझे मङ्गल प्रदान करे।' इस प्रकार प्रातःकालमें परम पवित्र सुप्रभात-स्तोत्रको भक्तिपूर्वक पढे, स्मरण करे अथवा सुने। निष्पाप! ऐसा करनेसे भगवान्‌की कृपासे निश्चय ही उसके दुःस्वप्नका नाश होता है तथा सुन्दर प्रभात होता है। उसके बाद उठकर धर्म तथा अर्थके विषयमें चिन्तन करे और शय्या त्याग करनेके बाद 'हरि'का नाम लेकर उत्सर्ग-विधि (शौच आदि) करनेके लिये जाय ॥ २६-२९ ॥

न देवगोब्राह्मणवह्निमार्गे न राजमार्गे न चतुष्पथे च।
कुर्यादथोत्सर्गमपीह गोष्ठे पूर्वापरां चैव समाश्रितो गाम् ॥ ३० ॥
ततस्तु शौचार्थमुपाहरेन्मृदं गुदे त्रयं पाणितले च सप्त।
तथोभयोः पञ्च चतुस्तथैकां लिङ्गे तथैकां मृतमाहरेत ॥ ३१ ॥
नान्तर्जलाद्राक्षस मूषिकस्थलात् शौचावशिष्टा शरणात् तथान्या।
वल्मीकमृच्चापि हि शौचनाय ग्राह्या सदाचारविदा नरेण ॥ ३२ ॥
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो चापि विद्वान् प्रक्षाल्य पादौ भुवि संनिविष्टः।
समाचमेदद्भिरफेनिलाभिरादौ परिमृज्य मुखं द्विरद्भिः ॥ ३३ ॥

मल-त्याग देवता, गौ, ब्राह्मण और अग्निके मार्ग, राजपथ (सड़क) और चौराहेपर, गोशालामें तथा पूर्व या पश्चिम दिशाकी ओर मुख करके न करे। मलत्यागके बाद फिर शुद्धिके लिये मिट्टी ग्रहण करे और मलद्वारमें तीन बार, बाएँ हाथमें सात बार तथा दोनों हाथोंमें दस बार एवं लिङ्गमे एक बार मिट्टी लगाये। राक्षस ! सदाचार जाननेवाले मनुष्यको जलके भीतरसे, चूहेकी बिलसे, दूसरोंके शौचसे बची हुई एवं गृहसे मिट्टी नहीं लेनी चाहिये। दीमककी बाँबीसे भी शुद्धिके लिये मिट्टी नहीं लेनी चाहिये। विद्वान् पुरुष पैर धोनेके पश्चात् उत्तर या पूर्वमुख बैठकर फेन-रहित जलसे पहले मुखको दो बार धोये; फिर धोनेके बाद आचमन करे ॥ ३०—३३ ॥

ततः स्पृशेत्खानि शिरः करेण संध्यामुपासीत ततः क्रमेण।
केशांस्तु संशोध्य च दन्तधावनं कृत्वा तथा दर्पणदर्शनं च ॥ ३४ ॥
कृत्वा शिरःस्नानमथाङ्गिकं वा संपूज्य तोयेन पितॄन् सदेवान्।
होमं च कृत्वालभनं शुभानां कृत्वा बहिर्निर्गमनं प्रशस्तम् ॥ ३५ ॥
दूर्वादधिसर्पिरथोदकुम्भं धेनुं सवत्सां वृषभं सुवर्णम्।
मृद्गोमयं स्वस्तिकमक्षतानि लाजामधु ब्राह्मणकन्यकां च ॥ ३६ ॥
श्वेतानि पुष्पाण्यथ शोभनानि हुताशनं चन्दनमर्कबिम्बम्।
अश्वत्थवृक्षं च समालभेत ततस्तु कुर्यान्निजजातिधर्मम् ॥ ३७ ॥

आचमन करनेके बाद अपनी इन्द्रियों तथा सिरको हाथसे स्पर्श कर क्रमशः केश-संशोधन, दन्तधावन एवं दर्पण-दर्शन कर संध्योपासन करे। शिरःस्नान (सिरसे पैरतक स्नान) अथवा अर्धस्नान कर पितरों एवं देवताओंका जलसे पूजन करनेके पश्चात् हवन एवं माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श कर बाहर निकलना प्रशस्त होता है। दूर्वा, दधि, घृत, जलपूर्ण कलश, बछड़ेके साथ गाय, बैल, सुवर्ण, मिट्टी, गोबर, स्वस्तिक चिह्न, अक्षत, लाजा, मधुका स्पर्श करे और ब्राह्मणकी कन्या एवं सूर्यबिम्बका दर्शन करे तथा सुन्दर श्वेतपुष्प, अग्नि, चन्दनका दर्शन कर अश्वत्थ (पीपल) वृक्षका स्पर्श करनेके बाद अपने जाति-धर्म (अपने वर्णके लिये नियतकर्म) का पालन करे ॥ ३४—३७ ॥

देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्र्यं स्वगोत्रधर्मं न हि संत्यजेत।
तेनार्थसिद्धिं समुपाचरेत नासत्प्रलापं न च सत्यहीनम् ॥ ३८ ॥
न निष्ठुरं नागमशास्त्रहीनं वाक्यं वदेत्साधुजनेन येन।
निन्द्यो भवेन्नैव च धर्मभेदी सङ्गं न चासत्सु नरेषु कुर्यात् ॥ ३९ ॥
संध्यासु वर्ज्यं सुरतं दिवा च सर्वासु योनीषु परावलासु।
आगारशून्येषु महीतलेषु रजस्वलास्वेव जलेषु वीर ॥ ४० ॥
वृथाऽटनं वृथा दानं वृथा च पशुमारणम्। न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथा दारपरिग्रहम् ॥ ४१ ॥

देश-विहित धर्म, श्रेष्ठ कुलधर्म और गोत्रधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, उसीसे अर्थकी सिद्धि करनी चाहिये। असत्प्रलाप, सत्यरहित, निष्ठुर और वेद-आगमशास्त्रसे असंगत वाक्य कभी न कहे, जिससे साधुजनोंद्वारा निन्दित होना पड़े। किसीके धर्मको हानि न पहुँचाये एवं बुरे लोगोंका सङ्ग भी न करे। वीर ! सन्ध्या एवं दिनके समय रति नहीं करनी चाहिये। सभी योनियोंकी परस्त्रियोंमें गृहहीन पृथ्वीपर, रजस्वला स्त्रीमें तथा जलमें सुरतव्यापार वर्जित है। गृहस्थको व्यर्थ भ्रमण, व्यर्थ दान, व्यर्थ पशुवध तथा व्यर्थ दार-परिग्रह नहीं करना चाहिये ॥ ३८—४१ ॥

वृथाऽटनान्नित्यहानिर्वृथादानाद्धनक्षयः । वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति पातकं नरकप्रदम् ॥ ४२ ॥
संतत्या हानिरश्लाघ्या वर्णसंकरतो भयम् । भेतव्यं च भवेल्लोके वृथादारपरिग्रहात् ॥ ४३ ॥
परस्वे परदारे च न कार्या बुद्धिरुत्तमैः । परस्वं नरकायैव परदाराश्च मृत्यवे ॥ ४४ ॥
नेक्षेत् परस्त्रियं नग्नां न सम्भाषेत तस्करान् । उदक्यादर्शनं स्पर्शं संभाषं च विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

व्यर्थ घूमनेसे नित्यकर्मकी हानि होती है तथा वृथा दानसे धनकी हानि होती है और वृथा पशुवध करने-वाला नरक प्राप्त कराने वाले पापको प्राप्त होता है । अवैध स्त्री-संग्रहसे सन्तानकी निन्दनीय हानि, वर्णसांकर्यका भय तथा लोकमें भी भय होता है । उत्तम व्यक्ति परधन तथा परस्त्रीमें बुद्धि न लगाये । परधन नरक देनेवाला और परस्त्री मृत्युका कारण होती है । परस्त्रीको नग्नावस्थामें न देखे, चोरोंसे बातचीत न करे एव रजस्वला स्त्रीको न तो देखे, न उसका स्पर्श ही करे और न उससे बातचीत ही करे ॥ ४२—४५ ॥

नैकासने तथा स्थेयं सोदर्या परजायया । तथैव स्यान्न मातुश्च तथा स्वदुहितुस्त्वपि ॥ ४६ ॥
न च स्नायीत वै नग्नो न शयीत कदाचन । दिग्वाससोऽपि न तथा परिभ्रमणमिष्यते ॥
भिन्नासनभाजनादीन् दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ४७ ॥
नन्दासु नाभ्यङ्गमुपाचरेत क्षौरं च रिक्तासु जयासु मांसम् ।
पूर्णासु योषित्परिवर्जयेत भद्रासु सर्वाणि समाचरेत ॥ ४८ ॥
नाभ्यङ्गमर्के न च भूमिपुत्रे क्षौरं च शुक्रे रविजे च मांसम् ।
बुधेषु योषिन्न समाचरेत शेषेषु सर्वाणि सदैव कुर्यात् ॥ ४९ ॥

अपनी बहन तथा परस्त्रीके साथ एक आसनपर न बैठे । इसी प्रकार अपनी माता तथा कन्याके साथ भी एक आसनपर न बैठे । नग्न होकर स्नान और शयन न करे । वस्त्रहीन होकर इधर-उधर न घूमे, । टूटे आसन और बर्तन आदिको अलग रख दे । नन्दा (प्रतिपद्, षष्ठी और एकादशी) तिथियोंमें तेलसे मालिश न करे । रिक्ता (चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी) तिथियोंमे क्षौर कर्म न करे (न कराये) तथा जया (तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशी) तिथियोंमे फलका गूदा नहीं खाना चाहिये । पूर्णा (पञ्चमी, दशमी और पूर्णिमा) तिथियोमे स्त्रीका सम्पर्क न करे तथा भद्रा (द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी) तिथियोंमें सभी कार्य करे । रविवार एवं मङ्गलवारको तेलकी मालिश, शुक्रवारको क्षौरकर्म, नहीं कराना चाहिये (न करना चाहिये) । शनिवारको फलका गूदा न खाये तथा बुधवारको स्त्री वर्ज्य है । शेष दिनोंमें सभी कार्य सदैव कर्तव्य हैं ॥ ४६—४९ ॥

चित्रासु हस्ते श्रवणे न तैलं क्षौरं विशाखास्वभिजित्सु वर्ज्यम् ।
मूले मृगे भाद्रपदासु मांसं योषिन्मघाकृत्तिकयोत्तरासु ॥ ५० ॥
सदैव वर्ज्यं शयनमुदक्शिरास्तथा प्रतीच्यां रजनीचरेश ।
भुञ्जीत नैवेह च दक्षिणामुखो न च प्रतीच्यामभिभोजनीयम् ॥ ५१ ॥
देवालयं चैत्यतरुं चतुष्पथं विद्याधिकं चापि गुरुं प्रदक्षिणम् ।
माल्यान्नपानं वसनानि यत्नतो नान्यैर्धृतांश्चापि हि धारयेद् बुधः ॥ ५२ ॥
स्नायाच्छिरःस्नानतया च नित्यं न कारणं चैव विना निशासु ।
ग्रहोपरागे स्वजनापयाते मुक्त्वा च जन्मर्क्षगते शशाङ्के ॥ ५३ ॥

चित्रा, हस्त और श्रवण नक्षत्रोंमें तेल तथा विशाखा और अभिजित् नक्षत्रोंमें क्षौर-कार्य नहीं करना-कराना चाहिये । मूल, मृगशिरा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपदमें गूदा-भक्षण तथा मघा, कृत्तिका और तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी,

उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा) में स्त्री-सहवास न करे। राक्षसराज ! उत्तर एवं पश्चिमकी ओर सिर करके शयन नहीं करना चाहिये। दक्षिण एवं पश्चिममुख भोजन नहीं करना चाहिये। देवमन्दिर, चैत्य-वृक्ष, देवताके समान पूज्य पीपल आदिके वृक्ष, चौराहे, अपनेसे अधिक विद्वान् तथा गुरुकी प्रदक्षिणा करे। बुद्धिमान् व्यक्ति यत्नपूर्वक दूसरेके द्वारा व्यवहृत माला, अन्न और वस्त्रका व्यवहार न करे। नित्य सिरके ऊपरसे स्नान करे। ग्रहोपराग (ग्रहणके समय) और स्वजनकी मृत्यु तथा जन्म-नक्षत्रमें चन्द्रमाके रहनेके अतिरिक्त समयमें रात्रिमें बिना विशेष कारण स्नान नहीं करना चाहिये ॥ ५०—५३ ॥

नाभ्यङ्गितं कायमुपस्पृशेच्च स्नातो न केशान् विधुनीत चापि।
गात्राणि चैवाम्बरपाणिना च स्नातो विमृज्याद् रजनीचरेश ॥ ५४ ॥
वसेच्च देशेषु सुराजकेषु सुसंहितेष्वेव जनेषु नित्यम्।
अक्रोधना न्यायपरा अमत्सराः कृषीवला ह्योषधयश्च यत्र ॥ ५५ ॥
श्वापस्तु वैद्यो धनिकश्च यत्र सच्छ्रोत्रियस्तत्र वसेत नित्यम् ॥ ५६ ॥
न तेषु देशेषु वसेत बुद्धिमान् सदा नृपो दण्डरुचिस्त्वशक्तः।
जनोऽपि नित्योत्सवबद्धवैरः सदा जिगीषुश्च निशाचरेन्द्र ॥ ५७ ॥

राक्षसेश्वर ! तेल-मालिश किये हुए किसीके शरीरका स्पर्श नहीं करना चाहिये। स्नानके बाद बालोंको उसी समय कंघीसे न झाड़े। मनुष्यको वहाँ रहना चाहिये जहाँका राजा धर्मात्मा हो एवं जनवर्गमें समता हो, लोग क्रोधी न हों, न्यायी हो, परस्परमें डाह न हो, खेती करनेवाले किसान और ओषधियाँ हो। जहाँ चतुर वैद्य, धनी-मानी दानी, श्रेष्ठ श्रोत्रिय विद्वान् हों वहाँ निवास करना चाहिये। जिस देशका राजा प्रजाको मात्र दण्ड ही देना चाहता हो तथा उत्सवोंमे जन-समाजमे नित्य किसी-न-किसी प्रकारका वैर-विद्वेष हो एवं लड़ाई झगडा करनेकी ही लालसा हो, निर्बल मनुष्यको ऐसे स्थानपर नहीं रहना चाहिये ॥ ५४—५७ ॥

ऋषय ऊचुः

यच्च वर्ज्यं महाबाहो सदा धर्मस्थितैर्नरैः। यद् भोज्यं च समुद्दिष्टं कथयिष्यामहे वयम् ॥ ५८ ॥
भोज्यमन्नं पर्युषितं स्नेहाक्तं चिरसंभृतम्। अस्नेहा व्रीहयः श्लक्ष्णा विकाराः पयसस्तथा ॥ ५९ ॥
तद्वद् द्विदलकादीनि भोज्यानि मनुरब्रवीत् ॥ ६० ॥

ऋषियोंने कहा—महाबाहो ! जो पदार्थ धर्मात्मा व्यक्तियोंके लिये सदैव त्याज्य है एव जो भोज्य है, हम उनका वर्णन कर रहे हैं। तैल, घी आदि स्निग्ध पदार्थोंसे पकाया गया अन्न बासी एवं बहुत पहलेका बने रहनेपर भी भोज्य (खानेयोग्य) है तथा सूखे भूने हुए चावल एवं दूधके विकार—दही, घी आदि भी बासी एवं पुराने होनेपर भी भक्ष्य—खाने योग्य हैं। इसी प्रकार मनुने चने, अरहर, मसूर आदिके भूने (तले) हुए दालको भी अधिक कालतक भोजनके योग्य बतलाये हैं ॥ ५८—६० ॥

मणिरत्नप्रवालानां तद्वन्मुक्ताफलस्य च। शैलदारुमयानां च तृणमूलौषधान्यपि ॥ ६१ ॥
शूर्पधान्याजिनानां च संहतानां च वाससाम्। वल्कलानामशेषाणामम्बुना शुद्धिरिष्यते ॥ ६२ ॥
सस्नेहानामथोष्णेन तिलकल्केन वारिणा। कार्पासिकानां वस्त्राणां शुद्धिः स्यात्सह भस्मना ॥ ६३ ॥
नागदन्तास्थिशृङ्गाणां तक्षणाच्छुद्धिरिष्यते। पुनः पाकेन भाण्डानां मृण्मयानां च मेध्यता ॥ ६४ ॥
शुचि भैक्षं कारुहस्तः पण्यं योषिन्मुखं तथा। रथ्यागतमविज्ञातं दासवर्गेण यत्कृतम् ॥ ६५ ॥
वाक्प्रशस्तं चिरातीतमनेकान्तरितं लघु। चेष्टितं बालवृद्धानां बालस्य च मुखं शुचि ॥ ६६ ॥

(यहाँसे आगे अब द्रव्य-शुद्धि बतलाते हैं ।) मणि, रत्न, प्रवाल (मूँगा), मोती, पत्थर और लकड़ीके बने बर्तन, तृण, मूल तथा ओषधियाँ, सूप (दाल), धान्य, मृगचर्म, सिले हुए वस्त्र एवं वृक्षोंके सभी छालोंकी शुद्धि जलसे होती है । तैल-घृत आदिसे मलिन वस्त्रोंकी शुद्धि उष्ण जल तथा तिल-कल्क (खली)से एवं कपासके वस्त्रोंकी शुद्धि भस्मसे (पत्थर कोयले आदिकी राखसे) होती है । हाथीके दाँत, हड्डी और सींगकी बनी चीजोंकी शुद्धि तराशनेसे (खरादनेसे) होती है । मिट्टीके बर्तन पुनः आगमें जलानेसे शुद्ध होते है । भिक्षान्न, कारीगरोका हाथ, विक्रेय वस्तु, स्त्री-मुख अज्ञात वस्तु, ग्रामके मध्य मार्ग या चौराहेसे लायी जानेवाली तथा नौकरोंद्वारा निर्मित वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं । वचनद्वारा प्रशंसित, पुराना, अनेकानेक जनोंसे होती हुई लायी जानेवाली छोटी वस्तुएँ, बालकों और वृद्धोंद्वारा किया गया कर्म तथा शिशुका मुख शुद्ध होता है ॥ ६१–६६ ॥

कर्मान्ताङ्गारशालासु स्तनंधयसुताः स्त्रियः । वाग्विप्रुषो द्विजेन्द्राणां संतप्ताश्चाम्बुबिन्दवः ॥ ६७ ॥
भूमिर्विशुध्यते खातदाहमार्जनगोक्रमैः । लेपादुल्लेखनात् सेकाद् वेश्मसंमार्जनार्चनात् ॥ ६८ ॥
केशकीटावपन्नेऽन्ने गोघ्राते मक्षिकान्विते । मृदम्बुभस्मक्षाराणि प्रक्षेप्तव्यानि शुद्धये ॥ ६९ ॥
औदुम्बराणां चाम्लेन क्षारेण त्रपुसीसयोः । भस्माम्बुभिश्च कांस्यानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च ॥ ७० ॥

कर्मशाला, अन्तर्गृह एवं अग्निशालामें दुधमुँहे बच्चोंको ली हुई स्त्रियाँ, सम्भाषण करते हुए विद्वान् ब्राह्मणोंके मुखके छींटे तथा उष्ण जलके बिन्दु पवित्र होते हैं । पृथ्वीकी शुद्धि खोदने, जलाने, झाड़ू देने, गौओंके चलने, लीपने, खरोचने तथा सींचनेसे होती है और गृहकी शुद्धि झाड़ू देने, जलके छिड़कने तथा पूजा आदिसे होती है । केश, कीट पडे हुए और मक्खीके बैठ जानेपर तथा गायके द्वारा सूँघे जानेपर अन्नकी शुद्धिके लिये उसपर जल, भस्म, क्षार या मृत्तिका छिडकनी चाहिये । ताम्रपात्रकी शुद्धि खटाईसे, जस्ते और शीशेकी क्षारके द्वारा, काँसेकी वस्तुएँ भस्म और जलके द्वारा तथा तरल पदार्थ कुछ अंशको बहा देनेसे शुद्ध हो जाते हैं[1] ॥६७–७०॥

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैर्गन्धापहरणेन च । अन्येषामपि द्रव्याणां शुद्धिर्गन्धापहारतः ॥ ७१ ॥
मातुः प्रस्रवणे वत्सः शकुनिः फलपातने । गर्दभो भारवाहित्वे श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ ७२ ॥
रथ्याकर्दमतोयानि नावः पथि तृणानि च । मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च ॥ ७३ ॥
शृतं द्रोणाढकस्यान्नममेध्याभिप्लुतं भवेत् । अग्रमुद्धृत्य संत्याज्यं शेषस्य प्रोक्षणं स्मृतम् ॥ ७४ ॥
उपवासं त्रिरात्रं वा दूषितान्नस्य भोजने । अज्ञाते ज्ञातपूर्वे च नैव शुद्धिर्विधीयते ॥ ७५ ॥

अपवित्र वस्तुसे मिले पदार्थ जल और मिट्टीसे धोने तथा दुर्गन्ध दूर कर देनेसे शुद्ध होते हैं । अन्य (गन्धवाले) पदार्थोंकी शुद्धि भी गन्ध दूर करनेसे होती है । माताके स्तनको प्रस्नुत कराने-(पेन्हाने-) मे बछडा, वृक्षसे फल गिरानेमे पक्षी, बोझा ढोनेमें गधा और शिकार पकड़नेमे कुत्ता शुद्ध (माना गया) है । मार्गके कीचड़ और जल, नाव तथा रास्तेकी घास, तृण एवं पके हुए ईंटोंके समूह वायुके द्वारा ही शुद्ध हो जाते है । यदि एक द्रोण (ढाई सेरसे अधिक) पके अन्नके अपवित्र वस्तुसे सम्पर्क हो जाय तो उसके ऊपरका अंश निकाल कर फेंक देना एवं शेषपर जल छिड़क देना चाहिये । इससे उसकी शुद्धि हो जाती है । अज्ञात रूपसे दूषित अन्न खा लेनेपर तीन रात्रितक उपवास करनेसे शुद्धि हो जानेका विधान है, किंतु जान-बूझकर दूषित अन्न खानेपर शुद्धि नहीं हो सकती ॥ ७१–७५ ॥

१–द्रव्यशुद्धिका यह प्रकरण मनुस्मृति ५ । ११०—१४६ तथा याज्ञवल्क्यस्मृति १ । १८२-१९७ आदिमें भी प्रायः इसी भावका है ।

उदक्याश्वाननग्नांश्च सूतिकान्त्यावसायिनः। स्पृष्ट्वा स्नायीत शौचार्थं तथैव मृतहारिणः ॥ ७६ ॥
सस्नेहमस्थि संस्पृश्य सवासाः स्नानमाचरेत्। आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च ॥ ७७ ॥
न लङ्घयेत्पुरीषासृक्ष्ठीवनोद्वर्त्तनानि च। गृहादुच्छिष्टविण्मूत्रे पादाम्भांसि क्षिपेद् बहिः ॥ ७८ ॥
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि। स्नायीत देवखातेषु सरोह्रदसरित्सु च ॥ ७९ ॥

रजस्वला स्त्री, कुत्ता, नग्न (दिगम्बर साधु[1]), प्रसूता स्त्री, चाण्डाल और शववाहकोंका स्पर्श हो जानेपर अपवित्र हुए व्यक्तिको पवित्र होनेके लिये स्नान करना चाहिये। मज्जायुक्त हड्डीके छू जानेपर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिये, किंतु सूखी हड्डीका स्पर्श होनेपर आचमन करने, गो-स्पर्श तथा सूर्यदर्शन करनेमात्रसे ही शुद्धि हो जाती है। विष्ठा, रक्त, थूक एवं उबटनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। जूठे पदार्थ, विष्ठा, मूत्र एव पैर धोनेके जलको घरसे बाहर फेंक देना चाहिये। दूसरेके द्वारा निर्मित बावली आदिमें मिट्टीके पाँच टुकड़ोंके निकाले बिना स्नान नहीं करना चाहिये। (मुख्यतः) देव-निर्मित झीलोंमें, ताल-तलैयों और नदियोंमें स्नान करना चाहिये ॥ ७६-७९ ॥

नोद्यानादौ विकालेषु प्राज्ञस्तिष्ठेत् कदाचन। नालपेद् जनविद्विष्टं वीरहीनां तथा स्त्रियम् ॥ ८० ॥
देवतापितृसच्छास्त्रयज्ञवेदादिनिन्दकैः । कृत्वा तु स्पर्शमालापं शुद्ध्यते कर्मावलोकनात् ॥ ८१ ॥
अभोज्याः सूतिकाषण्ढमार्जाराखुश्वकुक्कुटाः। पतितापविद्धनग्नाश्चाण्डालाधमाश्च ये ॥ ८२ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बाग-बगीचोंमें असमयमें कभी न ठहरे। लोगोंसे द्वेष रखनेवाले व्यक्ति तथा पति-पुत्रसे रहित स्त्रीसे वार्त्तालाप नहीं करना चाहिये। देवता, पितरो, भले शास्त्रों (पुराण, धर्मशास्त्र, रामायण आदि), यज्ञ एव वेदादिके निन्दकोंका स्पर्श और उनके साथ वार्त्तालाप करनेपर मनुष्य अपवित्र हो जाता है, वह सूर्यदर्शन करनेपर शुद्ध होता है उसकी शुद्धि भगवान् सूर्यके समक्ष उपस्थान करके अपने किये हुए स्पर्श और वार्तालाप कर्मके त्याग तथा पश्चात्ताप करनेसे होती है। सूतिक, नपुंसक, बिलाव, चूहा, कुत्ते, मुर्गे, पतित, नग्न (विधर्मी) (इनके लक्षण आगे बतलाये जायँगे) समाजसे बहिष्कृत, और जो चाण्डाल आदि अधम प्राणी हैं उनके यहाँ भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ८०-८२ ॥

सुकेशिरुवाच

भवद्भिः कीर्तिताऽभोज्या य एते सूतिकादयः। अमीषां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतो लक्षणानि हि ॥ ८३ ॥

सुकेशि बोला—ऋषियो ! आपलोगोंने जिन सूतिक आदिका अन्न अभक्ष्य कहा है, मैं उनके लक्षण विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ ८३ ॥

ऋषय ऊचुः

ब्राह्मणी ब्राह्मणस्यैव याऽवरोधत्वमागता। तावुभौ सूतिकेत्युक्तौ तयोरन्नं विगर्हितम् ॥ ८४ ॥
न जुहोत्युचिते काले न स्नाति न ददाति च। पितृदेवार्चनाद्धीनः स षण्ढः परिगीयते ॥ ८५ ॥
दम्भार्थं जपते यश्च तप्यते यजते तथा। न परत्रार्थमुद्युक्तो स मार्जारः प्रकीर्तितः ॥ ८६ ॥
विभवे सति नैवात्ति न ददाति जुहोति च। तमाहुराखुं तस्यान्नं भुक्त्वा कृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ ८७ ॥

ऋषियोंने कहा—सुकेशि ! अन्य ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणीके व्यभिचरित होनेपर उन दोनोंको ही 'सूतिक' कहा जाता है। उन दोनोंका अन्न निन्दित है। उचित समयपर हवन, स्नान और दान न करनेवाला तथा पितरों एवं देवताओंकी पूजासे रहित व्यक्तिको ही यहाँ 'षण्ढ' या नपुंसक कहा गया है। दम्भके लिये जप, तप और यज्ञ करनेवाले तथा परलोकार्थ उद्योग न करनेवाले व्यक्तिको यहाँ 'मार्जार' या 'बिलाव' कहा गया है। ऐश्वर्य रहते

१.—पद्मपुराण आदिमें नग्न-धर्मविपाक-प्रश्नोत्तर द्रष्टव्य है।

हुए भोग, दान एवं हवन न करनेवालेको 'आखु' (चूहा) कहते हैं। उसका अन्न खानेपर मनुष्य कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होता है ॥ ८४–८७ ॥

यः परेषां हि मर्माणि निकृन्तन्निव भाषते। नित्यं परगुणद्वेषी स श्वान इति कथ्यते ॥ ८८ ॥
सभागतानां यः सभ्यः पक्षपातं समाश्रयेत्। तमाहुः कुक्कुटं देवास्तस्याप्यन्नं विगर्हितम् ॥ ८९ ॥
स्वधर्मं यः समुत्सृज्य परधर्मं समाश्रयेत्। अनापदि स विद्वद्भिः पतितः परिकीर्त्यते ॥ ९० ॥
देवत्यागी पितृत्यागी गुरुभक्त्यरतस्तथा। गोब्राह्मणस्त्रीवधकृदपविद्धः स कीर्त्यते ॥ ९१ ॥

दूसरोका मार्ग भेदन करते हुए बातचीत करनेवाले तथा दूसरेके गुणोसे द्वेष करनेवालेको 'श्वान' या 'कुत्ता' कहा गया है। सभामें आगत व्यक्तियोंमें जो सभ्य व्यक्ति पक्षपात करता है उसे देवताओंने 'कुक्कुट' (मुर्गा) कहा है; उसका भी अन्न निन्दित है। विपत्तिकालके अतिरिक्त अन्य समयमें अपना धर्म छोड़कर दूसरेका धर्म ग्रहण करनेवालेको विद्वानोने 'पतित' कहा है। देवत्यागी, पितृत्यागी, गुरुभक्तिसे विमुख तथा गौ, ब्राह्मण एवं स्त्रीकी हत्या करनेवालेको 'अपविद्ध' कहा जाता है ॥ ८८–९१ ॥

येषां कुले न वेदोऽस्ति न शास्त्रं नैव च व्रतम्। ते नग्नाः कीर्तिताः सद्भिस्तेषामन्नं विगर्हितम् ॥ ९२ ॥
आशार्तानामदाता च दातुश्च प्रतिषेधकः। शरणागतं यस्त्यजति स चाण्डालोऽधमो नरः ॥ ९३ ॥
यो बान्धवैः परित्यक्तः साधुभिर्ब्राह्मणैरपि। कुण्डाशी यश्च तस्यान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ ९४ ॥
यो नित्यकर्मणो हानिं कुर्यान्नैमित्तिकस्य च। भुक्त्वान्नं तस्य शुद्ध्येत त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ९५ ॥

जिनके कुलमे वेद, शास्त्र एवं व्रत नहीं है, उन्हे सज्जन लोग 'नग्न' कहते हैं। उनका अन्न निन्दित है। आशा रखनेवालोंको न देनेवाला, दाताको मना करनेवाला तथा शरणागतका परित्याग करनेवाला अधम मनुष्य 'चाण्डाल' कहा जाता है। बान्धवो, साधुओ एवं ब्राह्मणोंसे त्यागा गया तथा कुण्ड (पतिके जीवित रहनेपर पर-पुरुषसे उत्पन्न पुत्र)के यहाँ अन्न खानेवालेको चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। नित्य और नैमित्तिक कर्म न करनेवाले व्यक्तिका अन्न खानेपर मनुष्य तीन राततक उपवास करनेसे शुद्ध होता है ॥ ९२–९५ ॥

गणकस्य निषादस्य गणिकाभिषजोस्तथा। कदर्यस्यापि शुद्ध्येत त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ९६ ॥
नित्यस्य कर्मणो हानिः केवलं मृतजन्मसु। न तु नैमित्तिकोच्छेदः कर्तव्यो हि कथंचन ॥ ९७ ॥
जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलस्य विधीयते। मृते च सर्वबन्धूनामित्याह भगवान् भृगुः ॥ ९८ ॥
प्रेताय सलिलं देयं बहिर्दग्ध्वा तु गोत्रजैः। प्रथमेऽह्नि चतुर्थे वा सप्तमे वाऽस्थिसंचयम् ॥ ९९ ॥

गणक (ज्योतिषी), निषाद (मल्लाह), वेश्या, वैद्य तथा कृपणका अन्न खानेपर भी मनुष्य तीन दिन उपवास करनेपर शुद्ध होता है। घरमे जन्म या मृत्यु होनेपर नित्यकर्म रुक जाते हैं, किंतु नैमित्तिक कर्म कभी बंद नहीं करना चाहिये। भगवान् भृगुने कहा है कि पुत्र उत्पन्न होनेपर पिताके लिये एवं मरणमें सभी बन्धुओके लिये वस्त्रके साथ स्नान करना चाहिये। ग्रामके बाहर शवदाह करना चाहिये। शवदाह करनेके बाद सगोत्र लोग प्रेतके उद्देश्यसे जलदान (तिलाञ्जलि) करें तथा पहले दिन या चौथे या तीसरे दिन अस्थि-चयन करे ॥ ९६–९९ ॥

ऊर्ध्वं संचयनात्तेषामङ्गस्पर्शो विधीयते। सोदकैस्तु क्रिया कार्या संशुद्धैस्तु सपिण्डजैः ॥१००॥
विषोद्बन्धनशस्त्राम्बुवह्निपातमृतेषु च। बाले प्रव्राजि संन्यासे देशान्तरमृते तथा ॥१०१॥
सद्यः शौचं भवेद्वीर तच्चाप्युक्तं चतुर्विधम्। गर्भस्रावे तदेवोक्तं पूर्णकालेन चेतरे ॥१०२॥
ब्राह्मणानामहोरात्रं क्षत्रियाणां दिनत्रयम्। षड्रात्रं चैव वैश्यानां शूद्राणां द्वादशाह्निकम् ॥१०३॥

अस्थि-चयनके बाद अङ्ग-स्पर्शका विधान है। शुद्ध होकर सोदकों (चौदह पीढ़ीके अन्तर्गतके लोगों) एवं सपिण्डजों (सात पीढ़ीके अंदरके लोगों-) को और्ध्वदैहिक क्रिया (मरनेके बाद की जानेवाली विहित क्रिया) करनी चाहिये। हे वीर ! विष, बन्धन, शस्त्र, जल, अग्नि और गिरनेसे मृत्युके होनेपर तथा बालक, परिव्राजक, संन्यासीकी एवं किसी व्यक्तिकी दूर देशमें मृत्यु होनेपर तत्काल शुद्धि हो जाती है। वह शुद्धि भी चार प्रकारकी कही गयी है। गर्भस्रावमें भी शीघ्र ही शुद्धि होती है। अन्य अशौच पूरे समयपर ही दूर होते हैं। (वह सद्यः शौच) ब्राह्मणोंका एक अहोरात्रका, क्षत्रियोंका तीन दिनोंका, वैश्योंका छः दिनोंका एवं शूद्रोंका बारह दिनोंका होता है ॥ १००—१०३ ॥

दशद्वादशमासार्द्धमाससंख्यैर्दिनैश्च तैः। स्वाः स्वाः कर्मक्रियाः कुर्युः सर्वे वर्णा यथाक्रमम् ॥१०४॥
प्रेतमुद्दिश्य कर्त्तव्यमेकोद्दिष्टं विधानतः। सपिण्डीकरणं कार्यं प्रेते आवत्सरान्तरे ॥१०५॥
ततः पितृत्वमापन्ने दर्शपूर्णादिभिः शुभैः। प्रीणनं तस्य कर्त्तव्यं यथा श्रुतिनिदर्शनात् ॥१०६॥
पितुरर्थं समुद्दिश्य भूमिदानादिकं स्वयम्। कुर्यात्तेनास्य सुप्रीताः पितरो यान्ति राक्षस ॥१०७॥

सभी वर्णोंके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) क्रमशः दस, बारह, पंद्रह दिन एवं एक मासके अन्तरपर अपनी-अपनी क्रियाएँ करें। प्रेतके उद्देश्यसे विधिके अनुसार एकोद्दिष्ट श्राद्ध करना चाहिये। मरनेके एक वर्ष बीत जानेपर मनुष्यको सपिण्डीकरण श्राद्ध करना चाहिये। उसके बाद प्रेतके पितर हो जानेपर अमावास्या और पूर्णिमा तिथिके दिन वेदविहित विधिसे उनका तर्पण करना चाहिये। राक्षस ! पिताके उद्देश्यसे स्वयं भूमि-दान आदि करे, जिससे पितृगण इसके ऊपर प्रसन्न हो जायँ ॥ १०४—१०७ ॥

यद् यदिष्टतमं किंचिद् यच्चास्य दयितं गृहे। तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥१०८॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भाव्यं च विदुषा सदा। धर्मतो धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि शक्तितः ॥१०९॥
यच्चापि कुर्वतो नात्मा जुगुप्सामेति राक्षस। तत् कर्त्तव्यमशङ्केन यन्न गोप्यं महाजने ॥११०॥
एवमाचरतो लोके पुरुषस्य गृहे सतः। धर्मार्थकामसंप्राप्तिं परत्रेह च शोभनम् ॥१११॥

व्यक्तिकी जीवित-अवस्थामें घरमें जो-जो पदार्थ उसको अत्यन्त अभिलषित एवं प्रिय रहा हो, उसकी अक्षयताकी कामना करते हुए गुणवान् पात्रको दान देना चाहिये। सदा त्रयी अर्थात् ऋक्, यजुः और सामवेदका अध्ययन करना चाहिये, विद्वान् बनना चाहिये, धर्मपूर्वक धनार्जन एवं यथाशक्ति यज्ञ करना चाहिये। राक्षस ! मनुष्यको जिस कार्यके करनेसे कर्त्ताकी आत्मा निन्दित न हो एवं जो कार्य बड़े लोगोंसे छिपाने योग्य न हो ऐसा कार्य निःशङ्क (आसक्तिरहित) होकर करना चाहिये। इस प्रकारके आचरण करनेवाले पुरुषके गृहस्थ होनेपर भी उसे धर्म, अर्थ एवं कामकी प्राप्ति होती है तथा वह व्यक्ति इस लोक और परलोकमें कल्याणका भागी होता है ॥ १०८—१११ ॥

एष तूद्देशतः प्रोक्तो गृहस्थाश्रम उत्तमः। वानप्रस्थाश्रमं धर्मं प्रवक्ष्यामोऽवधार्यताम् ॥११२॥
अपत्यसंततिं दृष्ट्वा प्राज्ञो देहस्य चानतिम्। वानप्रस्थाश्रमं गच्छेदात्मनः शुद्धिकारणम् ॥११३॥
तत्रारण्योपभोगैश्च तपोभिश्चात्मकर्षणम्। भूमौ शय्या ब्रह्मचर्यं पितृदेवातिथिक्रिया ॥११४॥
होमस्त्रिषवणं स्नानं जटावल्कलधारणम्। वन्यस्नेहनिषेवित्वं वानप्रस्थविधिस्त्वयम् ॥११५॥

ऋषियोंने सुकेशि से कहा—सुकेशि ! अबतक हमने संक्षेपसे उत्तम गृहस्थाश्रमका वर्णन किया है। अब हम वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मका वर्णन करेंगे, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। बुद्धिमान् व्यक्ति पुत्रकी संतान (पौत्र) और अपने शरीरकी गिरती अवस्था देखकर अपने आत्माकी शुद्धिके लिये वानप्रस्थ-आश्रमको ग्रहण करे। वहाँ अरण्यमें उत्पन्न मूल-फल आदिसे अपना जीवन-यापन करते हुए तपद्वारा शरीर-शोषण करे। इस आश्रममें भूमिपर शयन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं पितर, देवता तथा अतिथियोंकी पूजा करे। हवन, तीनो काल—प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्याकाल—स्नान, जटा और वल्कलका धारण तथा वन्य फलोंसे निकाले रसका सेवन करे। यही वानप्रस्थ-आश्रमकी विधि है ॥ ११२–११५ ॥

सर्वसङ्गपरित्यागो ब्रह्मचर्यममानिता। जितेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन् वसतिश्चिरम् ॥११६॥
अनारम्भस्तथाहारो भैक्षान्नं नातिकोपिता। आत्मज्ञानावबोधेच्छा तथा चात्मावबोधनम् ॥११७॥
चतुर्थे त्वाश्रमे धर्मा अस्माभिस्ते प्रकीर्तिताः। वर्णधर्माणि चान्यानि निशामय निशाचर ॥११८॥
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयाश्रमाः। क्षत्रियस्यापि कथिता ये चाचारा द्विजस्य हि ॥११९॥

(चतुर्थ आश्रम-(संन्यास-)के धर्म ये हैं—) सभी प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग, ब्रह्मचर्य, अहंकारका अभाव, जितेन्द्रियता, एक स्थानपर अधिक समयतक न रहना, उद्योगका अभाव, भिक्षान्न-भोजन, क्रोधका त्याग, आत्मज्ञानकी इच्छा तथा आत्मज्ञान। निशाचर ! हमने तुमसे चतुर्थ आश्रम-(संन्यास-)के इन धर्मोंका वर्णन किया। अब अन्य वर्ण-धर्मोंको सुनो। क्षत्रियोंके लिये भी गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमों एवं ब्राह्मणोंके लिये विहित आचारोंका विधान है ॥ ११६–११९ ॥

वैखानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः। गार्हस्थ्यमुत्तमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥१२०॥
स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्माणीह न हापयेत्। यो हापयति तस्यासौ परिकुप्यति भास्करः ॥१२१॥
कुपितः कुलनाशाय ईश्वरो रोगवृद्धये। भानुर्वै यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर ॥१२२॥
तस्मात् स्वधर्मं न हि संत्यजेत न हापयेच्चापि हि नात्मवंशम्।
यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्मं तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरस्तु ॥१२३॥

राक्षस ! वैश्यजातिके लिये गार्हस्थ्य एवं वानप्रस्थ—इन दो आश्रमोंका विधान है तथा शूद्रके लिये एकमात्र उत्तम गृहस्थ-आश्रमका ही नियम है। अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित धर्मोंका इस लोकमें त्याग नहीं करना चाहिये। जो इनका त्याग करता है, उसपर सूर्य भगवान् क्रुद्ध होते हैं। निशाचर ! भगवान् भास्कर क्रुद्ध होकर उस मनुष्यकी रोगवृद्धि एवं उसके कुलका नाश करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। अतः मनुष्य स्वधर्मका न तो त्याग करे और न अपने वंशकी हानि होने दे। जो मनुष्य अपने धर्मका त्याग करता है उसपर भगवान् सूर्य क्रोध करते हैं ॥ १२०–१२३ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्तो मुनिभिः सुकेशी प्रणम्य तान् ब्रह्मनिधीन् महर्षीन्।
जगाम चोत्पत्य पुरं स्वकीयं मुहुर्मुहुर्धर्ममवेक्षमाणः ॥१२४॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुनियोंके ऐसा कहनेके बाद सुकेशी उन ब्रह्मज्ञानी महर्षियोंको बारम्बार प्रणामकर धर्मका चिन्तन करते हुए उड़कर अपने पुरको चला गया ॥१२४॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

[अथ पञ्चदशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः सुकेशिर्देवर्षे गत्वा स्वपुरमुत्तमम् । समाहूयाब्रवीत् सर्वान् राक्षसान् धार्मिकं वचः ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियसंयमः । दानं दया च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यममानिता ॥ २ ॥
शुभा सत्या च मधुरा वाङ् नित्यं सत्क्रियारतिः । सदाचारनिषेवित्वं परलोकप्रदायकाः ॥ ३ ॥
इत्यूचुर्मुनयो मह्यं धर्ममाद्यं पुरातनम् । सोऽहमाज्ञापये सर्वान् क्रियतामविकल्पतः ॥ ४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दैत्योंका धर्म एवं सदाचारका पालन, सुकेशीके नगरका उत्थान-पतन, वरुणा-असीकी महिमा, लोलार्क-प्रसंग)

पुलस्त्यजी बोले—देवर्षे ! उसके बाद अपने उत्तम नगरमें जाकर सुकेशीने सभी राक्षसोंको बुलाकर उनसे धर्मकी बात बतलायी । (सुकेशिने कहा—) अहिंसा, सत्य, चोरीका सर्वथा त्याग, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, दान, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहंकारका न करना, प्रिय, सत्य और मधुर वाणी बोलना, सदा सत्कार्योंमें अनुराग रखना एवं सदाचारका पालन करना—ये सब धर्म परलोकमें सुख देनेवाले हैं । मुनियोंने इस प्रकारके आदिकाल-के पुरातन धर्मको मुझे बतलाया है । मैं तुमलोगोंको आज्ञा देता हूँ कि तुमलोग बिना किसी हिचकके इन सभी धर्मोंका आचरण करो ॥ १–४ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः सुकेशिवचनात् सर्व एव निशाचराः । त्रयोदशाङ्गं ते धर्मं चक्रुर्मुदितमानसाः ॥ ५ ॥
ततः प्रवृद्धिं सुतरामगच्छन्त निशाचराः । पुत्रपौत्रार्थसंयुक्ताः सदाचारसमन्विताः ॥ ६ ॥
तज्ज्योतिस्तेजसस्तेषां राक्षसानां महात्मनाम् । गन्तुं नाशक्नुवन् सूर्यो नक्षत्राणि न चन्द्रमाः ॥ ७ ॥
ततस्त्रिभुवने ब्रह्मन् निशाचरपुरोऽभवत् । दिवा चन्द्रस्य सदृशः क्षणदायां च सूर्यवत् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—उसके बाद सुकेशीके वचनसे सभी राक्षस प्रसन्न-चित्त होकर (अहिंसा आदि) तेरह अङ्गवाले धर्मका आचरण करने लगे । इससे राक्षसोंकी सभी प्रकारकी अच्छी उन्नति हुई । वे पुत्र-पौत्र तथा अर्थ-धर्म-सदाचार आदिसे सम्पन्न हो गये । उन महान् राक्षसोंके तेजके सामने सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमाकी गति एवं कान्ति क्षीण-सी दीखने लगी । ब्रह्मन् ! उसके बाद निशाचरोंकी नगरी तीनों लोकोंमें दिनमें चन्द्रमाके समान और रातमें सूर्यके समान चमकने लगी ॥ ५–८ ॥

न ज्ञायते गतिर्व्योम्नि भास्करस्य ततोऽम्बरे । शशाङ्कमिति तेजस्त्वादमन्यन्त पुरोत्तमम् ॥ ९ ॥
स्वं विकासं विमुञ्चन्ति निशामिति व्यचिन्तयन् । कमलाकरेषु कमला मित्रमित्यवगम्य हि ।
रात्रौ विकसिता ब्रह्मन् विभूतिं दातुमीप्सवः ॥ १० ॥
कौशिका रात्रिसमयं बुद्ध्वा निरगमन् किल । तान् वायसास्तदा ज्ञात्वा दिवा निघ्नन्ति कौशिकान् ॥ ११ ॥
स्नातकास्त्वापगास्वेव स्नानजप्यपरायणाः । आकण्ठमग्नास्तिष्ठन्ति रात्रौ ज्ञात्वाऽथ वासरम् ॥ १२ ॥

(फलतः) अब आकाशमें सूर्यकी गतिका (चलनेका) पता नहीं लगता था । लोग उस श्रेष्ठ नगरको नगरके तेजके कारण आकाशमें चन्द्रमा समझने लग गये । ब्रह्मन् ! सरोवरके कमल दिनको रात्रि समझकर विकसित नहीं होते थे । पर वे रात्रिमें सुकेशीके पुरको सूर्य समझकर विभूति प्रदान करनेकी इच्छासे विकसित होने लगे । इसी प्रकार उल्लू भी दिनको रात समझकर बाहर निकल आये और कौए दिनमें आये जानकर उन उल्लुओंको मारने लगे ।

स्नान करनेवाले लोग भी रात्रिको दिन समझकर गलेतक खुले बदन होकर स्नान करने लगे एवं जप करते हुए जलमें खड़े रहे ॥ ९—१२ ॥

न व्ययुज्यन्त चक्राश्च तदा वै पुरदर्शने। मन्यमानास्तु दिवसमिदमुच्चैर्ब्रुवन्ति च ॥ १३ ॥
नूनं कान्ताविहीनेन केनचिच्चक्रपत्त्रिणा। उत्सृष्टं जीवितं शून्ये फूत्कृत्य सरितस्तटे ॥ १४ ॥
ततोऽनुकृपयाविष्टो विवस्वांस्तीव्ररश्मिभिः। संतापयञ्जगत् सर्वं नास्तमेति कथंचन ॥ १५ ॥
अन्ये वदन्ति चक्राह्वो नूनं कश्चिन् मृतो भवेत्। तत्कान्तया तपस्तप्तं भर्तृशोकार्त्तया बत ॥ १६ ॥
आराधितस्तु भगवांस्तपसा वै दिवाकरः। तेनासौ शशिनिर्जेता नास्तमेति रविर्ध्रुवम् ॥ १७ ॥

उस समय सुकेशीके नगरके (सूर्यवत्) दर्शन होनेसे चकवा-चकई रात्रिको ही दिन मानकर परस्पर अलग नहीं होते थे। वे उच्चस्वरसे कहते—निश्चय ही किसी पत्नीसे विहीन चक्रवाक पक्षीने एकान्तमें नदी-तटपर फूत्कार करके जीवन त्याग दिया है। इसीसे दयार्द्र सूर्य अपनी तेज किरणोसे जगत्को तपाते हुए किसी प्रकार अस्त नहीं हो रहे हैं। दूसरे कहते है—'निश्चय ही कोई चक्रवाक मर गया है और पतिके शोकमें उसकी दुखिनी कान्ताने भारी तप किया है। इसीलिये निश्चय ही उसकी तपस्यासे प्रसन्न हुए एव चन्द्रमाको जीत लेनेवाले भगवान् सूर्य अस्त नहीं हो रहे हैं ॥ १३—१७ ॥

यज्विनो होमशालासु सह ऋत्विग्भिरध्वरे। प्रावर्त्तयन्त कर्माणि रात्रावपि महामुने ॥ १८ ॥
महाभागवताः पूजां विष्णोः कुर्वन्ति भक्तितः। रवौ शशिनि चैवान्ये ब्रह्मणोऽन्ये हरस्य च ॥ १९ ॥
कामिनश्चाप्यमन्यन्त साधु चन्द्रमसा कृतम्। यदियं रजनी रम्या कृता सततकौमुदी ॥ २० ॥

महामुने! उन दिनो यज्ञशालाओमें ऋत्विजोके साथ यजमान लोग रात्रिमें भी यज्ञकर्म करनेमें लगे रहते थे। विष्णुके भक्तलोग भक्तिपूर्वक सदा विष्णुकी पूजा करते रहते एवं दूसरे लोग सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा और शिवकी आराधनामे लगे रहते थे। कामी लोग यह मानने लगे कि चन्द्रमाने रात्रिको निरन्तरके लिये अपनी ज्योत्स्नामयी बना दिया, अच्छा हुआ ॥ १८—२० ॥

अन्ये ब्रुवँल्लोकगुरुरस्माभिश्चक्रभृद् वशी। निर्व्याजेन महागन्धैरर्चितः कुसुमैः शुभैः ॥ २१ ॥
सह लक्ष्म्या महायोगी नभस्यादिचतुर्ष्वपि। अशून्यशयना नाम द्वितीया सर्वकामदा ॥ २२ ॥
तेनासौ भगवान् प्रीतः प्रादाच्छयनमुत्तमम्। अशून्यं च महाभोगैरनस्तमितशेखरम् ॥ २३ ॥
अन्येऽब्रुवन् ध्रुवं देव्या रोहिण्या शशिनः क्षयम्। दृष्ट्वा तप्तं तपो घोरं रुद्राराधनकाम्यया ॥ २४ ॥
पुण्यायामक्षयाष्टम्यां वेदोक्तविधिना स्वयम्। तुष्टेन शंभुना दत्तं वरं चास्यै यदृच्छया ॥ २५ ॥

दूसरे लोग कहने लगे कि हमलोगोंने श्रावण आदि चार महीनोमें शुद्धभावसे अति सुगन्धित पवित्र पुष्पोद्वारा महालक्ष्मीके साथ सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले भगवान् विष्णुकी पूजा की है। इसी अवधिमें सर्वकामदा अशून्यशयना द्वितीया तिथि होती है। उसीसे प्रसन्न होकर भगवान्ने अशून्य तथा महाभोगोंसे परिपूर्ण उत्तम शयन प्रदान किया है। दूसरे कहते कि देवी रोहिणीने चन्द्रमाका क्षय देखकर निश्चय ही रुद्रकी आराधना करनेकी अभिलाषासे परम पवित्र अक्षय अष्टमी तिथिमें वेदोक्त विधिसे कठिन तपस्या की है, जिससे सन्तुष्ट होकर भगवान् शंकरने उसे अपनी इच्छासे वर दिया है ॥ २१—२५ ॥

अन्येऽब्रुवन् चन्द्रमसा ध्रुवमाराधितो हरिः। व्रतेनेह त्वखण्डेन तेनाखण्डः शशी दिवि ॥ २६ ॥
अन्ये ब्रुवञ्छशाङ्केन ध्रुवं रक्षा कृतात्मनः। पदद्वयं समभ्यर्च्य विष्णोरमिततेजसः ॥ २७ ॥

तेनासौ दीप्तिमांश्चन्द्रः परिभूय दिवाकरम्। अस्माकमानन्दकरो दिवा तपति सूर्यवत् ॥ २८ ॥
लक्ष्यते कारणैरन्यैर्बहुभिः सत्यमेव हि। शशाङ्कनिर्जितः सूर्यो न विभाति यथा पुरा ॥ २९ ॥

दूसरे लोग कहते—चन्द्रमाने निश्चय ही अखण्ड-व्रतका आचरण करके भगवान् हरिको आराधित किया है। उससे आकाशमें चन्द्रमा अखण्डरूपसे प्रकाशित हो रहा है। दूसरोंने कहा—चन्द्रमाने अत्यधिक तेजवाले श्रीविष्णुके चरणयुगलकी विधिवत् पूजा करके अपनी रक्षा की है। उससे तेजस्वी चन्द्रमा सूर्यपर विजय प्राप्त करके हमें आनन्द देते हुए दिनमें सूर्यकी भाँति दीप्तिमान् हो रहे हैं। अन्य अनेक प्रकारके कारणोंसे सचमुच यह लक्षित हो रहा है कि चन्द्रमाके द्वारा पराजित हुए सूर्य पूर्ववत् दीप्तिवाले नहीं दीख रहे हैं ॥ २६—२९ ॥

यथामी कमलाः श्लक्ष्णा रणद्भृङ्गगणावृताः। विकचाः प्रतिभासन्ते जातः सूर्योदयो ध्रुवम् ॥ ३० ॥
यथा चामी विभासन्ति विकचाः कुमुदाकराः। अतो विज्ञायते चन्द्र उदितश्च प्रतापवान् ॥ ३१ ॥
एवं संभाषतां तत्र सूर्यो वाक्यानि नारद। अमन्यत किमेतद्धि लोको वक्ति शुभाशुभम् ॥ ३२ ॥
एवं संचिन्त्य भगवान् दध्यौ ध्यानं दिवाकरः। आसमन्ताज्जगद् ग्रस्तं त्रैलोक्यं रजनीचरैः ॥ ३३ ॥

इधर ये सुन्दर कमल खिले हैं और उनपर भौंरे गुंजार कर रहे हैं। भ्रमर-समूहसे आवृत्त ये सुन्दर कमल विकसित दिखलायी पड़ रहे हैं; अतः निश्चय ही सूर्योदय हुआ है। और इधर ये कुमुदवृन्द खिले हुए हैं; अतः लगता है कि प्रतापवान् चन्द्रमा उदित हुआ है। नारदजी! इस प्रकार वार्ता करनेवालोंके वाक्योंको सुनकर सूर्य सोचने लगे कि ये लोग इस प्रकार शुभाशुभ वचन क्यों बोल रहे हैं? भगवान् दिवाकर ऐसा विचारकर ध्यानमग्न हो गये और उन्होंने देखा कि समस्त त्रैलोक्य चारों ओरसे राक्षसोंद्वारा ग्रस्त हो गया है ॥ ३०—३३ ॥

ततस्तु भगवाञ्ज्ञात्वा तेजसोऽप्यसहिष्णुताम्। निशाचरस्य वृद्धिं तामचिन्तयत योगवित् ॥ ३४ ॥
ततोऽज्ञासीच्च तान् सर्वान् सदाचाररताञ्शुचीन्। देवब्राह्मणपूजासु संसक्तान् धर्मसंयुतान् ॥ ३५ ॥
ततस्तु रक्षः क्षयकृत् तिमिरद्विपकेसरी। महांशुनखरः सूर्यस्तद्विघातमचिन्तयत् ॥ ३६ ॥
ज्ञातवांश्च ततश्छिद्रं राक्षसानां दिवस्पतिः। स्वधर्मविच्युतिर्नाम सर्वधर्मविघातकृत् ॥ ३७ ॥

तब योगी भगवान् भास्कर राक्षसोंकी वृद्धि तथा तेजकी असहनीयताको जानकर स्वयं चिन्तन करने लगे। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि सभी राक्षस सदाचार-परायण, पवित्र, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजामें अनुरक्त तथा धार्मिक हैं। उसके बाद राक्षसोंको नष्ट करनेवाले तथा अन्धकाररूपी हाथीके लिये तेज किरणरूपी नखवाले सिंहके समान सूर्य उनके विनाशके विषयमें चिन्तन करने लगे। अन्तमें सूर्यको राक्षसोंके अपने धर्मसे गिरनेका मूल कारण मालूम हुआ, जो समस्त धर्मोंका विनाशक है ॥ ३४—३७ ॥

ततः क्रोधाभिभूतेन भानुना रिपुभेदिभिः। भानुभी राक्षसपुरं तद् दृष्टं च यथेच्छया ॥ ३८ ॥
स भानुना तदा दृष्टः क्रोधाध्मातेन चक्षुषा। निपपाताम्बराद् भ्रष्टः क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ ३९ ॥
पतमानं समालोक्य पुरं शालकटङ्कटः। नमो भवाय शर्वाय इदमुच्चैरुदीरयत् ॥ ४० ॥
तमाक्रन्दितमाकर्ण्य चारणा गगनेचराः। हा हेति चुक्रुशुः सर्वे हरभक्तः पतत्यसौ ॥ ४१ ॥

तब क्रोधसे अभिभूत सूर्यने शत्रुओंके भेदन करनेवाली अपनी किरणोंद्वारा भलीभाँति उस राक्षसको देखा। उस समय सूर्यद्वारा क्रोधभरी दृष्टिसे देखे जानेके कारण वह नगर नष्ट हुए पुण्यवाले ग्रहके समान आकाशसे नीचे गिर पड़ा। अपने नगरको गिरते देखकर शालकटंकट-(सुकेशी-)ने ऊँचे स्वरसे चीखनेके स्वरमें

'नमो भवाय शर्वाय' यह कहा। उसकी उस चीखको सुनकर गगनमें विचरण करनेवाले सभी चारण चिल्लाने लगे—हाय हाय ! हाय हाय ! यह शिव-भक्त तो नीचे गिर रहा है ॥ ३८–४१ ॥

तच्चारणवचः शर्वः श्रुतवान् सर्वगोऽव्ययः। श्रुत्वा संचिन्तयामास केनासौ पात्यते भुवि ॥ ४२ ॥
ज्ञातवान् देवपतिना सहस्रकिरणेन तत्। पातितं राक्षसपुरं ततः क्रुद्धस्त्रिलोचनः ॥ ४३ ॥
क्रुद्धस्तु भगवन्तं तं भानुमन्तमपश्यत। दृष्टमात्रस्त्रिनेत्रेण निपपात ततोऽम्बरात् ॥ ४४ ॥
गगनात् स परिभ्रष्टः पथि वायुनिषेविते। यदृच्छया निपतितो यन्त्रमुक्तो यथोपलः ॥ ४५ ॥

सर्वत्र व्याप्त और अविनाशी नित्य शंकरने चारणोंके उस वचनको सुना और फिर सोचने लगे—यह नगर किसके द्वारा पृथ्वीपर गिराया जा रहा है। उन्होंने यह जान लिया कि देवोंके पति सहस्रकिरणमाली सूर्यद्वारा राक्षसोंका यह पुर गिराया गया है। इससे त्रिलोचन शंकर क्रुद्ध हो गये और उन्होंने भगवान् सूर्यको देखा। त्रिनेत्रधारी शंकरके देखते ही वे सूर्य आकाशसे नीचे आ गिरे। आकाशसे नीचे वायुमण्डलमार्गमें वे इस प्रकार गिरे जैसे यन्त्रके द्वारा कोई पत्थर फेंका गया हो ॥ ४२–४५ ॥

ततो वायुपथान्मुक्तः किंशुकोज्ज्वलविग्रहः। निपपातान्तरिक्षात् स वृतः किन्नरचारणैः ॥ ४६ ॥
चारणैर्वेष्टितो भानुः प्रविभात्यम्बरात् पतन्। अर्द्धपक्वं यथा तालात् फलं कपिभिरावृतम् ॥ ४७ ॥
ततस्तु ऋषयोऽभ्येत्य प्रत्यूचुर्भानुमालिनम्। निपतस्व हरिक्षेत्रे यदि श्रेयोऽभिवाञ्छसि ॥ ४८ ॥
ततोऽब्रवीत् पतन्नेव विवस्वांस्तांस्तपोधनान्। किं तत् क्षेत्रं हरेः पुण्यं वदध्वं शीघ्रमेव मे ॥ ४९ ॥

फिर पलाश-पुष्पके समान आभावाले सूर्य वायुमण्डलसे अलग होकर किंनरों एवं चारणोंसे भरे अन्तरिक्षसे नीचे गिर गये। उस समय आकाशसे नीचे गिरते हुए सूर्य चारणोंसे घिरे हुए ऐसे लग रहे थे, जैसे तालवृक्षसे गिरनेवाला अधपका तालफल कपियोंसे घिरा हो। तब मुनियोंने किरणमाली भगवान् सूर्यदेवके समीप आकर उनसे कहा कि यदि तुम कल्याण चाहते हो तो विष्णुके क्षेत्रमें गिरो। गिरते हुए ही सूर्यने (ऐसा सुनकर) उन तपस्वियोंसे पूछा—विष्णुभगवान्‌का वह पवित्र क्षेत्र कौन-सा है? आपलोग उसे मुझे शीघ्र बतलाये ॥ ४६–४९ ॥

तमूचुर्मुनयः सूर्यं शृणु क्षेत्रं महाफलम्। साम्प्रतं वासुदेवस्य भावि तच्छंकरस्य च ॥ ५० ॥
योगशायिनमारभ्य यावत् केशवदर्शनम्। एतत् क्षेत्रं हरेः पुण्यं नाम्ना वाराणसी पुरी ॥ ५१ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् भानुर्भवनेत्राग्नितापितः। वरणायास्तथैवास्यास्त्वन्तरे निपपात ह ॥ ५२ ॥
ततः प्रदह्यति तनौ निमज्यास्यां लुलद् रविः। वरणायां समभ्येत्य न्यमज्जत यथेच्छया ॥ ५३ ॥

इसपर मुनियोंने सूर्यसे बतलाया—सूर्यदेव ! आप महाफल देनेवाले उस क्षेत्रका विवरण सुनिये। इस समय वह क्षेत्र वासुदेवका क्षेत्र है, किंतु भविष्यमें वह शंकरका क्षेत्र होगा। योगशायीसे प्रारम्भ कर केशवदर्शनतकका क्षेत्र हरिका पवित्र क्षेत्र है, इसका नाम वाराणसीपुरी है। उसे सुनकर शिवजीकी नेत्राग्निसे संतप्त होते हुए भगवान् सूर्य वरुणा और असी[1] इन दोनों नदियोंके बीचमे गिरे। उसके बाद शरीरके जलते रहनेसे व्याकुल हुए सूर्य असी नदीमें स्नान करनेके बाद वरुणा नदीमें इच्छानुकूल स्नान किये ॥ ५०–५३ ॥

भूयोऽस्मिं वरणां भूयो भूयोऽपि वरणामसिम्। लुलंस्त्रिनेत्रवह्न्यार्त्तो भ्रमतेऽलातचक्रवत् ॥ ५४ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् ऋषयो यक्षराक्षसाः। नागा विद्याधराश्चापि पक्षिणोऽप्सरसस्तथा ॥ ५५ ॥

१–अब भी वरुणा और अस्सी नदियाँ वाराणसीको अपने अन्तरालमें किये हुए हैं। अस्सी बरसातमें जलभरित होती है, पर वरुणा सदा जलपूर्णा रहती है।

यावन्तो भास्कररथे भूतप्रेतादयः स्थिताः। तावन्तो ब्रह्मसदनं गता वेदयितुं मुने ॥ ५६ ॥
ततो ब्रह्मा सुरपतिः सुरैः सार्धं समभ्यगात्। रम्यं महेश्वरावासं मन्दरं रविकारणात् ॥ ५७ ॥
गत्वा दृष्ट्वा च देवेशं शंकरं शूलपाणिनम्। प्रसाद्य भास्करार्थाय वाराणस्यामुपानयत् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार शंकरके तीसरे नेत्रकी अग्निसे दग्ध होकर वे बारंबार असि और वरुणा नदियोंकी ओर अलातचक्र (लुकाठीके मण्डल)के समान चक्कर काटने लगे। मुने! इस बीच ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, विद्याधर, पक्षी, अप्सराएँ और भास्करके रथमें जितने भूत-प्रेत आदि थे, वे सभी इसे ज्ञापित करनेके लिये ब्रह्मलोकमें गये। तब सुरपति इन्द्र, ब्रह्मा देवताओंके साथ सूर्यकी शान्तिके लिये महेश्वरके आवास-स्थान मन्दर पर्वतपर गये। वहाँ जाकर तथा देवेश शूलपाणि भगवान् शिवका दर्शन करनेके बाद भगवान् ब्रह्माजी भास्करके लिये उन्हें (शिवजीको) प्रसन्न कर उन्हें (सूर्यको) वाराणसीमें लाये ॥ ५४–५८ ॥

ततो दिवाकरं भूयः पाणिनादाय शंकरः। कृत्वा नामास्य लोलेति रथमारोपयत् पुनः ॥ ५९ ॥
आरोपिते दिनकरे ब्रह्माऽभ्येत्य सुकेशिनम्। सबान्धवं सनगरं पुनरारोपयद् दिवि ॥ ६० ॥
समारोप्य सुकेशिं च परिष्वज्य च शंकरम्। प्रणम्य केशवं देवं वैराजं स्वगृहं गतः ॥ ६१ ॥

एवं पुरा नारद भास्करेण पुरं सुकेशेर्भुवि सन्निपातितम्।
दिवाकरो भूमितले भवेन क्षिप्तस्तु दृष्ट्या न च संप्रदग्धः ॥ ६२ ॥
आरोपितो भूमितलाद् भवेन भूयोऽपि भानुः प्रतिभासनाय।
स्वयंभुवा चापि निशाचरेन्द्रस्त्वारोपितः खे सपुरः सबन्धुः ॥ ६३ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

फिर भगवान् शंकरने सूर्य भगवान्‌को हाथमें लेकर उनका नाम 'लोल' रख दिया और उन्हें पुनः उनके रथपर स्थापित कर दिया। दिनकरके अपने रथमें आरूढ़ हो जानेपर ब्रह्मा सुकेशीके पास गये एवं उसे भी पुनः बान्धवों और नगरसहित आकाशमें पूर्ववत् स्थापित कर दिया। सुकेशीको पुनः आकाशमें स्थापित करनेके बाद ब्रह्माजी शंकरका आलिङ्गन एवं केशवदेवको प्रणाम कर अपने वैराज नामक लोकमें चले गये। नारदजी! प्राचीन समयमें इस प्रकार सूर्यने सुकेशीके नगरको पृथ्वीपर गिराया एवं महादेवने भगवान् सूर्यको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निसे दग्ध न कर केवल भूमितलपर गिरा ही दिया था। फिर शंकरने सूर्यको प्रतिभासित होनेके लिये भूमितलसे आकाशमें स्थित किया और ब्रह्माने निशाचरराजको उसके पुर और बन्धुओंके साथ आकाशमें फिर संस्थापित कर दिया ॥ ५९–६३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

[अथ षोडशोऽध्यायः]

नारद उवाच

यानेतान् भगवान् प्राह कामिभिः शशिनं प्रति। आराधनाय देवाभ्यां हरीशाभ्यां वदस्व तान् ॥ १ ॥

सोलहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवताओंकी शयन-तिथियों और उनके अशून्यशयन आदि व्रतों एवं शिव-पूजनका वर्णन)

नारदजीने कहा—पुलस्त्यजी! आपने चन्द्रमाके प्रति कामियोंद्वारा वर्णित श्रीहरि और शंकरकी आराधनाके लिये जिन व्रतोंका उल्लेख किया है उनका वर्णन करें ॥ १ ॥

*

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कामिभिः प्रोक्तान् व्रतान् पुण्यान् कलिप्रिय। आराधनाय शर्वस्य केशवस्य च धीमतः ॥ २ ॥
यदा त्वाषाढी संयाति व्रजते चोत्तरायणम्। तदा स्वपिति देवेशो भोगिभोगे श्रियः पतिः ॥ ३ ॥
प्रतिसुप्ते विभौ तस्मिन् देवगन्धर्वगुह्यकाः। देवानां मातरश्चापि प्रसुप्ताश्चाप्यनुक्रमात् ॥ ४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—लोक-कल्याणके लिये कलहको भी इष्ट माननेवाले कलि (कलह)प्रिय नारदजी! आप महादेव और बुद्धिमान् श्रीहरिकी आराधनाके लिये कामियोंद्वारा कहे गये पवित्र व्रतोंका वर्णन सुनें। जब आषाढ़ी पूर्णिमा बीत जाती है एवं उत्तरायण चलता रहता है, तब लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु भोगिभोग (शेषशय्या) पर सो जाते हैं। उन विष्णुके सो जानेपर देवता, गन्धर्व, गुह्यक एवं देवमाताएँ भी क्रमशः सो जाती हैं ॥ २—४ ॥

नारद उवाच

कथयस्व सुरादीनां शयने विधिमुत्तमम्। सर्वमनुक्रमेणैव पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥ ५ ॥

नारदने कहा—जनार्दनसे लेकर अनुक्रमसे देवता आदिके शयनकी सब उत्तम विधि मुझे बतलाइये ॥ ५ ॥

पुलस्त्य उवाच

मिथुनाभिगते सूर्ये शुक्लपक्षे तपोधन। एकादश्यां जगत्स्वामी शयनं परिकल्पयेत् ॥ ६ ॥
शेषाहिभोगपर्यङ्कं कृत्वा सम्पूज्य केशवम्। कृत्वोपवीतकं चैव सम्यक्सम्पूज्य वै द्विजान् ॥ ७ ॥
अनुज्ञां ब्राह्मणेभ्यश्च द्वादश्यां प्रयतः शुचिः। लब्ध्वा पीताम्बरधरः स्वस्तिनिद्रां समानयेत् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन नारदजी! आषाढ़के शुक्लपक्षमें सूर्यके मिथुन राशिमें चले जानेपर एकादशी तिथिके दिन जगदीश्वर विष्णुकी शय्याकी परिकल्पना करनी चाहिये। उस शय्यापर शेषनागके शरीर और फणकी रचना कर यज्ञोपवीतयुक्त श्रीकेशव (की प्रतिमा) की पूजा कर ब्राह्मणोंकी आज्ञासे संयम एवं पवित्रतापूर्वक रहते हुए स्वयं भी पीताम्बर धारण कर द्वादशी तिथिमें सुखपूर्वक उन्हें सुलाना चाहिये ॥ ६—८ ॥

त्रयोदश्यां ततः कामः स्वपते शयने शुभे। कदम्बानां सुगन्धानां कुसुमैः परिकल्पिते ॥ ९ ॥
चतुर्दश्यां ततो यक्षाः स्वपन्ति सुखशीतले। सौवर्णपङ्कजकृते सुखास्तीर्णोपधानके ॥ १० ॥
पौर्णमास्यामुमानाथः स्वपते चर्मसंस्तरे। वैयाघ्रे च जटाभारं समुद्ग्रन्थ्यान्यचर्मणा ॥ ११ ॥
ततो दिवाकरो राशिं संप्रयाति च कर्कटम्। ततोऽमराणां रजनी भवति दक्षिणायनम् ॥ १२ ॥

इसके बाद त्रयोदशी तिथिमें सुगन्धित कदम्बके पुष्पोंसे बनी पवित्र शय्यापर कामदेव शयन करते हैं। फिर चतुर्दशीको सुशीतल स्वर्णपङ्कजसे निर्मित सुखदायकरूपमें बिछाये गये एवं तकियेवाली शय्यापर यक्षलोग शयन करते हैं। पूर्णमासी तिथिको चर्मवस्त्र धारणकर उमानाथ शंकर एक-दूसरे चर्मद्वारा जटाभार बाँधकर व्याघ्र-चर्मकी शय्यापर सोते हैं। उसके बाद जब सूर्य कर्क राशिमें गमन करते हैं तब देवताओंके लिये रात्रिस्वरूप दक्षिणायनका आरम्भ हो जाता है ॥ ९—१२ ॥

ब्रह्मा प्रतिपदि तथा नीलोत्पलमयेऽनघ। तल्पे स्वपिति लोकानां दर्शयन् मार्गमुत्तमम् ॥ १३ ॥
विश्वकर्मा द्वितीयायां तृतीयायां गिरेः सुता। विनायकश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यामपि धर्मराट् ॥ १४ ॥
षष्ठ्यां स्कन्दः प्रस्वपिति सप्तम्यां भगवान् रविः। कात्यायनी तथाष्टम्यां नवम्यां कमलालया ॥ १५ ॥
दशम्यां भुजगेन्द्राश्च स्वपन्ते वायुभोजनाः। एकादश्यां तु कृष्णायां साध्या ब्रह्मन् स्वपन्ति च ॥ १६ ॥

निष्पाप नारदजी ! लोगोंको उत्तम मार्ग दिखलाते हुए ब्रह्माजी (श्रावण कृष्ण) प्रतिपदाको नीले कमलकी शय्यापर सो जाते हैं । विश्वकर्मा द्वितीयाको, पार्वतीजी तृतीयाको, गणेशजी चतुर्थीको, धर्मराज पञ्चमीको, कार्तिकेयजी षष्ठीको, सूर्य भगवान् सप्तमीको, दुर्गादेवी अष्टमीको, लक्ष्मीजी नवमीको, वायु पीनेवाले श्रेष्ठ सर्प दशमीको और साध्यगण कृष्णपक्षकी एकादशीको सो जाते हैं ॥ १३–१६ ॥

एष क्रमस्ते गदितो नभादौ स्वपने मुने। स्वपत्सु तत्र देवेषु प्रावृट्कालः समायर्यौ ॥ १७ ॥
कङ्काः समं बलाकाभिरारोहन्ति नभोत्तमान्।
वायसाश्चापि कुर्वन्ति नीडानि ऋषिपुंगव। वायसाश्च स्वपन्त्येते ऋतौ गर्भभरालसाः ॥ १८ ॥
यस्यां तिथ्यां प्रस्वपिति विश्वकर्मा प्रजापतिः। द्वितीया सा शुभा पुण्या अशून्यशयनोदिता ॥ १९ ॥
तस्यां तिथावर्च्य हरिं श्रीवत्साङ्कं चतुर्भुजम्। पर्यङ्कस्थं समं लक्ष्म्या गन्धपुष्पादिभिर्मुने ॥ २० ॥
ततो देवाय शय्यायां फलानि प्रक्षिपेत् क्रमात्। सुरभीणि निवेद्येत्थं विज्ञाप्यो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

मुने ! इस प्रकार हमने तुम्हे श्रावण आदिके महीनोंमें देवताओंके सोनेका क्रम बतलाया । देवोंके सो जानेपर वर्षाकालका आगमन हो जाता है । ऋषिश्रेष्ठ ! (तब) बलाकाओं (बगुलोंके झुंडों)के साथ कङ्क पक्षी ऊँचे पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं तथा कौए घोंसले बनाने लगते हैं । इस ऋतुमें मादा कौएँ गर्भभारके कारण आलस्यसे सोती हैं । प्रजापति विश्वकर्मा जिस द्वितीया तिथिमें सोते हैं वह कल्याणकारिणी पवित्र तिथि अशून्यशयना द्वितीया तिथि कही जाती है । मुने ! उस तिथिमें लक्ष्मीके साथ पर्यङ्कस्थ श्रीवत्सनामक चिह्न धारण करनेवाले चतुर्भुज विष्णुभगवान्की गन्ध-पुष्पादिके द्वारा पूजाके हेतु शय्यापर क्रमशः फल तथा सुगन्ध-द्रव्य निवेदित कर उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे कि—॥१७–२१॥

यथा हि लक्ष्म्या न वियुज्यसे त्वं त्रिविक्रमानन्त जगन्निवास।
तथा त्वशून्यं शयनं सदैव अस्माकमेवेह तव प्रसादात् ॥ २२ ॥
यथा त्वशून्यं तव देव तल्पं समं हि लक्ष्म्या वरदाच्युतेश।
सत्येन तेनामितवीर्य विष्णो गार्हस्थ्यनाशो मम नास्तु देव ॥ २३ ॥
इत्युच्चार्य प्रणम्येशं प्रसाद्य च पुनः पुनः। नक्तं भुञ्जीत देवर्षे तैलक्षारविवर्जितम् ॥ २४ ॥
द्वितीयेऽह्नि द्विजाग्र्याय फलान् दद्याद् विचक्षणः। लक्ष्मीधरः प्रीयतां मे इत्युच्चार्य निवेदयेत् ॥ २५ ॥

हे त्रिविक्रम ! हे अनन्त !! हे जगन्निवास !!! जिस प्रकार आप लक्ष्मीसे कभी अलग नहीं होते, उसी प्रकार आपकी कृपासे हमारी शय्या भी कभी शून्य न हो । हे देव ! हे वरद ! हे अच्युत ! हे ईश ! हे अमितवीर्यशाली विष्णो ! आपकी शय्या लक्ष्मीसे शून्य नहीं होती, उसी सत्यके प्रभावसे हमारी भी गृहस्थीके नाशका अवसर न आवे—पत्नीका वियोग न हो । देवर्षे ! इस प्रकार स्तुति करनेके बाद भगवान् विष्णुको प्रणामद्वारा बार-बार प्रसन्नकर रात्रिमें तेल एवं नमकसे रहित भोजन करे । दूसरे दिन बुद्धिमान् व्यक्ति, भगवान् लक्ष्मीधर मेरे ऊपर प्रसन्न हों—यह वाक्य उच्चारण कर श्रेष्ठ ब्राह्मणको फलोंका दान दे ॥ २२–२५ ॥

अनेन तु विधानेन चातुर्मास्यव्रतं चरेत्। यावद् वृश्चिकराशिस्थः प्रतिभाति दिवाकरः ॥ २६ ॥
ततो विबुध्यन्ति सुराः क्रमशः क्रमशो मुने। तुलास्थेऽर्के हरिः कामः शिवः पश्चाद्विबुध्यते ॥ २७ ॥
तत्र दानं द्वितीयायां मूर्तिर्लक्ष्मीधरस्य तु। सशय्यास्तरणोपेता यथा विभवमात्मनः ॥ २८ ॥
एष व्रतस्तु प्रथमः प्रोक्तस्तव महामुने। यस्मिञ्चीर्णे वियोगस्तु न भवेदिह कस्यचित् ॥ २९ ॥

जबतक सूर्य वृश्चिक राशिपर रहते हैं, तबतक इसी विधिसे चातुर्मास्य-व्रतका पालन किया जाना चाहिये। मुने! उसके बाद क्रमशः देवता जागते हैं। सूर्यके तुलाराशिमें स्थित होनेपर विष्णु जाग जाते हैं। उसके बाद काम और शिव जागते हैं। उसके पश्चात् द्वितीयाके दिन अपने विभवके अनुसार बिछौनेवाली शय्याके साथ लक्ष्मीधरकी मूर्तिका दान करे। महामुने! इस प्रकार मैंने आपको यह प्रथम व्रत बतलाया, जिसका आचरण करनेपर इस संसारमें किसीको वियोग नहीं होता। २६—२९॥

नभस्ये मासि च तथा या स्यात्कृष्णाष्टमी शुभा। युक्ता मृगशिरेणैव सा तु कालाष्टमी स्मृता॥ ३०॥
तस्यां सर्वेषु लिङ्गेषु तिथौ स्वपिति शंकरः। वसते संनिधाने तु तत्र पूजाऽक्षया स्मृता॥ ३१॥
तत्र स्नायीत वै विद्वान् गोमूत्रेण जलेन च। स्नातः संपूजयेत् पुष्पैर्धत्तूरस्य त्रिलोचनम्॥ ३२॥
धूपं केसरनिर्यासं नैवेद्यं मधुसर्पिषा।
प्रीयतां मे विरूपाक्षस्त्वित्युच्चार्य च दक्षिणाम्। विप्राय दद्यान्नैवेद्यं सहिरण्यं द्विजोत्तम॥ ३३॥

इसी प्रकार भाद्रपद मासमें मृगशिरा नक्षत्रसे युक्त जो पवित्र कृष्णाष्टमी होती है उसे कालाष्टमी माना गया है। उस तिथिमें भगवान् शंकर समस्त लिङ्गोंमें सोते एवं उनके संनिधानमें निवास करते हैं। इस अवसरपर की गयी शंकरजीकी पूजा अक्षय मानी गयी है। उस तिथिमें विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि गोमूत्र और जलसे स्नान करे। स्नानके बाद धतूरके पुष्पोंसे शंकरकी पूजा करे। द्विजोत्तम! केसरके गोंदका धूप तथा मधु एवं घृतका नैवेद्य अर्पित करनेके बाद 'विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहकर ब्राह्मणको दक्षिणा तथा सुवर्णके साथ नैवेद्य प्रदान करे॥ ३०—३३॥

तद्वदाश्वयुजे मासि उपवासी जितेन्द्रियः।
नवम्यां गोमयस्नानं कुर्यात्पूजां तु पङ्कजैः। धूपयेत् सर्जनिर्यासं नैवेद्यं मधुमोदकैः॥ ३४॥
कृतोपवासस्त्वष्टम्यां नवम्यां स्नानमाचरेत्। प्रीयतां मे हिरण्याक्षो दक्षिणा सतिला स्मृता॥ ३५॥
कार्तिके पयसा स्नानं करवीरेण चार्चनम्। धूपं श्रीवासनिर्यासं नैवेद्यं मधुपायसम्॥ ३६॥
सनैवेद्यं च रजतं दातव्यं दानमग्रजे। प्रीयतां भगवान् स्थाणुरिति वाच्यमनिष्ठुरम्॥ ३७॥

इसी प्रकार आश्विन मासमें नवमी तिथिको इन्द्रियोंको वशमें करके उपवास रहकर गोबरसे स्नान करनेके पश्चात् कमलोंसे पूजन करे तथा सर्ज वृक्षके निर्यास (गोंद) का धूप एवं मधु और मोदकका नैवेद्य अर्पित करे। अष्टमीको उपवास करके नवमीको स्नान करनेके बाद 'हिरण्याक्ष मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए तिलके साथ दक्षिणा प्रदान करे। कार्तिकमें दुग्धस्नान तथा कनेरके पुष्पसे पूजा करे और सरल वृक्षकी गोंदका धूप तथा मधु एवं खीर नैवेद्य अर्पितकर विनयपूर्वक 'भगवान् शिव मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह उच्चारण करते हुए ब्राह्मणको नैवेद्यके साथ रजतका दान करे॥ ३४—३७॥

कृत्वोपवासमष्टम्यां नवम्यां स्नानमाचरेत्। मासि मार्गशिरे स्नानं दध्नार्चा भद्रया स्मृता॥ ३८॥
धूपं श्रीवृक्षनिर्यासं नैवेद्यं मधुनोदनम्।
संनिवेद्या रक्तशालिर्दक्षिणा परिकीर्तिता। नमोऽस्तु प्रीयतां शर्वस्त्विति वाच्यं च पण्डितैः॥ ३९॥
पौषे स्नानं च हविषा पूजा स्यात्तगरैः शुभैः। धूपो मधुकनिर्यासो नैवेद्यं मधु शष्कुली॥ ४०॥
समुद्गा दक्षिणा प्रोक्ता प्रीणनाय जगद्गुरोः। वाच्यं नमस्ते देवेश त्र्यम्बकेति प्रकीर्तयेत्॥ ४१॥

मार्गशीर्ष (अगहन) मासमें अष्टमी तिथिको उपवास करके नवमी तिथिमें दधिसे स्नान करना चाहिये। इस समय 'भद्रा' ओषधिके द्वारा पूजाका विधान है। पण्डित व्यक्ति श्रीवृक्षके गोंदका धूप एवं मधु

और ओदनका नैवेद्य देकर 'शर्व (शिवजी) को नमस्कार है, वे मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए रक्तशालि (लाल चावल) की दक्षिणा प्रदान करे—ऐसा कहा गया है। पौष मासमें घृतका स्नान तथा सुन्दर तगर-पुष्पोंद्वारा पूजा करनी चाहिये। फिर महुएके वृक्षकी गोंदका धूप देकर मधु एवं पूड़ीका नैवेद्य अर्पित करे और 'हे देवेश त्र्यम्बक ! आपको नमस्कार है'—यह कहते हुए शंकरजीकी प्रसन्नताके लिये मूँगसहित दक्षिणा प्रदान करे ॥ ३८–४१ ॥

माघे कुशोदकस्नानं मृगमदेन चार्चनम्। धूपः कदम्बनिर्यासो नैवेद्यं सतिलौदनम् ॥ ४२ ॥
पयोभक्तं सनैवेद्यं सरुक्मं प्रतिपादयेत्। प्रीयतां मे महादेव उमापतिरितीरयेत् ॥ ४३ ॥
एवमेव समुद्दिष्टं षड्भिर्मासैस्तु पारणम्। पारणान्ते त्रिनेत्रस्य स्नपनं कारयेत्क्रमात् ॥ ४४ ॥
गोरोचनायाः सहिता गुडेन देवं समालभ्य च पूजयेत।
प्रीयस्व दीनोऽस्मि भवन्तमीश मच्छोकनाशं प्रकुरुष्व योग्यम् ॥ ४५ ॥

माघमासमें कुशके जलसे स्नान करे और मृगमद (कस्तूरीसे) अर्चन करे। उसके बाद कदम्ब वृक्षके गोंदका धूप देकर तिल एवं ओदन (भात) का नैवेद्य अर्पित करनेके पश्चात् 'महादेव उमापति मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए सुवर्णके साथ दूध एवं भातकी दक्षिणा प्रदान करनी चाहिये। इस प्रकार छः मासके बाद (प्रथम) पारणकी विधि कही गयी है। पारणके अन्तमें त्रिनेत्रधारी महादेवका क्रमसे स्नान-कार्य सम्पन्न कराये। गोरोचनके सहित गुड़द्वारा महादेवकी प्रतिमाका अनुलेपन कर उसकी पूजा करे तथा इस प्रकार प्रार्थना करे कि—'हे ईश ! मैं दीन हूँ तथा आपकी शरणमें हूँ; आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तथा मेरे दुःख-शोकका नाश करें' ॥ ४२–४५ ॥

ततस्तु फाल्गुने मासि कृष्णाष्टम्यां यतव्रत। उपवासं समुदितं कर्तव्यं द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
द्वितीयेऽह्नि ततः स्नानं पञ्चगव्येन कारयेत्। पूजयेत्कुन्दकुसुमैर्धूपयेत् चन्दनं त्वपि ॥ ४७ ॥
नैवेद्यं सघृतं दद्यात् ताम्रपात्रे गुडोदनम्।
दक्षिणां च द्विजातिभ्यो नैवेद्यसहितां मुने। वासोयुगं प्रीणयेरुच्च रुद्रमुच्चार्य नामतः ॥ ४८ ॥
चैत्रे चोदुम्बरफलैः स्नानं मन्दारकार्चनम्। गुग्गुलुं महिषाख्यं च घृताक्तं धूपयेद् बुधः ॥ ४९ ॥
समोदकं तथा सर्पिः प्रीणनं विनिवेदयेत्। दक्षिणा च सनैवेद्यं मृगाजिनमुदाहृतम् ॥ ५० ॥
नाट्येश्वर नमस्तेऽस्तु इदमुच्चार्य नारद। प्रीणनं देवनाथाय कुर्याच्छ्रद्धासमन्वितः ॥ ५१ ॥

व्रतधारी द्विजश्रेष्ठ ! इसके बाद फाल्गुन मासकी कृष्णाष्टमीको उपवास करना चाहिये। दूसरे दिन नवमीको पञ्चगव्यसे भगवान् शिवको स्नान कराये तथा कुन्दद्वारा अर्चनकर चन्दनका धूप और ताम्रपात्रमें घृतसहित गुड और ओदनका नैवेद्य प्रदान करे। उसके बाद 'रुद्र' शब्दका उच्चारण कर ब्राह्मणोंको नैवेद्यके साथ दक्षिणा तथा दो वस्त्र प्रदान कर महादेवको प्रसन्न करे। चैत्र मासमें गूलरके फलके जलसे स्नान कराये और मदारके फूलोंसे पूजा करे। उसके बाद बुद्धिमान् व्यक्ति घृतमिश्रित 'महिष' नामक गुग्गुलसे धूप देकर मोदकके साथ घृत उनकी प्रसन्नताके लिये अर्पित करे एवं 'नाट्येश्वर(भगवान्)को नमस्कार है'—यह कहते हुए नैवेद्यसहित दक्षिणारूपमें मृगचर्म प्रदान करे। इस प्रकार पूर्ण श्रद्धायुक्त होकर महादेवजीको प्रसन्न करे ॥ ४६–५१ ॥

वैशाखे स्नानमुदितं सुगन्धकुसुमाम्भसा। पूजनं शंकरस्योक्तं चूतमञ्जरिभिर्विभो ॥ ५२ ॥
धूपं सजाज्ययुक्तं च नैवेद्यं सफलं घृतम्। नामजप्यमथेशस्य कालघ्नेति विपश्चिता ॥ ५३ ॥

जलकुम्भान् सनैवेद्यान् ब्राह्मणाय निवेदयेत्। सोपवीतान् सहान्नाद्यांस्तच्चित्तैस्तत्परायणैः ॥ ५४ ॥
ज्येष्ठे स्नानं चामलकैः पूजार्ककुसुमैस्तथा। धूपयेत्तत्त्रिनेत्रं च आयत्यां पुष्टिकारकम् ॥ ५५ ॥
सक्तूंश्च सघृतान् देवे दघ्नाक्तान् विनिवेदयेत्। उपानद्युगलं छत्रं दानं दद्याच्च भक्तिमान् ॥ ५६ ॥
नमस्ते भगनेत्रघ्न पूष्णो दशननाशन। इदमुच्चारयेद्भक्त्या प्रीणनाय जगत्पतेः ॥ ५७ ॥

नारदजी ! वैशाखमासमें सुगन्धित पुष्पोंके जलसे स्नान तथा आमकी मञ्जरियोंसे शंकरके पूजनका विधान है। इस समय घी-मिले सर्ज वृक्षके गोंदका धूप तथा फलसहित घृतका नैवेद्य अर्पित करना चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्तिको इस समय श्रीशिवके 'कालघ्न' नामका जप करना चाहिये और तल्लीनतापूर्वक ब्राह्मणको नैवेद्य, उपवीत (जनेऊ) एवं अन्न आदिके साथ पानीसे भरा घड़ा दक्षिणा देनी चाहिये। ज्येष्ठ मासमें आँवलेके जलसे स्नान कराये तथा मन्दारके पुष्पोंसे उनकी पूजा करे। उसके बाद त्रिनेत्रधारी पुष्टि-कर्त्ता श्रीशिवको धूपदानमें धूप दिखलाये। फिर घी तथा दही मिला सत्तूका नैवेद्य अर्पित करे। जगत्पतिके प्रीत्यर्थ 'हे पूषाके दाँत तोड़नेवाले भगनेत्रघ्न शिव ! आपको नमस्कार है'—यह कहकर भक्तिपूर्वक छत्र एवं उपानद्युगल (एक जोड़ा जूता) दक्षिणामें प्रदान करना चाहिये ॥ ५२—५७ ॥

आषाढे स्नानमुदितं श्रीफलैरर्चनं तथा। धत्तूरकुसुमैः शुक्लैर्धूपयेत् सिल्हकं तथा ॥ ५८ ॥
नैवेद्याः सघृताः पूपाः दक्षिणा सघृता यवाः। नमस्ते दक्षयज्ञघ्न इदमुच्चैरुदीरयेत् ॥ ५९ ॥
श्रावणे मृगभोज्येन स्नानं कृत्वाऽर्चयेद्धरम्। श्रीवृक्षपत्रैः सफलैर्धूपं दद्यात् तथागुरुम् ॥ ६० ॥
नैवेद्यं सघृतं दद्याद् दधि पूपान् समोदकान्। दध्योदनं सकृसरं माषधानाः सशष्कुलीः ॥ ६१ ॥
दक्षिणां श्वेतवृषभं धेनुं च कपिलां शुभाम्।
कनकं रक्तवसनं प्रदद्याद् ब्राह्मणाय हि। गङ्गाधरेति जप्तव्यं नाम शंभोश्च पण्डितैः ॥ ६२ ॥

आषाढमासमें बिल्वके जलसे भगवान् शिवको स्नान कराये तथा धतूरके उजले पुष्पोंसे उनकी पूजा करे; सिल्हक (सिलारस वृक्षका गोंद)का धूप दे और घृतके सहित मालपूएका नैवेद्य अर्पित करे एवं—हे दक्षके यज्ञका विनाश करनेवाले शंकर ! आपको नमस्कार है—यह ऊँचे स्वरसे उच्चारण करे। श्रावण मासमें मृगभोज्य (जटामासी)के जलसे स्नान कराकर फलयुक्त बिल्वपत्रोंसे महादेवकी पूजा करे तथा अगुरुका धूप दे। उसके बाद घृतयुक्त पूप, मोदक, दधि, दध्योदन, उड़दकी दाल, भुना हुआ जौ एवं कचौड़ीका नैवेद्य अर्पित करनेके बाद बुद्धिमान् व्यक्ति ब्राह्मणको श्वेत बैल, शुभा कपिला (भूरी) गौ, स्वर्ण एवं रक्तवस्त्रकी दक्षिणा दे। पण्डितोंको चाहिये कि शिवजीके 'गङ्गाधर' इस नामका जप करें ॥५८—६२॥

अमीभिः षड्भिरपरैर्मासैः पारणमुत्तमम्।
एवं संवत्सरं पूर्णं सम्पूज्य वृषभध्वजम्। अक्षयान् लभते कामान् महेश्वरवचो यथा ॥ ६३ ॥
इदमुक्तं व्रतं पुण्यं सर्वाक्षयकरं शुभम्। स्वयं रुद्रेण देवर्षे तत्तथा न तदन्यथा ॥ ६४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इन दूसरे छः महीनोंके अनन्तर द्वितीय पारण होता है। इस प्रकार एक वर्षतक वृषभध्वज (शिवजी)का पूजन कर महेश्वरके वचनानुसार मनुष्य अक्षय कामनाओंको प्राप्त करता है। स्वयं भगवान् शंकरने यह कल्याण-कारी पवित्र एवं सभी पुण्योंको अक्षय करनेवाला व्रत बतलाया था। यह जैसा कहा गया है, वैसा ही है। यह कभी व्यर्थ नहीं जाता ॥ ६३-६४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

[अथ सप्तदशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

मासि चाश्वयुजे ब्रह्मन् यदा पद्मं जगत्पतेः। नाभ्या निर्याति हि तदा देवेष्वेतान्यथोऽभवन् ॥ १ ॥
कंदर्पस्य कराग्रे तु कदम्बश्चारुदर्शनः। तेन तस्य परा प्रीतिः कदम्बेन विवर्द्धते ॥ २ ॥
यक्षाणामधिपस्यापि मणिभद्रस्य नारद। वटवृक्षः समभवत् तस्मिंस्तस्य रतिः सदा ॥ ३ ॥
महेश्वरस्य हृदये धत्तूरविटपः शुभः। संजातः स च शर्वस्य रतिकृत् तस्य नित्यशः ॥ ४ ॥

सत्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवाङ्गोंसे तरुओंकी उत्पत्ति, अखण्डव्रत-विधान, विष्णु-पूजा, विष्णुपञ्जरस्तोत्र और महिषका प्रसङ्ग)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! आश्विन मासमें जब जगत्पति (विष्णु)की नाभिसे कमल निकला, तब अन्य देवताओंसे भी ये वस्तुएँ उत्पन्न हुईं—कामदेवके करतलके अग्रभागमें सुन्दर कदम्ब वृक्ष उत्पन्न हुआ। इसीलिये कदम्बसे उसे बड़ी प्रीति रहती है। नारदजी ! यक्षोंके राजा मणिभद्रसे वटवृक्ष उत्पन्न हुआ, अतः उन्हें उसके प्रति विशेष प्रेम है। भगवान् शंकरके हृदयपर सुन्दर धतूर-वृक्ष उत्पन्न हुआ, अतः वह शिवजीको सदा प्यारा है ॥ १–४ ॥

ब्रह्मणो मध्यतो देहाज्जातो मरकतप्रभः। खदिरः कण्टकी श्रेयानभवद्विश्वकर्मणः ॥ ५ ॥
गिरिजायाः करतले कुन्दगुल्मस्त्वजायत। गणाधिपस्य कुम्भस्थो राजते सिन्धुवारकः ॥ ६ ॥
यमस्य दक्षिणे पार्श्वे पालाशो दक्षिणोत्तरे। कृष्णोदुम्बरको रुद्राज्जातः क्षोभकरो वृषः ॥ ७ ॥
स्कन्दस्य बन्धुजीवस्तु रवेरश्वत्थ एव च। कात्यायन्याः शमी जाता बिल्वो लक्ष्म्याः करेऽभवत् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके शरीरके बीचसे मरकतमणिके समान खैरवृक्षकी उत्पत्ति हुई और विश्वकर्माके शरीरसे सुन्दर कटैया उत्पन्न हुआ। गिरिनन्दिनी पार्वतीके करतलपर कुन्द लता उत्पन्न हुई और गणपतिके कुम्भ देशसे सेंदुवार-वृक्ष उत्पन्न हुआ। यमराजकी दाहिनी बगलसे पलाश तथा बायीं बगलसे गूलरका वृक्ष उत्पन्न हुआ। रुद्रसे उद्विग्न करनेवाला वृष (ओषधि-विशेष)की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार स्कन्दसे बन्धुजीव, सूर्यसे पीपल, कात्यायनी दुर्गासे शमी और लक्ष्मीजीके हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ ॥ ५–८ ॥

नागानां पतये ब्रह्मञ्छरस्तम्बो व्यजायत। वासुकेर्विस्तृते पुच्छे पृष्ठे दूर्वा सितासिता ॥ ९ ॥
साध्यानां हृदये जातो वृक्षो हरितचन्दनः। एवं जातेषु सर्वेषु तेन तत्र रतिर्भवेत् ॥ १० ॥
तत्र रम्ये शुभे काले या शुक्लैकादशी भवेत्। तस्यां सम्पूजयेद् विष्णुं तेन खण्डोऽस्य पूर्यते ॥ ११ ॥
पुष्पैः पत्रैः फलैर्वापि गन्धवर्णरसान्वितैः। ओषधीभिश्च मुख्याभिर्यावत्स्याच्छरदागमः ॥ १२ ॥

नारदजी ! इसी प्रकार शेषनागसे सरपत, वासुकिनागकी पुच्छ और पीठपर श्वेत एवं कृष्ण दूर्वा उत्पन्न हुई। साध्योंके हृदयमें हरिचन्दनवृक्ष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्पन्न होनेसे उन सभी वृक्षोंमें उन-उन देवताओंका प्रेम होता है।

उस रमणीय सुन्दर समयमें शुक्लपक्षकी जो एकादशी तिथि होती है उसमें भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये। इससे पूजाकी न्यूनता दूर हो जाती है। शरत्कालकी उपस्थितितक गन्ध, वर्ण और रसयुक्त पत्र, पुष्प एवं फलों तथा मुख्य ओषधियोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये ॥ ९–१२ ॥

घृतं तिला व्रीहियवा हिरण्यकनकादि यत्। मणिमुक्ताप्रवालानि वस्त्राणि विविधानि च ॥ १३ ॥
रसानि स्वादुकट्वम्लकषायलवणानि च। तिक्तानि च निवेद्यानि तान्यखण्डानि यानि हि ॥ १४ ॥
तत्पूजार्थं प्रदातव्यं केशवाय महात्मने। यदा संवत्सरं पूर्णमखण्डं भवते गृहे ॥ १५ ॥
कृतोपवासो देवर्षे द्वितीयेऽहनि संयतः। स्नानेन तेन स्नायीत येनाखण्डं हि वत्सरम् ॥ १६ ॥

घी, तिल, चावल, जौ, चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, मूँगा तथा नाना प्रकारके वस्त्र, स्वादु, कटु, अम्ल, कषाय, लवण और तिक्त रस आदि वस्तुओंको अखण्डितरूपसे महात्मा केशवकी पूजाके लिये अर्पित करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करते हुए वर्षको बितानेपर घरमें पूर्ण समृद्धि होती है। देवर्षे! जितेन्द्रिय होकर दूसरे दिन उपवास करके जिससे वर्ष अखण्डित रहे इसलिये इस प्रकार स्नान करे—॥ १३–१६ ॥

सिद्धार्थकैस्तिलैर्वापि तेनैवोद्वर्तनं स्मृतम्।
हविषा पद्मनाभस्य स्नानमेव समाचरेत्। होमे तदेव गदितं दाने शक्तिर्निजा द्विज ॥ १७ ॥
पूजयेताथ कुसुमैः पादादारभ्य केशवम्। धूपयेद् विविधं धूपं येन स्याद् वत्सरं परम् ॥ १८ ॥
हिरण्यरत्नवासोभिः पूजयेत जगद्गुरुम्। रागखाण्डवचोष्याणि हविष्याणि निवेदयेत् ॥ १९ ॥
ततः संपूज्य देवेशं पद्मनाभं जगद्गुरुम्। विज्ञापयेन्मुनिश्रेष्ठ मन्त्रेणानेन सुव्रत ॥ २० ॥

सफेद सरसों या तिलके द्वारा उबटन तैयार करना चाहिये ऐसा कहा गया है। उससे या घीसे भगवान् विष्णुको स्नान कराना चाहिये। नारदजी! होममें भी घीका ही विधान है और दानमें भी यथाशक्ति उसीकी विधि है। फिर पुष्पोंद्वारा चरणसे आरम्भकर (सिरतक) सभी अङ्गोंमें केशवकी पूजा करे एवं नाना प्रकारके धूपोंसे उन्हें सुवासित करे, जिससे संवत्सर पूर्ण हो। सुवर्ण, रत्नों और वस्त्रोंद्वारा (उन) जगद्गुरुका पूजन करे तथा राग-खाँड, चोष्य एवं हविष्योंका नैवेद्य अर्पित करे। सुव्रत नारदजी! देवेश जगद्गुरु विष्णुकी पूजा करनेके बाद इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—॥ १७–२० ॥

नमोऽस्तु ते पद्मनाभ पद्माधव महाद्युते। धर्मार्थकाममोक्षाणि त्वखण्डानि भवन्तु मे ॥ २१ ॥
विकासिपद्मपत्राक्ष यथाऽखण्डोसि सर्वतः। तेन सत्येन धर्माद्या अखण्डाः सन्तु केशव ॥ २२ ॥
एवं संवत्सरं पूर्णं सोपवासो जितेन्द्रियः। अखण्डं पारयेद् ब्रह्मन् व्रतं वै सर्ववस्तुषु ॥ २३ ॥
अस्मिश्चीर्णे व्रते व्यक्तं परितुष्यन्ति देवताः। धर्मार्थकाममोक्षाद्यास्त्वक्षयाः सम्भवन्ति हि ॥ २४ ॥

हे महाकान्तिवाले पद्मनाभ लक्ष्मीपते! आपको प्रणाम है। (आपकी कृपाके प्रसादसे) हमारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अखण्ड हों। विकसित कमलपत्रके समान नेत्रवाले! आप जिस प्रकार चारों ओरसे अखण्ड हैं, उसी सत्यके प्रभावसे मेरे भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ) अखण्डित रहें। ब्रह्मन्! इस प्रकार वर्षभर उपवास और जितेन्द्रिय रहते हुए सभी वस्तुओंके द्वारा व्रतको अखण्डरूपसे पूरा करे। इस व्रतके करनेपर देवता निश्चितरूपसे प्रसन्न होते हैं एवं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सभी पूर्ण होते हैं ॥२१–२४॥

एतानि ते मयोक्तानि व्रतान्युक्तानि कामिभिः। प्रवक्ष्याम्यधुना त्वेतद्वैष्णवं पञ्जरं शुभम् ॥ २५ ॥
नमो नमस्ते गोविन्द चक्रं गृह्य सुदर्शनम्। प्राच्यां रक्षस्व मां विष्णो त्वामहं शरणं गतः ॥ २६ ॥
गदां कौमोदकीं गृह्य पद्मनाभामितद्युते। याम्यां रक्षस्व मां विष्णो त्वामहं शरणं गतः ॥ २७ ॥
हलमादाय सौनन्दं नमस्ते पुरुषोत्तम। प्रतीच्यां रक्ष मे विष्णो भवन्तं शरणं गतः ॥ २८ ॥

नारद ! यहाँतक मैंने तुमसे सकाम व्रतोंका वर्णन किया है । अब मैं कल्याणकारी विष्णुपञ्जरस्तोत्रको[1] कहूँगा । (वह इस प्रकार है—) गोविन्द ! आपको नमस्कार है । आप सुदर्शनचक्र लेकर मेरी पूर्व दिशामें रक्षा करें । विष्णो ! मैं आपकी शरणमें हूँ । अमितद्युते पद्मनाभ ! आप कौमोदकी गदा धारणकर मेरी रक्षा करें । विष्णो ! मैं आपके शरण हूँ । पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है । आप सौनन्द नामक हल लेकर मेरी पश्चिम दिशामें रक्षा करें । विष्णो ! मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ २५–२८ ॥

मुसलं शातनं गृह्य पुण्डरीकाक्ष रक्ष माम् । उत्तरस्यां जगन्नाथ भवन्तं शरणं गतः ॥ २९ ॥
शार्ङ्गमादाय च धनुरस्त्रं नारायणं हरे । नमस्ते रक्ष रक्षोघ्न ऐशान्यां शरणं गतः ॥ ३० ॥
पाञ्चजन्यं महाशङ्खमन्तर्बोध्यं च पङ्कजम् । प्रगृह्य रक्ष मां विष्णो आग्नेय्यां यज्ञसूकर ॥ ३१ ॥
चर्म सूर्यशतं गृह्य खड्गं चन्द्रमसं तथा । नैर्ऋत्यां मां च रक्षस्व दिव्यमूर्ते नृकेसरिन् ॥ ३२ ॥

पुण्डरीकाक्ष ! आप 'शातन'नामके विनाशकारी मुसलको लेकर मेरी उत्तर दिशामें रक्षा करें । जगन्नाथ ! मैं आपकी शरण हूँ । हरे ! शार्ङ्गधनुष एवं नारायणास्त्र लेकर मेरी ईशानकोणमें रक्षा करें । रक्षोघ्न ! आपको नमस्कार है, मैं आपके शरण हूँ । यज्ञवाराह विष्णो ! आप पाञ्चजन्य नामक विशाल शङ्ख तथा अन्तर्बोध्य पङ्कजको लेकर मेरी अग्निकोणमें रक्षा करें । दिव्य नृसिंह ! सूर्यशत नामकी ढाल तथा चन्द्रहास नामकी तलवार लेकर मेरी नैर्ऋत्यकोणमें रक्षा करें ॥ २९–३२ ॥

वैजयन्तीं प्रगृह्य त्वं श्रीवत्सं कण्ठभूषणम् । वायव्यां रक्ष मां देव अश्वशीर्ष नमोऽस्तु ते ॥ ३३ ॥
वैनतेयं समारुह्य अन्तरिक्षे जनार्दन । मां त्वं रक्षाजित सदा नमस्ते त्वपराजित ॥ ३४ ॥
विशालाक्षं समारुह्य रक्ष मां त्वं रसातले । अकूपार नमस्तुभ्यं महामोह नमोऽस्तु ते ॥ ३५ ॥
करशीर्षाङ्घ्रिपर्वेषु तथाऽष्टबाहुपञ्जरम् । कृत्वा रक्षस्व मां देव नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥

आप वैजयन्ती नामकी माला तथा श्रीवत्स नामका कण्ठाभूषण धारणकर मेरी वायव्यकोणमें रक्षा करें । हयग्रीव ! आपको नमस्कार है । जनार्दन ! वैनतेय (गरुड)पर आरूढ होकर आप मेरी अन्तरिक्षमें रक्षा करें । अजित ! अपराजित ! आपको सदा नमस्कार है । महाकच्छप ! आप विशालाक्षपर चढ़कर मेरी रसातलमें रक्षा करें । महामोह ! आपको नमस्कार है । पुरुषोत्तम ! आप आठ हाथोंसे पञ्जर बनाकर हाथ, शिर एवं सन्धिस्थलों (जोड़ों) आदि- में मेरी रक्षा करें । देव ! आपको नमस्कार है ॥ ३३–३६ ॥

एतदुक्तं भगवता वैष्णवं पञ्जरं महत् । पुरा रक्षार्थमीशेन कात्यायन्या द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
नाशयामास सा यत्र दानवं महिषासुरम् । नमरं रक्तबीजं च तथान्यान् सुरकण्टकान् ॥ ३८ ॥

द्विजोत्तम ! प्राचीन कालमें भगवान् शंकरने कात्यायनी (दुर्गा)की रक्षाके लिये इस महान् विष्णुपञ्जर-स्तोत्रको उस स्थानपर कहा था, जहाँ उन्होंने महिषासुर, नमर, रक्तबीज एवं अन्यान्य देव-शत्रुओंका नाश किया था ॥ ३७–३८ ॥

नारद उवाच

काऽसौ कात्यायनी नाम या जघ्ने महिषासुरम् । नमरं रक्तबीजं च तथाऽन्यान् सुरकण्टकान् ॥ ३९ ॥

१—यह विष्णुपञ्जरस्तोत्र बहुत प्रसिद्ध है तथा स्वल्पान्तरसे अग्निपुराण, अ० १३, ब्रह्मवैवर्त २ । ३१, विष्णु-धर्मोत्तर १ । १२५ आदिमें प्राप्त होता है । वामनपुराणमें तो यह दो बार आ गया है । एक यहाँ तथा आगे ७४ वें अध्यायमें ।

कश्चासौ महिषो नाम कुले जातश्च कस्य सः ।
कश्चासौ रक्तबीजाख्यो नमरः कस्य चात्मजः । एतद्विस्तरतस्तात यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

नारदजीने पूछा—ऋषे ! महिषासुर, नमर, रक्तबीज तथा अन्यान्य सुर-कण्टकोंका वध करनेवाली ये भगवती कात्यायनी कौन हैं ? तात ! यह महिष कौन है ? तथा वह किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था ? यह रक्तबीज कौन है ? तथा नमर किसका पुत्र है ? आप इसका यथार्थ रूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ ३९-४० ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि कथां पापप्रणाशिनीम् । सर्वदा वरदा दुर्गा येयं कात्यायनी मुने ॥ ४१ ॥
पुराऽसुरवरौ रौद्रौ जगत्क्षोभकरावुभौ । रम्भश्चैव करम्भश्च द्वावास्तां सुमहाबलौ ॥ ४२ ॥
तावपुत्रौ च देवर्षे पुत्रार्थं तेपतुस्तपः । बहून् वर्षगणान् दैत्यौ स्थितौ पञ्चनदे जले ॥ ४३ ॥
तत्रैको जलमध्यस्थो द्वितीयोऽप्यग्निपञ्चमी । करम्भश्चैव रम्भश्च यक्षं मालवटं प्रति ॥ ४४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! सुनिये, मैं उस पापनाशक कथाको कहता हूँ । मुने ! सब कुछ देनेवाली वरदायिनी भगवती दुर्गा ही ये कात्यायनी हैं । प्राचीनकालमें संसारमें उथल-पुथल मचानेवाले रम्भ और करम्भ नामके दो भयंकर और महाबलवान् असुरश्रेष्ठ थे । देवर्षे ! वे दोनो पुत्रहीन थे । उन दोनों दैत्योंने पुत्रके लिये पञ्चनदके जलमें रहकर बहुत वर्षोंतक तप किया । मालवट यक्षके प्रति एकाग्र होकर करम्भ और रम्भ—इन दोनोंमेंसे एक जलमें स्थित होकर और दूसरा पञ्चाग्निके मध्य बैठकर तप कर रहा था ॥ ४१-४४ ॥

एकं निमग्नं सलिले ग्राहरूपेण वासवः । चरणाभ्यां समादाय निजघान यथेच्छया ॥ ४५ ॥
ततो भ्रातरि नष्टे च रम्भः कोपपरिप्लुतः । वह्नौ स्वशीर्षं संक्षिप्य होतुमैच्छन् महाबलः ॥ ४६ ॥
ततः प्रगृह्य केशेषु खड्गं च रविसप्रभम् । छेत्तुकामो निजं शीर्षं वह्निना प्रतिषेधितः ॥ ४७ ॥
उक्तश्च मा दैत्यवर नाशयात्मानमात्मना । दुस्तरा परवध्याऽपि स्ववध्याऽप्यतिदुस्तरा ॥ ४८ ॥

इन्द्रने ग्राहका रूप धारणकर इनमेंसे एकको जलमें निमग्न होनेपर पैर पकड़कर इच्छानुसार दूर ले जाकर मार डाला । उसके बाद भाईके नष्ट हो जानेपर क्रोधयुक्त महाबलशाली रम्भने अपने सिरको काटकर अग्निमें हवन करना चाहा । वह अपना केश पकड़कर हाथमें सूर्यके समान चमकनेवाली तलवार लेकर अपना सिर काटना ही चाहता था कि अग्निने उसे रोक दिया और कहा—दैत्यवर ! तुम स्वयं अपना नाश मत करो । दूसरेका वध तो पाप होता ही है, आत्महत्या भी भयानक पाप है ॥ ४५-४८ ॥

यच्च प्रार्थयसे वीर तद्ददामि यथेप्सितम् । मा म्रियस्व मृतस्येह नष्टा भवति वै कथा ॥ ४९ ॥
ततोऽब्रवीद् वचो रम्भो वरं चेन्मे ददासि हि । त्रैलोक्यविजयी पुत्रः स्यान्मे त्वत्तेजसाऽधिकः ॥ ५० ॥
अजेयो दैवतैः सर्वैः पुंभिर्दैत्यैश्च पावक । महाबलो वायुरिव कामरूपी कृतास्त्रवित् ॥ ५१ ॥
तं प्रोवाच कविर्ब्रह्मन् बाढमेवं भविष्यति । यस्यां चित्तं समालम्बि करिष्यसि ततः सुतः ॥ ५२ ॥

वीर ! तुम जो माँगोगे, तुम्हारी इच्छाके अनुसार वह मैं तुम्हें दूँगा । तुम मरो मत । इस संसारमें मृत व्यक्तिकी कथा नष्ट हो जाती है । इसपर रम्भने कहा—यदि आप वर देते हैं तो यह वर दीजिये कि मुझे आपसे भी अधिक तेजस्वी त्रैलोक्यविजयी पुत्र उत्पन्न हो । अग्निदेव ! समस्त देवताओं तथा मानवों और दैत्योंसे भी वह अजेय हो । वह वायुके समान महाबलवान् तथा कामरूपी एवं सर्वास्त्रवेत्ता हो । नारदजी ! इसपर अग्निने उससे कहा—अच्छा, ऐसा ही होगा । जिस स्त्रीमें तुम्हारा चित्त लग जायगा उसीसे तुम पुत्र उत्पन्न करोगे ॥ ४९-५२ ॥

इत्येवमुक्तो देवेन वह्निना दानवो ययौ। द्रष्टुं मालवटं यक्षं यक्षैश्च परिवारितम् ॥ ५३ ॥
तेषां पद्मनिधिस्तत्र वसते नान्यचेतनः। गजाश्च महिषाश्चाश्वा गावोऽजाविपरिप्लुताः ॥ ५४ ॥
तान् दृष्ट्वैव तदा चक्रे भावं दानवपार्थिवः। महिष्यां रूपयुक्तायां त्रिहायण्यां तपोधन ॥ ५५ ॥
सा समागाच्च दैत्येन्द्रं कामयन्ती तरस्विनी। स चापि गमनं चक्रे भवितव्यप्रचोदितः ॥ ५६ ॥

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर रम्भ यक्षोंसे घिरा हुआ मालवट यक्षका दर्शन करने गया। वहाँ उन यक्षोंका एक पद्म नामकी निधि अनन्य-चित्त होकर निवास करती थी। वहाँ बहुत-से बकरे, भेंडे, घोडे, भैंसे तथा हाथी और गाय-बैल थे। तपोधन ! दानवराजने उन्हें देखकर तीन वर्षोंवाली रूपवती एक महिषीमें प्रेम प्रकट किया (अर्थात् आसक्त हुआ)। कामपरायण होकर वह महिषी शीघ्र दैत्येन्द्रके समीप आ गयी तब भवितव्यतासे प्रेरित उसने (रम्भने) भी उस महिषीके साथ सगन किया ॥ ५३–५६ ॥

तस्यां समभवद् गर्भस्तां प्रगृह्याथ दानवः। पातालं प्रविवेशाथ ततः स्वभवनं गतः ॥ ५७ ॥
दृष्टश्च दानवैः सर्वैः परित्यक्तश्च बन्धुभिः। अकार्यकारकेत्येवं भूयो मालवटं गतः ॥ ५८ ॥
साऽपि तेनैव पतिना महिषी चारुदर्शना। समं जगाम तत् पुण्यं यक्षमण्डलमुत्तमम् ॥ ५९ ॥
ततस्तु वसतस्तस्य श्यामा सा सुषुवे मुने। अजीजनत् सुतं शुभ्रं महिषं कामरूपिणम् ॥ ६० ॥

उसे गर्भ रह गया। उसके बाद उस महिषीको लेकर दानव पातालमें प्रविष्ट हुआ और अपने घर चला गया। उसके दानव-बन्धुओंने उसे देख एवं 'अकार्यकारक' जानकर उसका परित्याग कर दिया। फिर वह पुनः मालवटके निकट गया। वह सुन्दरी महिषी भी उसी पतिके साथ उस पवित्र और उत्तम यक्षमण्डलमें गयी। मुने ! उसके वहीं निवास करते समय उस महिषीने सन्तान उत्पन्न की। उसने एक शुभ्र तथा इच्छाके अनुकूल रूप धारण करनेवाले महिष-पुत्रको जन्म दिया ॥ ५७–६० ॥

एतामृतुमतीं जातां महिषोऽन्यो ददर्श ह। सा चाभ्यगाद् दितिवरं रक्षन्ती शीलमात्मनः ॥ ६१ ॥
तमुन्नामितनासं च महिषं वीक्ष्य दानवः। खड्गं निष्कृष्य तरसा महिषं समुपाद्रवत् ॥ ६२ ॥
तेनापि दैत्यस्तीक्ष्णाभ्यां शृङ्गाभ्यां हृदि ताडितः। निर्भिन्नहृदयो भूमौ निपपात ममार च ॥ ६३ ॥
मृते भर्तरि सा श्यामा यक्षाणां शरणं गता। रक्षिता गुह्यकैः साध्वी निवार्य महिषं ततः ॥ ६४ ॥

उसके पुनः ऋतुमती होनेपर एक दूसरे महिषने उसे देखा। वह अपने शीलकी रक्षा करती हुई दैत्यश्रेष्ठके निकट गयी। नाकको ऊपर उठाये उस महिषको देखकर दानवने खड्ग निकालकर महिषपर वेगसे आक्रमण किया। उस महिषने भी तीक्ष्ण शृङ्गोंसे दैत्यके हृदयमें प्रहार किया। वह दैत्य हृदय फट जानेसे भूमिपर गिर पड़ा और मर गया। पतिके मर जानेपर वह महिषी यक्षोंकी शरणमें गयी। उसके बाद गुह्यकोंने महिषको हटाकर साध्वी महिषीकी रक्षा की ॥ ६१–६४ ॥

ततो निवारितो यक्षैर्हयारिर्मदनातुरः। निपपात सरो दिव्यं ततो दैत्योऽभवन्मृतः ॥ ६५ ॥
नमरो नाम विख्यातो महाबलपराक्रमः। यक्षानाश्रित्य तस्थौ स कालयन् श्वापदान् मुने ॥ ६६ ॥
स च दैत्येश्वरो यक्षैर्मालवटपुरस्सरैः। चितामारोपितः सा च श्यामा तं चारुहत् पतिम् ॥ ६७ ॥
ततोऽग्निमध्यादुत्तस्थौ पुरुषो रौद्रदर्शनः। व्यद्रावयत् स तान् यक्षान् खड्गपाणिर्भयंकरः ॥ ६८ ॥

यक्षोंद्वारा हटाया गया कामातुर हयारि (महिष) एक दिव्य सरोवरमें गिर पड़ा। उसके बाद वह मरकर एक दैत्य हो गया। मुने ! अन्य पशुओंको मारते हुए यक्षोंके आश्रयमें रहनेवाला महान् बली तथा पराक्रमी वह दैत्य

भगवती वरदा देवी

'नमर' नामसे विख्यात हुआ। फिर मालवट आदि यक्षोंने उस हयारि दैत्येश्वरको चितापर रखा। वह श्यामा भी पतिके साथ चितापर चढ गयी। तब अग्निके मध्यसे हाथमें खड्ग लिये विकराल रूपवाला भयंकर पुरुष प्रकट हुआ। उसने सभी यक्षोंको भगा दिया ॥ ६५–६८ ॥

ततो हतास्तु महिषाः सर्व एव महात्मना। ऋते संरक्षितारं हि महिषं रम्भनन्दन ॥ ६९ ॥
स नामतः स्मृतो दैत्यो रक्तबीजो महामुने। योऽजयत् सर्वतो देवान् सेन्द्ररुद्रार्कमारुतान् ॥ ७० ॥
एवं प्रभावा दनुपुंगवास्ते तेजोऽधिकस्तत्र बभौ हयारिः।
राज्येऽभिषिक्तश्च महाऽसुरेन्द्रैर्विनिर्जितैः शम्बरतारकाद्यैः ॥ ७१ ॥
अशक्नुवद्भिः सहितैश्च देवैः सलोकपालैः सहुताशभास्करैः।
स्थानानि त्यक्तानि शशीन्द्रभास्करैर्धर्मश्च दूरे प्रतियोजितश्च ॥ ७२ ॥
॥ इति श्रीवामनपुराणे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

और फिर उस बलवान् दैत्यने रम्भनन्दन महिषको छोड़कर सारे महिषोको मार डाला। महामुने! वह दैत्य रक्तबीज नामसे विख्यात हुआ। उसने इन्द्र, रुद्र, सूर्य एवं मारुत आदिके साथ देवोंको जीत लिया। यद्यपि वे सभी दैत्य इस-प्रकारके प्रभावसे युक्त थे; फिर भी उनमें महिष अधिक तेजस्वी था। उसके द्वारा विजित शम्बर, तारक आदि महान् असुरोंने उसका राज्याभिषेक किया। लोकपालोंसहित अग्नि, सूर्य आदि देवोके द्वारा एक साथ मिलकर जब वह जीता नहीं गया तब चन्द्र, इन्द्र एवं सूर्यने अपना-अपना स्थान छोड़ दिया तथा धर्मको भी दूर हटा दिया गया ॥ ६९–७२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

[अथाष्टादशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु देवा महिषेण निर्जिताः स्थानानि संत्यज्य सवाहनायुधाः।
जग्मुः पुरस्कृत्य पितामहं ते द्रष्टुं तदा चक्रधरं श्रियः पतिम् ॥ १ ॥
गत्वा त्वपश्यंश्च मिथः सुरोत्तमौ स्थितौ खगेन्द्रासनशंकरौ हि।
दृष्ट्वा प्रणम्यैव च सिद्धिसाधकौ न्यवेदयंस्तन्महिषादिचेष्टितम् ॥ २ ॥
प्रभोऽश्विसूर्येन्द्वनिलाग्निवेधसां जलेशशक्रादिषु चाधिकारान्।
आक्रम्य नाकात्तु निराकृता वयं कृतावनिस्था महिषासुरेण ॥ ३ ॥
एतद् भवन्तौ शरणागतानां श्रुत्वा वचो ब्रूत हितं सुराणाम्।
न चेद् व्रजामोऽद्य रसातलं हि संकाल्यमाना युधि दानवेन ॥ ४ ॥

अठारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(महिषासुरका अतिचार, देवोंकी तेजोराशिसे भगवती कात्यायनीका प्रादुर्भाव, विन्ध्यप्रसंग, दुर्गाकी अवस्थिति)

पुलस्त्यजी बोले—इसके बाद महिषद्वारा पराजित देवता अपने-अपने स्थानको छोडकर पितामहको आगे कर चक्रधारी लक्ष्मीपति विष्णुके दर्शनार्थ अपने वाहनो और आयुधोको लेकर विष्णुलोक चले गये। वहाँ जाकर उन लोगोंने गरुडवाहन विष्णु एवं शंकर—इन दोनों देवश्रेष्ठोंको एक साथ बैठे देखा। उन दोनों सिद्धि-साधकोंको देखनेके बाद उन लोगोंने उन्हे प्रणामकर उनसे महिषासुरकी दुश्चेष्टा बतलायी। वे बोले—प्रभो!

महिषासुरने अश्विनीकुमार, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र आदि सभी देवताओंके अधिकारोंको छीन-कर स्वर्गसे निकाल दिया है और अब हमलोग भूलोकमें रहनेको विवश हो गये हैं। हम शरणमें आये देवताओंकी यह बात सुनकर आप दोनों हमारे हितकी बात बतलायें; अन्यथा दानवद्वारा युद्धमें मारे जा रहे हमलोग अब रसातलमें चले जायेंगे ॥ १-४ ॥

इत्थं मुरारिः सह शंकरेण श्रुत्वा वचो विप्लुतचेतसस्तान्।
दृष्ट्वाऽथ चक्रे सहसैव कोपं कालाग्निकल्पो हरिरव्ययात्मा ॥ ५ ॥
ततोऽनुकोपान्मधुसूदनस्य सशंकरस्यापि पितामहस्य।
तथैव शक्रादिषु दैवतेषु महर्द्धि तेजो वदनाद् विनिःसृतम् ॥ ६ ॥
तच्चैकतां पर्वतकूटसन्निभं जगाम तेजः प्रवराश्रमे मुने।
कात्यायनस्याप्रतिमस्य तेन महर्षिणा तेज उपाकृतं च ॥ ७ ॥
तेनर्षिसृष्टेन च तेजसा वृतं ज्वलत्प्रकाशार्कसहस्रतुल्यम्।
तस्माच्च जाता तरलायताक्षी कात्यायनी योगविशुद्धदेहा ॥ ८ ॥

शिवजीके साथ ही विष्णु भगवान्‌ने (भी) उनके इस प्रकारके वचनको सुना तथा दुःखसे व्याकुल चित्तवाले उन देवताओंको देखा तो उनका क्रोध कालाग्निके समान प्रज्वलित हो गया। उसके बाद मधुनामक राक्षसको मारनेवाले विष्णु शंकर, पितामह (ब्रह्मा) तथा इन्द्र आदि देवताओंके क्रोध करनेपर उन सबके मुखसे महान् तेज प्रकट हुआ। मुने ! फिर वह तेजोराशि कात्यायन ऋषिके अनुपम आश्रममें पर्वतशृङ्गके समान एकत्र हो गयी। उन महर्षिने भी उस तेजकी और अभिवृद्धि की। उन महर्षिद्वारा उत्पन्न किये गये तेजसे आवृत वह तेज हजारों सूर्योंके समान प्रदीप्त हो गया। उसके योगसे विशुद्ध शरीरवाली एवं चञ्चल तथा विशाल नेत्रोंवाली कात्यायनी देवी प्रकट हो गयीं ॥ ५-८ ॥

माहेश्वराद् वक्त्रमथो बभूव नेत्रत्रयं पावकतेजसा च।
याम्येन केशा हरितेजसा च भुजास्तथाष्टादश संप्रजज्ञिरे ॥ ९ ॥
सौम्येन युग्मं स्तनयोः सुसंहतं मध्यं तथैन्द्रेण च तेजसाऽभवत्।
ऊरू च जङ्घे च नितम्बसंयुते जाते जलेशस्य तु तेजसा हि ॥ १० ॥
पादौ च लोकप्रपितामहस्य पद्माभिकोशप्रतिमौ बभूवतुः।
दिवाकराणामपि तेजसाऽङ्गुलीः कराङ्गुलीश्च वसुतेजसैव ॥ ११ ॥
प्रजापतीनां दशनाश्च तेजसा याक्षेण नासा श्रवणौ च मारुतात्।
साध्येन च भ्रूयुगलं सुकान्तिमत् कंदर्पबाणासनसन्निभं बभौ ॥ १२ ॥

महादेवजीके तेजसे कात्यायनीका मुख बन गया और अग्निके तेजसे उनके तीन नेत्र प्रकट हो गये। इसी प्रकार यमके तेजसे केश तथा हरिके तेजसे उनकी अट्ठारह भुजाएँ, चन्द्रमाके तेजसे उनके सटे हुए स्तनयुगल, इन्द्रके तेजसे मध्यभाग तथा वरुणके तेजसे ऊरु, जङ्घाएँ एवं नितम्बोंकी उत्पत्ति हुई। लोकपितामह ब्रह्माके तेजसे कमलकोशके समान उनके दोनों चरण, आदित्योंके तेजसे पैरोंकी अङ्गुलियाँ एवं वसुओंके तेजसे उनके हाथोंकी अङ्गुलियाँ उत्पन्न हुईं। प्रजापतियोंके तेजसे उनके दाँत, यक्षोंके तेजसे नाक, वायुके तेजसे दोनों कान, साध्यके तेजसे कामदेवके धनुषके समान उनकी दोनों भौंहें प्रकट हुईं— ॥ ९-१२ ॥

तथर्षितेजोत्तममुत्तमं महन्नाम्ना पृथिव्यामभवत् प्रसिद्धम्।
कात्यायनीत्येव तदा बभौ सा नाम्ना च तेनैव जगत्प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

ददौ त्रिशूलं वरदस्त्रिशूली चक्रं मुरारिर्वरुणश्च शङ्खम्।
शक्तिं हुताशः श्वसनश्च चापं तूणौ तथाक्षय्यशरौ विवस्वान् ॥ १४ ॥
वज्रं तथेन्द्रः सह घण्टया च यमोऽथ दण्डं धनदो गदां च।
ब्रह्माऽक्षमालां सकमण्डलुं च कालोऽसिमुग्रं सह चर्मणा च ॥ १५ ॥
हारं च सोमः सह चामरेण मालां समुद्रो हिमवान् मृगेन्द्रम्।
चूडामणिं कुण्डलमर्द्धचन्द्रं प्रादात् कुठारं वसु शिल्पकर्त्ता ॥ १६ ॥

इस प्रकार महर्षियोंका उत्तमोत्तम तथा महान् तेज पृथ्वीपर 'कात्यायनी' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ, तब वे उसी नामसे विश्वमें प्रसिद्ध हुईं। वरदानी शंकरजीने उन्हें त्रिशूल, मुरके मारनेवाले श्रीकृष्णने चक्र, वरुणने शङ्ख, अग्निने शक्ति, वायुने धनुष तथा सूर्यने अक्षय बाणोंवाले दो तूणीर (तरकस) प्रदान किये। इन्द्रने घण्टासहित वज्र, यमने दण्ड, कुबेरने गदा, ब्रह्माने कमण्डलुके साथ रुद्राक्षकी माला तथा कालने उन्हें ढालसहित प्रचण्ड खड्ग प्रदान किया। चन्द्रमाने चँवरके साथ हार, समुद्रने माला, हिमालयने सिंह, विश्वकर्माने चूडामणि, कुण्डल, अर्धचन्द्र, कुठार तथा पर्याप्त ऐश्वर्य[1] प्रदान किया ॥ १३—१६ ॥

गन्धर्वराजो रजतानुलिप्तं पानस्य पूर्णं सदृशं च भाजनम्।
भुजंगहारं भुजगेश्वरोऽपि अम्लानपुष्पामृतवः स्रजं च ॥ १७ ॥
तदाऽतितुष्टा सुरसत्तमानां अट्टाट्टहासं मुमुचे त्रिनेत्रा।
तां तुष्टुवुर्देववराः सहेन्द्राः सविष्णुरुद्रेन्द्वनिलाग्निभास्कराः ॥ १८ ॥
नमोऽस्तु देव्यै सुरपूजितायै या संस्थिता योगविशुद्धदेहा।
निद्रास्वरूपेण महीं वितत्य तृष्णा त्रपा क्षुद् भयदाऽथ कान्तिः ॥ १९ ॥
श्रद्धा स्मृतिः पुष्टिरथो क्षमा च छाया च शक्तिः कमलालया च।
वृत्तिर्दया भ्रान्तिरथेह माया नमोऽस्तु देव्यै भवरूपिकायै ॥ २० ॥

गन्धर्वराजने उनके अनुरूप रजतका पूर्ण पान-(मद्य)-पात्र, नागराजने भुजङ्गहार तथा ऋतुओंने कभी न कुम्हिलानेवाले पुष्पोंकी माला प्रदान की। उसके बाद श्रेष्ठ देवताओंके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होकर त्रिनेत्रा-(कात्यायनी-)ने उच्च अट्टहास किया। इन्द्र, विष्णु, रुद्र, चन्द्रमा, वायु, अग्नि तथा सूर्य आदि श्रेष्ठ देव उनकी स्तुति करने लगे—योगसे विशुद्ध देहवाली देवोंसे पूजित देवीको नमस्कार है। वे निद्रारूपसे पृथ्वीमें व्याप्त हैं, वे ही तृष्णा, त्रपा, क्षुधा, भयदा, कान्ति, श्रद्धा, स्मृति, पुष्टि, क्षमा, छाया, शक्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, दया, भ्रान्ति तथा माया हैं; ऐसी कल्याणमयी देवीको नमस्कार है ॥ १७—२० ॥

ततः स्तुता देववरैर्मृगेन्द्रमारुह्य देवी प्रगताऽवनीध्रम्।
विन्ध्यं महापर्वतमुच्चशृङ्गं चकार यं निम्नतरं त्वगस्त्यः ॥ २१ ॥

फिर देववरोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर वे देवी सिंहपर आरूढ होकर विन्ध्य नामके उस ऊँचे शृङ्गवाले महान् पर्वतपर गयीं, जिसे अगस्त्य मुनिने अति निम्न कर दिया था ॥ २१ ॥

नारद उवाच

किमर्थमद्रिं भगवानगस्त्यस्तं निम्नशृङ्गं कृतवान् महर्षिः।
कस्मै कृते केन च कारणेन एतद् वदस्वामलसत्त्ववृत्ते ॥ २२ ॥

१—सभी पुराणों तथा सप्तशतीकी व्याख्याओंमें विश्वकर्माद्वारा ही आभूषण बनाने—देनेकी चर्चा है। कुछ प्रतियोंके अर्थमें समुद्रद्वारा देनेकी बात छप गयी है, जो गलत है।

नारदजीने पूछा—शुद्धात्मन् (पुलस्त्यजी) ! आप यह बतलाएँ कि भगवान् अगस्त्यमहर्षिने उस पर्वतको किसके लिये एवं किस कारणसे निम्न शृङ्गवाला कर दिया ? ॥ २२ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुरा हि विन्ध्येन दिवाकरस्य गतिर्निरुद्धा गगनेचरस्य।
रविस्ततः कुम्भभवं समेत्य होमावसाने वचनं बभाषे ॥ २३ ॥
समागतोऽहं द्विज दूरतस्त्वां कुरुष्व मामुद्धरणं मुनीन्द्र।
ददस्व दानं मम यन्मनीषितं चरामि येन त्रिदिवेषु निर्वृतः ॥ २४ ॥
इत्थं दिवाकरवचो गुणसंप्रयोगि श्रुत्वा तदा कलशजो वचनं बभाषे।
दानं ददामि तव यन्मनसस्त्वभीष्टं नार्थी प्रयाति विमुखो मम कश्चिदेव ॥ २५ ॥
श्रुत्वा वचोऽमृतमयं कलशोद्भवस्य प्राह प्रभुः करतले विनिधाय मूर्ध्नि।
एषोऽद्य मे गिरिवरः प्ररुणद्धि मार्गं विन्ध्यस्य निम्नकरणे भगवन् यतस्व ॥ २६ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—प्राचीनकालमें विन्ध्यपर्वतने (अपने ऊँचे शिखरोंसे) आकाशचारी सूर्यकी गतिको अवरुद्ध कर दिया था। तब सूर्यने महर्षि अगस्त्यके पास जाकर होमके अन्तमें यह वचन कहा—द्विज ! मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ। मुनिश्रेष्ठ ! आप मेरा उद्धार करें। मुझे अभीष्ट प्रदान करें, जिससे मैं निश्चिन्त होकर आकाशमें विचरण कर सकूँ। इस प्रकार सूर्यके नम्र वचनोंको सुनकर अगस्त्यजी बोले—मैं आपकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करूँगा। मेरे पाससे कोई भी याचक विमुख होकर नहीं जाता। अगस्त्यजीकी अमृतमयी वाणी सुन करके सिरपर दोनो हाथ जोडकर सूर्यने कहा—भगवन् ! यह पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य आज मेरा मार्ग रोक रहा है, अतः आप इसे नीचा करनेका प्रयत्न करें ॥ २३–२६ ॥

इति रविवचनादथाह कुम्भजन्मा कृतमिति विद्धि मया हि नीचशृङ्गम्।
तव किरणजितो भविष्यते महीध्रो मम चरणसमाश्रितस्य का व्यथा ते ॥ २७ ॥
इत्येवमुक्त्वा कलशोद्भवस्तु सूर्यं हि संस्तूय विनम्य भक्त्या।
जगाम संत्यज्य हि दण्डकं हि विन्ध्याचलं वृद्धवपुर्महर्षिः ॥ २८ ॥
गत्वा वचः प्राह मुनिर्महीध्रं यास्ये महातीर्थवरं सुपुण्यम्।
वृद्धोऽस्म्यशक्तश्च तवाधिरोढुं तस्माद् भवान् नीचतरोऽस्तु सद्यः ॥ २९ ॥
इत्येवमुक्तो मुनिसत्तमेन स नीचशृङ्गस्त्वभवन्महीध्रः।
समाक्रमच्चापि महर्षिमुख्यः प्रोल्लङ्घ्य विन्ध्यं त्विदमाह शैलम् ॥ ३० ॥

सूर्यकी बात सुनकर अगस्त्यजीने कहा—सूर्यदेव ! विन्ध्यको आप मेरे द्वारा नीचा किया हुआ ही समझें। यह पर्वत आपकी किरणोंसे पराजित हो जायगा। मेरे चरणोंके आश्रय लेनेपर आपको अब व्यथा कैसी ? वृद्ध शरीरवाले महर्षि अगस्त्यजी ऐसा कहकर विनम्रतापूर्वक भक्तिसे सूर्यकी स्तुति करनेके बाद दण्डकको छोड़कर विन्ध्यपर्वतके निकट चले गये। वहाँ जाकर मुनिने पर्वतसे कहा—पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य ! मैं अत्यन्त पवित्र महातीर्थको जा रहा हूँ। मैं वृद्ध होनेसे तुम्हारे ऊपर चढ़नेमें असमर्थ हूँ; अतः तुम तत्काल नीचा हो जाओ। मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विन्ध्य पर्वत निम्न शिखरवाला हो गया। तब महर्षिश्रेष्ठ (अगस्त्यजी) ने विन्ध्यपर्वतपर चढ़कर विन्ध्यको पार कर लिया और तब उससे यह कहा—॥ २७–३० ॥

यावन्न भूयो निजमाव्रजामि महाश्रमं धौतवपुः सुतीर्थात्।
त्वया न तावत्त्विह वर्धितव्यं नो चेद् विशप्स्येऽहमवज्ञया ते ॥ ३१ ॥
इत्येवमुक्त्वा भगवाञ्जगाम दिशं स याम्यां सहसान्तरिक्षम्।
आक्रम्य तस्थौ स हि तां तदाशां काले व्रजाम्यत्र यदा मुनीन्द्रः ॥ ३२ ॥
तत्राश्रमं रम्यतरं हि कृत्वा संशुद्धजाम्बूनदतोरणान्तम्।
तत्राथ निक्षिप्य विदर्भपुत्रीं स्वमाश्रमं सौम्यमुपाजगाम ॥ ३३ ॥
ऋतावृतौ पर्वकालेषु नित्यं तमम्बरे ह्याश्रममावसत् सः।
शेषं च कालं स हि दण्डकस्थस्तपश्चचारामितकान्तिमान् मुनिः ॥ ३४ ॥

मैं जबतक पवित्र तीर्थसे स्नान कर पुनः अपने महान् आश्रममें न लौटूँ, तबतक तुम्हें नहीं बढ़ना चाहिये; अन्यथा अवज्ञा करनेके कारण मैं तुम्हें घोर शाप दे दूँगा। 'मैं उचित समयपर फिर आऊँगा'—ऐसा कहकर भगवान् अगस्त्य सहसा दक्षिण दिशाकी ओर चले गये तथा वहीं रह गये। मुनिने वहाँ विशुद्ध स्वर्णिम तोरणोंवाले अति रमणीय आश्रमकी रचना की एवं उसमें विदर्भपुत्री लोपामुद्राको रखकर स्वयं अपने आश्रमको चले गये। अत्यन्त प्रकाशमान मुनि (शरदसे वसन्ततक) विभिन्न ऋतुओंमें पर्व (चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा तिथियों तथा रवि-संक्रान्ति, सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण) के समय नित्य आकाशमें और शेष समय दण्डकवनमें अपने आश्रममें निवासकर तप करने लगे ॥ ३१–३४ ॥

विन्ध्योऽपि दृष्ट्वा गगने महाश्रमं वृद्धिं न यात्येव भयान्महर्षेः।
नासौ निवृत्तेति मतिं विधाय स संस्थितो नीचतराग्रशृङ्गः ॥ ३५ ॥
एवं त्वगस्त्येन महाचलेन्द्रः स नीचशृङ्गो हि कृतो महर्षे।
तस्योर्ध्वशृङ्गे मुनिसंस्तुता सा दुर्गा स्थिता दानवनाशनार्थम् ॥ ३६ ॥
देवाश्च सिद्धाश्च महोरगाश्च विद्याधरा भूतगणाश्च सर्वे।
सर्वाप्सरोभिः प्रतिरामयन्तः कात्यायनीं तस्थुरपेतशोकाः ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

विन्ध्यपर्वत भी आकाशमें महान् आश्रमको देखकर महर्षिके भयसे नहीं बढ़ा। वे नहीं लौटे हैं—ऐसा समझकर वह अपना शिखर नीचा किये हुए अब भी वैसे ही स्थित है। हे महर्षे! इस प्रकार अगस्त्यने महान् पर्वतराज विन्ध्यको नीचा कर दिया। उसीके शिखरके ऊपर मुनियोंद्वारा संस्तुता दुर्गादेवी दानवोंके विनाशके लिये स्थित हुईं और देवता, सिद्ध, महानाग, अप्सराओंके सहित विद्याधर एवं समस्त भूतगण इनके बदले कात्यायनीदेवीको प्रसन्न करते हुए निःशोक होकर उनके निकट रहने लगे ॥ ३५–३७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

[अथैकोनविंशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु तां तत्र तदा वसन्तीं कात्यायनीं शैलवरस्य शृङ्गे।
अपश्यतां दानवसत्तमौ द्वौ चण्डश्च मुण्डश्च तपस्विनीं ताम् ॥ १ ॥
दृष्ट्वैव शैलादवतीर्य शीघ्रमाजग्मतुः स्वभवनं सुरारी।
दृष्ट्वोचतुस्तौ महिषासुरस्य दूताविदं चण्डमुण्डौ दितीशम् ॥ २ ॥

परिणाम होनेवाला होता है, वह वहाँ ले जाया जाता है या स्वयं चला जाता है। फिर महिषने मुण्ड, नमर, चण्ड, विडालनेत्र, पिशङ्गके साथ वाष्कल, उग्रायुध, चिक्षुर और रक्तबीजको आज्ञा दी। वे सभी दानव रणकर्कश भेरियाँ बजाकर स्वर्गको छोड़कर उस पर्वतके निकट आ गये और उसके मूलमें सेनाके दलोंका पड़ाव डालकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १७-२० ॥

ततस्तु दैत्यो महिषासुरेण सम्प्रेषितो दानवयूथपालः।
मयस्य पुत्रो रिपुसैन्यमर्दी स दुन्दुभिर्दुन्दुभिनिःस्वनस्तु ॥ २१ ॥
अभ्येत्य देवीं गगनस्थितोऽपि स दुन्दुभिवाक्यमुवाच विप्र।
कुमारि दूतोऽस्मि महासुरस्य रम्भात्मजस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ २२ ॥
कात्यायनी दुन्दुभिमभ्युवाच एह्येहि दैत्येन्द्र भयं विमुच्य।
वाक्यं च यद्रम्भसुतो बभाषे वदस्व तत्सत्यमपेतमोहः ॥ २३ ॥
तथोक्तवाक्ये दितिजः शिवायास्त्यक्त्वाम्बरं भूमितले निषण्णः।
सुखोपविष्टः परमासने च रम्भात्मजेनोक्तमुवाच वाक्यम् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् महिषासुरने देवीके पास धौंसेकी ध्वनिकी भाँति उच्च और गम्भीर ध्वनिमें बोलनेवाले तथा शत्रुओंकी सेनाओंके समूहोंका मर्दन करनेवाले दानवोंके सेनापति मयपुत्र दुन्दुभिको भेजा। ब्राह्मणदेवता नारदजी! दुन्दुभिने देवीके पास पहुँचकर आकाशमें स्थित होकर उनसे यह वाक्य कहा—हे कुमारि! मैं महान् असुर रम्भके पुत्र महिषका दूत हूँ। वह युद्धमें अद्वितीय वीर है। इसपर कात्यायनीने दुन्दुभिसे कहा—दैत्येन्द्र! तुम निडर होकर इधर आओ और रम्भपुत्रने जो वचन कहा है, उसे स्वस्थ होकर ठीक-ठीक कहो। दुर्गाके इस प्रकार कहनेपर वह दैत्य आकाशसे उतरकर पृथ्वीपर आया और सुन्दर आसनपर सुखपूर्वक बैठकर महिषके वचनोंको इस प्रकार कहने लगा—॥ २१-२४ ॥

दुन्दुभिरुवाच

एवं समाज्ञापयते सुरारिस्त्वां देवि दैत्यो महिषासुरस्तु।
यथामरा हीनबलाः पृथिव्यां भ्रमन्ति युद्धे विजिता मया ते ॥ २५ ॥
स्वर्गं मही वायुपथाश्च वश्याः पातालमन्ये च महेश्वराद्याः।
इन्द्रोऽस्मि रुद्रोऽस्मि दिवाकरोऽस्मि सर्वेषु लोकेष्वधिपोऽस्मि बाले ॥ २६ ॥
न सोऽस्ति नाके न महीतले वा रसातले देवभटोऽसुरो वा।
यो मां हि संग्राममुपेयिवांस्तु भूतो न यक्षो न जिजीविषुर्यः ॥ २७ ॥
यान्येव रत्नानि महीतले वा स्वर्गेऽपि पातालतलेऽथ मुग्धे।
सर्वाणि मामद्य समागतानि वीर्यार्जितानीह विशालनेत्रे ॥ २८ ॥
स्त्रीरत्नमग्र्यं भवती च कन्या प्राप्तोऽस्मि शैलं तव कारणेन।
तस्माद् भजस्वेह जगत्पतिं मां पतिस्तवार्होऽस्मि विभुः प्रभुश्च ॥ २९ ॥

दुन्दुभि बोला—देवि! असुर महिषने तुम्हें यह अवगत कराया है कि मेरे द्वारा युद्धमें पराजित हुए निर्बल देवतालोग पृथ्वीपर भ्रमण कर रहे हैं। हे बाले! स्वर्ग, पृथ्वी, वायुमार्ग, पाताल और शंकर आदि देवगण सभी मेरे वशमें हैं। मैं ही इन्द्र, रुद्र, एवं सूर्य हूँ तथा सभी लोकोंका स्वामी हूँ। स्वर्ग, पृथ्वी या रसातलमें जीवित रहनेकी इच्छावाला ऐसा कोई देव, असुर, भूत या यक्ष योद्धा नहीं हुआ, जो युद्धमें मेरे सामने आ सकता हो।

(और भी सुनो) पृथ्वी, स्वर्ग या पातालमें जितने भी रत्न हैं, उन सबको मैंने अपने पराक्रमसे जीत लिया है और अब वे मेरे पास आ गये हैं । अतः अबोध बालिके ! तुम कन्या हो और स्त्रीरत्नोंमें श्रेष्ठ हो । मैं तुम्हारे लिये इस पर्वतपर आया हूँ । इसलिये मुझ जगत्पतिको तुम स्वीकार करो । मैं तुम्हारे योग्य सर्वथा समर्थ पति हूँ ॥२५–२९॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता दितिजेन दुर्गा कात्यायनी प्राह मयस्य पुत्रम् ।
सत्यं प्रभुर्दानवराट् पृथिव्यां सत्यं च युद्धे विजितामराश्च ॥ ३० ॥
किं त्वस्ति दैत्येश कुलेऽस्मदीये धर्मो हि शुल्काख्य इति प्रसिद्धः ।
तं चेत् प्रदद्यान्महिषो ममाद्य भजामि सत्येन पतिं ह्यारिम् ॥ ३१ ॥
श्रुत्वाऽथ वाक्यं मयजोऽब्रवीच्च शुल्कं वदस्वाम्बुजपत्रनेत्रे ।
दद्यात्स्वमूर्धानमपि त्वदर्थे किं नाम शुल्कं यदिहैव लभ्यम् ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—उस दैत्यके ऐसा कहनेपर दुर्गाजीने दुन्दुभिसे कहा—(असुरदूत !) यह सत्य है कि दानवराट् महिष पृथ्वीमें समर्थ है एवं यह भी सत्य है कि उसने युद्धमें देवताओंको जीत लिया है; किंतु दैत्येश ! हमारे कुलमें (विवाहके विषयमें) शुल्क नामकी एक प्रथा प्रचलित है । यदि महिष आज मुझे वह प्रदान करे तो सत्यरूपमें (सचमुच) मैं उस (महिष) को पतिरूपमें स्वीकार कर लूँगी । इस वाक्यको सुनकर दुन्दुभिने कहा—(अच्छा) कमलपत्राक्षि ! तुम वह शुल्क बतलाओ । महिष तो तुम्हारे लिये अपना सिर भी प्रदान कर सकता है; शुल्ककी तो बात ही क्या, जो यहाँ ही मिल सकता है ॥ ३०–३२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता दनुनायकेन कात्यायनी सस्वनमुन्नदित्वा ।
विहस्य चैतद्वचनं बभाषे हिताय सर्वस्य चराचरस्य ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—दैत्यनायक दुन्दुभिके ऐसा कहनेपर दुर्गाजीने उच्च स्वरसे गर्जन कर और हँसकर समस्त चराचरके कल्याणार्थ यह वचन कहा—॥ ३३ ॥

श्रीदेव्युवाच

कुलेऽस्मदीये शृणु दैत्य शुल्कं कृतं हि यत्पूर्वतरैः प्रसह्य ।
यो जेष्यतेऽस्मत्कुलजां रणाग्रे तस्याः स भर्ताऽपि भविष्यतीति ॥ ३४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—दैत्य ! पूर्वजोंने हमारे कुलमें जो शुल्क निर्धारित किया है, उसे सुनो । (वह यह है कि) हमारे कुलमें उत्पन्न कन्याको जो बलसे युद्धमें जीतेगा, वही उसका पति होगा ॥ ३४ ॥

पुलस्त्य उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं देव्या दुन्दुभिर्दानवेश्वरः । गत्वा निवेदयामास महिषाय यथातथम् ॥ ३५ ॥
स चाभ्यगान्महातेजाः सर्वदैत्यपुरःसरः । आगत्य विन्ध्यशिखरं योद्धुकामः सरस्वतीम् ॥ ३६ ॥
ततः सेनापतिर्दैत्यश्चिक्षुरो नाम नारद । सेनाग्रगामिनं चक्रे नमरं नाम दानवम् ॥ ३७ ॥
स चापि तेनाधिकृतश्चतुरङ्गं समूर्जितम् । बलैकदेशमादाय दुर्गां दुद्राव वेगितः ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—देवीकी यह बात सुनकर दुन्दुभिने जाकर महिषासुरसे इस बातको ज्यों-का-त्यों निवेदित कर दिया । उस महातेजस्वी दैत्यने सभी दैत्योंके साथ (युद्धमें देवीको पराजितकर उसका पति बननेके लिये) प्रयाण किया एवं सरस्वती-(देवी)से युद्ध करनेकी इच्छासे विन्ध्याचल पर्वतपर पहुँच गया । नारदजी !

इसपर सिंहने तेजीसे उछलकर नमर दानवको पंजेसे मारकर उसके प्राण ले लिये और हाथीके कंधेसे उसे नीचे गिराकर देवीके आगे रख दिया । नारदजी ! देवी कात्यायनी क्रोधसे उस दैत्यको मध्यमें पकड़कर तथा बायें हाथसे घुमाकर ढोलके समान बजाने लगीं और उसे अपना बाजा बनाकर उन्होंने जोरसे अट्टहास किया । उनके हँसनेसे अनेक प्रकारके अद्भुत भूत उत्पन्न हो गये ! कोई-कोई (भूत) व्याघ्रके समान भयंकर मुखवाले थे, किसीकी आकृति भेड़ियेके समान थी, किसीका मुख घोड़ेके तुल्य और किसीका मुख भैंसे-जैसा एवं किसीका सूकरके समान मुँह था ॥ १६–१९ ॥

आखुकुक्कुटवक्त्राश्च गोऽजाविकमुखास्तथा । नानावक्त्राक्षिचरणा नानायुधधरास्तथा ॥ २० ॥
गायन्त्यन्ये हसन्त्यन्ये रमन्त्यन्ये तु संघशः । वादयन्त्यपरे तत्र स्तुवन्त्यन्ये तथाम्बिकाम् ॥ २१ ॥
सा तैर्भूतगणैर्देवी सार्द्धं तद्दानवं बलम् । शातयामास चाक्रम्य यथा सस्यं महाशनिः ॥ २२ ॥
सेनाग्रे निहते तस्मिन् तथा सेनाग्रगामिनि । चिक्षुरः सैन्यपालस्तु योधयामास देवताः ॥ २३ ॥

उनके मुँह चूहे, मुर्गे (कुक्कुट), गाय, बकरा और भेड़के मुखोंके समान थे । कई नाना प्रकारके मुख, आँख एवं चरणोंवाले थे तथा वे नाना प्रकारके आयुध धारण किये हुए थे। उनमें कुछ तो समूह बनाकर गाने लगे, कुछ हँसने लगे और कुछ रमण करने लगे तथा कुछ बाजा बजाने लगे एवं कुछ देवीकी स्तुति करने लगे । देवीने उन भूतगणोंके साथ उस दानव-सेनापर आक्रमण कर उसे इस प्रकार तहस-नहस कर दिया, जैसे भारी वज्रके समान ओलोंके गिरनेसे खेतीका संहार हो जाता है । इस प्रकार सेनाके अग्रभाग तथा सेनापतिके मारे जानेपर अब सेनापति चिक्षुर देवताओंसे भिड़ गया—युद्ध करने लगा ॥ २०–२३ ॥

कार्मुकं दृढमाकर्णमाकृष्य रथिनां वरः । ववर्ष शरजालानि यथा मेघो वसुंधराम् ॥ २४ ॥
तान् दुर्गा स्वशरैश्छित्त्वा शरसंघान् सुपर्वभिः । सौवर्णपुङ्खानपरान् शराञ्जग्राह षोडश ॥ २५ ॥
ततश्चतुर्भिश्चतुरस्तुरङ्गानपि भामिनी । हत्वा सारथिमेकेन ध्वजमेकेन चिच्छिदे ॥ २६ ॥
ततस्तु सशरं चापं चिच्छेदैकेषुणाऽम्बिका । छिन्ने धनुषि खड्गं च चर्म चादत्तवान् बली ॥ २७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ उस दैत्यने अपने मजबूत धनुषको अपने कानोंतक चढ़ाकर उससे बाणोंकी इस प्रकार वर्षा की जैसे मेघ पृथ्वीपर (घनघोर) जल बरसाते हैं । परंतु दुर्गाने भी सुन्दर पर्वों (गाँठो)वाले अपने बाणोंसे उन बाणोंको काट डाला और फिर सुवर्णसे निर्मित पंखवाले सोलह बाणोंको अपने हाथोंमें ले लिया । उन्होंने क्रुद्ध होकर चार बाणोंसे उसके चार घोड़ोंको और एकसे सारथीको मारकर एक बाणसे उसकी ध्वजाके दो टुकड़े कर दिये । फिर अम्बिकाने एक बाणसे उसके बाणसहित धनुषको काट डाला । धनुष कट जानेपर बलवान् चिक्षुरने ढाल और तलवार उठा ली ॥ २४–२७ ॥

तं खड्गं चर्मणा सार्धं दैत्यस्याधुन्वतो बलात् । शरैश्चतुर्भिश्चिच्छेद ततः शूलं समाददे ॥ २८ ॥
समुद्भ्राम्य महच्छूलं संप्राद्रवदथाम्बिकाम् । क्रोष्टुको मुदितोऽरण्ये मृगराजवधूं यथा ॥ २९ ॥
तस्याभिपततः पादौ करौ शीर्षं च पञ्चभिः । शरैश्चिच्छेद संक्रुद्धा न्यपतन्निहतोऽसुरः ॥ ३० ॥
तस्मिन् सेनापतौ क्षुण्णे तदोग्रास्यो महासुरः । समाद्रवत वेगेन करालास्यश्च दानवः ॥ ३१ ॥

वह ढाल और तलवारको जोर लगाकर घुमा ही रहा था कि देवीने चार बाणोंसे उन्हें काट डाला । इसपर उस दैत्यने शूल ले लिया । महान् शूलको घुमाकर वह अम्बिकाकी ओर इस प्रकार दौड़ा, जैसे वनमें सियार आनन्दमग्न होकर सिंहिनीकी ओर दौड़े ! पर देवीने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पाँच बाणोंसे उस असुरके दोनों हाथों, दोनों पैरों

एवं मस्तकको काट डाला, जिससे वह असुर मरकर गिर पड़ा। उस सेनापतिके मरनेपर उग्रास्य नामका महान् असुर तथा करालास्य नामका दानव—ये दोनों तेजीसे उनकी ओर दौड़े ॥ २८–३१ ॥

बाष्कलश्चोद्धतश्चैव उदग्राख्योग्रकार्मुकः। दुर्द्धरो दुर्मुखश्चैव बिडालनयनोऽपरः ॥ ३२ ॥
एतेऽन्ये च महात्मानो दानवा बलिनां वराः। कात्यायनीमाद्रवन्त नानाशस्त्रास्त्रपाणयः ॥ ३३ ॥
तान् दृष्ट्वा लीलया दुर्गा वीणां जग्राह पाणिना। वादयामास हसती तथा डमरुकं वरम् ॥ ३४ ॥
यथा यथा वादयते देवी वाद्यानि तानि तु। तथा तथा भूतगणा नृत्यन्ति च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

बाष्कल, उद्धत, उदग्र, उग्रकार्मुक, दुर्द्धर, दुर्मुख तथा बिडालाक्ष—ये तथा अन्य अनेक अत्यन्त बली एवं श्रेष्ठ दैत्य शस्त्र और अस्त्र लेकर दुर्गाकी ओर दौड़ पड़े। देवी दुर्गाने उन्हें देखा और वे लीलापूर्वक हाथोंमें वीणा एवं श्रेष्ठ डमरू लेकर हँसती हुई उन्हें बजाने लगीं। देवी उन वाद्योंको ज्यों-ज्यों बजाती जाती थीं, त्यों-त्यों सभी भूत भी नाचते और हँसते थे ॥ ३२–३५ ॥

ततोऽसुराः शस्त्रधराः समभ्येत्य सरस्वतीम्। अभ्यघ्नंस्तांश्च जग्राह केशेषु परमेश्वरी ॥ ३६ ॥
प्रगृह्य केशेषु महासुरांस्तान् उत्पत्य सिंहात्तु नगस्य सानुम्।
ननर्त वीणां परिवादयन्ती पपौ च पानं जगतो जनित्री ॥ ३७ ॥
ततस्तु देव्या बलिनो महासुरा दोर्दण्डनिर्धूतविशीर्णदर्पाः।
विस्रस्तवस्त्रा व्यसवश्च जाताः ततस्तु तान् वीक्ष्य महासुरेन्द्रान् ॥ ३८ ॥
देव्या महौजा महिषासुरस्तु व्यद्रावयद् भूतगणान् खुराग्रैः।
तुण्डेन पुच्छेन तथोरसाऽन्यान् निःश्वासवातेन च भूतसंघान् ॥ ३९ ॥

अब असुर शस्त्र लेकर महासरस्वतीरूपा दुर्गाके पास जाकर उनपर प्रहार करने लगे। पर परमेश्वरीने (तुरंत) उनके बालोंको जोरके साथ पकड़ लिया। उन महासुरोंका केश पकड़कर और फिर सिंहसे उछलकर पर्वत-शृङ्गपर जाकर जगज्जननी दुर्गा वीणा-वादन करती हुई मधुपान करने लगीं। तभी देवीने अपने बाहुदण्डोंसे सभी असुरोंको मारकर उनके घमण्डको चूर कर दिया। उनके वस्त्र शरीरसे खिसक पड़े और वे प्राणरहित हो गये। यह देखकर महाबली महिषासुर अपने खुरके अग्रभागसे, तुण्डसे, पुच्छसे, वक्षःस्थलसे तथा निःश्वास-वायुसे देवीके भूतगणोंको भगाने लगा॥ ३६–३९ ॥

नादेन चैवाशनिसंनिभेन विषाणकोट्या त्वपरान् प्रमथ्य।
दुद्राव सिंहं युधि हन्तुकामः ततोऽम्बिका क्रोधवशं जगाम ॥ ४० ॥
ततः स कोपादथ तीक्ष्णशृङ्गः क्षिप्रं गिरीन् भूमिमशीर्णयच्च।
संक्षोभयंस्तोयनिधीन् घनांश्च विध्वंसयन् प्राद्रवताथ दुर्गाम् ॥ ४१ ॥
सा चाथ पाशेन बबन्ध दुष्टं स चाप्यभूत् क्लिन्नकटः करीन्द्रः।
करं प्रचिच्छेद च हस्तिनोऽग्रं स चापि भूयो महिषोऽभिजातः ॥ ४२ ॥
ततोऽस्य शूलं व्यसृजन्मृडानी स शीर्णमूलो न्यपतत् पृथिव्याम्।
शक्तिं प्रचिक्षेप हुताशदत्तां सा कुण्ठिताग्रा न्यपतन्महर्षे ॥ ४३ ॥

और अपने बिजलीकी कड़कके समान नाद एवं सींगोंकी नोकसे शेष भूतोंको व्याकुल कर रणक्षेत्रमें सिंहको मारने दौड़ा। इससे अम्बिकाको बड़ा क्रोध हुआ। फिर वह क्रुद्ध महिष अपने नुकीले सींगोंसे जल्दी-जल्दी पर्वतों एवं पृथ्वीको विदीर्ण करने लगा। वह समुद्रको क्षुब्ध करते तथा मेघोंको तितर-बितर करते हुए दुर्गाकी ओर दौड़ा। इसपर उन देवीने उस दुष्टको पाशसे बाँध दिया, पर वह झटसे मदसे भींगे कपोलोंवाला

स चासीद् देवसेनानीर्दैत्यदर्पविनाशनः। शिवरूपत्वमास्थाय सैनापत्यं समुत्सृजत् ॥ १० ॥
ततो निराकृता देवाः सेनानाथेन शम्भुना। दानवेन्द्रेण विक्रम्य महिषेण पराजिताः ॥ ११ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! (अच्छा,) अब मैं फिर आपसे पार्वतीकी उत्पत्तिके विषयमें वर्णन कर रहा हूँ, आप ध्यान देकर (सम्बद्ध) स्कन्दके जन्मकी शाश्वत (नित्य, सदा विराजनेवाली) कथा सुनें ! सतीके देह-त्याग कर देनेपर रुद्र भगवान् निराश्रय विधुर हो गये एवं ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए तपस्या करने लगे। वे शंकरजी (पहले) दैत्योंके दर्पको चूर्ण करनेवाले देवताओंके सेनानी थे। परंतु अब उन्होंने (रुद्र-रूपका त्याग कर) शिव-स्वरूप धारण कर लिया तथा तपमें लगकर सेनापति-(स्थायी) पदका भी परित्याग कर दिया। फिर तो देवताओंके ऊपर उनके सेनापति शिवसे विरहित हो जानेके कारण दानवश्रेष्ठ महिषने बलपूर्वक आक्रमण कर उन्हें परास्त कर दिया ॥ ८–११ ॥

ततो जग्मुः सुरेशानं द्रष्टुं चक्रगदाधरम्। श्वेतद्वीपे महाहंसं प्रपन्नाः शरणं हरिम् ॥ १२ ॥
तानागतान् सुरान् दृष्ट्वा ततः शक्रपुरोगमान्। विहस्य मेघगम्भीरं प्रोवाच पुरुषोत्तमः ॥ १३ ॥
किं जितास्त्वसुरेन्द्रेण महिषेण दुरात्मना। येन सर्वे समेत्यैवं मम पार्श्वमुपागताः ॥ १४ ॥
तद् युष्माकं हितार्थाय यद् वदामि सुरोत्तमाः। तत्कुरुध्वं जयो येन समाश्रित्य भवेद्धि वः ॥ १५ ॥

(जब देवसमुदाय पराजित हो गया) तब पराजित हुए देवतालोग शरण-प्राप्तिकी खोजमें देवेश्वर भगवान् श्रीविष्णुके दर्शनार्थ श्वेतद्वीप गये। उस समय भगवान् विष्णु इन्द्र आदि देवताओंको आये हुए देखकर हँसे और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले—मालूम होता है कि आपलोग असुरोंके स्वामी दुरात्मा महिषसे हार गये हैं, जिसके कारण इस प्रकार एक साथ मिलकर मेरे पास आये हैं ? श्रेष्ठ देवताओ ! अब आपलोगोंकी भलाईके लिये मैं जो बात कहता हूँ, उसे आप सब सुनिये और उसे (यथावत्) आचरण कीजिये। उसके सहारे आपकी निश्चय विजय होगी ॥ १२–१५ ॥

य एते पितरो दिव्यास्त्वग्निष्वात्तेति विश्रुताः। अमीषां मानसी कन्या मेना नाम्नाऽस्ति देवताः ॥ १६ ॥
तामाराध्य महातिथ्यां श्रद्धया परयाऽमराः। प्रार्थयध्वं सतीं मेनां प्रालेयाद्रेरिहार्थतः ॥ १७ ॥
तस्यां सा रूपसंयुक्ता भविष्यति तपस्विनी। दक्षकोपाद् यया मुक्तं मलवज्जीवितं प्रियम् ॥ १८ ॥
सा शंकरात् स्वतेजोंऽशं जनयिष्यति यं सुतम्। स हनिष्यति दैत्येन्द्रं महिषं सपदानुगम् ॥ १९ ॥

देवगण ! जो ये 'अग्निष्वात्त' नामसे प्रसिद्ध दिव्य पितर हैं, उनकी मेना नामकी एक मानसी कन्या है। देववृन्द ! आपलोग अत्यन्त श्रद्धासे अमावास्याको सती मेनाकी (यथाविधि) आराधना करें तथा उनसे हिमालयकी पत्नी बननेके लिये प्रार्थना करें। उन्हीं मेनासे (एक) तपस्विनी रूपवती कन्या उत्पन्न होगी, जिसने दक्षके ऊपर कोपकर अपने प्रिय जीवनका मलके समान परित्याग कर दिया था। वे शिवजीके तेजके अंशरूप जिस पुत्रको उत्पन्न करेंगी वह दैत्योंमें श्रेष्ठ महिषको उसकी सेनासहित मार डालेगा ॥ १६–१९ ॥

तस्माद् गच्छत पुण्यं तत् कुरुक्षेत्रं महाफलम्। तत्र पृथूदके तीर्थे पूज्यन्तां पितरोऽव्ययाः ॥ २० ॥
महातिथ्यां महापुण्ये यदि शत्रुपराभवम्। जिहासतात्मनः सर्वे इत्थं वै क्रियतामिति ॥ २१ ॥

अतः आपलोग महान् फल देनेवाले, पवित्र कुरुक्षेत्रमें जायँ एवं वहाँ 'पृथूदक' नामके तीर्थमें नित्य ही अग्निष्वात्त नामके पितरोंकी पूजा करें। यदि आपलोग अपने शत्रुकी पराजय चाहते हैं तो सब कुछ छोड़कर अमावास्याको उस परम पवित्र तीर्थमें इसी (निर्दिष्ट) कार्यको सम्पन्न करें ॥ २०-२१ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्त्वा वासुदेवेन देवाः शक्रपुरोगमाः। कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पप्रच्छुः परमेश्वरम्॥ २२॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि देवताओंने हाथ जोड़कर उन परमात्मासे पूछा—॥ २२॥

देवा ऊचुः

कोऽयं कुरुक्षेत्र इति यत्र पुण्यं पृथूदकम्। उद्भवं तस्य तीर्थस्य भगवान् प्रब्रवीतु नः॥ २३॥
केयं प्रोक्ता महापुण्या तिथीनामुत्तमा तिथिः। यस्यां हि पितरो दिव्याः पूज्याऽस्माभिः प्रयत्नतः॥ २४॥
ततः सुराणां वचनान्मुरारिः कैटभार्दनः। कुरुक्षेत्रोद्भवं पुण्यं प्रोक्तवांस्तां तिथीमपि॥ २५॥

देवताओंने पूछा—भगवन्! यह कुरुक्षेत्र तीर्थ कौन है, जहाँ पृथूदक तीर्थ है? आप हमलोगोंको उस तीर्थकी उत्पत्तिके विषयमें बतायें। और, वह पवित्र उत्तम तिथि कौन-सी है जिसमें हम सब दिव्य पितरोंकी पूजा प्रयत्नपूर्वक कर सकें। तब भगवान् विष्णुने देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उनसे कुरुक्षेत्रकी पवित्र उत्पत्ति तथा उस उत्तम तिथिका भी वर्णन किया (जिसमें पूजा करनेकी बात कही थी)॥ २३—२५॥

श्रीभगवानुवाच

सोमवंशोद्भवो राजा ऋक्षो नाम महाबलः। कृतस्यादौ समभवदृक्षात् संवरणोऽभवत्॥ २६॥
स च पित्रा निजे राज्ये बाल एवाभिषेचितः। बाल्येऽपि धर्मनिरतो मद्भक्तश्च सदाऽभवत्॥ २७॥
पुरोहितस्तु तस्यासीद् वसिष्ठो वरुणात्मजः। स चास्याध्यापयामास साङ्गान् वेदानुदारधीः॥ २८॥
ततो जगाम चारण्यं त्वनध्याये नृपात्मजः। सर्वकर्मसु निक्षिप्य वसिष्ठं तपसां निधिम्॥ २९॥

श्रीभगवान्ने कहा—सत्ययुगके प्रारम्भमें सोमवंशमें ऋक्षनामके एक महाबलवान् राजा उत्पन्न हुए। उन ऋक्षसे संवरणकी उत्पत्ति हुई। पिताने उसे बचपनमें ही राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। वह बाल्यकालमें भी सदा धर्मनिष्ठ एवं मेरा भक्त था। वरुणके पुत्र वसिष्ठ उसके पुरोहित थे। उन्होंने उसे अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंको पढ़ाया। एक दिनकी बात है कि अनध्याय (छुट्टी) रहनेपर वह राजपुत्र (संवरण) तपोनिधि वसिष्ठको सभी कार्य सौंपकर वनमें चला गया॥ २६—२९॥

ततो मृगयाव्याक्षेपाद् एकाकी विजनं वनम्। वैभ्राजं स जगामाथ अथोन्मादनमभ्ययात्॥ ३०॥
ततस्तु कौतुकाविष्टः सर्वर्तुकुसुमे वने। अवितृप्तः सुगन्धस्य समन्ताद् व्यचरद् वनम्॥ ३१॥
स वनान्तं च ददृशे फुल्लकोकनदावृतम्। कह्लारपद्मकुमुदैः कमलेन्दीवरैरपि॥ ३२॥
तत्र क्रीडन्ति सततमप्सरोऽमरकन्यकाः। तासां मध्ये ददर्शाथ कन्यां संवरणोऽधिकाम्॥ ३३॥

फिर शिकारके लिये व्याक्षिप्त (व्यग्र) वह अकेला ही वैभ्राजक नामक निर्जन वनमें पहुँचा। उसके बाद वह उन्मादसे ग्रस्त हो गया। उस वनमें सभी ऋतुओंमें फूल फूलते रहते थे, सुगन्धि भी रहती थी, फिर भी उससे संतृप्त न होनेके कारण वह कुतूहलवश वनमें चारों ओर विचरण करने लगा। वहाँ उसने फूले हुए श्वेत, लाल, पीले कमल, कुमुद एवं नीले कमलोंसे भरे उस वनको देखा। अप्सराएँ एवं देवकन्याएँ वहाँ सदा मनोरञ्जन (मनबहलाव) किया करती थीं। संवरणने उनके बीच एक अत्यन्त सुन्दरी कन्याको देखा॥ ३०—३३॥

दर्शनादेव स नृपः काममार्गणपीडितः। जातः सा च तमीक्ष्यैव कामबाणातुराऽभवत्॥ ३४॥
उभौ तौ पीडितौ मोहं जग्मतुः काममार्गणैः। राजा चलासनो भूम्यां निपपात तुरंगमात्॥ ३५॥

तमभ्येत्य महात्मानो गन्धर्वाः कामरूपिणः। सिषिचुर्वारिणाऽभ्येत्य लब्धसंज्ञोऽभवत् क्षणात् ॥ ३६ ॥
सा चाप्सरोभिरुत्पात्य नीता पितृकुलं निजम्। ताभिराश्वासिता चापि मधुरैर्वचनाम्बुभिः ॥ ३७ ॥

उसे देखते ही वह राजा कामदेवके बाणसे पीडित (कामसे आशित) हो गया और इसी प्रकार वह कन्या भी उसे देखकर कामबाणसे अधीर (मोहित) हो गयी। कामके बाणोंसे विवश होकर वे दोनों अचेत-से हो गये। राजा घोड़ेकी पीठपर रखे हुए आसनसे खिसककर पृथ्वीपर गिर पड़ा और इच्छाके अनुसार अपना रूप बना लेनेवाले महात्मा गन्धर्वलोग उसके पास जाकर उसे जलसे सींचने लगे। (फिर) वह दूसरे ही क्षण चेतनामें आ गया। तब अप्सराओंने उसे मधुर वचनरूपी जलसे भी आश्वस्त किया और उसे उठाकर उसके पिताके घर ले गयीं ॥ ३४–३७ ॥

स चाप्यारुह्य तुरगं प्रतिष्ठानं पुरोत्तमम्। गतस्तु मेरुशिखरं कामचारी यथाऽमरः ॥ ३८ ॥
यदाप्रभृति सा दृष्टा आर्क्षिणा तपती गिरौ। तदाप्रभृति नाश्नाति दिवा स्वपिति नो निशि ॥ ३९ ॥
ततः सर्वविदव्यग्रो विदित्वा वरुणात्मजः। तपतीतापितं वीरं पार्थिवं तपसां निधिः ॥ ४० ॥
समुत्पत्य महायोगी गगनं रविमण्डलम्। विवेश देवं तिग्मांशुं ददर्श स्यन्दने स्थितम् ॥ ४१ ॥

फिर वह राजा (अपने) घोड़ेपर चढ़कर (अपने) श्रेष्ठ पैठण नगर इस प्रकार चला गया, जैसे कोई इच्छाके अनुसार चलनेवाला देवता (सरलतासे) मेरुशृङ्गपर चला जाय। ऋक्षके पुत्र संवरणने पर्वतपर देवकन्या तपतीको जबसे अपनी आँखोंसे देखा था, तबसे वह दिनमें न तो भोजन करता था और न रात्रिमें सोता ही था। फिर सब कुछ जाननेवाले एवं शान्त तथा तपस्याके निधिस्वरूप वरुणके पुत्र महायोगी वसिष्ठ उस वीर राजपुत्रको तपतीके कारण संतापमें पड़े देखकर आकाशमें ऊपर जाकर (मध्य आकाशमें स्थित) सूर्यमण्डलमें प्रवेश किया तथा वहाँ रथपर बैठे हुए तेज किरणवाले सूर्यदेवका उसने दर्शन किया ॥ ३८–४१ ॥

तं दृष्ट्वा भास्करं देवं प्रणमद् द्विजसत्तमः। प्रतिप्रणमितश्चासौ भास्करेणाविशद् रथे ॥ ४२ ॥
ज्वलज्जटाकलापोऽसौ दिवाकरसमीपगः। शोभते वारुणिः श्रीमान् द्वितीय इव भास्करः ॥ ४३ ॥
ततः सम्पूजितोऽर्घाद्यैर्भास्करेण तपोधनः। पृष्टश्चागमने हेतुं प्रत्युवाच दिवाकरम् ॥ ४४ ॥
समायातोऽस्मि देवेश याचितुं त्वां महाद्युते। सुतां संवरणस्यार्थे तस्य त्वं दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठने सूर्यदेवको देखकर प्रणाम किया। फिर वे सूर्यके द्वारा प्रत्यभिवादन (प्रणामके बदले प्रणाम) किये जानेपर उनके समीप जाकर रथमें बैठ गये। सूर्यदेवके पास रथपर बैठे हुए अग्नि-शिखाके समान चमचमाती जटावाले वरुणके पुत्र वसिष्ठ दूसरे सूर्यके समान सुशोभित होने लगे। फिर भगवान् सूर्यने उन तपस्वी-(अतिथि-)का अर्घ्य आदिसे (सत्कार) किया; उसके बाद उनसे उनके आनेका कारण पूछा। तब तपोधन वसिष्ठजीने सूर्यसे कहा—अति तेजस्वी देवेश ! मैं राजपुत्र संवरणके लिये आपसे कन्याकी याचना करने आया हूँ। उसे आप (कृपया) प्रदान करें ॥ ४२–४५ ॥

ततो वसिष्ठाय दिवाकरेण निवेदिता सा तपती तनूजा।
गृहागताय द्विजपुंगवाय राज्ञोऽर्थतः संवरणस्य देवाः ॥ ४६ ॥
सावित्रिमादाय ततो वसिष्ठः स्वमाश्रमं पुण्यमुपाजगाम।
सा चापि संस्मृत्य नृपात्मजं तं कृताञ्जलिर्वाक्यमिदमाह देवी ॥ ४७ ॥

(भगवान् विष्णु कहते हैं—) देवगण ! उसके बाद सूर्यदेव घरपर आये और ब्राह्मणश्रेष्ठ वसिष्ठको राजा संवरणके लिये (अपनी) तपती नामकी उस कन्याको समर्पित कर दिया । फिर सूर्यपुत्रीको साथ लेकर वसिष्ठ अपने पवित्र आश्रममें आ गये । वह कन्या उस राजपुत्रका स्मरण कर और हाथ जोड़कर ऋषि वसिष्ठसे बोली—॥ ४६-४७ ॥

तपत्युवाच

ब्रह्मन् मया खेदमुपेत्य यो हि सहाप्सरोभिः परिचारिकाभिः ।
दृष्टो ह्यरण्येऽमरगर्भतुल्यो नृपात्मजो लक्षणतोऽभिजाने ॥ ४८ ॥
पादौ शुभौ चक्रगदासिचिह्नौ जङ्घे तथोरू करिहस्ततुल्यौ ।
कटिस्तथा सिंहकटिर्यथैव क्षामं च मध्यं त्रिबलीनिबद्धम् ॥ ४९ ॥
ग्रीवाऽस्य शङ्खाकृतिमादधाति भुजौ च पीनौ कठिनौ सुदीर्घौ ।
हस्तौ तथा पद्मदलोद्भवाङ्कौ छत्राकृतिस्तस्य शिरो विभाति ॥ ५० ॥
नीलाश्च केशाः कुटिलाश्च तस्य कर्णौ समांसौ सुसमा च नासा ।
दीर्घाश्च तस्याङ्गुलयः सुपर्वाः पद्भ्यां कराभ्यां दशनाश्च शुभ्राः ॥ ५१ ॥

तपतीने कहा—वसिष्ठजी ! मैंने वनमें चिन्तामें विभोर होकर अपनी सेविकाओं तथा अप्सराओंके साथ देव-पुत्रके समान (सौम्य सुन्दर) जिस व्यक्तिको देखा था, उसे मैं लक्षणोंसे राजकुमार समझ रही हूँ; क्योंकि उसके दोनों शुभ चरणोंमें चक्र, गदा और खड्गके चिह्न हैं । उसकी जाँघें तथा ऊरु दोनों हाथीकी सूँड़के समान हैं । उसकी कटि सिंहकी कटिके समान है तथा त्रिवलीयुक्त—तीन वलोवाला उसका उदरभाग बहुत पतला है । उसकी गर्दन शङ्खके समान है, दोनों भुजाएँ मोटी, कठोर और लम्बी हैं, दोनों करतल कमल-चिह्नसे अङ्कित हैं तथा उसका मस्तक छत्रके समान सुशोभित है । उसके बाल काले तथा घुँघराले हैं, दोनों कर्ण मांसल हैं, नासिका सुडौल है, उसके हाथों एवं पैरोंकी अंगुलियाँ सुन्दर पर्वयुक्त (पोरवाली) और लम्बी हैं और उसके दाँत श्वेत हैं ॥ ४८–५१ ॥

समुन्नतः षड्भिरुदारवीर्यस्त्रिभिर्गभीरस्त्रिषु च प्रलम्बः ।
रक्तस्तथा पञ्चसु राजपुत्रः कृष्णश्चतुर्भिस्त्रिभिरानतोऽपि ॥ ५२ ॥
द्वाभ्यां च शुक्लः सुरभिश्चतुर्भिः दृश्यन्ति पद्मानि दशैव चास्य ।
वृतः स भर्ता भगवान् हि पूर्वं तं राजपुत्रं भुवि संविचिन्त्य ॥ ५३ ॥
ददस्व मां नाथ तपस्विनेऽस्मै गुणोपपन्नाय समीहिताय ।
नेहान्यकामां प्रवदन्ति सन्तो दातुं तथान्यस्य विभो क्षमस्व ॥ ५४ ॥

[तपतीने आगे कहा—] उस महापराक्रमी राजपुत्रके ललाट, कंधे, कपोल(गाल), ग्रीवा, कमर तथा जाँघें—ये छः अंग ऊँचे (सुडौल) हैं, नाभि, मध्य तथा हँसुली—ये तीन अङ्ग गम्भीर हैं और उसकी दोनों भुजाएँ तथा अण्डकोष—ये तीन अङ्ग लम्बे हैं । दोनों नेत्र, अधर, दोनों हाथ, दोनों पैर तथा नख—ये पाँचों लाल वर्णवाले हैं, केश, पक्ष्म (बरौनी) और कनीनिका (आँखकी पुतली)—ये चार अङ्ग कृष्ण हैं, दोनों भौंहें, आँखके दोनों कोर तथा दोनों कान झुके हुए हैं, दाँत तथा नेत्र दो अङ्ग श्वेत वर्णके हैं, केश, मुख तथा दोनों कपोल—ये चार अङ्ग सुगन्धवाले हैं । उनके नेत्र, मुख-विवर, मुखमण्डल, जिह्वा, ओठ, तालु, स्तन, नख, हाथ और पैर—ये दस अङ्ग कमलके समान हैं । भगवन् ! मैंने खूब सोच-विचारकर पृथ्वीपर उस राजपुत्रको पहले ही पतिरूपसे वरण

कर लिया है । प्रभो ! मुझे क्षमा करें । आप गुणोंसे युक्त (मेरी) इच्छाके अनुकूल तथा वाञ्छित उस तपस्वीको मुझे दे दें; क्योंकि सन्तोंका यह कहना है कि अन्यकी कामना करनेवाली कन्याको किसी औरको नहीं देना चाहिये ॥ ५२–५४ ॥

देवदेव उवाच

इत्येवमुक्तः सवितुश्च पुत्र्या ऋषिस्तदा ध्यानपरो बभूव ।
ज्ञात्वा च तत्रार्कसुतां सकामां मुदा युतो वाक्यमिदं जगाद ॥ ५५ ॥
स एव पुत्रि नृपतेस्तनूजो दृष्टः पुरा कामयसे यमद्य ।
स एव चायाति ममाश्रमं वै ऋक्षात्मजः संवरणो हि नाम्ना ॥ ५६ ॥
अथाजगाम स नृपस्य पुत्रस्तमाश्रमं ब्राह्मणपुंगवस्य ।
दृष्ट्वा वसिष्ठं प्रणिपत्य मूर्ध्ना स्थितस्त्वपश्यत् तपतीं नरेन्द्रः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा च तां पद्मविशालनेत्रां तां पूर्वदृष्टामिति चिन्तयित्वा ।
पप्रच्छ केयं ललना द्विजेन्द्र स वारुणिः प्राह नराधिपेन्द्रम् ॥ ५८ ॥

भगवान् विष्णु बोले—फिर सूर्यपुत्री तपतीके ऐसा कहनेपर वसिष्ठजी ध्यानमें मग्न हो गये और तपतीको उस कुमारमें आसक्त समझकर प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने यह बात कही—पुत्रि ! जिस राजपुत्रका तुमने पहले दर्शन किया था और जिसकी कामना तुम आज कर रही हो, वह ऋक्षका पुत्र (राजा) संवरण ही है । वह आज मेरे आश्रममें आ रहा है । उसके पश्चात् वह राजकुमार भी ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीके आश्रममें आया । उस राजाने वसिष्ठको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया; बैठनेपर तपतीको भी देखा । खिले कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली उस तपतीको देखकर उसने सोचा कि इसे मैंने पहले भी देखा है । (तब) उसने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह सुन्दर स्त्री कौन है ? इसपर वसिष्ठजीने राजश्रेष्ठ संवरणसे कहा—॥ ५५–५८ ॥

इयं विवस्वद्दुहिता नरेन्द्र नाम्ना प्रसिद्धा तपती पृथिव्याम् ।
मया तवार्थाय दिवाकरोऽर्थितः प्रादान्मया त्वाश्रममानिनिन्ये ॥ ५९ ॥
तस्मात् समुत्तिष्ठ नरेन्द्र देव्याः पाणिं तपत्या विधिवद् गृहाण ।
इत्येवमुक्तो नृपतिः प्रहृष्टो जग्राह पाणिं विधिवत् तपत्याः ॥ ६० ॥
सा तं पतिं प्राप्य मनोऽभिरामं सूर्यात्मजा शक्रसमप्रभावम् ।
रराम तन्वी भवनोत्तमेषु यथा महेन्द्रं दिवि दैत्यकन्या ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

'नरेन्द्र ! पृथ्वीमें तपती नामसे प्रसिद्ध यह सूर्यकी पुत्री है । मैने तुम्हारे ही लिये सूर्यसे इसकी याचना की थी और उन्होंने तुम्हारे लिये इसे मुझे सौंपा था । मैं तुम्हारे लिये ही इसे आश्रममें लाया हूँ; अतः नरेन्द्र ! उठो एवं विधिवत् इस सूर्यपुत्री तपतीका पाणिग्रहण करो।' (वसिष्ठजीके)-ऐसा कहनेपर राजा बहुत प्रसन्न हुआ ; उसने तपतीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया । सूर्यकी तनया तपती भी इन्द्रके तुल्य प्रभावशाली उस सुन्दर पतिको पाकर (अत्यन्त) प्रसन्न हुई । वह उत्तम महलोंमें उसके साथ इस प्रकार विहार करने लगी, जैसे इन्द्रको पाकर स्वर्गमें शची विहार करती है ॥ ५९–६१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

[अथ द्वाविंशोऽध्यायः]

देवदेव उवाच

तस्यां तपत्यां नरसत्तमेन जातः सुतः पार्थिवलक्षणस्तु।
स जातकर्मादिभिरेव संस्कृतो विवर्द्धताज्येन हुतो यथाऽग्निः ॥ १ ॥
कृतोऽस्य चूडाकरणश्च देवा विप्रेण मित्रावरुणात्मजेन।
नवाब्दिकस्य व्रतवन्धनं च वेदे च शास्त्रे विधिपारगोऽभूत् ॥ २ ॥
ततश्चतुःषड्भिरपीह वर्षैः सर्वज्ञतामभ्यगमत् ततोऽसौ।
ख्यातः पृथिव्यां पुरुषोत्तमोऽसौ नाम्ना कुरुः संवरणस्य पुत्रः ॥ ३ ॥
ततो नरपतिर्दृष्ट्वा धार्मिकं तनयं शुभम्। दारक्रियार्थमकरोद् यत्नं शुभकुले ततः ॥ ४ ॥

बाईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुकी कथा, कुरुक्षेत्रका निर्माण-प्रसङ्ग और पृथूदक तीर्थका माहात्म्य)

देवोंके भी देव भगवान् विष्णुने कहा—उस तपतीके गर्भसे मनुष्योंमें श्रेष्ठ संवरणके द्वारा (सभी) राज-लक्षणोंसे युक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। वह जातकर्म आदि संस्कारोंसे संस्कृत होकर इस प्रकार बढ़ने लगा, जैसे घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि बढ़ती है। देवगण! मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजीने उसका (यथा समय) चौल-संस्कार कराया। नवें वर्षमें उसका उपनयन संस्कार हुआ। फिर वह (श्रम-क्रमसे अध्ययन कर) वेद तथा शास्त्रोंका पारगामी विद्वान् हो गया एवं चौबीस वर्षोंमें तो फिर वह सर्वज्ञ-सा हो गया। पुरुषश्रेष्ठ संवरणका वह पुत्र इस भूभागपर 'कुरु' नामसे प्रसिद्ध हुआ। तब राजा (उस) कल्याणकारी अपने धार्मिक पुत्रको (उपयुक्त अवस्थामें आये हुए) देखकर किसी उत्तम कुलमें उसके विवाहका यत्न करने लगे ॥ १–४ ॥

सौदामिनीं सुदाम्नस्तु सुतां रूपाधिकां नृपः। कुरोरर्थाय वृतवान् स प्रादात् कुरवेऽपि ताम् ॥ ५ ॥
स तां नृपसुतां लब्ध्वा धर्मार्थावविरोधयन्। रेमे तन्व्या सह तया पौलोम्या मघवानिव ॥ ६ ॥
ततो नरपतिः पुत्रं राज्यभारक्षमं बली। विदित्वा यौवराज्याय विधानेनाभ्यषेचयत् ॥ ७ ॥
ततो राज्येऽभिषिक्तस्तु कुरुः पित्रा निजे पदे। पालयामास स महीं पुत्रवच्च स्वयं प्रजाः ॥ ८ ॥

राजाने (अपने पुत्र) कुरुके लिये सुन्दर स्वरूपवाली सुदामाकी पुत्री सौदामिनीको वरण किया और सुदामा राजाने भी उसे कुरुको विधिवत् प्रदान कर दिया। उस राजकुमारीको पाकर वह (कुरु) धर्म और अर्थका (यथावत्) पालन करते हुए उस तन्वङ्गी अर्थात् कृशाङ्गीके साथ गार्हस्थ्य धर्ममें वैसे ही रहने लगा, जैसे पौलोमी (शची) के साथ इन्द्र दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते (हुए रहते) हैं। उसके बाद बलवान् राजाने राज्य-भारके वहन करनेमें—राज्य-कार्य संचालनमें—उसे समर्थ जानकर विधिपूर्वक युवराज पदपर अभिषिक्त कर दिया। तब पिताके द्वारा अपने राज्यपदपर अभिषिक्त होकर कुरु औरस पुत्रकी भाँति अपनी प्रजाका और पृथ्वीका पालन करने लगे ॥ ५–८ ॥

स एव क्षेत्रपालोऽभूत् पशुपालः स एव हि। स सर्वपालकश्चासीत् प्रजापालो महाबलः ॥ ९ ॥
ततोऽस्य बुद्धिरुत्पन्ना कीर्तिर्लोके गरीयसी। यावत् कीर्तिः सुसंस्था हि तावद्वासः सुरैः सह ॥ १० ॥
स त्वेवं नृपतिश्रेष्ठो याथातथ्यमवेक्ष्य च। विचचार महीं सर्वां कीर्त्यर्थं तु नराधिपः ॥ ११ ॥
ततो द्वैतवनं नाम पुण्यं लोकेश्वरो बली। तदासाद्य सुसंतुष्टो विवेशाभ्यन्तरं ततः ॥ १२ ॥

(प्रजा और पृथ्वीके पालनमें लगे) वे राजकुमार कुरु 'क्षेत्रपाल' तथा 'पशुपाल' भी हुए ! महाबली वे सर्वपालक एवं प्रजापालक भी हुए। फिर उन्होंने सोचा कि संसारमे यश ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है (उसे प्राप्त करना चाहिये); क्योंकि जबतक संसारमें कीर्ति भलीभाँति स्थित रहती है, तबतक मनुष्य देवताओंके साथ निवास करता है। इस प्रकार यथार्थताका विचार कर वे राजा यशःप्राप्तिके लिये समस्त पृथ्वीपर विचरण करने लगे। उसी सिलसिलेमें वे बलशाली राजा पवित्र द्वैतवन पहुँचे एवं पूर्ण संतुष्ट होकर उसके भीतर प्रविष्ट हो गये ॥ ९-१२ ॥

तत्र देवीं ददर्शाथ पुण्यां पापविमोचनीम्। प्लक्षजां ब्रह्मणः पुत्रीं हरिजिह्वां सरस्वतीम् ॥ १३ ॥
सुदर्शनस्य जननीं ह्रदं कृत्वा सुविस्तरम्। स्थितां भगवतीं कूले तीर्थकोटिभिराप्लुताम् ॥ १४ ॥
तस्यास्तज्जलमीक्ष्यैव स्नात्वा प्रीतोऽभवन्नृपः। समाजगाम च पुनर्ब्रह्मणो वेदिमुत्तराम् ॥ १५ ॥
समन्तपञ्चकं नाम धर्मस्थानमनुत्तमम्। आसमन्ताद् योजनानि पञ्च पञ्च च सर्वतः ॥ १६ ॥

(प्रविष्ट होनेके बाद राजाने) वहाँपर पापनाशिनी उस पवित्र सरस्वती नदीको देखा, जो पर्कटि (पाकड़) वृक्षसे उत्पन्न ब्रह्माकी पुत्री है। वह हरिजिह्वा, ब्रह्मपुत्री और सुदर्शन-जननी नामसे भी प्रसिद्ध हैं। वहाँ वह (एक) सुविस्तृत ह्रद (बड़ा ताल या झील) बनाकर स्थित हैं। उसके तटपर करोड़ों तीर्थ हैं। उसके जलको देखते ही राजाको उसमें स्नान करनेकी इच्छा हुई। उन्होंने स्नान किया और बड़े प्रसन्न हुए। फिर वे उत्तर दिशामें स्थित ब्रह्माकी समन्तपञ्चक वेदीपर गये। वह समन्तपञ्चक नामक धर्मस्थान चारों ओर पाँच-पाँच योजनतक फैला हुआ है ॥१३-१६॥

देवा ऊचुः

कियन्त्यो वेदयः सन्ति ब्रह्मणः पुरुषोत्तम। येनोत्तरतया वेदिर्गदिता सर्वपञ्चका[1] ॥ १७ ॥

देवतागण बोले—पुरुषोत्तम ! ब्रह्माकी कितनी वेदियाँ हैं ? क्योंकि आपने इस सर्वपञ्चक वेदीको उत्तर वेदी (अन्य दिशा-सापेक्ष शब्द 'उत्तर'से विशिष्ट) कहा है ॥ १७ ॥

देवदेव उवाच

वेदयो लोकनाथस्य पञ्च धर्मस्य सेतवः। यासु यष्टं सुरेशेन लोकनाथेन शम्भुना ॥ १८ ॥
प्रयागो मध्यमा वेदिः पूर्वा वेदिर्गयाशिरः। विरजा दक्षिणा वेदिरनन्तफलदायिनी ॥ १९ ॥
प्रतीची पुष्करा वेदिस्त्रिभिः कुण्डैरलंकृता। समन्तपञ्चका चोक्ता वेदिरेवोत्तराऽव्यया ॥ २० ॥
तममन्यत राजर्षिरिदं क्षेत्रं महाफलम्। करिष्यामि कृषिष्यामि सर्वान् कामान् यथेप्सितान् ॥२१॥

भगवान् विष्णु बोले—लोकोंके स्वामी ब्रह्माकी पाँच वेदियाँ धर्म-सेतुके सदृश हैं, जिनपर देवाधिदेव विश्वेश्वर श्रीशम्भुने यज्ञ किया था। प्रयाग मध्यवेदी है, गया पूर्ववेदी और अनन्त फलदायिनी जगन्नाथपुरी दक्षिणवेदी है। (इसी प्रकार) तीन कुण्डोंसे अलङ्कृत पुष्करक्षेत्र पश्चिम वेदी है और अव्यय समन्तपञ्चक उत्तर वेदी है। राजर्षि कुरुने सोचा कि इस (समन्तपञ्चक) क्षेत्रको महाफलदायी करूँगा (बनाऊँगा) और यहीं समस्त मनोरथों-(कामनाओं-) की खेती करूँगा ॥ १८-२१ ॥

इति संचिन्त्य मनसा त्यक्त्वा स्यन्दनमुत्तमम्। चक्रे कीर्त्यर्थमतुलं संस्थानं पार्थिवर्षभः ॥ २२ ॥
कृत्वा सीरं स सौवर्णं गृह्य रुद्रवृषं प्रभुः। पौण्ड्रकं याम्यमहिषं स्वयं कर्षितुमुद्यतः ॥ २३ ॥
तं कर्षन्तं नरवरं समभ्येत्य शतक्रतुः। प्रोवाच राजन् किमिदं भवान् कर्तुमिहोद्यतः ॥ २४ ॥
राजाब्रवीत् सुरवरं तपः सत्यं क्षमां दयाम्। कृषामि शौचं दानं च योगं च ब्रह्मचारिताम् ॥ २५ ॥

१—समन्तपञ्चक और सर्वपञ्चक समानार्थी शब्द हैं; क्योंकि 'सम' और 'सर्व' दोनों सर्ववाची शब्द हैं; अतः दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। इसमें पाठभेदसे भ्रम नहीं होना चाहिये।

**

अपने मनमें इस प्रकार विचार कर वे राजाओंमें शिरोमणि कुरु रथको छोड़कर उतर पड़े एवं उन्होंने अपनी कीर्तिके लिये अनुपम स्थानका निर्माण किया। उन राजाने सुवर्णमय हल बनवाकर उसमें शंकरजीके बैल एवं यमराजके पौण्ड्रक नामक भैंसेको नाथ कर स्वयं जोतनेके लिये तैयार हुए। इसपर इन्द्रने उनके पास जाकर कहा—राजन्! आप यहाँ यह क्या करनेके लिये उद्यत हुए हैं? राजा बोले—मैं यहाँ तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग और ब्रह्मचर्य—इन (धर्मके अष्टाङ्गों)की खेती कर रहा हूँ॥ २२–२५॥

तस्योवाच हरिर्देवः कस्माद्बीजो नरेश्वर। लब्धोऽष्टाङ्गेति सहसा अवहस्य गतस्ततः॥ २६॥
गतेऽपि शक्रे राजर्षिरहन्यहनि सीरधृक्। कृषतेऽन्यान् समन्ताच्च सप्तक्रोशान् महीपतिः॥ २७॥
ततोऽहमब्रुवं गत्वा कुरो किमिदमित्यथ। तदाऽष्टाङ्गं महाधर्मं समाख्यातं नृपेण हि॥ २८॥
ततो मयाऽस्य गदितं नृप बीजं क्व तिष्ठति।
स चाह मम देहस्थं बीजं तमहमब्रुवम्। देह्यहं वापयिष्यामि सीरं कृषतु वै भवान्॥ २९॥
ततो नृपतिना बाहुर्दक्षिणः प्रसृतः कृतः। प्रसृतं तं भुजं दृष्ट्वा मया चक्रेण वेगतः॥ ३०॥
सहस्रधा ततश्छिद्य दत्तो युष्माकमेव हि। ततः सव्यो भुजो राज्ञा दत्तश्छिन्नोऽप्यसौ मया॥ ३१॥
तथैवोरुयुगं प्रादान्मया छिन्नौ च तावुभौ।
ततः स मे शिरः प्रादात् तेन प्रीतोऽस्मि तस्य च। वरदोऽस्मीत्यथेत्युक्ते कुरुर्वरमयाचत॥ ३२॥

इसपर इन्द्र बोले—नरेश्वर! आपने (कृषिके लिये साधनभूत) (हल और अष्टाङ्ग बीज) कहाँसे प्राप्त किये हैं? यह कहते हुए उपहास कर इन्द्र वहाँसे शीघ्र ही चले गये। इन्द्रके चले जानेपर भी राजा प्रतिदिन हल लेकर चारों ओर सात कोसतक पृथ्वी जोतते रहे। तब मैंने (विष्णुने) उनसे जाकर कहा—कुरु! तुम यह क्या कर रहे हो? (इसपर) राजाने कहा—मैं (पूर्वोक्त) अष्टाङ्ग-महाधर्मोंकी खेती कर रहा हूँ। फिर मैंने उनसे पूछा—राजन्! बीज कहाँ है? राजाने कहा—बीज मेरे शरीरमें है। मैंने उनसे कहा—उसे मुझे दे दो। मैं (उसे) बोऊँगा, तुम हल चलाओ। तब राजाने अपना दाहिना हाथ फैला दिया। फैलाये हुए हाथको देखकर मैंने चक्रसे शीघ्र ही उसके हजारों टुकड़े कर डाले और उन टुकड़ोंको तुम देवताओंको दे दिया। उसके बाद राजाने वाम बाहु दिया और उसे भी मैंने काट दिया। इसी प्रकार उसने दोनों उरुओंको दिया। उन दोनोंको भी मैंने काट दिया। तब उसने अपना मस्तक दिया, जिससे मैं उसके ऊपर प्रसन्न हो गया और कहा—तुम्हें मैं वर दूँगा। मेरे ऐसा कहनेपर कुरुने (मुझसे) वर माँगा—॥ २६–३२॥

कुरुरुवाच

यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु च। स्नातानां च मृतानां च महापुण्यफलं त्विह॥ ३३॥
उपवासं च दानं च स्नानं जप्यं च माधव। होमयज्ञादिकं चान्यच्छुभं वाप्यशुभं विभो॥ ३४॥
त्वत्प्रसादाद्धृषीकेश शङ्खचक्रगदाधर। अक्षयं प्रवरे क्षेत्रे भवत्वत्र महाफलम्॥ ३५॥
तथा भवान् सुरैः सार्धं समं देवेन शूलिना।
वस त्वं पुण्डरीकाक्ष मन्नामव्यञ्जकेऽच्युत। इत्येवमुक्तस्तेनाहं राज्ञा बाढमुवाच तम्॥ ३६॥
तथा च त्वं दिव्यवपुर्भव भूयो महीपते। तथाऽन्तकाले मामेव लयमेष्यसि सुव्रत॥ ३७॥

कुरुने कहा—जितने स्थानको मैंने जोता है, वह धर्मक्षेत्र हो जाय और यहाँ स्नान करनेवालों एवं मरनेवालोंको महापुण्यकी प्राप्ति हो। माधव! विभो! शङ्खचक्रगदाधारी हृषीकेश! यहाँ किये गये उपवास, स्नान, दान, जप, हवन, यज्ञ आदि तथा अन्य शुभ या अशुभ कर्म भी इस श्रेष्ठ क्षेत्रमें आपकी कृपासे अक्षय एवं महान्

फल देनेवाले हों तथा हे पुण्डरीकाक्ष ! हे अच्युत ! मेरे नामके व्यञ्जक (प्रकाशक) इस कुरुक्षेत्रमें आप सभी देवताओं एवं शिवजीके साथ निवास करें । राजाके ऐसा कहनेपर मैंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा । राजन् ! तुम पुनः दिव्य शरीरवाले हो जाओ तथा हे सुव्रत ! (दृढ़तासे व्रतका सुष्ठु पालन करनेवाले) अन्तकालमें तुम मुझमें ही लीन हो जाओगे ॥ ३३–३७ ॥

कीर्तिश्च शाश्वती तुभ्यं भविष्यति न संशयः । तत्रैव याजका यज्ञान् यजिष्यन्ति सहस्रशः ॥ ३८ ॥
तस्य क्षेत्रस्य रक्षार्थं ददौ स पुरुषोत्तमः । यक्षं च चन्द्रनामानं वासुकिं चापि पन्नगम् ॥ ३९ ॥
विद्याधरं शङ्कुकर्णं सुकेशिं राक्षसेश्वरम् । अजावनं च नृपतिं महादेवं च पावकम् ॥ ४० ॥
एतानि सर्वतोऽभ्येत्य रक्षन्ति कुरुजाङ्गलम् । अमीषां बलिनोऽन्ये च भृत्याश्चैवानुयायिनः ॥ ४१ ॥

(भगवान् विष्णुने आगे कहा—) निःसंदेह तुम्हारी कीर्ति सदा रहनेवाली होगी । वहाँ (कुरुक्षेत्रमें हजारों) यज्ञ करनेवाले व्यक्ति यज्ञ करेंगे । फिर, उस क्षेत्रकी रक्षा करनेके लिये उन पुरुषोत्तम भगवान्ने राजाको चन्द्रनामक यक्ष, वासुकि नामक सर्प, शङ्कुकर्ण नामक विद्याधर, सुकेशी नामक राक्षसेश्वर, अजावन नामक राजा और महादेव नामक अग्निको प्रदान किया । ये सभी तथा इनके अन्य बली भृत्य एवं अनुयायी वहाँ आकर कुरुजाङ्गलकी सब ओरसे रक्षा करते हैं ॥ ३८–४१ ॥

अष्टौ सहस्राणि धनुर्धराणां ये वारयन्तीह सुदुष्कृतान् वै ।
स्नातुं न यच्छन्ति महोग्ररूपास्त्वन्यस्य भूताः सचराचराणाम् ॥ ४२ ॥
तस्यैव मध्ये बहुपुण्य उक्तः पृथूदकः पापहरः शिवश्च ।
पुण्या नदी प्राङ्मुखतां प्रयाता यत्रौघयुक्तस्य शुभा जलाढ्या ॥ ४३ ॥
पूर्वं प्रजेयं प्रपितामहेन सृष्टा समं भूतगणैः समस्तैः ।
मही जलं वह्निसमीरमेव खं त्वेवमादौ विबभौ पृथूदकः ॥ ४४ ॥
तथा च सर्वाणि महार्णवानि तीर्थानि नद्यः स्रवणाः सरांसि ।
संनिर्मितानीह महाभुजेन तच्चैक्यमगात् सलिलं महीपु ॥ ४५ ॥

आठ हजार धनुषधारी, जो पापियोंको यहाँ आनेसे रोकते रहते हैं, वे उग्र रूप धारणकर चराचरके दूसरे भूतगण (पापियों)को स्नान नहीं करने देते । उसी-(कुरुजाङ्गल-)के मध्य पाप दूर करनेवाला, विख्यात एवं अति पवित्र कल्याणकारी पृथूदक (पेहवा) नामक तीर्थ है, जहाँ शुभ जलसे पूर्ण एक पवित्र नदी पूर्वकी ओर बहती है । इसे प्रपितामह ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और आकाशादि समस्त भूतोंके साथ ही रचा था । इस प्रकार बहुत जलमय होनेसे यह 'पृथूदक' कहलाया । अधिक क्या, महाबाहु ब्रह्माने पृथ्वीपर जिन महासमुद्रों, तीर्थों, नदियों, स्रोतों एवं सरोवरोंकी रचना की उन सभीके जल उसमें एकत्र प्राप्त हैं ॥ ४२–४५ ॥

देवदेव उवाच

सरस्वतीदृषद्वत्योरन्तरे कुरुजाङ्गले ।
मुनिप्रवरमासीनं पुराणं लोमहर्षणम् । अपृच्छन्त द्विजवराः प्रभावं सरसस्तदा ॥ ४६ ॥
प्रमाणं सरसो ब्रूहि तीर्थानां च विशेषतः । देवतानां च माहात्म्यमुत्पत्तिं वामनस्य च ॥ ४७ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तेषां रोमहर्षसमन्वितः । प्रणिपत्य पुराणर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

[यहाँसे कुरुक्षेत्र और उसके सरोवरका माहात्म्य आरम्भ होता है ।]

भगवान् विष्णु बोले— पहले समयमें ब्राह्मणोंने सरस्वती और दृषद्वती (कग्गर)के बीचमें स्थित कुरुक्षेत्रमें आसीन मुनिप्रवर वृद्ध लोमहर्षणसे वहाँ स्थित सरोवरकी महिमा पूछी और कहा कि आप इस सरोवरके विस्तार, विशेषतः तीर्थों और देवताओंके माहात्म्य एवं वामनके प्रादुर्भावकी कथा कहें ।

उनके इस वचनको सुनकर रोमाञ्चित होते हुए पौराणिक ऋषि लोमहर्षण उन्हें प्रणाम कर (फिर) इस प्रकार बोले—॥ ४६–४८ ॥

लोमहर्षण उवाच

ब्रह्माणमग्र्यं कमलासनस्थं विष्णुं तथा लक्ष्मिसमन्वितं च ।
रुद्रं च देवं प्रणिपत्य मूर्ध्ना तीर्थं महद् ब्रह्मसरः प्रवक्ष्ये ॥ ४९ ॥
रन्तुकादौजसं यावत् पावनाच्च चतुर्मुखम् । सरः संनिहितं प्रोक्तं ब्रह्मणा पूर्वमेव तु ॥ ५० ॥
कलिद्वापरयोर्मध्ये व्यासेन च महात्मना । सरः प्रमाणं यत्प्रोक्तं तच्छृणुध्वं द्विजोत्तमाः ॥ ५१ ॥
विश्वेश्वरादस्थिपुरं तथा कन्या जरद्गवी । यावदोघवती प्रोक्ता तावत्संनिहितं सरः ॥ ५२ ॥

लोमहर्षणजी बोले—सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले कमलासन ब्रह्मा, लक्ष्मीके सहित विष्णु और महादेव रुद्रको सिर झुकाकर प्रणाम करके मैं महान् ब्रह्मसर तीर्थका वर्णन करता हूँ। ब्रह्माने पहले कहा था कि वह 'संनिहित' सरोवर 'रन्तुक' नामक स्थानसे लेकर 'ओजस' नामक स्थानतक तथा 'पावन'से 'चतुर्मुख' तक फैला हुआ है। ब्राह्मणश्रेष्ठो ! किंतु अब कलि और द्वापरके मध्यमें महात्मा व्यासने सरोवरका जो (वर्तमान) प्रमाण बतलाया है, आपलोग उसे सुनें। (इस समय) 'विश्वेश्वर' स्थानसे 'अस्थिपुरतक' और 'वृद्धा-कन्या'से लेकर 'ओघवती' नदीतक यह सरोवर स्थित है ॥ ४९–५२ ॥

मया श्रुतं प्रमाणं यत् पठ्यमानं तु वामने । तच्छृणुध्वं द्विजश्रेष्ठाः पुण्यं वृद्धिकरं महत् ॥ ५३ ॥
विश्वेश्वराद् देववरा नृपावनात् सरस्वती । सरः संनिहितं ज्ञेयं समन्तादर्धयोजनम् ॥ ५४ ॥
एतदाश्रित्य देवाश्च ऋषयश्च समागताः । सेवन्ते मुक्तिकामार्थं स्वर्गार्थं चापरे स्थिताः ॥ ५५ ॥
ब्रह्मणा सेवितमिदं सृष्टिकामेन योगिना । विष्णुना स्थितिकामेन हरिरूपेण सेवितम् ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैंने वामनपुराणमें वर्णित जो प्रमाण सुना है, आप उस पवित्र एवं महान् कल्याणकारी प्रमाणको सुनें। विश्वेश्वर स्थानसे देववरा नदीतक एव नृपावनसे सरस्वती (नदी)तक चतुर्दिक् आधे योजन-(दो कोसों-)में फैले इस संनिहित सरको समझना चाहिये। मोक्षकी इच्छासे आये हुए देवता एवं ऋषिगण इसका आश्रय लेकर सदा इसका सेवन करते हैं तथा अन्य लोग स्वर्गके निमित्त यहाँ रहते हैं। योगीश्वर ब्रह्माने सृष्टिकी इच्छासे एवं भगवान् श्रीविष्णुने जगत्के पालनकी कामनासे इसका सेवन किया था ॥ ५३–५६ ॥

रुद्रेण च सरोमध्यं प्रविष्टेन महात्मना । सेव्य तीर्थं महातेजाः स्थाणुत्वं प्राप्तवान् हरः ॥ ५७ ॥
आद्यैषा ब्रह्मणो वेदिस्ततो रामह्रदः स्मृतः । कुरुणा च यतः कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम् ॥ ५८ ॥
तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं यदन्तरं रामह्रदाच्चतुर्मुखम् ।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(इसी प्रकार) सरोवरके मध्यमें पैठकर महात्मा रुद्रने भी इस तीर्थका सेवनकर महातेजस्वी हर (शिव)ने स्थाणुत्व (स्थिरत्व)को प्राप्त किया। आदिमें यह 'ब्रह्मवेदी' कहा गया था, फिर आगे चलकर इसका नाम 'रामह्रद' हुआ। उसके बाद राजर्षि कुरुद्वारा जोते जानेसे इसका नाम 'कुरुक्षेत्र' पड़ा। तरन्तुक एवं अरन्तुक नामके स्थानोंका मध्य तथा रामह्रदसे चतुर्मुखतकका मध्यभाग समन्तपञ्चक है, जो कुरुक्षेत्र कहा जाता है। यही पितामहकी उत्तरवेदी भी कही जाती है ॥ ५७–५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

[अथ त्रयोविंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

ब्रूहि वामनमाहात्म्यमुत्पत्तिं च विशेषतः । यथा बलिर्नियमितो दत्तं राज्यं शतक्रतोः ॥ १ ॥

तेईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामनचरितका उपक्रम, बलिका दैत्यराज्याधिपति होना और उनकी अतुल राज्य-लक्ष्मीका वर्णन)

ऋषियोंने कहा—(कृपया आप) वामनके माहात्म्य और विशेषकर उनकी उत्पत्तिका वर्णन (विस्तारसे) करें तथा यह भी बतलाएँ कि बलिको किस प्रकार बाँधकर इन्द्रको राज्य दिया गया ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृणुध्वं मुनयः प्रीता वामनस्य महात्मनः । उत्पत्तिं च प्रभावं च निवासं कुरुजाङ्गले ॥ २ ॥
तदेवं वंशं दैत्यानां शृणुध्वं द्विजसत्तमाः । यस्य वंशे समभवद् बलिर्वैरोचनिः पुरा ॥ ३ ॥
दैत्यानामादिपुरुषो हिरण्यकशिपुः पुरा । तस्य पुत्रो महातेजाः प्रह्लादो नाम दानवः ॥ ४ ॥
तस्माद् विरोचनो जज्ञे बलिर्जज्ञे विरोचनात् । हते हिरण्यकशिपौ देवानुत्साद्य सर्वतः ॥ ५ ॥
राज्यं कृतं च तेनेष्टं त्रैलोक्ये सचराचरे । कृतयत्नेषु देवेषु त्रैलोक्ये दैत्यतां गते ॥ ६ ॥

लोमहर्षणने कहा—मुनियो ! आपलोग प्रसन्नतापूर्वक महात्मा वामनकी उत्पत्ति, उनके प्रभाव और कुरुजाङ्गल स्थानमें उनके निवासका वर्णन सुनें । द्विजश्रेष्ठो ! आपलोग दैत्योंके उस वंशके सम्बन्धमें भी सुने, जिस वशमें प्राचीनकालमें विरोचनके पुत्र बलि उत्पन्न हुए थे । पहले समयमे दैत्योंका आदिपुरुष हिरण्यकशिपु था । उसका प्रह्लाद-नामक पुत्र अत्यन्त तेजस्वी दानव था । उससे विरोचन उत्पन्न हुआ और विरोचनसे बलि । हिरण्यकशिपुके मारे जानेपर बलिने देवताओको सभी स्थानोसे उजाडकर भगा दिया और वह स्वच्छन्दतापूर्वक चराचरसहित तीनो लोकोंका राज्य करने लगा । ॥ २—६ ॥

जये तथा बलवतोर्मयशम्बरयोस्तथा । शुद्धासु दिक्षु सर्वासु प्रवृत्ते धर्मकर्मणि ॥ ७ ॥
सम्प्रवृत्ते दैत्यपथे अयनस्थे दिवाकरे । प्रह्लादशम्बरमयैरनुह्लादेन चैव हि ॥ ८ ॥
दिक्षु सर्वासु गुप्तासु गगने दैत्यपालिते । देवेषु मखशोभां च स्वर्गस्थां दर्शयत्सु च ॥ ९ ॥
प्रकृतिस्थे ततो लोके वर्तमाने च सत्पथे । अभावे सर्वपापानां धर्मभावे सदोत्थिते ॥ १० ॥

बलशाली मय और शम्बरकी विजय-वैजयन्ती फहराने लग गयी । धर्मकार्य सर्वत्र होने लग गये । फलत. दिशाएँ शुद्ध हो गयीं । सूर्य दैत्योंके मार्ग-(दक्षिण अयन-)में चले गये । (दैत्योंके शासनमें) प्रह्लाद, शम्बर, मय तथा अनुह्लाद—ये सभी दैत्य सभी दिशाओकी रक्षा करने लगे । आकाश भी दैत्योसे रक्षित हो गया । देवगण स्वर्गमे होनेवाले यज्ञोंकी शोभा देखने लगे । सारा संसार प्रकृतिमें स्थित और (व्यवस्थित) हो गया तथा सभी सन्मार्गपर चलने लगे । सर्वत्र पापोंका अभाव और धर्म-भावका उत्कर्ष हो गया ॥ ७—१० ॥

चतुष्पादे स्थिते धर्मे ह्यधर्मे पादविग्रहे ।
प्रजापालनयुक्तेषु भ्राजमानेषु राजसु । स्वधर्मसम्प्रयुक्तेषु तथाश्रमनिवासिषु ॥ ११ ॥
अभिषिक्तो सुरैः सर्वैर्दैत्यराज्ये बलिस्तदा । हृष्टेष्वसुरसंघेषु नदत्सु मुदितेषु च ॥ १२ ॥
अथाभ्युपगता लक्ष्मीर्बलिं पद्मान्तरप्रभा । पद्मोद्यतकरा देवी वरदा सुप्रवेशिनी ॥ १३ ॥

फिर तो धर्म चारों चरणोंसे प्रतिष्ठित हो गया और अधर्म एक ही चरणपर स्थित रह गया। सभी राजा (भलीभाँति) प्रजापालन करते हुए सुशोभित होने लगे और सभी आश्रमोंके लोग अपने-अपने धर्मका पालन करने लगे। ऐसे समयमें असुरोंने बलिको दैत्यराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया। असुरोंका समुदाय हर्षित होकर निनाद (जय-जयकार) करने लगा। इसके बाद कमलके भीतरी गोफाके समान कान्तिवाली वरदायिनी और सुन्दर सुवेशवाली श्रीलक्ष्मीदेवी हाथमें कमल लिये हुए बलिके समीप आयीं ॥ ११-१३ ॥

श्रीरुवाच

बले बलवतां श्रेष्ठ दैत्यराज महाद्युते। प्रीताऽस्मि तव भद्रं ते देवराजपराजये ॥ १४ ॥
यत्त्वया युधि विक्रम्य देवराज्यं पराजितम्। दृष्ट्वा ते परमं सत्त्वं ततोऽहं स्वयमागता ॥ १५ ॥
नाश्चर्यं दानवव्याघ्र हिरण्यकशिपोः कुले। प्रसूतस्यासुरेन्द्रस्य तव कर्मेदमीदृशम् ॥ १६ ॥
विशेषितस्त्वया राजन् दैत्येन्द्रः प्रपितामहः। येन भुक्तं हि निखिलं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ १७ ॥

लक्ष्मीने कहा—बलवानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी दैत्यराज बलि! देवराजके पराजय हो जानेपर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो; क्योंकि तुमने संग्राममें पराक्रम दिखाकर देवोंके राज्यको जीत लिया है। इसलिये तुम्हारे श्रेष्ठ बलको देखकर मैं स्वयं आयी हूँ। दानव! असुरोंके स्वामी! हिरण्यकशिपुके कुलमें उत्पन्न हुए तुम्हारा यह कर्म ऐसा है—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। राजन्! आप दैत्यश्रेष्ठ अपने प्रपितामह हिरण्यकशिपुसे भी विशिष्ट (प्रभावशाली) हैं; क्योंकि आप पूरे तीनों लोकोंमें समृद्ध इस राज्यका भोग कर रहे हैं ॥ १४-१७ ॥

एवमुक्त्वा तु सा देवी लक्ष्मीर्दैत्यनृपं बलिम्। प्रविष्टा वरदा सेव्या सर्वदेवमनोरमा ॥ १८ ॥
तुष्टाश्च देव्यः प्रवराः ह्रीः कीर्तिर्द्युतिरेव च। प्रभा धृतिः क्षमा भूतिर्ऋद्धिर्दिव्या महामतिः ॥ १९ ॥
श्रुतिः स्मृतिरिडा कीर्तिः शान्तिः पुष्टिस्तथा क्रिया। सर्वाश्चाप्सरसो दिव्या नृत्तगीतविशारदाः ॥ २० ॥
प्रपद्यन्ते स्म दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यं सचराचरम्। प्राप्तमैश्वर्यमतुलं बलिना ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

दैत्यराज बलिसे ऐसा कहनेके बाद सर्वदेवस्वरूपिणी एवं मनोहर रूपवाली सबकी सेव्य एवं (सबको) वर देनेवाली श्रीलक्ष्मी देवी राजा बलिमें प्रविष्ट हो गयीं। तब सभी श्रेष्ठ देवियाँ—ह्री, कीर्ति, द्युति, प्रभा, धृति, क्षमा, भूति, ऋद्धि, दिव्या, महामति, श्रुति, स्मृति, इडा, कीर्ति, शान्ति, पुष्टि, क्रिया और नृत्त-गीतमें निपुण दिव्य अप्सराएँ भी प्रसन्न होकर दैत्येन्द्र-(बलि-)का सेवन करने लगीं। इस प्रकार ब्रह्मवादी बलिने चर-अचरवाले त्रिलोकीका अतुल ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया ॥ १८-२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

[अथ चतुर्विंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

देवानां ब्रूहि नः कर्म यदूवृत्तास्ते पराजिताः। कथं देवाधिदेवोऽसौ विष्णुर्वामनतां गतः ॥ १ ॥

चौबीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामन-चरितके उपक्रममें देवताओंका कश्यपजीके साथ ब्रह्मलोकमें जाना)

ऋषियोंने कहा—आप हमें यह बतलायें कि देवताओंने कौन-सा कर्म किया, जिससे प्रभावित होकर वे (दैत्य) पराजित हुए तथा देवाधिदेव भगवान् विष्णु वामन (बौना) कैसे बने ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

बलिसंस्थं च त्रैलोक्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः। मेरुप्रस्थं ययौ शक्रः स्वमातुर्निलयं शुभम् ॥ २ ॥
समीपं प्राप्य मातुश्च कथयामास तां गिरम्। आदित्याश्च यथा युद्धे दानवेन पराजिताः ॥ ३ ॥

लोमहर्षणने कहा (उत्तर दिया)—इन्द्रदेवने जब तीनों लोकोंको बलिके अधिकारमें देखकर मेरु (पर्वत) पर स्थित (रहनेवाली) अपनी कल्याणमयी माताके घर गये और माताके समीप पहुँचकर उन्होंने उनसे वह सारी बात कही, जिस प्रकार देवगण, युद्धमें दानव बलिके द्वारा पराजित हुए थे ॥ २–३ ॥

अदितिरुवाच

यद्येवं पुत्र युष्माभिर्न शक्यो हन्तुमाहवे। बलिर्विरोचनसुतः सर्वैश्चैव मरुद्गणैः ॥ ४ ॥
सहस्रशिरसा शक्यः केवलं हन्तुमाहवे। तेनैकेन सहस्राक्ष न स ह्यन्येन शक्यते ॥ ५ ॥
तद्वत् पृच्छामि पितरं कश्यपं ब्रह्मवादिनम्। पराजयार्थं दैत्यस्य बलेस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

माता अदितिने कहा—पुत्र ! यदि ऐसी बात है तो तुमलोग सम्पूर्ण मरुद्गणोंके साथ मिलकर भी संग्राममें विरोचनके पुत्र बलिको नहीं मार सकते। सहस्राक्ष ! युद्धमें केवल हजारों सिरवाले (सहस्रशीर्ष) भगवान् विष्णु ही (उसे) मार सकते हैं। उनके सिवा किसी दूसरेसे वह नहीं मारा जा सकता। इस विषयमें उस महान् आत्मा (महाबलवान्) बलिनामक दैत्यकी पराजयके लिये मैं तुम्हारे पिता ब्रह्मवादी कश्यपजीसे भी (उपाय) पूछूँगी ॥ ४–६ ॥

ततोऽदित्या सह सुराः सम्प्राप्ताः कश्यपान्तिकम्। तत्रापश्यन्त मारीचं मुनिं दीप्ततपोनिधिम् ॥ ७ ॥
आद्यं देवगुरुं दिव्यं प्रदीप्तं ब्रह्मवर्चसा। तेजसा भास्कराकारं स्थितमग्निशिखोपमम् ॥ ८ ॥
न्यस्तदण्डं तपोयुक्तं बद्धकृष्णाजिनाम्बरम्। वल्कलाजिनसंवीतं प्रदीप्तमिव तेजसा ॥ ९ ॥
हुताशमिव दीप्यन्तमाज्यगन्धपुरस्कृतम्। स्वाध्यायवन्तं पितरं वपुष्मन्तमिवानलम् ॥ १० ॥
ब्रह्मवादिसत्यवादिसुरासुरगुरुं प्रभुम्। ब्राह्मण्याऽप्रतिमं लक्ष्म्या कश्यपं दीप्ततेजसम् ॥ ११ ॥

इसके बाद माता अदितिके साथ सभी देवता कश्यपजीके पास पहुँच गये। वहाँ (जाकर उन लोगोंने) तपस्याके धनी, मरीचिके पुत्र, आद्य एवं दिव्य पुरुष, देवताओंके गुरु, ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान और अपने तेजसे सूर्यके समान तेजस्वी, अग्निशिखाकी भाँति दीप्त, दण्डादिसे दूर, तपोयुक्त वल्कल तथा मृगचर्म धारण किये हुए (आहुतिके) घीकी गन्धसे आप्यायित (वासित) अग्निके समान प्रदीप्त, स्वाध्यायमें लगे हुए मानो शरीरधारी अग्नि ही हो एवं ब्रह्मवादी, सत्यवादी देवो तथा दानवोंके गुरु, अनुपम ब्रह्मतेजसे पूर्ण एवं शोभासे दीप्त कश्यपजीको देखा ॥ ७–११ ॥

यः स्रष्टा सर्वलोकानां प्रजानां पतिरुत्तमः। आत्मभावविशेषेण तृतीयो यः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
अथ प्रणम्य ते वीराः सहादित्या सुरर्षभाः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माणमिव मानसाः ॥ १३ ॥
अजेयो युधि शक्रेण बलिर्दैत्यो बलाधिकः। तस्माद् विधत्त नः श्रेयो देवानां पुष्टिवर्धनम् ॥ १४ ॥
श्रुत्वा तु वचनं तेषां पुत्राणां कश्यपः प्रभुः। अकरोद् गमने बुद्धिं ब्रह्मलोकाय लोककृत् ॥ १५ ॥

वे (देवताओंके पिता श्रीकश्यपजी) सभी लोकोंके रचनेवाले, श्रेष्ठ प्रजापति एवं आत्मभाव अर्थात् अध्यात्मतत्त्वकी विज्ञताकी विशिष्टताके कारण ऐसे लग रहे थे, जैसे तीसरे प्रजापति ही हैं। फिर अदितिके साथ समस्त देववीर उन्हें प्रणाम कर उनसे हाथ जोड़कर ऐसे बोले, जैसे ब्रह्मासे उनके मानस-पुत्र बोलते हैं। (देवताओंने

कहा—) 'बलशाली दैत्यराज बलि युद्धमे इन्द्रसे अपराजेय हो गया है। अत. हम देवोंके सामर्थ्यकी पुष्टि-वृद्धिके लिये आप कल्याणकारी उपाय करे।' उन पुरुषोंकी बाते सुनकर लोकोंको रचनेवाले सामर्थ्यशाली कश्यपने ब्रह्मलोकमें जानेका विचार किया ॥ १२—१५ ॥

कश्यप उवाच

शक्र गच्छाम सदनं ब्रह्मणः परमाद्भुतम्। तथा पराजयं सर्वे ब्रह्मणः ख्यातुमुद्यताः ॥ १६ ॥
सहादित्या ततो देवा याताः काश्यपमाश्रमम्। प्रस्थिता ब्रह्मसदनं महर्षिगणसेवितम् ॥ १७ ॥
ते मुहूर्तेन सम्प्राप्ता ब्रह्मलोकं सुवर्चसः। दिव्यैः कामगमैर्यानैर्यथार्हैस्ते महाबलाः ॥ १८ ॥
ब्रह्माणं द्रष्टुमिच्छन्तस्तपोराशिनमव्ययम्। अध्यगच्छन्त विस्तीर्णां ब्रह्मणः परमां सभाम् ॥ १९ ॥

(फिर) **कश्यपने कहा**—इन्द्र ! हम सभी अपनी पराजयकी बात ब्रह्माजीसे कहनेके लिये तैयार होकर उनके परम अद्भुत लोकको चले। कश्यपके इस प्रकार कहनेपर अदितिके साथ कश्यपके आश्रममें आये हुए सभी देवताओंने महर्षिगणोसे सेवित ब्रह्मसदनकी ओर प्रस्थान किया। यथायोग्य इच्छाके अनुसार चलनेवाले दिव्य यानोंसे महाबली एवं तेजस्वी वे सभी देवता क्षणमात्रमें ही ब्रह्मलोकमें पहुँच गये और तब वे लोग तपोराशि अव्यय ब्रह्माको देखनेकी इच्छा करते हुए ब्रह्माकी विशाल परम श्रेष्ठ सभामे पहुँचे ॥ १६—१९ ॥

षट्पदोद्गीतमधुरां सामगैः समुदीरिताम्। श्रेयस्करीममित्रघ्नीं दृष्ट्वा संजहृषुस्तदा ॥ २० ॥
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रोक्ताः क्रमपदाक्षराः। शुश्रुवुर्विबुधव्याघ्रा विततेषु च कर्मसु ॥ २१ ॥
यज्ञविद्यावेदविदः पदक्रमविदस्तथा। स्वरेण परमर्षीणां सा बभूव प्रणादिता ॥ २२ ॥
यज्ञसंस्तवविद्भिश्च शिक्षाविद्भिस्तथा द्विजैः। छन्दसां चैव चार्थज्ञैः सर्वविद्याविशारदैः ॥ २३ ॥
लोकायतिकमुख्यैश्च शुश्रुवुः स्वरमीरितम्। तत्र तत्र च विप्रेन्द्रा नियताः शंसितव्रताः ॥ २४ ॥
जपहोमपरा मुख्या ददृशुः कश्यपात्मजाः। तस्यां सभायामास्ते स ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २५ ॥

वे (देवतालोग) भ्रमरोकी गुञ्जारसे गुञ्जित, सामगानसे मुखरित, कल्याणकी विधायिका और शत्रुओका विनाश करनेवाली उस सभाको देखकर प्रसन्न हो गये। (उस स्थानपर) उन श्रेष्ठ देवगणोंने विस्तृत (विशाल) अनेक कर्मानुष्ठानोके समय श्रेष्ठ ऋग्वेदियोके द्वारा 'क्रमपदादि' (वेद पढनेकी विशिष्ट शैलियोसे) उच्चरित ऋचाओं -(वेदमन्त्रो-)को सुना। वह सभा यज्ञविद्याके ज्ञाता एवं 'पदक्रम' प्रभृति वेदपाठके ज्ञानवाले परमर्षियोंके उच्चारणकी ध्वनिसे प्रतिध्वनित हो रही थी। देवोने वहाँ यज्ञके संस्तवोंके ज्ञाताओ, शिक्षाविदो और वेदमन्त्रोंके अर्थ जाननेवाले, समस्त विद्याओमें पारंगत द्विजो एवं श्रेष्ठ लोकायतिकोंके (चार्वाकके मतानुयायियो-) द्वारा उच्चरित स्वरको भी सुना। कश्यपके पुत्रोने वहाँ सर्वत्र नियमपूर्वक तीर्थ-व्रतको धारण करनेवाले जप-होम करनेमें लगे हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको देखा। उसी सभामे लोक-पितामह ब्रह्मा विराजमान थे ॥ २०—२५ ॥

सुरासुरगुरुः श्रीमान् विद्यया वेदमायया। उपासन्त च तत्रैव प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥ २६ ॥
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिश्च द्विजोत्तमाः। भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमो नारदस्तथा ॥ २७ ॥
विद्यास्तथान्तरिक्षं च वायुस्तेजो जलं मही। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २८ ॥
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं महत्। साङ्गोपाङ्गाश्च चत्वारो वेदा लोकपतिस्तथा ॥ २९ ॥
नयाश्च क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च। एते चान्ये च बहवः स्वयम्भुवमुपासते ॥ ३० ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च क्रोधो हर्षश्च नित्यशः। शुक्रो बृहस्पतिश्चैव संवर्तोऽथ बुधस्तथा ॥ ३१ ॥
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः। मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्च द्विजोत्तमाः ॥ ३२ ॥
दिवाकरश्च सोमश्च दिवा रात्रिस्तथैव च। अर्द्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च संस्थिताः ॥ ३३ ॥

(उस) सभामें वेदमाया विद्यासे सम्पन्न, सुरों एवं असुरोंके गुरु (श्रीमान् ब्रह्माजी) भी उपस्थित थे। प्रजापतिगण उन (प्रभुता-सम्पन्न) प्रभुकी उपासना कर रहे थे। द्विजोत्तमो ! दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम और नारद एवं सभी विद्याएँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, एवं प्रकृति, विकृति, अन्यान्य महत् कारण, अङ्गों एवं उपाङ्गोंके साथ चारों वेद और लोकपति, नीति, यज्ञ, संकल्प, प्राण—ये तथा अन्यान्य देव, ऋषि, भूत, तत्त्वादि ब्रह्माकी उपासना कर रहे थे। द्विजश्रेष्ठो ! अर्थ, धर्म, काम, क्रोध, हर्ष, शुक्र, बृहस्पति, संवर्त्त, बुध, शनैश्चर और राहु आदि सभी ग्रह भी वहाँ यथास्थान बैठे थे। मरुद्गण, विश्वकर्मा, वसु, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात्रि, पक्ष, मास तथा छः ऋतुएँ भी वहाँ उपस्थित थीं ॥२६–३३॥

तां प्रविश्य सभां दिव्यां ब्रह्मणः सर्वकामिकाम्। कश्यपस्त्रिदशैः सार्द्धं पुत्रैर्धर्मभृतां वरः ॥ ३४ ॥
सर्वतेजोमयीं दिव्यां ब्रह्मर्षिगणसेविताम्। ब्राह्म्या श्रिया सेव्यमानामचिन्त्यां विगतक्लमाम् ॥ ३५ ॥
ब्रह्माणं प्रेक्ष्य ते सर्वे परमासनमास्थितम्। शिरोभिः प्रणता देवं देवा ब्रह्मर्षिभिः सह ॥ ३६ ॥
ततः प्रणम्य चरणौ नियताः परमात्मनः। विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः शान्ता विगतकल्मषाः ॥ ३७ ॥
दृष्ट्वा तु तान् सुरान् सर्वान् कश्यपेन सहागतान्। आह ब्रह्मा महातेजा देवानां प्रभुरीश्वरः ॥ ३८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

धार्मिकोंमें श्रेष्ठ कश्यपने अपने पुत्र देवताओंके साथ ब्रह्माकी उस सर्वमनोरथमयी, सर्वतेजोमयी, दिव्य एवं ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित तथा ब्राह्मी (ब्रह्म-विचारमयी) श्रीसरस्वतीकी शोभासे सेवित अचिन्त्य तथा श्रम रहित सभामें प्रवेश किया। तब उनके साथमें गये सभी देवताओंने श्रेष्ठ आसनपर विराजमान ब्रह्माजीको देखा और उन्हें ब्रह्मर्षियोंके साथ झुककर सिरसे प्रणाम किया। नियमका पालन करनेवाले वे सभी परमात्माके चरणोंमें प्रणाम कर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर निर्मल एवं शान्त हो गये। (फिर) महान् तेजस्वी देवेश्वर ब्रह्माने कश्यपके साथ आये हुए उन सभी देवताओंको देखकर (इस प्रकार) कहा—॥ ३४–३८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

[अथ पञ्चविंशोऽध्यायः]

ब्रह्मोवाच

यदर्थमिह सम्प्राप्ता भवन्तः सर्व एव हि। चिन्तयाम्यहमप्यग्रे तदर्थं च महाबलाः ॥ १ ॥
भविष्यति च वः सर्वं काङ्क्षितं यत् सुरोत्तमाः। बलेर्दानवमुख्यस्य योऽस्य जेता भविष्यति ॥ २ ॥
न केवलं सुरादीनां गतिर्मम स विश्वकृत्। त्रैलोक्यस्यापि नेता च देवानामपि स प्रभुः ॥ ३ ॥
यः प्रभुः सर्वलोकानां विश्वेशश्च सनातनः। पूर्वजोऽयं सदाप्याहुरादिदेवं सनातनम् ॥ ४ ॥

पचीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामन-चरितके संदर्भमें ब्रह्माका उपदेश, तदनुसार देवोंका श्वेतद्वीपमें तपस्या करना)

ब्रह्माने कहा—महाबलशाली देवगण ! आपलोग जिस उद्देश्यसे यहाँ आये हैं, उसके विषयमें मैं पहलेसे ही सोच रहा हूँ। सुरश्रेष्ठ ! आपलोगोंको जो अभिलषित है, वह पूर्ण होकर रहेगा। दानवोंमें प्रधान बलिको पराजित करनेवाले एवं विश्वको रचनेवाले (परमात्मा) न केवल (आप सब) देवोंके, प्रत्युत हमारे भी सहारे हैं। वे तीनों लोकोंके स्वामी तथा देवोंके भी शासक हैं। इन्हें ही सनातन आदिदेव भी कहते हैं ॥ १–४ ॥

तं देवापि महात्मानं न विदुः कोऽप्यसाविति। देवानस्मान् श्रुतिं विश्वं स वेत्ति पुरुषोत्तमः॥ ५॥
तस्यैव तु प्रसादेन प्रवक्ष्ये परमां गतिम्। यत्र योगं समास्थाय तपश्चरति दुश्चरम्॥ ६॥
क्षीरोदस्योत्तरे कूले उदीच्यां दिशि विश्वकृत्। अमृतं नाम परमं स्थानमाहुर्मनीषिणः॥ ७॥
भवन्तस्तत्र वै गत्वा तपसा शंसितव्रताः। अमृतं स्थानमासाद्य तपश्चरत दुश्चरम्॥ ८॥

उन महान् आत्मा-(सनातन आदिदेव-)को देवता लोग भी वास्तवरूपमें नहीं जानते कि वे कौन हैं; परंतु वे पुरुषोत्तम (समस्त) देवोंको, मुझे तथा श्रुति (वेद) एवं समस्त विश्वको जानते हैं (संसारके समस्त क्रिया-कलाप उनकी जानकारीमें ही होते हैं; वे सर्वज्ञ हैं) । उन्हींके कृपा-प्रसादसे (आपलोगोंको) मैं अत्यन्त श्रेष्ठ उपाय बतलाता हूँ। (आपलोग सुनें।) आप सभी उत्तर-दिशामें क्षीरसागरके उत्तरी तटपर स्थित उस स्थानपर जाइये जिसे विचारशील विद्वान् लोग (अमृत) नामसे उच्चारित करते हैं। विश्वकी रचना करनेवाले (परमात्मा) वहीं योगधारणामें स्थित होकर कठिन तपस्या कर रहे हैं। आप सभी लोग उस अमृत नामक स्थानपर जायँ और आलस्यरहित होकर आपलोग भी लक्ष्य सिद्धिके लिये वहाँ कठिन तपस्या प्रारम्भ कर दें॥५—८॥

ततः श्रोष्यथ संघुष्टां स्निग्धगम्भीरनिःस्वनाम्। उष्णान्ते तोयदस्येव तोयपूर्णस्य निःस्वनम्॥ ९॥
रक्तां पुष्टाक्षरां रम्यामभयां सर्वदा शिवाम्। वाणीं परमसंस्कारां वदतां ब्रह्मवादिनाम्॥ १०॥
दिव्यां सत्यकरीं सत्यां सर्वकल्मषनाशिनीम्। सर्वदेवाधिदेवस्य ततोऽसौ भावितात्मनः॥ ११॥
तस्य व्रतसमाप्त्यां तु योगव्रतविसर्जने। अमोघं तस्य देवस्य विश्वतेजो महात्मनः॥ १२॥
कस्य किं वो वरं देवा ददामि वरदः स्थितः। स्वागतं वः सुरश्रेष्ठा मत्समीपमुपागताः॥ १३॥

व्रतकी समाप्ति हो जानेके बाद योगव्रतकी समाप्तिके अवसरपर आपलोग ग्रीष्मके अन्तमें महान्-आत्मा, भावितात्मा देवाधिदेवकी शब्दरूपिणी, स्निग्ध-गम्भीर ध्वनिवाली, प्रेमसे भरी हुई शुद्ध और स्पष्ट अक्षरोंसे युक्त मनोहर एवं निर्भयताकी सूचना देनेवाली, सर्वदा मङ्गलमयी, उच्च स्वरसे अध्ययन करनेवाले ब्रह्मवादियोंकी वाणीके समान स्पष्ट, उत्तम संस्कारसे युक्त, दिव्य, सत्य-स्वरूपिणी, सत्यताकी ओर उन्मुख होनेके लिये प्रेरणा देनेवाली और पापोंको नष्ट करनेवाली जलसे पूर्ण मेघके गर्जनके समान अमोघ गभीर वाणीको सुनेंगे। 'सुरश्रेष्ठो! आपलोग मेरे पास आये, आपलोगोंका स्वागत है। मैं (आपलोगोंको) वरदान देनेके लिये आप सबके समक्ष स्थित हूँ कहो—किसे कौन-सा वर दूँ' ॥ ९—१३॥

ततोऽदितिः कश्यपश्च गृह्णीयातां वरं तदा। प्रणम्य शिरसा पादौ तस्मै देवाय धीमते॥ १४॥
भगवानेव नः पुत्रो भवत्विति प्रसीद नः। उक्तश्च परया वाचा तथाऽस्त्विति स वक्ष्यति॥ १५॥
देवा ब्रुवन्ति ते सर्वे कश्यपोऽदितिरेव च।
तथास्त्विति सुराः सर्वे प्रणम्य शिरसा प्रभुम्। श्वेतद्वीपं समुद्दिश्य गताः सौम्यदिशं प्रति॥ १६॥
तेऽचिरेणैव संप्राप्ताः क्षीरोदं सरितां पतिम्। यथोद्दिष्टं भगवता ब्रह्मणा सत्यवादिना॥ १७॥

(और, जब भगवान् इस प्रकार वरदान देनेके लिये उपस्थित होंगे) तब अदिति एवं कश्यप उन प्रज्ञावान् प्रभुके चरणोंमें झुककर सिरसे प्रणाम और वरकी याचना करें कि '(आप) भगवान् ही हमारे पुत्र बनें; इसके लिये आप हमारे ऊपर प्रसन्न हों' तब वे ब्रह्मवाणीके द्वारा 'ऐसा ही हो'—यह कहेंगे। (इस प्रकार संकेत निर्देश पाकर) कश्यप, अदिति एवं सभी देवताओंने 'ऐसा ही हो'—यह कहकर प्रभु-(ब्रह्मा-)को सिरसे

प्रणाम किया और श्वेतद्वीपकी ओर लक्ष्य करके उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया। वे अत्यन्त शीघ्रतासे सत्य-प्रवक्ता भगवान् ब्रह्माके द्वारा निर्दिष्ट की गयी व्यवस्थाके अनुसार क्षीरसागरके तटपर पहुँच गये ॥ १४-१७ ॥

ते क्रान्ताः सागरान् सर्वान् पर्वतांश्च सकाननान्। नदीश्च विविधा दिव्याः पृथिव्यां ते सुरोत्तमाः॥ १८ ॥
अपश्यन्त तमो घोरं सर्वसत्त्वविवर्जितम्। अभास्करममर्यादं तमसा सर्वतो वृतम् ॥ १९ ॥
अमृतं स्थानमासाद्य कश्यपेन महात्मना। दीक्षिताः कामदं दिव्यं व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥ २० ॥
प्रसादार्थं सुरेशाय तस्मै योगाय धीमते। नारायणाय देवाय सहस्राक्षाय भूतये ॥ २१ ॥
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्थाने वीरासनेन च। क्रमेण च सुराः सर्वे तप उग्रं समास्थिताः ॥ २२ ॥
कश्यपस्तत्र भगवान् प्रसादार्थं महात्मनः। उदीरयत वेदोक्तं यमाहुः परमं स्तवम् ॥ २३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

उन देववरोंने पृथ्वीके सभी समुद्रों, वनसे भरे हुए पर्वतों एवं भाँति-भाँतिकी दिव्य नदियोंको पार किया। उसके बाद (उसके आगे) उन लोगोंने ऐसे स्थानको देखा, जहाँ न कोई प्राणी था, न सूर्यका प्रकाश ही था; प्रत्युत चारों ओर घनघोर अन्धकार था, जिसमें सीमा मालूम ही नहीं होती थी। इस प्रकारके उस 'अमृत' नामक स्थानपर पहुँचकर महात्मा कश्यपने प्रज्ञा-सम्पन्न योगी, देवेश्वर, कल्याणकी मूर्ति, सहस्रचक्षु नारायणदेवकी प्रसन्नताकी प्राप्तिके उद्देश्यसे (देवताओंको) सहस्रवार्षिक (हजारों वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले) दिव्य (देव-सम्बन्धी) इच्छापूर्ण करनेवाले कामद व्रतकी दीक्षा दी। फिर वे सभी देवता क्रमशः अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर और मौन धारणकर उचित स्थानपर वीरासनसे बैठकर कठोर तपस्या करने लगे। वहाँ भगवान् कश्यपने महात्मा विष्णुको प्रसन्न करनेके लिये वेदमें कहे हुए स्तवका (सूक्त या स्तोत्रका) स्पष्ट वाणीमें पाठ किया, जिसे 'परमस्तव' कहते हैं ॥ १८-२३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

[अथ षड्विंशोऽध्यायः]

कश्यप उवाच

नमोऽस्तु ते देवदेव एकशृङ्ग वृषार्च्चे सिन्धुवृष वृषाकपे सुरवृष अनादिसम्भव रुद्र कपिल विष्वक्सेन सर्वभूतपते ध्रुव धर्माधर्म वैकुण्ठ वृषावर्त्त अनादिमध्यनिधन धनंजय शुचिश्रवः पृश्नितेजः निजजय अमृतेशय सनातन त्रिधाम तुषित महातत्त्व लोकनाथ पद्मनाभ विरिञ्चे बहुरूप अक्षय अक्षर हव्यभुज खण्डपरशो शक्र मुञ्जकेश हंस महादक्षिण हृषीकेश सूक्ष्म महानियमधर विरज लोकप्रतिष्ठ अरूप अग्रज धर्मज धर्मनाभ गभस्तिनाभ शतक्रतुनाभ चन्द्ररथ सूर्यतेजः समुद्रवासः अजः सहस्रशिरः सहस्रपाद अधोमुख महापुरुष पुरुषोत्तम सहस्रबाहो सहस्रमूर्ते सहस्रास्य सहस्रसंभव सहस्रसत्त्वं त्वामाहुः। पुष्पहास चरम त्वमेव वौषट् वषट्कारं त्वामाहुरग्र्यं मखेषु प्राशितारं सहस्रधारं च भूश्च भुवश्च स्वश्च त्वमेव वेदवेद्य ब्रह्मशय ब्राह्मणप्रिय त्वमेव द्यौरसि मातरिश्वाऽसि धर्मोऽसि होता पोता मन्ता नेता होमहेतुस्त्वमेव अग्र्य विश्वधाम्ना त्वमेव दिग्भिः सुभाण्ड इज्योऽसि सुमेधोऽसि समिधस्त्वमेव मतिर्गति-र्दाता त्वमसि। मोक्षोऽसि योगोऽसि। सृजसि। धाता परमयज्ञोऽसि सोमोऽसि दीक्षितोऽसि दक्षिणाऽसि विश्वमसि। स्थविर हिरण्यनाभ नारायण त्रिनयन आदित्यवर्ण आदित्यतेजः महापुरुष पुरुषोत्तम आदिदेव

सुविक्रम प्रभाकर शम्भो स्वयंभो भूतादिः महाभूतोऽसि विश्वभूत विश्वं त्वमेव विश्वगोप्ताऽसि पवित्रमसि विश्वभव ऊर्ध्वकर्म अमृत दिवस्पते वाचस्पते घृतार्चे अनन्तकर्म वंश प्राग्वंश विश्वपास्त्वमेव ।

वरार्थिनां वरदोऽसि त्वम् ।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च । हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तुभ्यं होत्रात्मने नमः ॥ १ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

छब्बीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कश्यप-द्वारा भगवान् वामनकी स्तुति)

कश्यपने कहा—देवदेव, एकशृङ्ग, वृषार्चि (नन्दीद्वारा पूजित), सिन्धुवृष, वृषाकपि, सुरवृष (देवश्रेष्ठ), अनादिसम्भव, रुद्र, कपिल विष्वक्सेन, सर्वभूतपति, ध्रुव, धर्माधर्म, वैकुण्ठ, वृषावर्त्त, अनादिमध्यनिधन, धनञ्जय,, शुचिश्रव, पृश्नितेज, निजजय, अमृतेशय, सनातन, त्रिधाम, तुषित, महातत्त्व, लोकनाथ, पद्मनाभ, विरिञ्चि, बहुरूप, अक्षय, अक्षर, हव्यभुज, खण्डपरशु, शक्र, मुञ्जकेश, हंस, महादक्षिण, हृषीकेश, सूक्ष्म, महानियमधर, विरज, लोकप्रतिष्ठ, अरूप, अग्रज, धर्मज, धर्मनाभ, गभस्तिनाभ (सभी तेजोंके मूल), शतक्रतुनाभ, चन्द्ररथ, सूर्यतेज, समुद्रवास, अज, सहस्रशिर, सहस्रपाद, अधोमुख, महापुरुष, पुरुषोत्तम, सहस्रबाहु, सहस्रमूर्त्ति, सहस्रास्य, सहस्रसम्भव ! मेरा आपके चरणोंमें नमस्कार है । (आपके भक्तजन) आपको सहस्रसत्त्व कहते है । (खिले हुए पुष्पके समान मधुर मुसकानवाले) पुष्पहास, चरम (सर्वोत्तम) ! लोग आपको ही वौषट् एवं वषट्कार कहते हैं । आप ही अग्र्य, (सर्वश्रेष्ठ) यज्ञोंमें प्राशिता (भोक्ता) हैं; सहस्रधार, भूः, भुवः एवं स्वः हैं । आप ही वेदवेद्य (वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य), ब्रह्मशय, ब्राह्मणप्रिय (अग्निके प्रेमी), द्यौः (आकाशके समान सर्वव्यापी), मातरिश्वा (वायुके समान गतिमान्), धर्म, होता, पोता (विष्णु), मन्ता, नेता एवं होमके हेतु हैं । आप ही विश्वतेजके द्वारा अग्र्य (सर्वश्रेष्ठ) हैं और दिशाओंके द्वारा सुभाण्ड (विस्तृत पात्ररूप) हैं अर्थात् दिशाएँ आपमें समाविष्ट हैं । आप (यजन करने योग्य) इज्य, सुमेध, समिधा, मति, गति एवं दाता हैं । आप ही मोक्ष, योग स्रष्टा (सृष्टि करनेवाले), धाता (धारण और पोषण करनेवाले), परमयज्ञ, सोम, दीक्षित, दक्षिणा एवं विश्व हैं । आप ही स्थविर, हिरण्यनाभ, नारायण, त्रिनयन, आदित्यवर्ण, आदित्यतेज, महापुरुष, पुरुषोत्तम, आदिदेव, सुविक्रम, प्रभाकर, शम्भु, स्वयम्भू, भूतादि, महाभूत, विश्वभूत एवं विश्व हैं । आप ही संसारकी रक्षा करनेवाले, पवित्र, विश्वभव,-विश्वकी सृष्टि करनेवाले, ऊर्ध्वकर्म (उत्तमकर्मा), अमृत (कभी भी मृत्युको न प्राप्त होनेवाले), दिवस्पति, वाचस्पति, घृतार्चि, अनन्तकर्म, वंश, प्राग्वंश, विश्वपा (विश्वका पालन करनेवाले) तथा वरद-वर चाहनेवालोंके लिये वरदानी हैं ।

चार (आश्रावय), चार (अस्तु श्रौषट्), दो (यज) तथा पाँच (ये यजामहे) और पुनः दो (वषट्) अक्षरों—इस प्रकार ४+४+२+५+२=१७ अक्षरोंसे—जिसके लिये अग्निहोत्र किया जाता है, उन आप होत्रात्माको नमस्कार है ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

[अथ सप्तविंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

नारायणस्तु भगवाञ्श्रुत्वैवं परमं स्तवम्। ब्रह्मज्ञेन द्विजेन्द्रेण कश्यपेन समीरितम् ॥ १ ॥
उवाच वचनं सम्यक् तुष्टः पुष्टपदाक्षरम्। श्रीमान् प्रीतमना देवो यद्वदेत् प्रभुरीश्वरः ॥ २ ॥
वरं वृणुध्वं भद्रं वो वरदोऽस्मि सुरोत्तमाः।

कश्यप उवाच

प्रीतोऽसि नः सुरश्रेष्ठ सर्वेषामेव निश्चयः ॥ ३ ॥
वासवस्यानुजो भ्राता ज्ञातीनां नन्दिवर्धनः। अदित्या अपि च श्रीमान् भगवानस्तु वै सुतः ॥ ४ ॥
अदितिर्देवमाता च एतमेवार्थमुत्तमम्। पुत्रार्थं वरदं प्राह भगवन्तं वरार्थिनी ॥ ५ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् नारायणसे देवों और कश्यपकी प्रार्थना. अदितिकी तपस्या और प्रभुसे प्रार्थना)

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी द्विजश्रेष्ठ कश्यपने विष्णुकी उत्तम स्तुति की; उसे सुनकर प्रसन्न होकर सामर्थ्यशाली एवं ऐश्वर्यसम्पन्न नारायणने अत्यन्त संतुष्ट होकर प्रसन्न मनसे सुसंस्कृत शब्दों एवं अक्षरोंवाला समयानुकूल उचित वचन कहा—श्रेष्ठ देवताओ! वर माँगो। तुम सबका कल्याण हो; मैं तुम लोगोंको (इच्छित) वर दूँगा।

कश्यपने कहा—सुरश्रेष्ठ! यदि आप हम सबपर प्रसन्न हैं तो हम सभीका यह निश्चय है कि श्रीमान् भगवान् आप स्वयं इन्द्रके छोटे भाईके रूपमें अदितिके कुटुम्बियोंके आनन्द बढ़ानेवाले पुत्र बनें। वरकी याचना करनेवाली देवमाता अदितिने भी वरदानी भगवान्‌से पुत्रकी प्राप्तिके लिये अपने इसी उत्तम अभिप्रायको प्रकट किया—कहा ॥ १-५ ॥

देवा ऊचुः

निःश्रेयसार्थं सर्वेषां दैवतानां महेश्वर। त्राता भर्त्ता च दाता च शरणं भव नः सदा ॥ ६ ॥
ततस्तानब्रवीद्विष्णुर्देवान् कश्यपमेव च।
सर्वेषामेव युष्माकं ये भविष्यन्ति शत्रवः। मुहूर्त्तमपि ते सर्वे न स्थास्यन्ति ममाग्रतः ॥ ७ ॥
हत्वाऽसुरगणान् सर्वान् यज्ञभागाग्रभोजिनः। हव्यादांश्च सुरान् सर्वान् कव्यादांश्च पितॄनपि ॥ ८ ॥
करिष्ये विबुधश्रेष्ठाः पारमेष्ठ्येन कर्मणा। यथायातेन मार्गेण निवर्तध्वं सुरोत्तमाः ॥ ९ ॥

(अदितिके अभिप्रायको जानकर) देवताओंने कहा—महेश्वर! सभी देवताओंके परम कल्याणके लिये आप हम सबकी सदा रक्षा करनेवाले, पालन-पोषण करनेवाले, दान देनेवाले एवं आश्रय बनें। इसके बाद भगवान् विष्णुने उन देवताओंसे तथा कश्यपसे कहा कि आप सभीके जितने भी शत्रु होंगे, वे सभी मेरे सम्मुख क्षणमात्र भी नहीं टिक सकेंगे। देवश्रेष्ठो! परमेष्ठी (ब्रह्मा)के द्वारा विधान किये गये कर्मोंके द्वारा मैं समस्त असुरोंको मारकर देवताओंको यज्ञभागके सर्वप्रथम भाग ग्रहण करनेवाले अधिकारी एवं हव्यभोक्ता और पितरोंको कव्यभोक्ता बनाऊँगा। सुरोत्तमो! अब आपलोग जिस मार्गसे आये हैं, उसी मार्गसे वापस लौट जायँ ॥ ६-९ ॥

लोमहर्षण उवाच

एवमुक्ते तु देवेन विष्णुना प्रभविष्णुना। ततः प्रहृष्टमनसः पूजयन्ति स्म तं प्रभुम् ॥ १० ॥
विश्वेदेवा महात्मानः कश्यपोऽदितिरेव च। नमस्कृत्य सुरेशाय तस्मै देवाय रंहसा ॥ ११ ॥
प्रयाताः प्राग्दिशं सर्वे विपुलं कश्यपाश्रमम्। ते कश्यपाश्रमं गत्वा कुरुक्षेत्रवनं महत् ॥ १२ ॥
प्रसाद्य ह्यदितिं तत्र तपसे तां न्ययोजयन्। सा चचार तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ १३ ॥

लोमहर्षणने कहा—प्रभावशाली भगवान् विष्णुने जब ऐसा कहा, तब महात्मा देवगण, कश्यप एवं अदितिने प्रसन्न-चित्तसे उन प्रभुका पूजन किया एवं देवेश्वरको नमस्कार करनेके बाद पूर्व दिशामें स्थित कश्यपके विस्तृत आश्रमकी ओर शीघ्रतासे चल पड़े। जब देवगण कुरुक्षेत्र-वनमें स्थित महान् आश्रममें पहुँचे, तब लोगोंने अदितिको प्रसन्नकर उसे तपस्या करनेके लिये प्रेरित किया। (फिर) उन देवीने दस हजार वर्षोंतक वहाँ कठिन तपस्या की॥ १०—१३॥

तस्या नाम्ना वनं दिव्यं सर्वकामप्रदं शुभम्। आराधनाय कृष्णस्य वाग्जिता वायुभोजना॥ १४॥
दैत्यैर्निराकृतान् दृष्ट्वा तनयानृषिसत्तमाः।
वृथापुत्राऽहमिति सा निर्वेदात् प्रणयाद्धरिम्। तुष्टाव वाग्भिरग्र्याभिः परमार्थावबोधिनी॥ १५॥
शरण्यं शरणं विष्णुं प्रणता भक्तवत्सलम्। देवदैत्यमयं चादिमध्यमान्तस्वरूपिणम्॥ १६॥

श्रेष्ठ ऋषियो! (जिस वनमें अदितिने तप किया) उस दिव्य वनका नाम उसके नामपर अदितिवन पड़ा। वह समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला एवं मङ्गलकारी है। ऋषिश्रेष्ठो! परम अर्थको जाननेवाली (तत्त्वज्ञा) अदितिने अपने पुत्रोंको दैत्योंके द्वारा अपमानित देखा; उसने सोचा कि तब मेरा पुत्रका जनना ही व्यर्थ है; इसलिये अपनी वाणीको संयतकर; हवा पीकर नम्रतापूर्वक शरणागतोकी रक्षा करनेवाले, भक्तजनप्रिय, देवताओ और दैत्योंकी मूर्तिस्वरूप, (सृष्टिके) सर्जन, पालन और प्रलयके रूपमें स्थित भगवान् श्रीविष्णुकी प्रसन्नताके लिये उनकी सत्य एवं मधुर वाणियोसे उत्तम स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया॥ १४—१६॥

अदितिरुवाच

नमः कृत्यार्तिनाशाय नमः पुष्करमालिने। नमः परमकल्याण कल्याणायादिवेधसे॥ १७॥
नमः पङ्कजनेत्राय नमः पद्मजनाभये। नमः पङ्कजसम्भूतिसम्भवायात्मयोनये॥ १८॥
श्रियः कान्ताय दान्ताय दान्तदृश्याय चक्रिणे। नमः पद्मासिहस्ताय नमः कनकरेतसे॥ १९॥
तथात्मज्ञानयज्ञाय योगिचिन्त्याय योगिने। निर्गुणाय विशेषाय हरये ब्रह्मरूपिणे॥ २०॥

अदितिने इस प्रकार स्तुति करना आरम्भ किया—कृत्यासे उत्पन्न दुःखका नाश करनेवाले प्रभुको नमस्कार है। कमलकी मालाको धारण करनेवाले पुष्करमाली भगवान्‌को नमस्कार है। परम मङ्गलकारी, कल्याणस्वरूपी आदिविधाता प्रभो! आपको नमस्कार है। कमलनयन! आपको नमस्कार है। पद्मनाभ! आपको नमस्कार है। ब्रह्माकी उत्पत्तिके स्थान, आत्मजन्मा! आपको नमस्कार है। प्रभो! आप लक्ष्मीपति, पूर्ण जितेन्द्रिय, संयमियोंके द्वारा दर्शन पानेयोग्य, हाथमें सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले, कमल एवं खड्ग (तलवार) धारण करते हैं; आप अग्नि स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। स्वामिन्! आत्मज्ञानके द्वारा यज्ञ करनेवाले, योगियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य, योगकी साधना करनेवाले योगी, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणसे रहित किंतु (दयादि) विशिष्ट गुणोंसे युक्त ब्रह्मरूपी श्रीहरि भगवान्‌को नमस्कार है॥ १७—२०॥

जगच्च तिष्ठते यत्र जगतो यो न दृश्यते। नमः स्थूलातिसूक्ष्माय तस्मै देवाय शार्ङ्गिणे॥ २१॥
यं न पश्यन्ति पश्यन्तो जगदप्यखिलं नराः। अपश्यद्भिर्जगद्यश्च दृश्यते हृदि संस्थितः॥ २२॥
बहिर्ज्योतिरलक्ष्यो यो लक्ष्यते ज्योतिषः परः। यस्मिन्नेव यतश्चैव यस्यैतदखिलं जगत्॥ २३॥
तस्मै समस्तजगताममराय नमो नमः।
आद्यः प्रजापतिः सोऽपि पितॄणां परमं पतिः। पतिः सुराणां यस्तस्मै नमः कृष्णाय वेधसे॥ २४॥

जिन आप परमेश्वरमें सारा संसार स्थित है, किंतु जो संसारसे दृश्य नहीं है, ऐसे स्थूल तथा अतिसूक्ष्म आप शार्ङ्गधारी देवको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्‌की अपेक्षा करनेवाले प्राणी जिन आपके दर्शनसे वञ्चित रहते हैं, आपका वे दर्शन नहीं कर पाते, परंतु जिन्होंने जगत्‌की अपेक्षा नहीं की, उन्हें आप उनके हृदयमें

स्थित दीखते हैं। आपकी ज्योति बाहर है एवं अलक्ष्य है, सर्वोत्तम ज्योति है; यह सारा जगत् आपमें स्थित है, आपसे उत्पन्न होता है और आपका ही है, जगत‌्के देवता उन आपको नमस्कार है। जो आप सबके आदिमें प्रजापति रहे हैं एवं पितरोंके श्रेष्ठ स्वामी हैं, देवताओंके स्वामी हैं; उन आप श्रीकृष्णको बार-बार नमस्कार है ॥ २१—२४ ॥

यः प्रवृत्तैर्निवृत्तैश्च कर्मभिस्तु विरज्यते। स्वर्गापवर्गफलदो नमस्तस्मै गदाभृते ॥ २५ ॥
यस्तु संचिन्त्यमानोऽपि सर्वं पापं व्यपोहति। नमस्तस्मै विशुद्धाय परस्मै हरिमेधसे ॥ २६ ॥
ये पश्यन्त्यखिलाधारमीशानमजमव्ययम्। न पुनर्जन्ममरणं प्राप्नुवन्ति नमामि तम् ॥ २७ ॥
यो यज्ञो यज्ञपरमैरिज्यते यज्ञसंस्थितः। तं यज्ञपुरुषं विष्णुं नमामि प्रभुमीश्वरम् ॥ २८ ॥

जो प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्मोंसे विरक्त तथा स्वर्ग और मोक्षके फलके देनेवाले हैं, उन गदा धारण करनेवाले भगवान्‌को नमस्कार है। जो स्मरण करनेमात्रसे सारे पाप नष्ट कर देते हैं, उन विशुद्ध परमात्मा हरिमेधा (विष्णु)को नमस्कार है। जो प्राणी अविनाशी भगवान्‌को अखिलाधार, ईशान एवं अजके रूपमें देखते हैं, वे कभी भी जन्म-मरणको नहीं प्राप्त होते। प्रभो! ऐसे आपको प्रणाम करती हूँ। आपकी आराधना यज्ञोंद्वारा होती है, आप यज्ञकी मूर्ति हैं, यज्ञमें आपकी स्थिति है; यज्ञपुरुष! आप ईश्वर, प्रभु विष्णुको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २५—२८ ॥

गीयते सर्ववेदेषु वेदविद्भिर्विदां गतिः। यस्तस्मै वेदवेद्याय नित्याय विष्णवे नमः ॥ २९ ॥
यतो विश्वं समुद्भूतं यस्मिन् प्रलयमेष्यति। विश्वोद्भवप्रतिष्ठाय नमस्तस्मै महात्मने ॥ ३० ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं व्याप्तं येन चराचरम्। मायाजालसमुनद्धं तमुपेन्द्रं नमाम्यहम् ॥ ३१ ॥
योऽत्र तोयस्वरूपस्थो बिभर्त्यखिलमीश्वरः। विश्वं विश्वपतिं विष्णुं तं नमामि प्रजापतिम् ॥ ३२ ॥

वेदोंमें आपका गुणगान हुआ है—इसे वेदज्ञ गाते हैं। आप विद्वज्जनोंके आश्रय हैं, वेदोंसे जानने योग्य एवं नित्यस्वरूप हैं; आप विष्णुको मेरा नमस्कार है। विश्व जिनसे समुद्भूत हुआ है और जिनमें विलीन होगा तथा जो विश्वके उद्भव तथा प्रतिष्ठाके स्वरूप हैं, उन महान् आत्मा-(परमात्मा-)को मेरा नमस्कार है। जिनके द्वारा मायाजालसे बँधा हुआ ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त चराचर (विश्व) व्याप्त है, उन उपेन्द्र भगवान्‌को मैं नमस्कार करती हूँ। जो ईश्वर जलस्वरूपमें स्थित होकर अखिल विश्वका भरण करते हैं, उन विश्वपति एवं प्रजापति विष्णुको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २९—३२ ॥

मूर्त्तं तमोऽसुरमयं तद्विधो विनिहन्ति यः। रात्रिजं सूर्यरूपी च तमुपेन्द्रं नमाम्यहम् ॥ ३३ ॥
यस्याक्षिणी चन्द्रसूर्यौ सर्वलोकशुभाशुभम्। पश्यतः कर्म सततं तमुपेन्द्रं नमाम्यहम् ॥ ३४ ॥
यस्मिन् सर्वेश्वरे सर्वं सत्यमेतन्मयोदितम्। नानृतं तमजं विष्णुं नमामि प्रभवाव्ययम् ॥ ३५ ॥
यद्येतत् सत्यमुक्तं मे भूयश्चातो जनार्दन। सत्येन तेन सकलाः पूर्यन्तां मे मनोरथाः ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

जो सूर्यरूपी उपेन्द्र असुरमय रात्रिसे उत्पन्न, रूपधारी तमका विनाश करते हैं, मैं उनको प्रणाम करती हूँ। जिनकी सूर्य तथा चन्द्रमा-रूप दोनों आँखें समस्त लोकोंके शुभाशुभ कर्मोंको सतत देखती रहती हैं, उन उपेन्द्रको मैं नमस्कार करती हूँ। जिन सर्वेश्वरके विषयमें मेरा यह समस्त उद्गार सत्य है—असत्य नहीं है, उन अजन्मा, अव्यय एवं स्रष्टा विष्णुको मैं नमस्कार करती हूँ। हे जनार्दन! यदि मैंने यह सत्य कहा है तो उस सत्यके प्रभावसे मेरे मनकी सारी अभिलाषाएँ परिपूर्ण हों ॥ ३३—३६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

[अथाष्टाविंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

एवं स्तुतोऽथ भगवान् वासुदेव उवाच ताम्। अदृश्यः सर्वभूतानां तस्याः संदर्शने स्थितः ॥ १ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अदितिकी प्रार्थनापर भगवान्‌का प्रकट होना तथा भगवान्‌का अदितिको वर देना)

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार स्तुति करनेके बाद समस्त प्राणियोंके दृष्टि-पथमें न आनेवाले भगवान् वासुदेव उसके सामने प्रकट हुए और बोले—॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मनोरथांस्त्वमदिते यानिच्छस्यभिवाञ्छितान्। तांस्त्वं प्राप्स्यसि धर्मज्ञे मत्प्रसादान्न संशयः ॥ २ ॥
शृणु त्वं च महाभागे वरो यस्ते हृदि स्थितः। मद्दर्शनं हि विफलं न कदाचिद् भविष्यति ॥ ३ ॥
यश्चेह त्वद्वने स्थित्वा त्रिरात्रं वै करिष्यति। सर्वे कामाः समृध्यन्ते मनसा यानिहेच्छति ॥ ४ ॥
दूरस्थोऽपि वनं यस्तु अदित्याः स्मरते नरः। सोऽपि याति परं स्थानं किं पुनर्निवसन् नरः ॥ ५ ॥
यश्चेह ब्राह्मणान् पञ्च त्रीन् वा द्वावेकमेव वा। भोजयेच्छ्रद्धया युक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—धर्मज्ञे (धर्मके मर्मको जाननेवाली) अदिति ! तुम मुझसे जिन मनचाही कामनाओंकी पूर्ति चाहती हो उन्हें तुम मेरी कृपासे प्राप्त करोगी, इसमें कोई संदेह नहीं। महाभागे ! सुनो, तुम्हारे मनमें जिन वरोंकी इच्छा है उन्हें तुम मुझसे माँगो; क्योंकि मेरे दर्शन करनेका फल कभी व्यर्थ नहीं होता। तुम्हारे इस (अदिति) वनमें रहकर जो तीन रातोंतक निवास करेगा, उसकी सभी मनचाही कामनाएँ पूरी होंगी। जो मनुष्य दूर देशमें स्थित रहकर भी तुम्हारे इस वनका स्मरण करेगा, वह परम धामको प्राप्त कर लेगा। फिर यहाँ रहनेवाले मनुष्योंको परम धामकी प्राप्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य ? जो मानव इस स्थानपर पाँच, तीन अथवा दो या एक ही ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक भोजन करायेगा, वह उत्तम गति-(मोक्ष-) को प्राप्त करेगा ॥ २—६ ॥

अदितिरुवाच

यदि देव प्रसन्नस्त्वं भक्त्या मे भक्तवत्सल। त्रैलोक्याधिपतिः पुत्रस्तदस्तु मम वासवः ॥ ७ ॥
हृतं राज्यं हृतश्चास्य यज्ञभाग इहासुरैः। त्वयि प्रसन्ने वरद तत् प्राप्नोतु सुतो मम ॥ ८ ॥
हृतं राज्यं न दुःखाय मम पुत्रस्य केशव। प्रपन्नदायविभ्रंशो बाधां मे कुरुते हृदि ॥ ९ ॥

अदितिने कहा—भक्तवत्सल देव ! यदि आप मेरी भक्तिसे मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मेरा पुत्र इन्द्र तीनों लोकोंका स्वामी हो जाय। असुरोंने उसके राज्यको तथा यज्ञमें मिलनेवाले भागको छीन लिया है। अतः वरदानी प्रभो ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मेरा पुत्र उसे (राज्यको) प्राप्त कर ले। केशव ! मेरे पुत्रके राज्यके असुरोंद्वारा छीने जानेका मुझे दुःख नहीं है, किंतु शरणागतको मिलनेवाले हिस्सेका छिन जाना मेरे हृदयको कुरेद रहा है ॥ ७—९ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृतः प्रसादो हि मया तव देवि यथेप्सितम्। स्वांशेन चैव ते गर्भे संभविष्यामि कश्यपात् ॥ १० ॥
तव गर्भे समुद्भूतस्ततस्ते ये त्वरातयः। तानहं च हनिष्यामि निवृत्ता भव नन्दिनि ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवि ! तुम्हारी इच्छाके अनुकूल मैंने तुम्हारे ऊपर कृपा-प्रसाद प्रकट किया है। (सुनो,) कश्यपसे तुम्हारे गर्भमें मैं अपने अंशसे जन्म लूँगा। तुम्हारी कोखसे जन्म लेकर मैं तुम्हारे सभी शत्रुओंका वध करूँगा। नन्दिनि ! तुम लौट जाओ ॥ १०—११ ॥

अदितिरुवाच

प्रसीद देवदेवेश नमस्ते विश्वभावन ।
नाहं त्वामुदरे वोढुमीश शक्ष्यामि केशव । यस्मिन् प्रतिष्ठितं सर्वं विश्वयोनिस्त्वमीश्वरः ॥ १२ ॥

अदितिने कहा—देवदेवेश ! आप (मुझपर) प्रसन्न हों । विश्वभावन ! आपको मेरा नमस्कार है । हे केशव ! हे ईश ! आप विश्वके उत्पत्ति-स्थान और ईश्वर हैं । जिन आप प्रभुमें सारा संसार प्रतिष्ठित है, उन आपके भारको मैं अपनी कोखमें वहन न कर सकूँगी ॥ १२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं त्वां च वहिष्यामि आत्मानं चैव नन्दिनि । न च पीडां करिष्यामि स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ १३ ॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते देवेऽदितिर्गर्भं समादधे ।
गर्भस्थिते ततः कृष्णे चचाल सकला क्षितिः । चकम्पिरे महाशैला जग्मुः क्षोभं महाब्धयः ॥ १४ ॥
यतो यतोऽदितिर्याति ददाति पदमुत्तमम् । ततस्ततः क्षितिः खेदान्ननाम द्विजपुंगवाः ॥ १५ ॥
दैत्यानामपि सर्वेषां गर्भस्थे मधुसूदने । बभूव तेजसो हानिर्यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ १६ ॥
॥ इति श्रीवामनपुराणेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—नन्दिनि ! मैं स्वयं अपना और तुम्हारा—दोनोंका भार वहन कर लूँगा; मैं तुम्हें पीडा नहीं करूँगा । तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ । यह कहकर भगवान्‌के चले जानेपर अदितिने गर्भधारण कर लिया । भगवान्-(कृष्ण-)के गर्भमें आ जानेपर सारी पृथ्वी डगमगा गयी । बड़े-बड़े पर्वत हिलने लगे एवं विशाल समुद्र विक्षुब्ध हो गये । द्विजश्रेष्ठो ! अदिति जहाँ-जहाँ जाती या पैर रखती थीं, वहाँ-वहाँकी पृथ्वी खेद-(भार-) के कारण झुक जाती थी । जैसा कि ब्रह्माने (पहले) बतलाया था, मधुसूदनके गर्भमें आनेपर सभी दैत्योंके तेजकी हानि हो गयी ॥ १३–१६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

[अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

निस्तेजसोऽसुरान् दृष्ट्वा समस्तानसुरेश्वरः । प्रह्लादमथ पप्रच्छ बलिरात्मपितामहम् ॥ १ ॥

उन्तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका पितामह प्रह्लादसे प्रश्न, प्रह्लादका अदितिके गर्भमें वामनागमन एवं विष्णु-महिमाका कथन तथा स्तवन)

लोमहर्षण बोले—उसके बाद (दैत्योंके तेजके समाप्त हो जानेपर) असुरराज बलिने समस्त असुरोंको श्रीहीन देखकर अपने पितामह प्रह्लादजीसे पूछा—॥ १ ॥

बलिरुवाच

तात निस्तेजसो दैत्या निर्दग्धा इव वह्निना । किमेते सहसैवाद्य ब्रह्मदण्डहता इव ॥ २ ॥
दुरिष्टं किं नु दैत्यानां किं कृत्या विधिनिर्मिता । नाशायैषां समुद्भूता येन निस्तेजसोऽसुराः ॥ ३ ॥

बलिने कहा—तात ! (इस समय) दैत्य लोग आगसे झुलसे हुए-से कान्तिहीन हो गये हैं । आज ये ऐसा क्यों हो गये हैं ? प्रतीत होता है कि मानो इन्हें ब्राह्मणका अभिशाप लग गया है—ये ब्रह्मदण्डसे जैसे

*

पीड़ित हो गये हैं। क्या दैत्योंका कोई अशुभ होनेवाला है? अथवा इनके नाशके लिये ब्रह्माने कृत्या-(पुरश्चरणसे उत्पन्न की गयी मारिकाशक्ति-)को उत्पन्न कर दिया है, जिससे ये असुरलोग इस प्रकार तेजसे रहित हो गये हैं ॥ २-३ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्यसुरवरस्तेन पृष्टः पौत्रेण ब्राह्मणाः। चिरं ध्यात्वा जगादेदमसुरं तं तदा बलिम् ॥ ४ ॥

लोमहर्षण बोले—ब्राह्मणो! अपने पौत्र (पुत्रके पुत्र) राजा बलिके इस प्रकार पूछनेपर दैत्योंमें प्रधान प्रह्लादने देरतक ध्यान करके तब असुर बलिसे कहा—॥ ४ ॥

प्रह्लाद उवाच

चलन्ति गिरयो भूमिर्जहाति सहसा धृतिम्। सद्यः समुद्राः क्षुभिता दैत्या निस्तेजसः कृताः ॥ ५ ॥
सूर्योदये यथा पूर्वं तथा गच्छन्ति न ग्रहाः। देवानां च परा लक्ष्मीः कारणेनानुमीयते ॥ ६ ॥
महदेतन्महाबाहो कारणं दानवेश्वर। न ह्यल्पमिति मन्तव्यं त्वया कार्यं कथंचन ॥ ७ ॥

प्रह्लादने कहा—दानवाधिप! इस समय पहाड़ डगमगा रहे हैं, पृथ्वी एकाएक अपनी (स्वाभाविक) धीरता छोड़ रही है, समुद्रमें जोरोंकी लहरें उठ रही हैं और दैत्य तेजसे रहित हो गये हैं। सूर्योदय होनेपर अब पहलेके समान ग्रहोंकी चाल नहीं दीखती है। इन कारणों-(लक्षणों-)से अनुमान होता है कि देवताओंका अभ्युदय होनेवाला है। महाबाहु! दानवेश्वर! यह कोई विशेष कारण अवश्य है। इस कारणको छोटा नहीं मानना चाहिये और आपको इसका कोई प्रतियत्न (उपाय) करना चाहिये ॥ ५-७ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्युक्त्वा दानवपतिं प्रह्लादः सोऽसुरोत्तमः। अत्यर्थभक्तो देवेशं जगाम मनसा हरिम् ॥ ८ ॥
स ध्यानपथगं कृत्वा प्रह्लादश्च मनोऽसुरः। विचारयामास ततो यथा देवो जनार्दनः ॥ ९ ॥
स ददर्शोदरेऽदित्याः प्रह्लादो वामनाकृतिम्। तदन्तश्च वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥ १० ॥
साध्यान् विश्वे तथादित्यान् गन्धर्वोरगराक्षसान्। विरोचनं च तनयं बलिं चासुरनायकम् ॥ ११ ॥
जम्भं कुजम्भं नरकं बाणमन्यांस्तथासुरान्। आत्मानमुर्वीं गगनं वायुं वारि हुताशनम् ॥ १२ ॥
समुद्राद्रिसरिद्द्वीपान् सरांसि च पशून् महीम्। वयोमनुष्यानखिलांस्तथैव च सरीसृपान् ॥ १३ ॥
समस्तलोकस्रष्टारं ब्रह्माणं भवमेव च। ग्रहनक्षत्रताराश्च दक्षाद्यांश्च प्रजापतीन् ॥ १४ ॥
सम्पश्यन् विस्मयाविष्टः प्रकृतिस्थः क्षणात् पुनः। प्रह्लादः प्राह दैत्येन्द्रं बलिं वैरोचनिं ततः ॥ १५ ॥

लोमहर्षणने कहा—असुरोंमें श्रेष्ठ महान् भक्त प्रह्लादने दैत्यराज बलिसे इस प्रकार कहकर मनसे श्रीहरिका ध्यान किया। असुर प्रह्लादने अपने मनको भगवान्‌के ध्यान-पथमें लगाकर चिन्तन किया—जैसा कि भगवान्‌का स्वरूप है। उन्होंने उस समय (चिन्तन करते समय) अदितिकी कोखमें वामनके रूपमें भगवान्‌को देखा। उनके भीतर वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारो, मरुतो, साध्यो, विश्वेदेवों, आदित्यों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा अपने पुत्र विरोचन एवं असुरनायक बलि, जम्भ, कुजम्भ, नरक, बाण तथा इस प्रकारके दूसरे बहुत-से असुरो एवं अपनेको और पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, समुद्रों, पर्वतों, नदियों, द्वीपों, सरों, पशुओं, भूसम्पत्तियो, पक्षियो, सम्पूर्ण मनुष्यों, सरकनेवाले जीवो, समस्त लोकोंके स्रष्टा ब्रह्मा, शिव, ग्रहो, नक्षत्रों, ताराओ तथा दक्ष आदि प्रजापतियोंको भी देखा। प्रह्लाद इन्हें देखकर आश्चर्यमें पड़ गये, किंतु क्षणमात्रमें ही पुनः पूर्ववत् प्रकृतिस्थ हो गये और विरोचन-पुत्र दैत्योंके राजा बलिसे बोले—॥ ८-१५ ॥

तत्संज्ञातं मया सर्वं यदर्थं भवतामियम्। तेजसो हानिरुत्पन्ना शृण्वन्तु तदशेषतः ॥ १६ ॥
देवदेवो जगद्योनिरयोनिर्जगदादिजः। अनादिरादिर्विश्वस्य वरेण्यो वरदो हरिः ॥ १७ ॥
परावराणां परमः परापरसतां गतिः।
प्रभुः प्रमाणं मानानां सप्तलोकगुरोर्गुरुः। स्थितिं कर्तुं जगन्नाथः सोऽचिन्त्यो गर्भतां गतः ॥ १८ ॥
प्रभुः प्रभूणां परमः पराणामनादिमध्यो भगवाननन्तः।
त्रैलोक्यमंशेन सनाथमेकः कर्तुं महात्माऽदितिजोऽवतीर्णः ॥ १९ ॥

(दैत्यो !) मैने तुम लोगोंकी कान्तिहीनताके (वास्तविक) सब कारणको—अच्छी तरहसे समझ लिया है। (अब) उसे तुम लोग भलीभाँति सुनो। देवोंके देव, जगद्योनि, (विश्वको उत्पन्न करनेवाले) किंतु स्वयं अयोनि, विश्वके प्रारम्भमें विद्यमान पर स्वयं अनादि, फिर भी विश्वके आदि, वर देनेवाले वरणीय हरि, सर्वश्रेष्ठोंमें भी परम (श्रेष्ठ), बड़े-छोटे सज्जनोंकी गति, मानोंके भी प्रमाणभूत प्रभु, सातो लोकोंके गुरुओंके भी गुरु एवं चिन्तनमें न आनेयोग्य विश्वके स्वामी मर्यादा-(धर्महेतु-) की स्थापना करनेके लिये (अदितिके) गर्भमें आ गये हैं। प्रभुओंके प्रभु, श्रेष्ठोमे श्रेष्ठ, आदि-मध्यसे रहित, अनन्त भगवान् तीनों लोकोंको सनाथ करनेके लिये अदितिके पुत्रके रूपमे अंशावतारस्वरूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ १६–१९ ॥

न यस्य रुद्रो न च पद्मयोनिर्नेन्द्रो न सूर्येन्दुमरीचिमिश्राः।
जानन्ति दैत्याधिप यत्स्वरूपं स वासुदेवः कलयावतीर्णः ॥ २० ॥
यमक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यं ज्ञानविधूतपापाः।
यस्मिन् प्रविष्टा न पुनर्भवन्ति तं वासुदेवं प्रणमामि देवम् ॥ २१ ॥
भूतान्यशेषाणि यतो भवन्ति यथोर्मयस्तोयनिधेरजस्रम्।
लयं च यस्मिन् प्रलये प्रयान्ति तं वासुदेवं प्रणतोऽस्म्यचिन्त्यम् ॥ २२ ॥
न यस्य रूपं न बलं प्रभावो न च प्रतापः परमस्य पुंसः।
विज्ञायते सर्वपितामहाद्यैस्तं वासुदेवं प्रणमामि नित्यम् ॥ २३ ॥

दैत्यपते ! जिन वासुदेव भगवान्के वास्तविक स्वरूपको रुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र एवं मरीचि आदि श्रेष्ठ पुरुष नहीं जानते, वे ही वासुदेव भगवान् अपनी एक कलासे अवतीर्ण हुए हैं। वेदके जाननेवाले जिन्हे अक्षर कहते है तथा ब्रह्मज्ञानके होनेसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे निष्पाप शुद्ध प्राणी जिनमें प्रवेश पाते हैं और जिनके भीतर प्रविष्ट हुए लोग पुनः जन्म नहीं लेते—ऐसे उन वासुदेव भगवान्को मै प्रणाम करता हूँ। समुद्रकी लहरोंके समान जिनसे समस्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते है तथा प्रलयकालमे जिनके भीतर विलीन हो जाते है, उन अचिन्त्य वासुदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। ब्रह्मा आदि जिन परम पुरुषके रूप, बल, प्रभाव और प्रतापको नहीं जान पाते उन वासुदेवको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ २०–२३ ॥

रूपस्य चक्षुर्ग्रहणे त्वगेषा स्पर्शग्रहित्री रसना रसस्य।
घ्राणं च गन्धग्रहणे नियुक्तं न घ्राणचक्षुः श्रवणादि तस्य ॥ २४ ॥
स्वयंप्रकाशः परमार्थतो यः सर्वेश्वरो वेदितव्यः स युक्त्या।
शक्यं तमीड्यमनघं च देवं ग्राह्यं नतोऽहं हरिमीशितारम् ॥ २५ ॥
येनैकदंष्ट्रेण समुद्धृतेयं धरा चला धारयतीह सर्वम्।
शेते ग्रसित्वा सकलं जगद् यस्तमीड्यमीशं प्रणतोऽस्मि विष्णुम् ॥ २६ ॥

अंशावतीर्णेन च येन गर्भे हृतानि तेजांसि महासुराणाम् ।
नमामि तं देवमनन्तमीशमशेषसंसारतरोः कुठारम् ॥ २७ ॥
देवो जगद्योनिरयं महात्मा स षोडशांशेन महाऽसुरेन्द्राः ।
सुरेन्द्रमातुर्जठरं प्रविष्टो हृतानि वस्तेन बलं वपूंषि ॥ २८ ॥

जिन परमेश्वरने रूप देखनेके लिये आँखोंको, स्पर्शज्ञानके लिये त्वचाको, खट्टे-मीठे स्वाद लेनेके लिये जीभको और सुगंध-दुर्गंध सूँघनेके लिये नाकको नियत किया है; पर स्वयं उनके नाक, आँख और कान आदि नहीं है । जो वस्तुतः स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं, वे सर्वेश्वर युक्तिके द्वारा (कुछ-कुछ) जाने जा सकते हैं; उन सर्वसमर्थ, स्तुतिके योग्य, किसी भी प्रकारके मलसे रहित, (भक्तिसे) ग्राह्य, ईश-हरिदेवको मैं प्रणाम करता हूँ । जिनके द्वारा एक मोटे तथा बड़े दाँतसे निकाली गयी चिरस्थायिनी पृथ्वी सभी कुछ धारण करनेमें समर्थ है तथा जो समस्त संसारको अपनेमें स्थान देकर सोनेका स्वाँग धारण करते हैं, उन स्तुत्य ईश विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ । जिन्होंने अपने अंशसे अदितिके गर्भमें आकर महासुरोंके तेजका अपहरण कर लिया, उन समस्त संसाररूपी वृक्षके लिये कुठाररूप धारण करनेवाले अनन्त देवाधीश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ । हे महासुरो ! जगत्की उत्पत्तिके स्थान वे ही महात्मा देव अपने सोलहवें अंशकी कलासे इन्द्रकी माताके गर्भमें प्रविष्ट हुए हैं और उन्होंने ही तुम लोगोंके शारीरिक बलको अपहृत कर लिया है ॥ २४—२८ ॥

बलिरुवाच

तात कोऽयं हरिर्नाम यतो नो भयमागतम् । सन्ति मे शतशो दैत्या वासुदेवबलाधिकाः ॥ २९ ॥
विप्रचित्तिः शिविः शंकुरयःशंकुस्तथैव च । हयशिरा अश्वशिरा भङ्गकारो महाहनुः ॥ ३० ॥
प्रतापी प्रघशः शंभुः कुक्कुराक्षश्च दुर्जयः । एते चान्ये च मे सन्ति दैतेया दानवास्तथा ॥ ३१ ॥
महाबला महावीर्या भूभारधरणक्षमाः । एषामेकैकशः कृष्णो न वीर्यार्द्धेन संमितः ॥ ३२ ॥

बलिने कहा—तात ! जिनसे हम सबको डर है वे हरि कौन हैं ? हमारे पास वासुदेवसे अधिक शक्तिशाली सैकड़ों दैत्य हैं; जैसे—विप्रचित्ति, शिव, शङ्कु, अयःशंकु, हयशिरा, अश्वशिरा, (विघटन करनेवाला-) भङ्गकार, महाहनु, प्रतापी, प्रघश, शम्भु, दुर्जय एवं कुक्कुराक्ष । ये तथा अन्य भी ऐसे अनेक दैत्य एवं दानव हैं । ये सभी महाबलवान् तथा महापराक्रमी एवं पृथ्वीके भारको धारण करनेमें समर्थ हैं । कृष्ण तो हमारे इन बलवान् दैत्योंमेंसे पृथक्-पृथक् एक-एकके आधे बलके समान भी नहीं हैं ॥ २९—३२ ॥

लोमहर्षण उवाच

पौत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा प्रह्लादो दैत्यसत्तमः । सक्रोधश्च बलिं प्राह वैकुण्ठाक्षेपवादिनम् ॥ ३३ ॥
विनाशमुपयास्यन्ति दैत्या ये चापि दानवाः । येषां त्वमीदृशो राजा दुर्बुद्धिरविवेकवान् ॥ ३४ ॥
देवदेवं महाभागं वासुदेवमजं विभुम् । त्वामृते पापसङ्कल्प कोऽन्य एवं वदिष्यति ॥ ३५ ॥

लोमहर्षणने कहा—अपने पौत्रकी इस उक्तिको सुनकर दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद क्रुद्ध हो गये और भगवान्की निन्दा करनेवाले बलिसे बोले—बलि ! तेरे-जैसे विवेकहीन एवं दुर्बुद्धि राजाके साथ ये सारे दैत्य एवं दानव मारे जायँगे । हे पापको ही सोचनेवाले पापबुद्धि ! तुम्हारे सिवा ऐसा कौन है, जो देवाधिदेव महाभाग अज एवं सर्वव्यापी वासुदेवको इस तरह कहेगा ॥ ३३—३५ ॥

य एते भवता प्रोक्ताः समस्ता दैत्यदानवाः । सब्रह्मकास्तथा देवाः स्थावरान्ता विभूतयः ॥ ३६ ॥
त्वं चाहं च जगच्चेदं साद्रिद्रुमनदीवनम् । ससमुद्रद्वीपलोकोऽयं यश्चेदं सचराचरम् ॥ ३७ ॥

यस्याभिवाद्यवन्द्यस्य व्यापिनः परमात्मनः । एकांशांशकलाजन्म कस्तमेवं प्रवक्ष्यति ॥ ३८ ॥
ऋते विनाशाभिमुखं त्वामेकमविवेकिनम् । दुर्बुद्धिमजितात्मानं वृद्धानां शासनातिगम् ॥ ३९ ॥

तुमने जिन-जिनका नाम लिया है, वे सभी दैत्य एवं दानव तथा ब्रह्माके साथ सभी देवता एवं चराचर-की समस्त विभूतियाँ, तुम और मैं, पर्वत तथा वृक्ष, नदी और वनसे युक्त सारा जगत् तथा समुद्र एवं द्वीपोंसे युक्त सम्पूर्ण लोक तथा चर और अचर जिन सर्ववन्द्य श्रेष्ठ सर्वव्यापी परमात्माके एक अंशकी अंशकलासे उत्पन्न हुए हैं, उनके विषयमें विनाशकी ओर चलनेवाले विवेकहीन, मूर्ख, इन्द्रियोंके गुलाम, वृद्धोंके आदेशोंका उल्लङ्घन करने-वाले तुम्हारी अपेक्षा कौन ऐसा (कृत्या नामसे) कह सकेगा ! ॥ ३६–३९ ॥

शोच्योऽहं यस्य मे गेहे जातस्तव पिताऽधमः । यस्य त्वमीदृशः पुत्रो देवदेवावमानकः ॥ ४० ॥
तिष्ठत्यनेकसंसारसंघातौघविनाशिनि । कृष्णे भक्तिरहं तावदवेक्ष्यो भवता न किम् ॥ ४१ ॥
न मे प्रियतरः कृष्णादपि देहोऽयमात्मनः । इति जानात्ययं लोको भवांश्च दितिनन्दन ॥ ४२ ॥
जानन्नपि प्रियतरं प्राणेभ्योऽपि हरिं मम । निन्दां करोषि तस्य त्वमकुर्वन् गौरवं मम ॥ ४३ ॥
विरोचनस्तव गुरुर्गुरुस्तस्याप्यहं बले । ममापि सर्वजगतां गुरुर्नारायणो हरिः ॥ ४४ ॥

मैं (ही सचमुच) शोचनीय हूँ, जिसके घरमें तुम्हारा अधम पिता उत्पन्न हुआ, जिसका तुम्हारे-जैसा देवदेव-(विष्णु-)का तिरस्कार करनेवाला पुत्र है। जो अनेक संसारके समूहोंके प्रवाहका विनाश करनेवाले हैं, ऐसे कृष्णमें भक्तिके लिये तुम्हें क्या मेरा भी ध्यान नहीं रहा। दितिनन्दन! मेरे विषयमें समस्त संसार एवं तुम भी यह जानते हो कि मुझे यह मेरी देह भी कृष्णसे अधिक प्रिय नहीं है। फिर यह समझते हुए भी कि भगवान् कृष्ण मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, फिर भी तुम मेरी मर्यादापर ध्यान न देकर ठेस पहुँचाते हुए उनकी निन्दा कर रहे हो। बलि! तुम्हारा गुरु (पिता) विरोचन है, उसका गुरु (पिता) मैं हूँ तथा मेरे भी गुरु सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् नारायण श्रीहरि हैं ॥ ४०–४४ ॥

निन्दां करोषि तस्मिंस्त्वं कृष्णे गुरुगुरोर्गुरौ । यस्मात् तस्मादिहैव त्वमैश्वर्याद् भ्रंशमेष्यसि ॥ ४५ ॥
स देवो जगतां नाथो बले प्रभुर्जनार्दनः । नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते भक्तिमानत्र मे गुरुः ॥ ४६ ॥
एतावन्मात्रमप्यत्र निन्दता जगतो गुरुम् । नापेक्षितस्त्वया यस्मात् तस्माच्छापं ददामि ते ॥ ४७ ॥
यथा मे शिरसश्छेदादिदं गुरुतरं बले । त्वयोक्तमच्युताक्षेपं राज्यभ्रष्टस्तथा पत ॥ ४८ ॥
यथा न कृष्णादपरः परित्राणं भवार्णवे । तथाऽचिरेण पश्येयं भवन्तं राज्यविच्युतम् ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

जिस कारण तुम अपने गुरु-(पिता विरोचन-)के गुरु (पिता मैं प्रह्लाद)के भी गुरु विष्णुकी निन्दा कर रहे हो, इस कारण तुम यहीं ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाओगे। बलि! वे प्रभु जनार्दनदेव जगत्के स्वामी हैं। इस विषयमें मेरा गुरु (अर्थात् मैं) भक्तिमान् हूँ, यह विचारकर तुझे मेरी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। जिस कारणसे जगद्गुरुकी निन्दा करनेवाले तुमने मेरी इतनी भी अपेक्षा नहीं की, इस कारण मैं तुम्हें शाप देता हूँ; क्योंकि बलि! तुम्हारे द्वारा अच्युतके प्रति अपमानजनित ये वचन मेरे लिये सिर कट जानेसे भी अधिक कष्टदायी हैं, अतः तुम राज्यसे भ्रष्ट होकर गिर जाओ। भवसागरमें भगवान्को विष्णु छोडकर दूसरा कोई रक्षक नहीं है, अतः शीघ्र ही मैं तुम्हें राज्यसे भ्रष्ट हुआ देखूँगा ॥ ४५–४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

[अथ त्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

इति दैत्यपतिः श्रुत्वा वचनं रौद्रमप्रियम्। प्रसादयामास गुरुं प्रणिपत्य पुनः पुनः ॥ १ ॥

तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका प्रह्लादको संतुष्ट करना, अदितिके गर्भसे वामनका प्राकट्य; ब्रह्माद्वारा स्तुति, वामनका बलिके यज्ञमें जाना)

लोमहर्षणने कहा—दैत्यपति बलि प्रह्लादकी इस प्रकार कठोर एवं अप्रिय उक्तिको सुनकर उनके चरणोंमें बार-बार सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए मनाने लगा ॥ १ ॥

बलिरुवाच

प्रसीद तात मा कोपं कुरु मोहहते मयि। बलावलेपमूढेन मयैतद्वाक्यमीरितम् ॥ २ ॥
मोहापहतविज्ञानः पापोऽहं दितिजोत्तम। यच्छप्तोऽस्मि दुराचारस्तत्साधु भवता कृतम् ॥ ३ ॥
राज्यभ्रंशं यशोभ्रंशं प्राप्स्यामीति ततस्त्वहम्। विषण्णोऽस्मि यथा तात तथैवाविनये कृते ॥ ४ ॥
त्रैलोक्यराज्यमैश्वर्यमन्यद्वा नातिदुर्लभम्। संसारे दुर्लभास्तात गुरवो ये भवद्विधाः ॥ ५ ॥
प्रसीद तात मा कोपं कर्तुमर्हसि दैत्यप। त्वत्कोपपरिदग्धोऽहं परितप्ये दिवानिशम् ॥ ६ ॥

बलिने कहा—तात ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों, मैं मूढ हो गया था, मेरे ऊपर क्रोध न करें । बलके घमण्डसे विवेकहीन होनेके कारण मैंने यह वचन कहा था । दैत्यश्रेष्ठ ! मोहके कारण मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी थी, मैं अधम हूँ । मैंने सदाचारका पालन नहीं किया, जिससे मुझ पापाचारीको आपने जो शाप दिया, वह बहुत ठीक किया । तात ! आप (यतः) मेरी उद्दण्डताके कारण बहुत दुःखी हैं, अतः मैं राज्यसे च्युत और अपनी कीर्तिसे रहित हो जाऊँगा । तात ! संसारमें तीनों लोकोंका राज्य, ऐश्वर्य अथवा अन्य किसी (वस्तु) का मिलना बहुत कठिन नहीं है, परंतु आप-जैसे जो गुरुजन हैं, वे संसारमें दुर्लभ हैं । दैत्योंकी रक्षा करनेवाले तात ! आप प्रसन्न हों, क्रोध न करें । आपका क्रोध मुझे जला रहा है, इसलिये मैं दिन-रात (आठों प्रहर) संतप्त हो रहा हूँ ॥ २—६ ॥

प्रह्लाद उवाच

वत्स कोपेन मे मोहो जनितस्तेन ते मया। शापो दत्तो विवेकश्च मोहेनापहृतो मम ॥ ७ ॥
यदि मोहेन मे ज्ञानं नाक्षिप्तं स्यान्महासुर। तत्कथं सर्वगं जानन् हरिं कच्चिच्छपाम्यहम् ॥ ८ ॥
यो यः शापो मया दत्तो भवतो सुरपुंगव। भाव्यमेतेन नूनं ते तस्मात्त्वं मा विषीद वै ॥ ९ ॥
अद्यप्रभृति देवेशे भगवत्यच्युते हरौ। भवेथा भक्तिमानीशे स ते त्राता भविष्यति ॥ १० ॥
शापं प्राप्य च मे वीर देवेशः संस्मृतस्त्वया। तथा तथा वदिष्यामि श्रेयस्त्वं प्राप्स्यसे यथा ॥ ११ ॥

प्रह्लाद बोले—वत्स ! क्रोधके कारण हमें मोह उत्पन्न हो गया था और उसीने मेरी विचार करनेवाली बुद्धि भी नष्ट कर दी थी, इसीसे मैंने तुम्हें शाप दे दिया । महासुर ! यदि मोहवश मेरा ज्ञान दूर नहीं हुआ होता तो मैं भगवान्‌को सब जगह विद्यमान जानता हुआ भी तुम्हें शाप कैसे देता । असुरश्रेष्ठ ! मैंने तुम्हे जो क्रोधवश शाप दिया है, वह तो तुम्हारे लिये होगा, किंतु तुम दुःखी मत हो; बल्कि आजसे तुम उन देवोंके भी ईश्वर भगवान् अच्युत हरिकी भक्ति करनेवाले बन जाओ—भक्त हो जाओ । वे ही तुम्हारे रक्षक हो जायँगे । वीर ! मेरा शाप पाकर तुमने देवेश्वर भगवान्‌का स्मरण किया है, अतः मैं तुमसे वही कहूँगा, जिससे तुम कल्याणको प्राप्त करो ॥ ७—११ ॥

लोमहर्षण उवाच

अदितिर्वरमासाद्य सर्वकामसमृद्धिदम् । क्रमेण उदरे देवो वृद्धिं प्राप्तो महायशाः ॥ १२ ॥
ततो मासेऽथ दशमे काले प्रसव आगते । अजायत स गोविन्दो भगवान् वामनाकृतिः ॥ १३ ॥
अवतीर्णे जगन्नाथे तस्मिन् सर्वामरेश्वरे । देवाश्च मुमुचुर्दुःखं देवमाताऽदितिस्तथा ॥ १४ ॥
ववुर्वाताः सुखस्पर्शा नीरजस्कमभूत्नभः । धर्मे च सर्वसत्त्वानां तदा मतिरजायत ॥ १५ ॥
नोद्वेगश्चाप्यभूद् देहे मनुजानां द्विजोत्तमाः । तदा हि सर्वभूतानां धर्मे मतिरजायत ॥ १६ ॥
तं जातमात्रं भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । जातकर्मादिकां कृत्वा क्रियां तुष्टाव च प्रभुम् ॥ १७ ॥

लोमहर्षणने कहा—(उवर) अदितिने सभी कामनाओंकी समृद्धि करनेवाले वरको प्राप्त कर लिया तब उसके उदरमे महायशस्वी देव (भगवान्) धीरे-धीरे बढने लगे । इसके बाद दसवें महीनेमें जब प्रसवका समय आया तब भगवान् गोविन्द वामनाकारमें उत्पन्न हो गये । संसारके स्वामी उन अखिलेश्वरके अवतार ले लेनेपर देवता और देवमाता अदिति दुःखसे मुक्त हो गये । फिर तो (संसारमें) आनन्ददायी वायु बहने लगी, गगन-मण्डल बिना धूलिका (स्वच्छ) हो गया एवं सभी जीवोंकी बुद्धि धर्म करनेमें लग गयी । द्विजोत्तमो ! उस समय मनुष्योंकी देहमें कोई घबड़ाहट नहीं थी और तब समस्त प्राणियोंकी बुद्धि धर्ममें लग गयी । उनके उत्पन्न होते ही लोकपितामह ब्रह्माने उनकी तत्काल जातकर्म आदि क्रिया (संस्कार) सम्पन्न करके उन प्रभुकी स्तुति की ॥ १२–१७ ॥

ब्रह्मोवाच

जयाधीश जयाजेय जय विश्वगुरो हरे । जन्ममृत्युजरातीत जयानन्त जयाच्युत ॥ १८ ॥
जयाजित जयाशेष जयाव्यक्तस्थिते जय । परमार्थार्थ सर्वज्ञ ज्ञानज्ञेयार्थनिःसृत ॥ १९ ॥
जयाशेष जगत्साक्षिञ्जगत्कर्तर्जगद्गुरो । जगतोऽजगदन्तेश स्थितौ पालयते जय ॥ २० ॥
जयाखिल जयाशेष जय सर्वहृदिस्थित । जयादिमध्यान्तमय सर्वज्ञानमयोत्तम ॥ २१ ॥
मुमुक्षुभिरनिर्देश्य नित्यहृष्ट जयेश्वर । योगिभिर्मुक्तिकामैस्तु दमादिगुणभूषण ॥ २२ ॥

ब्रह्मा बोले—अधीश ! आपकी जय हो । अजेय ! आपकी जय हो । विश्वके गुरु हरि ! आपकी जय हो । जन्म-मृत्यु तथा जरासे अतीत अनन्त ! आपकी जय हो । अच्युत ! आपकी जय हो । अजित ! आपकी जय हो । अशेष ! आपकी जय हो । अव्यक्त स्थितिवाले भगवन् ! आपकी जय हो । परमार्थार्थकी (उत्तम अभिप्रायकी) पूर्तिमे निमित्त ! ज्ञान और ज्ञेयके अर्थके उत्पादक सर्वज्ञ ! आपकी जय हो । अशेष जगत्के साक्षी ! जगत्के कर्ता ! जगद्गुरु ! आपकी जय हो । जगत् (चर) एवं अजगत् (अचर) के स्थिति, पालन एवं प्रलयके स्वामी ! आपकी जय हो । अखिल ! आपकी जय हो । अशेष ! आपकी जय हो । सभीके हृदयमे रहनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो । आदि, मध्य और अन्तस्वरूप ! समस्त ज्ञानकी मूर्ति, उत्तम ! आपकी जय हो । हे मुमुक्षुओंके द्वारा अनिर्देश्य, नित्य-प्रसन्न ईश्वर ! आपकी जय हो । हे मुक्तिकी कामना करनेवाले योगियोंसे सेवित, दम आदि गुणोंसे विभूषित परमेश्वर ! आपकी जय हो ॥ १८–२२ ॥

जयातिसूक्ष्म दुर्ज्ञेय जय स्थूल जगन्मय । जय सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्वं जयानिन्द्रिय सेन्द्रिय ॥ २३ ॥
जय स्वमायायोगस्थ शेषभोग जयाक्षर । जयैकदंष्ट्रप्रान्तेन समुद्धृतवसुंधर ॥ २४ ॥
नृकेसरिन् सुरारातिवक्षस्थलविदारण । साम्प्रतं जय विश्वात्मन् मायावामन केशव ॥ २५ ॥
निजमायापरिच्छिन्न जगद्धातर्जनार्दन । जयाचिन्त्य जयानेकस्वरूपैकविध प्रभो ॥ २६ ॥
वर्द्धस्व वर्धितानेकविकारप्रकृते हरे । त्वय्येषा जगतामीशे संस्थिता धर्मपद्धतिः ॥ २७ ॥

हे अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले ! हे दुर्ज्ञेय (कठिनतासे समझमें आनेवाले) ! आपकी जय हो । हे स्थूल और जगत्-मूर्ति ! आपकी जय हो । हे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभो ! आपकी जय हो । हे इन्द्रियोंसे रहित तथा इन्द्रियोंसे युक्त (नाथ) ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे योगमें स्थित रहनेवाले (स्वामी) ! आपकी जय हो । हे शेषकी शय्यापर सोनेवाले अविनाशी शेषशायी प्रभो ! आपकी जय हो । हे एक दाँतके कोनेपर पृथ्वीको उठानेवाले वराहरूपधारी भगवन् ! आपकी जय हो । हे देवताओंके शत्रु-(हिरण्यकशिपु-)के वक्षः-स्थलको विदीर्ण करनेवाले नृसिंह भगवान् तथा विश्वकी आत्मा एवं अपनी मायासे वामनका रूप धारण करनेवाले केशव ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे आवृत तथा संसारको धारण करनेवाले परमेश्वर ! आपकी जय हो । हे चिन्तन करनेसे परे अनेक स्वरूप धारण करनेवाले तथा एकविध प्रभो ! आपकी जय हो । हरे ! आपने प्रकृतिके भाँति-भाँतिके विकार बढाये हैं । आपकी वृद्धि हो । जगत्की यह धर्मप्रणाली आप प्रभुमें स्थित है ॥ २३-२७ ॥

न त्वामहं न चेशानो नेन्द्राद्यास्त्रिदशा हरे । ज्ञातुमीशा न मुनयः सनकाद्या न योगिनः ॥ २८ ॥
त्वं मायापटसंवीतो जगत्यत्र जगत्पते । कस्त्वां वेत्स्यति सर्वेश त्वत्प्रसादं विना नरः ॥ २९ ॥
त्वमेवाराधितो यस्य प्रसादसुमुखः प्रभो । स एव केवलं देवं वेत्ति त्वां नेतरो जनः ॥ ३० ॥
तदीश्वरेश्वरेशान विभो वर्द्धस्व भावन । प्रभवायास्य विश्वस्य विश्वात्मन् पृथुलोचन ॥ ३१ ॥

हे हरे ! मैं, शंकर, इन्द्र आदि देव, सनकादि मुनि तथा योगिगण आपको जाननेमें असमर्थ हैं । हे जगत्पते ! आप इस संसारमें मायारूपी वस्त्रसे ढके हैं । हे सर्वेश ! आपकी प्रसन्नताके बिना कौन ऐसा मनुष्य है जो आपको जान सके । प्रभो ! जो मनुष्य आपकी आराधना करता है और आप उसपर प्रसन्न होते हैं, वही आपको जानता है, अन्य नहीं । हे ईश्वरोंके भी ईश्वर ! हे ईशान ! हे विभो ! हे भावन ! हे विश्वात्मन् ! हे पृथुलोचन ! इस विश्वके प्रभव (उत्पत्ति—सृष्टिके कारण) विष्णु ! आपकी वृद्धि हो—जय हो ॥ २८-३१ ॥

लोमहर्षण उवाच

एवं स्तुतो हृषीकेशः स तदा वामनाकृतिः । प्रहस्य भावगम्भीरमुवाचारूढसंपदम् ॥ ३२ ॥
स्तुतोऽहं भवता पूर्वमिन्द्राद्यैः कश्यपेन च । मया च वः प्रतिज्ञातमिन्द्रस्य भुवनत्रयम् ॥ ३३ ॥
भूयश्चाहं स्तुतोऽदित्या तस्याश्चापि मया श्रुतम् । यथा शक्राय दास्यामि त्रैलोक्यं हतकण्टकम् ॥ ३४ ॥
सोऽहं तथा करिष्यामि यथेन्द्रो जगतः पतिः । भविष्यति सहस्राक्षः सत्यमेतद् ब्रवीमि च ॥ ३५ ॥

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार जब वामनरूपमें अवतीर्ण भगवान्की स्तुति सम्पन्न हुई, तब हृषीकेश भगवान् हँसकर अभिप्रायपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त वाणीमें बोले—पूर्वकालमें आपने, इन्द्र आदि देवों तथा कश्यपने मेरी स्तुति की थी । मैंने भी आप लोगोंसे इन्द्रके लिये त्रिभुवनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी । इसके बाद अदितिने मेरी स्तुति की तो उससे भी मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं बाधाओंसे रहित तीनों लोकोंको इन्द्रको दूँगा । अतः मैं ऐसा करूँगा कि जिससे हजारों नेत्रोंवाले (इन्द्र) संसारके स्वामी होंगे । मेरा यह कथन सत्य है ॥ ३२-३५ ॥

ततः कृष्णाजिनं ब्रह्मा हृषीकेशाय दत्तवान् । यज्ञोपवीतं भगवान् ददौ तस्य बृहस्पतिः ॥ ३६ ॥
आषाढमददाद् दण्डं मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः ।
कमण्डलुं वसिष्ठश्च कौशं चीरमथाङ्गिराः । आसनं चैव पुलहः पुलस्त्यः पीतवाससी ॥ ३७ ॥
उपतस्थुश्च तं वेदाः प्रणवस्वरभूषणाः । शास्त्राण्यशेषाणि तथा सांख्ययोगोक्तयश्च याः ॥ ३८ ॥
स वामनो जटी दण्डी छत्री धृतकमण्डलुः । सर्वदेवमयो देवो बलेरध्वरमभ्यगात् ॥ ३९ ॥

(हृषीकेश भगवान्के इस प्रकार अपने वचनकी सत्यता घोषित करनेके बाद) ब्रह्माने हृषीकेशको कृष्ण मृगचर्म समर्पित किया एवं भगवान् बृहस्पतिने उन्हें यज्ञोपवीत दिया । ब्रह्मपुत्र मरीचिने उन्हें पलाशदण्ड, वसिष्ठने कमण्डलु और अङ्गिराने रेशमी वस्त्र दिया । पुलहने आसन तथा पुलस्त्यने दो पीले वस्त्र दिये । ओंकारके स्वरसे अलंकृत वेद, सभी शास्त्र तथा सांख्ययोग आदि दर्शनोंकी उक्तियाँ उनका उपस्थान करने लगीं । समस्त देवताओंके मूर्तिरूप वामनभगवान् जटा, दण्ड, छत्र एवं कमण्डलु धारण करके बलिकी यज्ञभूमिमें पधारे ॥ ३६–३९ ॥

यत्र यत्र पदं विप्रा भूभागे वामनो ददौ । ददाति भूमिर्विवरं तत्र तत्राभिपीडिता ॥ ४० ॥
स वामनो जडगतिर्मृदु गच्छन् सपर्वताम् । साब्धिद्वीपवतीं सर्वां चालयामास मेदिनीम् ॥ ४१ ॥
बृहस्पतिस्तु शनकैर्मार्गं दर्शयते शुभम् । तथा क्रीडाविनोदार्थमतिजाड्यगतोऽभवत् ॥ ४२ ॥
ततः शेषो महानागो निःसृत्यासौ रसातलात् । साहाय्यं कल्पयामास देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ४३ ॥
तदद्यापि च विख्यातमहेर्बिलमनुत्तमम् । तस्य संदर्शनादेव नागेभ्यो न भयं भवेत् ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

ब्राह्मणो ! पृथ्वीपर वामन भगवान् जिस-जिस स्थानपर डग रखते थे, वहाँकी दबी हुई भूमिमें दरार पड़ जाता था—गड्ढा हो जाता था । मधुरभावसे धीरे-धीरे चलते हुए वामनभगवान्ने समुद्रों, द्वीपों तथा पर्वतोंसे युक्त सारी पृथ्वीको कँपा दिया । बृहस्पति भी शनैः-शनैः उन्हें सारे कल्याणकारी मार्गको दिखाने लगे एवं स्वयं भी क्रीडापूर्ण मनोरञ्जनके लिये अत्यन्त धीरे-धीरे चलने लगे । उसके बाद महानाग शेष रसातलसे ऊपर आकर देवदेव चक्रधारी भगवान्की सहायता करने लगे । आज भी वह श्रेष्ठ सर्पोंका बिल विख्यात है और उसके दर्शनमात्रसे नागोंसे भय नहीं होता ॥ ४०–४४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

[अथैकत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

सपर्वतवनामुर्वीं दृष्ट्वा संक्षुभितां बलिः । पप्रच्छोशनसं शुक्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १ ॥
आचार्य क्षोभमायाति साब्धिभूमिधरा मही । कस्माच्च नासुरान् भागान् प्रतिगृह्णन्ति वह्नयः ॥ २ ॥
इति पृष्टोऽथ बलिना काव्यो वेदविदां वरः । उवाच दैत्याधिपतिं चिरं ध्यात्वा महामतिः ॥ ३ ॥
अवतीर्णो जगद्योनिः कश्यपस्य गृहे हरिः । वामनेनेह रूपेण परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

इकतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामनद्वारा तीन पग भूमिकी याचना तथा विराट्रूपसे तीनों लोकोंको तीन पगमें नाप लेना और बलिका पातालमें जाना)

लोमहर्षण बोले—बलिने वनों और पर्वतोंके साथ सम्पूर्ण पृथ्वीको क्षोभसे भरी देखकर हाथ जोड़ करके शुक्राचार्यको प्रणाम कर पूछा—आचार्यदेव ! समुद्र तथा पर्वतोंके साथ पृथ्वीके क्षुब्ध होनेका क्या कारण है और अग्निदेव असुरोंके भागोंको क्यों नहीं ग्रहण कर रहे हैं ? बलिके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् शुक्राचार्यने चिरकालतक ध्यान लगाकर (और तथ्य समझकर) दैत्येन्द्रसे कहा—कश्यपके घरमें जगद्योनि—संसारको उत्पन्न करनेवाले सनातन परमात्मा वामनके रूपमें अवतीर्ण हो गये हैं ॥ १–४ ॥

स नूनं यज्ञमायाति तव दानवपुंगव। तत्पादन्यासविक्षोभादियं प्रचलिता मही ॥ ५ ॥
कम्पन्ते गिरयश्चेमे क्षुभिता मकरालयाः। नेयं भूतपतिं भूमिः समथा वोढुमीश्वरम् ॥ ६ ॥
सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
अनेनैव धृता भूमिरापोऽग्निः पवनो नभः। धारयत्यखिलान् देवान् मनुष्यांश्च महासुरान् ॥ ७ ॥
इयमस्य जगद्धातुर्माया कृष्णस्य गह्वरी। धार्यधारकभावेन यया संपीडितं जगत् ॥ ८ ॥

दानवश्रेष्ठ ! वे ही प्रभु तुम्हारे यज्ञमें आ रहे हैं। उन्हींके पैर रखनेसे पृथ्वीमे विक्षोभ हो रहा है जिससे यह पृथ्वी काँप रही है, ये पर्वत भी काँप रहे हैं और सिन्धुमें जोरोंकी लहरें उठ रही हैं। इस भूमिमें उन भूतपति भगवान्‌को वहन करनेकी शक्ति नहीं है। ये ही (परमात्मा) देव, असुर, गन्धर्व, देवों, मनुष्यों एवं महासुरोंको धारण करते हैं। जगत्‌को धारण करनेवाले भगवान् कृष्णकी ही यह गम्भीर (अचिन्त्य) माया है, जिस मायाके द्वारा यह संसार धार्यधारकभावसे क्षुब्ध हो रहा है ॥ ५–८ ॥

तत्संनिधानादसुरा न भागार्हाः सुरद्विषः। भुञ्जते नासुरान् भागानपि तेन त्रयोऽग्नयः ॥ ९ ॥
शुक्रस्य वचनं श्रुत्वा हृष्टरोमाऽब्रवीद् बलिः।
धन्योऽहं कृतपुण्यश्च यन्मे यज्ञपतिः स्वयम्। यज्ञमभ्यागतो ब्रह्मन् मत्तः कोऽन्योऽधिकः पुमान् ॥ १० ॥
यं योगिनः सदोद्युक्ताः परमात्मानमव्ययम्।
द्रष्टुमिच्छन्ति देवोऽसौ ममाध्वरमुपेष्यति। यन्मयाचार्य कर्त्तव्यं तन्ममादेष्टुमर्हसि ॥ ११ ॥

उनके सन्निधान होनेके कारण देवताओंके शत्रु दैत्यलोग यज्ञ-भाग पानेके योग्य नहीं रह गये हैं, अतएव तीनों अग्निदेव भी असुरोंके भागको नहीं ले रहे हैं। शुक्राचार्यकी बात सुननेके बाद बलिके रोंगटे खडे हो गये। उसके बाद बलिने (शुक्राचार्यसे) कहा—ब्रह्मन्! मैं धन्य एवं कृतकृत्य हो गया, जो स्वयं यज्ञके अधिपति भगवान् लगातार मेरे यज्ञमें पधार रहे हैं। कौन दूसरा पुरुष मुझसे श्रेष्ठ है? सदैव सावधान रहनेवाले योगीलोग जिन नित्य परमात्माको देखना चाहते हैं, वे ही देव मेरे यज्ञमें (कृपाकर) पधार रहे हैं। आचार्य! मुझे जो करना चाहिये, उसे आप आदिष्ट कीजिये ॥ ९–११ ॥

शुक्र उवाच

यज्ञभागभुजो देवा वेदप्रामाण्यतोऽसुर। त्वया तु दानवा दैत्य यज्ञभागभुजः कृताः ॥ १२ ॥
अयं च देवः सत्त्वस्थः करोति स्थितिपालनम्। विसृष्टं च तथाऽयं च स्वयमत्ति प्रजाः प्रभुः ॥ १३ ॥
भवांस्तु वन्दी भविता नूनं विष्णुः स्थितौ स्थितः। विदित्वैवं महाभाग कुरु यत् ते मनोगतम् ॥ १४ ॥
त्वयाऽस्य दैत्याधिपते स्वल्पकेऽपि हि वस्तुनि। प्रतिज्ञा नैव वोढव्या वाच्यं साम तथाऽफलम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यस्य देवस्य देवार्थं चैव कुर्वतः।
अलं दद्यां धनं देवे त्वेतद्वाच्यं तु याचतः। कृष्णस्य देवभूत्यर्थं प्रवृत्तस्य महासुर ॥ १६ ॥

शुक्राचार्य बोले—असुर! वेदोंका विधान है कि यज्ञभागके भोक्ता देवता हैं। परंतु दैत्य! तुमने यज्ञभागका भोक्ता दानवोंको बना दिया है। (यह वेद-विधानके विपरीत किया है—विधानका उल्लङ्घन किया है।) ये ही देव सत्त्वगुणका आश्रय लेकर विश्वकी स्थिति और पालन करते हैं और ये ही सृष्टि भी करते हैं फिर ये ही प्रभु स्वयं प्रजाका (जीवोंका) अन्त भी करते हैं। विष्णु स्थितिके कार्यमे (कल्याणमय मर्यादाके स्थापनमें) तत्पर हो गये हैं। अतः आपको निश्चय ही बन्दी होना है। महाभाग! इसपर विचारकर तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा हो वैसा करो। दैत्यपते! (देखना) तुम थोड़ी-सी भी वस्तु देनेके लिये उनसे प्रतिज्ञा मत करना।

व्यर्थकी कोमल और मधुर बातें करना। महासुर! कृतकृत्य, एवं देवताओंका कार्य पूरा करनेवाले तथा देवताओंके ऐश्वर्यके लिये प्रयत्नशील भगवान् श्रीकृष्णके याचना करनेपर 'मैं देवताओंके हेतु पर्याप्त धन दूँगा' ऐसा कहना ॥ १२-१६ ॥

बलिरुवाच

ब्रह्मन् कथमहं ब्रूयामन्येनापि हि याचितः। नास्तीति किमु देवस्य संसारस्याघहारिणः ॥ १७ ॥
व्रतोपवासैर्विविधैर्यः प्रभुर्गृह्यते हरिः। स मे वक्ष्यति देहीति गोविन्दः किमतोऽधिकम् ॥ १८ ॥
यदर्थं सुमहारम्भा दमशौचगुणान्वितैः। यज्ञाः क्रियन्ते यज्ञेशः स मे देहीति वक्ष्यति ॥ १९ ॥
तत्साधु सुकृतं कर्म तपः सुचरितं च नः। यन्मां देहीति विश्वेशः स्वयमेव वदिष्यति ॥ २० ॥

बलि बोले—ब्रह्मन्! मैं दूसरोंके याचना करनेपर भी 'नहीं है'—ऐसा कैसे कह सकता हूँ? फिर संसारके पापोंको दूर करनेवाले (उन) देवसे कहनेकी तो बात ही क्या है? विविध प्रकारके व्रतों एवं उपवासोंसे जो परमेश्वर ग्रहण किये जाने योग्य हैं, वे ही गोविन्द मुझसे 'दो' इस प्रकार कहेंगे तो इससे बढ़कर (मेरे लिये) और (भाग्य) क्या हो सकता है? जिनके लिये दम-शमादि शौच—भीतरी-बाहरी पवित्रता आदि गुणोंसे युक्त लोग यज्ञीय उपकरणों एवं सम्पत्तियोंको लगाकर यज्ञ करते हैं, वे ही यज्ञेश (यज्ञके स्वामी) यदि मुझसे 'दो' इस प्रकार कहेंगे तो मेरे किये हुए सभी कर्म सफल हो गये और हमारा तपश्चरण भी सफल हो गया; क्योंकि विश्वके स्वामी स्वयं मुझसे 'दो'—इस तरह कहेंगे ॥ १७-२० ॥

नास्तीत्यहं गुरो वक्ष्ये तमभ्यागतमीश्वरम्। प्राणत्यागं करिष्येऽहं न तु नास्ति जने क्वचित् ॥ २१ ॥
नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम्। वक्ष्यामि कथमायाते तदद्य चामरेऽच्युते ॥ २२ ॥
श्लाघ्य एव हि वीराणां दानाच्चापत्समागमः। न बाधाकारि यद्दानं तदङ्ग बलवत् स्मृतम् ॥ २३ ॥
मद्राज्ये नासुखी कश्चिन्न दरिद्रो न चातुरः। न दुःखितो न चोद्विग्नो न शमादिविवर्जितः ॥ २४ ॥
हृष्टस्तुष्टः सुगन्धी च तृप्तः सर्वसुखान्वितः। जनः सर्वो महाभाग किमुताहं सदा सुखी ॥ २५ ॥

गुरुदेव! क्या अपने यहाँ (याचकरूपमें) आये उन परमेश्वरसे 'नहीं है'—मैं ऐसा कहूँ? (यह तो उचित नहीं जँचता है) भले ही प्राणोंका त्याग कर दूँगा; किंतु अन्य भी याचक मनुष्यसे 'नहीं है'—यह नहीं कह सकता। दूसरोंके भी याचना करनेपर जब मैंने 'नहीं है'—ऐसा नहीं कहा तो आज अपने यहाँ स्वयं पूर्ण परमेश्वरके आ जानेपर मैं यह कैसे कहूँगा कि 'नहीं है'? दानके कारण यदि कठिनाई आती है तो उसे वीर पुरुष प्रशंसनीय ही मानते हैं। क्योंकि दानका महत्त्व उससे और बढ़ जाता है। गुरो! (हाँ, साधारणतया यह समझा जाता है कि—) जो दान बाधा डालनेवाला नहीं होता, वह निःसन्देह बलवान् कहा गया है। (पर ऐसा प्रसंग नहीं आ सकता; क्योंकि) मेरे राज्यमें ऐसा कोई भी नहीं है जो सुखी न हो और न कोई रोगी या दुःखी ही है, न कोई किसीके द्वारा उद्वेजित किया गया है और न कोई शम आदि गुणोंसे रहित है। महाभाग! सभी लोग हृष्ट, तुष्ट, पुण्यात्मा-धर्मपरायण तृप्त एवं सुखी हैं। अधिक क्या है? मैं तो सदा सुखी हूँ ॥ २१-२५ ॥

एतद्विशिष्टमत्राहं दानबीजफलं लभे। विदितं मुनिशार्दूल मयैतत् त्वन्मुखाच्छ्रुतम् ॥ २६ ॥
मत्प्रसादपरो नूनं यज्ञेनाराधितो हरिः। मम दानमवाप्यासौ पुष्णाति यदि देवताः ॥ २७ ॥
एतद्बीजवरे दानबीजं पतति चेद् गुरौ। जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया ॥ २८ ॥
विशिष्टं मम तद्दानं परितुष्टाश्च देवताः। उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम् ॥ २९ ॥

भगवान् मायावामनका यज्ञवाटमें पूजन

मुनिशार्दूल ! आपके मुखसे सुनकर मुझे यह मालूम हो गया कि मैं यहाँपर विशिष्ट दानरूपी बीजका शुभ फल प्राप्त कर रहा हूँ। वे हरि यदि मुझसे दान लेकर देवताओंकी पुष्टि करते हैं तो यज्ञसे आराधित वे (हरि) मुझपर निश्चय ही प्रसन्न हैं। यदि श्रेष्ठ बीज (ऐसा दान) महान् (योग्य) पात्र, पूज्य जनार्दनको मिल गया तो फिर मुझे क्या नहीं मिला ? निश्चय ही मेरा यह दान विशिष्ट गुणोंवाला है और देवता मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। दानके उपभोगकी अपेक्षा दान देना सौ-गुना सुख देनेवाला माना गया है ॥ २६–२९ ॥

मत्प्रसादपरो नूनं यज्ञेनाराधितो हरिः। तेनाभ्येति न संदेहो दर्शनादुपकारकृत् ॥ ३० ॥
अथ कोपेन चाभ्येति देवभागोपरोधतः। मां निहन्तुं ततो हि स्याद् वधः श्लाघ्यतरोऽच्युतात् ॥ ३१ ॥
एतज्ज्ञात्वा मुनिश्रेष्ठ दानविघ्नकरेण मे। नैव भाव्यं जगन्नाथे गोविन्दे समुपस्थिते ॥ ३२ ॥

यज्ञमें पूजे गये श्रीहरि निश्चय ही मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। तभी तो निस्संदेह मुझे दर्शन देकर मेरा कल्याण करनेवाले वे प्रभु आ रहे हैं, निश्चय ही यही बात है। देवताओंके देवभागकी प्राप्तिमें रुकावट होनेके कारण यदि वे क्रोधवश मेरा वध करने भी आ रहे हों तो भी उन अच्युतसे होनेवाला मेरा वध भी प्रशंसनीय ही होगा। मुनिश्रेष्ठ ! यह समझकर गोविन्दके यहाँ समुपस्थित होनेपर आप मेरे दानमें विघ्न न डालेंगे ॥ ३०–३२ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्येवं वदतस्तस्य प्राप्तस्तत्र जनार्दनः। सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो मायावामनरूपधृक् ॥ ३३ ॥
तं दृष्ट्वा यज्ञवाटं तु प्रविष्टमसुराः प्रभुम्। जग्मुः प्रभावतः क्षोभं तेजसा तस्य निष्प्रभाः ॥ ३४ ॥
जेपुश्च मुनयस्तत्र ये समेता महाध्वरे। वसिष्ठो गाधिजो गर्गो अन्ये च मुनिसत्तमाः ॥ ३५ ॥
बलिश्चैवाखिलं जन्म मेने सफलमात्मनः। ततः संक्षोभमापन्नो न कश्चित् किंचिदुक्तवान् ॥ ३६ ॥

लोमहर्षण बोले—जिस समय शुक्राचार्य और बलिमें इस प्रकार बात हो रही थी उसी समय सर्वदेवमय, अचिन्त्य भगवान् अपनी मायासे अपना वामनरूप धारण करके वहाँ पहुँच गये। उन प्रभुको यज्ञस्थानमें उपस्थित देखकर दैत्यलोग उनके प्रभावसे अशान्त और तीव्र तेजसे रहित हो गये। उस महायज्ञमें एकत्र (उपस्थित) वसिष्ठ, विश्वामित्र, गर्ग एवं अन्य श्रेष्ठ मुनिजन अपना-अपना जप करने लगे। बलिने भी अपने सम्पूर्ण जन्मको सफल माना; किंतु उसके बाद (इधर) खलबली मच गयी और संक्षुब्ध होनेके कारण किसीने कुछ भी नहीं कहा ॥ ३३–३६ ॥

प्रत्येकं देवदेवेशं पूजयामास तेजसा। अथासुरपतिं प्रह्वं दृष्ट्वा मुनिवरांश्च तान् ॥ ३७ ॥
देवदेवपतिः साक्षाद् विष्णुर्वामनरूपधृक्।
तुष्टाव यज्ञं वह्निं च यजमानमथार्चितः। यज्ञकर्माधिकारस्थान् सदस्यान् द्रव्यसंपदम् ॥ ३८ ॥
सदस्याः पात्रमखिलं वामनं प्रति तत्क्षणात्। यज्ञवाटस्थितं विप्राः साधु साध्वित्युदीरयन् ॥ ३९ ॥
स चार्घमादाय बलिः प्रोद्भूतपुलकस्तदा। पूजयामास गोविन्दं प्राह चेदं महासुरः ॥ ४० ॥

उनके देदीप्यमान तेजके कारण प्रत्येकने देवाधिदेवकी पूजा की। उसके बाद वामनरूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हुए विष्णु भगवान्‌ने लोगोंसे पूजित होनेके बाद एक दृष्टिसे (चारों ओर देखकर) उन विनम्र दैत्यपति एवं मुनिवरोंको देखा तथा यज्ञ, अग्नि, यजमान, यज्ञकर्ममें अधिकृत सदस्यों एवं द्रव्यकी सामग्रियोंकी प्रशंसा की। हे विप्रो ! तत्काल ही सभी सदस्यगण यज्ञमण्डपमें उपस्थित पात्रस्वरूप वामनके प्रति 'साधु-साधु' कहने लगे। उस समय हर्षमें विह्वल होकर महासुर बलिने अर्घ लिया और गोविन्दकी पूजा की तथा उनसे यह कहा ॥ ३७–४० ॥

बलिरुवाच

सुवर्णरत्नसंघातो गजाश्वसमितिस्तथा। स्त्रियो वस्त्राण्यलंकारान् गावो ग्रामाश्च पुष्कलाः ॥ ४१ ॥
सर्वे च सकला पृथ्वी भवतो वा यदीप्सितम्। तद् ददामि वृणुष्वेष्टं ममार्थाः सन्ति ते प्रियाः ॥ ४२ ॥

बलिने कहा—(वामनदेव !) अनन्त सुवर्ण और रत्नोंके ढेर तथा हाथी, घोड़े, स्त्रियाँ, वस्त्र, आभूषण, गायें और ग्रामसमूह—ये सभी वस्तुएँ, समस्त पृथ्वी अथवा आपकी जो अभिलाषा हो वह मैं देता हूँ। आप अपना अभीष्ट बतलायें। मेरे प्रिय लगनेवाले समस्त अर्थ आपके लिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना प्रीतिगर्भान्वितं वचः। प्राह सस्मितगम्भीरं भगवान् वामनाकृतिः ॥ ४३ ॥
ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्। सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

दैत्यपति बलिके इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक उदार वचन कहनेपर वामनका आकार धारण करनेवाले भगवान्‌ने हँसते हुए दुर्बोध वाणीमे कहा—राजन् ! मुझे अग्निशालाके लिये तीन पग (भूमि) दें। सुवर्ण, ग्राम एवं रत्न आदि उनकी इच्छा रखनेवाले याचकोंको प्रदान करें ॥ ४३–४४ ॥

बलिरुवाच

त्रिभिः प्रयोजनं किं ते पदैः पदवतां वर। शतं शतसहस्रं वा पदानां मार्गतां भवान् ॥ ४५ ॥

बलिने कहा—हे पदधारियोंमें श्रेष्ठ ! तीन पग भूमिसे आपका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा। सौ अथवा सौ हजार पग भूमि आप माँगिये ॥ ४५ ॥

श्रीवामन उवाच

एतावता दैत्यपते कृतकृत्योऽस्मि मार्गणे। अन्येषामर्थिनां वित्तमिच्छया दास्यते भवान् ॥ ४६ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु गदितं वामनस्य महात्मनः। वाचयामास वै तस्मै वामनाय महात्मने ॥ ४७ ॥
पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूदवामनः। सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥
चन्द्रसूर्यौ तु नयने द्यौः शिरश्चरणौ क्षितिः। पादाङ्गुल्यः पिशाचास्तु हस्ताङ्गुल्यश्च गुह्यकाः ॥ ४९ ॥

श्रीवामनने कहा—हे दैत्यपते ! मैं इतना पानेसे ही कृतकृत्य हूँ। (मेरा स्वार्थ इतनेसे ही सिद्ध हो जायगा) आप दूसरे याचना करनेवाले याचकोंको उनके इच्छानुकूल दान दीजियेगा। महात्मा वामनकी यह वाणी सुनकर (बलिने) उन महात्मा वामनको तीन पग भूमि देनेके लिये वचन दे दिया। दान देनेके लिये हाथपर जल गिरते ही वामन अवामन (विराट्) बन गये। तत्क्षण उन्होंने उन्हें अपना सर्वदेवमय स्वरूप दिखाया। चन्द्र और सूर्य उनके दोनों नेत्र, आकाश सिर, पृथ्वी दोनों चरण, पिशाच पैरकी अँगुलियाँ एवं गुह्यक हाथोंकी अँगुलियाँ थे ॥ ४६–४९ ॥

विश्वेदेवाश्च जानुस्था जङ्घे साध्याः सुरोत्तमाः। यक्षा नखेषु सम्भूता रेखास्वप्सरसस्तथा ॥ ५० ॥
दृष्टिर्ऋक्षाण्यशेषाणि केशाः सूर्यांशवः प्रभोः। तारका रोमकूपाणि रोमेषु च महर्षयः ॥ ५१ ॥
बाहवो विदिशस्तस्य दिशः श्रोत्रे महात्मनः। अश्विनौ श्रवणे तस्य नासा वायुर्महात्मनः ॥ ५२ ॥
प्रसादे चन्द्रमा देवो मनो धर्मः समाश्रितः। सत्यमस्याभवद् वाणी जिह्वा देवी सरस्वती ॥ ५३ ॥

जानुओंमें विश्वेदेवगण, दोनों जङ्घाओंमें सुरश्रेष्ठ साध्यगण, नखोंमे यक्ष एवं रेखाओंमें अप्सराएँ थीं। समस्त नक्षत्र उनकी दृष्टियाँ, सूर्यकिरणें प्रभुके केश, तारकाएँ उनके रोमकूप एवं महर्षिगण रोमोंमें स्थित थे। विदिशाएँ उनकी बाहें, दिशाएँ उन महात्माके कर्ण, दोनों अश्विनीकुमार, श्रवण एवं वायु उन महात्माके नासिका-स्थानपर थे। उनके प्रसादमें (मधुर हास्यछटामें) चन्द्रदेव तथा मनमें धर्म आश्रित थे। सत्य उनकी वाणी तथा जिह्वा सरस्वती देवी थीं ॥ ५०–५३ ॥

ग्रीवाऽदितिर्देवमाता विद्यास्तद्वलयस्तथा। स्वर्गद्वारमभूल्मैत्रं त्वष्टा पूषा च वै भ्रुवौ ॥ ५४ ॥
मुखे वैश्वानरश्चास्य वृषणौ तु प्रजापतिः। हृदयं च परं ब्रह्म पुंस्त्वं वै कश्यपो मुनिः ॥ ५५ ॥
पृष्ठेऽस्य वसवो देवा मरुतः सर्वसंधिषु। वक्षःस्थले तथा रुद्रो धैर्ये चास्य महार्णवः ॥ ५६ ॥
उदरे चास्य गन्धर्वा मरुतश्च महाबलाः। लक्ष्मीर्मेधा धृतिः कान्तिः सर्वविद्याश्च वै कटिः ॥ ५७ ॥

देवमाता अदिति उनकी ग्रीवा, विद्या उनकी वलियाँ, स्वर्गद्वार उनकी गुदा तथा त्वष्टा एवं पूषा उनकी भौंहें थे। वैश्वानर उनके मुख तथा प्रजापति वृषण थे। परंब्रह्म उनके हृदय तथा कश्यप मुनि उनके पुंस्त्व थे। उनकी पीठमें वसु देवता, सभी सन्धियोंमें मरुद्गण, वक्षःस्थलमें रुद्र तथा उनके धैर्यमें महार्णव आश्रित थे। उनके उदरमें गन्धर्व एवं महाबली मरुद्गण स्थित थे। लक्ष्मी, मेधा, धृति, कान्ति एवं सभी विद्याएँ उनकी कटिमें स्थित थीं ॥ ५४—५७ ॥

सर्वज्योतींषि यानीह तपश्च परमं महत्। तस्य देवाधिदेवस्य तेजः प्रोद्भूतमुत्तमम् ॥ ५८ ॥
तनौ कुक्षिषु वेदाश्च जानुनी च महामखाः। इष्टयः पशवश्चास्य द्विजानां चेष्टितानि च ॥ ५९ ॥
तस्य देवमयं रूपं दृष्ट्वा विष्णोर्महात्मनः। उपसर्पन्ति ते दैत्याः पतङ्गा इव पावकम् ॥ ६० ॥
चिक्षुरस्तु महादैत्यः पादाङ्गुष्ठं गृहीतवान्। दन्ताभ्यां तस्य वै ग्रीवामङ्गुष्ठेनाहनद्धरिः ॥ ६१ ॥

समस्त ज्योतियाँ एवं परम महत् तप उन देवाधिदेवके उत्तम तेज थे। उनके शरीर एवं कुक्षियोंमें वेद थे तथा बड़े-बड़े यज्ञ इष्टियाँ थीं, पशु एवं ब्राह्मणोंकी चेष्टाएँ उनकी दोनो जानुएँ थीं। उन महात्मा विष्णुके सर्वदेवमय रूपको देखकर वे दैत्य उनके निकट उसी प्रकार जाते थे, जिस प्रकार अग्निके निकट पतिंगे जाते हैं। महादैत्य चिक्षुरने दाँतोसे उनके पैरके अँगूठेको दबोच लिया। फिर भगवान्‌ने अँगूठेसे उसकी ग्रीवापर प्रहार किया और—॥ ५८—६१ ॥

प्रमथ्य सर्वानसुरान् पादहस्ततलैर्विभुः। कृत्वा रूपं महाकायं संजहाराशु मेदिनीम् ॥ ६२ ॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे। नभो विक्रममाणस्य सक्थिदेशे स्थितावुभौ ॥ ६३ ॥
परं विक्रममाणस्य जानुमूले प्रभाकरौ। विष्णोरास्तां स्थितस्यैतौ देवपालनकर्मणि ॥ ६४ ॥
जित्वा लोकत्रयं तांश्च हत्वा चासुरपुंगवान्। पुरंदराय त्रैलोक्यं ददौ विष्णुरुरुक्रमः ॥ ६५ ॥

अपने पैरो एवं हाथोंके तलवोसे समस्त असुरोंको रगड़ डाला तथा विराट् शरीर धारण करके शीघ्र ही उन्होंने पृथ्वीको उनसे छीन लिया। भूमिको नापते समय चन्द्र और सूर्य उनके स्तनोंके मध्य स्थित थे तथा आकाशके नापते समय उनकी सक्थिप्रदेश (जाँघ-) में स्थित हो गये एवं परम (ऊर्ध्व) लोकका अतिक्रमण करते समय देवताओंकी रक्षा करनेमें स्थित श्रीविष्णुके जानुमूल-(घुटनेके स्थान-)में चन्द्र एवं सूर्य स्थित हो गये। उरुक्रम (लंबी डगोंवाले) विष्णुने तीनों लोकोको जीतकर एवं उन बडे-बडे असुरोका वध कर तीनो लोक इन्द्रको दे दिये ॥ ६२—६५ ॥

सुतलं नाम पातालमधस्ताद् वसुधातलात्। बलेर्दत्तं भगवता विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ६६ ॥
अथ दैत्येश्वरं प्राह विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः। तत् त्वया सलिलं दत्तं गृहीतं पाणिना मया ॥ ६७ ॥
कल्पप्रमाणं तस्मात् ते भविष्यत्यायुरुत्तमम्। वैवस्वते तथाऽतीते काले मन्वन्तरे तथा ॥ ६८ ॥
सावर्णिके तु संप्राप्ते भवानिन्द्रो भविष्यति। इदानीं भुवनं सर्वं दत्तं शक्राय वै पुरा ॥ ६९ ॥
चतुर्युगव्यवस्था च साधिका ह्येकसप्ततिः। नियन्तव्या मया सर्वे ये तस्य परिपन्थिनः ॥ ७० ॥

शक्तिशाली भगवान् विष्णुने पृथ्वीतलके नीचे स्थित सुतलनामक पातालको बलिके लिये दे दिया। तदनन्तर सर्वेश्वर विष्णुने दैत्येश्वरसे कहा—मैंने तुम्हारे द्वारा दानके लिये दिये हुए जलको अपने हाथमें ग्रहण किया है; अतः तुम्हारी उत्तम आयु कल्पप्रमाणकी होगी तथा वैवस्वत मन्वन्तरका काल व्यतीत होनेपर एवं सावर्णिक मन्वन्तरके आनेपर तुम इन्द्रपद प्राप्त करोगे—इन्द्र बनोगे। इस समयके लिये मैंने समस्त भुवनको पहले ही इन्द्रको दे रक्खा है। इकहत्तर चतुर्युगीके कालसे कुछ अधिक कालतक जो समयकी व्यवस्था है अर्थात् एक मन्वन्तरके कालतक मैं उसके (इन्द्रके) विरोधियोंको अनुशासित करूँगा ॥ ६६–७० ॥

तेनाहं परया भक्त्या पूर्वमाराधितो बले। सुतलं नाम पातालं समासाद्य वचो मम ॥ ७१ ॥
वसासुर ममादेशं यथावत्परिपालयन्। तत्र देवसुखोपेते प्रासादशतसंकुले ॥ ७२ ॥
प्रोत्फुल्लपद्मसरसि ह्रदशुद्धसरिद्वरे। सुगन्धी रूपसंपन्नो वराभरणभूषितः ॥ ७३ ॥
स्रक्चन्दनादिदिग्धाङ्गो नृत्यगीतमनोहरान्। उपभुञ्जन् महाभोगान् विविधान् दानवेश्वर ॥ ७४ ॥
ममाज्ञया कालमिमं तिष्ठ स्त्रीशतसंवृतः। यावत्सुरैश्च विप्रैश्च न विरोधं गमिष्यसि ॥ ७५ ॥
तावत् त्वं भुङ्क्ष्व संभोगान् सर्वकामसमन्वितान्।
यदा सुरैश्च विप्रैश्च विरोधं त्वं करिष्यसि। बन्धिष्यन्ति तदा पाशा वारुणा घोरदर्शनाः ॥ ७६ ॥

हे बलि ! पूर्वकालमें उसने बड़ी श्रद्धासे मेरी आराधना की थी, अतः तुम मेरे कहनेसे सुतल नामक पातालमें जाकर मेरे आदेशका भलीभाँति पालन करो तथा देवताओंके सुखसे भरे-पूरे सैकड़ों प्रासादोंसे पूर्ण विकसित कमलोंवाले सरोवरों, ह्रदों एवं शुद्ध श्रेष्ठ सरिताओंवाले उस स्थानपर निवास करो। हे दानवेश्वर ! सुगन्धिसे अनुलिप्त हो तथा श्रेष्ठ आभरणोंसे भूषित एवं माला और चन्दन आदिसे अलङ्कृत सुन्दर स्वरूपवाले तुम नृत्य और गीतसे युक्त विविध भाँतिके महान् भोगोंका उपभोग करते हुए सैकड़ों स्त्रियोंसे आवृत होकर इतने कालतक मेरी आज्ञासे वहाँ निवास करो। जबतक तुम देवताओं एवं ब्राह्मणोंसे विरोध न करोगे तबतक समस्त कामनाओंसे युक्त भोगोंको भोगोगे। किंतु जब तुम देवों एवं ब्राह्मणोंके साथ विरोध करोगे तो देखनेमें भयंकर वरुणके पाश तुम्हें बाँध लेंगे ॥ ७१–७६ ॥

बलिरुवाच

तत्रासतो मे पाताले भगवन् भवदाज्ञया।
किं भविष्यत्युपादानमुपभोगोपपादकम्। आप्यायितो येन देव स्मरेयं त्वामहं सदा ॥ ७७ ॥

बलिने पूछा—हे भगवन् ! हे देव ! आपकी आज्ञासे वहाँ पातालमें निवास करनेवाले मेरे भोगोंका साधन क्या होगा ? जिससे तृप्त होकर मैं सदा आपका स्मरण करूँगा ॥ ७७ ॥

श्रीभगवानुवाच

दानान्यविधिदत्तानि श्राद्धान्यश्रोत्रियाणि च। हुतान्यश्रद्धया यानि तानि दास्यन्ति ते फलम् ॥ ७८ ॥
अदक्षिणास्तथा यज्ञाः क्रियाश्चाविधिना कृताः। फलानि तव दास्यन्ति अधीतान्यव्रतानि च ॥ ७९ ॥
उदकेन विना पूजा विना दर्भेण या क्रिया। आज्येन च विना होमं फलं दास्यन्ति ते बले ॥ ८० ॥
यश्चेदं स्थानमाश्रित्य क्रियाः काश्चित्करिष्यति। न तत्र चासुरो भागो भविष्यति कदाचन ॥ ८१ ॥
ज्येष्ठाश्रमे महापुण्ये तथा विष्णुपदे ह्रदे। ये च श्राद्धानि दास्यन्ति व्रतं नियममेव च ॥ ८२ ॥

क्रिया कृता च या काचिद् विधिनाऽविधिनापि वा। सर्वं तदक्षयं तस्य भविष्यति न संशयः ॥ ८३ ॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे एकादश्यामुपोषितः।
द्वादश्यां वामनं दृष्ट्वा स्नात्वा विष्णुपदे ह्रदे। दानं दत्त्वा यथाशक्त्या प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८४ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अविधिपूर्वक दिये गये दान, श्रोत्रिय ब्राह्मणसे रहित श्राद्ध तथा बिना श्रद्धाके किये गये जो हवन हैं, वे तुम्हारे भाग होंगे। दक्षिणारहित यज्ञ, अविधि पूर्वक किये गये कर्म और व्रतसे रहित अध्ययन तुम्हें फल प्रदान करेंगे। हे बलि! जलके बिना की गयी पूजा, बिना कुशकी की गयी क्रिया और बिना घीके किये गये हवन तुमको फल देंगे। इस स्थानका आश्रय कर जो मनुष्य किन्हीं भी क्रियाओंको करेगा, उसमें कभी भी असुरोंका अधिकार न होगा। अत्यन्त पवित्र ज्येष्ठाश्रम तथा विष्णुपद सरोवरमें जो श्राद्ध, दान, व्रत या नियम-पालन करेगा तथा विधि या अविधिपूर्वक जो कोई क्रिया वहाँ की जायगी, उसके लिये वे सभी निःसंदेह अक्षय फलदायी होगा। जो मनुष्य ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें एकादशीके दिन उपवास कर द्वादशीके दिन विष्णु-पदनामके सरोवरमें स्नान कर वामनका दर्शन करनेके बाद यथाशक्ति दान देगा, वह परम पदको प्राप्त करेगा ॥ ७८–८४ ॥

लोमहर्षण उवाच

बलेर्वरमिमं दत्त्वा शक्राय च त्रिविष्टपम्। व्यापिना तेन रूपेण जगामादर्शनं हरिः ॥ ८५ ॥
शशास च यथापूर्वमिन्द्रस्त्रैलोक्यमूर्जितः। निःशेषं च तदा कालं बलिः पातालमास्थितः ॥ ८६ ॥
इत्येतत् कथितं तस्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम्। शृणुयाद्यो वामनस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८७ ॥
बलिप्रह्लादसंवादं मन्त्रितं बलिशुक्रयोः। बलेर्विष्णोश्च चरितं ये स्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ ८८ ॥
नाधयो व्याधयस्तेषां न च मोहाकुलं मनः। भविष्यति द्विजश्रेष्ठाः पुंसस्तस्य कदाचन ॥ ८९ ॥
च्युतराज्यो निजं राज्यमिष्टप्राप्तिं वियोगवान्। समाप्नोति महाभागा नरः श्रुत्वा कथामिमाम् ॥ ९० ॥
ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो जयते महीम्।
वैश्यो धनसमृद्धिं च शूद्रः सुखमवाप्नुयात्। वामनस्य च माहात्म्यं शृण्वन् पापैः प्रमुच्यते ॥ ९१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

लोमहर्षणजी बोले—भगवान् उस सर्वव्यापी रूपसे बलिको यह वरदान तथा इन्द्रको स्वर्ग प्रदानकर अन्तर्हित हो गये। तबसे बलशाली इन्द्र पहलेकी भाँति तीनों लोकोंका शासन करने लगे। और बलि सर्वदा पातालमें निवास करने लगे। इस प्रकार उन भगवान् (वामन) विष्णुका उत्तम माहात्म्य कहा गया; जो इसे (वामनमाहात्म्यको) सुनता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। द्विजश्रेष्ठो! बलि एवं प्रह्लादके संवाद, बलि एवं शुक्रकी मन्त्रणा तथा बलि एवं विष्णुके चरितका जो मनुष्य स्मरण करेंगे, उन्हें कभी कोई आधि एवं व्याधि न होगी तथा उनका मन भी मोहसे आकुल नहीं होगा। हे महाभागो! इस कथाको सुनकर राज्यच्युत व्यक्ति अपने राज्यको एवं वियोगी मनुष्य अपने प्रियको प्राप्त करता है। (इसको सुननेसे) ब्राह्मणको वेदकी प्राप्ति होती है, क्षत्रिय पृथ्वीकी जय प्राप्त करता है तथा वैश्यको धन-समृद्धि एवं शूद्रको सुखकी प्राप्ति होती है। वामनका माहात्म्य सुननेसे पापोंसे मुक्ति होती है ॥ ८५–९१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें एकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

[अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

कथमेषा समुत्पन्ना नदीनामुत्तमा नदी। सरस्वती महाभागा कुरुक्षेत्रप्रवाहिनी ॥ १ ॥
कथं सरः समासाद्य कृत्वा तीर्थानि पार्श्वतः।
प्रयाता पश्चिमामाशां दृश्यादृश्यगतिः शुभा। एतद् विस्तरतो ब्रूहि तीर्थवंशं सनातनम् ॥ २ ॥

बत्तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सरस्वती नदीका वर्णन—उसका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना)

ऋषियोंने पूछा—(लोमहर्षणजी !) कुरुक्षेत्रमे प्रवाहित होनेवाली नदियोंमें श्रेष्ठ भाग्यशालिनी यह सरस्वती नदी कैसे उत्पन्न हुई ? सरोवरमे जाकर अगल-बगलमें (अपने दोनों तटोपर) तीर्थोंकी स्थापना करती हुई दृश्य और अदृश्यरूपसे यह शुभ नदी किस प्रकार पश्चिम दिशाको गयी ? इस सनातन तीर्थ-वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन करे ॥ १-२ ॥

लोमहर्षण उवाच

प्लक्षवृक्षात् समुद्भूता सरिच्छ्रेष्ठा सनातनी। सर्वपापक्षयकरी स्मरणादेव नित्यशः ॥ ३ ॥
सैषा शैलसहस्राणि विदार्य च महानदी। प्रविष्टा पुण्यतोयौघा वनं द्वैतमिति स्मृतम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् प्लक्षे स्थितां दृष्ट्वा मार्कण्डेयो महामुनिः। प्रणिपत्य तदा मूर्ध्ना तुष्टावाथ सरस्वतीम् ॥ ५ ॥
त्वं देवि सर्वलोकानां माता देवारणिः शुभा। सदसद् देवि यत्किंचिन्मोक्षदाय्यर्थवत् पदम् ॥ ६ ॥
तत् सर्वं त्वयि संयोगि योगिवद् देवि संस्थितम्।
अक्षरं परमं देवि यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्। अक्षरं परमं ब्रह्म विश्वं चैतत् क्षरात्मकम् ॥ ७ ॥

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) स्मरण करनेमात्रसे ही नित्य सभी पापोको नष्ट करनेवाली यह सनातनी श्रेष्ठ (सरस्वती) नदी पाँकड़वृक्षसे उत्पन्न हुई है। यह पवित्र जलधारमयी महानदी हजारों पर्वतोको तोड़ती-फोडती हुई प्रसिद्ध द्वैत वनमे प्रविष्ट हुई, ऐसी प्रसिद्धि है। महामुनि मार्कण्डेयने उस प्लक्षवृक्षमे स्थित सरस्वती नदीको देखकर सिरसे (सिर झुकाकर नम्रतापूर्वक) प्रणाम करनेके बाद उसकी स्तुति की—देवि! आप सभी लोकोंकी माता एवं देवोंकी शुभ अरणि हैं। देवि ! समस्त सद्, असद्, मोक्ष देनेवाले एवं अर्थवान् पद, यौगिक क्रियासे युक्त पदार्थकी भाँति आपमें मिलकर स्थित है । देवि ! अक्षर परमब्रह्म तथा यह विनाशशील समस्त संसार आपमें प्रतिष्ठित है ॥ ३–७ ॥

दारुण्यवस्थितो वह्निर्भूमौ गन्धो यथा ध्रुवम्। तथा त्वयि स्थितं ब्रह्म जगच्चेदमशेषतः ॥ ८ ॥
ॐकाराक्षरसंस्थानं यत् तद् देवि स्थिरास्थिरम्। तत्र मात्रात्रयं सर्वमस्ति यद् देवि नास्ति च ॥ ९ ॥
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रैविद्यं पावकत्रयम्। त्रीणि ज्योतींषि वर्गाश्च त्रयो धर्मादयस्तथा ॥ १० ॥
त्रयो गुणास्त्रयो वर्णास्त्रयो देवास्तथा क्रमात्। त्रैधातवस्तथावस्थाः पितरश्चैवमादयः ॥ ११ ॥
एतन्मात्रात्रयं देवि तव रूपं सरस्वति। विभिन्नदर्शनामाद्यां ब्रह्मणो हि सनातनीम् ॥ १२ ॥

जिस प्रकार काठमें आग एवं पृथिवीमे गन्धकी निश्चित स्थिति होती है, उसी प्रकार तुम्हारे भीतर ब्रह्म और यह सम्पूर्ण जगत् नित्य (सदा) स्थित है। देवि ! जो कुछ भी स्थिर (अचर) तथा अस्थिर (चर) है, वह सब ओंकार अक्षरमे अवस्थित है । जो कुछ भी अस्तित्वयुक्त है या अस्तित्वविहीन, उन सबमें ओंकारकी तीन मात्राएँ

(अनुस्यूत) है। हे सरस्वति ! भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों लोक; ऋक्, यजुः, साम—ये तीनो वेद; आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता—ये तीनो विद्याएँ; गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि—ये तीनों अग्नियाँ; सूर्य, चन्द्र, अग्नि—ये तीनो ज्योतियाँ; धर्म, अर्थ, काम—ये तीनों वर्ग; सत्त्व, रज, तम—ये तीनो गुण; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये तीनो वर्ण; तीनों देव, वात, पित्त, कफ—ये तीनों धातुएँ तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनो अवस्थाएँ एवं पिता, पितामह, प्रपितामह—ये तीनो पितर इत्यादि—ये सभी ओंकारके मात्रात्रयस्वरूप आपके रूप हैं । आपको ब्रह्मकी विभिन्न रूपोवाली आद्या एवं सनातनी मूर्ति कहा जाता है ॥ ८–१२ ॥

सोमसंस्था हविःसंस्था पाकसंस्था सनातनी । तास्त्वदुच्चारणाद् देवि क्रियन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ १३ ॥
अनिर्देश्यपदं त्वेतदर्द्धमात्राश्रितं परम् । अविकार्यक्षयं दिव्यं परिणामविवर्जितम् ॥ १४ ॥
तवैतत् परमं रूपं यन्न शक्यं मयोदितुम् । न चास्येन न वा जिह्वा ताल्वोष्ठादिभिरुच्यते ॥ १५ ॥
स विष्णुः स वृषो ब्रह्मा चन्द्रार्कज्योतिरेव च । विश्वावासं विश्वरूपं विश्वात्मानमनीश्वरम् ॥ १६ ॥

देवि ! ब्रह्मवादी लोग आपकी शक्तिसे ही उच्चारण करके सोम-संस्था, हविः-संस्था एवं सनातनी पाकसंस्थाको सम्पन्न करते हैं । अर्धमात्रामें आश्रित आपका यह अनिर्देश्य पद अविकारी, अक्षय, दिव्य तथा अपरिणामी है । यह आपका अनिर्देश्य पद परम रूप है, जिसका वर्णन मैं नहीं कर सकता । न तो मुखसे ही इसका वर्णन हो सकता है और न जिह्वा, तालु, ओष्ठ आदिसे ही । तुम्हारा वह रूप ही विष्णु, वृष (धर्म), ब्रह्मा, चन्द्रमा, सूर्य एवं ज्योति है । उसीको विश्वावास, विश्वरूप, विश्वात्मा एवं अनीश्वर (स्वतन्त्र) कहते हैं ॥ १३–१६ ॥

सांख्यसिद्धान्तवेदोक्तं बहुशाखास्थिरीकृतम् । अनादिमध्यनिधनं सदसच्च सदेव तु ॥ १७ ॥
एकं त्वनेकधाप्येकभाववेदसमाश्रितम् । अनाख्यं षड्गुणाख्यं च बह्वाख्यं त्रिगुणाश्रयम् ॥ १८ ॥
नानाशक्तिविभावज्ञं नानाशक्तिविभावकम् । सुखात् सुखं महत्सौख्यं रूपं तत्त्वगुणात्मकम् ॥ १९ ॥
एवं देवि त्वया व्याप्तं सकलं निष्कलं च यत् । अद्वैतावस्थितं ब्रह्म यच्च द्वैते व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

आपका यह रूप सांख्य-सिद्धान्त तथा वेदद्वारा वर्णित, (वेदोकी) बहुत-सी शाखाओंद्वारा स्थिर किया हुआ, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, सत्-असत् अथवा एकमात्र सत् (ही) है । यह एक तथा अनेक प्रकारका, वेदोंद्वारा एकाग्र भक्तिसे अवलम्बित, आख्या-(नाम-) विहीन, ऐश्वर्य आदि षड्गुणोंसे युक्त, बहुत नामोवाला तथा त्रिगुणाश्रय है । आपका यह तत्त्वगुणात्मक रूप सुखसे भी परम सुख, महान् सुखरूप, नाना शक्तियोंके विभावको जाननेवाला है । देवि ! वह अद्वैत तथा द्वैतमें आश्रित 'निष्कल' तथा 'सकल ब्रह्म' आपके द्वारा व्याप्त है ॥ १७–२० ॥

येऽर्था नित्या ये विनश्यन्ति चान्ये येऽर्थाः स्थूला ये तथा सन्ति सूक्ष्माः ।
ये वा भूमौ येऽन्तरिक्षेऽन्यतो वा तेषां देवि त्वत्त एवोपलब्धिः ॥ २१ ॥
यद्वा मूर्तं यदमूर्तं समस्तं यद्वा भूतेष्वेकमेकं च किंचित् ।
यच्च द्वैते व्यस्तभूतं च लक्ष्यं तत्सम्बद्धं त्वत्स्वरैर्व्यञ्जनैश्च ॥ २२ ॥
एवं स्तुता तदा देवी विष्णुर्जिह्वा सरस्वती ।
प्रत्युवाच महात्मानं मार्कण्डेयं महामुनिम् । यत्र त्वं नेष्यसे विप्र तत्र यास्याम्यतन्द्रिता ॥ २३ ॥

(सरस्वती) देवि ! जो पदार्थ नित्य हैं तथा जो विनष्ट हो जानेवाले हैं, जो पदार्थ स्थूल हैं तथा जो सूक्ष्म हैं, जो भूमिपर हैं तथा जो अन्तरिक्षमें हैं या जो इनसे भिन्न स्थानोमें हैं, उन समस्त पदार्थोंकी प्राप्ति आपसे ही होती है । जो मूर्त या अमूर्त है, वह सब कुछ और जो सब भूतोंमें एक रूपसे स्थित है एवं केवल एक-

मात्र है और जो द्वैतमें अलग-अलग रूपसे दिखलायी पड़ता है, वह सब कुछ आपके स्वर-व्यञ्जनोंसे सम्बद्ध है।

इस प्रकार स्तुति किये जानेपर विष्णुकी जीभरूपिणी सरस्वतीने महामुनि महात्मा मार्कण्डेयसे कहा—हे विप्र! तुम मुझे जहाँ ले जाओगे, मैं वहीं आलस्य छोड़कर चली जाऊँगी ॥ २१-२३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

आद्यं ब्रह्मसरः पुण्यं ततो रामह्रदः स्मृतः।
कुरुणा ऋषिणा कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम्। तस्य मध्येन वै गाढं पुण्या पुण्यजलावहा ॥ २४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयने कहा—आरम्भमें (इसका) पवित्र नाम ब्रह्मसर था, फिर रामह्रद प्रसिद्ध हुआ एवं उसके बाद कुरु ऋषिद्वारा कृष्ट होनेसे कुरुक्षेत्र कहा जाने लगा। (अब) उसके मध्यमें अत्यन्त पवित्र जलवाली गहरी सरस्वती प्रवाहित हो ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

[अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

इत्यृषेर्वचनं श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः। नदी प्रवाहसंयुक्ता कुरुक्षेत्रं विवेश ह ॥ १ ॥
तत्र सा रन्तुकं प्राप्य पुण्यतोया सरस्वती। कुरुक्षेत्रं समाप्लाव्य प्रयाता पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥
तत्र तीर्थसहस्राणि ऋषिभिः सेवितानि च। तान्यहं कीर्तयिष्यामि प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥ ३ ॥
तीर्थानां स्मरणं पुण्यं दर्शनं पापनाशनम्। स्नानं मुक्तिकरं प्रोक्तमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ ४ ॥

तैंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सरस्वती नदीका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना और कुरुक्षेत्रमें निवास करने तथा तीर्थमें स्नान करनेका महत्त्व)

लोमहर्षणने कहा—बुद्धिमान् मार्कण्डेय ऋषिके इस उपर्युक्त वचनको सुनकर प्रवाहसे भरी हुई सरस्वती नदी कुरुक्षेत्रमें प्रविष्ट हुई। वह पवित्रसलिला सरस्वती नदी वहाँ रन्तुकमें जाकर कुरुक्षेत्रको जलसे प्लावित करती हुई, जो पश्चिम दिशाकी ओर चली गयी। वहाँ (कुरुक्षेत्रमें) हजारों तीर्थ ऋषियोंसे सेवित हैं। परमेष्ठी-(ब्रह्मा-)के प्रसादसे मैं उनका वर्णन करूँगा। पापियोंके लिये भी तीर्थोंका स्मरण पुण्यदायक, उनका दर्शन पापनाशक और स्नान मुक्तिदायक कहा गया है (पुण्यशालियोंके लिये तो कहना ही क्या है) ॥ १-४ ॥

ये स्मरन्ति च तीर्थानि देवताः प्रीणयन्ति च। स्नान्ति च श्रद्दधानाश्च ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५ ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् कुरुक्षेत्रं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ६ ॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्। इत्येवं वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥
ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोग्रहे मरणं तथा। वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरुक्ता चतुर्विधा ॥ ८ ॥

जो श्रद्धापूर्वक तीर्थोंका स्मरण करते हैं और उनमें स्नान करते हैं तथा देवताओंको प्रसन्न करते हैं, वे परम गति-(मोक्ष-)को प्राप्त करते हैं। (मनुष्य) अपवित्र हो या पवित्र अथवा किसी भी अवस्थामें पड़ा हुआ हो, यदि कुरुक्षेत्रका स्मरण करे तो वह बाहर तथा भीतरसे (हर प्रकारसे) पवित्र हो जाता है। मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा और मैं कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा—इस प्रकारका वचन कहनेसे (भी) मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। मानवोंके लिये ब्रह्मज्ञान, गयामें श्राद्ध, गौओंकी रक्षामें मृत्यु और कुरुक्षेत्रमें निवास—यह चार प्रकारकी मुक्ति कही गयी है ॥ ५-८ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ ९ ॥
दूरस्थोऽपि कुरुक्षेत्रे गच्छामि च वसाम्यहम् । एवं यः सततं ब्रूयात् सोऽपि पापैः प्रमुच्यते ॥ १० ॥
तत्र चैव सरःस्नायी सरस्वत्यास्तटे स्थितः । तस्य ज्ञानं ब्रह्ममयमुत्पत्स्यति न संशयः ॥ ११ ॥
देवता ऋषयः सिद्धाः सेवन्ते कुरुजाङ्गलम् । तस्य संसेवनान्नित्यं ब्रह्म चात्मनि पश्यति ॥ १२ ॥

सरस्वती और दृषद्वती—इन दो देव-नदियोंके बीच देव-निर्मित देशको ब्रह्मावर्त कहते हैं। दूर देशमें स्थित रहकर भी जो मनुष्य 'मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा, वहाँ निवास करूँगा'—इस प्रकार निरन्तर (मनमें संकल्प करता या) कहता है, वह भी सभी पापोसे छूट जाता है। वहाँ सरस्वतीके तटपर रहते हुए सरोवरमें स्नान करनेवाले मनुष्यको निश्चित ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है। देवता, ऋषि और सिद्ध लोग सदा कुरुजाङ्गल-(तीर्थ-)का सेवन करते हैं। उस तीर्थका नित्य सेवन करनेसे, (वहाँ नित्य निवास करनेसे,) मनुष्य अपने भीतर ब्रह्मका दर्शन करता है ॥ ९–१२ ॥

चञ्चलं हि मनुष्यत्वं प्राप्य ये मोक्षकाङ्क्षिणः । सेवन्ति नियतात्मानो अपि दुष्कृतकारिणः ॥ १३ ॥
ते विमुक्ताश्च कलुषैरनेकजन्मसम्भवैः । पश्यन्ति निर्मलं देवं हृदयस्थं सनातनम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मवेदिः कुरुक्षेत्रं पुण्यं संनिहितं सरः । सेवमाना नरा नित्यं प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥ १५ ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां कालेन पतनाद् भयम् । कुरुक्षेत्रे मृतानां च पतनं नैव विद्यते ॥ १६ ॥

जो भी पापी चञ्चल मानव-जीवन पाकर जितेन्द्रिय होकर मोक्ष प्राप्त करनेकी कामनासे वहाँ निवास करते हैं, वे अनेक जन्मोंके पापोंसे छूट जाते है तथा अपने हृदयमें रहनेवाले निर्मल देव-सनातन (ब्रह्म-)का दर्शन करते हैं। जो मनुष्य ब्रह्मवेदी, कुरुक्षेत्र एवं पवित्र 'संनिहित सरोवर'का सदा सेवन करते हैं, वे परम पदको प्राप्त करते हैं। समयपर ग्रह, नक्षत्र एव ताराओंके भी पतनका भय होता है, किंतु कुरुक्षेत्रमें मरनेवालोंका कभी पतन नहीं होता ॥ १३–१६ ॥

यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः । गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः सेवन्ति स्थानकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥
गत्वा तु श्रद्धया युक्तः स्नात्वा स्थाणुमहाह्रदे । मनसा चिन्तितं कामं लभते नात्र संशयः ॥ १८ ॥
नियमं च ततः कृत्वा गत्वा सरः प्रदक्षिणम् । रन्तुकं च समासाद्य क्षामयित्वा पुनः पुनः ॥ १९ ॥
सरस्वत्यां नरः स्नात्वा यक्षं दृष्ट्वा प्रणम्य च । पुष्पं धूपं च नैवेद्यं दत्त्वा वाचमुदीरयेत् ॥ २० ॥
तव प्रसादाद् यक्षेन्द्र वनानि सरितश्च याः । भ्रमिष्यामि च तीर्थानि अविघ्नं कुरु मे सदा ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएँ और यक्ष उत्तम स्थानकी प्राप्तिके लिये वहाँ (कुरुक्षेत्रमे) निवास करते हैं। वहाँ जाकर स्थाणु नामक महासरोवरमें श्रद्धापूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य निःसंदेह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। नियम-परायण होनेके पश्चात् सरोवरकी प्रदक्षिणा करके रन्तुकमें जाकर बार-बार क्षमा-प्रार्थना करनेके बाद सरस्वती नदीमें स्नान कर यक्षका दर्शन करे और उन्हे प्रणाम करे तथा पुष्प, धूप एवं नैवेद्य देकर इस प्रकार वचन कहे—हे यक्षेन्द्र! आपकी कृपासे मैं वनों, नदियो और तीर्थोंमें भ्रमण करूँगा; उसे आप सदा विघ्न-रहित करें (मेरी यात्रामें किसी प्रकारका विघ्न न हो) ॥ १७–२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

[अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

वनानि सप्त नो ब्रूहि नव नद्यश्च याः स्मृताः । तीर्थानि च समग्राणि तीर्थस्नानफलं तथा ॥ १ ॥
येन येन विधानेन यस्य तीर्थस्य यत् फलम् । तत् सर्वं विस्तरेणेह ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ २ ॥

चौंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके सात प्रसिद्ध वनों, नौ नदियों [illegible])

ऋषियोंने (लोमहर्षणजीसे) कहा—[illegible] नदियों, समग्र तीर्थों एवं तीर्थस्नानके फलका [illegible] होता है, उन सबको आप विस्तारपूर्वक [illegible] ॥ १-२ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः । येषां नामानि पुण्यानि सर्वपापहराणि च ॥ ३ ॥
काम्यकं च वनं पुण्यं तथाऽदितिवनं महत् । व्यासस्य च वनं पुण्यं फलकीवनमेव च ॥ ४ ॥
तत्र सूर्यवनस्थानं तथा मधुवनं महत् । पुण्यं शीतवनं नाम सर्वकल्मषनाशनम् ॥ ५ ॥
वनान्येतानि वै सप्त नदीः शृणुत मे द्विजाः । सरस्वती नदी पुण्या तथा वैतरणी नदी ॥ ६ ॥
आपगा च महापुण्या गङ्गा मन्दाकिनी नदी । मधुस्रवा वासुनदी कौशिकी पापनाशिनी ॥ ७ ॥
दृषद्वती महापुण्या तथा हिरण्वती नदी । वर्षाकालवहाः सर्वा वर्जयित्वा सरस्वतीम् ॥ ८ ॥

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) कुरुक्षेत्रके [illegible] उसे सुनें । उन वनोंके नाम सभी पापोंको [illegible] ॥ ([illegible] हैं—, पवित्र काम्यक-वन, महान् अदिति-वन, पुण्यप्रद व्यास-वन, फलकीवन, सूर्यवन, महान् मधुवन तथा [illegible] पवित्र शीतवन—ये ही सात वन हैं । हे द्विजो ! (अब) नदियों-(के नाम) [illegible] मुझसे सुनो । (उनके नाम हैं) पवित्र सरस्वती नदी, वैतरणी नदी, महापवित्र आपगा, मन्दाकिनी गङ्गा, मधुस्रवा, वासुनदी, पापनाशिनी कौशिकी, महापवित्र दृषद्वती (कग्गर) तथा हिरण्वती नदी । [illegible] ॥ ३-८ ॥

एतासामुदकं पुण्यं प्रावृट्काले प्रकीर्तितम् ।
रजस्वलत्वमेतासां विद्यते न कदाचन । तीर्थस्य च प्रभावेण पुण्या ह्येताः सरिद्वराः ॥ ९ ॥
शृण्वन्तु मुनयः प्रीतास्तीर्थस्नानफलं महत् । गमनं स्मरणं चैव सर्वकल्मषनाशनम् ॥ १० ॥
रन्तुकं च नरो दृष्ट्वा द्वारपालं महाबलम् । यक्षं समभिवाद्यैव तीर्थयात्रां समाचरेत् ॥ ११ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा नाम्नाऽदितिवनं महत् । अदित्या यत्र पुत्रार्थं कृतं घोरं महत्तपः ॥ १२ ॥

वर्षाकालमें इनका जल पवित्र माना जाता है । इनमें कभी भी रजस्वला-दोष नहीं होता । तीर्थके प्रभावसे ये सभी श्रेष्ठ नदियाँ पवित्र हैं । मुनियो ! आपलोग (अब) प्रसन्न होकर तीर्थस्नानका महान् फल सुनें । वहाँ जाना एवं उनका स्मरण करना समस्त पापोंका नाश करनेवाला होता है । महाबलवान् रन्तुक नामक द्वारपालका दर्शन करनेके बाद यक्षको प्रणाम कर तीर्थयात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये । विप्रेन्द्रो ! उसके बाद महान् अदिति-वनमें जाना चाहिये, जहाँ अदितिने पुत्रके लिये अत्यन्त कठोर तप किया था ॥ १०-१२ ॥

तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च अदितिं देवमातरम् ।
पुत्रं जनयते शूरं सर्वदोषविवर्जितम् । आदित्यशतसंकाशं विमानं चाधिरोहति ॥ १३ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा विष्णोः स्थानमनुत्तमम् । सवनं नाम विख्यातं यत्र संनिहितो हरिः ॥ १४ ॥
विमले च नरः स्नात्वा दृष्ट्वा च विमलेश्वरम् । निर्मलं स्वर्गमायाति रुद्रलोकं च गच्छति ॥ १५ ॥
हरिं च बलदेवं च एकत्रासनसमन्वितौ । दृष्ट्वा मोक्षमवाप्नोति कलिकल्मषसम्भवैः ॥ १६ ॥

वहाँ स्नानकर तथा देवमाता अदितिका दर्शनकर मनुष्य समस्त दोषोंसे रहित (निर्मल) वीर पुत्र उत्पन्न करता है और सैकड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान विमानपर आरूढ़ होता है। विप्रेन्द्रो ! इसके बाद 'सवन' नामसे विख्यात सर्वोत्तम विष्णु-स्थानको जाना चाहिये, जहाँ भगवान् हरि सदा संनिहित रहते हैं। विमल तीर्थमें स्नानकर विमलेश्वरका दर्शन करनेसे मनुष्य निर्मल हो जाता है तथा रुद्रलोकमें जाता है। एक आसनपर स्थित कृष्ण और बलदेवका दर्शन करनेसे मनुष्य कलिके दुष्कर्मोंसे उत्पन्न पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३-१६ ॥

ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च ब्रह्माणं वेदसंयुतम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मवेदफलं प्राप्य निर्मलं स्वर्गमाप्नुयात् ।
तत्रापि संगमं प्राप्य कौशिक्यां तीर्थसम्भवम् । संगमे च नरः स्नात्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १८ ॥
धरण्यास्तीर्थमासाद्य सर्वपापविमोचनम् । क्षान्तियुक्तो नरः स्नात्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १९ ॥
धरण्यामपराधानि कृतानि पुरुषेण वै । सर्वाणि क्षमते तस्य स्नानमात्रस्य देहिनः ॥ २० ॥

उसके पश्चात् तीनों लोकोंमें विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करनेके पश्चात् वेदों-सहित ब्रह्माका दर्शन करनेसे अथर्ववेदका ज्ञान प्राप्तकर निर्मल स्वर्गको प्राप्त करता है। कौशिकी-संगम तीर्थमें जाकर स्नान कर मनुष्य परमपदको प्राप्त करता है। समस्त पापोंसे मुक्त करनेवाले धरणीके तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे क्षमाशील मनुष्य परमपदकी प्राप्ति करता है। वहाँ स्नान करनेमात्रसे पृथ्वीपर मनुष्यद्वारा किये गये समस्त अपराध क्षमा कर दिये जाते हैं ॥ १७-२० ॥

ततो दक्षाश्रमं गत्वा दृष्ट्वा दक्षेश्वरं शिवम् । अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ २१ ॥
ततः शालूकिनीं गत्वा स्नात्वा तीर्थे द्विजोत्तमाः ।
हरिं हरेण संयुक्तं पूज्य भक्तिसमन्वितः । प्राप्नोत्यभिमताँल्लोकान् सर्वपापविवर्जितान् ॥ २२ ॥
सर्पिर्दधि समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् । तत्र स्नानं नरः कृत्वा मुक्तो नागभयाद् भवेत् ॥ २३ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा द्वारपालं तु रन्तुकम् । तत्रोष्य रजनीमेकां स्नात्वा तीर्थवरे शुभे ॥ २४ ॥
द्वितीयं पूजयेद् यत्र द्वारपालं प्रयत्नतः । ब्राह्मणान् भोजयित्वा च प्रणिपत्य क्षमापयेत् ॥ २५ ॥
तव प्रसादाद् यक्षेन्द्र मुक्तो भवति किल्बिषैः ।
सिद्धिर्मयाभिलषिता तया सार्द्धं भवाम्यहम् । एवं प्रसाद्य यक्षेन्द्रं ततः पञ्चनदं व्रजेत् ॥ २६ ॥
पञ्चनदाश्च रुद्रेण कृता दानवभीषणाः । तत्र सर्वेषु लोकेषु तीर्थं पञ्चनदं स्मृतम् ॥ २७ ॥

उसके बाद दक्षाश्रममें जाकर दक्षेश्वर शिवका दर्शन करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करता है। द्विजोत्तमो ! तदनन्तर शालूकिनी तीर्थमें जाकर स्नान करनेके उपरान्त भक्तिपूर्वक हरसे संयुक्त हरिका पूजन कर मनुष्य समस्त पापोंसे रहित इच्छाके अनुकूल लोकोंको प्राप्त करता है। सर्पिर्दधि नामवाले नागोंके उत्तम तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य नाग-भयसे मुक्त हो जाता है। विप्रश्रेष्ठो ! तदनन्तर रन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय। वहाँ

एक रात्रि निवास करे तथा कल्याणकारी (उस) श्रेष्ठतीर्थमें स्नान करनेके बाद दूसरे दिन प्रयत्नपूर्वक (निष्ठाके साथ मन लगाकर) द्वारपालका पूजन करे एवं ब्राह्मणोंको भोजन कराये। फिर उन्हें प्रणाम कर इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करे—'हे यक्षेन्द्र! तुम्हारी कृपासे मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाता है। मैं अपनी अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त करूँ (मेरी मनःकामना पूर्ण हो)।' इस प्रकार यक्षेन्द्रको प्रसन्न करनेके पश्चात् पञ्चनद तीर्थमें जाना चाहिये। जहाँ भगवान् रुद्रने दानवोंके लिये भयंकर पाँच नदोंका निर्माण किया है, उस स्थानका समस्त संसारमें प्रसिद्ध पञ्चनद तीर्थ है॥ २१–२७॥

कोटितीर्थानि रुद्रेण समाहृत्य यतः स्थितम्। तेन त्रैलोक्यविख्यातं कोटितीर्थं प्रचक्षते॥ २८॥
तस्मिन् तीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा कोटीश्वरं हरम्। पञ्चयज्ञानवाप्नोति नित्यं श्रद्धासमन्वितः॥ २९॥
तत्रैव वामनो देवः सर्वदेवैः प्रतिष्ठितः। तत्रापि च नरः स्नात्वा ह्यग्निष्टोमफलं लभेत्॥ ३०॥
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य श्रद्धावान् यो जितेन्द्रियः। रूपस्य भागी भवति यशस्वी च भवेन्नरः॥ ३१॥

क्योंकि करोड़ों तीर्थोंको एकत्र (स्थापित) कर भगवान् रुद्र स्थित हैं, अतः उसे त्रैलोक्य-प्रसिद्ध कोटितीर्थ कहा जाता है। मनुष्य श्रद्धापूर्वक उस तीर्थमें स्नान कर तथा कोटीश्वर हरका दर्शन कर पाँच प्रकारके (महा) यज्ञोंके अनुष्ठानका फल प्राप्त करता है। उसी स्थानपर सब देवताओंने भगवान् वामनदेवकी स्थापना की है। वहाँ भी स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है। श्रद्धावान् जितेन्द्रिय मनुष्य अश्विनीकुमारोंके तीर्थमें जाकर रूपवान् और यशस्वी होता है॥ २८–३१॥

वाराहं तीर्थमाख्यातं विष्णुना परिकीर्तितम्। तस्मिन् स्नात्वा श्रद्दधानः प्राप्नोति परमं पदम्॥ ३२॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्राः सोमतीर्थमनुत्तमम्। यत्र सोमस्तपस्तप्त्वा व्याधिमुक्तोऽभवत् पुरा॥ ३३॥
तत्र सोमेश्वरं दृष्ट्वा स्नात्वा तीर्थवरे शुभे। राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥ ३४॥
व्याधिभिश्च विनिर्मुक्तः सर्वदोषविवर्जितः। सोमलोकमवाप्नोति तत्रैव रमते चिरम्॥ ३५॥

विष्णुद्वारा वर्णित वाराह नामक विख्यात तीर्थ है। श्रद्धालु पुरुष उसमें स्नानकर परमपदको प्राप्त करता है। विप्रेन्द्रो! उसके बाद श्रेष्ठ सोमतीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ चन्द्रमा पूर्वकालमें तपस्या कर व्याधिसे मुक्त हुए थे। उस शुभ तीर्थमें स्नानकर सोमेश्वर भगवानका दर्शन करनेसे मनुष्य राजसूय-यज्ञका फल प्राप्त करता है तथा व्याधियों और सभी दोषोंसे मुक्त होकर सोमलोकमें जाता एवं चिरकालतक वहाँ सानन्द विहार करता है॥ ३२–३५॥

भूतेश्वरं च तत्रैव ज्वालामालेश्वरं तथा। तावुभौ लिङ्गावभ्यर्च्य न भूयो जन्म चाप्नुयात्॥ ३६॥
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्। कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी द्विजोत्तमः॥ ३७॥
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेन्नरः। ततो मुञ्जवटं नाम महादेवस्य धीमतः॥ ३८॥
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात्। तत्रैव च महाग्राही यक्षिणी लोकविश्रुता॥ ३९॥
स्नात्वाऽभिगत्वा तत्रैव प्रसाद्य यक्षिणीं ततः। उपवासं च तत्रैव महापातकनाशनम्॥ ४०॥

वहींपर भूतेश्वर एवं ज्वालामालेश्वर नामक लिङ्ग हैं। उन दोनों लिङ्गोंकी पूजा करनेसे (मनुष्य) पुनर्जन्म नहीं पाता। एकहंस (सरोवर)में स्नानकर मनुष्य हजारों गौवोंके दानका फल प्राप्त करता है। 'कृतशौच' नामक तीर्थमें जाकर मनोयोगपूर्वक तीर्थकी सेवा करनेवाला द्विजोत्तम पुण्डरीकयज्ञविशेषके फलको प्राप्त करता है तथा

उसकी शुद्धि हो जाती है (—वह पवित्र हो जाता है)। उसके बाद बुद्धिमान् महादेवके मुञ्जवट नामक तीर्थमें एक रात्रि निवास करके मनुष्य गाणपत्य (गणनायकके पदको) प्राप्त करता है। वहीं विश्व प्रसिद्ध महाग्राही यक्षिणी है। वहाँ जाकर स्नान करनेके बाद यक्षिणीको प्रसन्न कर उपवास करनेसे महान् पातकोंका नाश होता है॥ ३६–४०॥

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं पुण्यवर्धनम्।
प्रदक्षिणमुपावर्त्य ब्राह्मणान् भोजयेत् ततः। पुष्करं च ततो गत्वा अभ्यर्च्य पितृदेवताः॥ ४१॥
जामदग्न्येन रामेण आहृतं तन्महात्मना। कृतकृत्यो भवेद् राजा अश्वमेधं च विन्दति॥ ४२॥
कन्यादानं च यस्तत्र कार्तिक्यां वै करिष्यति। प्रसन्ना देवतास्तस्य दास्यन्त्यभिमतं फलम्॥ ४३॥
कपिलश्च महायक्षो द्वारपालः स्वयं स्थितः। विघ्नं करोति पापानां दुर्गतिं च प्रयच्छति॥ ४४॥
पत्नी तस्य महायक्षी नाम्नोदूखलमेखला। आहत्य दुन्दुभिं तत्र भ्रमते नित्यमेव हि॥ ४५॥

पुण्यकी वृद्धि करनेवाले कुरुक्षेत्रके उस विख्यात द्वारकी प्रदक्षिणा कर ब्राह्मणोंको भोजन कराये। फिर पुष्करमें जाकर पितृदेवोंकी अर्चना करे। उस तीर्थका महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने—निर्माण किया था। वहाँ (जाकर) मनुष्य सफल- मनोरथ हो जाता है और राजाको अश्वमेधयज्ञके फलकी प्राप्ति होती है। कार्तिकी पूर्णिमाको जो मनुष्य वहाँ कन्यादान करेगा, उसके ऊपर देवता प्रसन्न होकर उसे मनोवाञ्छित फल देंगे। वहाँ कपिल नामक महायक्ष स्वयं द्वारपालके रूपमें स्थित हैं, जो पापियोंके मार्गमें विघ्न उपस्थित कर उनकी दुर्गति करते हैं (जिससे वे पापाचरण न करें तथा धर्मकी मर्यादा स्थित रहे)। उदूखलमेखलानामक उनकी महायक्षी पत्नी दुन्दुभि बजाकर वहाँ नित्य भ्रमण करती रहती है॥ ४१–४५॥

सा ददर्श स्त्रियं चैकां सपुत्रां पापदेशजाम्। तामुवाच तदा यक्षी आहत्य निशि दुन्दुभिम्॥ ४६॥
युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले। तद्वद् भूतालये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमिच्छसि॥ ४७॥
दिवा मया ते कथितं रात्रौ भक्ष्यामि निश्चितम्। एतच्छ्रुत्वा तु वचनं प्रणिपत्य च यक्षिणीम्॥ ४८॥
उवाच दीनया वाचा प्रसादं कुरु भामिनि। ततः सा यक्षिणी तां तु प्रोवाच कृपयान्विता॥ ४९॥
यदा सूर्यस्य ग्रहणं कालेन भविता क्वचित्। सन्निहत्यां तदा स्नात्वा पूता स्वर्गं गमिष्यसि॥ ५०॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

उस यक्षीने पापवाले देशमें उत्पन्न पुत्रके साथ एक रात्रिमें स्त्रीको देखनेके बाद दुन्दुभि बजाकर उससे कहा—युगंधरमें दही खाकर तथा अच्युतस्थलमें निवास करनेके बाद भूतालयमें स्नान कर तुम पुत्रके साथ निवास करना चाहती हो। मैंने दिनमें यह बात तुमसे कही है। रात्रिमें मैं अवश्य तुमको खा जाऊँगी।* उसकी यह बात सुननेके बाद यक्षिणीको प्रणाम कर उसने दीन वाणीमें उससे कहा—'हे भामिनी! मेरे ऊपर दया करो।' फिर उस यक्षिणीने उससे कृपापूर्वक कहा—जब किसी समय सूर्यग्रहण होगा, उस समय सान्निहत्य-(सरोवर-)में स्नान करके पवित्र होकर तुम स्वर्ग चली जाओगी॥ ४६–५०॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३४॥

* इन सबकी सटिप्पण विस्तृत व्याख्या गीताप्रेसके महाभारत वनपर्व १२९। ९. १०में द्रष्टव्य है।

[अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

ततो रामह्रदं गच्छेत् तीर्थसेवी द्विजोत्तमः। यत्र रामेण विप्रेण तरसा दीप्ततेजसा ॥ १ ॥
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः। पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ २ ॥
पितरस्तर्पितास्तेन तथैव प्रपितामहाः। ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्द्विजोत्तमाः ॥ ३ ॥
राम राम महाबाहो प्रीताः स्मस्तव भार्गव। अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ॥ ४ ॥

पैंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य एवं क्रमका वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—इसके बाद तीर्थका सेवन करनेवाले उत्तम द्विजको रामकुण्ड नामक स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ उद्दीप्त तेजस्वी विप्र-वीर परशुरामजीने बलपूर्वक क्षत्रियोंका संहारकर पाँच कुण्डोंको स्थापित किया था। पुरुषसिंह ! हमलोगोंने ऐसा सुना है कि परशुरामने उन-(कुण्डों)को रक्तसे भरकर उससे अपने पितरों एवं प्रपितामहोंका तर्पण किया था। द्विजोत्तमो ! उसके बाद उन प्रसन्न पितरोंने परशुरामसे कहा था कि महाबाहु भार्गव राम ! परशुराम ! विभो ! तुम्हारी इस पितृभक्ति और पराक्रमसे हम सब तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं ॥ १–४ ॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महायशः। एवमुक्तस्तु पितृभी रामः प्रभवतां वरः ॥ ५ ॥
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं स पितॄन् गगने स्थितान्। भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ॥ ६ ॥
पितृप्रसादादिच्छेयं तपसाप्यायनं पुनः। यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ७ ॥
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसा ह्यहम्। ह्रदाश्चैते तीर्थभूता भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ८ ॥

महायशस्विन् ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम वर माँगो। क्या चाहते हो ? पितरोंके इस प्रकार कहनेपर प्रभावशालियोंमें श्रेष्ठ रामने आकाशमें स्थित पितरोंसे हाथ जोड़कर कहा—यदि आपलोग मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तथा मुझपर आप सबकी दया है तो आप पितरोंके प्रसादसे मैं पुनः तपसे पूर्ण हो जाऊं। रोषसे अभिभूत होकर मैंने जो क्षत्रियोंका विनाश किया है, आपके तेजद्वारा मैं उस पापसे मुक्त हो जाऊँ एवं ये कुण्ड संसारमें विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायँ ॥ ५–८ ॥

एवमुक्ताः शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा। प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षपुरस्कृताः ॥ ९ ॥
तपस्ते वर्द्धतां पुत्र पितृभक्त्या विशेषतः। यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ॥ १० ॥
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पातितास्ते स्वकर्मभिः। ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ॥ ११ ॥
ह्रदेष्वेतेषु ये स्नात्वा स्वान् पितॄंस्तर्पयन्ति च। तेभ्यो दास्यन्ति पितरो यथाभिलषितं वरम् ॥ १२ ॥
ईप्सितान् मानसान् कामान् स्वर्गवासं च शाश्वतम्। एवं दत्त्वा वरान् विप्रा रामस्य पितरस्तदा ॥ १३ ॥
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीतास्तत्रैवान्तर्हितास्तदा। एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

परशुरामके इस प्रकारके मङ्गलमय वचन कहनेपर उनके परम प्रसन्न पितरोंने हर्षपूर्वक उनसे कहा—'पुत्र ! पितृभक्तिसे तुम्हारा तप विशेषरूपसे बढ़े। क्रोधसे अभिभूत होनेके कारण तुमने क्षत्रियोंका जो विनाश किया है, उस पापसे तुम मुक्त हो; क्योंकि ये क्षत्रिय अपने कर्मसे ही मारे गये हैं। तुम्हारे ये कुण्ड निःसंदेह तीर्थके गुणोंको प्राप्त करेंगे। जो इन कुण्डोंमें स्नानकर अपने पितरोंका तर्पण करेंगे, उन्हें (उनके) पितृगण मनकी इच्छाके अनुसार वर देंगे, उनकी मनोऽभिलषित कामनाएं पूर्ण करेंगे एवं उन्हें स्वर्गमें शाश्वत निवास

प्रदान करेंगे । विप्रो ! इस प्रकार वर देकर परशुरामके पितर उनसे अनुमति लेकर प्रसन्नतापूर्वक वहीं अन्तर्हित हो गये । इस प्रकार महात्मा परशुरामके ये रामह्रद परम पवित्र हैं ॥ ९–१४ ॥

स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुचिव्रतः । राममभ्यर्च्य श्रद्धावान् विन्देद् बहु सुवर्णकम् ॥ १५ ॥
वंशमूलं समासाद्य तीर्थसेवी सुसंयतः । स्ववंशसिद्धये विप्राः स्नात्वा वै वंशमूलके ॥ १६ ॥
कायशोधनमासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । शरीरशुद्धिमाप्नोति स्नातस्तस्मिन् न संशयः ॥ १७ ॥
शुद्धदेहश्च तं याति यस्मान्नावर्तते पुनः ।
तावद् भ्रमन्ति तीर्थेषु सिद्धास्तीर्थपरायणाः । यावन्न प्राप्नुवन्तीह तीर्थं तत्कायशोधनम् ॥ १८ ॥

श्रद्धालु पवित्रकर्मा व्यक्ति ब्रह्मचर्यपूर्वक परशुरामजीके ह्रदोंमें स्नान करनेके बाद परशुरामका अर्चन कर प्रचुर सुवर्ण प्राप्त करता है । ब्राह्मणो ! तीर्थसेवी जितेन्द्रिय मनुष्य वंशमूलक नामक तीर्थमें जाकर प्रचुर उसमें स्नान करनेसे अपने वंशकी सिद्धि प्राप्त करता है । तीनों लोकोंमें विख्यात कायशोधन नामक तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको निस्संदेह शरीरकी शुद्धि प्राप्त होती है और वह शुद्धदेही मनुष्य उस स्थानको जाता है, जहाँसे वह पुनः नहीं लौटता (जन्म-मरणके चक्करमें नहीं पड़ता) । तीर्थपरायण सिद्ध पुरुष तीर्थोंमें तबतक भ्रमण करते रहते हैं, जबतक वे उस कायशोधन नामक तीर्थमें नहीं पहुँचते ॥ १५–१८ ॥

तस्मिंस्तीर्थे च संप्लाव्य कायं संयतमानसः । परं पदमवाप्नोति यस्मान्नावर्तते पुनः ॥ १९ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रास्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । लोका यत्रोद्धृताः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २० ॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थस्मरणतत्परः । स्नात्वा तीर्थवरे तस्मिन् लोकान् पश्यति शाश्वतान् ॥ २१ ॥
यत्र विष्णुः स्थितो नित्यं शिवो देवः सनातनः । तौ देवौ प्रणिपातेन प्रसाद्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥
श्रीतीर्थं तु ततो गच्छेत शालग्राममनुत्तमम् । तत्र स्नातस्य सांनिध्यं सदा देवी प्रयच्छति ॥ २३ ॥

मनको नियन्त्रित करनेवाला मनुष्य उस तीर्थमें शरीरको धोकर (प्रक्षालित कर) उस परम पदको प्राप्त करता है, जहाँसे उसे पुनः परावर्तित नहीं होना पड़ता । विप्रवरो ! उसके बाद तीनों लोकोंमें विख्यात लोकोद्धार नामके तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ सर्वसमर्थ विष्णुने समस्त लोकोंका उद्धार किया था । तीर्थका स्मरण करनेमें तत्पर मनुष्य लोकोद्धार नामके तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेसे शाश्वत लोकोंका दर्शन प्राप्त करता है । वहाँ विष्णु एवं सनातनदेव शिव—ये दोनों ही स्थित हैं। उन दोनों देवोंको साष्टाङ्ग प्रणामद्वारा प्रसन्न कर फिर मुक्तिका फल प्राप्त करता है। तदनन्तर अनुत्तम शालग्राम एवं श्रीतीर्थमें जाना चाहिये। वहाँ स्नान करनेवालोंको भगवती (लक्ष्मी) अपने निकट निवास प्रदान करती है ॥ १९–२३ ॥

कपिलाह्रदमासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च दैवतानि पितॄंस्तथा ॥ २४ ॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः । तत्र स्थितं महादेवं कापिलं वपुरास्थितम् ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा मुक्तिमवाप्नोति ऋषिभिः पूजितं शिवम् । सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥ २६ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः । अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ २७ ॥

फिर त्रैलोक्यप्रसिद्ध कपिलाह्रद नामक तीर्थमे जाकर उसमे स्नान करनेके पश्चात् देवता तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिला गायोंके दानका फल प्राप्त होता है । वहाँपर स्थित ऋषियोंसे पूजित कापिल शरीरधारी महादेव शिवका दर्शन करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है । स्थिर अन्तःकरणवाला एवं उपवास-परायण व्यक्ति सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेके बाद पितरोंका अर्चन करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त करता है एवं सूर्यलोकको जाता है ॥ २४–२७ ॥

सहस्रकिरणं देवं भानुं त्रैलोक्यविश्रुतम्। दृष्ट्वा मुक्तिमवाप्नोति नरो ज्ञानसमन्वितः ॥ २८ ॥
भवानीवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम्। तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २९ ॥
पितामहस्य पिबतो ह्यमृतं पूर्वमेव हि। उद्गारात् सुरभिर्जाता सा च पातालमाश्रिता ॥ ३० ॥
तस्याः सुरभयो जाताः तनया लोकमातरः। ताभिस्तत्सकलं व्याप्तं पातालं सुनिरन्तरम् ॥ ३१ ॥

तीनों लोकोंमें विख्यात हजारों किरणोंवाले सूर्यदेव भगवान्का दर्शन करनेसे मनुष्य ज्ञानसे युक्त होकर मुक्तिको प्राप्त करता है। तीर्थसेवन करनेवाला मनुष्य क्रमानुसार भवानीवनमें जाकर वहाँ (भवानीका) अभिषेक करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त करता है। प्राचीन कालमें अमृत-पान करते हुए ब्रह्माके उद्गार (डकार) से सुरभिकी उत्पत्ति हुई और वह पाताल लोकमें चली गयी। उस सुरभिसे लोकमाताएँ (सुरभिकी पुत्रियाँ) (गायें) उत्पन्न हुईं। उनसे समस्त पाताल लोक व्याप्त हो गया ॥ २८—३१ ॥

पितामहस्य यजतो दक्षिणार्थमुपाहृताः। आहूता ब्रह्मणा ताश्च विभ्रान्ता विवरेण हि ॥ ३२ ॥
तस्मिन् विवरद्वारे तु स्थितो गणपतिः स्वयम्। यं दृष्ट्वा सकलान् कामान् प्राप्नोति संयतेन्द्रियः ॥ ३३ ॥
सङ्गिनीं तु समासाद्य तीर्थं मुक्तिसमाश्रयम्। देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
अनन्तां श्रियमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः। भोगांश्च विपुलान् भुक्त्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३५ ॥

पितामहके यज्ञ करते समय दक्षिणाके लिये लायी गयी एवं ब्रह्माके द्वारा बुलायी ये गायें विवरके कारण भटकने लगीं। उस विवरके द्वारपर स्वयं गणपति भगवान् स्थित हैं। जितेन्द्रिय मनुष्य उनका दर्शन करके समस्त कामनाओंको प्राप्त करता है। मुक्तिके आश्रयस्वरूप देवीके संगिनीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको सुन्दर रूपकी प्राप्ति होती है तथा वह स्नानकर्ता पुरुष पुत्र-पौत्रसमन्वित होकर अनन्त ऐश्वर्यको प्राप्त करता है और विपुल भोगोंका उपभोग कर परम पदको प्राप्त करता है ॥ ३२—३५ ॥

ब्रह्मावर्त्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मज्ञानसमन्वितः। भवते नात्र संदेहः प्राणान् मुञ्चति स्वेच्छया ॥ ३६ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा द्वारपालं तु रन्तुकम्। तस्य तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ३७ ॥
तत्र स्नात्वा महाप्राज्ञ उपवासपरायणः। यक्षस्य च प्रसादेन लभते कामिकं फलम् ॥ ३८ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा ब्रह्मावर्त्तं मुनिस्तुतम्। ब्रह्मावर्त्ते नरः स्नात्वा ब्रह्म चाप्नोति निश्चितम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मावर्त्त नामक तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य निःसन्देह ब्रह्मज्ञानी हो जाता है एवं वह निज इच्छाके अनुसार अपने प्राणोंका परित्याग करता है। हे विप्रश्रेष्ठो! संगिनीतीर्थके बाद द्वारपाल रन्तुकके तीर्थमें जाय। उन महात्मा यक्षेन्द्रका तीर्थ सरस्वती नदीमें है। वहाँ स्नान करके उपवास-व्रतमें निरत परमज्ञानी व्यक्ति यक्षके प्रसादसे इच्छित फल प्राप्त करता है। हे विप्रवरो! फिर मुनियोंद्वारा प्रशंसा-प्राप्त ब्रह्मावर्त्त तीर्थमें जाना चाहिये। ब्रह्मावर्त्तमें स्नान करनेसे मनुष्य निश्चय ही ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ ३६—३९ ॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्राः सुतीर्थकमनुत्तमम्। तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ॥ ४० ॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः। अश्वमेधमवाप्नोति पितॄन् प्रीणाति शाश्वतान् ॥ ४१ ॥
ततोऽम्बुवनं धर्मज्ञ समासाद्य यथाक्रमम्। कामेश्वरस्य तीर्थं तु स्नात्वा श्रद्धासमन्वितः ॥ ४२ ॥
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मावाप्तिर्भवेद् ध्रुवम्। मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भक्तितः ॥ ४३ ॥
प्रजा विवर्द्धते नित्यमनन्तां चाप्नुयाच्छ्रियम्। ततः शीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ॥ ४४ ॥
तीर्थं तत्र महाविप्रा महदन्यत्र दुर्लभम्। पुनाति दर्शनादेव दण्डकं च द्विजोत्तमाः ॥ ४५ ॥

हे विप्रश्रेष्ठो ! उसके बाद श्रेष्ठ सुतीर्थक नामके स्थानपर जाना चाहिये। उस स्थानमें देवताओंके साथ पितृगण नित्य स्थित रहते हैं। पितरों एवं देवोंकी अर्चनामें लगा रहनेवाला व्यक्ति वहाँ स्नानकर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करता है तथा शाश्वत पितरोंको प्रसन्न करता है। धर्मज्ञ ! उसके बाद क्रमानुसार कामेश्वर तीर्थके अम्बुवनमें जाकर श्रद्धापूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य सभी व्याधियोंसे छूटकर निश्चय ही ब्रह्मकी प्राप्ति करता है। उसी स्थानमें स्थित मातृतीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्यकी प्रजा-(संतति-)की नित्य वृद्धि होती है तथा उसे अनन्त लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। उसके बाद नियत आहार करनेवाला एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति शीतवन नामक तीर्थमें जाय। हे महाविप्रो ! वहाँ दण्डक नामक एक महान् तीर्थ है; वह अत्यन्त दुर्लभ है। द्विजोत्तमो ! वह दण्डक नामका महान् तीर्थ दर्शनमात्रसे मनुष्यको पवित्र कर देता है ॥ ४०—४५ ॥

केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति पापतः। तत्र तीर्थवरं चान्यत् स्वानुलोमायनं महत् ॥ ४६ ॥
तत्र विप्रा महाप्राज्ञा विद्वांसस्तीर्थतत्पराः। स्वानुलोमायने तीर्थे विप्रास्त्रैलोक्यविश्रुते ॥ ४७ ॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः। पूतात्मानश्च ते विप्राः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ४८ ॥
दशाश्वमेधिकं चैव तत्र तीर्थं सुविश्रुतम्। तत्र स्नात्वा भक्तियुक्तस्तदेव लभते फलम् ॥ ४९ ॥
ततो गच्छेत श्रद्धावान् मानुषं लोकविश्रुतम्। दर्शनात् तस्य तीर्थस्य मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ ५० ॥

उस तीर्थमें केशोंका मुण्डन करानेसे मनुष्य अपने पापोंसे मुक्त हो जाता है। वहाँ स्वानुलोमायन नामका एक दूसरा महान् तीर्थ है। हे द्विजोत्तमो ! वहाँ तीर्थ-सेवन करनेमें तत्पर परमज्ञानी विद्वान् लोग रहते हैं। त्रिलोक-विख्यात उस तीर्थमें वे प्राणायामोंके द्वारा अपने लोमोंका परित्याग करते हैं और वे पवित्रात्मा विप्रगण परम गतिको प्राप्त करते हैं। वहींपर परमप्रसिद्ध दशाश्वमेधिक तीर्थ है। भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करनेसे पूर्वोक्त फलकी ही प्राप्ति होती है। फिर श्रद्धालु मनुष्यको लोक-प्रसिद्ध मानुषतीर्थमें जाना चाहिये। उस तीर्थका दर्शन करनेसे ही पापोंसे मुक्ति हो जाती है ॥ ४६—५० ॥

पुरा कृष्णमृगास्तत्र व्याधेन शरपीडिताः। विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ॥ ५१ ॥
ततो व्याधाश्च ते सर्वे तानपृच्छन् द्विजोत्तमान्। मृगा अनेन वै याता अस्माभिः शरपीडिताः ॥ ५२ ॥
निमग्नास्ते सरः प्राप्य क्व ते याता द्विजोत्तमाः। तेऽब्रुवंस्तत्र वै पृष्टा वयं ते च द्विजोत्तमाः ॥ ५३ ॥
अस्य तीर्थस्य माहात्म्यान्मानुषत्वमुपागताः। तस्माद् यूयं श्रद्दधानाः स्नात्वा तीर्थे विमत्सराः ॥ ५४ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्ता भविष्यथ न संशयः। ततः स्नाताश्च ते सर्वे शुद्धदेहा दिवं गताः ॥ ५५ ॥
एतत् तीर्थस्य माहात्म्यं मानुषस्य द्विजोत्तमाः। ये शृण्वन्ति श्रद्दधानास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

पूर्वकालमें व्याधद्वारा बाणसे विद्ध कृष्णमृग (काला हरिण) उस सरोवरमें स्नानकर मनुष्यत्वको प्राप्त हुए थे। उसके बाद उन सभी व्याधोंने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे पूछा—द्विजोत्तमो ! हम लोगोंद्वारा बाणसे पीडित मृग इस मार्गसे जाते हुए सरोवरमें निमग्न होकर कहाँ चले गये ? उनके पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया—हम द्विजोत्तम वे (कृष्ण) मृग ही थे। इस तीर्थके माहात्म्यसे हम सब मनुष्य बन गये हैं। अतएव मत्सरसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक इस तीर्थमें स्नान करनेसे तुम लोग निःसन्देह समस्त पापोंसे विनिर्मुक्त हो जाओगे। फिर स्नान करनेसे शुद्ध देह होकर वे सभी (व्याध) स्वर्ग चले गये। द्विजोत्तमो ! जो श्रद्धापूर्वक मानुषतीर्थके इस माहात्म्यको सुनते हैं, वे भी परम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ५१—५६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

लोमहर्षण उवाच

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे द्विजोत्तमाः। आपगा नाम विख्याता नदी द्विजनिषेविता ॥ १ ॥
श्यामाकं पयसा सिद्धमाज्येन च परिप्लुतम्। ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्तेषां पापं न विद्यते ॥ २ ॥
ये तु श्राद्धं करिष्यन्ति प्राप्य तामापगां नदीम्। ते सर्वकामसंयुक्ता भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३ ॥
शंसन्ति सर्वे पितरः स्मरन्ति च पितामहाः। अस्माकं च कुले पुत्रः पौत्रो वापि भविष्यति ॥ ४ ॥
य आपगां नदीं गत्वा तिलैः संतर्पयिष्यति। तेन तृप्ता भविष्यामो यावत्कल्पशतं गतम् ॥ ५ ॥

छत्तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य एवं क्रमका अनुक्रान्त वर्णन)

लोमहर्षण बोले—द्विजोत्तमो ! मानुषतीर्थकी पूर्व दिशामें एक कोसपर द्विजोंसे पूजित 'आपगा' नामकी एक विख्यात नदी है। वहाँ साँवाके चावलको दूधमें सिद्धकर और उसमें घी मिलाकर जो ब्राह्मणोंको देते हैं, उनके पाप नहीं रह जाते। जो व्यक्ति उस आपगा नदीके तटपर जाकर श्राद्ध करेंगे, वे निःसंदेह समस्त (शुभ) कामनाओंसे पूर्ण होंगे। सभी पितर कहते हैं तथा पितामह लोग स्मरण करते हैं कि हमारे कुलमें कोई ऐसा पुत्र या पौत्र उत्पन्न होगा, जो आपगा नदीके तटपर जाकर तिलसे तर्पण करेगा, जिससे हम सभी सैकड़ों कल्पतक (अनन्त कालतक) तृप्त रहेंगे ॥ १–५ ॥

नभस्ये मासि सम्प्राप्ते कृष्णपक्षे विशेषतः। चतुर्दश्यां तु मध्याह्ने पिण्डदो मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ६ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्। ब्रह्मोदुम्बरमित्येवं सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ७ ॥
तत्र ब्रह्मर्षिकुण्डेषु स्नातस्य द्विजसत्तमाः। सप्तर्षीणां प्रसादेन सप्तसोमफलं भवेत् ॥ ८ ॥
भरद्वाजो गौतमश्च जमदग्निश्च कश्यपः। विश्वामित्रो वसिष्ठश्च अत्रिश्च भगवानृषिः ॥ ९ ॥
एतैः समेत्य तत्कुण्डं कल्पितं भुवि दुर्लभम्। ब्रह्मणा सेवितं यस्माद् ब्रह्मोदुम्बरमुच्यते ॥ १० ॥

भाद्रपदके महीनेमें, विशेषकर कृष्णपक्षमें, चतुर्दशी तिथिको मध्याह्न कालमें पिण्डदान करनेवाला मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। विप्रवरो ! उसके बाद समस्त लोकोंमें 'ब्रह्मोदुम्बर' नामसे प्रसिद्ध ब्रह्माके श्रेष्ठ स्थानमें जाना चाहिये। द्विजवरो ! वहाँ ब्रह्मर्षिकुण्डमें स्नान करनेवाले व्यक्तिको सप्तर्षियोंकी कृपासे सात सोमयज्ञोंका फल प्राप्त होता है। भरद्वाज, गौतम, जमदग्नि, कश्यप, विश्वामित्र, वसिष्ठ एवं भगवान् अत्रि (इन सात) ऋषियोंने मिलकर पृथ्वीमें दुर्लभ इस कुण्डको बनाया था। ब्रह्माद्वारा सेवित होनेके कारण यह स्थान 'ब्रह्मोदुम्बर' कहलाता है ॥ ६–१० ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नातो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। ब्रह्मलोकमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ११ ॥
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य यो विप्रं भोजयिष्यति। पितरस्तस्य सुखिता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ॥ १२ ॥
सप्तर्षींश्च समुद्दिश्य पृथक् स्नानं समाचरेत्। ऋषीणां च प्रसादेन सप्तलोकाधिपो भवेत् ॥ १३ ॥
कपिस्थलेति विख्यातं सर्वपातकनाशनम्। यस्मिन् स्थितः स्वयं देवो वृद्धकेदारसंज्ञितः ॥ १४ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च रुद्रं दिण्डिसमन्वितम्। अन्तर्धानमवाप्नोति शिवलोके स मोदते ॥ १५ ॥

अव्यक्त जन्मवाले ब्रह्माके उस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है। जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको भोजन करायेगा, उसके पितर सुखी होकर उसे संसारमें दुर्लभ वस्तु प्रदान करेंगे। सात ऋषियोंके उद्देश्यसे जो (व्यक्ति)

अलगसे स्नान करेगा, वह ऋषियोंके अनुग्रहसे सात लोकोंका स्वामी होगा। वहाँ सभी पापोंका विनाश करनेवाला विख्यात कपिस्थल नामक तीर्थ है, जहाँ वृद्धकेदार नामके देव स्वयं विद्यमान हैं। वहाँ स्नान करनेके बाद दिण्डिके साथ रुद्रदेवका अर्चन करनेसे मनुष्यको अन्तर्धानकी शक्ति प्राप्त होती है और वह शिवलोकमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ११-१५ ॥

यस्तत्र तर्पणं कृत्वा पिबते चुलकत्रयम्। दिण्डिदेवं नमस्कृत्य केदारस्य फलं लभेत् ॥ १६ ॥
यस्तत्र कुरुते श्राद्धं शिवमुद्दिश्य मानवः। चैत्रशुक्लचतुर्दश्यां प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १७ ॥
कलस्यां तु ततो गच्छेद् यत्र देवी स्वयं स्थिता। दुर्गा कात्यायनी भद्रा निद्रा माया सनातनी ॥ १८ ॥
कलस्यां च नरः स्नात्वा दृष्ट्वा दुर्गां तटे स्थिताम्। संसारगहनं दुर्गं निस्तरेन्नात्र संशयः ॥ १९ ॥

जो व्यक्ति उस स्थानपर तर्पण करके दिण्डि भगवान्‌को प्रणाम कर तीन चुल्लू जल पीता है, वह केदारतीर्थमे जानेका फल प्राप्त करता है। जो व्यक्ति वहाँ शिवजीके उद्देश्यसे चैत्र शुक्ला चतुर्दशी तिथिमें श्राद्ध करता है, वह परमपद (मोक्ष)को प्राप्त कर लेता है। उसके बाद कलसी नामके तीर्थमे जाना चाहिये जहाँ भद्रा, निद्रा, माया, सनातनी, कात्यायनीरूपा दुर्गादेवी स्वयं अवस्थित है। कलसी तीर्थमें स्नानकर उसके तीरपर स्थित दुर्गादेवीका दर्शन करनेवाला मनुष्य दुस्तर संसार-दुर्ग- (सांसारिक भवबन्धन-)को पार कर जाता है। इसमें (तनिक भी) संदेह नहीं करना चाहिये ॥ १६-१९ ॥

ततो गच्छेत सरकं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम्। कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां दृष्ट्वा देवं महेश्वरम् ॥ २० ॥
लभते सर्वकामांश्च शिवलोकं स गच्छति। तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके द्विजसत्तमाः ॥ २१ ॥
रुद्रकोटिस्तथा कूपे सरोमध्ये व्यवस्थिता। तस्मिन् सरे च यः स्नात्वा रुद्रकोटिं स्मरेन्नरः ॥ २२ ॥
पूजिता रुद्रकोटिश्च भविष्यति न संशयः। रुद्राणां च प्रसादेन सर्वदोषविवर्जितः ॥ २३ ॥
ऐन्द्रज्ञानेन संयुक्तः परं पदमवाप्नुयात्। इडास्पदं च तत्रैव तीर्थं पापभयापहम् ॥ २४ ॥

दुर्गादेवीके दर्शनके बाद तीनों लोकोंमें दुर्लभ सरकतीर्थमे जाना चाहिये। वहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको महेश्वरदेवका दर्शन करके मनुष्य (अपने) सभी मनोरथोंको प्राप्त करता और (अन्तमें) शिवलोकमें चला जाता है। द्विजश्रेष्ठो ! सरकतीर्थमे तीन करोड़ तीर्थ विद्यमान हैं। सरके बीच कूपमें रुद्रकोटि स्थित है। उस सरमे यदि व्यक्ति स्नान कर रुद्रकोटिका स्मरण करता है तो निःसदेह (उसके द्वारा) रुद्रकोटि पूजित हो जाता है और रुद्रोके प्रसादसे वह व्यक्ति समस्त दोषोंसे छूट जाता है। वह इन्द्रसम्बन्धी ज्ञानसे पूरित होकर परम पदको प्राप्त कर लेता है। वहीं पापों और भयोंका दूर करनेवाला इडास्पद नामका तीर्थ वर्तमान है ॥ २०-२४ ॥

अस्मिन् मुक्तिमवाप्नोति दर्शनादेव मानवः। तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितृदेवगणानपि ॥ २५ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति मनसा चिन्तितं लभेत्। केदारं च महातीर्थं सर्वकल्मषनाशनम् ॥ २६ ॥
तत्र स्नात्वा तु पुरुषः सर्वदानफलं लभेत्।
किंरूपं च महातीर्थं तत्रैव भुवि दुर्लभम्। तस्मिन् स्नातस्तु पुरुषः सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ २७ ॥
सरकस्य तु पूर्वेण तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। अन्यजन्म सुविख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २८ ॥

इस इडास्पद नामके तीर्थके दर्शनसे ही मनुष्य मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। वहाँ स्नान करके पितरों एवं देवोंका पूजन करनेसे मनुष्यकी दुर्गति नहीं होगी और उसे मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त होती है। सभी पापोंका

विनाश करनेवाला केदार नामक महातीर्थ है। वहाँ जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको सभी प्रकारके दानोंका फल प्राप्त होता है। वहींपर पृथ्वीमें दुर्लभ किंरूप नामका (भी) तीर्थ है। उसमें स्नान करनेवाले मनुष्यको सभी प्रकारके यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। सरकके पूर्वमें तीनों लोकोंमें सुप्रसिद्ध सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला अन्यजन्म नामका तीर्थ है ॥ २५–२८ ॥

नारसिंहं वपुः कृत्वा हत्वा दानवमूर्जितम्। तिर्यग्योनौ स्थितो विष्णुः सिंहेषु रतिमाप्नुवन् ॥ २९ ॥
ततो देवाः सगन्धर्वा आराध्य वरदं शिवम्। ऊचुः प्रणतसर्वाङ्गा विष्णुदेहस्य लम्भने ॥ ३० ॥
ततो देवो महात्माऽसौ शारभं रूपमास्थितः।
युद्धं च कारयामास दिव्यं वर्षसहस्रकम्। युध्यमानौ तु तौ देवौ पतितौ सरमध्यतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् सरस्तटे विप्रो देवर्षिर्नारदः स्थितः। अश्वत्थवृक्षमाश्रित्य ध्यानस्थस्तौ ददर्श ह ॥ ३२ ॥
विष्णुश्चतुर्भुजो जज्ञे लिङ्गाकारः शिवः स्थितः। तौ दृष्ट्वा तत्र पुरुषौ तुष्टाव भक्तिभावितः ॥ ३३ ॥

नरसिंहका शरीर धारण कर शक्तिशाली दानव-(हिरण्याक्ष-)का वध करनेके बाद विष्णु पशुयोनिमें स्थित सिंहोमे प्रेम करने लगे। उसके बाद गन्धर्वोंके साथ सभी देवताओंने वरदाता शिवकी आराधना कर साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए विष्णुसे पुन: स्वदेह (स्वरूप) धारण करनेकी प्रार्थना की। उसके बाद (फिर) महादेवने शरभ-(सिंहोसे भी बलवान् पशु-विशेष-)का रूप धारण करके (नरसिंहसे) हजारों दिव्य वर्षोंतक युद्ध किया-कराया। दोनो देवता (आपसमे) युद्ध करते हुए सरोवरमे गिर पड़े। उस सरोवरके तीरपर (स्थित) अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके नीचे देवर्षि नारद ध्यान लगाये बैठे थे। उन्होंने उन दोनोको देखा। (फिर तो) विष्णु चतुर्भुज रूपमें और शिव लिङ्गरूपमें (परिवर्तित) हो गये। उन दोनों पुरुषों (देवों)को देखकर उन्होंने भक्ति-भावसे उनकी स्तुति की ॥ २९–३३ ॥

नमः शिवाय देवाय विष्णवे प्रभविष्णवे। हरये च उमाभर्त्रे स्थितिकालभृते नमः ॥ ३४ ॥
हराय बहुरूपाय विश्वरूपाय विष्णवे। त्र्यम्बकाय सुसिद्धाय कृष्णाय ज्ञानहेतवे ॥ ३५ ॥
धन्योऽहं सुकृती नित्यं यद् दृष्टौ पुरुषोत्तमौ।
ममाश्रममिदं पुण्यं युवाभ्यां विमलीकृतम्। अद्यप्रभृति त्रैलोक्ये अन्यजन्मेति विश्रुतम् ॥ ३६ ॥
य इहागत्य स्नात्वा च पितॄन् संतर्पयिष्यति। तस्य श्रद्धान्वितस्येह ज्ञानमैन्द्रं भविष्यति ॥ ३७ ॥

[नारदजीने स्तुति की]—देवाधिदेव शिवको नमस्कार है। प्रभावशाली विष्णुको नमस्कार है। स्थिति (प्रजापालन) करनेवाले श्रीहरिको नमस्कार है। संहारके आधारभूत उमापति भगवान् शिवको नमस्कार है। बहुरूपधारी शंकरजी एवं विश्वरूपधारी (विश्वात्मा) विष्णुको नमस्कार है। परमसिद्ध (योगीश्वर) शंकर एवं ज्ञानके मूल कारण भगवान् कृष्णको नमस्कार है। मैं धन्य तथा सदा पुण्यवान् हूँ; क्योंकि मुझे (आज) आप दोनों (श्रेष्ठ) पुरुषो-(देवो-)के दर्शन प्राप्त हुए। आप दोनों पुरुषोंद्वारा पवित्र किया गया मेरा यह आश्रम पुण्यमय हो गया। आजसे तीनो लोकोंमें यह 'अन्यजन्म' नामसे प्रसिद्ध हो जायगा। जो व्यक्ति यहाँ आकर इस तीर्थमे स्नान कर अपने पितरोंका तर्पण करेगा श्रद्धासे सम्पन्न उस पुरुषको यहाँ इन्द्र-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो जायगा ॥ ३४–३७ ॥

अश्वत्थस्य तु यन्मूलं सदा तत्र वसाम्यहम्। अश्वत्थवन्दनं कृत्वा यमं रौद्रं न पश्यति ॥ ३८ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा नागस्य ह्रदमुत्तमम्। पौण्डरीके नरः स्नात्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ३९ ॥
दशम्यां शुक्लपक्षस्य चैत्रस्य तु विशेषतः। स्नानं जपं तथा श्राद्धं मुक्तिमार्गप्रदायकम् ॥ ४० ॥
ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् तीर्थं देवनिषेवितम्। तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रमोचनी ॥ ४१ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम्। सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छत्येव परां गतिम् ॥ ४२ ॥

मैं पीपल वृक्षके मूलमें सदा निवास करूँगा। उस अश्वत्थ-(पीपल वृक्ष-)को प्रणाम करनेवाला व्यक्ति भयकर यमराजको नहीं देखेगा। श्रेष्ठ ब्राह्मणो! उसके बाद (उस तीर्थसेवीको) उत्तम नागह्रदमें जाना चाहिये। पौण्डरीकमें स्नान करके मनुष्य पुण्डरीक (एक प्रकारके यज्ञ-)का फल प्राप्त करता है। शुक्लपक्षकी दशमी, विशेषकर चैत्र मासकी (शुक्ला) दशमी तिथिमें वहाँ किया गया स्नान, जप और श्राद्ध मोक्षपथकी प्राप्ति करानेवाला होता है। पुण्डरीकमें स्नान करनेके बाद देवताओंद्वारा पूजित 'त्रिविष्टप' नामक तीर्थमें जाना चाहिये। वहाँ पापोंसे विमुक्त करनेवाली पवित्र वैतरणी नदी है। वहाँ स्नानकर शूलपाणि वृषध्वज-(शिव-)की पूजा कर मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा विशुद्ध होकर निश्चय ही परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३८-४२ ॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा रसावर्त्तमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा भक्तियुक्तः सिद्धिमाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ ४३ ॥
चैत्रशुक्लचतुर्दश्यां तीर्थे स्नात्वा ह्यलेपके। पूजयित्वा शिवं तत्र पापलेपो न विद्यते ॥ ४४ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्राः फलकीवनमुत्तमम्।
यत्र देवाः सगन्धर्वाः साध्याश्च ऋषयः स्थिताः। तपश्चरन्ति विपुलं दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥ ४५ ॥
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः। अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः॥ ४६ ॥

विप्रश्रेष्ठो! तत्पश्चात् सर्वश्रेष्ठ रसावर्त (तीर्थ)में जाना चाहिये। वहाँ भक्तिसहित स्नान करनेवाला सर्वश्रेष्ठ सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करता है। चैत्रमासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी (चौदस) तिथिको 'अलेपक' नामक तीर्थमें स्नान कर वहाँ शिवकी पूजा करनेसे पापसे लिप्त नहीं होता—पाप दूर भाग जाता है। विप्रवरो! वहाँसे उत्तम फलकीवनमें जाना चाहिये। वहाँ देवता, गन्धर्व, साध्य और ऋषि लोग रहते हैं एवं दिव्य सहस्र वर्षोतक बहुत तप करते हैं। दृषद्वती (कग्गर) नदीमें स्नानकर देवताओंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र नामक यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको प्राप्त करता है ॥ ४३-४६ ॥

सोमक्षये च सम्प्राप्ते सोमस्य च दिने तथा। यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४७ ॥
गयायां च यथा श्राद्धं पितॄन् प्रीणाति नित्यशः। तथा श्राद्धं च कर्तव्यं फलकीवनमाश्रितैः ॥ ४८ ॥
मनसा स्मरते यस्तु फलकीवनमुत्तमम्। तस्यापि पितरस्तृप्तिं प्रयास्यन्ति न संशयः ॥ ४९ ॥
तत्रापि तीर्थं सुमहत् सर्वदेवैरलंकृतम्। तस्मिन् स्नातस्तु पुरुषो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥
पाणिखाते नरः स्नात्वा पितॄन् संतर्प्य मानवः। अवाप्नुयाद् राजसूयं सांख्यं योगं च विन्दति॥ ५१ ॥

सोमवारके दिन चन्द्रमाके क्षीण हो जानेपर अर्थात् सोमवती अमावस्याको जो मनुष्य श्राद्ध करता है, उसका पुण्यफल सुनो। जैसे गया-क्षेत्रमें किया गया श्राद्ध पितरोंको नित्य तृप्त करता है, वैसे ही फलकीवनमें रहनेवालोंको श्राद्ध करनेसे पितरोंको तृप्ति होती है। जो मनुष्य मनसे फलकीवनका स्मरण करता है, उसके भी पितर निःसंदेह तृप्ति प्राप्त करते हैं। वहीं सभी देवोंसे सुशोभित एक 'सुमहत्'तीर्थ है; उसमें स्नान करनेवाला पुरुष हजारों गौओंके दानका फल प्राप्त करता है। मानव पाणिखात तीर्थमें स्नान करके एवं पितरोंका तर्पण कर राजसूय-यज्ञ तथा सांख्य (ज्ञान) और योग-(कर्म-)के अनुष्ठान करनेसे होनेवाले फलको प्राप्त करता है ॥ ४७-५१ ॥

ततो गच्छेत सुमहत्तीर्थं मिश्रकमुत्तमम्। तत्र तीर्थानि मुनिना मिश्रितानि महात्मना ॥ ५२ ॥
व्यासेन मुनिशार्दूला दधीच्यर्थं महात्मना। सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ५३ ॥
ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः। मनोजवे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा देवमणिं शिवम् ॥ ५४ ॥

मनसा चिन्तितं सर्वं सिध्यते नात्र संशयः । गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थं नरः शुचिः ॥ ५५ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयेद् देवान् पितृंश्च प्रयतो नरः । स देव्या समनुज्ञातो यथा सिद्धिं लभेन्नरः ॥ ५६ ॥

पाणिखातके बाद 'मिश्रक' नामक महान् एवं श्रेष्ठ तीर्थमें जाना चाहिये । मुनिश्रेष्ठो ! वहाँ महात्मा व्यासदेवने दधीचिऋषिके हेतु तीर्थोंको एकमें मिश्रित किया था । इस मिश्रक तीर्थमें स्नान कर लेनेवाला मनुष्य (मानो) सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है । फिर संयमशील तथा नियमित आहार करनेवाला होकर व्यासवनमें जाना चाहिये । 'मनोजव' तीर्थमें स्नानकर 'देवमणि' शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्यको अभीष्ट-सिद्धिकी प्राप्ति होती है—इसमें संदेह नहीं । मनुष्यको देवीके मधुवटीनामक तीर्थमें जाकर स्नान करके संयत होकर देवों एवं पितरोंकी पूजा करनी चाहिये । ऐसा करनेवाला व्यक्ति देवीकी आज्ञासे (जैसी चाहता है, वैसी) सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५२–५६ ॥

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्यां नरोत्तमः । स्नायीत नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता । पुत्रशोकाभिभूतेन देहत्यागाय निश्चयः ॥ ५८ ॥
कृतो देवैश्च विप्रेन्द्राः पुनरुत्थापितस्तदा । अभिगम्य स्थलीं तस्य पुत्रशोकं न विन्दति ॥ ५९ ॥
किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च । गच्छेत परमां सिद्धिं ऋणैर्मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ६० ॥
अह्नं च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे भुवि दुर्लभे । तयोः स्नात्वा विशुद्धात्मा सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य 'कौशिकी' और 'दृषद्वती' (कगार) नदियोंके संगममें स्नान करता और नियत भोजन करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! 'व्यासस्थली' नामका एक स्थान है, जहाँ पुत्रशोकसे दुःखी होकर वेदव्यासने अपने शरीरत्यागका निश्चय कर लिया था, पर देवोंने उन्हें पुनः सँभाल लिया । उसके बाद उस भूमिमें जानेवाले मनुष्यको पुत्रशोक नहीं होता । 'किंदत्तकूप'में जाकर एक पसर (तौलका एक परिमाण) तिलका दान करनेसे मनुष्य परमसिद्धि और ऋणसे मुक्ति प्राप्त करता है । 'अह्न' एवं 'सुदिन' नामक ये दो तीर्थ पृथ्वीमें दुर्लभ हैं । इन दोनोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विशुद्धात्मा होकर सूर्यलोकको प्राप्त करता है ॥ ५७–६१ ॥

कृतजप्यं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् । तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां प्रयतः स्थितः ॥ ६२ ॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् । कोटितीर्थं च तत्रैव दृष्ट्वा कोटीश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तत्र स्नात्वा श्रद्दधानः कोटियज्ञफलं लभेत् । ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ६४ ॥
यत्र वामनरूपेण विष्णुना प्रभविष्णुना । बलेरपहृतं राज्यमिन्द्राय प्रतिपादितम् ॥ ६५ ॥

उसके बाद तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'कृतजप्य' नामके तीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ नियमपूर्वक संयत रहते हुए गङ्गामें स्नान करना चाहिये । वहाँपर महादेवका पूजन करनेसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है । वहींपर कोटितीर्थ स्थित है । वहाँ श्रद्धापूर्वक स्नानकर 'कोटीश्वर' नाथका दर्शन करनेसे मनुष्य कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त कर लेता है । उसके बाद तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'वामनक' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ प्रभावशाली विष्णुने वामनरूप धारणकर बलिका राज्य छीन कर इन्द्रको दे दिया था ॥ ६२–६५ ॥

तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् । सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ६६ ॥
ज्येष्ठाश्रमं च तत्रैव सर्वपातकनाशनम् । तं तु दृष्ट्वा नरो मुक्तिं संप्रयाति न संशयः ॥ ६७ ॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे एकादश्यामुपोषितः । द्वादश्यां च नरः स्नात्वा ज्येष्ठत्वं लभते नृषु ॥ ६८ ॥
तत्र प्रतिष्ठिता विप्रा विष्णुना प्रभविष्णुना । दीक्षाप्रतिष्ठासंयुक्ता विष्णुप्रीणनतत्पराः ॥ ६९ ॥

*

वहाँ 'विष्णुपद' तीर्थमे स्नान कर वामनदेवकी पूजा कर समस्त पापोसे शुद्ध होकर (छूटकर) मनुष्य विष्णुके लोकको प्राप्त कर लेता है। वहींपर सभी पापोंको नष्ट करनेवाला ज्येष्ठाश्रम नामका तीर्थ है, उसका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है—इसमें संदेह नहीं। ज्येष्ठ महीनेके शुक्लपक्षकी एकादशी तिथिको उपवास कर द्वादशी तिथिके दिन स्नानकर मानव मनुष्योंमें श्रेष्ठता (बड़प्पन) प्राप्त करता है। वहाँ (सर्वाधिक) प्रभावशाली विष्णु भगवान्ने यज्ञादिमें दीक्षित (लगे हुए), प्रतिष्ठित एवं सम्मान्य तथा विष्णु भगवान्की आराधनामें परायण ब्राह्मणोंको सम्मानित किया था॥ ६६–६९॥

तेभ्यो दत्तानि श्राद्धानि दानानि विविधानि च। अक्षयाणि भविष्यन्ति यावन्मन्वन्तरस्थितिः॥ ७०॥
तत्रैव कोटितीर्थं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा कोटियज्ञफलं लभेत्॥ ७१॥
कोटीश्वरं नरो दृष्ट्वा तस्मिंस्तीर्थे महेश्वरम्। महादेवप्रसादेन गाणपत्यमवाप्नुयात्॥ ७२॥
तत्रैव सुमहत् तीर्थं सूर्यस्य च महात्मनः। तस्मिन् स्नात्वा भक्तियुक्तः सूर्यलोके महीयते॥ ७३॥

उन्हें दिये गये (पात्रक) श्राद्ध और अनेक प्रकारके दान अक्षय एवं मन्वन्तरतक स्थिर रहते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात 'कोटि-तीर्थ' है। उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य करोड़ों यज्ञोंके फल प्राप्त करता है। उस तीर्थमें 'कोटीश्वर' महादेवका दर्शन कर मनुष्य उन महादेवकी कृपासे गाणपत्य पद (गणनायकत्वकी उपाधि) प्राप्त करता है। और, वहीं महात्मा सूर्यदेवका महान् तीर्थ है। उसमे भक्तिपूर्वक स्नानकर मनुष्य सूर्यलोकमें महान् माना जाता है॥ ७०–७३॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्रास्तीर्थं कल्मषनाशनम्। कुलोत्तारणनामानं विष्णुना कल्पितं पुरा॥ ७४॥
वर्णानामाश्रमाणां च तारणाय सुनिर्मलम्।
ब्रह्मचर्यात्परं मोक्षं य इच्छन्ति सुनिर्मलम्। तेऽपि तत्तीर्थमासाद्य पश्यन्ति परमं पदम्॥ ७५॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। कुलानि तारयेत् स्नातः सप्त सप्त च सप्त च॥ ७६॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये तत्परायणाः। स्नाता भक्तियुताः सर्वे पश्यन्ति परमं पदम्॥ ७७॥
दूरस्थोऽपि स्मरेद् यस्तु कुरुक्षेत्रं सवामनम्। सोऽपि मुक्तिमवाप्नोति किं पुनर्निवसन्नरः॥ ७८॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! कोटितीर्थके बाद पापका नाश करनेवाले 'कुलोत्तारणतीर्थ'में जाना चाहिये, जिसे प्राचीनकालमें विष्णुने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाले मनुष्योको तारनेके लिये बनाया था। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यव्रतसे विशुद्ध मुक्तिकी इच्छा करते हैं ऐसे लोग भी उस तीर्थमें जाकर परमपदका दर्शन कर लेते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी वहाँ स्नानकर अपने कुलके (७ + ७ + ७=२१) इक्कीस पूर्व पुरुषोंका उद्धार कर देते हैं। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र उस तीर्थमें तीर्थपरायण होकर एवं भक्तिसे स्नान करते हैं, वे सभी परमपदका दर्शन करते हैं। और, जो दूर रहता हुआ भी वामनसहित कुरुक्षेत्रका स्मरण करता है, वह भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है; फिर वहाँ निवास करनेवालेका तो कहना ही क्या!॥ ७४–७८॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३६॥

[अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा देवं महेश्वरम् । विमुक्तः कलुषैः सर्वैः शैवं पदमवाप्नुयात् ॥ १ ॥
पुत्रशोकेन पवनो यस्मिँल्लीनो बभूव ह । ततः सब्रह्मकैर्देवैः प्रसाद्य प्रकटीकृतः ॥ २ ॥
अतो गच्छेत अमृतं स्थानं तच्छूलपाणिनः । यत्र देवैः सगन्धर्वैः हनुमान् प्रकटीकृतः ॥ ३ ॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा अमृतत्वमवाप्नुयात् । कुलोत्तारणमासाद्य तीर्थसेवी द्विजोत्तमः ॥ ४ ॥
कुलानि तारयेत् सर्वान् मातामहपितामहान् । शालिहोत्रस्य राजर्षेस्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ ५ ॥
तत्र स्नात्वा विमुक्तस्तु कलुषैर्देहसंभवैः । श्रीकुञ्जं तु सरस्वत्यां तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ ६ ॥
तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या अग्निष्टोमफलं लभेत् । ततो नैमिषकुञ्जं तु समासाद्य नरः शुचिः ॥ ७ ॥
नैमिषस्य च स्नानेन यत् पुण्यं तत् समाप्नुयात् । तत्र तीर्थं महाख्यातं वेदवत्या निषेवितम् ॥ ८ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य और क्रमका पूर्वानुक्रान्त वर्णन)

लोमहर्षण बोले—पवनके ह्रदमें, पुत्र (हनुमान्‌जी)के शोकके कारण जिस सरोवरमें पवन लीन हो गये थे, उसमें स्नान करके महेश्वरदेवका दर्शन कर मनुष्य समस्त पापोंसे विमुक्त हो शिवपदको प्राप्त करता है। उसके बाद ब्रह्माके साथ सभी देवोंने मिलकर उन्हें प्रसन्न एवं प्रत्यक्ष प्रकट किया । यहाँसे शूलपाणि (भगवान् शंकर)के अमृतनामक स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ गन्धर्वोंके साथ देवताओंने हनुमान्‌जीको प्रकट किया था । उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य अमृतपदको पा लेता है । नियमानुसार तीर्थका सेवन करनेवाला श्रेष्ठ ब्राह्मण 'कुलोत्तारण' तीर्थमें जाकर अपने मातामह और पितामहके समस्त वंशोंका उद्धार कर देता है। तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध राजर्षि शालिहोत्रके तीर्थमें स्नान कर मुक्त हो मनुष्य शारीरिक पापोंसे सर्वथा छूट जाता है । सरस्वती-क्षेत्रमें तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध श्रीकुञ्जनामक तीर्थ है । उसमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त कर लेता है । मनुष्य वहाँसे नैमिषकुञ्जतीर्थमें जाकर पवित्र हो जाता है और नैमिषारण्यतीर्थमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, उसे प्राप्त कर लेता है । वहाँपर 'वेदवती'से निषेवित बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है ॥ १—८ ॥

रावणेन गृहीतायाः केशेषु द्विजसत्तमाः । तद्वधाय च सा प्राणान् मुमुचे शोककर्शिता ॥ ९ ॥
ततो जाता गृहे राज्ञो जनकस्य महात्मनः । सीता नामेति विख्याता रामपत्नी पतिव्रता ॥ १० ॥
सा हृता रावणेनेह विनाशायात्मनः स्वयम् । रामेण रावणं हत्वा अभिषिच्य विभीषणम् ॥ ११ ॥
समानीता गृहं सीता कीर्तिरात्मवता यथा । तस्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा कन्यायज्ञफलं लभेत् ॥ १२ ॥
विमुक्तः कलुषैः सर्वैः प्राप्नोति परमं पदम् । ततो गच्छेत सुमहद् ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ॥ १३ ॥
यत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः । ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा परं पदमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठो ! रावणके द्वारा अपने केशके पकड़े जानेपर शोकसे संतप्त होकर (वेदवतीने) उसके (रावणके) वधके लिये अपने प्राणोंको छोड़ दिया था और उसके बाद महात्मा राजा जनकके घरमें वे उत्पन्न हुईं और उनका नाम 'सीता' विख्यात हुआ तथा वे रामकी पतिव्रता पत्नी हुईं । उस सीताको रावणने स्वयं अपने विनाशके लिये अपहृत कर लिया । सीताके अपहरण हो जानेपर राम-रावण-युद्ध हुआ, जिसमें रावणको

मारनेके बाद विभीषणको (लङ्काके राज्यपर) अभिषिक्त कर राम सीताको वैसे ही घर लौटा लाये, जैसे आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष कीर्तिको प्राप्त करता है । उनके तीर्थमें स्नान कर मनुष्य कन्यायज्ञ-(कन्यादान-)का फल एवं समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त करता है । उस वेदवतीतीर्थके बाद ब्रह्माके उत्तम और महान् स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ स्नान करनेसे अवर-वर्णका व्यक्ति (जन्मान्तरमें) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण विशुद्ध अन्तःकरणवाला होकर परमपदकी प्राप्ति करता है ॥ ९–१४ ॥

ततो गच्छेत सोमस्य तीर्थं त्रैलोक्यदुर्लभम् । यत्र सोमस्तपस्तप्त्वा द्विजराज्यमवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च स्वपितॄन् दैवतानि च । निर्मलः स्वर्गमायाति कार्तिक्यां चन्द्रमा यथा ॥ १६ ॥
सप्तसारस्वतं तीर्थं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम् । यत्र सप्त सरस्वत्य एकीभूता वहन्ति च ॥ १७ ॥
सुप्रभा काञ्चनाक्षी च विशाला मानसह्रदा । सरस्वत्योघनामा च सुरेणुर्विमलोदका ॥ १८ ॥

उस ब्रह्माके तीर्थ-स्थलपर जानेके बाद तीनों लोकोंमें दुर्लभ 'सोमतीर्थ'में जाना चाहिये, जहाँ चन्द्रमाने तपस्या करके द्विजराजत्व-पदको प्राप्त किया था । वहाँ स्नानकर अपने पितरों और देवताओंकी पूजा करनेसे मनुष्य कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान निर्मल होकर स्वर्गको प्राप्त कर लेता है । तीनों लोकोंमें दुर्लभ 'सप्तसारस्वतनामक' एक तीर्थ है, जहाँ सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला, मानसह्रदा, सरस्वती, ओघवती, विमलोदका एवं सुरेणु नामकी सातों सरस्वतियाँ (नदियाँ) एकत्र मिलकर प्रवाहित होती हैं ॥ १५–१८ ॥

पितामहस्य यजतः पुष्करेषु स्थितस्य ह । अब्रुवन् ऋषयः सर्वे नाऽयं यज्ञो महाफलः ॥ १९ ॥
न दृश्यते सरिच्छ्रेष्ठा यस्मादिह सरस्वती । तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सस्माराथ सरस्वतीम् ॥ २० ॥
पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु वै । सुप्रभा नाम सा देवी तत्र ख्याता सरस्वती ॥ २१ ॥
तां दृष्ट्वा मुनयः प्रीता वेगयुक्तां सरस्वतीम् । पितामहं मानयन्तीं ते तु तां बहु मेनिरे ॥ २२ ॥

पुष्करतीर्थमें स्थित ब्रह्माजीके यज्ञके अनुष्ठानमें लग जानेपर सभी ऋषियोंने उनसे कहा—आपका यह यज्ञ महाफलजनक नहीं होगा; क्योंकि यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती (नदी) नहीं दिखलायी पड़ रही है । उसे सुनकर भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक सरस्वतीका स्मरण किया । पुष्करमें यज्ञ कर रहे ब्रह्माजीद्वारा आहूत की गयी 'सुप्रभा' नामकी देवी वहाँ सरस्वती नामसे प्रसिद्ध हुई । ब्रह्माजीका मान करनेवाली उस वेगवती सरस्वतीको देखकर मुनिजन प्रसन्न हो गये और उन सबोंने उनका अत्यधिक सम्मान किया ॥ १९–२२ ॥

एवमेषा सरिच्छ्रेष्ठा पुष्करस्था सरस्वती । समानीता कुरुक्षेत्रे मङ्कणेन महात्मना ॥ २३ ॥
नैमिषे मुनयः स्थित्वा शौनकाद्यास्तपोधनाः । ते पृच्छन्ति महात्मानं पौराणं लोमहर्षणम् ॥ २४ ॥
कथं यज्ञफलोऽस्माकं वर्ततां सत्पथे भवेत् । ततोऽब्रवीन्महाभागः प्रणम्य शिरसा ऋषीन् ॥ २५ ॥
सरस्वती स्थिता यत्र तत्र यज्ञफलं महत् । एतच्छ्रुत्वा तु मुनयो नानास्वाध्यायवेदिनः ॥ २६ ॥
समागम्य ततः सर्वे सस्मरुस्ते सरस्वतीम् । सा तु ध्याता ततस्तत्र ऋषिभिः सत्रयाजिभिः ॥ २७ ॥
समागता प्लावनार्थं यज्ञे तेषां महात्मनाम् । नैमिषे काञ्चनाक्षी तु स्मृता मङ्कणकेन सा ॥ २८ ॥
समागता कुरुक्षेत्रं पुण्यतोया सरस्वती । गयस्य यजमानस्य गयेष्वेव महाक्रतुम् ॥ २९ ॥
आहूता च सरिच्छ्रेष्ठा गययज्ञे सरस्वती । विशालां नाम तां प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ॥ ३० ॥

इस प्रकार पुष्करतीर्थमें स्थित एवं नदियोंमें श्रेष्ठ इस सरस्वतीको महात्मा मङ्कण कुरुक्षेत्रमें लाये ।

एक समय नैमिषारण्यमें रहनेवाले तपस्याके धनी शौनक आदि मुनियोंने पुराणोंके ज्ञाता महात्मा लोमहर्षणसे पूछा—सत्पथगामी हम लोगोंको यज्ञका फल कैसे प्राप्त होगा ? (—इसे कृपाकर समझाइये ।) उसके बाद महानुभाव लोमहर्षणजीने ऋषियोंको सिरसे प्रणाम कर कहा कि ऋषियो ! जहाँ सरस्वती नदी अवस्थित है, वहाँ (रहनेसे) यज्ञका महान् फल प्राप्त होता है । इसको सुनकर विविध वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले मुनियोंने एकत्र होकर सरस्वतीका स्मरण किया । दीर्घकालिक यज्ञ करनेवाले उन ऋषियोंके ध्यान (स्मरण) करनेपर वे (सरस्वती) वहाँ नैमिषक्षेत्रमें उन महात्माओंके यज्ञमें प्लावन करनेके लिये काञ्चनाक्षी नामसे उपस्थित हो गयीं । वे ही प्रसिद्ध नदी मङ्कणके द्वारा स्मृत होनेपर पवित्र-सलिला सरस्वतीके रूपमें कुरुक्षेत्रमें (भी) आयीं और महान् व्रती ऋषियोंने गया-क्षेत्रमें महायज्ञका अनुष्ठान करनेवाले गयके यज्ञमें आहूत की गयी उन श्रेष्ठ सरस्वती नदीको 'विशाला'के नामसे स्मरण किया ॥ २३–३० ॥

सरित् सा हि समाहूता मङ्कणेन महात्मना । कुरुक्षेत्रं समायाता प्रविष्टा च महानदी ॥ ३१ ॥
उत्तरे कोशलाभागे पुण्ये देवर्षिसेविते । उद्दालकेन मुनिना तत्र ध्याता सरस्वती ॥ ३२ ॥
आजगाम सरिच्छ्रेष्ठा तं देशं मुनिकारणात् । पूज्यमाना मुनिगणैर्वल्कलाजिनसंवृतैः ॥ ३३ ॥
मनोहरेति विख्याता सर्वपापक्षयावहा ।
आहूता सा कुरुक्षेत्रे मङ्कणेन महात्मना । ऋषेः संमाननार्थाय प्रविष्टा तीर्थमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
सुवेणुरिति विख्याता केदारे या सरस्वती । सर्वपापक्षया ज्ञेया ऋषिसिद्धनिषेविता ॥ ३५ ॥

महात्मा मङ्कण ऋषिद्वारा समाहूत की गयी वही नदी कुरुक्षेत्रमें आकर प्रवेश कर गयी । (फिर) उद्दालक मुनिने देवर्षियोंके द्वारा सेवित परम पवित्र उत्तरकोसल प्रदेशमें सरस्वतीका ध्यान किया । उन मुनिके कारण नदियोंमें श्रेष्ठ वह सरस्वती नदी उस देशमें आ गयी एवं वह वल्कल तथा मृगचर्मको धारण करनेवाले मुनियोंद्वारा पूजित हुई । तब सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाली वह 'मनोहरा' नामसे विख्यात हुई । फिर वह महात्मा मङ्कण-द्वारा आहूत होकर ऋषिको सम्मानित करनेके लिये कुरुक्षेत्रके उत्तम तीर्थमें प्रविष्ट हुई । केदारतीर्थमें जो सरस्वती 'सुवेणु' नामसे प्रसिद्ध है, वह ऋषियों और सिद्धोंके द्वारा सेवित तथा सर्वपापनाशक रूपसे जानी जाती है ॥ ३१–३५ ॥

सापि तेनेह मुनिना आराध्य परमेश्वरम् । ऋषीणामुपकारार्थं कुरुक्षेत्रं प्रवेशिता ॥ ३६ ॥
दक्षेण यजता सापि गङ्गाद्वारे सरस्वती । विमलोदा भगवती दक्षेण प्रकटीकृता ॥ ३७ ॥
समाहूता ययौ तत्र मङ्कणेन महात्मना । कुरुक्षेत्रे तु कुरुणा यजिता च सरस्वती ॥ ३८ ॥
सरोमध्ये समानीता मार्कण्डेयेन धीमता । अभिष्टूय महाभागां पुण्यतोयां सरस्वतीम् ॥ ३९ ॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धः सप्तसारस्वते स्थितः । नृत्यमानश्च देवेन शंकरेण निवारितः ॥ ४० ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

परमेश्वरकी आराधना कर उन मुनिने उसे (सुवेणुको) भी ऋषियोंका उपकार करनेके लिये इस कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित कराया । गङ्गाद्वारमें यज्ञ कर रहे दक्षने 'विमलोदा' नामसे भगवती सरस्वतीको प्रकट किया । कुरुक्षेत्रमें कुरुद्वारा पूजित सरस्वती मङ्कणद्वारा बुलायी जानेपर वहाँ गयी । फिर बुद्धिमान् मार्कण्डेयजी उस पवित्र जलवाली महाभागा सरस्वतीकी स्तुति कर उसे सरोवरके मध्यमें ले गये । वहीं सप्तसारस्वत तीर्थमें उपस्थित एवं नृत्य करते हुए सिद्ध मङ्कणकको नृत्य करनेसे शंकरजीने रोका था ॥ ३६–४० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

[अथ अष्टात्रिंशोऽध्यायः]

ऋषय उचुः

कथं मङ्कणकः सिद्धः कस्माज्जातो महानृषिः। नृत्यमानस्तु देवेन किमर्थं स निवारितः॥ १ ॥

अड़तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(मङ्कणक-प्रसङ्ग, मङ्कणकका शिवस्तवन और उनकी अनुकूलता प्राप्ति)

ऋषियोंने कहा—(प्रभो !) मङ्कणक किस प्रकार सिद्ध हुए ? वे महान् ऋषि किससे उत्पन्न हुए थे ? नृत्य करते हुए उन मङ्कणकको महादेवने क्यों रोका ? ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

कश्यपस्य सुतो जज्ञे मानसो मङ्कणो मुनिः। स्नानं कर्तुं व्यवसितो गृहीत्वा वल्कलं द्विजः॥ २ ॥
तत्र गता ह्यप्सरसो रम्भाद्याः प्रियदर्शनाः। स्नायन्ति रुचिराः स्निग्धास्तेन सार्धमनिन्दिताः॥ ३ ॥
ततो मुनेस्तदा क्षोभाद्रेतः स्कन्नं यदम्भसि। तद्रेतः स तु जग्राह कलशे वै महातपाः॥ ४ ॥
सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह। तत्रर्षयः सप्त जाता विदुर्यान् मरुतां गणान्॥ ५ ॥
वायुवेगो वायुबलो वायुहा वायुमण्डलः। वायुज्वालो वायुरेतो वायुचक्रश्च वीर्यवान्॥ ६ ॥
एते ह्यपत्यास्तस्यर्षेर्धारयन्ति चराचरम्। पुरा मङ्कणकः सिद्धः कुशाग्रेणेति मे श्रुतम्॥ ७ ॥
क्षतः किल करे विप्रास्तस्य शाकरसोऽस्रवत्। स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान्॥ ८ ॥

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) मङ्कणकमुनि महर्षि कश्यपके मानसपुत्र थे । (एक समय) वे ब्राह्मण देवता वल्कल-वस्त्र लेकर स्नान करने गये। वहाँ रम्भा आदि सुन्दरी अप्सराएँ भी गयी थीं । अनिन्द्य, कोमल एवं मनोहर (रूपवाली वे सभी) अप्सराएँ उनके साथ (ही) स्नान करने लगीं । उसके बाद मुनिके मनमें विकृति हो गयी; फलतः उनका शुक्र जलमें स्खलित हो गया । उस रेतको उन महातपस्वीने उठाकर घड़ेमें रख लिया । वह कलशस्थ (रेत) सात भागोंमें विभक्त हो गया । उससे सात ऋषि उत्पन्न हुए, जिन्हें मरुद्गण कहा जाता है । (उनके नाम हैं—) वायुवेग, वायुबल, वायुहा, वायुमण्डल, वायुज्वाल, वायुरेता एवं वीर्यवान् वायुचक्र। उन (मङ्कणक) ऋषिके ये सात पुत्र चराचरको धारण करते हैं। ब्राह्मणो ! मैंने यह सुना है कि प्राचीन कालमें सिद्ध मङ्कणकके हाथमें कुशके अग्रभागसे छिद जानेके कारण घाव हो गया था; उससे शाकरस निकलने लगा । वे (अपने हाथसे निकलते हुए उस) शाकरसको देखकर प्रसन्न हो गये और नाचने लगे ॥२—८॥

ततः सर्वं प्रनृत्तं च स्थावरं जङ्गमं च यत्। प्रनृत्तं च जगद् दृष्ट्वा तेजसा तस्य मोहितम्॥ ९ ॥
ब्रह्मादिभिः सुरैस्तत्र ऋषिभिश्च तपोधनैः। विज्ञप्तो वै महादेवो मुनेरर्थे द्विजोत्तमाः॥ १० ॥
नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि। ततो देवो मुनिं दृष्ट्वा हर्षाविष्टमतीव हि॥ ११ ॥
सुराणां हितकामार्थं महादेवोऽभ्यभाषत।
हर्षस्थानं किमर्थं च तवेदं मुनिसत्तम। तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम॥ १२ ॥

इससे (उनके नृत्य करनेसे उनके साथ) सम्पूर्ण अचर-चर जगत् भी नाचने लगा । उनके तेजसे मोहित जगत्को नाचते देखकर ब्रह्मा आदि देव एवं तपस्वी ऋषियोंने मुनिके (हितके) लिये महादेवसे कहा—देव ! आप ऐसा (कार्य) करें, जिससे ये नृत्य न करें (उन्हें नृत्यसे विरत करनेका उपाय करें)। उसके बाद हर्षसे अधिक मग्न उन मुनिको देखकर एवं देवोंके हितकी इच्छासे महादेवने कहा—मुनिसत्तम ! ब्राह्मणश्रेष्ठ ! आप तो तपस्वी एवं धर्मपथमेंस्थित रहनेवाले हैं । फिर आपके इस हर्षका कारण क्या है ? ॥ ९—१२ ॥

ऋषिरुवाच

किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम्। यं दृष्ट्वाऽहं प्रनृत्तो वै हर्षेण महताऽन्वितः ॥ १३ ॥
तं प्रहस्याब्रवीद् देवो मुनिं रागेण मोहितम्। अहं न विस्मयं विप्र गच्छामीह प्रपश्यताम् ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं देवदेवो महाद्युतिः। अङ्गुल्यग्रेण विप्रेन्द्राः स्वाङ्गुष्ठं ताडयद् भवः ॥ १५ ॥
ततो भस्म क्षतात् तस्मान्निर्गतं हिमसन्निभम्। तद् दृष्ट्वा व्रीडितो विप्रः पादयोः पतितोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥

ऋषिने कहा—ब्रह्मन् ! क्या आप नहीं देखते कि मेरे हाथसे शाकका रस चू रहा है; जिसे देखकर मैं अत्यन्त आनन्दमग्न होकर नृत्य कर रहा हूँ। महादेवजीने हँसकर आसक्तिसे मोहित हुए उन मुनिसे कहा—विप्रवर ! मुझे आश्चर्य नहीं हो रहा है। (किंतु) आप इधर देखें। विप्रेन्द्रो ! श्रेष्ठ मुनिसे ऐसा कहकर देदीप्यमान भगवान् देवाधिदेव महादेवने अपनी अंगुलिके अग्रभागसे अपने अंगूठेको ठोका दिया। उसके बाद उस चोटसे हिमतुल्य (स्वच्छ) भस्म निकलने लगा। उसे देखनेके बाद ब्राह्मण लज्जित होकर (महादेवके) चरणोंमें गिर पड़े और बोले—॥ १३–१६ ॥

नान्यं देवादहं मन्ये शूलपाणेर्महात्मनः। चराचरस्य जगतो वरस्त्वमसि शूलधृक् ॥ १७ ॥
त्वदाश्रयाश्च दृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ। पूर्वस्त्वमसि देवानां कर्ता कारयिता महत् ॥ १८ ॥
त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्ते ह्यकुतोभयाः। एवं स्तुत्वा महादेवमृषिः स प्रणतोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तपो मे न क्षयं व्रजेत्। ततो देवः प्रसन्नात्मा तमृषिं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

मैं महात्मा शूलपाणि महादेवके अतिरिक्त किसीको नहीं मानता। शूलपाणे ! मेरी दृष्टिमें आप ही चराचर समस्त संसारमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अनघ ! ब्रह्मा आदि देवता आपके ही आश्रित देखे जाते हैं। आप ही देवताओंमें प्रथम हैं और आप (सब कुछ) करने एवं करानेवाले तथा महत्स्वरूप हैं। आपकी कृपासे सभी देवगण निर्भय होकर मोदमग्न होते रहते हैं। ऋषिने इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करनेके बाद उन्हें प्रणामकर कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे तपका क्षय न हो। तब महादेवजीने प्रसन्न होकर उन ऋषिसे यह वचन कहा—॥ १७–२० ॥

ईश्वर उवाच

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा। आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सार्द्धमहं सदा ॥ २१ ॥
सप्तसारस्वते स्नात्वा यो मामर्चिष्यते नरः। न तस्य दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च ॥ २२ ॥
सारस्वतं च तं लोकं गमिष्यति न संशयः। शिवस्य च प्रसादेन प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

(सदाशिव) ईश्वरने कहा—विप्र ! मेरी कृपासे तुम्हारी तपस्या सहस्रों प्रकारसे बढ़े। मैं तुम्हारे साथ इस आश्रममें सदा निवास करूँगा। जो मनुष्य इस सप्तसारस्वततीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेगा, उसे इस लोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। वह निःसंदेह उस सारस्वतलोकको जायगा एवं (मुझ) शिवके अनुग्रहसे परमपदको प्राप्त करेगा ॥ २१–२३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

[अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

ततस्त्वौशनसं तीर्थं गच्छेत्तु श्रद्धयान्वितः। उशना यत्र संसिद्धो ग्रहत्वं च समासवान्॥ १॥
तस्मिन् स्नात्वा विमुक्तस्तु पातकैर्जन्मसम्भवैः। ततो याति परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः॥ २॥
रहोदरो नाम मुनिर्यत्र मुक्तो बभूव ह। महता शिरसा ग्रस्तस्तीर्थमाहात्म्यदर्शनात्॥ ३॥

उन्तालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंका अनुक्रान्त वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) सप्तसारस्वतके बाद श्रद्धासे युक्त होकर 'औशनस' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ शुक्र सिद्धि प्राप्तकर ग्रहत्वको प्राप्त हो गये। उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य अनेक जन्मोंमें किये हुए पातकोंसे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त करता है, जहाँसे पुनः (जन्म-मरणके चक्रमें) लौटना नहीं पड़ता। (वह तीर्थ ऐसा है) जहाँ तीर्थ-दर्शनकी महिमासे भारी सिरसे जकड़े हुए रहोदर नामके एक मुनि उससे मुक्त हो गये थे॥ १—३॥

ऋषय ऊचुः

कथं रहोदरो ग्रस्तः कथं मोक्षमवाप्तवान्। तीर्थस्य तस्य माहात्म्यमिच्छामः श्रोतुमादरात्॥ ४॥

ऋषियोंने कहा (पूछा)—रहोदर मुनि सिरसे ग्रस्त कैसे हो गये थे ? और, वे उससे मुक्त कैसे हुए ? हम लोग उस तीर्थके माहात्म्यको आदरके साथ सुनना चाहते हैं (जिसकी महिमासे ऐसा हुआ।)॥ ४॥

लोमहर्षण उवाच

पुरा वै दण्डकारण्ये राघवेण महात्मना। वसता द्विजशार्दूला राक्षसास्तत्र हिंसिताः॥ ५॥
तत्रैकस्य शिरश्छिन्नं राक्षसस्य दुरात्मनः। क्षुरेण शितधारेण तत् पपात महावने॥ ६॥
रहोदरस्य तल्लग्नं जङ्घायां वै यदृच्छया। वने विचरतस्तत्र अस्थि भित्त्वा विवेश ह॥ ७॥
स तेन लग्नेन तदा द्विजातिर्न शशाक ह। अभिगन्तुं महाप्राज्ञस्तीर्थान्यायतनानि च॥ ८॥

लोमहर्षणजी बोले—द्विजश्रेष्ठो ! प्राचीन कालमें दण्डकारण्यमें रहते हुए रघुवंशी महात्मा रामचन्द्रने बहुत-से राक्षसोंको मारा था। वहाँ एक दुष्टात्मा राक्षसका सिर तीक्ष्णधारवाले क्षुर नामक बाणसे कटकर उस महावनमें गिरा। (फिर वह) संयोगवश वनमें विचरण करते हुए रहोदर मुनिकी जाँघमें उनकी हड्डीको तोड़कर उससे चिपट गया। महाप्राज्ञ वे ब्राह्मणदेव (जाँघकी टूटी हड्डीमें) उस मस्तकके लग जानेके कारण तीर्थों और देवालयोंमें नहीं जा पाते थे॥ ५—८॥

स पूतिना विस्रवता वेदनार्तो महामुनिः। जगाम सर्वतीर्थानि पृथिव्यां यानि कानि च॥ ९॥
ततः स कथयामास ऋषीणां भावितात्मनाम्। तेऽब्रुवन् ऋषयो विप्रं प्रयाह्यौशनसं प्रति॥ १०॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा जगाम स रहोदरः। ततस्त्वौशनसे तीर्थे तस्योपस्पृशतस्तदा॥ ११॥
तच्छिरश्चरणं मुक्त्वा पपातान्तर्जले द्विजाः। ततः स विरजो भूत्वा पूतात्मा वीतकल्मषः॥ १२॥
आजगामाश्रमं प्रीतः कथयामास चाखिलम्।
ते श्रुत्वा ऋषयः सर्वे तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम्। कपालमोचनमिति नाम चक्रुः समागताः॥ १३॥

वे महामुनि दुर्गन्धपूर्ण पीव आदि बहनेके कारण तथा वेदनासे अत्यन्त दुःखी रहते थे। पृथ्वीके जिन-जिन्हीं तीर्थोंमें वे गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने पवित्रात्मा ऋषियोंसे (अपना दुःख) कहा। ऋषियोंने उन विप्रसे कहा—ब्राह्मणदेव ! आप औशनस-(तीर्थ-)में जाइये। (लोमहर्षणने कहा—) द्विजो ! उनका यह वचन सुनकर

रहोदर मुनि वहाँसे औशनसतीर्थमें गये । वहाँ उन्होंने तीर्थ-जलका स्पर्श किया । उनके द्वारा (जलका) स्पर्श होते ही वह मस्तक उनसे (जाँघ) को छोड़कर जलमें गिर गया । उसके बाद वे मुनि पापसे रहित निर्मल रजोगुणसे रहित अतएव पवित्रात्मा होकर प्रसन्नतापूर्वक (अपने) आश्रममें गये और उन्होंने (ऋषियोंसे) सारी आपबीती कह सुनायी। फिर तो उन आये हुए सभी ऋषियोंने औशनसतीर्थके इस उत्तम माहात्म्यको सुनकर उसका नाम 'कपालमोचन' रख दिया ॥ ९-१३ ॥

तत्रापि सुमहत्तीर्थं विश्वामित्रस्य विश्रुतम् । ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १४ ॥
तस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते ध्रुवम् । ब्राह्मणस्तु विशुद्धात्मा परं पदमवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
ततः पृथूदकं गच्छेन्नियतो नियताशनः । तत्र सिद्धस्तु ब्रह्मर्षी रुषङ्गुर्नाम नामतः ॥ १६ ॥
जातिस्मरो रुषङ्गुस्तु गङ्गाद्वारे सदा स्थितः ।
अन्तकालं ततो दृष्ट्वा पुत्रान् वचनमब्रवीत् । इह श्रेयो न पश्यामि नयध्वं मां पृथूदकम् ॥ १७ ॥
विज्ञाय तस्य तद्भावं रुषङ्गोस्ते तपोधनाः । तं वै तीर्थे उपानिन्युः सरस्वत्यास्तपोधनम् ॥ १८ ॥

वहीं (कपालमोचन तीर्थमें ही) महामुनि विश्वामित्रका बहुत बड़ा तीर्थ है, जहाँ विश्वामित्रने ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया था । उस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको निश्चय रूपसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है और वह ब्राह्मण विशुद्धात्मा होकर ब्रह्मके परम पदको प्राप्त करता है। कपालमोचनके बाद पृथूदक नामके तीर्थमें जाय और नियमपूर्वक नियत मात्रामें आहार करे । वहाँ रुषङ्गुनामके ब्रह्मर्षिने सिद्धि पायी थी । सदा गङ्गाद्वारमें स्थित रहते हुए पूर्वजन्मके वृत्तान्तको स्मरण रखनेवाले रुषङ्गुने (अपना) अन्तकाल आया देखकर (अपने) पुत्रोंसे कहा कि यहाँ (मैं) अपना कल्याण नहीं देख रहा हूँ । मुझे पृथूदक (तीर्थ) में ले चलो । रुषङ्गुके उस भावको जानकर वे तपोधन (पुत्र) उन तपके धनीको सरस्वतीके तीर्थमें ले गये ॥ १४-१८ ॥

स तैः पुत्रैः समानीतः सरस्वत्यां समाप्लुतः । स्मृत्वा तीर्थगुणान् सर्वान् प्राहेदमृषिसत्तमः ॥ १९ ॥
सरस्वत्युत्तरे तीर्थे यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् । पृथूदके जप्यपरो नूनं चामरतां व्रजेत् ॥ २० ॥
तत्रैव ब्रह्मयोन्यस्ति ब्रह्मणा यत्र निर्मिता । पृथूदकं समाश्रित्य सरस्वत्यास्तटे स्थितः ॥ २१ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य सृष्ट्यर्थमात्मज्ञानपरोऽभवत् । तस्याभिध्यायतः सृष्टिं ब्रह्मणो व्यक्तजन्मनः ॥ २२ ॥
मुखतो ब्राह्मणा जाता बाहुभ्यां क्षत्रियास्तथा । ऊरुभ्यां वैश्यजातीयाः पद्भ्यां शूद्रास्ततोऽभवन् ॥ २३ ॥

उन पुत्रोंद्वारा लाये गये उन ऋषिश्रेष्ठने सरस्वतीमें स्नान करनेके पश्चात् उस तीर्थके सब गुणोंका स्मरण कर यह कहा था—'सरस्वतीके उत्तरकी ओर स्थित पृथूदक नामके तीर्थमें अपने शरीरका त्याग करनेवाला जपपरायण मनुष्य निश्चय ही देवत्वको प्राप्त होता है।' वहीं ब्रह्माद्वारा 'निर्मितब्रह्मयोनि तीर्थ' है, जहाँ सरस्वतीके किनारे अवस्थित पृथूदकमें स्थित होकर ब्रह्मा चारों वर्णोंकी सृष्टिके लिये आत्मज्ञानमें लीन हुए थे। सृष्टिके विषयमें अव्यक्तजन्मा ब्रह्माके चिन्तन करनेपर उनके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, दोनों ऊरुओंसे वैश्य और दोनों पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए ॥ १९-२३ ॥

चातुर्वर्ण्यं ततो दृष्ट्वा आश्रमस्थं ततस्ततः । एवं प्रतिष्ठितं तीर्थं ब्रह्मयोनीति संज्ञितम् ॥ २४ ॥
तत्र स्नात्वा मुक्तिकामः पुनर्योनिं न पश्यति । तत्रैव तीर्थं विख्यातमवकीर्णेति नामतः ॥ २५ ॥
यस्मिंस्तीर्थे वको दाल्भ्यो धृतराष्ट्रममर्षणम् । जुहाव वाहनैः सार्धं तत्राबुध्यत् ततो नृपः ॥ २६ ॥

उसके बाद उन्होंने चारों वर्णोंको विभिन्न आश्रमोंमें स्थित हुआ देखा । इस प्रकार ब्रह्मयोनिनामक तीर्थकी प्रतिष्ठा हुई थी । मुक्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति वहाँ स्नान करनेसे पुनर्जन्म नहीं देखता । वहीं अवकीर्णनामक एक विख्यात तीर्थ भी है, जहाँपर दाल्भ्य (दल्भ या दल्भि गोत्रमें उत्पन्न) वकनामक ऋषिने क्रोधी धृतराष्ट्रको उसके वाहनोंके साथ हवन कर दिया था, तब कहीं राजाको (अपने किये कर्मका) ज्ञान हुआ था ॥ २४-२६ ॥

ऋषय ऊचुः

कथं प्रतिष्ठितं तीर्थमवकीर्णेति नामतः। धृतराष्ट्रेण राज्ञा च स किमर्थं प्रसादितः ॥ २७ ॥

ऋषियोंने पूछा—अवकीर्णनामक तीर्थ कैसे प्रतिष्ठित हुआ एवं राजा धृतराष्ट्रने उन (वक दाल्भ्य मुनि) को क्यों प्रसन्न किया था ? ॥ २७ ॥

लोमहर्षण उवाच

ऋषयो नैमिषेया ये दक्षिणार्थं ययुः पुरा। तत्रैव च वको दाल्भ्यो धृतराष्ट्रमयाचत ॥ २८ ॥
तेनापि तत्र निन्दार्थमुक्तं पश्वनृतं तु यत्। ततः क्रोधेन महता मांसमुत्कृत्य तत्र ह ॥ २९ ॥
पृथूदके महातीर्थे अवकीर्णेति नामतः। जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेस्ततः ॥ ३० ॥
हूयमाने तदा राष्ट्रे प्रवृत्ते यज्ञकर्मणि। अक्षीयत ततो राष्ट्रं नृपतेर्दुष्कृतेन वै ॥ ३१ ॥

लोमहर्षणने कहा—प्राचीन कालमें नैमिषारण्यनिवासी जो ऋषि दक्षिणा पानेके लिये (राजा धृतराष्ट्रके यहाँ) गये थे, उनमेंसे दल्भिवंशीय वक ऋषिने धृतराष्ट्रसे (धनकी) याचना की। उन्होंने (धृतराष्ट्रने) भी निन्दापूर्ण ग्राम्य और असत्य बात कही। उसके बाद वे (वकदाल्भ्य) अत्यन्त क्रुद्ध होकर पृथूदकमें स्थित अवकीर्णनामक तीर्थमें जा करके मांस काट-काटकर धृतराष्ट्रके राष्ट्रके नाम हवन करने लगे। तब यज्ञमें राष्ट्रका हवन प्रारम्भ होनेपर राजाके दुष्कर्मके कारण राष्ट्रका क्षय होने लगा ॥ २८–३१ ॥

ततः स चिन्तयामास ब्राह्मणस्य विचेष्टितम्। पुरोहितेन संयुक्तो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ३२ ॥
प्रसादनार्थं विप्रस्य ह्यवकीर्णं ययौ तदा। प्रसादितः स राज्ञा च तुष्टः प्रोवाच तं नृपम् ॥ ३३ ॥
ब्राह्मणा नावमन्तव्याः पुरुषेण विजानता। अवज्ञातो ब्राह्मणस्तु हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ३४ ॥
एवमुक्त्वा स नृपतिं राज्येन यशसा पुनः। उत्थापयामास ततस्तस्य राज्ञे हिते स्थितः ॥ ३५ ॥

(राष्ट्रको क्षीण होते देख) उसने विचार किया और वह इसे ब्राह्मणका विकर्म जानकर (उस ब्राह्मणको) प्रसन्न करनेके लिये समस्त रत्नोंको लेकर पुरोहितके साथ अवकीर्ण तीर्थमें गया (और उस) राजाने उन्हें प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न होकर उन्होंने राजासे कहा—(राजन्!) विद्वान् मनुष्यको ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये। अपमानित हुआ ब्राह्मण मनुष्यके कुलके तीन पुरुषों (पीढ़ियों) का विनाश कर देता है। ऐसा कहकर उन्होंने पुनः राजाको राज्य एवं यशके साथ सम्पन्न कर दिया और वे उस राजाके हितकारी हो गये ॥ ३२–३५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे तु यः स्नाति श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। स प्राप्नोति नरो नित्यं मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३६ ॥
तत्र तीर्थं सुविख्यातं यायातं नाम नामतः। यस्येह यजमानस्य मधु सुस्राव वै नदी ॥ ३७ ॥
तस्मिन् स्नातो नरो भक्त्या मुच्यते सर्वकिल्बिषैः। फलं प्राप्नोति यज्ञस्य अश्वमेधस्य मानवः ॥ ३८ ॥
मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं पुण्यतमं द्विजाः। तस्मिन् स्नात्वा नरो भक्त्या मधुना तर्पयेत् पितॄन् ॥ ३९ ॥
तत्रापि सुमहत्तीर्थं वसिष्ठोद्वाहसंज्ञितम्। तत्र स्नातो भक्तियुक्तो वासिष्ठं लोकमाप्नुयात् ॥ ४० ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

उस (अवकीर्ण) तीर्थमें जो जितेन्द्रिय मनुष्य श्रद्धापूर्वक स्नान करता है, वह नित्य मनोऽभिलषित फल प्राप्त करता है। वहाँ 'यायात' (ययातिका तीर्थ) नामसे सुविख्यात तीर्थ है, जहाँ यज्ञ करनेवालेके लिये नदीने मधु बहाया था। उसमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है एवं उसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। द्विजो! वहीं 'मधुस्रव' नामक पवित्र तीर्थ है। उसमें मनुष्यको भक्तिपूर्वक स्नान कर मधुसे पितरोंका तर्पण करना चाहिये। वहींपर 'वसिष्ठोद्वाह' नामक सुन्दर महान् तीर्थ है, वहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करने व्यक्ति महर्षि वसिष्ठके लोकको प्राप्त करता है ॥ ३६–४० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उन्तालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

[अथ चत्वारिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

वसिष्ठस्यापवाहोऽसौ कथं वै सम्बभूव ह। किमर्थं सा सरिच्छ्रेष्ठा तमृषिं प्रत्यवाहयत्॥ १ ॥

चालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वसिष्ठापवाह नामक तीर्थका उत्पत्ति-प्रसङ्ग)

ऋषियोंने कहा (पूछा)—महाराज ! वह वसिष्ठापवाह कैसे उत्पन्न हुआ ? उस श्रेष्ठ सरिताने उन ऋषिको अपने प्रवाहमें क्यों बहा दिया था ? ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

विश्वामित्रस्य राजर्षेर्वसिष्ठस्य महात्मनः। भृशं वैरं बभूवेह तपःस्पर्द्धाकृते महत्॥ २ ॥
आश्रमो वै वसिष्ठस्य स्थाणुतीर्थे बभूव ह। तस्य पश्चिमदिग्भागे विश्वामित्रस्य धीमतः॥ ३ ॥
यत्रेष्ट्वा भगवान् स्थाणुः पूजयित्वा सरस्वतीम्। स्थापयामास देवेशो लिङ्गाकारां सरस्वतीम्॥ ४ ॥
वसिष्ठस्तत्र तपसा घोररूपेण संस्थितः। तस्येह तपसा हीनो विश्वामित्रो बभूव ह॥ ५ ॥

लोमहर्षण बोले—(ऋषियो !) राजर्षि विश्वामित्र एवं महात्मा वसिष्ठमें तपस्याके विषयमें परस्पर चुनौती होनेके कारण बड़ी भारी शत्रुता हो गयी। वसिष्ठका आश्रम स्थाणुतीर्थमें था और उसकी पश्चिम दिशामें बुद्धिमान् विश्वामित्र महर्षिका आश्रम था; जहाँ देवाधिदेव भगवान् शिवने यज्ञ करनेके बाद सरस्वतीकी पूजा कर मूर्तिके रूपमें सरस्वतीकी स्थापना की थी। वसिष्ठजी वहीं घोर तपस्यामें संलग्न थे। उनकी तपस्यासे विश्वामित्र (प्रभावतः) हीन-से होने लगे ॥ २—५ ॥

सरस्वतीं समाहूय इदं वचनमब्रवीत्। वसिष्ठं मुनिशार्दूलं स्वेन वेगेन आनय॥ ६ ॥
इहाहं तं द्विजश्रेष्ठं हनिष्यामि न संशयः। एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यथिता सा महानदी॥ ७ ॥
तथा तां व्यथितां दृष्ट्वा वेपमानां महानदीम्। विश्वामित्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वसिष्ठं शीघ्रमानय॥ ८ ॥
ततो गत्वा सरिच्छ्रेष्ठा वसिष्ठं मुनिसत्तमम्। कथयामास रुदती विश्वामित्रस्य तद् वचः॥ ९ ॥

(एक बार) विश्वामित्रने सरस्वतीको बुलाकर यह वचन कहा—सरस्वति ! तुम मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको अपने वेगसे बहा लाओ। मैं उन द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठको यहाँ मारूँगा—इसमें संदेहकी बात नहीं है। इस-(अवाञ्छनीय बात-)को सुनकर वह महानदी दुःखित हो गयी। (पर) विश्वामित्रने उस प्रकार दुःखित एवं काँपती हुई उस महानदीको देखकर क्रोधमें भरकर कहा कि वसिष्ठको शीघ्र लाओ। उसके बाद उस श्रेष्ठ नदीने मुनिश्रेष्ठके पास जाकर उनसे रोते हुए विश्वामित्रकी उस बातको कहा ॥ ६—९ ॥

तपःक्रियाविशीर्णां च भृशं शोकसमन्विताम्। उवाच स सरिच्छ्रेष्ठां विश्वामित्राय मां वह॥ १० ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृपाशीलस्य सा सरित्। चालयामास तं स्थानात् प्रवाहेणाम्भसस्तदा॥ ११ ॥
स च कूलापहारेण मित्रावरुणयोः सुतः। उह्यमानश्च तुष्टाव तदा देवीं सरस्वतीम्॥ १२ ॥
पितामहस्य सरसः प्रवृत्तासि सरस्वति। व्याप्तं त्वया जगत् सर्वं तवैवाम्भोभिरुत्तमैः॥ १३ ॥

उन वसिष्ठजीने तपश्चर्यासे दुर्बल एवं अतिशय शोक-समन्वित उस श्रेष्ठ सरिता-(सरस्वती-)से कहा—(तुम) विश्वामित्रके पास मुझे बहा ले चलो। उन दयालुके उस वचनको सुनकर उस सरस्वती सरिताने जलके (तेज) प्रवाहद्वारा उन्हें उस स्थानसे बहाना प्रारम्भ किया। किनारेसे ले जाये जानेके कारण बहते हुए मित्रावरुणके पुत्र

वसिष्ठऋषि प्रसन्न होकर देवी सरस्वतीकी स्तुति करने लगे—सरस्वति ! आप ब्रह्माके सरोवरसे निकली हैं। आपने अपने उत्तम जलसे समस्त जगत्को व्याप्त कर दिया है ॥ १०–१३ ॥

त्वमेवाकाशगा देवी मेघेषु सृजसे पयः। सर्वास्त्वापस्त्वमेवेति त्वत्तो वयमधीमहे ॥ १४ ॥
पुष्टिर्धृतिस्तथा कीर्त्तिः सिद्धिः कान्तिः क्षमा तथा। स्वधा स्वाहा तथा वाणी तवायत्तमिदं जगत् ॥ १५ ॥
त्वमेव सर्वभूतेषु वाणीरूपेण संस्थिता। एवं सरस्वती तेन स्तुता भगवती सदा ॥ १६ ॥
सुखेनोवाह तं विप्रं विश्वामित्राश्रमं प्रति। न्यवेदयत्तदा खिन्ना विश्वामित्राय तं मुनिम् ॥ १७ ॥

'आप ही आकाशगामिनी देवी हैं और मेघोंमें जलको उत्पन्न करती हैं। आप ही सभी जलोंके रूपमें वर्तमान हैं। आपकी ही शक्तिसे हम लोग अध्ययन करते हैं। आप ही पुष्टि, धृति, कीर्त्ति, सिद्धि, कान्ति, क्षमा, स्वधा, स्वाहा तथा सरस्वती हैं। यह पूरा विश्व आपके ही अधीन है। आप ही समस्त प्राणियोंमें वाणीरूपसे स्थित हैं।' वसिष्ठजीने भगवती सरस्वतीकी इस प्रकार स्तुति की और सरस्वती नदीने उन विप्रदेवको विश्वामित्रके आश्रममें सुखपूर्वक पहुँचा दिया और खिन्न होकर उन मुनिको विश्वामित्रके लिये निवेदित कर दिया ॥ १४–१७ ॥

तमानीतं सरस्वत्या दृष्ट्वा कोपसमन्वितः। अथान्विषत् प्रहरणं वसिष्ठान्तकरं तदा ॥ १८ ॥
तं तु क्रुद्धमभिप्रेक्ष्य ब्रह्महत्याभयान्नदी।
अपोवाह वसिष्ठं तं मध्ये चैवाम्भसस्तदा। उभयोः कुर्वती वाक्यं वञ्चयित्वा च गाधिजम् ॥ १९ ॥
ततोऽपवाहितं दृष्ट्वा वसिष्ठमृषिसत्तमम्। अब्रवीत् क्रोधरक्ताक्षो विश्वामित्रो महातपाः ॥ २० ॥
यस्मान्मां सरितां श्रेष्ठे वञ्चयित्वा विनिर्गता। शोणितं वह कल्याणि रक्षोग्रामणिसंयुता ॥ २१ ॥

उसके बाद सरस्वतीद्वारा बहाकर लाये गये वसिष्ठको देखकर विश्वामित्र क्रोधसे भर गये और वसिष्ठका अन्त करनेवाला शस्त्र ढूँढने लगे। उन्हें क्रोधसे भरा हुआ देखकर ब्रह्महत्याके भयसे डरती हुई वह सरस्वती नदी गाधिपुत्र विश्वामित्रको वञ्चित कर दोनोंकी बातोंका पालन करती हुई उन वसिष्ठको जलमें (पुनः) बहा ले गयी। उसके बाद ऋषिप्रवर वसिष्ठको (अपवाहित होते) देखकर महातपस्वी विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। फिर विश्वामित्रने कहा—ओ श्रेष्ठ नदी ! यतः तुम मुझे वञ्चितकर चली गयी हो, कल्याणि ! अतः श्रेष्ठ राक्षसोंसे संयुक्त होकर तुम शोणितका वहन करो—तुम्हारा जल रक्तसे युक्त हो जाय ॥ १८–२१ ॥

ततः सरस्वती शप्ता विश्वामित्रेण धीमता। अवहच्छोणितोन्मिश्रं तोयं संवत्सरं तदा ॥ २२ ॥
अथर्षयश्च देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तदा। सरस्वतीं तदा दृष्ट्वा बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥ २३ ॥
तस्मिंस्तीर्थवरे पुण्ये शोणितं समुपावहत्। ततो भूतपिशाचाश्च राक्षसाश्च समागताः ॥ २४ ॥
ततस्ते शोणितं सर्वे पिबन्तः सुखमासते।
तृप्ताश्च सुभृशं तेन सुखिता विगतज्वराः। नृत्यन्तश्च हसन्तश्च यथा स्वर्गजितस्तथा ॥ २५ ॥

उसके बाद बुद्धिमान् विश्वामित्रसे इस प्रकार शाप प्राप्तकर सरस्वतीने एक वर्षतक रक्तसे मिले हुए जलको बहाया। उसके पश्चात् सरस्वती नदीको रक्तसे मिश्रित जलवाली देखकर ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ अत्यन्त दुःखित हो गयीं। (यतः) उस पवित्र श्रेष्ठ तीर्थमें रुधिर ही बहने लगा। अतः वहाँ भूत, पिशाच, राक्षस एकत्र होने लगे। वे सभी रक्तका पान करते हुए वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे। वे उससे अत्यन्त तृप्त, सुखी एवं निश्चिन्त होकर इस प्रकार नाचने एवं हँसने लगे, मानो उन्होंने स्वर्गको जीत लिया हो ॥ २२–२५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य ऋषयः सतपोधनाः। तीर्थयात्रां समाजग्मुः सरस्वत्यां तपोधनाः॥ २६॥
तां दृष्ट्वा राक्षसैर्घोरैः पीयमानां महानदीम्। परित्राणे सरस्वत्याः परं यत्नं प्रचक्रिरे॥ २७॥
ते तु सर्वे महाभागाः समागम्य महाव्रताः। आहूय सरितां श्रेष्ठामिदं वचनमब्रुवन्॥ २८॥
किं कारणं सरिच्छ्रेष्ठे शोणितेन ह्रदो ह्ययम्। एवमाकुलतां यातः श्रुत्वा वेत्स्यामहे वयम्॥ २९॥

कुछ समय बीतनेपर तपस्याके धनी ऋषिलोग तीर्थयात्रा करते-करते सरस्वतीके तटपर पहुँचे। (वहाँ) भयानक राक्षसोंके द्वारा पीती जाती हुई महानदी सरस्वतीको देखकर वे उसकी रक्षाके लिये महान् प्रयत्न करने लगे। और महान् व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले उन महाभागोंने श्रेष्ठ नदीको (पास) बुलाकर उससे यह वचन फिर कहा—श्रेष्ठ सरिते! हम सब आपसे यह जानना चाहते हैं कि यह जलाशय रक्तसे भरकर ऐसा क्षुब्ध कैसे हुआ है?॥ २६–२९॥

ततः सा सर्वमाचष्ट विश्वामित्रविचेष्टितम्।
ततस्ते मुनयः प्रीताः सरस्वत्यां समानयन्। अरुणां पुण्यतोयौघां सर्वदुष्कृतनाशनीम्॥ ३०॥
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्या राक्षसा दुःखिता भृशम्। ऊचुस्तान् वै मुनीन् सर्वान् दैन्ययुक्ताः पुनः पुनः॥ ३१॥
वयं हि क्षुधिताः सर्वे धर्महीनाश्च शाश्वताः। न च नः कामकारोऽयं यद् वयं पापकारिणः॥ ३२॥
युष्माकं चाप्रसादेन दुष्कृतेन च कर्मणा। पक्षोऽयं वर्धतेऽस्माकं यतः स्मो ब्रह्मराक्षसाः॥ ३३॥

तब उसने विश्वामित्रके समस्त विकर्मोंका (उनके सामने ही) वर्णन किया। उसके पश्चात् प्रसन्न हुए मुनिजन सरस्वती तथा समस्त पापोंका विनाश करनेवाली अरुणा नदीको ले आये (जिससे सरस्वती-ह्रदका शोणित पवित्र जल हो गया) (पर) सरस्वतीके जलको (इस प्रकार शुद्ध हुआ) देखकर राक्षस बहुत दुःखित हो गये। वे दीनतापूर्वक उन सभी मुनियोंसे बार-बार कहने लगे कि हम सभी सदा भूखे एवं धर्मसे रहित रहते हैं। हम अपनी इच्छासे पापकर्म करनेवाले पापी नहीं बने हुए हैं, अपितु आप लोगोंकी अकृपा एवं अशोभन कर्मोंसे ही हमारा पक्ष बढ़ता रहता है; क्योंकि हम सभी ब्रह्मराक्षस हैं॥ ३०–३३॥

एवं वैश्याश्च शूद्राश्च क्षत्रियाश्च विकर्मभिः। ये ब्राह्मणान् प्रद्विषन्ति ते भवन्तीह राक्षसाः॥ ३४॥
योषितां चच पापानां योनिदोषेण वर्द्धते। इयं संततिरस्माकं गतिरेषा सनातनी॥ ३५॥
शक्ता भवन्तः सर्वेषां लोकानामपि तारणे। तेषां ते मुनयः श्रुत्वा कृपाशीलाः पुनश्च ते॥ ३६॥
ऊचुः परस्परं सर्वे तप्यमानाश्च ते द्विजाः। क्षुतकीटावपन्नं च यच्चोच्छिष्टाशितं भवेत्॥ ३७॥
केशावपन्नमाधूतं मारुतश्वासदूषितम्। एभिः संसृष्टमन्नं च भागं वै रक्षसां भवेत्॥ ३८॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मणोंसे द्वेष करते हैं वे (ऐसे ही) विकर्म करनेके कारण राक्षस हो जाते हैं। पापिनी स्त्रियोंके योनिदोषसे हमारी यह संतति बढ़ती रहती है। यह हमारी प्राचीन गति है। आप लोग सभी लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। (लोमहर्षणजी कहते हैं—) द्विजो! वे कृपालु मुनि उन सदाकी रीति ब्रह्मराक्षसोंके इन वचनोंको सुनकर बहुत दुखी हुए और परस्पर परामर्शकर उनसे बोले—(ब्रह्मराक्षसो!) छींक तथा कीटके संसर्गसे दूषित, उच्छिष्ट भोजन, केशयुक्त, निरस्कृत एवं श्वासवायुसे दूषित अन्न तुम राक्षसोंका भाग होगा॥ ३४–३८॥

तस्माज्ज्ञात्वा सदा विद्वान् अन्नान्येतानि वर्जयेत्। राक्षसानामसौ भुङ्क्ते यो भुङ्क्तेऽन्नमीदृशम्॥ ३९॥
शोधयित्वा तु तत्तीर्थमृषयस्ते तपोधनाः। मोक्षार्थं रक्षसां तेषां संगमं तत्र कल्पयन्॥ ४०॥
अरुणायाः सरस्वत्याः संगमे लोकविश्रुते। त्रिरात्रोपोषितः स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥ ४१॥

प्राप्ते कलियुगे घोरे अधर्मे प्रत्युपस्थिते । अरुणासंगमे स्नात्वा मुक्तिमाप्नोति मानवः ॥ ४२ ॥
ततस्ते राक्षसाः सर्वे स्नाताः पापविवर्जिताः । दिव्यमाल्याम्बरधराः स्वर्गस्थितिसमन्विताः ॥ ४३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

(पुनः लोमहर्षणजी बोले—) ऋषियो ! इसको जानकर विद्वान् पुरुषको चाहिये कि इस प्रकारके अन्नोंको त्याग दे । इस प्रकारका अन्न खानेवाला व्यक्ति राक्षसोंका भाग खाता है । उन तपोधन ऋषियोंने उस तीर्थको शुद्धकर उन राक्षसोंकी मुक्तिके लिये वहाँ एक सङ्गमकी रचना की । [उसका फल इस प्रकार है—] लोक-प्रसिद्ध अरुणा और सरस्वतीके सङ्गममें तीन दिनोंतक व्रतपूर्वक स्नान करनेवाला (व्यक्ति) सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । (आगे भी) घोर कलियुग आनेपर तथा अधर्मका अधिक प्रसार हो जानेपर मनुष्य अरुणाके सङ्गममें स्नान करके मुक्ति प्राप्त कर लेंगे । इसको सुननेके बाद उन सभी राक्षसोंने उसमें स्नान किया और वे निष्पाप हो गये तथा दिव्य माला और वस्त्र धारणकर स्वर्गमें विराजने लगे ॥ ३९–४३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

[अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

समुद्रास्तत्र चत्वारो दर्विणा आहृताः पुरा । प्रत्येकं तु नरः स्नातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १ ॥
यत्किंचित् क्रियते तस्मिंस्तपस्तीर्थे द्विजोत्तमाः । परिपूर्णं हि तत्सर्वमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २ ॥
शतसाहस्रिकं तीर्थं तथैव शतिकं द्विजाः । उभयोर्हि नरः स्नातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३ ॥
सोमतीर्थं च तत्रापि सरस्वत्यास्तटे स्थितम् । यस्मिन् स्नातस्तु पुरुषो राजसूयफलं लभेत् ॥ ४ ॥

एकतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थों–शतसाहस्रिक, शतिक, रेणुका, ऋणमोचन, ओजस, संनिहिति, प्राची सरस्वती; पञ्चवट, कुरुतीर्थ, अनरकतीर्थ, काम्यकवन आदिका वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—प्राचीन कालकी बात है महर्षि दर्वि वहाँ चार समुद्रोंको ले आये थे । उनमेंसे प्रत्येक समुद्रमें स्नान करनेसे मनुष्योंको हजार गोदान करनेका फल प्राप्त होता है । द्विजोत्तमो ! उस तीर्थमें जो तपस्या की जाती है, वह पापीद्वारा की गयी होनेपर भी सिद्ध हो जाती है । द्विजो ! वहाँ शतसाहस्रिक एवं शतिक नामके दो तीर्थ हैं । उन दोनो ही तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य हजार गौ-दान करनेका फल प्राप्त करता है । वहीं सरस्वतीके तटपर सोम तीर्थ भी स्थित है, जिसमें स्नान करनेसे पुरुष राजसूययज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १–४ ॥

रेणुकाश्रममासाद्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । मातृभक्त्या च यत्पुण्यं तत्फलं प्राप्नुयान्नरः ॥ ५ ॥
ऋणमोचनमासाद्य तीर्थं ब्रह्मनिषेवितम् ।
ऋणैर्मुक्तो भवेन्नित्यं देवर्षिपितृसम्भवैः । कुमारस्याभिषेकं च ओजसं नाम विश्रुतम् ॥ ६ ॥
तस्मिन् स्नातस्तु पुरुषो यशसा च समन्वितः । कुमारपुरमाप्नोति कृत्वा श्राद्धं तु मानवः ॥ ७ ॥
चैत्रषष्ठ्यां सिते पक्षे यस्तु श्राद्धं करिष्यति । गयाश्राद्धे च यत्पुण्यं तत्पुण्यं प्राप्नुयान्नरः ॥ ८ ॥

माताकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्य-फलको इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला श्रद्धालु मनुष्य रेणुकातीर्थमें जाकर प्राप्त कर लेता है और ब्रह्माद्वारा सेवित ऋणमोचननामके तीर्थमें जाकर देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋणसे छूट जाता है। कुमार (कार्तिकेय)का अभिषेकस्थल ओजसनामसे विख्यात है; उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है और वहाँ श्राद्ध करनेसे उसे कार्तिकेयके लोककी प्राप्ति होती है। चैत्रमासकी शुक्ला षष्ठी तिथिमें जो मनुष्य वहाँ श्राद्ध करेगा, वह गयामें श्राद्ध करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्यको प्राप्त करता है ॥ ५–८ ॥

संनिहत्यां यथा श्राद्धं राहुग्रस्ते दिवाकरे। तथा श्राद्धं तत्र कृतं नात्र कार्या विचारणा ॥ ९ ॥
ओजसे ह्यक्षयं श्राद्धं वायुना कथितं पुरा। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं तत्र समाचरेत् ॥ १० ॥
यस्तु स्नानं श्रद्दधानश्चैत्रषष्ठ्यां करिष्यति। अक्षय्यमुदकं तस्य पितॄणामुपजायते ॥ ११ ॥
तत्र पञ्चवटं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। महादेवः स्थितो यत्र योगमूर्तिधरः स्वयम् ॥ १२ ॥

राहुद्वारा सूर्यके ग्रस्त हो जानेपर (सूर्यग्रहण लगनेपर) सन्निहति तीर्थमें किये गये श्राद्धके समान वहाँका श्राद्ध पुण्यप्रद होता है; इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। पूर्वसमयमें वायुने कहा था कि ओजसतीर्थमें किये गये श्राद्धका क्षय नहीं होता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक वहाँ श्राद्ध करना चाहिये। चैत्र मासके शुक्लपक्षकी षष्ठी तिथिके दिन जो उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करेगा, उसके पितरोंको अक्षय (कभी भी क्षय न होनेवाले) जलकी प्राप्ति होगी। तीनों लोकोंमें विख्यात एक 'पञ्चवट' नामका तीर्थ है, जहाँ स्वयं भगवान् महादेव योगसाधना करनेकी मुद्रामें विराजमान हैं ॥ ९–१२ ॥

तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च देवदेवं महेश्वरम्। गाणपत्यमवाप्नोति दैवतैः सह मोदते ॥ १३ ॥
कुरुतीर्थं च विख्यातं कुरुणा यत्र वै तपः। तप्तं सुघोरं क्षेत्रस्य कर्षणार्थं द्विजोत्तमाः ॥ १४ ॥
तस्य घोरेण तपसा तुष्ट इन्द्रोऽब्रवीद् वचः। राजर्षे परितुष्टोऽस्मि तपसाऽनेन सुव्रत ॥ १५ ॥
यज्ञं ये च कुरुक्षेत्रे करिष्यन्ति शतक्रतोः। ते गमिष्यन्ति सुकृताँल्लोकान् पापविवर्जितान् ॥ १६ ॥
अवहस्य ततः शक्रो जगाम त्रिदिवं प्रभुः। आगम्यागम्य चैवेनं भूयो भूयो वहस्य च ॥ १७ ॥
शतक्रतुरनिर्विण्णः पृष्ट्वा पृष्ट्वा जगाम ह।
यदा तु तपसोग्रेण चकर्ष देहमात्मनः। ततः शक्रोऽब्रवीत् प्रीत्या ब्रूहि यत्ते चिकीर्षितम् ॥ १८ ॥

उस (पञ्चवट) स्थानपर स्नान करके देवाधिदेव महादेवकी पूजा करनेवाला मनुष्य गणपतिका पद और देवताओंके साथ आनन्द प्राप्त करता हुआ प्रसन्न रहता है। श्रेष्ठ द्विजो! 'कुरुतीर्थ' विख्यात तीर्थ है, जिसमें कुरुने कीर्तिकी प्राप्तिके लिये धर्मकी खेती करनेके लिये तपस्या की थी। उनकी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर इन्द्रने कहा—सुन्दर व्रतोंके करनेवाले राजर्षि ! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं संतुष्ट हूँ। (सुनो) इस कुरुक्षेत्रमें जो लोग इन्द्रका यज्ञ करेंगे, वे लोग पापरहित हो जायँगे, और पवित्र लोकोंको प्राप्त होंगे। इतना कहकर इन्द्रदेव, मुस्कराकर स्वर्ग चले गये। बिना खिन्न हुए इन्द्र बारंबार आये और उपहासपूर्वक उनसे (उनकी योजनाके सम्बन्धमें कुछ) पूछ-पूछकर चले गये। कुरुने जब उग्र तपस्याद्वारा अपनी देहका कर्षण किया तो इन्द्रने प्रेमपूर्वक उनसे कहा—'कुरु ! तुम्हें जो कुछ करनेकी इच्छा हो उसे कहो' ॥ १३–१८ ॥

कुरुरुवाच

ये श्रद्दधानास्तीर्थेऽस्मिन् मानवा निवसन्ति ह। ते प्राप्नुवन्तु सदनं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ १९ ॥
अन्यत्र कृतपापा ये पञ्चपातकदूषिताः। अस्मिंस्तीर्थे नराः स्नात्वा मुक्ता यान्तु परां गतिम् ॥ २० ॥

कुरुक्षेत्रे पुण्यतमं कुरुतीर्थं द्विजोत्तमाः। तं दृष्ट्वा पापमुक्तस्तु परं पदमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥
कुरुतीर्थे नरः स्नातो मुक्तो भवति किल्बिषैः। कुरुणा समनुज्ञातः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २२ ॥

कुरुने कहा—इन्द्रदेव ! जो श्रद्धालु मानव इस तीर्थमें निवास करते हैं, वे परमात्मस्वरूप परब्रह्मके लोकको प्राप्त करते हैं। इस स्थानसे अन्यत्र पाप करनेवाले एवं पञ्चपातकोंसे दूषित मनुष्य भी इस तीर्थमें स्नान करनेसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त करता है। (लोमहर्षणने कहा—) श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! कुरुक्षेत्रमें कुरुतीर्थ सर्वाधिक पवित्र है। उसका दर्शन कर पापात्मा मनुष्य (भी) मोक्ष प्राप्त कर लेता है तथा कुरुतीर्थमें स्नानकर पापोंसे छूट जाता है एवं कुरुकी आज्ञासे परमपद (मोक्ष)को प्राप्त करता है ॥ १९–२२ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेच्छिवद्वारे व्यवस्थितम्। तत्र स्नात्वा शिवद्वारे प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २३ ॥
ततो गच्छेदनरकं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। यत्र पूर्वे स्थितो ब्रह्मा दक्षिणे तु महेश्वरः ॥ २४ ॥
रुद्रपत्नी पश्चिमतः पद्मनाभोत्तरे स्थितः। मध्ये अनरकं तीर्थं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम् ॥ २५ ॥

फिर (कुरुतीर्थमें स्नान करनेके बाद) शिवद्वारमें स्थित स्वर्गद्वारको जाय (और स्नान करे); क्योंकि वहाँ (शिवद्वारमें) स्नान करनेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त करता है। शिवद्वार जानेके पश्चात् तीनों लोकोंमें विख्यात अनरक नामके तीर्थमें जाय। उस अनरकके पूर्वमें ब्रह्मा, दक्षिणमें महेश्वर, पश्चिममें रुद्रपत्नी एवं उत्तरमें पद्मनाभ और इन सबके मध्यमें अनरक नामका तीर्थ स्थित है; वह तीनों लोकोंके लिये भी दुर्लभ है—॥ २३–२५ ॥

यस्मिन् स्नातस्तु मुच्येत पातकैरुपपातकैः। वैशाखे च यदा षष्ठी मङ्गलस्य दिनं भवेत् ॥ २६ ॥
तदा स्नानं तत्र कृत्वा मुक्तो भवति पातकैः। यः प्रयच्छेत करकांश्चतुरो भक्ष्यसंयुतान् ॥ २७ ॥
कलशं च तथा दद्यादपूपैः परिशोभितम्। देवताः प्रीणयेत् पूर्वं करकैरन्नसंयुतैः ॥ २८ ॥
ततस्तु कलशं दद्यात् सर्वपातकनाशनम्। अनेनैव विधानेन यस्तु स्नानं समाचरेत् ॥ २९ ॥
स मुक्तः कलुषैः सर्वैः प्रयाति परमं पदम्। अन्यत्रापि यदा षष्ठी मङ्गलेन भविष्यति ॥ ३० ॥

जिस-(अनरकतीर्थ-)मे स्नान करनेवाला मनुष्य छोटे-बड़े सभी पापोंसे छूट जाता है। जब वैशाखमासकी षष्ठी तिथिको मङ्गल दिन हो तब वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य पापोसे छूट जाता है। (उस दिन) खाद्य पदार्थसे सयुक्त चार करक (करवे या कमण्डलु) एव मालपुओ आदिसे सुशोभित कलशका दान करे। पहले अन्नसे युक्त करवोंसे देवताकी पूजा करे, फिर सम्पूर्ण पापोंके नाश करनेवाले कलशका दान करे। जो मानव इस विधानसे स्नान करता है, वह सम्पूर्ण पापोसे छूट जायगा और परमपदको प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त (वैशाखके सिवा) अन्य समयमें भी मङ्गलके दिन षष्ठी तिथि होनेपर उस तीर्थमे की हुई पूर्वोक्त क्रिया मुक्ति देनेवाली होगी ॥ २६–३० ॥

तत्रापि मुक्तिफलदा क्रिया तस्मिन् भविष्यति। तीर्थे च सर्वतीर्थानां यस्मिन् स्नातो द्विजोत्तमाः ॥ ३१ ॥
सर्वदेवैरनुज्ञातः परं पदमवाप्नुयात्। काम्यकं च वनं पुण्यं सर्वपातकनाशनम् ॥ ३२ ॥
यस्मिन् प्रविष्टमात्रस्तु मुक्तो भवति किल्बिषैः। यमाश्रित्य वनं पुण्यं सविता प्रकटः स्थितः ॥ ३३ ॥
पूषा नाम द्विजश्रेष्ठा दर्शनान्मुक्तिमाप्नुयात्।
आदित्यस्य दिने प्राप्ते तस्मिन् स्नातस्तु मानवः। विशुद्धदेहो भवति मनसा चिन्तितं लभेत् ॥ ३४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकचत्वारिंशोऽध्याय. ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठ द्विजो ! वहीं समस्त पापोंका विनाश करनेवाला तीर्थ-शिरोमणि काम्यकवन नामका एक तीर्थ है। जो मनुष्य उसमें स्नान करता है, वह सभी देवोंकी अनुमतिसे परमपदको प्राप्त करता है। इस वनमें प्रवेश करनेसे ही मनुष्य अपने समस्त पापोंसे छूट जाता है। इस पवित्र वनमें पूषा नामके सूर्यभगवान् प्रत्यक्ष रूपसे स्थित हैं। द्विजश्रेष्ठो ! उन सूर्यभगवान्‌के दर्शनसे मुक्ति प्राप्त होती है। रविवारके दिन उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य विशुद्ध-देह हो जाता है और अपने मनोरथको प्राप्त करता है ॥ ३१—३४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

[अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

काम्यकस्य तु पूर्वेण कुञ्जं देवैर्निषेवितम्। तस्य तीर्थस्य सम्भूतिं विस्तरेण ब्रवीहि नः ॥ १ ॥

बयालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(काम्यकवन-तीर्थका प्रसङ्ग, सरस्वती नदीकी महिमा और तत्सम्बद्ध तीर्थोंका वर्णन)

ऋषियोंने पूछा—(लोमहर्षणजी !) काम्यकवनके पूर्वमें स्थित कुञ्जका आश्रयण देवताओंने किया था, पर उस काम्यकवन तीर्थकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसे आप हमें विस्तारसे बतलाइये ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम्। ऋषीणां चरितं श्रुत्वा मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ २ ॥
नैमिषेयाश्च ऋषयः कुरुक्षेत्रे समागताः। सरस्वत्यास्तु स्नानार्थं प्रवेशं ते न लेभिरे ॥ ३ ॥
ततस्ते कल्पयामासुस्तीर्थं यज्ञोपवीतिकम्। शेषास्तु मुनयस्तत्र न प्रवेशं हि लेभिरे ॥ ४ ॥
रन्तुकस्याश्रमात्तावद् यावत्तीर्थं सचक्रकम्। ब्राह्मणैः परिपूर्णं तु दृष्ट्वा देवी सरस्वती ॥ ५ ॥
हितार्थं सर्वविप्राणां कृत्वा कुञ्जानि सा नदी। प्रयाता पश्चिमं मार्गं सर्वभूतहिते स्थिता ॥ ६ ॥

लोमहर्षणजी बोले—(उत्तर दिया)—मुनियो ! आप सभी लोग इस तीर्थके श्रेष्ठ माहात्म्यको सुनें। ऋषियोंके चरित्रको सुननेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाता है। (एक बारकी बात है) नैमिषारण्यके निवासी ऋषि सरस्वती नदीमें स्नान करनेके लिये कुरुक्षेत्र आये। परंतु वे सरस्वतीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश न पा सके। तब उन्होंने यज्ञोपवीतिक नामके एक तीर्थकी कल्पना कर ली। (पर फिर भी) शेष मुनिलोग उसमें भी प्रवेश न पा सके। सरस्वतीने देखा कि रन्तुक आश्रमसे सचक्रकतक जितने भी तीर्थस्थल हैं, वे सब-के-सब ब्राह्मणोंसे भर गये हैं। इसलिये सभी ब्राह्मणोंके कल्याणके लिये उस सरस्वती नदीने कुञ्ज बना दिया और सभी प्राणियोंकी भलाईमें तत्पर होकर वह पश्चिम मार्गको (पश्चिमवाहिनी बनकर) चल पड़ी ॥ २—६ ॥

पूर्वप्रवाहे यः स्नाति गङ्गास्नानफलं लभेत्। प्रवाहे दक्षिणे तस्या नर्मदा सरितां वरा ॥ ७ ॥
पश्चिमे तु दिशाभागे यमुना संश्रिता नदी। यदा उत्तरतो याति सिन्धुर्भवति सा नदी ॥ ८ ॥
एवं दिशाप्रवाहेण याति पुण्या सरस्वती। तस्यां स्नातः सर्वतीर्थे स्नातो भवति मानवः ॥ ९ ॥
ततो गच्छेद् द्विजश्रेष्ठा मदनस्य महात्मनः। तीर्थं त्रैलोक्यविख्यातं विहारं नाम नामतः ॥ १० ॥

जो मनुष्य सरस्वतीके पूर्वी प्रवाहमें स्नान करता है, उसे गङ्गामें स्नान करनेका फल प्राप्त होता है। उसके दक्षिणी प्रवाहमें सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा एवं पश्चिम दिशाकी ओर यमुना नदी संश्रित है। किंतु जब वह

*

उत्तर दिशाकी ओर बहने लगती है तो वह सिन्धु हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न दिशाओंमें वह पवित्र सरस्वती नदी (भिन्न-भिन्न रूपोंमें) प्रवाहित होती है। उस सरस्वती नदीमें स्नान करनेवाला मनुष्य मानो सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है। द्विजश्रेष्ठो! सरस्वती नदीमें स्नान करनेके बाद तीर्थसेवीको तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध महात्मा मदनके 'विहार' नामक तीर्थमें जाना चाहिये ॥ ७-१० ॥

यत्र देवाः समागम्य शिवदर्शनकाङ्क्षिणः। समागता न चापश्यन् देवं देव्या समन्वितम् ॥ ११ ॥
ते स्तुवन्तो महादेवं नन्दिनं गणनायकम्। ततः प्रसन्नो नन्दीशः कथयामास चेष्टितम् ॥ १२ ॥
भवस्य उमया सार्धं विहारे क्रीडितं महत्। तच्छ्रुत्वा देवतास्तत्र पत्नीराहूय क्रीडिताः ॥ १३ ॥
तेषां क्रीडाविनोदेन तुष्टः प्रोवाच शंकरः। योऽस्मिंस्तीर्थे नरः स्नाति विहारे श्रद्धयान्वितः ॥ १४ ॥
धनधान्यप्रियैर्युक्तो भवते नात्र संशयः। दुर्गातीर्थं ततो गच्छेद् दुर्गया सेवितं महत् ॥ १५ ॥

जहाँपर भगवान् शिवके दर्शनाभिलाषी देवता आये, पर वे उमासहित शिवका दर्शन न कर पाये। वे लोग गणनायक महादेव नन्दीकी स्तुति करने लगे। इससे नन्दीश्वर प्रसन्न हो गये और (उन्होंने) उमाके साथ की जा रही शिवकी महती विहार-क्रीडाका वर्णन किया। यह सुनकर देवताओंने भी अपनी पत्नियोंको बुलाया और उनके साथ (उन लोगोंने भी) क्रीडा की। उनके क्रीडा-विनोदसे शंकर प्रसन्न हो गये और बोले—इस विहार-तीर्थमें जो श्रद्धाके साथ स्नान करेगा, वह निःसंदेह धन-धान्य एवं प्रिय सम्बन्धियोंसे सम्पन्न होगा। उमा-शिवके विहार-स्थलकी यात्राके बाद दुर्गासे प्रतिष्ठित उस महान् दुर्गातीर्थमें जाना चाहिये—॥ ११-१५ ॥

यत्र स्नात्वा पितॄन् पूज्य न दुर्गतिमवाप्नुयात्। तत्रापि च सरस्वत्याः कूपं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १६ ॥
दर्शनान्मुक्तिमाप्नोति सर्वपातकवर्जितः। यस्तत्र तर्पयेद् देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ १७ ॥
अक्षय्यं लभते सर्वं पितृतीर्थं विशिष्यते। मातृहा पितृहा यश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ॥ १८ ॥
स्नात्वा शुद्धिमवाप्नोति यत्र प्राची सरस्वती। देवमार्गप्रविष्टा च देवमार्गेण निःसृता ॥ १९ ॥

जहाँ स्नानकर पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको दुर्गतिकी प्राप्ति नहीं होती। उसी स्थानपर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध सरस्वतीका एक कूप है। उसका दर्शन करनेमात्रसे ही मनुष्य सभी पापोंसे रहित हो जाता है और मुक्ति प्राप्त करता है। जो वहाँ श्रद्धापूर्वक देवता और पितरोंका तर्पण करता है, वह व्यक्ति समस्त अक्षय्य (कभी भी नष्ट न होनेवाले) पदार्थोंको प्राप्त करता है। पितृतीर्थकी विशेष महत्ता है। उस तीर्थमें माता, पिता और ब्राह्मणका घातक तथा गुरुपत्नीगामी भी स्नान करनेसे (ही) शुद्ध हो जाता है। वहीं पूर्व दिशाकी ओर बहनेवाली सरस्वती देव-मार्गमें प्रविष्ट होकर देवमार्गसे ही निकली हुई है ॥ १६-१९ ॥

प्राची सरस्वती पुण्या अपि दुष्कृतकर्मणाम्। त्रिरात्रं ये करिष्यन्ति प्राची प्राप्य सरस्वतीम् ॥ २० ॥
न तेषां दुष्कृतं किंचिद् देहमाश्रित्य तिष्ठति। नरनारायणौ देवौ ब्रह्मा स्थाणुस्तथा रविः ॥ २१ ॥
प्राचीं दिशं निषेवन्ते सदा देवाः सवासवाः। ये तु श्राद्धं करिष्यन्ति प्राचीमाश्रित्य मानवाः ॥ २२ ॥
तेषां न दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च। तस्मात् प्राची सदा सेव्या पञ्चम्यां च विशेषतः ॥ २३ ॥
पञ्चम्यां सेवमानस्तु लक्ष्मीवाञ्जायते नरः। तत्र तीर्थमौशनसं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम् ॥ २४ ॥
उशना यत्र संसिद्ध आराध्य परमेश्वरम्। ग्रहमध्येषु पूज्यते तस्य तीर्थस्य सेवनात् ॥ २५ ॥

पूर्ववाहिनी सरस्वती दुष्कर्मियोंके लिये भी पुण्य देनेवाली है। जो प्राची सरस्वतीके निकट जाकर त्रिरात्रव्रत करता है, उसके शरीरमें कोई पाप नहीं रह जाता। नर और नारायण—ये दोनो देव, ब्रह्मा, स्थाणु तथा सूर्य

एवं इन्द्रसहित सभी देवता प्राची दिशाका सेवन करते हैं । जो मानव प्राची सरस्वतीमें श्राद्ध करेंगे, उन्हें इस लोक तथा परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा । अतः प्राची सरस्वतीका सर्वदा सेवन करना चाहिये—विशेषतः पञ्चमीके दिन । पञ्चमी तिथिको प्राची सरस्वतीका सेवन करनेवाला मनुष्य लक्ष्मीवान् होता है । वहीं तीनों लोकोंमें दुर्लभ औशनस नामका तीर्थ है, जहाँ परमेश्वरकी आराधना कर शुक्राचार्य सिद्ध हो गये थे । उस तीर्थका सेवन करनेसे ग्रहोंके मध्य उनकी पूजा होती है ॥ २०–२५ ॥

एवं शुक्रेण मुनिना सेवितं तीर्थमुत्तमम् । ये सेवन्ते श्रद्दधानास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ २६ ॥
यस्तु श्राद्धं नरो भक्त्या तस्मिंस्तीर्थे करिष्यति । पितरस्तारितास्तेन भविष्यन्ति न संशयः ॥ २७ ॥
चतुर्मुखं ब्रह्मतीर्थं सरो मर्यादया स्थितम् । ये सेवन्ते चतुर्दश्यां सोपवासा वसन्ति च ॥ २८ ॥
अष्टम्यां कृष्णपक्षस्य चैत्रे मासि द्विजोत्तमाः । ते पश्यन्ति परं सूक्ष्मं यस्मान्नावर्तते पुनः ॥ २९ ॥
स्थाणुतीर्थं ततो गच्छेत् सहस्रलिङ्गशोभितम् । तत्र स्थाणुवटं दृष्ट्वा मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ ३० ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार शुक्रमुनिके द्वारा सेवित उत्तम तीर्थका जो श्रद्धापूर्वक (स्वयं) सेवन करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं । उस तीर्थमें भक्तिपूर्वक जो व्यक्ति श्राद्ध करेगा, उसके द्वारा उसके पितर निःसन्देह तर जायँगे । द्विजोत्तमो ! जो सरोवरकी मर्यादासे स्थित चतुर्मुख ब्रह्मतीर्थमें चतुर्दशीके दिन उपवास-व्रत करते हैं तथा चैत्रमासके कृष्णपक्षकी अष्टमीतक निवास करके तीर्थका सेवन करते हैं, उन्हें परम सूक्ष्म-(तत्त्व-) का दर्शन प्राप्त होता है; जिससे वे पुनः संसारमें नहीं आते । ब्रह्मतीर्थके नियम पालन करनेके बाद सहस्रलिङ्गसे शोभित स्थाणुतीर्थमें जाय । वहाँ स्थाणुवटका दर्शन प्राप्त कर मनुष्य पापोंसे विमुक्त हो जाता है ॥ २६–३० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बयालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

[अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं वटस्य च महामुने । सांनिहत्यसरोत्पत्तिं पूरणं पांशुना ततः ॥ १ ॥
लिङ्गानां दर्शनात् पुण्यं स्पर्शनेन च किं फलम् । तथैव सरमाहात्म्यं ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ २ ॥

तैंतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और सांनिहत्य सरोवरके सम्बन्धमें प्रश्न और ब्रह्माके हवालेसे लोमहर्षणका उत्तर)

(स्थाणुतीर्थमें जाने तथा स्थाणुवटके दर्शनसे मुक्ति-प्राप्ति होनेकी बात सुननेके बाद) ऋषियोंने पूछा—महामुने ! आप स्थाणुतीर्थ एवं स्थाणुवटके माहात्म्य तथा सांनिहत्य सरोवरकी उत्पत्ति और इन्द्रद्वारा उसके धूलसे भरे जानेके कारणका वर्णन करें । (इसी प्रकार) लिङ्गोंके दर्शनसे होनेवाले पुण्य तथा स्पर्शसे होनेवाले फल और सरोवरके माहात्म्यका भी पूर्णतः वर्णन करें ॥ १–२ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे पुराणं वामनं महत् । यच्छ्रुत्वा मुक्तिमाप्नोति प्रसादाद् वामनस्य तु ॥ ३ ॥
सनत्कुमारमासीनं स्थाणोर्वटसमीपतः । ऋषिभिर्बालखिल्याद्यैर्ब्रह्मपुत्रैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥
मार्कण्डेयो मुनिस्तत्र विनयेनाभिगम्य च । पप्रच्छ सरमाहात्म्यं प्रमाणं च स्थितिं तथा ॥ ५ ॥

लोमहर्षणजी बोले—मुनियो ! आपलोग महान् वामनपुराणको श्रवण करें, जिसका श्रवण कर मनुष्य वामनभगवान्‌की कृपासे मुक्ति पा लेता है। (एक समय) ब्रह्माके पुत्र सनत्कुमार महात्मा बालखिल्य आदि ऋषियोंके साथ स्थाणुवटके पास बैठे हुए थे। महर्षि मार्कण्डेयने उनके निकट जाकर नम्रतापूर्वक सरोवरके माहात्म्य, उसके विस्तार और स्थितिके विषयमें पूछा—॥ ३–५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मपुत्र महाभाग सर्वशास्त्रविशारद । ब्रूहि मे सरमाहात्म्यं सर्वपापक्षयावहम् ॥ ६ ॥
कानि तीर्थानि दृश्यानि गुह्यानि द्विजसत्तम । लिङ्गानि ह्यतिपुण्यानि स्थाणोर्यानि समीपतः ॥ ७ ॥
येषां दर्शनमात्रेण मुक्तिं प्राप्नोति मानवः । वटस्य दर्शनं पुण्यमुत्पत्तिं कथयस्व मे ॥ ८ ॥
प्रदक्षिणायां यत्पुण्यं तीर्थस्नानेन यत्फलम् । गुह्येषु चैव दृष्टेषु यत्पुण्यमभिजायते ॥ ९ ॥
देवदेवो यथा स्थाणुः सरोमध्ये व्यवस्थितः । किमर्थं पांशुना शक्रस्तीर्थं पूरितवान् पुनः ॥ १० ॥
स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं चक्रतीर्थस्य यत्फलम् । सूर्यतीर्थस्य माहात्म्यं सोमतीर्थस्य ब्रूहि मे ॥ ११ ॥
शंकरस्य च गुह्यानि विष्णोः स्थानानि यानि च । कथयस्व महाभाग सरस्वत्याः सविस्तरम् ॥ १२ ॥
ब्रूहि देवाधिदेवस्य माहात्म्यं देव तत्त्वतः । विरिञ्चस्य प्रसादेन विदितं सर्वमेव च ॥ १३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा (पूछा)—सर्वशास्त्रविशारद महाभाग ब्रह्मपुत्र (सनत्कुमार) ! आप मुझसे सभी पापोंके नष्ट करनेवाले सरोवरके माहात्म्यको कहिये। द्विजश्रेष्ठ ! स्थाणुतीर्थके पास कौन-कौन-से तीर्थ दृश्य हैं और कौन-कौन-से अदृश्य और कौन-से लिङ्ग अत्यन्त पवित्र हैं, जिनका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। मुने ! आप स्थाणुवटके दर्शनसे होनेवाले पुण्य तथा उसकी उत्पत्तिके विषयमें भी कहिये—बताइये। इनकी प्रदक्षिणा करनेसे होनेवाले पुण्य, तीर्थमें स्नान करनेसे मिलनेवाले फल एवं गुप्त तीर्थों तथा प्रकट तीर्थोंके दर्शनसे मिलनेवाले पुण्यका भी वर्णन करें। प्रभो ! सरोवरके मध्यमें देवाधिदेव स्थाणु (शिव) किस प्रकार स्थित हुए और किस कारणसे इन्द्रने इस तीर्थको पुनः धूलिसे भर दिया ? आप स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, चक्रतीर्थका फल एवं सूर्यतीर्थ तथा सोमतीर्थका माहात्म्य—इन सबको मुझसे कहिये। महाभाग ! सरस्वतीके निकट शंकर तथा विष्णुके जो-जो गुप्त स्थान हैं उनका भी आप विस्तारपूर्वक वर्णन करें। देव ! देवाधिदेवके माहात्म्यको आप भलीभाँति बतावें; क्योंकि ब्रह्माकी कृपासे आपको सब कुछ विदित है ॥ ६–१३ ॥

लोमहर्षण उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा ब्रह्मात्मा स महामुनिः । अतिभक्त्या तु तीर्थस्य प्रवणीकृतमानसः ॥ १४ ॥
पर्यङ्कं शिथिलीकृत्वा नमस्कृत्वा महेश्वरम् । कथयामास तत्सर्वं यच्छ्रुतं ब्रह्मणः पुरा ॥ १५ ॥

लोमहर्षणने कहा (उत्तर दिया)—मार्कण्डेयके वचनको सुनकर ब्रह्मस्वरूप महामुनिका मन उस तीर्थके प्रति अत्यन्त भक्ति-प्रवण होनेसे गद्गद हो गया। उन्होंने आसनसे उठकर भगवान् शंकरको प्रणाम किया तथा प्राचीनकालमें ब्रह्मासे इसके विषयमें जो कुछ सुना था उन सबका वर्णन किया ॥ १४–१५ ॥

सनत्कुमार उवाच

नमस्कृत्य महादेवमीशानं वरदं शिवम् । उत्पत्तिं च प्रवक्ष्यामि तीर्थानां ब्रह्मभाषिताम् ॥ १६ ॥
पूर्वमेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे । बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजसम्भवम् ॥ १७ ॥
तस्मिन्नण्डे स्थितो ब्रह्मा शयनायोपचक्रमे । सहस्रयुगपर्यन्तं सुप्त्वा स प्रत्यबुध्यत ॥ १८ ॥
सुप्तोत्थितस्तदा ब्रह्मा शून्यं लोकमपश्यत । सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य रजसा मोहितस्य च ॥ १९ ॥

सनत्कुमारने कहा—मैं कल्याणकर्ता, वरदानी महादेव ईशानको नमस्कार कर ब्रह्मासे कहे हुए तीर्थकी उत्पत्तिके विषयमें वर्णन करूँगा। प्राचीन कालमें जब महाप्रलय हो गया और सर्वत्र केवल जल-ही-जल हो गया एवं उसमे समस्त चर-अचर जगत् नष्ट हो गया, तब प्रजाओंके बीजस्वरूप एक 'अण्ड' उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा उस अण्डमें स्थित थे। उन्होंने उसमें अपने सोनेका उपक्रम किया। फिर तो वे हजारों युगोंतक सोते रहे। उसके बाद जगे। ब्रह्मा जब सोकर उठे, तब उन्होंने संसारको शून्य देखा। (जब उन्होंने संसारमें कुछ भी नहीं देखा) तब रजोगुणसे आविष्ट हो गये और सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे॥ १६–१९॥

रजः सृष्टिगुणं प्रोक्तं सत्त्वं स्थितिगुणं विदुः। उपसंहारकाले च तमोगुणः प्रवर्तते॥ २०॥
गुणातीतः स भगवान् व्यापकः पुरुषः स्मृतः। तेनेदं सकलं व्याप्तं यत्किंचिज्जीवसंज्ञितम्॥ २१॥
स ब्रह्मा स च गोविन्द ईश्वरः स सनातनः। यस्तं वेद महात्मानं स सर्वं वेद मोक्षवित्॥ २२॥
किं तेषां सकलैस्तीर्थैराश्रमैर्वा प्रयोजनम्। येषामनन्तकं चित्तमात्मन्येव व्यवस्थितम्॥ २३॥

रजोगुणको सृष्टिकारक तथा सत्त्वगुणको स्थितिकारक माना गया है। उपसंहार करनेके समयमें तमोगुणकी प्रवृत्ति होती है। परंतु भगवान् वास्तवमें व्यापक एवं गुणातीत हैं। वे पुरुष नामसे कहे जाते हैं। जीव नामसे निर्दिष्ट सारे पदार्थ उन्हींसे ओतप्रोत हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही विष्णु हैं और वे ही सनातन महेश्वर हैं। मोक्षके ज्ञानी जिस प्राणीने उन महान् आत्माको समझ लिया, उसने सब कुछ जान लिया। जिस मनुष्यका अनन्त (बहुमुखी) चित्त उन परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित है, उनके लिये सारे तीर्थ एवं आश्रमोंसे क्या प्रयोजन ?॥ २०–२३॥

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलसमाधियुक्ता।
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥ २४॥
एतत्प्रधानं पुरुषस्य कर्म यदात्मसम्बोधसुखे प्रविष्टम्।
ज्ञेयं तदेव प्रवदन्ति सन्तस्तत्प्राप्य देही विजहाति कामान्॥ २५॥
नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डविधानवर्जनमक्रोधनश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥ २६॥
एतद् ब्रह्म समासेन मयोक्तं ते द्विजोत्तम। यज्ज्ञात्वा ब्रह्म परमं प्राप्स्यसि त्वं न संशयः॥ २७॥
इदानीं शृणु चोत्पत्तिं ब्रह्मणः परमात्मनः। इमं चोदाहरन्त्येव श्लोकं नारायणं प्रति॥ २८॥

यह आत्मारूपी नदी शील और समाधिसे युक्त है। इसमें संयमरूपी पवित्र तीर्थ है, जो सत्यरूपी जलसे परिपूर्ण है। जो पुण्यात्मा इस (नदी)में स्नान करता है, वह पवित्र हो जाता है, (पिये जानेवाले सामान्य) जलसे अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं होती। इसलिये पुरुषका मुख्य कर्तव्य है कि वह आत्मज्ञानरूपी सुखमें प्रविष्ट रहे। महात्मा लोग उसीको 'ज्ञेय' कहते हैं। शरीर धारण करनेवाला देही जब उसे पा लेता है, तब सभी इच्छाओंको छोड़ देता है। ब्राह्मणके लिये एकता, समता, सत्यता, मर्यादामें स्थिति, दण्ड-विधानका त्याग, क्रोध न करना एवं (सांसारिक) क्रियाओंसे विराग ही धन है, इनके समान उनके लिये कोई अन्य धन नहीं है। द्विजोत्तम ! मैंने थोड़ी मात्रामें तुमसे यह जो ज्ञानके विषयमें कहा है, इसे जानकर तुम निःसंदेह परम ब्रह्मको प्राप्त करोगे। अब तुम परमात्मा ब्रह्मकी उत्पत्तिके विषयमें सुनो। उस नारायणके विषयमें लोग इस श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं—॥ २४–२८॥

आपो नारा वै तनव इत्येवं नाम शुश्रुमः। तासु शेते स यस्माच्च तेन नारायणः स्मृतः॥ २९॥
विबुद्धः सलिले तस्मिन् विज्ञायान्तर्गतं जगत्। अण्डं बिभेद भगवांस्तस्मादोमित्यजायत॥ ३०॥
ततो भूरभवत् तस्माद् भुव इत्यपरः स्मृतः। स्वः शब्दश्च तृतीयोऽभूद् भूर्भुवःस्वेति संज्ञितः॥ ३१॥
तस्मात्तेजः समभवत् तत्सवितुर्वरेण्यं यत्। उदकं शोषयामास यत्तेजोऽण्डविनिःसृतम्॥ ३२॥

'आप्' (जल) ही को 'नार', (एवं परमात्मा) को 'तनु'—ऐसा हमने सुन रखा है। वे (परमात्मा) उसमें शयन करते हैं, जिससे वे (शब्दव्युत्पत्तिसे) 'नारायण' शब्दसे स्मरण किये गये हैं। जलमें सोनेके बाद जाग जानेपर उन्होंने जगत्को अपनेमें प्रविष्ट जानकर अण्डको तोड़ दिया, उससे 'ॐ' शब्दकी उत्पत्ति हुई। इसके बाद उससे (पहली बार) भूः, दूसरी बार भुवः एवं तीसरी बार स्वःकी उत्पत्ति (ध्वनि) हुई। इन तीनोंका नाम क्रमशः मिलकर 'भूर्भुवःस्वः' हुआ। उस सविता देवताका जो वरेण्य तेज है, वह उसीसे उत्पन्न हुआ। अण्डसे जो तेज निकला, उसने जलको सुखा दिया॥ २९—३२॥

तेजसा शोषितं शेषं कललत्वमुपागतम्। कललाद् बुद्बुदं ज्ञेयं ततः काठिन्यतां गतम्॥ ३३॥
काठिन्याद् धरणी ज्ञेया भूतानां धारिणी हि सा। यस्मिन् स्थाने स्थितं ह्यण्डं तस्मिन् संनिहितं सरः॥ ३४॥
यदाद्यं निःसृतं तेजस्तस्मादादित्य उच्यते। अण्डमध्ये समुत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः॥ ३५॥
उल्वं तस्याभवन्मेरुर्जरायुः पर्वताः स्मृताः। गर्भोदकं समुद्राश्च तथा नद्यः सहस्रशः॥ ३६॥
नाभिस्थाने यदुदकं ब्रह्मणो निर्मलं महत्। महत्सरस्तेन पूर्णं विमलेन वराम्भसा॥ ३७॥

तेजसे जलके सोखे जानेपर शेष जल कललकी आकृतिमें बदल गया। कललसे बुद्बुद हुआ और उसके बाद वह कठोर हो गया। कठोर हो जानेके कारण वह बुद्बुद भूतोंको धारण करनेवाली धरणी बन गया। जिस स्थानपर अण्ड स्थित था, वहीं संनिहित नामका सरोवर है। तेजके आदिमें उत्पन्न होनेके कारण उसे 'आदित्य' नामसे कहा जाता है। फिर सारे संसारके पितामह ब्रह्मा अण्डके मध्यमें उत्पन्न हुए। उस अण्डका उल्व (गर्भका आवरण) मेरु पर्वत है एवं अन्य पर्वत उसके जरायु (झिल्ली) माने जाते हैं। समुद्र एवं सहस्रों नदियाँ गर्भके जल हैं। ब्रह्माके नाभि-स्थानमें जो विशाल निर्मल जल राशि है, उस स्वच्छ श्रेष्ठ जलसे महान् सरोवर भरा-पूरा है॥ ३३—३७॥

तस्मिन् मध्ये स्थाणुरूपी वटवृक्षो महामनाः। तस्माद् विनिर्गता वर्णा ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥ ३८॥
शूद्राश्च तस्मादुत्पन्नाः शुश्रूषार्थं द्विजन्मनाम्।
ततश्चिन्तयतः सृष्टिं ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। मनसा मानसा जाताः सनकाद्या महर्षयः॥ ३९॥
पुनश्चिन्तयतस्तस्य प्रजाकामस्य धीमतः। उत्पन्ना ऋषयः सप्त ते प्रजापतयोऽभवन्॥ ४०॥
पुनश्चिन्तयतस्तस्य रजसा मोहितस्य च। बालखिल्याः समुत्पन्नास्तपःस्वाध्यायतत्पराः॥ ४१॥

उस सरोवरके मध्यमें स्थाणुके आकारका महान् विशाल एक वटवृक्ष है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनो वर्ण उससे निकले और द्विजोंकी शुश्रूषा करनेके लिये उसीसे शूद्रोंकी भी उत्पत्ति हुई। (इस प्रकार चारों वर्णोंकी सृष्टि सरोवरके मध्यमें स्थाणुरूपसे स्थित वटवृक्षसे हुई)। उसके बाद सृष्टिकी चिन्ता करते हुए अव्यक्त-जन्मा ब्रह्माके मनसे सनकादि महर्षियोंकी उत्पत्ति हुई। फिर प्रजाकी इच्छासे चिन्तन कर रहे मतिमान् ब्रह्मासे सात ऋषि उत्पन्न हुए। वे प्रजापति हुए। रजोगुणसे मोहित होकर ब्रह्माने जब पुनः चिन्तन किया, तब तप एवं स्वाध्यायमें परायण बालखिल्य ऋषियोंकी उत्पत्ति हुई॥ ३८—४१॥

ते सदा स्नाननिरता देवार्चनपरायणाः। उपवासैर्व्रतैस्तीव्रैः शोषयन्ति कलेवरम् ॥ ४२ ॥
वानप्रस्थेन विधिना अग्निहोत्रसमन्विताः। तपसा परमेणेह शोषयन्ति कलेवरम् ॥ ४३ ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं ते कृशा धमनिसंतताः। आराधयन्ति देवेशं न च तुष्यति शंकरः ॥ ४४ ॥
ततः कालेन महता उमया सह शंकरः। आकाशमार्गेण तदा दृष्ट्वा देवी सुदुःखिता ॥ ४५ ॥
प्रसाद्य देवदेवेशं शंकरं प्राह सुव्रता। क्लिश्यन्ते ते मुनिगणा देवदारुवनाश्रयाः ॥ ४६ ॥
तेषां क्लेशक्षयं देव विधेहि कुरु मे दयाम्। किं वेदधर्मनिष्ठानामनन्तं देव दुष्कृतम् ॥ ४७ ॥
नाद्यापि येन शुद्ध्यन्ति शुष्कस्नाय्वस्थिशोषिताः।
तच्छ्रुत्वा वचनं देव्याः पिनाकी पातितान्धकः। प्रोवाच प्रहसन् मूर्ध्नि चारुचन्द्रांशुशोभितः ॥ ४८ ॥

वे सर्वदा स्नान (शुद्धि) करनेमें निरत तथा देवताओंकी पूजा करनेमें विशेषरूपसे लगे रहते तथा उपवासों एवं तीव्र व्रतोंसे अपने शरीरको सुखाये जा रहे थे। अग्निहोत्रसे युक्त होकर वानप्रस्थकी विधिसे वे उत्कृष्ट तपस्या करते और अपने शरीर सुखाते जाते थे। वे लोग अत्यन्त दुर्बल एवं कंकाल-काय होकर सहस्र दिव्य वर्षोंतक देवेशकी उपासना करते रहे; परंतु भगवान् शंकर प्रसन्न न हुए। उसके बहुत दिनोंके बाद उमाके साथ भगवान् शंकर आकाश-मार्गसे भ्रमण कर रहे थे। धार्मिक कार्योंको करनेवाली उमा (बालखिल्योंको) इस प्रकारकी दशा (कंकालमात्र) देखकर दुःखी हो गयीं और दुःखी होकर देवदेवेश शंकरको प्रसन्नकर कहने लगीं—देव ! देवदारु वनमें रहनेवाले वे मुनिगण क्लेश उठा रहे हैं। देव ! मेरे ऊपर दया करें। आप उनके क्लेशका विनाश करें। देव ! वैदिक धर्ममें निष्ठा रखनेवाले इन (तपस्वियों) के कौन ऐसा अनन्त दुष्कृत है, जिससे ये कङ्कालमात्र होनेपर भी अबतक शुद्ध नहीं हुए ? अन्धकको मार गिरानेवाले, चन्द्रमाकी मनोहर किरणोंसे सुशोभित सिरवाले पिनाकधारी शंकरजी उमाकी बातको सुनकर हँसते हुए बोले—॥ ४२—४८ ॥

श्रीमहादेव उवाच

न वेत्सि देवि तत्त्वेन धर्मस्य गहना गतिः। नैते धर्मं विजानन्ति न च कामविवर्जिताः ॥ ४९ ॥
न च क्रोधेन निर्मुक्ताः केवलं मूढबुद्धयः। एतच्छ्रुत्वाऽब्रवीद् देवी मा मैवं शंसितव्रतान् ॥ ५० ॥
देव प्रदर्शयात्मानं परं कौतूहलं हि मे। स इत्युक्त उवाचेदं देवीं देवः स्मिताननः ॥ ५१ ॥
तिष्ठ त्वमत्र यास्यामि यत्रैते मुनिपुंगवाः। साधयन्ति तपो घोरं दर्शयिष्यामि चेष्टितम् ॥ ५२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—देवि ! धर्मकी गति गहन होती है। तुम उसे तत्त्वतः नहीं जानती। ये लोग न तो धर्मज्ञ हैं और न कामशून्य। ये क्रोधसे मुक्त भी नहीं हैं और विचार-रहित हैं। यह सुनकर उमादेवीने कहा—नहीं, व्रत धारण करनेवाले इन लोगोंको ऐसा मत कहिये; (प्रत्युत) देव ! आप अपनेको प्रकट करें। निश्चय ही मुझे बड़ा कौतूहल है। उमाके ऐसा कहनेपर शंकरने मुस्कुराकर देवीसे इस प्रकार कहा—अच्छा, तुम यहाँ रुको। ये मुनिश्रेष्ठ जहाँ घोर तपस्याकी साधना कर रहे हैं, वहाँ जाकर मैं इनकी चेष्टा कैसी है, उसे दिखलाता हूँ ॥ ४९—५२ ॥

इत्युक्ता तु ततो देवी शंकरेण महात्मना। गच्छस्वेत्याह मुदिता भर्त्तारं भुवनेश्वरम् ॥ ५३ ॥
यत्र ते मुनयः सर्वे काष्ठलोष्टसमाः स्थिताः। अधीयाना महाभागाः कृताग्निसदनक्रियाः ॥ ५४ ॥
तान् विलोक्य ततो देवो नग्नः सर्वाङ्गसुन्दरः। वनमालाकृतापीडो युवा भिक्षाकपालभृत् ॥ ५५ ॥
आश्रमे पर्यटन् भिक्षां मुनीनां दर्शनं प्रति। देहि भिक्षां ततश्चोक्त्वा ह्याश्रमादाश्रमं ययौ ॥ ५६ ॥

जब महात्मा शंकरने देवी उमासे इस प्रकार कहा तब उमादेवी प्रसन्न हो गयीं और भुवनोंके पालन करनेवाले भुवनेश्वर शिवसे बोलीं—अच्छा, जिस स्थानपर लकड़ी और मिट्टीके ढेलेके समान निश्चेष्ट, अग्निहोत्री एवं अध्ययनमें लगे हुए मुनिगण रहते हैं, उस स्थानपर आप जायँ। (फिर उमाद्वारा इस प्रकार प्रेरित किये जानेपर शंकरजी मुनिमण्डलीकी ओर जानेके लिये प्रस्तुत हो गये) फिर शंकरने उस मुनिमण्डलीको देखकर वनमाला धारण कर लिया। तब वे सर्वाङ्गसुन्दर(पर) नग्न-सुडौल देह धारण कर युवाके रूपमें हो गये और भिक्षा-पात्र हाथमें लेकर मुनियोंके सामने भिक्षाके लिये भ्रमण करते हुए 'भिक्षा दो' यह कहते हुए एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें जाने लगे॥ ५३—५६॥

तं विलोक्याश्रमगतं योषितो ब्रह्मवादिनाम्। सकौतुकस्वभावेन तस्य रूपेण मोहिताः॥ ५७॥
प्रोचुः परस्परं नार्य एहि पश्याम भिक्षुकम्। परस्परमिति चोक्त्वा गृह्य मूलफलं बहु॥ ५८॥
गृहाण भिक्षामूचुस्तास्तं देवं मुनियोषितः। स तु भिक्षाकपालं तं प्रसार्य बहु सादरम्॥ ५९॥
देहि देहि शिवं वोऽस्तु भवतीभ्यस्तपोवने।
हसमानस्तु देवेशस्तत्र देव्या निरीक्षितः। तस्मै दत्त्वैव तां भिक्षां पप्रच्छुस्तं स्मरातुराः॥ ६०॥

एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें घूम रहे उन नग्न युवाको देखकर ब्रह्मवादियोंकी स्त्रियाँ उत्सुकताके साथ स्वभाववश उनके रूपसे मोहित हो गयीं और परस्परमें कहने लगीं—आओ, भिक्षुकको देखा जाय। आपसमें इस प्रकार कहकर बहुत-सा मूल-फल लेकर मुनि-पत्नियोंने उन देवसे कहा—आप भिक्षा ग्रहण करें। उन्होंने भी अत्यन्त आदरसे उस भिक्षापात्रको फैलाकर (सामने दिखाकर) कहा—तपोवनवासिनियो! (भिक्षा) दो, दो! आप सबका कल्याण हो। पार्वतीजी वहाँ हँसते हुए शंकरको देख रही थीं। कामातुर मुनिपत्नियोंने उस नग्न युवाको भिक्षा देकर उनसे पूछा—॥ ५७—६०॥

नार्य ऊचुः

कोऽसौ नाम व्रतविधिस्त्वया तापस सेव्यते।
यत्र नग्नेन लिङ्गेन वनमालाविभूषितः। भवान् वै तापसो हृद्यो हृद्याः स्मो यदि मन्यसे॥ ६१॥
इत्युक्तस्तापसीभिस्तु प्रोवाच हसिताननः। इदमीदृग् व्रतं किंचिन्न रहस्यं प्रकाश्यते॥ ६२॥
शृण्वन्ति बहवो यत्र तत्र व्याख्या न विद्यते। अस्य व्रतस्य सुभगा इति मत्वा गमिष्यथ॥ ६३॥
एवमुक्तास्तदा तेन ताः प्रत्यूचुस्तदा मुनिम्। रहस्ये हि गमिष्यामो मुने नः कौतुकं महत्॥ ६४॥

मुनिपत्नियोंने पूछा—तापस! आप किस व्रतके विधानका पालन कर रहे हैं, जिसमें वनमालासे विभूषित हृदयहारी तपस्वीका सुन्दर स्वरूप धारण कर नग्न-मूर्ति बनना पड़ा है? आप हमारे हृदयके आनन्दप्रद तापस हैं, यदि आप मानें तो हम भी आपकी मनोऽनुकूल प्रिया हो सकती हैं। उन्होंने तपस्विनियोंके इस प्रकार कहनेपर हँसते हुए कहा—यह व्रत ऐसा है कि इसका कुछ भी रहस्य प्रकट नहीं किया जा सकता। सौभाग्यशालिनियो! जहाँ बहुत-से सुननेवाले हों वहाँ इस व्रतकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिये यह जानकर आप सभी चली जायँ। उनके ऐसा कहनेपर उन्होंने मुनिसे कहा—मुने! हम सब (यह जाननेके लिये) एकान्तमें चलेंगी; (क्योंकि) हमें महान् कौतूहल हो रहा है॥ ६१—६४॥

इत्युक्त्वा तास्तदा तं वै जगृहुः पाणिपल्लवैः। काचित् कण्ठे सकन्दर्पा बाहुभ्यामपरास्तथा॥ ६५॥
जानुभ्यामपरा नार्यः केशेषु ललितापराः। अपरास्तु कटीरन्ध्रे अपराः पादयोरपि॥ ६६॥
क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमेषु स्वयोषिताम्। हन्यतामिति संभाष्य काष्ठपाषाणपाणयः॥ ६७॥
पातयन्ति स्म देवस्य लिङ्गमुद्धृत्य भीषणम्। पातिते तु ततो लिङ्गे गतोऽन्तर्धानमीश्वरः॥ ६८॥

यह कहकर उन सभीने उनको अपने कोमल हाथोंसे पकड़ लिया । कुछ कामसे आतुर होकर कण्ठसे लिपट गयीं और कुछने उन्हें भुजाओंमें बाँध लिया; कुछ स्त्रियोंने उन्हें घुटनोंसे पकड़ लिया; कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ उनके केश छूने लगीं; और कुछ उनकी कमरसे लिपट गयीं एवं कुछने उनके पैरोंको पकड़ लिया । मुनियोंने आश्रममें अपनी स्त्रियोंकी अधीरता देख 'मारो-मारो'—इस प्रकार कहते हुए हाथोंमें डंडा और पत्थर लेकर शिवके लिङ्गको ही उखाड़कर फेंक दिया । लिङ्गके गिरा दिये जानेपर भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये ॥ ६५—६८ ॥

देव्या स भगवान् रुद्रः कैलासं नगमाश्रितः । पतिते देवदेवस्य लिङ्गे नष्टे चराचरे ॥ ६९ ॥
क्षोभो बभूव सुमहानृषीणां भावितात्मनाम् । एवं देवे तदा तत्र वर्तति व्याकुलीकृते ॥ ७० ॥
उवाचैको मुनिवरस्तत्र बुद्धिमतां वरः । न वयं विद्मः सद्भावं तापसस्य महात्मनः ॥ ७१ ॥
विरिञ्चिं शरणं यामः स हि ज्ञास्यति चेष्टितम् । एवमुक्ताः सर्वे एव ऋषयो लज्जिता भृशम् ॥ ७२ ॥

वे भगवान् रुद्र उमादेवीके साथ कैलास पर्वतपर चले गये । देवदेव शंकरके लिङ्गके गिरनेपर प्रायः समस्त चर-अचर जगत् नष्ट हो गया । इससे आत्मनिष्ठ महर्षियोंको व्याकुलता हुई । इसी प्रकार देवके (भी) व्याकुल हो जानेपर एक अत्यन्त बुद्धिमान् श्रेष्ठ मुनिने कहा—हम उन महात्मा तापसके सद्भाव (सदाशय)को नहीं जानते । हम ब्रह्माकी शरणमें चलें । वे ही उनकी चेष्टा (रहस्य) समझ सकेंगे । ऐसा कहनेपर सभी ऋषि अत्यन्त लज्जित हो गये ॥ ६९—७२ ॥

ब्रह्मणः सदनं जग्मुर्देवैः सह निषेवितम् । प्रणिपत्याथ देवेशं लज्जयाऽधोमुखाः स्थिताः ॥ ७३ ॥
अथ तान् दुःखितान् दृष्ट्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् । अहो मुग्धा यदा यूयं क्रोधेन कलुषीकृताः ॥ ७४ ॥
न धर्मस्य क्रिया काचिज्ज्ञायते मूढबुद्धयः । श्रूयतां धर्मसर्वस्वं तापसाः क्रूरचेष्टिताः ॥ ७५ ॥
विदित्वा यद् बुधः क्षिप्रं धर्मस्य फलमाप्नुयात् । योऽसावात्मनि देहेऽस्मिन् विभुर्नित्यो व्यवस्थितः ॥७६॥
सोऽनादिः स महास्थाणुः पृथक्त्वे परिसूचितः । मणिर्यथोपधानेन धत्ते वर्णोज्ज्वलोऽपि वै ॥ ७७ ॥
तन्मयो भवते तद्वदात्माऽपि मनसा कृतः । मनसो भेदमाश्रित्य कर्मभिश्चोपचीयते ॥ ७८ ॥
ततः कर्मवशाद् भुङ्क्ते संभोगान् स्वर्गनारकान् । तन्मनः शोधयेद् धीमाञ्ज्ञानयोगाद्युपक्रमैः ॥ ७९ ॥

फिर, वे लोग देवताओंसे उपासित ब्रह्माके लोकमें गये । वहाँ देवेश (ब्रह्मा)को प्रणाम कर लज्जासे मुख नीचा कर खड़े हो गये । उसके बाद ब्रह्माने उन्हें दुःखी देखकर यह वचन कहा—अहो, क्रोध करनेसे तुम सबका मन कलुषित हो गया है, इसलिये मूढ हो गये हो । मूढ बुद्धिवाले ! तुम सब धर्मकी कोई वास्तविक क्रिया नहीं जानते । अप्रिय कर्म करनेवाले तापसो ! धर्मके सारभूत रहस्यको सुनो, जिसे जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही कर्मका फल प्राप्त करता है । हम सबके इस शरीरमें रहनेवाला जो नित्य विभु (परमेश्वर) है, वह आदि-अन्त-रहित एवं महा स्थाणु है । (विचार करनेपर) वह (देही) इस शरीरसे अलग प्रतीत होता है । जिस प्रकार उज्ज्वल वर्णकी मणि भी आश्रयके प्रभावसे उसी रूपकी भासती है, उसी प्रकार आत्मा भी मनसे संयुक्त होकर मनके भेदका आश्रय कर कर्मोंसे ढक जाता है । उसके बाद कर्मवश वह स्वर्गीय तथा नारकीय भोगोंको भोगता रहता है । बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि ज्ञान तथा योग आदि उपायोंद्वारा मनका शोधन करे ॥ ७३—७९ ॥

तस्मिञ्शुद्धे ह्यन्तरात्मा स्वयमेव निराकुलः । न शरीरस्य संक्लेशैरपि निर्दहनात्मकैः ॥ ८० ॥
शुद्धिमाप्नोति पुरुषः संशुद्धं यस्य नो मनः । क्रिया हि नियमार्थाय पातकेभ्यः प्रकीर्तिताः ॥ ८१ ॥
यस्मादत्याविलं देहं न शीघ्रं शुद्ध्यते किल । तेन लोकेषु मार्गोऽयं सत्पथस्य प्रवर्त्तितः ॥ ८२ ॥
वर्णाश्रमविभागोऽयं लोकाध्यक्षेण केनचित् । निर्मितो मोहमाहात्म्यं चिह्नं चोत्तमभागिनाम् ॥ ८३ ॥

मनके शुद्ध होनेपर अन्तरात्मा अपने आप निर्मल हो जाता है। जिसका मन शुद्ध नहीं है, ऐसा पुरुष शरीरको सुखानेवाले क्लेशोंके द्वारा शुद्ध नहीं होता। पापोसे बचनेके लिये ही (धर्म्य) क्रियाओंका विधान हुआ है; अतः अत्यन्त पापपूर्ण शरीर (स्वतः) शीघ्र शुद्ध नहीं होता। इसीलिये लोकमें सत्पथ—शास्त्रविहित क्रियाओका यह मार्ग प्रवर्तित हुआ है। किसी दिव्यद्रष्टा लोक-स्वामीने उत्तम भाग्यवालोंके निमित्त मोह-माहात्म्यके प्रतीकस्वरूप इस वर्णाश्रम-विभागका निर्माण किया है ॥ ८०–८३ ॥

भवन्तः क्रोधकामाभ्यामभिभूताश्रमे स्थिताः। ज्ञानिनामाश्रमो वेश्म अनाश्रममयोगिनाम् ॥ ८४ ॥
क्व च न्यस्तसमस्तेच्छा क्व च नारीमयो भ्रमः। क्व क्रोधमीदृशं घोरं येनात्मानं न जानथ ॥ ८५ ॥
यत्क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं यद् वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके मोघं फलं भवति तस्य हि क्रोधनस्य ॥ ८६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

आप लोग आश्रममें रहते हुए भी क्रोध तथा कामके वशीभूत हैं। ज्ञानियोंके लिये घर ही आश्रम है और अयोगियो-(अज्ञानियों-) के लिये आश्रम भी अनाश्रम है। कहाँ समस्त कामनाओंका त्याग और कहाँ नारीमय यह भ्रम-जाल। (कहाँ तप और) कहाँ तो इस प्रकारका क्रोध, जिससे तुम लोग अपने आत्मा (शिव)को नहीं पहचान पाते। क्रोधी पुरुष लोकमें जो सदा यज्ञ करता है, जो दान देता है अथवा जो तप या हवन करता है, उसका कोई फल उसे नहीं मिलता। उस क्रोधीके सभी फल व्यर्थ होते हैं ॥ ८४–८६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

[अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः]

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा ऋषयः सर्व एव ते। पुनरेव च पप्रच्छुर्जगतः श्रेयकारणम् ॥ १ ॥

चौवालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(ऋषियोंसहित ब्रह्माजीका शंकरजीकी शरणमें जाना और स्तवन; स्थाण्वीश्वरप्रसङ्ग और हस्तिरूप शंकरकी स्तुति एवं लिङ्गमें संनिधान)–

सनत्कुमारने कहा—उन सभी ऋषियोंने ब्रह्माकी इस वाणीको सुनकर संसारके कल्याणार्थ पुनः उपाय पूछा ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच

गच्छामः शरणं देवं शूलपाणिं त्रिलोचनम्। प्रसादाद् देवदेवस्य भविष्यथ यथा पुरा ॥ २ ॥
इत्युक्ता ब्रह्मणा सार्धं कैलासं गिरिमुत्तमम्। ददृशुस्ते समासीनमुमया सहितं हरम् ॥ ३ ॥
ततः स्तोतुं समारब्धो ब्रह्मा लोकपितामहः। देवाधिदेवं वरदं त्रैलोक्यस्य प्रभुं शिवम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माने कहा—(उत्तर दिया) (आओ,) हम सभी लोग हाथमें शूल धारण करनेवाले, त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरकी शरणमें चले। तुम सब लोग उन्हीं देवदेवके प्रसादसे पहले-जैसे हो जाओगे। ब्रह्माके ऐसा कहनेपर वे लोग उनके साथ श्रेष्ठ पर्वत कैलासपर चले गये और वहाँ उन लोगोंने उमा-(पार्वती-) के साथ बैठे हुए शंकरका दर्शन किया। उसके बाद संसारके पितामह ब्रह्माने देवोंके इष्टदेव, तीनो लोकोके स्वामी वरदानी भगवान् शंकरकी स्तुति करनी आरम्भ की—॥ २–४ ॥

ब्रह्मोवाच

अनन्ताय नमस्तुभ्यं वरदाय पिनाकिने । महादेवाय देवाय स्थाणवे परमात्मने ॥ ५ ॥
नमोऽस्तु भुवनेशाय तुभ्यं तारक सर्वदा । ज्ञानानां दायको देवस्त्वमेकः पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥
नमस्ते पद्मगर्भाय पद्मेशाय नमो नमः । घोरशान्तिस्वरूपाय चण्डक्रोध नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥
नमस्ते देव विश्वेश नमस्ते सुरनायक । शूलपाणे नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वभावन ॥ ८ ॥

पिनाक धारण करनेवाले वरदानी अनन्त महादेव ! स्थाणुस्वरूप परमात्मदेव ! आपको मेरा नमस्कार है । भुवनोंके स्वामी भुवनेश्वर तारक भगवान् ! आपको सदा नमस्कार है । पुरुषोत्तम ! आप ज्ञान देनेवाले अद्वितीय देव हैं । आप कमलगर्भ एवं पद्मेश हैं । आपको बारम्बार नमस्कार है । (प्रचण्ड) घोर-स्वरूप एवं शान्तिमूर्ति ! आपको नमस्कार है । विश्वके शासकदेव ! आपको नमस्कार है । सुरनायक ! आपको नमस्कार है । शूलपाणि शंकर ! आपको नमस्कार है । (संसारके रचनेवाले) विश्वभावन ! आपको मेरा नमस्कार है ॥ ५-८ ॥

एवं स्तुतो महादेवो ब्रह्मणा ऋषिभिस्तदा । उवाच मा भैर्व्रजत लिङ्गं वो भविता पुनः ॥ ९ ॥
क्रियतां मद्वचः शीघ्रं येन मे प्रीतिरुत्तमा । भविष्यति प्रतिष्ठायां लिङ्गस्यात्र न संशयः ॥ १० ॥
ये लिङ्गं पूजयिष्यन्ति मामकं भक्तिमाश्रिताः । न तेषां दुर्लभं किंचिद् भविष्यति कदाचन ॥ ११ ॥
सर्वेषामेव पापानां कृतानामपि जानता । शुद्ध्यते लिङ्गपूजायां नात्र कार्या विचारणा ॥ १२ ॥

ऋषियों और ब्रह्माने जब इस प्रकार शंकरकी स्तुति की तब महादेव शङ्करने कहा—भय मत करो; जाओ (तुम लोगोंके कल्याणार्थ) लिङ्ग फिर भी (उत्पन्न) हो जायगा । मेरे वचनका शीघ्र पालन करो । लिङ्गकी प्रतिष्ठा कर देनेपर निस्सन्देह मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी । जो व्यक्ति भक्तिके साथ मेरे लिङ्गकी पूजा करेंगे उनके लिये कोई भी पदार्थ कभी दुर्लभ न होगा । जानकर किये गये समस्त पापोंकी भी शुद्धि लिङ्गकी पूजा करनेसे हो जाती है; इसमें किसी प्रकारका अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ९-१२ ॥

युष्माभिः पातितं लिङ्गं सारयित्वा महत्सरः । सांनिहत्यं तु विख्यातं तस्मिन्शीघ्रं प्रतिष्ठितम ॥ १३ ॥
यथाभिलषितं कामं ततः प्राप्स्यथ ब्राह्मणाः । स्थाणुर्नाम्ना हि लोकेषु पूजनीयो दिवौकसाम् ॥ १४ ॥
स्थाण्वीश्वरे स्थितो यस्मात्स्थाण्वीश्वरस्ततः स्मृतः । ये स्मरन्ति सदा स्थाणुं ते मुक्ताः सर्वकिल्बिषैः ॥ १५ ॥
भविष्यन्ति शुद्धदेहा दर्शनान्मोक्षगामिनः । इत्येवमुक्ता देवेन ऋषयो ब्रह्मणा सह ॥ १६ ॥
तस्माद् दारुवनाल्लिङ्गं नेतुं समुपचक्रमुः । न तं चालयितुं शक्तास्ते देवा ऋषिभिः सह ॥ १७ ॥

तुम लोगोंने लिङ्गको गिरा दिया है, इसलिये शीघ्र ही उसे उठाकर प्रसिद्ध महान् सांनिहत्य-सरोवरमें स्थापित करो । ब्राह्मणो ! ऐसा करनेसे तुमलोग अपने इच्छानुकूल मनोरथोंको प्राप्त करोगे । सारे संसारमें उस लिङ्गकी प्रसिद्धि स्थाणु नामसे होगी । देवताओंद्वारा (भी) वह पूज्य होगा । वह लिङ्ग स्थाण्वीश्वरमें स्थित रहनेके कारण स्थाण्वीश्वर नामसे स्मरण किया जायगा । जो स्थाण्वीश्वरको सदा स्मरण करेंगे, उनके सारे पाप कट जायँगे और वे पवित्र-देह होकर मोक्षकी प्राप्ति करेंगे । जब शंकरने ऐसा कहा तब ब्रह्माके सहित ऋषिलोग लिङ्गको उस दारुवनसे ले जानेका उद्योग करने लगे । किंतु ऋषियोंसहित वे सभी देवगण उसे हिलाने-डुलानेमें समर्थ न हो सके ॥ १३-१७ ॥

श्रमेण महता युक्ता ब्रह्माणं शरणं ययुः । तेषां श्रमाभितप्तानामिदं ब्रह्माऽब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥
किं वा श्रमेण महता न यूयं वहनक्षमाः । स्वेच्छया पातितं लिङ्गं देवदेवेन शूलिना ॥ १९ ॥
तस्मात् तमेव शरणं यास्यामः सहिताः सुराः । प्रसन्नश्च महादेवः स्वयमेव नयिष्यति ॥ २० ॥
इत्येवमुक्ता ऋषयो देवाश्च ब्रह्मणा सह । कैलासं गिरिमासेदू रुद्रदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २१ ॥

(फिर) वे बहुत परिश्रम करके ब्रह्माकी शरणमें गये । ब्रह्माने परिश्रमसे श्रान्त-क्लान्त (संतप्त) हुए उन लोगोंसे यह वचन कहा—देवताओ ! अत्यन्त कठोर परिश्रम करनेसे क्या लाभ ! तुमलोग इसे उठानेमें समर्थ नहीं हो । देवाधिदेव भगवान् शंकरने अपनी इच्छासे इस लिङ्गको गिराया है । अतः हे देवो ! हम सभी एक साथ उन्हीं भगवान् शङ्करकी शरणमें चलें । महादेव सन्तुष्ट होकर अपने आप ही (लिङ्गको) ले जायँगे । इस-प्रकार ब्रह्माके कहनेपर सभी ऋषि और देवता ब्रह्माके साथ शंकरजीके दर्शनकी अभिलाषासे कैलासपर्वत-पर पहुँचे ॥ १८–२१ ॥

न च पश्यन्ति तं देवं ततश्चिन्तासमन्विताः । ब्रह्माणमूचुर्मुनयः क्व स देवो महेश्वरः ॥ २२ ॥
ततो ब्रह्मा चिरं ध्यात्वा ज्ञात्वा देवं महेश्वरम् । हस्तिरूपेण तिष्ठन्तं मुनिभिर्मानसैः स्तुतम् ॥ २३ ॥
अथ ते ऋषयः सर्वे देवाश्च ब्रह्मणा सह । गता महत्सरः पुण्यं यत्र देवः स्वयं स्थितः ॥ २४ ॥
न च पश्यन्ति तं देवमन्विष्यन्तस्ततस्ततः । ततश्चिन्तान्विता देवा ब्रह्मणा सहिताः स्थिताः ॥ २५ ॥
पश्यन्ति देवीं सुप्रीतां कमण्डलुविभूषिताम् । प्रीयमाणा तदा देवी इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

वहाँ उन लोगोंने शंकरजीको नहीं देखा । तब वे चिन्तित हो गये । फिर उन्होंने ब्रह्माजीसे पूछा (कि ब्रह्मन्) वे महेश्वरदेव कहाँ हैं ? उसके बाद ब्रह्माने चिरकालतक ध्यान लगाया और देखा कि मुनियोंके अन्तःकरणसे स्तुत महेश्वर देव हाथीके आकारमें स्थित हैं । उसके पश्चात् वे ऋषि और ब्रह्माके सहित सभी देवता उस पावन महान् सरोवरपर गये जहाँ भगवान् शंकर स्वयं उपस्थित थे । वे लोग वहाँ इधर-उधर चारों ओर उन्हें ढूँढ़ने लगे, फिर भी शङ्करजीका दर्शन न पा सके । ब्रह्माके साथ दर्शन न पानेके कारण सभी देवता चिन्तित हो गये । उसके बाद उन्होंने कमण्डलुसे सुशोभित देवीको अत्यन्त प्रसन्न देखा । उस समय प्रसन्न होती हुई देवी उनसे यह वचन बोलीं—॥ २२–२६ ॥

श्रमेण महता युक्ता अन्विष्यन्तो महेश्वरम् ।
पीयताममृतं देवास्ततो ज्ञास्यथ शङ्करम् । एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भवान्या समुदाहृतम् ॥ २७ ॥
सुखोपविष्टास्ते देवाः पपुस्तदमृतं शुचि । अनन्तरं सुखासीनाः पप्रच्छुः परमेश्वरीम् ॥ २८ ॥
क्व स देव इहायातो हस्तिरूपधरः स्थितः । दर्शितश्च तदा देव्या सरोमध्ये व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
दृष्ट्वा देवं हर्षयुक्ताः सर्वे देवाः सहर्षिभिः । ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा इदं वचनमब्रुवन् ॥ ३० ॥

महेश्वरको ढूँढते हुए तुमलोग अत्यन्त श्रान्त हो गये हो । देवो ! तुम सब अमृतका पान करो । तब तुम सब शङ्करको जान सकोगे । भवानीद्वारा कही हुई इस वाणीको सुनकर वे देवता सुखपूर्वक बैठ गये और उन्होंने उस पवित्र अमृतको पी लिया । उसके बाद सुखपूर्वक बैठे हुए उन देवताओंने परमेश्वरीसे पूछा देवि ! हाथीके रूपको धारण किये हुए भगवान् शङ्कर देव यहाँ किस स्थानपर आये हुए हैं ? देवताओंके इस प्रकार पूछनेपर देवीने सरोवरके बीचमें स्थित शंकरको उन्हें दिखला दिया । ऋषियोंके साथ सभी देवता उनका दर्शन पाकर हर्षित हो गये और ब्रह्माको आगे कर शंकरजीसे ये वचन बोले—॥ २७–३० ॥

त्वया त्यक्तं महादेव लिङ्गं त्रैलोक्यवन्दितम् । तस्य चानयने नान्यः समर्थः स्यान्महेश्वर ॥ ३१ ॥
इत्येवमुक्तो भगवान् देवो ब्रह्मादिभिर्हरः । जगाम ऋषिभिः सार्द्धं देवदारुवनाश्रमम् ॥ ३२ ॥
तत्र गत्वा महादेवो हस्तिरूपधरो हरः । करेण जग्राह ततो लीलया परमेश्वरः ॥ ३३ ॥
तमादाय महादेवः स्तूयमानो महर्षिभिः । निवेशयामास तदा सरःपार्श्वे तु पश्चिमे ॥ ३४ ॥
ततो देवाः सर्व एव ऋषयश्च तपोधनाः । आत्मानं सफलं दृष्ट्वा स्तवं चक्रुर्महेश्वरे ॥ ३५ ॥

महेश्वर ! आपने तीनों लोकोंमें वन्दित जिस लिङ्गको छोड दिया है, उसे ले आनेमें दूसरे किसीकी शक्ति नहीं है, उसे कोई दूसरा उठा नहीं सकता। इस प्रकार ब्रह्मा आदि देवताओंने जब भगवान् शंकरसे कहा, तब देवदेव शिवजी ऋषियोंके साथ देवदारुवनके आश्रममें चले गये। वहाँ जाकर हाथीका रूप धारण करनेवाले महादेव शिवने खेल-खेलमें (लिङ्गको) अपने सूँड़में पकड़कर उठा लिया। शङ्करजी महर्षियोंके द्वारा स्तुति किये जाते हुए उस लिङ्गको लाकर सरोवरके पास पश्चिम दिशामें स्थापित कर दिया। उसके बाद सभी देवता एवं तपस्वी ऋषियोंने अपनेको सफल समझा और वे भगवान् शंकरकी स्तुति करने लगे ॥ ३१–३५ ॥

नमस्ते परमात्मन् अनन्तयोने लोकसाक्षिन् परमेष्ठिन् भगवन् सर्वज्ञ क्षेत्रज्ञ परावरज्ञ ज्ञानज्ञेय सर्वेश्वर महाविरिञ्च महाविभूते महाक्षेत्रज्ञ महापुरुष सर्वभूतावास मनोनिवास आदिदेव महादेव सदाशिव ईशान दुर्विज्ञेय दुराराध्य महाभूतेश्वर परमेश्वर महायोगेश्वर त्र्यम्बक महायोगिन् परब्रह्मन् परमज्योतिः ब्रह्मविदुत्तम ओंकार वषट्कार स्वाहाकार स्वधाकार परमकारण सर्वगत सर्वदर्शिन् सर्वशक्ते सर्वदेव अज सहस्रार्चिः पृषार्चिः सुधामन् हरधाम अनन्तधाम संवर्त संकर्षण वडवानल अग्नीषोमात्मक पवित्र महापवित्र महामेघ महामायाधर महाकाम कामहन् हंस परमहंस महाराजिक महेश्वर महाकामुक महाहंस भवक्षयकर सुरसिद्धार्चित हिरण्यवाह हिरण्यरेतः हिरण्यनाभ हिरण्याग्रकेश मुञ्जकेशिन् सर्वलोकवरप्रद सर्वानुग्रहकर कमलेशय कुशेशय हृदयेशय ज्ञानोदधे शम्भो विभो महायज्ञ महायाज्ञिक सर्वयज्ञमय सर्वयज्ञहृदय सर्वयज्ञसंस्तुत निराश्रय समुद्रेशय अत्रिसम्भव भक्तानुकम्पिन् अभग्नयोग योगधर वासुकि-महामणि विद्योतितविग्रह हरितनयन त्रिलोचन जटाधर नीलकण्ठ चन्द्रार्धधर उमाशरीरार्धहर गजचर्मधर दुस्तरसंसारमहासंहारकर प्रसीद भक्तजनवत्सल।

एवं स्तुतो देवगणैः सुभक्त्या सब्रह्ममुख्यैश्च पितामहेन।
त्यक्त्वा तदा हस्तिरूपं महात्मा लिङ्गे तदा संनिधानं चकार ॥ ३६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

परमात्मन् ! अनन्तयोने ! लोकसाक्षिन् ! परमेष्ठिन् ! भगवन् ! सर्वज्ञ ! क्षेत्रज्ञ ! हे पर और अवरके ज्ञाता ! ज्ञानज्ञेय ! सर्वेश्वर ! महाविरिञ्च ! महाविभूते ! महाक्षेत्रज्ञ ! महापुरुष ! हे सब भूतोंके निवास ! मनोनिवास ! आदिदेव ! महादेव ! सदाशिव ! ईशान ! दुर्विज्ञेय ! दुराराध्य ! महाभूतेश्वर ! परमेश्वर ! महायोगेश्वर ! त्र्यम्बक ! महायोगिन् ! परमब्रह्मन् ! परमज्योति ! ब्रह्मविद् ! उत्तम ! ओंकार ! वषट्कार ! स्वाहाकार ! स्वधाकार ! परमकारण ! सर्वगत ! सर्वदर्शिन् ! सर्वशक्ति ! सर्वदेव ! अज ! सहस्रार्चि ! पृषार्चि ! सुधामन् ! हरधाम ! अनन्तधाम ! संवर्त ! संकर्षण ! वडवानल, अग्नि और सोमस्वरूप ! पवित्र ! महापवित्र ! महामेघ ! महामायाधर ! महाकाम ! कामहन् ! हंस ! परमहंस ! महाराजिक ! महेश्वर ! महाकामुक ! महाहंस ! भवक्षयकर ! हे देवों और सिद्धोंसे पूजित ! हिरण्यवाह ! हिरण्यरेतः ! हिरण्यनाभ ! हिरण्याग्रकेश ! मुञ्जकेशिन् ! सर्वलोकवरप्रद ! सर्वानुग्रहकर ! कमलेशय ! कुशेशय ! हृदयेशय ! ज्ञानोदधे ! शम्भो ! विभो ! महायज्ञ ! महायाज्ञिक ! सर्वयज्ञमय ! सर्वयज्ञहृदय ! सर्वयज्ञसंस्तुत ! निराश्रय ! समुद्रेशय ! अत्रिसंभव ! भक्तानुकम्पिन् ! अभग्नयोग योगधर ! हे वासुकि और महामणिसे द्युतिमान् शिव ! हरितनयन ! त्रिलोचन ! जटाधर ! नीलकण्ठ ! चन्द्रार्धधर ! उमाशरीरार्धहर ! गजचर्मधर ! दुस्तरसंसारका महासंहार करनेवाले महाप्रलयंकर शिव ! हमारा आपको नमस्कार है। भक्तजनवत्सल शङ्कर ! आप हम सबपर प्रसन्न हो।

इस प्रकार पितामह ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवगणोंके साथ भक्तिपूर्वक स्तुति करनेपर उन महात्माने हस्तिरूपका त्यागकर लिङ्गमें सन्निधान (निवास) कर लिया ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्कुमार उवाच

अथोवाच महादेवो देवान् ब्रह्मपुरोगमान् । ऋषीणां चैव प्रत्यक्षं तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ १ ॥
एतत् सांनिहितं प्रोक्तं सरः पुण्यतमं महत् । मयोपसेवितं यस्मात् तस्मान्मुक्तिप्रदायकम् ॥ २ ॥
इह ये पुरुषाः केचिद् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः । लिङ्गस्य दर्शनादेव पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥
अहन्यहनि तीर्थानि आसमुद्रसरांसि च । स्थाणुतीर्थं समेष्यन्ति मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥ ४ ॥

पैंतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सांनिहितसर—स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और स्थाणुलिङ्गका माहात्म्य-वर्णन)

सनत्कुमारने कहा—इसके बाद महादेवने ऋषियोंके सामने (ही) ब्रह्मा आदि देवोंसे परमश्रेष्ठ तीर्थके माहात्म्यको कहा । ऋषियो ! यह सांनिहित नामक सरोवर अत्यन्त पवित्र एवं महान् कहा गया है । यतः मेरे द्वारा यह सेवित किया गया है, अतः यह मुक्ति प्रदान करनेवाला है । यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सभी वर्णोंके पुरुष लिङ्गका दर्शन कर ही परम पदका दर्शन करते हैं । समुद्रसे लेकर सरोवर तकके तीर्थ प्रतिदिन भगवान् सूर्यके आकाशके मध्यमे आ जानेपर (दोपहरमें) स्थाणु तीर्थमें आ जाते हैं ॥ १–४ ॥

स्तोत्रेणानेन च नरो यो मां स्तोष्यति भक्तितः । तस्याहं सुलभो नित्यं भविष्यामि न संशयः ॥ ५ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रो ह्यन्तर्धानं गतः प्रभुः । देवाश्च ऋषयः सर्वे स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ ६ ॥
ततो निरन्तरं स्वर्गं मानुषैर्मिश्रितं कृतम् । स्थाणुलिङ्गस्य माहात्म्यं दर्शनात् स्वर्गमाप्नुयात्॥ ७ ॥
ततो देवाः सर्व एव ब्रह्माणं शरणं ययुः । तानुवाच तदा ब्रह्मा किमर्थमिह चागताः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य इस स्तोत्रसे भक्तिपूर्वक मेरा स्तवन करेगा, उसके लिये मै सदा सुलभ होऊँगा—इसमें कोई संदेह नहीं है । यह कहकर भगवान् शंकर अदृश्य हो गये । सभी देवता तथा ऋषिगण अपने-अपने स्थानको चले गये । उसके बाद पूरा—सारा-का-सारा स्वर्ग मनुष्योंसे भर गया; क्योंकि स्थाणुलिङ्गका यह माहात्म्य है कि उसका दर्शन करनेसे ही स्वर्ग प्राप्त हो जाता है । फिर सभी देवता ब्रह्माकी शरणमे गये. तब ब्रह्माने उनसे पूछा—देवताओ ! आप लोग यहाँ किस कार्यसे आये हैं ? ॥ ५–८ ॥

ततो देवाः सर्व एव इदं वचनमब्रुवन् । मानुषेभ्यो भयं तीव्रं रक्षास्माकं पितामह ॥ ९ ॥
तानुवाच तदा ब्रह्मा सुरांस्त्रिदशनायकः । पांशुना पूर्यतां शीघ्रं सरः शक्र हितं कुरु ॥ १० ॥
ततो ववर्ष भगवान् पांशुना पाकशासनः । सप्ताहं पूरयामास सरो देवैस्तदा वृतः ॥ ११ ॥
तं दृष्ट्वा पांशुवर्षं च देवदेवो महेश्वरः । करेण धारयामास लिङ्गं तीर्थवटं तदा ॥ १२ ॥

तब सभी देवताओंने यह वचन कहा—पितामह ! हम लोगोंको मनुष्योंसे बहुत भारी भय हो रहा है । आप हम सबकी रक्षा करें । उसके बाद देवताओंके नेता ब्रह्माने उन देवोंसे कहा—इन्द्र ! सरोवरको शीघ्र

धूलिसे पाट दो और इस प्रकार इन्द्रका कल्याण करो। ब्रह्माके इस प्रकार समझानेपर पाक नामके राक्षसको मारनेवाले (पाकशासन) भगवान् इन्द्रने देवताओंके साथ सात दिनतक धूलिकी वर्षा की और सरोवरको धूलिसे पाट दिया। देवदेव महेश्वरने देवताओंद्वारा बरसायी गयी इस धूलिकी वर्षाको देखकर लिङ्ग और तीर्थवटको अपने हाथमें ले लिया ॥ ९-१२ ॥

तस्मात् पुण्यतमं तीर्थमाद्यं यत्रोदकं स्थितम्। तस्मिन् स्नातः सर्वतीर्थैः स्नातो भवति मानवः ॥ १३ ॥
यस्तत्र कुरुते श्राद्धं वटलिङ्गस्य चान्तरे। तस्य प्रीताश्च पितरो दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ॥ १४ ॥
पूरितं च ततो दृष्ट्वा ऋषयः सर्व एव ते। पांशुना सर्वगात्राणि स्पृशन्ति श्रद्धया युताः ॥ १५ ॥
तेऽपि निर्धूतपापास्ते पांशुना मुनयो गताः। पूज्यमानाः सुरगणैः प्रयाता ब्रह्मणः पदम् ॥ १६ ॥

इसलिये पहले जिस स्थानपर जल था, वह तीर्थ अत्यन्त पवित्र है। उसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सभी तीर्थोंमें स्नान करनेका फल प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य वट और लिङ्गके बीचमें श्राद्ध करता है उसके पितर उसपर संतुष्ट होकर उसे पृथ्वी-(भर)-में दुर्लभ वस्तु सुलभ कर देते हैं—ऐसा सुनकर वे सभी ऋषि धूलिसे भरे हुए सरोवरको देखकर श्रद्धासे अपने सभी अङ्गोंमें धूलि मलने लगे। वे मुनि भी धूलि मलनेके कारण निष्पाप हो गये और देवताओंसे पूजित होकर ब्रह्मलोक चले गये ॥ १३-१६ ॥

ये तु सिद्धा महात्मानस्ते लिङ्गं पूजयन्ति च। व्रजन्ति परमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥ १७ ॥
एवं ज्ञात्वा तदा ब्रह्मा लिङ्गं शैलमयं तदा। आद्यलिङ्गं तदा स्थाप्य तस्योपरि दधार तत् ॥ १८ ॥
ततः कालेन महता तेजसा तस्य रञ्जितम्। तस्यापि स्पर्शनात् सिद्धः परं पदमवाप्नुयात् ॥ १९ ॥
ततो देवैः पुनर्ब्रह्मा विज्ञप्तो द्विजसत्तम। एते यान्ति परां सिद्धिं लिङ्गस्य दर्शनान्नराः ॥ २० ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा देवानां हितकाम्यया। उपर्युपरि लिङ्गानि सप्त तत्र चकार ह ॥ २१ ॥

जो सिद्ध महात्मा पुरुष लिङ्गकी पूजा करते वे आवागमनसे रहित होकर परमसिद्धिको प्राप्त करने लगे। ऐसा जानकर तब ब्रह्माने उस आदिलिङ्गको नीचे रख उसके ऊपर पाषाणमय लिङ्गको स्थापित कर दिया। कुछ समय बीत जानेपर उसके (आद्य लिङ्गके) तेजसे (वह पाषाण-मूर्ति-लिङ्ग भी) रञ्जित हो गया। सिद्ध-समुदाय उसका भी स्पर्श करनेसे परमपदको प्राप्त करने लगा। द्विजश्रेष्ठ! तत्पश्चात् देवताओंने पुनः ब्रह्माको बतलाया—ब्रह्मन्! ये मनुष्य लिङ्गका दर्शन करके परम सिद्धिको प्राप्त करनेका लाभ उठा रहे हैं। देवताओंसे यह सुनकर भगवान् ब्रह्माने देवताओंके मंगलकी इच्छासे एकके ऊपर एक, इस प्रकार सात लिङ्गोंको स्थापित कर दिया ॥ १७-२१ ॥

ततो ये मुक्तिकामाश्च सिद्धाः शमपरायणाः। सेव्यं पांशुं प्रयत्नेन प्रयाताः परमं पदम् ॥ २२ ॥
पांशवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः। महादुष्कृतकर्माणं प्रयान्ति परमं पदम् ॥ २३ ॥
अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रियो वा पुरुषस्य वा। नश्यते दुष्कृतं सर्वं स्थाणुतीर्थप्रभावतः ॥ २४ ॥
लिङ्गस्य दर्शनान्मुक्तिः स्पर्शनाच्च वटस्य च। तत्संनिधौ जले स्नात्वा प्राप्नोत्यभिमतं फलम् ॥ २५ ॥
पितॄणां तर्पणं यस्तु जले तस्मिन् करिष्यति। बिन्दौ बिन्दौ तु तोयस्य अनन्तफलभाग्भवेत् ॥ २६ ॥

उसके बाद मुक्तिके अभिलाषी शम-(दमादि)-में लगे रहनेवाले सिद्धगण यत्नपूर्वक धूलिका सेवनकर परमपदको प्राप्त करने लगे। (वस्तुतः) कुरुक्षेत्रमें वायुके चलनेसे उडी हुई धूलि भी बडे-बडे पापियोंको मुक्ति दे देती है। किसी स्त्री या पुरुषने चाहे जानेमें या अनजानेसे पाप किया हो तो उसके सारे पाप स्थाणु-तीर्थके प्रभावसे

नष्ट हो जाते हैं। लिङ्गका दर्शन करनेसे और वटका स्पर्श करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है और उसके निकट जलमें स्नान करनेसे मनुष्य मनचाहे फलको प्राप्त करता है। उस जलमें पितरोंका तर्पण करनेवाला व्यक्ति जलके प्रत्येक बिन्दुमें अनन्त फलको प्राप्त करता है ॥ २२—२६ ॥

यस्तु कृष्णतिलैः सार्द्धं लिङ्गस्य पश्चिमे स्थितः। तर्पयेच्छ्रद्धया युक्तः स प्रीणाति युगत्रयम् ॥ २७ ॥
यावन्मन्वन्तरं प्रोक्तं यावल्लिङ्गस्य संस्थितिः। तावत्प्रीताश्च पितरः पिबन्ति जलमुत्तमम् ॥ २८ ॥
कृते युगे सान्निहत्यं त्रेतायां वायुसंज्ञितम्। कलिद्वापरयोर्मध्ये कूपं रुद्रह्रदं स्मृतम् ॥ २९ ॥
चैत्रस्य कृष्णपक्षे च चतुर्दश्यां नरोत्तमः। स्नात्वा रुद्रह्रदे तीर्थे परं पदमवाप्नुयात् ॥ ३० ॥
यस्तु वटे स्थितो रात्रिं ध्यायते परमेश्वरम्। स्थाणोर्वटप्रसादेन मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

लिङ्गसे पश्चिम दिशामें काले तिलोंसे श्रद्धापूर्वक तर्पण करनेवाला व्यक्ति तीन युगोंतक (पितरोंको) तृप्त करता है। जबतक मन्वन्तर है और जबतक लिङ्गकी संस्थिति हैं, तबतक पितृगण संतुष्ट होकर उत्तम जलका पान करते हैं। सत्ययुगमें 'सान्निहत्य' सर, त्रेतामें 'वायु' नामका ह्रद, कलि एवं द्वापरमें 'रुद्रह्रद' नामके कूप सेवनीय माने गये हैं। चैत्रके कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन 'रुद्रह्रद' नामक तीर्थमें स्नान करनेवाला उत्तम पुरुष परमपद—मुक्तिको प्राप्त करता है। रात्रिके समय वटके नीचे रहकर परमेश्वरका ध्यान करनेवालेको स्थाणुवटके अनुग्रह-(दया-)से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है ॥ २७—३१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

[अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः]

सनत्कुमार उवाच

स्थाणोर्वटस्योत्तरतः शुक्रतीर्थं प्रकीर्तितम्। स्थाणोर्वटस्य पूर्वेण सोमतीर्थं द्विजोत्तम ॥ १ ॥
स्थाणोर्वटं दक्षिणतो दक्षतीर्थमुदाहृतम्। स्थाणोर्वटात् पश्चिमतः स्कन्दतीर्थं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
एतानि पुण्यतीर्थानि मध्ये स्थाणुरिति स्मृतः। तस्य दर्शनमात्रेण प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३ ॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यस्त्वेतानि परिक्रमेत्। पदे पदे यज्ञफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ४ ॥

छियालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणु-लिङ्गके समीप असंख्य लिङ्गोंकी स्थापना और उनके दर्शन-अर्चनका माहात्म्य)

सनत्कुमारने कहा—द्विजोत्तम ! स्थाणुवटकी उत्तर दिशामें 'शुक्रतीर्थ' और स्थाणुवटकी पूर्व दिशामें 'सोमतीर्थ' कहा गया है। स्थाणुवटके दक्षिण 'दक्षतीर्थ' एवं स्थाणुवटके पश्चिममें 'स्कन्दतीर्थ' स्थित है। इन परम पावन तीर्थोंके बीचमें 'स्थाणु' नामका तीर्थ है। उसका दर्शन करनेमात्रसे परमपद-(मोक्ष-)की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अष्टमी और चतुर्दशीको इनकी प्रदक्षिणा करता है, वह एक-एक पगपर यज्ञ करनेका फल प्राप्त करता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १—४ ॥

एतानि मुनिभिः साध्यैरादित्यैर्वसुभिस्तदा। मरुद्भिर्वह्निभिश्चैव सेवितानि प्रयत्नतः ॥ ५ ॥
अन्ये ये प्राणिनः केचित् प्रविष्टाः स्थाणुमुत्तमम्। सर्वपापविनिर्मुक्ताः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ६ ॥
अस्ति तत्संनिधौ लिङ्गं देवदेवस्य शूलिनः। उमा च लिङ्गरूपेण हरपार्श्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

तस्य दर्शनमात्रेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः। वटस्य उत्तरे पार्श्वे तक्षकेण महात्मना ॥ ८ ॥
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्वकामप्रदायकम्। वटस्य पूर्वदिग्भागे विश्वकर्मकृतं महत्॥ ९ ॥
लिङ्गं प्रत्यङ्मुखं दृष्ट्वा सिद्धिमाप्नोति मानवः। तत्रैव लिङ्गरूपेण स्थिता देवी सरस्वती॥ १० ॥

मुनियो, साध्यो, आदित्यों, वसुओं, मरुतों एवं अग्नियोंने इन तीर्थोंका यत्नपूर्वक सेवन किया है। जो भी अन्य कोई प्राणी उस उत्तम स्थाणुतीर्थमे प्रवेश करते हैं वे भी सभी पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करते हैं। उसीके निकट त्रिशूल धारण करनेवाले देवदेव भगवान् शंकरका लिङ्ग है। उमादेवी वहाँपर लिङ्गरूपमें रहनेवाले शंकरजीके पासमें ही रहती हैं; वे उनकी बगलसे अलग नहीं होतीं। उस लिङ्गके दर्शन करनेमात्रसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है। वटके उत्तरी भागमें महात्मा तक्षकने सभी कामनाओंको सिद्ध करनेवाले महालिङ्गको प्रतिष्ठित किया है। वटके पूरबमें विश्वकर्माके द्वारा निर्मित किया गया महान् लिङ्ग है। पश्चिमकी ओर रहनेवाले लिङ्गका दर्शन कर मानवको सिद्धि प्राप्त होती है। वहींपर देवी सरस्वती लिङ्गरूपसे स्थित हैं॥ ५—१० ॥

प्रणम्य तां प्रयत्नेन बुद्धिं मेधां च विन्दति। वटपार्श्वे स्थितं लिङ्गं ब्रह्मणा तत् प्रतिष्ठितम्॥ ११ ॥
दृष्ट्वा वटेश्वरं देवं प्रयाति परमं पदम्। ततः स्थाणुवटं दृष्ट्वा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्॥ १२ ॥
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा। स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे नकुलीशो गणः स्मृतः॥ १३ ॥
तमभ्यर्च्य प्रयत्नेन सर्वपापैः प्रमुच्यते। तस्य दक्षिणदिग्भागे तीर्थं रुद्रकरं स्मृतम्॥ १४ ॥

मनुष्य उन्हें प्रयत्न-(श्रद्धा-विधि-) पूर्वक प्रणाम कर बुद्धि एवं तीव्र मेधा प्राप्त करता है। वटकी बगलमें ब्रह्माके द्वारा प्रतिष्ठापित वटेश्वर-लिङ्गका दर्शन करके मनुष्य परम पदको प्राप्त करता है। तत्पश्चात् जिसने स्थाणुवटका दर्शन और प्रदक्षिणा कर ली उसकी वह मानो सातों द्वीपवाली पृथिवीकी की हुई प्रदक्षिणा हो जाती है। स्थाणुकी पश्चिम दिशाकी ओर 'नकुलीश' नामके गण स्थित हैं। विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला मनुष्य सभी प्रकारके पापोंसे छूट जाता है। उनकी दक्षिण दिशामें 'रुद्रकरतीर्थ' है॥ ११—१४ ॥

तस्मिन् स्नातः सर्वतीर्थे स्नातो भवति मानवः। तस्य चोत्तरदिग्भागे रावणेन महात्मना॥ १५ ॥
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं गोकर्णं नाम नामतः।
आषाढमासे या कृष्णा भविष्यति चतुर्दशी। तस्यां योऽर्चति गोकर्णं तस्य पुण्यफलं शृणु॥ १६ ॥
कामतोऽकामतो वापि यत् पापं तेन संचितम्। तस्माद् विमुच्यते पापात् पूजयित्वा हरं शुचिः॥१७॥
कौमारब्रह्मचर्येण यत्पुण्यं प्राप्यते नरैः। तत्पुण्यं सकलं तस्य अष्टम्यां योऽर्चयेच्छिवम्॥ १८ ॥

जिसने उस-(रुद्रकरतीर्थ-)में स्नान कर लिया मानो उसने सभी तीर्थोंमें स्नान कर लिया। उसकी उत्तर दिशाकी ओर महात्मा रावणने गोकर्ण नामका प्रसिद्ध महालिङ्ग स्थापित किया है। आषाढमासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिमें जो गोकर्णकी अर्चना करता है उसके पुण्यफलको सुनो। यदि किसीने अपनी इच्छा या अनिच्छासे भी पापसंचय कर लिया है तो वह भगवान् शंकरकी पूजा करके पवित्र हो जाता है और वह संचित पापसे छूट जाता है। जो अष्टमी तिथिमें शिवका पूजन करता है उसे कौमार-अवस्था-(जन्मसे १६ वर्षकी अवस्था-)में ब्रह्मचर्य-पालनसे जो फल प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण पुण्य-फल उसे प्राप्त होता है॥ १५—१८ ॥

यदीच्छेत् परमं रूपं सौभाग्यं धनसंपदः। कुमारेश्वरमाहात्म्यात् सिद्ध्यते नात्र संशयः॥ १९ ॥
तस्य चोत्तरदिग्भागे लिङ्गं पूज्य विभीषणः। अजरश्चामरश्चैव कल्पयित्वा बभूव ह॥ २० ॥
आषाढस्य तु मासस्य शुक्ला या चाष्टमी भवेत्। तस्यां पूज्य सोपवासो ह्यमृतत्वमवाप्नुयात्॥ २१ ॥
खरेण पूजितं लिङ्गं तस्मिन् स्थाने द्विजोत्तम। तं पूजयित्वा यत्नेन सर्वकामानवाप्नुयात्॥ २२ ॥

※

यदि मनुष्य उत्तम सौन्दर्य, सौभाग्य या धन-सम्पत्ति चाहता है तो (उसे कुमारेश्वरकी आराधना करनी चाहिये; क्योंकि) कुमारेश्वरके माहात्म्यसे उसे निस्सन्देह उन सबकी सिद्धि प्राप्त होती है। उन-(कुमारेश्वर-)के उत्तर भागमें विभीषणने शिव-लिङ्गको स्थापित कर उसकी पूजा की, जिससे वे अजर और अमर हो गये। आषाढ़ महीनेके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको उपवास रहकर उसकी पूजा करनेवाला मनुष्य देवत्व प्राप्त कर लेता है। द्विजोत्तम! खरने वहाँपर लिङ्गकी पूजा की थी। उस लिङ्गकी विधिपूर्वक पूजा करनेवालेकी सभी कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं॥ १९–२२॥

दूषणस्त्रिशिराश्चैव तत्र पूज्य महेश्वरम्। यथाभिलषितान् कामानापतुस्तौ मुदान्वितौ॥ २३॥
चैत्रमासे सिते पक्षे यो नरस्तत्र पूजयेत्। तस्य तौ वरदौ देवौ प्रयच्छेतेऽभिवाञ्छितम्॥ २४॥
स्थाणोर्वटस्य पूर्वेण हस्तिपादेश्वरः शिवः। तं दृष्ट्वा मुच्यते पापैरन्यजन्मनि संभवैः॥ २५॥
तस्य दक्षिणतो लिङ्गं हारीतस्य ऋषेः स्थितम्। यत् प्रणम्य प्रयत्नेन सिद्धिं प्राप्नोति मानवः॥ २६॥

दूषण एवं त्रिशिराने भी वहाँ महेश्वरकी पूजा की और वे प्रसन्न हो गये। उन दोनोंने अभिवाञ्छित मनोरथ प्राप्त कर लिये। चैत्र महीनेके शुक्लपक्षमे जो मनुष्य वहाँ पूजन करता है, उसकी समस्त इच्छाएँ वे दोनों देव पूरी कर देते हैं। 'हस्तिपादेश्वर' शिव स्थाणुवटकी पूर्व दिशामें हैं। उनका दर्शन करके मनुष्य अन्य जन्मोंमें बने पापोंसे छूट जाता है। उसके दक्षिणमें हारीत नामके ऋषिद्वारा स्थापित किया हुआ लिङ्ग है जिसको विधिपूर्वक प्रणाम करनेसे (ही) मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है॥ २३–२६॥

तस्य दक्षिणपार्श्वे तु वापीतस्य महात्मनः। लिङ्गं त्रैलोक्यविख्यातं सर्वपापहरं शिवम्॥ २७॥
कङ्कालरूपिणा चापि रुद्रेण सुमहात्मना। प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्वपापप्रणाशनम्॥ २८॥
भुक्तिदं मुक्तिदं प्रोक्तं सर्वकिल्बिषनाशनम्। लिङ्गस्य दर्शनाच्चैव अग्निष्टोमफलं लभेत्॥ २९॥
तस्य पश्चिमदिग्भागे लिङ्गं सिद्धप्रतिष्ठितम्। सिद्धेश्वरं तु विख्यातं सर्वसिद्धिप्रदायकम्॥ ३०॥

उसके निकट दक्षिण भागमें महात्मा वापीतके द्वारा संस्थापित सभी पापोंका हरण करनेवाला कल्याणकर्ता लिङ्ग है जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। कंकालके रूपमें रहनेवाले महात्मा भगवान् रुद्रने भी समस्त पापोका नाश करनेवाला महालिङ्ग प्रतिष्ठित किया है। महात्मा रुद्रद्वारा प्रतिष्ठापित वह लिङ्ग भुक्ति एवं मुक्तिका देनेवाला तथा सभी पापोंको नष्ट करनेवाला है। उस लिङ्गका दर्शन करनेसे ही अग्निष्टोम यज्ञके फलकी प्राप्ति हो जाती है। उसकी पश्चिम दिशामें सिद्धोंद्वारा प्रतिष्ठित सिद्धेश्वर नामसे विख्यात लिङ्ग है। वह सर्वसिद्धिप्रदाता है॥ २७–३०॥

तस्य दक्षिणदिग्भागे मृकण्डेन महात्मना। तत्र प्रतिष्ठितं लिङ्गं दर्शनात् सिद्धिदायकम्॥ ३१॥
तस्य पूर्वे च दिग्भागे आदित्येन महात्मना। प्रतिष्ठितं लिङ्गवरं सर्वकिल्बिषनाशनम्॥ ३२॥
चित्राङ्गदस्तु गन्धर्वो रम्भा चाप्सरसां वरा। परस्परं सानुरागौ स्थाणुदर्शनकाङ्क्षिणौ॥ ३३॥
दृष्ट्वा स्थाणुं पूजयित्वा सानुरागौ परस्परम्। आराध्य वरदं देवं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम्॥ ३४॥

उसकी दक्षिण दिशामें महात्मा मृकण्डने (शिव-) लिङ्गकी स्थापना की है। उस लिङ्गके दर्शन करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। उसके पूर्व भागमें महात्मा आदित्यने सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठ लिङ्गको प्रतिष्ठापित किया है। अप्सराओंमें श्रेष्ठ रम्भा और चित्राङ्गद नामके गन्धर्व—इन दोनोंने परस्परमें प्रेमपूर्वक स्थाणु भगवान्‌के दर्शन किये; फिर उनका पूजन किया और तब वरदानी देवकी स्थापनाकर आराधना की। (उनसे स्थापित लिङ्गोंका नाम हुआ चित्राङ्गद और रम्भेश्वर)॥ ३१–३४॥

चित्राङ्गदेश्वरं दृष्ट्वा तथा रम्भेश्वरं द्विज। सुभगो दर्शनीयश्च कुले जन्म समाप्नुयात्॥ ३५॥
तस्य दक्षिणतो लिङ्गं वज्रिणा स्थापितं पुरा। तस्य प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम्॥ ३६॥
पराशरेण मुनिना तथैवाराध्य शंकरम्। प्राप्तं कवित्वं परमं दर्शनाच्छंकरस्य च॥ ३७॥
वेदव्यासेन मुनिना आराध्य परमेश्वरम्। सर्वज्ञत्वं ब्रह्मज्ञानं प्राप्तं देवप्रसादतः॥ ३८॥

द्विज ! चित्राङ्गदेश्वर एवं रम्भेश्वरका दर्शन करके मनुष्य सुन्दर और दर्शनीय (रूपवाला) हो जाता है एवं सत्कुलमें जन्म ग्रहण करता है। उसके दक्षिण भागमें इन्द्रने प्राचीन कालमें लिङ्गकी स्थापना की थी। इन्द्रद्वारा प्रतिष्ठापित लिङ्गके प्रसादसे मनुष्य मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार पराशर मुनिने शंकरकी आराधना की और भगवान् शंकरके दर्शनसे उत्कृष्ट कवित्वको प्राप्त किया। वेदव्यास मुनिने परमेश्वर-(शंकर-) की आराधना की और उनकी कृपासे सर्वज्ञता तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया॥ ३५—३८॥

स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे वायुना जगदायुना। प्रतिष्ठितं महालिङ्गं दर्शनात् पापनाशनम्॥ ३९॥
तस्यापि दक्षिणे भागे लिङ्गं हिमवतेश्वरम्। प्रतिष्ठितं पुण्यकृतां दर्शनात् सिद्धिकारकम्॥ ४०॥
तस्यापि पश्चिमे भागे कार्तवीर्येण स्थापितम्। लिङ्गं पापहरं सद्यो दर्शनात् पुण्यमाप्नुयात्॥ ४१॥
तस्याप्युत्तरदिग्भागे सुपार्श्वे स्थापितं पुनः। आराध्य हनुमांश्चाप सिद्धिं देवप्रसादतः॥ ४२॥

स्थाणुके पश्चिम भागमे जगत्के प्राण-स्वरूप (जगत्प्राण) वायुने महालिङ्गको प्रतिष्ठित किया है, जो दर्शनमात्रसे ही पापका विनाश कर देता है। उसके भी दक्षिण भागमें हिमवतेश्वर लिङ्ग प्रतिष्ठित है। पुण्यात्माओंने उसे प्रतिष्ठित किया है। उसका दर्शन सिद्धि देनेवाला है। उसके पश्चिम भागमें कार्तवीर्यने (एक) लिङ्गकी स्थापना की है। (यह लिङ्ग) पापका तत्काल हरण करनेवाला है। (इसके) दर्शन करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। उसके भी उत्तरकी ओर बिल्कुल निकट स्थानमें (एक) लिङ्गकी स्थापना हुई है; हनुमान्ने उस लिङ्गकी आराधना कर शंकरकी कृपासे सिद्धि प्राप्त की॥ ३९—४२॥

तस्यैव पूर्वदिग्भागे विष्णुना प्रभविष्णुना। आराध्य वरदं देवं चक्रं लब्धं सुदर्शनम्॥ ४३॥
तस्यापि पूर्वदिग्भागे मित्रेण वरुणेन च। प्रतिष्ठितौ लिङ्गवरौ सर्वकामप्रदायकौ॥ ४४॥
एतानि मुनिभिः साध्यैरादित्यैर्वसुभिस्तथा। सेवितानि प्रयत्नेन सर्वपापहराणि वै॥ ४५॥
स्वर्णलिङ्गस्य पश्चात्तु ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते॥ ४६॥
तथा ह्युत्तरतस्तस्य यावदोघवती नदी। सहस्रमेकं लिङ्गानां देवपश्चिमतः स्थितम्॥ ४७॥

उसके भी पूर्व भागमें प्रभावशाली विष्णुने वरदाता महादेवकी आराधना कर सुदर्शन चक्र प्राप्त किया था। उसके भी पूर्व भागमें मित्र एवं वरुणने सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति करनेवाले दो लिङ्गोंकी स्थापना की है। ये दोनों लिङ्ग सभी प्रकारके पापोंका विनाश करनेवाले हैं। मुनियों, साध्यों, आदित्यों एवं वसुओंद्वारा इन लिङ्गोंकी उत्साहपूर्वक सेवा की गयी है। तत्त्वदर्शी ऋषियोंने स्वर्णलिङ्गके पीछेकी ओर जिन लिङ्गोंको प्रतिष्ठित किया है, उनकी संख्या नहीं गिनी जा सकती। उसी प्रकार स्वर्णलिङ्गके उत्तर ओघवती नदीतक पश्चिमकी ओर महादेवके एक हजार लिङ्ग स्थित हैं॥ ४३—४७॥

तस्यापि पूर्वदिग्भागे वालखिल्यैर्महात्मभिः। प्रतिष्ठिता रुद्रकोटिर्यावत्संनिहितं सरः॥ ४८॥
दक्षिणेन तु देवस्य गन्धर्वैर्यक्षकिन्नरैः। प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते॥ ४९॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च लिङ्गानां वायुरब्रवीत्। असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः स्थाणुमाश्रिताः॥ ५०॥
एतज्ज्ञात्वा श्रद्दधानः स्थाणुलिङ्गं समाश्रयेत्। यस्य प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम्॥ ५१॥

उस-(नदी-)के पूर्वी भागमें महात्मा वालखिल्योने संनिहित सरोवरतक करोड़ों रुद्रोंकी स्थापना की है। गन्धर्वों, यक्षों एवं किन्नरोंने दक्षिण दिशाकी ओर भगवान् शंकरके असंख्य लिङ्गोंकी स्थापना की है। वायुका कहना है कि साढ़े तीन करोड़ लिङ्गोंकी स्थापना हुई है। स्थाणुतीर्थमें अनन्त सहस्र रुद्र-लिङ्ग विद्यमान हैं। मनुष्यको चाहिये कि श्रद्धाके साथ स्थाणु-लिङ्गका आश्रय ले। इससे स्थाणु-लिङ्गकी दयासे मनोवाञ्छित फल मिलता है ॥ ४८—५१ ॥

अकामो वा सकामो वा प्रविष्टः स्थाणुमन्दिरम्। विमुक्तः पातकैर्घोरैः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ५२ ॥
चैत्रमासे त्रयोदश्यां दिव्यनक्षत्रयोगतः। शुक्रार्कचन्द्रसंयोगे दिने पुण्यतमे शुभे ॥ ५३ ॥
प्रतिष्ठितं स्थाणुलिङ्गं ब्रह्मणा लोकधारिणा। ऋषिभिर्देवसंघैश्च पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ५४ ॥
तस्मिन् काले निराहारा मानवाः श्रद्धयान्विताः। पूजयन्ति शिवं ये वै ते यान्ति परमं पदम् ॥ ५५ ॥
तदारूढमिदं ज्ञात्वा ये कुर्वन्ति प्रदक्षिणम्। प्रदक्षिणीकृता तैस्तु सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥ ५६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य निष्काम या सकामभावसे स्थाणु-मन्दिरमें प्रवेश करता है, वह घोर पापोंसे छुटकारा पाकर परम पदको प्राप्त करता है। जब चैत महीनेकी त्रयोदशी तिथिमें दिव्य नक्षत्रोंका योग हुआ और उसमें शुक्र, सूर्य, चन्द्रका (शुभ) संयोग हुआ तब अतीव पवित्र शुभ दिनमें जगत्का धारण और पोषण करनेवाले ब्रह्माने स्थाणु-लिङ्गको प्रतिष्ठापित किया। ऋषियों एवं देवताओंके द्वारा अनन्त वर्षोंतक अर्थात् सदैव इसकी अर्चना होती रहेगी। जो मनुष्य उस समय निराहार रहते हुए व्रत करके श्रद्धासे शिवकी पूजा करता है, वह परम पदको प्राप्त करता है। जिन मनुष्योंने स्थाणु-लिङ्गको शिवसे आरूढ (निविष्ट) मानकर उसकी प्रदक्षिणा की, उन्होने मानो सात द्वीपवाली पृथिवीकी प्रदक्षिणा कर ली ॥ ५२—५६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छियालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

[अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

स्थाणुतीर्थप्रभावं तु श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने। केन सिद्धिरथ प्राप्ता सर्वपापभयापहा ॥ १ ॥

सैंतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणुतीर्थके सन्दर्भमें राजा वेनका चरित्र, पृथु-जन्म और उनका अभिषेक, वेनके उद्धारके लिये पृथुका प्रयत्न और वेनकी शिव-स्तुति)

मार्कण्डेयजीने कहा—मुने! अब मैं आपसे स्थाणुतीर्थके प्रभावको सुनना चाहता हूँ। इस तीर्थमें किसने सभी प्रकारके पापों एवं भयोंको दूर करनेवाली सिद्धि प्राप्त की? ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

शृणु सर्वमशेषेण स्थाणुमाहात्म्यमुत्तमम्। यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥ २ ॥
एकार्णवे जगत्यस्मिन् नष्टे स्थावरजङ्गमे।
विष्णोर्नाभिसमुद्भूतं पद्ममव्यक्तजन्मनः। तस्मिन् ब्रह्मा समुद्भूतः सर्वलोकपितामहः ॥ ३ ॥

तस्मान्मरीचिरभवन्मरीचेः कश्यपः सुतः । कश्यपादभवद् भास्वांस्तस्मान्मनुरजायत ॥ ४ ॥
मनोस्तु क्षुवतः पुत्र उत्पन्नो मुखसंभवः । पृथिव्यां चतुरन्तायां राजासीद् धर्मरक्षिता ॥ ५ ॥
तस्य पत्नी बभूवाथ भया नाम भयावहा । मृत्योः सकाशादुत्पन्ना कालस्य दुहिता तदा ॥ ६ ॥

सनत्कुमारने कहा (उत्तर दिया)—मार्कण्डेय ! तुम स्थाणुके उत्तम माहात्म्यको पूर्णतया सुनो, जिसको सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे बिल्कुल छूट जाता है । इस अचर-सचर संसारके प्रलयकालीन समुद्रमें विलीन हो जानेपर अव्यक्तजन्मवाले विष्णुकी नाभिसे एक कमल उत्पन्न हुआ । उससे समस्त लोकोंके पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए । उनसे मरीचि हुए और मरीचिके पुत्र हुए कश्यप । कश्यपसे सूर्य उत्पन्न हुए एवं उनसे उत्पन्न हुए मनु । मनुके छींकनेपर उनके मुँहसे एक पुत्रकी उत्पत्ति हुई । वह सारी पृथ्वीके धर्मकी रक्षा करनेवाला राजा हुआ । उस राजाकी भया नामकी पत्नी हुई, जो (सचमुच) भय उत्पन्न करनेवाली थी । वह कालकी कन्या थी और मृत्युके गर्भसे उत्पन्न हुई थी ॥ २—६ ॥

तस्यां समभवद् वेनो दुरात्मा वेदनिन्दकः । स दृष्ट्वा पुत्रवदनं क्रुद्धो राजा वनं ययौ ॥ ७ ॥
तत्र कृत्वा तपो घोरं धर्मेणावृत्य रोदसी । प्राप्तवान् ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ ८ ॥
वेनो राजा समभवत् समस्ते क्षितिमण्डले । स मातामहदोषेण तेन कालात्मजात्मजः ॥ ९ ॥
घोषयामास नगरे दुरात्मा वेदनिन्दकः । न दातव्यं न यष्टव्यं न होतव्यं कदाचन ॥ १० ॥

(फिर तो) उससे वेनने जन्म लिया जो दुष्टात्मा था तथा वेदोंकी निन्दा करनेवाला था । उस पुत्रके मुखको देखकर राजा क्रुद्ध हो गया और वनमें चला गया । उसने वहाँ घोर तपस्या की तथा पृथ्वी एवं आकाशके बीचके स्थानको धर्मसे व्याप्तकर नहीं लौटनेवाले स्थान उस ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया । (और इधर) वेन सम्पूर्ण भूमण्डलका राजा हो गया । अपने नानाके उस दोषके कारण कालकन्या भयाके उस दुष्टात्मा वेद-निन्दक पुत्रने नगरमें यह घोषणा करा दी कि कभी भी (कोई) दान न दे, यज्ञ न करे एवं हवन न करे—(दान, यज्ञ, हवन करना अपराध माना जायेगा)॥ ७—१० ॥

अहमेकोऽत्र वै वन्द्यः पूज्योऽहं भवतां सदा । मया हि पालिता यूयं निवसध्वं यथासुखम् ॥ ११ ॥
तन्मत्तोऽन्यो न देवोऽस्ति युष्माकं यः परायणम् । एतच्छ्रुत्वा तु वचनमृषयः सर्व एव ते ॥ १२ ॥
परस्परं समागम्य राजानं वाक्यमब्रुवन् । श्रुतिः प्रमाणं धर्मस्य ततो यज्ञः प्रतिष्ठितः ॥ १३ ॥
यज्ञैर्विना नो प्रीयन्ते देवाः स्वर्गनिवासिनः । अप्रीता न प्रयच्छन्ति वृष्टिं सस्यस्य वृद्धये ॥ १४ ॥
तस्माद् यज्ञैश्च देवैश्च धार्यते सचराचरम् । एतच्छ्रुत्वा क्रोधदृष्टिर्वेनः प्राह पुनः पुनः ॥ १५ ॥

इस संसारमें एकमात्र मैं ही आप लोगोंका वन्दनीय और पूजनीय हूँ । आप लोग मुझसे रक्षित रहकर आनन्दपूर्वक निवास करें । मुझसे भिन्न कोई दूसरा देवता नहीं है, जो आप लोगोंका उत्तम आश्रय हो सके । वेनके इस वचनको सुननेके पश्चात् सभी ऋषियोंने आपसमें मिलकर (निश्चय किया और) राजासे यह वचन कहा—राजन् ! धर्मके विषयमें वेद (-शास्त्र) ही प्रमाण हैं । उन्हींसे यज्ञ विहित हैं, प्रतिष्ठित हैं—विष्णु-रूपमें मान्य हैं । (उन) यज्ञोंके किये बिना स्वर्गमें रहनेवाले देवता सन्तुष्ट नहीं होते और बिना सन्तुष्ट हुए वे अन्नकी वृद्धिके लिये जलकी वृष्टि नहीं करते । अतः विष्णुमय यज्ञों और देवताओंसे ही चर-अचर समस्त संसारका धारण और पोषण होता है । यह सुनकर वेन क्रोधसे आँखें लालकर बार-बार कहने लगा—॥ ११—१५॥

न यष्टव्यं न दातव्यमित्याह क्रोधमूर्च्छितः। ततः क्रोधसमाविष्टा ऋषयः सर्व एव ते ॥ १६ ॥
निजघ्नुर्मन्त्रपूतैस्ते कुशैर्वज्रसमन्वितैः। ततस्त्वराजके लोके तमसा संवृते तदा ॥ १७ ॥
दस्युभिः पीड्यमानास्तान् ऋषींस्ते शरणं ययुः। ततस्ते ऋषयः सर्वे ममन्थुस्तस्य वै करम् ॥ १८ ॥
सव्यं तस्मात् समुत्तस्थौ पुरुषो ह्रस्वदर्शनः। तमूचुर्ऋषयः सर्वे निषीदतु भवानिति ॥ १९ ॥

क्रोधसे झल्लाकर (तिलमिलाकर) उसने 'न यज्ञ करना होगा और न दान देना होगा'—ऐसा कहा। उसके बाद ऋषियोंने भी क्रुद्ध होकर मन्त्रद्वारा वज्रमय कुशोंसे उसे मार डाला। उसके (मर जानेके) बाद (राजासे रहित) संसारमें अराजकता छा गयी, जिससे सर्वत्र अशान्ति फैल गयी। चोरों-डाकुओंने लोकजनोंको पीडित कर डाला। दस्युदशोंसे त्रस्त जनवर्ग उन ऋषियोंकी शरणमें गया, जिस ऋषिवर्गने उस वेनको मार डाला था। उसके बाद उन सभी ऋषियोंने उसके बायें हाथको मथित किया। उससे एक पुरुष निकला जो छोटा बौना दीख रहा था। सभी ऋषियोंने उससे कहा—'निषीदतु भवान्' अर्थात् आप बैठें ॥ १६-१९ ॥

तस्मान्निषादा उत्पन्ना वेनकल्मषसंभवाः। ततस्ते ऋषयः सर्वे ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥ २० ॥
मथ्यमाने करे तस्मिन् उत्पन्नः पुरुषोऽपरः। बृहत्सालप्रतीकाशो दिव्यलक्षणलक्षितः ॥ २१ ॥
धनुर्बाणाङ्कितकरश्चक्रध्वजसमन्वितः। तमुत्पन्नं तदा दृष्ट्वा सर्वे देवाः सवासवाः ॥ २२ ॥
अभ्यषिञ्चन् पृथिव्यां तं राजानं भूमिपालकम्। ततः स रञ्जयामास धर्मेण पृथिवीं तदा ॥ २३ ॥

उस बायें हाथके मथनेसे निकले हुए बौने पुरुषसे ऋषियोंद्वारा 'निषीदतु भवान्' कहनेके कारण 'निषीदतु' के आधारपर निषादोंकी उत्पत्ति हुई जो वेनकी पापमूर्ति थे। इसके बाद उस बौने पुरुषको राज्यकार्य-संचालनमें अनुपयुक्त समझकर उन सभी ऋषियोंने (पुनः मरे हुए) वेनके दायें हाथको मथा। उस हाथके मथे जानेपर बड़े शालवृक्षकी भाँति और दिव्य लक्षणोंसे युक्त एक दूसरा पुरुष निकला। उसके हाथमें धनुष, बाण, चक्र और ध्वजाकी रेखाएँ थीं। उस समय उसे उत्पन्न हुआ देखकर इन्द्रके सहित सभी देवताओंने उसको पृथ्वीमें भूलोकका पालन करनेवाले राजाके रूपमें (राजपदपर) अभिषिक्त कर दिया। उसके बाद उसने पृथिवीका धर्मपूर्वक रञ्जन किया—प्रजाको प्रसन्न रखा ॥ २०-२३ ॥

पित्राऽपरञ्जिता तस्य तेन सा परिपालिता। तत्र राजेतिशब्दोऽस्य पृथिव्या रञ्जनादभूत् ॥ २४ ॥
स राज्यं प्राप्य तेभ्यस्तु चिन्तयामास पार्थिवः। पिता मम अधर्मिष्ठो यज्ञव्युच्छित्तिकारकः ॥ २५ ॥
कथं तस्य क्रिया कार्या परलोकसुखावहा। इत्येवं चिन्तयानस्य नारदोऽभ्याजगाम ह ॥ २६ ॥
तस्मै स चासनं दत्त्वा प्रणिपत्य च पृष्टवान्। भगवन् सर्वलोकस्य जानासि त्वं शुभाशुभम् ॥ २७ ॥
पिता मम दुराचारो देवब्राह्मणनिन्दकः। स्वकर्मरहितो विप्र परलोकमवाप्तवान् ॥ २८ ॥

उसके पिताने जिस जनताको अपने कुकृत्योंसे अपरागवाली बना दिया था उसी जनताको उसने भलीभाँति पालित किया। सारी पृथ्वीका रञ्जन करनेके कारण ही उसे यथार्थरूपमें 'राजा' शब्दसे सम्बोधित किया जाने लगा। वह पृथ्वीपति राजा उनसे राज्य प्राप्त कर चिन्तन करने लगा कि मेरे पिता अधर्मी, पाप-मति और यज्ञका विशेषतया उच्छेद करनेवाले थे। इसलिये कौन-सी क्रिया की जाय जो उन्हें परलोकमें सुख देनेवाली हो। (उसी समय) इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसके पास नारदजी आ गये। उसने उन नारदजीको बैठनेके लिये आसन दिया और साष्टाङ्ग प्रणाम कर पूछा—भगवन्! आप सारे संसारके प्राणियोंके शुभ और अशुभको जानते हैं; (देखें,) मेरे पिता देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाले दुराचारी थे। विप्रदेव! वे अपने कर्तव्य कर्मसे रहित थे और अब वे परलोक चले गये हैं (उनकी गतिके लिये मुझे कौन-सी क्रिया करनी चाहिये?) ॥ २४-२८ ॥

ततोऽब्रवीन्नारदस्तं ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा । म्लेच्छमध्ये समुत्पन्नं क्षयकुष्ठसमन्वितम् ॥ २९ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य नारदस्य महात्मनः । चिन्तयामास दुःखार्तः कथं कार्यं मया भवेत् ॥ ३० ॥
इत्येवं चिन्तयानस्य मतिर्जाता महात्मनः । पुत्रः स कथ्यते लोके यः पितॄंस्त्रायते भयात् ॥ ३१ ॥
एवं संचिन्त्य स तदा नारदं पृष्टवान् मुनिम् । तारणं मत्पितुस्तस्य मया कार्यं कथं मुने ॥ ३२ ॥

उसके बाद नारदभगवान् अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर उससे बोले—राजन् ! तुम्हारे पिता म्लेच्छोंके बीचमें जन्मे हैं। उन्हे क्षयरोग और कुष्ठरोग हो गया है। महात्मा नारदके ऐसे वचनको सुनकर वह राजा दुखी हो गया और विचारने लगा कि अब मुझे क्या करना चाहिये। इस प्रकार सोचते-विचारते उस महात्मा राजाको बुद्धि उत्पन्न हुई कि ससारमें पुत्र उसको कहते हैं जो पितरोंको नरकके भयसे तार दे। इस प्रकार विचार करके उस राजाने नारदमुनिसे पूछा—मुने ! मेरे उस दिवगत पिताके उद्धारके लिये मुझे क्या करना चाहिये ? ॥ २९–३२ ॥

नारद उवाच

गच्छ त्वं तस्य तं देहं तीर्थेषु कुरु निर्मलम् । यत्र स्थाणोर्महत्तीर्थं सरः संनिहितं प्रति ॥ ३३ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं नारदस्य महात्मनः । सचिवे राज्यमाधाय राजा स तु जगाम ह ॥ ३४ ॥
स गत्वा चोत्तरां भूमिं म्लेच्छमध्ये ददर्श ह । कुष्ठरोगेण महता क्षयेण च समन्वितम् ॥ ३५ ॥
ततः शोकेन महता संतप्तो वाक्यमब्रवीत् । हे म्लेच्छा नौमि पुरुषं स्वगृहं च नयाम्यहम् ॥ ३६ ॥

नारदजीने कहा—तुम स्थाणु भगवान्के महान् तीर्थस्वरूप संनिहित नामके सरोवरकी ओर जाओ एवं उसकी उस देहको तीर्थोंमें शुद्ध करो। वह राजा महात्मा नारदकी यह बात सुन करके मन्त्रीके ऊपर राज्य-भार सौंपकर वहाँ चला गया। उसने उत्तर दिशामें जाकर म्लेच्छोंके बीच महान् कुष्ठ और क्षयरोगसे पीड़ित अपने पिताको देखा। तब महान् शोकसे सन्तप्त होकर उसने कहा कि म्लेच्छो ! मैं इस पुरुषको प्रणाम करता हूँ और इसे अपने घर ले जाता हूँ ॥ ३३–३६ ॥

तत्राहमेनं निरुजं करिष्ये यदि मन्यथ । तथेति सर्वे ते म्लेच्छाः पुरुषं तं दयापरम् ॥ ३७ ॥
ऊचुः प्रणतसर्वाङ्गा यथा जानासि तत्कुरु । तत आनीय पुरुषाञ्छिबिकावाहनोचितान् ॥ ३८ ॥
दत्त्वा शुल्कं च द्विगुणं सुखेन नयत द्विजम् । ततः श्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो दयावतः ॥ ३९ ॥
गृहीत्वा शिबिकां क्षिप्रं कुरुक्षेत्रेण यान्ति ते । तत्र नीत्वा स्थाणुतीर्थे अवतार्य च ते गताः ॥ ४० ॥

यदि तुम लोग उचित समझो तो मैं इस पुरुषको वहाँ ले जाकर रोगसे मुक्त करूँ। वे सभी म्लेच्छ उस दयालु पुरुषसे साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए बोले—ठीक है; जैसा समझो, वैसा करो। उसके बाद उसने पालकी ढोनेवाले योग्य पुरुषोंको बुलाकर और उन्हें दुगुना पारिश्रमिक देकर कहा—इस द्विजको सुखपूर्वक ले चलो। उस दयालु राजाकी बात सुनकर वे लोग पालकी उठाकर शीघ्रतासे कुरुक्षेत्र होते हुए स्थाणुतीर्थमें ले जाकर और (उसे) उतारकर (स्वस्थान) चले गये ॥ ३७–४० ॥

ततः स राजा मध्याह्ने तं स्नापयति वै तदा । ततो वायुरन्तरिक्षे इदं वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
मा तात साहसं कार्षीस्तीर्थं रक्ष प्रयत्नतः । अयं पापेन घोरेण अतीव परिवेष्टितः ॥ ४२ ॥
वेदनिन्दा अधर्मार्थं यस्मात्सो नैव रक्ष्यते । सोऽयं स्नानान्महत्तीर्थं नाशयिष्यति तत्क्षणात् ॥ ४३ ॥
एतद् वायोर्वचः श्रुत्वा दुःखेन महताऽन्वितः ।
उवाच शोकसंतप्तस्तस्य दुःखेन दुःखितः । एष घोरेण पापेन अतीव परिवेष्टितः ॥ ४४ ॥

स्थाणु तीर्थमें पहुँचनेपर जब वह राजा म्लेच्छोंके बीच उत्पन्न हुआ एवं क्षय और कुष्ठरोगसे आक्रान्त अपने पिताकी देहको मध्याह्न कालमें स्नान कराने लगा तो अन्तरिक्षमें वायुरूपसे देवताओंने यह वचन कहा कि तात ! इस प्रकारका साहस मत करो। तीर्थकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो। यह अत्यन्त घोर पाप कर चुका है, (इसका) रोम-रोम पापसे भरा है, घिरा है। वेदकी निन्दा करना महान् पाप है, जिसका अन्त नहीं होता। अतएव यह स्नान करके इस महान् तीर्थको तत्काल नष्ट कर देगा। वायुरूपी देवताओंके इस वचनको सुनकर दुखी एवं शोकसे सन्तप्त हुए राजाने कहा—देवताओ ! यह घोर पापसे अत्यन्त परिव्याप्त है ॥ ४१–४४ ॥

प्रायश्चित्तं करिष्येऽहं यद्वदिष्यन्ति देवताः। ततस्ता देवताः सर्वा इदं वचनमब्रुवन् ॥ ४५ ॥
स्नात्वा स्नात्वा च तीर्थेषु अभिषिञ्चस्व वारिणा। ओजसा चुलुकं यावत् प्रतिकूले सरस्वतीम् ॥ ४६ ॥
स्नात्वा मुक्तिमवाप्नोति पुरुषः श्रद्धयान्वितः। एष स्वपोषणपरो देवदूषणतत्परः ॥ ४७ ॥
ब्राह्मणैश्च परित्यक्तो नैष शुद्ध्यति कर्हिचित्। तस्मादेनं समुद्दिश्य स्नात्वा तीर्थेषु भक्तितः ॥ ४८ ॥
अभिषिञ्चस्व तोयेन ततः पूतो भविष्यति। इत्येतद्वचनं श्रुत्वा कृत्वा तस्याश्रमं ततः ॥ ४९ ॥
तीर्थयात्रां ययौ राजा उद्दिश्य जनकं स्वकम्। स तेषु प्लावनं कुर्वंस्तीर्थेषु च दिने दिने ॥ ५० ॥
अभ्यषिञ्चत् स्वपितरं तीर्थतोयेन नित्यशः। एतस्मिन्नेव काले तु सारमेयो जगाम ह ॥ ५१ ॥
स्थाणोर्मठे कौलपतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता। परिग्रहस्य द्रव्यस्य परिपालयिता सदा ॥ ५२ ॥
प्रियश्च सर्वलोकेषु देवकार्यपरायणः। तस्यैवं वर्त्तमानस्य धर्ममार्गे स्थितस्य च ॥ ५३ ॥
कालेन चलिता बुद्धिर्देवद्रव्यस्य नाशने। तेनाधर्मेण युक्तस्य परलोकगतस्य च ॥ ५४ ॥
दृष्ट्वा यमोऽब्रवीद् वाक्यं श्वयोनिं व्रज मा चिरम्। तद्वाक्यानन्तरं जातः श्वा वै सौगन्धिके वने ॥ ५५ ॥

(परन्तु) देवगण ! आप लोग इसके लिये जो प्रायश्चित्त कहेंगे, उसे मैं करूँगा। उसके ऐसा कहनेपर उन सभी देवताओंने यह बात कही—तीर्थमें बार-बार स्नान करके तीर्थ-जलद्वारा इसे बार-बार सींचो। सरस्वतीके तटपर 'ओजसतीर्थ'से 'चुलुक'पर्यन्त हर-एक तीर्थमें स्नान करनेवाला श्रद्धालु पुरुष मुक्तिको प्राप्त करता है। यह अपना ही पालन-पोषण करनेमें लगा रहता था एवं देवताओंकी निन्दा करनेमें तत्पर रहता था। ब्राह्मणोंने इसको पाप करनेके कारण त्याग दिया था। यह कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये (इसकी यदि शुद्धि चाहते हो तो) इसके उद्देश्यसे तीर्थोंमें जाकर भक्तिपूर्वक स्नान करके तीर्थ-जलसे इसे अभिषिक्त करो। इससे यह पवित्र हो जायगा। उसके बाद राजा देवताओंके इन वचनोंके सुननेके बाद वहाँ अपने पिताके लिये एक आश्रमका निर्माण कराकर उसके उद्देश्यसे तीर्थयात्रा करने चला गया। वह प्रतिदिन उन तीर्थोंमें स्नान करते हुए तीर्थजलसे अपने पिताको अभिषिक्त करने लगा। इसी समय वहाँ एक कुत्ता आ गया। (कुत्तेका इतिहास इस प्रकार है—) पूर्व-कालमें वह कुत्ता स्थाणुतीर्थमें स्थित मठमें देव-द्रव्योंकी रक्षा करनेवाला—दानमें प्राप्त द्रव्यका सदा पालन करनेवाला—सर्वजनप्रिय एवं देवकृत्यमें रत कौलपति नामका महन्त था। इस प्रकार वह अपना जीवनयापन कर रहा था। एक बार धर्म-मार्गमें स्थित रहते हुए भी उस कौलपतिकी बुद्धि कुछ समयके बाद धर्ममार्गसे हट गयी। वह देवद्रव्यका नाश (दुरुपयोग) करने लगा। वह अधर्मी (बना) कौलपति जब मरकर परलोकमें गया, तब यमराजने उसे (उसके कर्मविपाकको) देखकर कहा—तुम कुत्तेकी योनिमें जाओ, देर मत करो। इनके कहनेके पश्चात् वह महन्त सौगन्धिक वनमें कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न हुआ ॥ ४५–५५ ॥

ततः कालेन महता श्वयूथपरिवारितः। परिभूतः स्वरमया दुःखेन महता वृतः ॥ ५६ ॥
त्यक्त्वा द्वैतवनं पुण्यं सान्निहत्यं ययौ सरः। तस्मिन् प्रविष्टमात्रस्तु स्थाणोरेव प्रसादतः ॥ ५७ ॥
अतीव तृषया युक्तः सरस्वत्यां ममज्ज ह। तत्र संप्लुतदेहस्तु विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥ ५८ ॥
आहारलोभेन तदा प्रविवेश कुटीरकम्। प्रविशन्तं तदा दृष्ट्वा श्वानं भयसमन्वितः ॥ ५९ ॥
स तं पस्पर्श शनकैः स्थाणुतीर्थे ममज्ज ह। पततः पूर्वतीर्थेषु विप्रुषैः परिषिञ्चतः ॥ ६० ॥
शुनोऽस्य गात्रसम्भूतैरब्बिन्दुभिः स सिञ्चितः। विरक्तदृष्टिश्च शुनः क्षेपेण च ततः परम् ॥ ६१ ॥
स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यात् स पुत्रेण च तारितः।
नियतस्तत्क्षणाज्जातो दिव्यदेहसमन्वितः। प्रणिपत्य तदा स्थाणुं स्तुतिं कर्तुं प्रचक्रमे ॥ ६२ ॥

उसके बाद बहुत समय व्यतीत होनेतक वह कुत्ता कुत्तोंके झुंडसे घिरा रहता था; फिर भी कुतियासे अपमानित होनेके कारण अत्यन्त दुःखित रहता था। इसलिये वह द्वैतवनको छोड़कर पवित्र सान्निहत्य-सरोवरमें चला गया। उसमें प्रवेश करते ही स्थाणु भगवान्‌की ही कृपासे अत्यन्त प्यासा होकर उसने सरस्वती नदीमें डुबकी लगायी। उसमें स्नान करनेसे ही वह समस्त पापोंसे विमुक्त हो गया। उसके बाद आहारके लोभसे उसने कुटीमें प्रवेश किया। उस कुत्तेको प्रवेश करते देखकर भयभीत होकर उस-(वेन-)ने उसका धीरेसे स्पर्श किया। स्पर्श करनेके बाद स्थाणुतीर्थमें उसने स्नान किया। पूर्वतीर्थोंमें स्नान करनेके बाद तीर्थके जलबिन्दुओंसे सिञ्चित करनेवाले पुत्रसे एवं उस कुत्तेके शरीरसे निकले जल-बिन्दुओंसे सिञ्चित होने तथा कुत्तेके भयसे स्थाणुतीर्थमें गिर जानेके कारण स्नान हो जानेके माहात्म्यसे उसकी दृष्टि विरक्त हो गयी। पुत्रने स्थाणुतीर्थके माहात्म्यसे अपने पिताका उद्धार कर दिया और संयतेन्द्रिय होकर उसने तत्काल दिव्य देह धारण कर भगवान् स्थाणुको प्रणाम किया और स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ ५६—६२ ॥

वेन उवाच

प्रपद्ये देवमीशानं त्वामजं चन्द्रभूषणम्। महादेवं महात्मानं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ६३ ॥
नमस्ते देवदेवेश सर्वशत्रुनिषूदन। देवेश बलिविष्टम्भ देवदैत्यैश्च पूजित ॥ ६४ ॥
विरूपाक्ष सहस्राक्ष त्र्यक्ष यक्षेश्वरप्रिय। सर्वतः पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ॥ ६५ ॥
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि। शङ्कुकर्ण महाकर्ण कुम्भकर्णार्णवालय ॥ ६६ ॥

वेन स्तुति करने लगा—मैं अजन्मा चन्द्रमाके शिरोभूषणवाले, ईशानदेव, महात्मा, सारे संसारका पालन करनेवाले आप महादेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। देवदेवेश! समस्त शत्रुओंके निषूदन! देवेश! बलिको निरुद्ध करनेवाले! देवों एवं दैत्योंसे पूजित! आपको नमस्कार है। हे (विरूप आँखवाले) विरूपाक्ष! हे (हजारों आँखोंवाले) सहस्राक्ष! हे तीन नेत्रोंवाले! हे यक्षेश्वरप्रिय! हे चारों ओरसे (हाथ-पैरवाले) पाणिपादयुक्त! हे चारों ओर आँख एवं मुखवाले! आपको नमस्कार है। आप सर्वत्र सुन सकनेवाले और सभी स्थानोंपर व्याप्त हैं। संसारमें आपने सभीको आवृत कर (ढक) रखा है। हे शङ्कुकर्ण! हे महाकर्ण! हे कुम्भकर्ण! हे समुद्र-निवासी! आपको नमस्कार है ॥ ६३—६६ ॥

गजेन्द्रकर्ण गोकर्ण पाणिकर्ण नमोऽस्तु ते। शतजिह्व शतावर्त शतोदर शतानन ॥ ६७ ॥
गायन्ति त्वां गायत्रिणो ह्यर्चयन्त्यर्कमर्चिणः। ब्रह्माणं त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव मेनिरे ॥ ६८ ॥
मूर्तौ हि ते महामूर्ते समुद्राम्बुधरास्तथा। देवताः सर्व एवात्र गोष्ठे गाव इवासते ॥ ६९ ॥
शरीरे तव पश्यामि सोममग्निं जलेश्वरम्। नारायणं तथा सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ७० ॥

हे गजेन्द्रकर्ण ! हे गोकर्ण ! हे पाणिकर्ण ! हे शतजिह्व ! हे शतावर्त ! हे शतोदर ! हे शतानन ! आपको नमस्कार है। गायत्रीका जप करनेवाले विद्वान् आपकी ही महिमा गाते हैं। सूर्यकी पूजा करनेवाले सूर्यरूपसे आपकी ही पूजा करते हैं। आपको ही सभी लोग इन्द्रसे श्रेष्ठ वंशवाला ब्रह्मा मानते हैं। महामूर्ते ! आपकी मूर्तिमें समुद्र, मेघ और समस्त देवता ऐसे स्थित हैं जैसे गोशालामें गौएँ रहती हैं। मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, नारायण, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको देख रहा हूँ॥ ६७–७०॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रियाकरणमेव तत्। प्रभवः प्रलयश्चैव सदसच्चापि दैवतम्॥ ७१॥
नमो भवाय शर्वाय वरदायोग्ररूपिणे। अन्धकासुरहन्त्रे च पशूनां पतये नमः॥ ७२॥
त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलासक्तपाणये। त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्न नमोऽस्तु ते॥ ७३॥
नमो मुण्डाय चण्डाय अण्डायोत्पत्तिहेतवे। डिण्डिमासक्तहस्ताय डिण्डिमुण्डाय ते नमः॥ ७४॥

आप भगवान्, कारण, कार्य, क्रियाके करण, प्रभव, प्रलय, सत्, असत् एवं दैवत हैं। भव, शर्व, वरद, उग्र-रूप धारण करनेवाले, अन्धकासुरको मारनेवाले और पशुओंके पति पशुपतिको नमस्कार है। हे त्रिपुरनाशक ! तीन जटावाले, तीन शिरवाले, हाथमें त्रिशूल लिये रहनेवाले एवं त्रिनेत्र (कहलानेवाले) आपको नमस्कार है। हे मुण्ड, चण्ड और अण्डकी उत्पत्तिके हेतु, डिण्डिमपाणि एवं डिण्डिमुण्ड ! आपको नमस्कार है॥ ७१–७४॥

नमोर्ध्वकेशदंष्ट्राय शुष्काय विकृताय च। धूम्रलोहितकृष्णाय नीलग्रीवाय ते नमः॥ ७५॥
नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च। सूर्यमालाय सूर्याय स्वरूपध्वजमालिने॥ ७६॥
नमो मानातिमानाय नमः पटुतराय ते। नमो गणेन्द्रनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने॥ ७७॥
संक्रन्दनाय चण्डाय पर्णधारपुटाय च। नमो हिरण्यवर्णाय नमः कनकवर्चसे॥ ७८॥

हे ऊर्ध्वकेश, ऊर्ध्वदंष्ट्र, शुष्क, विकृत, धूम्र, लोहित, कृष्ण एवं नीलग्रीव ! आपको नमस्कार है। अप्रतिरूप, विरूप, शिव, सूर्यमाल, सूर्य एवं स्वरूपध्वजमालीको नमस्कार है। मानातिमानको नमस्कार है। आप पटुतरको नमस्कार है। गणेन्द्रनाथ, वृषस्कन्ध एवं धन्वीको नमस्कार है। संक्रन्दन, चण्ड, पर्णधारपुट एवं हिरण्यवर्णको नमस्कार है। कनकवर्चसको नमस्कार है॥ ७५–७८॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तुतिस्थाय नमोऽस्तु ते। सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतशरीरिणे॥ ७९॥
नमो होत्रे च हन्त्रे च सितोदग्रपताकिने। नमो नम्याय नम्राय नमः कटकटाय च॥ ८०॥
नमोऽस्तु कृशनाशाय शयितायोत्थिताय च। स्थिताय धावमानाय मुण्डाय कुटिलाय च॥ ८१॥
नमो नर्त्तनशीलाय लयवादित्रशालिने। नाट्योपहारलुब्धाय मुखवादित्रशालिने॥ ८२॥

स्तुत किये गये तथा स्तुतिके योग्य (आप) को नमस्कार है। स्तुतिमें स्थित, सर्व, सर्वभक्ष एवं सर्वभूतशरीरी आपको नमस्कार है। होता, हन्ता तथा सफेद और ऊँची पताकावालेको नमस्कार है। नमन करनेयोग्य एवं नम्रको नमस्कार है। आप कटकटको नमस्कार है। कृशनाश, शयित, उत्थित, स्थित, धावमान, मुण्ड एवं कुटिलको नमस्कार है। नर्तनशील, लय वाद्यशाली, नाट्यके उपहारके लोभी एवं मुखोंमें बम-बम-जैसे मुँहसे बोले जानेवाले वाद्य-प्रेमीको नमस्कार है॥ ७९–८२॥

नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलातिबलघातिने। कालनाशाय कालाय संसारक्षयरूपिणे॥ ८३॥
हिमवद्दुहितुः कान्त भैरवाय नमोऽस्तु ते। उग्राय च नमो नित्यं नमोऽस्तु दशबाहवे॥ ८४॥
चितिभस्मप्रियायैव कपालासक्तपाणये। विभीषणाय भीष्माय भीमव्रतधराय च॥ ८५॥
नमो विकृतवक्त्राय नमः पूतोग्रदृष्टये। पक्वाममांसलुब्धाय तुम्बिवीणाप्रियाय च॥ ८६॥

ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, बलवान्से भी बलवान्को नष्ट करनेवाले, कालनाश, कालस्वरूप एवं संसारक्षयस्वरूप आपको नमस्कार है। हे हिमालयकी पुत्रीके पति—पार्वतीपति! आप भैरवको नमस्कार है और उग्ररूप आपको नित्य नमस्कार है। दस बाहुओंवाले (शिव) को नमस्कार है। चिताकी भस्मको प्रिय माननेवाले, कपालपाणि, अत्यधिक भयंकर भयरूप (भीष्म) एवं व्रतधर-(आप-)को (नमस्कार है)। विकृत मुँहवाले-(आप-)को नमस्कार है। पवित्र तेजस्विनी दृष्टिवाले, कच्चे-पक्के फलके गूदेको प्रिय माननेवाले, तुम्बी एवं वीणाको प्रिय माननेवालेको नमस्कार है ॥ ८३—८६ ॥

नमो वृषाङ्कवृक्षाय गोवृषाभिरुते नमः। कटङ्कटाय भीमाय नमः परपराय च ॥ ८७ ॥
नमः सर्ववरिष्ठाय वराय वरदायिने। नमो विरक्तरक्ताय भावनायाक्षमालिने ॥ ८८ ॥
विभेदभेदभिन्नाय छायायै तपनाय च। अघोरघोररूपाय घोरघोरतराय च ॥ ८९ ॥
नमः शिवाय शान्ताय नमः शान्ततमाय च। बहुनेत्रकपालाय एकमूर्ते नमोऽस्तु ते ॥ ९० ॥

वृषाङ्कवृक्षको नमस्कार है। गोवृषाभिरुतको नमस्कार है। कटङ्कट, भीम एवं परसे भी परको नमस्कार है। सर्ववरिष्ठ, वर एवं वरदायीको नमस्कार है। विरक्त एवं रक्तरूप, भावन एवं अक्षमालीको नमस्कार है। विभेद एवं भेदसे भिन्न, छाया, तपन, अघोर तथा घोररूप एवं घोरघोरतर रूपको नमस्कार है। शिव एवं शान्तको नमस्कार है। शान्ततम, बहुनेत्र एवं कपालधारीको नमस्कार है। हे एकमूर्ति! आपको नमस्कार है ॥ ८७—९० ॥

नमः क्षुद्राय लुब्धाय यज्ञभागप्रियाय च। पञ्चालाय सिताङ्गाय नमो यमनियामिने ॥ ९१ ॥
नमश्चित्रोरुघण्टाय घण्टाघण्टनिघण्टिने। सहस्रशतघण्टाय घण्टामालाविभूषिणे ॥ ९२ ॥
प्राणसंघट्टगर्वाय नमः किलिकिलिप्रिये। हुंहुंकाराय पाराय हुंहुंकारप्रियाय च ॥ ९३ ॥
नमः समसमे नित्यं गृहवृक्षनिकेतिने। गर्भमांसशृगालाय तारकाय तराय च ॥ ९४ ॥

क्षुद्र, लुब्ध, यज्ञभागप्रिय, पञ्चाल एवं सिताङ्गको नमस्कार है। यमके नियमनकर्ताको नमस्कार है। चित्रोरुघण्ट, घण्टाघण्टनिघण्टीको नमस्कार है। सहस्रशतघण्ट एवं घण्टामालाविभूषितको नमस्कार है। प्राणसंघट्टगर्व, किलिकिलिप्रिय, हुंहुंकार, पार एवं हुंहुंकारप्रियको नमस्कार है। समसम, गृहवृक्षनिकेती, गर्भमांसशृगाल, तारक एवं तरको नित्य नमस्कार है ॥ ९१—९४ ॥

नमो यज्ञाय यजिने हुताय प्रहुताय च। यज्ञवाहाय हव्याय तप्याय तपनाय च ॥ ९५ ॥
नमस्तु पयसे तुभ्यं तुण्डानां पतये नमः। अन्नदायान्नपतये नमो नानान्नभोजिने ॥ ९६ ॥
नमः सहस्रशीर्षाय सहस्रचरणाय च। सहस्रोद्यतशूलाय सहस्राभरणाय च ॥ ९७ ॥
बालानुचरगोप्त्रे च बाललीलाविलासिने। नमो बालाय वृद्धाय क्षुब्धाय क्षोभणाय च ॥ ९८ ॥

यज्ञ, यजमान, हुत, प्रहुत, यज्ञवाह, हव्य, तप्य और तपनको नमस्कार है। पयस्वरूप आपको नमस्कार है। तुण्डोंके पतिको नमस्कार है। अन्नद, अन्नपति एवं अनेक प्रकारके अन्नभोजीको नमस्कार है। हजारों सिरवाले, हजारों चरणवाले, हजारों शूलको उठाये हुए और हजारों आभूषणवालेको नमस्कार है। बालानुचरकी रक्षा करनेवाले, बाललीलामें विलास करनेवाले, बाल, वृद्ध, क्षुब्ध एवं क्षोभणको नमस्कार है ॥ ९५—९८ ॥

गङ्गालुलितकेशाय मुञ्जकेशाय वै नमः। नमः षट्कर्मतुष्टाय त्रिकर्मनिरताय च ॥ ९९ ॥
नग्नप्राणाय चण्डाय कृशाय स्फोटनाय च। धर्मार्थकाममोक्षाणां कथ्याय कथनाय च ॥ १०० ॥
साङ्ख्याय साङ्ख्यमुख्याय साङ्ख्ययोगमुखाय च। नमो विरथरथ्याय चतुष्पथरथाय च ॥ १०१ ॥
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्यालयज्ञोपवीतिने।
वक्त्रसंधानकेशाय हरिकेश नमोऽस्तु ते। त्र्यम्बिकाऽम्बिकनाथाय व्यक्ताव्यक्ताय वेधसे ॥ १०२ ॥

गङ्गालुलितकेश और मुञ्जकेशको नमस्कार है। छः कर्मोंसे संतुष्ट तथा तीन कर्मोंमें लगे रहनेवाले-(आप-) को नमस्कार है। नग्नप्राण, चण्ड, कृश, स्फोटन तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके कथ्य और कथनको नमस्कार है। सांख्य, सांख्यमुख्य, सांख्य-योगमुख, विरथरथ्य तथा चतुष्पथरथको नमस्कार है। काले मृगचर्मके उत्तरीयवाले, साँपके जनेऊवाले, वक्त्रसंधानकेश, त्र्यम्बिकाम्बिकनाथ, दृश्य एवं अदृश्य और वेधास्वरूप हे हरिकेश! आपको नमस्कार है॥ ९९–१०२॥

कामकामदकामघ्न तृप्तातृप्तविचारिणे। नमः सर्वद पापघ्न कल्पसंख्याविचारिणे॥१०३॥
महासत्त्व महाबाहो महाबल नमोऽस्तु ते। महामेघ महाप्रख्य महाकाल महाद्युते॥१०४॥
मेघावर्त्त युगावर्त्त चन्द्रार्कपतये नमः। त्वमन्नमन्नभोक्ता च पक्वभुक् पावनोत्तम॥१०५॥
जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजोद्भिदजाश्च ये। त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः॥१०६॥

हे काम! हे कामद! हे कामको नष्ट करनेवाले! आप तृप्त और अतृप्तविचारीको नमस्कार है। हे सर्वद! हे पाप दूर करनेवाले! आप कल्पसंख्याविचारीको नमस्कार है। हे महासत्त्व! हे महाबाहु! हे महाबल! हे महामेघ! हे महाप्रख्य! हे महाकाल एवं हे महाद्युति! आपको नमस्कार है। हे मेघावर्त्त! हे युगावर्त्त! आप चन्द्रार्कपतिको नमस्कार है। आप ही अन्न, अन्नके भोक्ता, पक्वभुक् एवं पवित्रोंमे श्रेष्ठ हैं। हे देवदेवेश! आप ही जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज—चतुर्विध भूतसमुदाय हैं॥ १०३–१०६॥

स्रष्टा चराचरस्यास्य पाता हन्ता तथैव च। त्वामाहुर्ब्रह्म विद्वांसो ब्रह्म ब्रह्मविदां गतिम्॥१०७॥
मनसः परमज्योतिस्त्वं वायुर्ज्योतिषामपि। हंसवृक्षे मधुकरमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः॥१०८॥
यजुर्मयो ऋङ्मयस्त्वामाहुः साममयस्तथा। पठ्यसे स्तुतिभिर्नित्यं वेदोपनिषदां गणैः॥१०९॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वर्णावराश्च ये। त्वमेव मेघसंघाश्च विद्युतोऽशनिगर्जितम्॥११०॥

आप इस चराचरकी सृष्टि करनेवाले, पालन करनेवाले एवं संहार करनेवाले हैं। विद्वज्जन आपको ब्रह्म एवं ज्ञानियोंकी (कैवल्य) गति कहते हैं। आप मनकी परमज्योति हैं और ज्योतियोंके (धारण करनेवाले) वायु हैं। ब्रह्मवादीजन आपको हंसवृक्षपर रहनेवाला भ्रमर कहते हैं। वे आपको यजुर्मय, ऋङ्मय एवं साममय कहते हैं। वेद और उपनिषदोंके समूह स्तुतियोंद्वारा आपका ही नित्य पाठ करते हैं। आप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य अवर वर्ण, मेघसमूह, विद्युत् तथा मेघगर्जन भी है॥ १०७–११०॥

संवत्सरस्त्वमृतवो मासो मासार्धमेव च। युगा निमेषाः काष्ठाश्च नक्षत्राणि ग्रहाः कलाः॥१११॥
वृक्षाणां ककुभोऽसि त्वं गिरीणां हिमवान् गिरिः। व्याघ्रो मृगाणां पततां तार्क्ष्योऽनन्तश्च भोगिनाम्॥११२॥
क्षीरोदोऽस्युदधीनां च यन्त्राणां धनुरेव च। वज्रं प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च॥११३॥
त्वमेव द्वेष इच्छा च रागो मोहः क्षमाक्षमे। व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ॥११४॥

आप युग, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, निमेष, काष्ठा तथा कला हैं। आप वृक्षोंमें अर्जुन वृक्ष, पर्वतोंमें हिमालय, पशुओंमें व्याघ्र, पक्षियोंमे गरुड़ और साँपोंमें शेषनाग हैं। आप समुद्रोंमे क्षीरसागर, यन्त्रोंमें धनुर, आयुधोंमें वज्र और व्रतोंमें सत्य है। आप ही द्वेष, इच्छा, राग, मोह, क्षमा, अक्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, जय और पराजय हैं॥ १११–११४॥

त्वं शरी त्वं गदी चापि खट्वाङ्गी च शरासनी। छेत्ता भेत्ता प्रहर्ताऽसि मन्ता नेता सनातनः॥ ११५॥
दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च। समुद्राः सरितो गङ्गा पर्वताश्च सरांसि च॥ ११६॥

लतावल्ल्यस्तृणौषध्यः पशवो मृगपक्षिणः। द्रव्यकर्मगुणारम्भः कालपुष्पफलप्रदः ॥ ११७
आदिश्चान्तश्च वेदानां गायत्री प्रणवस्तथा। लोहितो हरितो नीलः कृष्णः पीतः सितस्तथा॥११८
कद्रुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा। सवर्णश्चाप्यवर्णश्च कर्त्ता हर्त्ता त्वमेव हि ॥ ११९

आप बाण धारण करनेवाले, गदा धारण करनेवाले, खट्वाङ्ग धारण करनेवाले एवं धनुर्धारी हैं। विदारण करनेवाले, प्रहार करनेवाले, अवबोधन (सतर्क) करनेवाले, प्रास करानेवाले और सनातन हैं। दस लक्षणोंसे संयुक्त धर्म, अर्थ एवं काम तथा समस्त समुद्र, नदियाँ, गङ्गा, पर्वत एवं सरोवर हैं। स लताएँ, वल्लियाँ, तृण, ओषधियाँ; पशु, मृग, पक्षी; पृथ्वी, अप् आदि नवों द्रव्यों; उत्क्षेपण-आक्षेपण आदि कर्मों; रूप, रस, गन्ध आदि चौबीस गुणोंके आरम्भक भी आप ही हैं। आप ही समयपर फल एवं फल देने हैं। आप वेदोंके आदि और अन्त हैं, गायत्री तथा प्रणव भी आप ही हैं। आप ही लोहित, नील, कृष्ण, पी सित, कद्रु, कपिल, कपोत, मेचक, सवर्ण, अवर्ण, कर्ता एवं हर्त्ता हैं ॥ ११५–११९ ॥

त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनिलः। उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुभानुरेव च ॥ १२०
शिक्षाहौत्रं त्रिसौपर्णं यजुषां शतरुद्रियम्। पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥ १२१
तिन्दुको गिरिजो वृक्षो मुद्गं चाखिलजीवनम्। प्राणाः सत्त्वं रजश्चैव तमश्च प्रतिपत्पतिः ॥ १२२
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुतं जृम्भितमेव च ॥ १२३

आप इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, पवन, उपप्लव, चित्रभानु, स्वर्भानु एवं भानु हैं। आप शिक्षा, हो त्रिसौपर्ण, यजुर्वेदका शतरुद्रिय, पवित्रोंमें पवित्र एवं मङ्गलोंमें मङ्गल हैं। आप तिन्दुक, शिलाजतु, वृक्ष, मु सबके जीवन, प्राण, सत्त्व, रज, तम तथा प्रतिपत्पति हैं। आप ही प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मे निमेष, छींक एवं जँभाई हैं ॥ १२०–१२३ ॥

लोहितान्तर्गतो दृष्टिर्महावक्त्रो महोदरः। शुचिरोमा हरिश्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ॥ १२४
गीतवादित्रनृत्यज्ञो गीतवादित्रकप्रियः। मत्स्यो जालो जलौकाश्च कालः केलिकला कलिः॥१२५
अकालश्च विकालश्च दुष्कालः काल एव च। मृत्युश्च मृत्युकर्ता च यक्षो यक्षभयंकरः ॥ १२६
संवर्तकोऽन्तकश्चैव संवर्तकबलाहकः। घण्टा घण्टी महाघण्टी चिरी माली च मातलिः ॥१२७

आप लोहितके अन्तःस्थित, दृष्टि, बड़े मुँहवाले, भारी पेटवाले, पवित्र रोमावलीवाले, हरिश्मश्रु, ऊर्ध्वकेश एवं तथा अचल हैं। आप गाने, बजाने, नृत्यकलाके विद्वान् हैं तथा गाना-बजाना करनेवालोंके भी आप प्रिय हैं आप मत्स्य, जाल, जलौका, काल तथा केलि-कला एवं कलह हैं। आप अकाल, विकाल, दुष्काल और कालस्व हैं। आप मृत्यु, मृत्युकर्त्ता, यक्ष तथा यक्षको भी भय देनेवाले हैं। आप संवर्तक, अन्तक एवं संवर्तकनामक बा हैं। आप घण्ट, घण्टी, महाघण्टी, चिरी, काली और मातलि भी हैं ॥ १२४–१२७ ॥

ब्रह्मकालयमाग्नीनां दण्डी मुण्डी त्रिमुण्डधृक्। चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चातुर्होत्रप्रवर्त्तकः ॥ १२८
चातुराश्रम्यनेता च चातुर्वर्ण्यकरस्तथा। नित्यमक्षप्रियो धूर्तो गणाध्यक्षो गणाधिपः ॥ १२९
रक्तमाल्याम्बरधरो गिरिको गिरिकप्रियः। शिल्पं च शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्त्तकः ॥ १३०
भगनेत्राङ्कुशश्चण्डः पूष्णो दन्तविनाशनः। स्वाहा स्वधा वषट्कारो नमस्कारो नमो नमः ॥ १३१

आप ब्रह्मा, काल, यम और अग्निको दण्ड देनेवाले, मुण्डी एवं त्रिमुण्डधारी हैं। आप चतुर्युग, चतुर्वेद चातुर्होत्रके प्रवर्त्तक हैं। आप चारों आश्रमोंके नेता तथा चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेवाले हैं। आप नित्यद्यूतप्रि

(धर्म्य) धूर्तईके भी प्रयोक्ता, गणाध्यक्ष और गणोंके स्वामी हैं। आप लाल माला और लाल वस्त्र धारण करनेवाले हैं तथा गिरिक, गिरिकप्रिय, शिल्प, शिल्पिश्रेष्ठ तथा हर प्रकारके शिल्पोंके प्रवर्त्तक हैं। आप भगनेत्राङ्कुश, चण्ड एवं पूषाके दाँतोंके विनाशक है। आप स्वाहा, स्वधा, वषट्कार और नमस्कार हैं। आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १२८-१३१ ॥

गूढव्रतो गुह्यतपास्तारकास्तारकामयः। धाता विधाता संधाता पृथिव्या धरणोऽपरः ॥ १३२ ॥
ब्रह्मा तपश्च सत्यं च व्रतचर्यमथार्जवम्। भूतात्मा भूतकृद् भूतिर्भूतभव्यभवोद्भवः ॥ १३३ ॥
भूर्भुवः स्वर्ऋतं चैव ध्रुवो दान्तो महेश्वरः। दीक्षितोऽदीक्षितः कान्तो दुर्दान्तो दान्तसम्भवः ॥ १३४ ॥
चन्द्रावर्त्तो युगावर्त्तः संवर्त्तकप्रवर्त्तकः। विन्दुः कामो ह्यणुः स्थूलः कर्णिकारस्त्रजप्रियः ॥ १३५ ॥

आप गूढव्रतवाले, गुप्ततपस्यावाले, तारक और तारकामय हैं। आप धाता, विधाता, संधाता और पृथिवीके श्रेष्ठ धारण और पोषण करनेवाले हैं। आप ब्रह्मा, तप, सत्य, व्रत-चर्या और सरल एवं शुद्ध हैं। आप (पञ्च) भूतस्वरूप ऐश्वर्य और प्राणियोंके उत्पत्ति-स्थान हैं। आप भूः, भुवः, स्वः, ऋतः, ध्रुव कोमल तथा महेश्वर हैं। आप दीक्षित, अदीक्षित, कान्त, दुर्दान्त (उग्र) और दान्तसे उत्पन्न हैं। आप चन्द्रावर्त्त, युगावर्त, संवर्तक और प्रवर्तक हैं। आप विन्दु, काम, अणु, स्थूल तथा कनेरकी मालाके प्रेमी हैं ॥ १३२-१३५ ॥

नन्दीमुखो भीममुखः सुमुखो दुर्मुखस्तथा। हिरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगपतिर्विराट् ॥ १३६ ॥
अधर्महा महादेवो दण्डधारो गणोत्कटः। गोनर्दो गोप्रतारश्च गोवृषेश्वरवाहनः ॥ १३७ ॥
त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गो मार्ग एव च। स्थिरः श्रेष्ठश्च स्थाणुश्च विक्रोशः क्रोश एव च ॥ १३८ ॥
दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः। दुर्द्धर्षो दुष्प्रकाशश्च दुर्दर्शो दुर्जयो जयः ॥ १३९ ॥

आप नन्दीमुख, भीममुख, सुमुख तथा दुर्मुख हैं। आप हिरण्यगर्भ, शकुनि, महासर्पपति तथा विराट् हैं। आप अधर्मका नाश करनेवाले महादेव, दण्डधार, गणोत्कट, गोनर्द, गोप्रतार तथा गोवृषेश्वर-वाहन हैं। आप त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द, गोमार्ग तथा मार्ग हैं। आप स्थिर, श्रेष्ठ, स्थाणु, विक्रोश तथा क्रोश हैं। आप दुर्वारण, दुर्विषह, दुस्सह, दुरतिक्रम, दुर्धर्ष, दुष्प्रकाश, दुर्दर्श, दुर्जय तथा जय हैं ॥ १३६-१३९ ॥

शशाङ्कानलशीतोष्णः क्षुत्तृष्णा च निरामयः। आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिनाशनः ॥ १४० ॥
समूहश्च समूहस्य हन्ता देवः सनातनः। शिखण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकवनालयः ॥ १४१ ॥
त्र्यम्बको दण्डधारश्च उग्रदंष्ट्रः कुलान्तकः।
विषापहः सुरश्रेष्ठः सोमपास्त्वं मरुत्पते। अमृताशी जगन्नाथो देवदेव गणेश्वरः ॥ १४२ ॥
मधुश्च्युतानां मधुपो ब्रह्मवाक् त्वं घृतच्युत। सर्वलोकस्य भोक्ता त्वं सर्वलोकपितामहः ॥ १४३ ॥

आप चन्द्र, अनल, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा, निरामय, आधिव्याधि, व्याधिहन्ता एवं व्याधियोंको नष्ट करनेवाले हैं। आप समूह हैं और समूहके हन्ता तथा सनातन देव हैं। आप शिखण्डी, पुण्डरीकाक्ष तथा पुण्डरीकवनके आश्रय हैं। मरुत्पति! हे देवदेव! आप तीन नेत्रवाले, दण्डधारी, भयंकर दाँतवाले, कुलके अन्त करनेवाले, विषको नष्ट करनेवाले, सुरश्रेष्ठ, सोमरस पीनेवाले, अमृताशी, जगत्के स्वामी तथा गणेश्वर हैं। आप मधुसंग्रह करनेवालोंमें मधुप, वाणियोंमें ब्रह्मवाक्, घृतच्युत, समस्त लोकोंका पालन-पोषण और उपसंहार करनेवाले एवं सर्वलोकके पितामह हैं ॥ १४०-१४३ ॥

हिरण्यरेताः पुरुषस्त्वमेकः त्वं स्त्री पुमांस्त्वं हि नपुंसकं च।
बालो युवा स्थविरो देवदंष्ट्रा त्वत्तो गिरिर्विश्वकृद् विश्वहर्ता ॥ १४४ ॥
त्वं वै धाता विश्वकृतां वरेण्यस्त्वां पूजयन्ति प्रणताः सदैव।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते भवान् हि त्वमेव चाग्निः प्रपितामहश्च।
आराध्य त्वां सरस्वतीं वाग्लभन्ते अहोरात्रे निमिषोन्मेषकर्त्ता ॥ १४५ ॥
न ब्रह्मा न च गोविन्दः पौराणा ऋषयो न ते। माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन शंकर ॥ १४६ ॥
पुंसां शतसहस्राणि यत्समावृत्य तिष्ठति। महतस्तमसः पारे गोप्ता मन्ता भवान् सदा ॥ १४७ ॥

आप हिरण्यरेता तथा अद्वितीय पुरुष हैं। आप स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक भी हैं। आप ही बालक, युवक, वृद्ध, देवदंष्ट्र, गिरि, संसारके रचयिता तथा संसारके संहार करनेवाले भी हैं। आप विश्व रचनेवालोंमें वरणीय धाता हैं। विनयी जन सदैव आपकी पूजा करते हैं। चन्द्रमा एवं सूर्य आपके नेत्रस्वरूप हैं। आप ही अग्नि एवं प्रपितामह हैं। सरस्वतीस्वरूप आपकी आराधना कर लोग (प्राञ्जल) वाणीकी प्राप्ति करते हैं। आप दिन और रात्रि हैं और निमेष एवं उन्मेषके कर्त्ता हैं। हे शंकर! ब्रह्मा, गोविन्द तथा प्राचीन ऋषि भी आपकी महिमाको ठीक-ठीक नहीं जान सकते। आप (अपनेमें) लाखों पुरुषोंको समावृत कर स्थित हैं। आप सदा महान् तमसे परे रहनेवाले परम रक्षक एवं (सबके) अवबोधक हैं ॥ १४४-१४७ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ १४८ ॥
या मूर्तयश्च सूक्ष्मास्ते न शक्या या निदर्शितुम्। ताभिर्मां सततं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४९ ॥
रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते। भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चाहं सदा त्वयि ॥ १५० ॥
जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे। कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ १५१ ॥

निद्रारहित (अतः सदा जागरूक), श्वासपर विजय प्राप्त करनेवाले, सत्त्वगुणमें सदा स्थित एवं संयतेन्द्रिय योगिजन जिस ज्योतिका दर्शन करते हैं, उस योगात्मक (-आप-)को नमस्कार है। सूक्ष्म होनेके कारण आपकी जो मूर्तियाँ प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं उनके द्वारा आप सदा मेरी इस प्रकार रक्षा करें जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है। पुण्यात्मन्! आप मेरी रक्षा करें। मैं आपका रक्षणीय हूँ। आपको नमस्कार है। आप भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् हैं; मैं सदा आपका भक्त हूँ। जटी, दण्डी, लम्बोदरशरीरी तथा कमण्डलुनिषङ्ग रुद्रात्माको नमस्कार है ॥ १४८-१५१ ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु। कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ १५२ ॥
संभक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते पर्युपस्थिते। यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥ १५३ ॥
प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि। ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानू रक्षितस्तव तेजसा ॥ १५४ ॥
ये चात्र पतिता गर्भा रुद्रगन्धस्य रक्षणे। नमस्तेऽस्तु स्वधा स्वाहा प्राप्नुवन्ति तदद्भुते ॥ १५५ ॥

जिनके केशोंमें बादल, समस्त अङ्गोंकी सन्धियोंमें नदियाँ एवं कुक्षिमें चारों समुद्र हैं, उन तोयात्मा भगवान्को नमस्कार है। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भूतोंको अपने उदरमें स्थित रखकर जो जलके मध्यमें शयन करते हैं उन जलशायी-(विष्णु-) की मैं शरण लेता हूँ। रात्रिमें आप जो राहुके मुखमें प्रवेश कर सोमको पीते हैं तथा आपके तेजसे रक्षित राहु सूर्यको ग्रस लेता है, ऐसे आपको नमस्कार है। रुद्रगन्धकी रक्षामें जो यहाँ गर्भ (वाष्पराशि) गिरे, आपके ही तेजसे गिरे; अतः आपको नमस्कार है; उन्हीं अद्भुत (तेजों)में स्वाहा तथा स्वधाको वे प्राप्त करते हैं ॥ १५२-१५५ ॥

येऽङ्गुष्ठमात्राः पुरुषा देहस्थाः सर्वदेहिनाम्। रक्षन्तु ते हि मां नित्यं ते मामाप्याययन्तु वै ॥ १५६ ॥
ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च। वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारगहनेषु च ॥ १५७ ॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु सभासु च। हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥ १५८ ॥
ये च पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च। चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये चन्द्रार्करश्मिषु ॥ १५९ ॥
रसातलगता ये च ये च तस्मात् परं गताः। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यश्च नित्यशः ॥ १६० ॥

सभी देहधारियोकी देहमें स्थित अङ्गुष्ठमात्रमे निवास करनेवाले जो पुरुष हैं, वे नित्य मेरी रक्षा करें तथा वे मुझे सर्वदा संतृप्त करे। जो नदियों, समुद्रों, पर्वतों, गुहाओ, वृक्षकी जडों, गायोके रहनेके स्थानो, घने जंगलो, चौराहो, गलियो, चबूतरो, सभाओ, हथसारो, घुड़सारों और रथशालाओं, जीर्ण बाग-बगीचों, आलयो, पञ्चभूतों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओ एवं अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण एवं ईशानकोणोंमें स्थित हैं। जो चन्द्र और सूर्यके बीचमें रहनेवाले, चन्द्र तथा सूर्यकी किरणोमें स्थित, रसातलमें रहनेवाले एवं उससे भी आगे पहुँचे हुए है, उनको नित्य बारम्बार नमस्कार हैं; नमस्कार है; नमस्कार है ॥ १५६—१६० ॥

येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव च। असंख्येयगणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥ १६१ ॥
प्रसीद मम भद्रं ते तव भावगतस्य च। त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मतिस्त्वयि ॥ १६२ ॥
स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम द्विजोत्तमः ॥ १६३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

जिनकी कोई संख्या नहीं है और न प्रमाण तथा रूप ही है, उन अनगिनत रुद्रगणोंको सदा नमस्कार है। आपका कल्याण हो। आपके भक्तिभावमें स्थित मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों। हे देव! आपहीमें मेरा हृदय, मेरी बुद्धि एवं मति है। द्विजोत्तमने इस प्रकार महादेवकी स्तुति करके विराम ले लिया ॥ १६१—१६३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

[अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः]

सनत्कुमार उवाच

अथैनमब्रवीद् देवस्त्रैलोक्याधिपतिर्भवः। आश्वासनकरं चास्य वाक्यविद् वाक्यमुत्तमम् ॥ १ ॥
अहो तुष्टोऽस्मि ते राजन् स्तवेनानेन सुव्रत। बहुनाऽत्र किमुक्तेन मत्समीपे वसिष्यसि ॥ २ ॥
उषित्वा सुचिरं कालं मम गात्रोद्भवः पुनः। असुरो ह्यन्धको नाम भविष्यसि सुरान्तकृत् ॥ ३ ॥
हिरण्याक्षगृहे जन्म प्राप्य वृद्धिं गमिष्यसि। पूर्वाधर्मेण घोरेण वेदनिन्दाकृतेन च ॥ ४ ॥

अड़तालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वेन-कृत शिव-स्तुति एवं स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, वेन आदिकी सुगतिका वर्णन)

सनत्कुमारने कहा—इसके बाद किसीकी किसी प्रकारकी भी उक्तिके अभिप्रायको भलीभाँति जाननेवाले तीनो लोकोंके स्वामी शंकरभगवान्‌ने उस-(वेन-)को आश्वासन देनेवाला उत्तम वचन कहा—राजन्! सुव्रत! तुम्हारी इस स्तुतिसे मै संतुष्ट हूँ। इस विषयमे अधिक कहनेमे क्या लाभ है; तुम मेरे निकट (में ही सदा) निवास करोगे। बहुत दिनोतक निवास करनेके बाद तुम फिर देवोंको नष्ट करनेवाले अन्धक नामक असुर होकर मेरे शरीरसे उत्पन्न होओगे और वेदकी निन्दा करनेसे पूर्वकालिक प्रचण्ड पापके कारण पुनः हिरण्याक्षके घरमें उत्पन्न होकर बडे होगे—सयाने होंगे ॥ १—४ ॥

साभिलाषो जगन्मातुर्भविष्यसि यदा तदा । देहं शूलेन हत्वाहं पावयिष्यामि समार्बुदम् ॥ ५ ॥
तत्राप्यकल्मषो भूत्वा स्तुत्वा मां भक्तितः पुनः । ख्यातो गणाधिपो भूत्वा नाम्ना भृङ्गिरिटिः स्मृतः ॥ ६ ॥
मत्सन्निधाने स्थित्वा त्वं ततः सिद्धिं गमिष्यसि । वेनप्रोक्तं स्तवमिमं कीर्त्तयेद् यः शृणोति च ॥ ७ ॥
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुरवाप्नुयात् । यथा सर्वेषु देवेषु विशिष्टो भगवाञ्छिवः ॥ ८ ॥
तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां वेननिर्मितः । यशो राज्यसुखैश्वर्यधनमानाय कीर्त्तितः ॥ ९ ॥

जब तुम जगत्‌की माता-(पार्वती-)की अभिलाषा करोगे तब मैं शूलद्वारा तुम्हारी देहका हनन करके दस करोड़ वर्षोंतकके लिये (तुम्हें) पवित्र करूँगा । उसके बाद वहाँ पापसे रहित होकर पुनः मेरी स्तुति करोगे और तब तुम भृङ्गिरिटि नामसे प्रसिद्ध गणाधिप बनोगे । फिर मेरी संनिधिमें रहकर तुम सिद्धिको प्राप्त करोगे । जो मनुष्य वेनके द्वारा कही हुई इस स्तुतिका कीर्तन करेगा या इसे सुनेगा वह कभी अशुभ-(अकल्याण-)को नहीं प्राप्त होगा और दीर्घ आयु प्राप्त करेगा । जैसे सभी देवताओंमें भगवान् शिवकी विशिष्टता है, वैसे ही वेनसे निर्मित यह स्तव सभी स्तवोंमें श्रेष्ठ (विशिष्ट) है । इसका कीर्तन यश, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, धन एवं मानका देनेवाला है ॥ ५–९ ॥

श्रोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः । व्याधितो दुःखितो दीनश्चौरराजभयान्वितः ॥ १० ॥
राजकार्यविमुक्तो वा मुच्यते महतो भयात् । अनेनैव तु देहेन गणानां श्रेष्ठतां व्रजेत् ॥ ११ ॥
तेजसा यशसा चैव युक्तो भवति निर्मलः । न राक्षसाः पिशाचा वा न भूता न विनायकाः ॥ १२ ॥
विघ्नं कुर्युर्गृहे तत्र यत्रायं पठ्यते स्तवः । शृणुयाद् या स्तवं नारी अनुज्ञां प्राप्य भर्तृतः ॥ १३ ॥
मातृपक्षे पितुः पक्षे पूज्या भवति देववत् । शृणुयाद् यः स्तवं दिव्यं कीर्तयेद् वा समाहितः ॥ १४ ॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं गच्छन्ति नित्यशः । मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचाऽनुकीर्तितम् ॥ १५ ॥
सर्वं सम्पद्यते तस्य स्तवनस्यानुकीर्त्तनात् ।
मनसा कर्मणा वाचा कृतमेनो विनश्यति । वरं वरय भद्रं ते यत्त्वया मनसेप्सितम् ॥ १६ ॥

विद्याकी इच्छा रखनेवालेको श्रद्धासहित यत्नपूर्वक इस स्तुतिको सुनना चाहिये । व्याधिसे ग्रस्त, दुःखित, दीन, चोर या राजासे भयभीत अथवा राजकार्यसे अलग किया गया पुरुष (इस स्तुतिके द्वारा) महान् भयसे मुक्त होकर इसी देहसे गणोंमें श्रेष्ठता प्राप्त करता है एवं निर्मल होकर तेज एवं यशसे युक्त होता है । जिस गृहमें इस स्तवका पाठ होता है उसमें राक्षस, पिशाच, भूत या विनायकगण विघ्न नहीं करते । पतिकी आज्ञा प्राप्त कर इस स्तवका श्रवण करनेवाली नारी मातृपक्ष एवं पितृपक्षमें देवताके समान पूजनीया हो जाती है । जो मनुष्य समाहित होकर इस दिव्य स्तवको सुनेगा या कीर्तन करेगा, उसके सभी कार्य नित्य सिद्ध होंगे । इस स्तवका कीर्तन करनेवाले मनुष्यके मनमें चिन्तित तथा वचनके द्वारा कथित सभी कार्य सम्पन्न होते जायँगे और मानसिक, वाचिक तथा कार्मिक—सारे पाप विनष्ट हो जायँगे । तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट हो उस वरको माँग लो; तुम्हारा कल्याण हो ॥ १०–१६ ॥

वेन उवाच

अस्य लिङ्गस्य माहात्म्यात् तथा लिङ्गस्य दर्शनात् । मुक्तोऽहं पातकैः सर्वैस्तव दर्शनतः किल ॥ १७ ॥
यदि तुष्टोऽसि मे देव यदि देयो वरो मम । देवस्वभक्षणाज्जातं श्वयोनौ तव सेवकम् ॥ १८ ॥
एतस्यापि प्रसादं त्वं कर्तुमर्हसि शंकर । एतस्यापि भयान्मध्ये सरसोऽहं निमज्जितः ॥ १९ ॥
दैवैर्निवारितः पूर्वं तीर्थेऽस्मिन् स्नानकारणात् । अयं कृतोपकारश्च एतदर्थं वृणोम्यहम् ॥ २० ॥

*

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा तुष्टः प्रोवाच शंकरः। एषोऽपि पापनिर्मुक्तो भविष्यति न संशयः ॥ २१ ॥
प्रसादान्मे महाबाहो शिवलोकं गमिष्यति। तथा स्तवमिमं श्रुत्वा मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २२ ॥
कुरुक्षेत्रस्य माहात्म्यं सरसोऽस्य महीपते। मम लिङ्गस्य चोत्पत्तिं श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

वेनने कहा—इस लिङ्गके माहात्म्यसे, इसके तथा आपके दर्शनोंसे मैं समस्त पापोंसे निश्चित रूपसे छूट गया हूँ। देव! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते है तो हे शङ्कर! अपने उस सेवकपर कृपा करें जो देवद्रव्यका भक्षण करनेके कारण कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न हुआ है। पहले इस तीर्थमें स्नान करनेके लिये देवोंके मना करनेपर भी इस (कुत्ते)के भयसे मैंने सरोवरमें स्नान किया। इसने मेरा उपकार किया है। अतएव मैं इसके लिये वर माँगता हूँ। उस-(वेन-)के इस वचनको सुनकर शंकर सन्तुष्ट होकर बोले—महाबाहो! यह भी मेरी कृपासे निःसन्देह सभी पापोंसे बिल्कुल छूट जायगा और शिवलोकको प्राप्त करेगा। इस स्तवको सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जायगा। राजन्! इस कुरुक्षेत्र तथा इस सरोवरका माहात्म्य और मेरे लिङ्गकी उत्पत्तिका वर्णन सुननेसे मनुष्य पापसे बिल्कुल छूट जाता है ॥ १७—२३ ॥

सनत्कुमार उवाच

इत्येवमुक्त्वा भगवान् सर्वलोकनमस्कृतः। पश्यतां सर्वलोकानां तत्रैवान्तरधीयत ॥ २४ ॥
स च श्वा तत्क्षणादेव स्मृत्वा जन्म पुरातनम्। दिव्यमूर्त्तिधरो भूत्वा तं राजानमुपस्थितः ॥ २५ ॥
कृत्वा स्नानं ततो वैन्यः पितृदर्शनलालसः। स्थाणुतीर्थे कुटीं शून्यां दृष्ट्वा शोकसमन्वितः ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा वेनोऽब्रवीद् वाक्यं हर्षेण महताऽन्वितः। सत्पुत्रेण त्वया वत्स त्रातोऽहं नरकार्णवात् ॥ २७ ॥

सनत्कुमारने कहा— इस प्रकार कहकर समस्त लोकोंद्वारा नमस्कृत भगवान् सभी लोगोंके देखते हुए वहीं अन्तर्हित हो गये। वह कुत्ता भी उसी समय पूर्वजन्मका स्मरण करके दिव्य शरीर धारणकर उस राजाके सामने उपस्थित हुआ। उसके बाद वेनका पुत्र पृथु स्नान करके पितृदर्शनकी अभिलाषासे स्थाणुतीर्थमें आनेपर कुटीको सूनी देख चिन्तित हो गया। वेन उसे देखकर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक बोला—वत्स! तुमने नरक-सागरमें जानेसे मेरी रक्षा कर ली, अतः तुम सत्पुत्र सिद्ध हुए ॥ २४—२७ ॥

त्वयाभिषिञ्चितो नित्यं तीर्थस्य पुलिने स्थितः। अस्य साधोः प्रसादेन स्थाणोर्देवस्य दर्शनात् ॥ २८ ॥
मुक्तपापश्च स्वर्लोकं यास्ये यत्र शिवः स्थितः। इत्येवमुक्त्वा राजानं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम् ॥ २९ ॥
स्थाणुतीर्थे ययौ सिद्धिं तेन पुत्रेण तारितः। स च श्वा परमां सिद्धिं स्थाणुतीर्थप्रभावतः ॥ ३० ॥
विमुक्तः कलुषैः सर्वैर्जगाम भवमन्दिरम्। राजा पितृऋणैर्मुक्तः परिपाल्य वसुन्धराम् ॥ ३१ ॥
पुत्रानुत्पाद्य धर्मेण कृत्वा यज्ञं निरर्गलम्। दत्त्वा कामांश्च विप्रेभ्यो भुक्त्वा भोगान् पृथग्विधान् ॥ ३२ ॥

तीर्थके तटपर रहने एवं तुम्हारे द्वारा नित्य अभिषिञ्चित होनेके कारण तथा इस साधुके अनुग्रह एवं स्थाणुदेवके दर्शन करनेसे मैं पापोंसे छूटकर उस स्वर्गलोकको जा रहा हूँ, जहाँ शिवजी (स्वयं) स्थित हैं। राजा पृथुसे ऐसा कहनेके पश्चात् उस पुत्रद्वारा (पापनिर्मुक्त) तारित वेनने स्थाणुतीर्थमें महेश्वरको प्रतिष्ठापित करके सिद्धि प्राप्त कर ली। स्थाणुतीर्थके प्रभावसे वह कुत्ता भी पापसे रहित होकर परम सिद्धिको प्राप्त हुआ और शिवलोकको चला गया। राजा पृथु पितृ-ऋणसे मुक्त हो गये और पृथ्वीका पालन करते हुए उन्होंने धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके बाधारहित होकर यज्ञ (यज्ञानुष्ठान) किया। उन्होंने ब्राह्मणोंको मनोऽभिलषित पदार्थोंका दान दिया तथा भाँति-भाँतिके भोगोंका उपभोग किया ॥ २८—३२ ॥

सुहृदोऽथ ऋणैर्मुक्त्वा कामैः संतर्प्य च स्त्रियः। अभिषिच्य सुतं राज्ये कुरुक्षेत्रं ययौ नृपः ॥ ३३ ॥
तत्र तप्त्वा तपो घोरं पूजयित्वा च शङ्करम्। आत्मेच्छया तनुं त्यक्त्वा प्रयातः परमं पदम् ॥ ३४ ॥
एतत्प्रभावं तीर्थस्य स्थाणोर्यः शृणुयान्नरः। सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमां गतिम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

मित्रोंको (भी) ऋणसे मुक्त तथा स्त्रियोंके मनोरथोंको संतुष्टि प्रदान करनेके पश्चात् पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त कर पृथु राजा कुरुक्षेत्रमें चले गये। वहाँ घोर तपस्या तथा शङ्करका पूजन करके अपनी इच्छासे शरीरका त्याग कर उन्होंने परमपदको प्राप्त किया। जो मनुष्य स्थाणुतीर्थके इस प्रभावको सुनेगा, वह सभी पापोंसे छूट जायगा और परम गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३३—३५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

[अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

चतुर्मुखानामुत्पत्तिं विस्तरेण ममानघ। तथा ब्रह्मेश्वराणां च श्रोतुमिच्छा प्रवर्तते ॥ १ ॥

उनचासवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चार मुखोंकी उत्पत्ति-कथा, ब्रह्म-कृत शिवकी स्तुति और स्थाणुतीर्थका माहात्म्य)

मार्कण्डेयने कहा—निष्पाप ! चार मुखों और ब्रह्मेश्वरोंकी उत्पत्तिको विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा हो रही है (अतः आप उसे सुनानेकी कृपा करें) ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

शृणु सर्वमशेषेण कथयिष्यामि तेऽनघ। ब्रह्मणः स्रष्टुकामस्य यद् वृत्तं पद्मजन्मनः ॥ २ ॥
उत्पन्न एव भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः। ससर्ज सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ३ ॥
पुनश्चिन्तयतः सृष्टिं जज्ञे कन्या मनोरमा। नीलोत्पलदलश्यामा तनुमध्या सुलोचना ॥ ४ ॥
तां दृष्ट्वाभिमतां ब्रह्मा मैथुनायाजुहाव ताम्। तेन पापेन महता शिरोऽशीर्यत वेधसः ॥ ५ ॥

सनत्कुमार बोले—अनघ ! सृष्टिकी कामना करनेवाले एवं कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माका जो वृत्तान्त है, उसे मैं तुमसे पूर्णतः कहता हूँ, सुनो। लोक-पितामह भगवान् ब्रह्माने उत्पन्न होते ही पहले अचर और चर-रूप सम्पूर्ण भूतोंकी रचना की। पुनः उनके सृष्टिकी चिन्ता करनेपर एक नीले कमल-दलके समान श्याम, पतले मध्य भागवाली, सुलोचना, मन-मोहिनी कन्या उत्पन्न हुई। उस मनोहर कन्याको देखकर ब्रह्माने उसे संतानोत्पत्ति-हेतु बुलाया। (बस,) उस महान् पापसे ब्रह्माका मस्तक गिर गया ॥ २—५ ॥

तेन शीर्णेन स ययौ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। सान्निहत्यं सरः पुण्यं सर्वपापक्षयावहम् ॥ ६ ॥
तत्र पुण्ये स्थाणुतीर्थे ऋषिसिद्धनिषेविते। सरस्वत्युत्तरे तीरे प्रतिष्ठाप्य चतुर्मुखम् ॥ ७ ॥
आराधयामास तदा धूपैर्गन्धैर्मनोरमैः। उपहारैस्तथा हृद्यै रौद्रसूक्तैर्दिने दिने ॥ ८ ॥
तस्यैवं भक्तियुक्तस्य शिवपूजापरस्य च। स्वयमेवाजगामाथ भगवान् नीललोहितः ॥ ९ ॥
तमागतं शिवं दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः। प्रणम्य शिरसा भूमौ स्तुतिं तस्य चकार ह ॥ १० ॥

वे (ब्रह्माजी) उस गिरे मस्तकको लेकर सभी पापोंका विनाश करनेवाले तीनो लोकोंमें विख्यात सान्निहत्यसर नामके तीर्थमें गये। ऋषि और सिद्धोंसे सेवित उस पवित्र स्थाणुतीर्थमे सरस्वतीके उत्तरी तटपर

चतुर्मुख ब्रह्मा

चतुर्मुख- (चार मुखवाले शिवलिङ्ग-) को स्थापित कर प्रतिदिन मनोरम धूप, गन्ध, सुन्दर उपहारों एवं रुद्र-सूक्तोंसे उसकी उपासना करने लगे । उनके इस प्रकार भक्तिपूर्वक शिवपूजामें तन्मय हो जानेपर भगवान् नीललोहित (शंकरजी) स्वयं ही वहाँ आ गये । लोकपितामह ब्रह्माने उन आये हुए शिवको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया और पुनः वे (ब्रह्माजी) उन-(शिव-)की स्तुति करने लगे ॥ ६—१० ॥

ब्रह्मोवाच

नमस्तेऽस्तु महादेव भूतभव्य भवाश्रय । नमस्ते स्तुतिनित्याय नमस्त्रैलोक्यपालिने ॥ ११ ॥
नमः पवित्रदेहाय सर्वकल्मषनाशिने । चराचरगुरो गुह्यगुह्यानां च प्रकाशकृत् ॥ १२ ॥
रोगा न यान्ति भिषजैः सर्वरोगविनाशन । रौरवाजिनसंवीत वीतशोक नमोऽस्तु ते ॥ १३ ॥
वारिकल्लोलसंक्षुब्धमहाबुद्धिविघट्टिने । त्वन्नामजापिनो देव न भवन्ति भवाश्रयाः ॥ १४ ॥

ब्रह्माने कहा—भूत, भव्य तथा भवके आश्रयस्वरूप महादेवजी ! आपको नमस्कार है । नित्य-स्तुति किये जानेवाले और तीनों लोकोंके रक्षक ! आपको नमस्कार है । सभी पापोंको नष्ट करनेवाले एवं पवित्र देहवाले ! आपको नमस्कार है । चर और अचरके गुरु ! आप रहस्योंके भी रहस्यको (गुप्तसे गुप्त तत्त्वको) प्रकाशित करनेवाले हैं । वैद्योंकी दवाओंसे दूर न होनेवाले सभी रोगोंका विनाश करनेवाले ! रुरुमृगचर्मधारी ! शोकसे रहित शिव ! आपको नमस्कार है । जलकी उत्ताल तरङ्गोंसे महाबुद्धिके विघटन करनेमें (स्वयं भी) संक्षुब्ध देव ! आपके नामका जप करनेवाले प्राणी संसारमें नहीं पड़ते ॥ ११—१४ ॥

नमस्ते नित्यनित्याय नमस्त्रैलोक्यपालन । शंकरायाप्रमेयाय व्याधीनां शमनाय च ॥ १५ ॥
परायापरिमेयाय सर्वभूतप्रियाय च । योगेश्वराय देवाय सर्वपापक्षयाय च ॥ १६ ॥
नमः स्थाणवे सिद्धाय सिद्धवन्दिस्तुताय च । भूतसंसारदुर्गाय विश्वरूपाय ते नमः ॥ १७ ॥
फणीन्द्रोक्तमहिम्ने ते फणीन्द्राङ्गदधारिणे । फणीन्द्रवरहाराय भास्कराय नमो नमः ॥ १८ ॥

नित्यके भी नित्य आपको नमस्कार है । तीनों लोकोंके पालक ! कल्याणकारी (निश्चयात्मिका बुद्धिसे भी अगम्य) अप्रमेय शारीरिक-मानसिक रोगोंके नाश करनेवाले आपको नमस्कार है । सबसे परे, अपरिमेय (मापमें न आने योग्य), सभी प्राणियोंके प्रिय देव एवं सभी पापोंके क्षय करनेवाले योगेश्वर आपको नमस्कार है । (आप) स्थाणुस्वरूप सिद्ध एवं सिद्धों तथा वन्दियोंके द्वारा स्तुत आपको नमस्कार है । संसारके प्राणियोंके लिये दुर्ग बने हुए आप विश्वरूपके लिये नमस्कार है । सर्पराजके द्वारा बखानी गयी महिमावाले, सर्पराजके बाजूबंद एवं माला धारण करनेवाले भास्करस्वरूप आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १५—१८ ॥

एवं स्तुतो महादेवो ब्रह्माणं प्राह शङ्करः । न च मन्युस्त्वया कार्यो भाविन्यर्थे कदाचन ॥ १९ ॥
पुरा वराहकल्पे ते यन्मयाऽपहृतं शिरः । चतुर्मुखं च तद्भूतं कदाचिन्न विनश्यति ॥ २० ॥
अस्मिन् सान्निहिते तीर्थे लिङ्गानि मम भक्तितः । प्रतिष्ठाय विमुक्तस्त्वं सर्वपापैर्भविष्यसि ॥ २१ ॥
सृष्टिकामेन च पुरा त्वयाऽहं प्रेरितः किल । तेनाहं त्वां तथेत्युक्त्वा भूतानां देशवर्त्तिवत् ॥ २२ ॥
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा मग्नः संनिहिते स्थितः । सुमहान्तं ततः कालं त्वं प्रतीक्षां ममाकरोः ॥ २३ ॥

इस प्रकार स्तुति किये जानेपर शंकरने ब्रह्मासे कहा—ब्रह्मन् ! जो कार्य अवश्यम्भावी है उसके विषयमें आपको कभी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । पहले वराह-कल्पमें मैंने आपका जो मस्तक अपहृत किया था वही चार मुख हो गया । अब वह कभी विनष्ट नहीं होगा । इस सान्निहित तीर्थमें भक्तिपूर्वक मेरे लिङ्गोंकी प्रतिष्ठा

करके आप सभी पापोंसे छूट जायँगे। प्राचीनकालमें सृष्टि रचनेकी इच्छासे आपने मुझे अनुप्रेरित किया था, अतः मैं 'ऐसा ही होगा' यह कहकर भूतोंके वेशमें रहनेवालेकी भाँति दीर्घकालतक तप करके संनिहितमें विलीन होकर स्थित रहा। उसके बाद आपने बहुत दिनोंतक मेरी प्रतीक्षा की ॥ १०-२३ ॥

स्रष्टारं सर्वभूतानां मनसा कल्पितं त्वया। सोऽब्रवीत् त्वां तदा दृष्ट्वा मां मग्नं तत्र चाम्भसि ॥ २४ ॥
यदि मे नाग्रजस्त्वन्यस्ततः स्रक्ष्याम्यहं प्रजाः। त्वयैवोक्तश्च नैवास्ति त्वदन्यः पुरुषोऽग्रजः ॥ २५ ॥
स्थाणुरेष जले मग्नो विवशः कुरु मद्धितम्। स सर्वभूतानसृजद् दक्षादींश्च प्रजापतीन् ॥ २६ ॥

फिर आपने अपने मनमें सभी प्राणियोंकी सृष्टि करनेवालेका ध्यान किया। तब उन्होंने मुझे वहाँ जलमें विलीन देखकर आपसे कहा कि यदि मुझसे अन्य कोई बड़ा पहले हुआ न माना जाय तो मैं प्रजाकी सृष्टि करूँगा। आपने कहा—आपके सिवा कोई दूसरा अग्रज पुरुष नहीं है। ये स्थाणु जलमें विलीन तथा विवश पड़े हैं। आप मेरा कल्याण करें। फिर उन्होने दक्ष आदि प्रजापतियों तथा समस्त भूतोंकी सृष्टि की ॥ २४-२६ ॥

यैरिमं प्रकरोत् सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम्। ताः सृष्टमात्राः क्षुधिताः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिम् ॥ २७ ॥
विभक्षयिषवो ब्रह्मन् सहसा प्राद्रवंस्तथा। स भक्ष्यमाणस्त्राणार्थी पितामहमुपाद्रवन् ॥ २८ ॥
अथासां च महावृत्तिः प्रजानां संविधीयताम्। दत्तं ताभ्यस्त्वया ह्यन्नं स्थावराणां महौषधीः ॥ २९ ॥
जङ्गमानि च भूतानि दुर्बलानि बलीयसाम्। विहितान्नाः प्रजाः सर्वाः पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ ३० ॥

(इस तरह) जिन्होने इस चार प्रकारके प्राणि-समुदायको उत्पन्न किया, सृष्टि होते ही वे सभी प्रजाएँ क्षुधित हो गयीं और प्रजापतिको खानेकी इच्छासे उन्हींपर लपक पड़ीं। जब उन्होंने उन्हींका भक्षण करनेकी चेष्टा की, तब त्राण पानेकी इच्छासे वे पितामहके पास दौड़कर गये और उनसे बोले—प्रजाओंकी जीविकाका विधान कीजिये। फिर आपने उन्हे अन्न (जीवन-साधन) प्रदान किया। अचल प्राणियोंकी महौषधियाँ और निर्बल चल प्राणी शक्तिशाली प्राणियोंके अन्न (प्राणन-शक्ति) बने। इस प्रकार जीवन-निर्वाहके लिये प्राणन-शक्तिका विधान हुआ। फिर सभी प्रजाएँ अपने स्थानको लौट गयीं ॥ २७-३० ॥

ततो ववृधिरे सर्वाः प्रीतियुक्ताः परस्परम्। भूतग्रामे विवृद्धे तु तुष्टे लोकगुरौ त्वयि ॥ ३१ ॥
समुत्तिष्ठञ्जलात् तस्मात् प्रजाः संदृष्टवानहम्। ततोऽहं ताः प्रजा दृष्ट्वा विहिताः स्वेन तेजसा ॥ ३२ ॥
क्रोधेन महता युक्तो लिङ्गमुत्पाट्य चाक्षिपम्। तत् क्षिप्तं सरसो मध्ये ऊर्ध्वमेव यदा स्थितम् ॥ ३३ ॥
तदा प्रभृति लोकेषु स्थाणुरित्येष विश्रुतः। सकृद् दर्शनमात्रेण विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥ ३४ ॥
प्रयाति मोक्षं परमं यस्मान्नावर्तते पुनः। यश्चेह तीर्थे निवसेत् कृष्णाष्टम्यां समाहितः ॥ ३५ ॥
स मुक्तः पातकैः सर्वैरगम्यागमनोद्भवैः। इत्युक्त्वा भगवान् देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३६ ॥

फिर तो वे सब परस्पर प्रेमपूर्वक रहकर बढ़ने लगे। प्राणि-समुदायके बढ़ने एवं लोकके गुरु आपके हर्षित होनेपर मैने उस जलसे निकलकर प्रजाको देखा। उसके बाद अपने तेजसे उत्पन्न हुई उन प्रजाओंको देखकर भारी क्रोधसे भरकर मैंने लिङ्गको उखाड़कर फेंक दिया। तालाबके बीचमें फेंका गया वह (लिङ्ग) ऊपर स्थित हो गया। तभीसे वह (लिङ्ग) संसारमें 'स्थाणु' नामसे प्रसिद्ध हो गया। इस-(लिङ्ग-) का एक बार भी दर्शन करनेसे मनुष्य सभी पापोसे छूटकर मोक्षपद प्राप्त कर लेता है; जहाँसे वह फिर नहीं लौटता। कृष्णाष्टमीके दिन मनको शान्त—समाहित कर इस तीर्थमें निवास करनेवाला व्यक्ति अगम्यागमनसे होनेवाले सभी पापोंसे छूट जाता है—ऐसा कहकर भगवान् महादेव वहीं अन्तर्हित हो गये ॥ ३१-३६ ॥

ब्रह्मा विशुद्धपापस्तु पूज्यं देवं चतुर्मुखम्। लिङ्गानि देवदेवस्य ससृजे सरमध्यतः ॥ ३७ ॥
आद्यं ब्रह्मसरः पुण्यं हरिपार्श्वे प्रतिष्ठितम्। द्वितीयं ब्रह्मसदनं स्वकीये ह्याश्रमे कृतम् ॥ ३८ ॥
तस्यैव पूर्वदिग्भागे तृतीयं च प्रतिष्ठितम्। चतुर्थं ब्रह्मणा लिङ्गं सरस्वत्यास्तटे कृतम् ॥ ३९ ॥
एतानि ब्रह्मतीर्थानि पुण्यानि पावनानि च। ये पश्यन्ति निराहारास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ४० ॥

पापके शोधन हो जानेके कारण ब्रह्माने भी चतुर्मुख महादेवका पूजन कर तालाबके बीचमें देवाधिदेव-(शिव-)के लिङ्गोंकी सृष्टि की। पहले तो उन्होंने हरिकी बगलमें ब्रह्मसरको स्थापित किया और दूसरा अपने आश्रममें ब्रह्मसदनका निर्माण किया। उसीकी पूर्व दिशामें ब्रह्माने तृतीय लिङ्गको एवं सरस्वती नदीके तटपर चतुर्थ लिङ्गको प्रतिष्ठित किया। जो प्राणी उपवास-व्रतपूर्वक इन पवित्र और पापनाशक ब्राह्मतीर्थोंका दर्शन करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३७—४० ॥

कृते युगे हरेः पार्श्वे त्रेतायां ब्रह्मणाश्रमे। द्वापरे तस्य पूर्वेण सरस्वत्यास्तटे कलौ ॥ ४१ ॥
एतानि पूजयित्वा च दृष्ट्वा भक्तिसमन्विताः। विमुक्ताः कलुषैः सर्वैः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ४२ ॥
सृष्टिकाले भगवता पूजितस्तु महेश्वरः। सरस्वत्युत्तरे तीरे नाम्ना ख्यातश्चतुर्मुखः ॥ ४३ ॥
तं प्रणम्य श्रद्दधानो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः। लोलासंकरसंभूतैस्तथा वैभाण्डसंकरैः ॥ ४४ ॥

सत्ययुगमें हरिकी बगलमें, त्रेतामें ब्रह्माके आश्रममें, द्वापरमें उसके पूर्व तथा कलिमें सरस्वतीके तटपर स्थित लिङ्गोंका भक्तिपूर्वक पूजन एवं दर्शन करनेसे मनुष्य सभी पापोंसे छूटकर परम गतिको प्राप्त करते हैं। सृष्टि करनेके समय सरस्वतीके उत्तरी तटपर भगवान् ब्रह्मासे अर्चित भगवान् महेश्वर चतुर्मुख नामसे विख्यात हुए। मनुष्य उनको श्रद्धाके साथ प्रणाम कर लोलासाङ्कर्य (चंचलासे उत्पन्न वर्णसंकर) तथा वैभाण्डसाङ्कर्यसे उत्पन्न सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१—४४ ॥

तथैव द्वापरे प्राप्ते स्वाश्रमे पूज्य शङ्करम्। विमुक्तो राजसैर्भावैर्वर्णसंकरसम्भवैः ॥ ४५ ॥
ततः कृष्णचतुर्दश्यां पूजयित्वा तु मानवः। विमुक्तः पातकैः सर्वैरभोज्यस्यान्नसम्भवैः ॥ ४६ ॥
कलिकाले तु संप्राप्ते वसिष्ठाश्रममास्थितः। चतुर्मुखं स्थापयित्वा ययौ सिद्धिमनुत्तमाम् ॥ ४७ ॥
तत्रापि ये निराहाराः श्रद्दधाना जितेन्द्रियाः। पूजयन्ति महादेवं ते यान्ति परमं पदम् ॥ ४८ ॥
इत्येतत् स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं कीर्त्तितं तव। यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

उसी प्रकार द्वापरयुगके आनेपर अपने आश्रममें शङ्करका पूजन कर ब्रह्मा वर्णसाङ्कर्यसे उत्पन्न होनेवाले रजोगुणके भावोंसे मुक्त हुए। मनुष्य कृष्णचतुर्दशी तिथिमें वहाँ शङ्करजीका पूजन कर अभक्ष्य अन्नके भक्षण करनेसे होनेवाले समस्त पापोंसे विमुक्त हो जाता है। कलिकाल आनेपर वसिष्ठाश्रममें स्थित होकर ब्रह्माने चतुर्मुख-(शङ्कर-)की स्थापना की तथा उत्तम सिद्धि प्राप्त की। जो लोग वहाँ निराहार, श्रद्धायुक्त और जितेन्द्रिय होकर महादेवकी पूजा करेंगे वे परमपदको प्राप्त करेंगे। इस प्रकार मैंने आपसे स्थाणुतीर्थका माहात्म्य बताया, जिसे सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४५—४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनचासवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

[अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

देवदेव उवाच

एवं पृथूदको देवाः पुण्यः पापभयापहः। तं गच्छध्वं महातीर्थं यावत् संनिधिबोधितम् ॥ १ ॥
यदा मृगशिरोऋक्षे शशिसूर्यौ बृहस्पतिः। तिष्ठन्ति सा तिथिः पुण्या त्वक्षया परिगीयते ॥ २ ॥
तं गच्छध्वं सुरश्रेष्ठा यत्र प्राची सरस्वती। पितॄनाराधयध्वं हि तत्र श्राद्धेन भक्तितः ॥ ३ ॥
ततो मुरारिवचनं श्रुत्वा देवाः सवासवाः। समाजग्मुः कुरुक्षेत्रे पुण्यतीर्थं पृथूदकम् ॥ ४ ॥

पचासवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके पृथूदक-तीर्थके सन्दर्भमें अक्षय-तृतीयाके महत्त्वकी कथा)

देवदेव-(महादेव-)ने कहा—देवताओ ! इस प्रकार पृथूदक-तीर्थ पाप-भयको नष्ट करनेवाला और पवित्र है। तुमलोग 'सन्निहित' तालाबतक (उस) ज्ञान (व्याप्त) होनेवाले महातीर्थमें जाओ। जिस तिथिमें चन्द्रमा, सूर्य एवं बृहस्पति—ये तीनो ग्रह मृगशिरा नक्षत्रमें स्थित होते हैं, उस पवित्र तिथिको 'अक्षया' तिथि कहते हैं। श्रेष्ठ देवताओ ! जहाँ सरस्वती नदी पूर्व दिशामें बह रही है, वहाँ जाकर भक्ति-श्रद्धासे श्राद्ध करके पितरोंकी आराधना करो। भगवान्‌का निर्देश सुनकर इन्द्रके सहित सभी देवता कुरुक्षेत्रमें विद्यमान पृथूदक नामवाले पवित्र तीर्थमें गये ॥ १–४ ॥

तत्र स्नात्वा सुराः सर्वे बृहस्पतिमचोदयन्।
विशस्व भगवन् ऋक्षमिमं मृगशिरं कुरु। पुण्यां तिथिं पापहरां तव कालोऽयमागतः ॥ ५ ॥
प्रवर्तते रविस्तत्र चन्द्रमाऽपि विशत्यसौ। त्वदायत्तं गुरो कार्यं सुराणां तत् कुरुष्व च ॥ ६ ॥
इत्येवमुक्तो देवैस्तु देवाचार्योऽब्रवीदिदम्।
यदि वर्षाधिपोऽहं स्यां ततो यास्यामि देवताः। वाढमूचुः सुराः सर्वे ततोऽसौ प्राक्रमन्मृगम् ॥ ७ ॥

वहाँ स्नान करके सभी देवताओंने बृहस्पतिसे कहा—भगवन् ! इस मृगशिरा नक्षत्रमे आप प्रविष्ट होकर पापविनाशिनी पवित्र तिथिका निर्माण (विधान) करें। आपका यह (निर्दिष्ट) समय आ गया है। सूर्य उस स्थानपर स्थित हैं तथा चन्द्रमा भी उसमें प्रविष्ट हो रहे हैं। हे बृहस्पति ! देवताओका कार्य आपके अधीन है, आप उसे पूरा करें। देवताओंके इस प्रकार कहनेपर देवोंके गुरु बृहस्पतिने यह कहा—देवताओ ! यदि मैं वर्ष-स्वामी बनूँ तो (मृगशिरा नक्षत्रपर) जाऊँगा। सभी देवोंने कहा—ठीक है। तब उन्होंने (बृहस्पतिने) मृगशिरा नक्षत्रमें प्रवेश किया ॥ ५–७ ॥

आषाढे मासि मार्गर्क्षे चन्द्रक्षयतिथिर्हि या। तस्यां पुरन्दरः प्रीतः पिण्डं पितृषु भक्तितः ॥ ८ ॥
प्रादात् तिलमधून्मिश्रं हविष्यान्नं कुरुष्वथ। ततः प्रीतास्तु पितरस्तां प्राहुस्तनयां निजाम् ॥ ९ ॥
मेनां देवाश्च शैलाय हिमयुक्ताय वै ददुः।
तां मेनां हिमवाँल्लब्ध्वा प्रसादाद् दैवतेष्वथ। प्रीतिमानभवच्चासौ रराम च यथेच्छया ॥ १० ॥
ततो हिमाद्रिः पितृकन्यया समं समर्पयन् वै विषयान् यथेष्टम्।
अजीजनत् सा तनयाश्च तिस्रो रूपातियुक्ताः सुरयोषितोपमाः ॥ ११ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

आषाढ महीनेके मृगशिरा नक्षत्रमें चन्द्रक्षय (अमावस्या) तिथिके आ जानेपर इन्द्रने प्रसन्न होकर कुरुक्षेत्रमें भक्तिके साथ पितरोंको तिल और मधुसे मिला हुआ हविष्यान्नका पिण्ड प्रदान किया। तब पितरोंने

देवोंको अपनी मेना नामकी कन्या दी। देवताओंने उसे हिमालयको सौंप दिया। देवोंके अनुग्रहसे उस मेनाको पाकर वे हिमवान् प्रसन्न हो गये और इच्छानुकूल विनोद-विहारमें लग गये। हिमालय पितरोंद्वारा दी गयी उस कन्याके साथ दाम्पत्यसुखमें आसक्त हो गये। फिर उस मेनाने भी सुरनारियोंके समान अत्यन्त रूपवती तीन कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ ८-११ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचासवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

[अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

मेनायाः कन्यकास्तिस्रो जाता रूपगुणान्विताः। सुनाभ इति च ख्यातश्चतुर्थस्तनयोऽभवत् ॥ १ ॥
रक्ताङ्गी रक्तनेत्रा च रक्ताम्बरविभूषिता। रागिणी नाम संजाता ज्येष्ठा मेनासुता मुने ॥ २ ॥
शुभाङ्गी पद्मपत्राक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा। श्वेतमाल्याम्बरधरा कुटिला नाम चापरा ॥ ३ ॥
नीलाञ्जनचयप्रख्या नीलेन्दीवरलोचना। रूपेणानुपमा काली जघन्या मेनकासुता ॥ ४ ॥

इक्यावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(मेनाकी तीन कन्याओंका जन्म, कुटिला और रागिणीको शाप, उमाकी तपस्या, शिवद्वारा उमाकी परीक्षा एवं मन्दराचलपर गमन)

पुलस्त्यजी बोले—मेनाको रूप और गुणोंसे सम्पन्न तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं और चौथा सुनाभ नामसे विख्यात पुत्र उत्पन्न हुआ। मुने! मेनाकी जेठी कन्या 'रागिणी' नामकी थी जो लाल अङ्गों तथा लाल आँखोंवाली थी। वह लाल वस्त्रोंसे सुशोभित रहती थी। दूसरी 'कुटिला' नामकी कन्या थी जो सुन्दर शरीरवाली, कमलदलनयना, नीले एवं घुँघराले बालोंवाली थी तथा उज्ज्वल माला और उज्ज्वल वस्त्र धारण किये रहती थी। मेनाकी तीसरी कन्याका नाम था 'काली'। उसका रंग नीले अञ्जनके ढेरके समान और आँखें नीले कमलके जैसी थीं। वह अत्यन्त सुन्दर थी ॥ १-४ ॥

जातास्ताः कन्यकास्तिस्रः षडब्दात् परतो मुने। कर्तुं तपः प्रयातास्ता देवास्ता ददृशुः शुभाः ॥ ५ ॥
ततो दिवाकरैः सर्वैर्वसुभिश्च तपस्विनी। कुटिला ब्रह्मलोकं तु नीता शशिकरप्रभा ॥ ६ ॥
अथोचुर्देवताः सर्वाः किं त्वियं जनयिष्यति। पुत्रं महिषहन्तारं ब्रह्मन् व्याख्यातुमर्हसि ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिर्नेयं शक्ता तपस्विनी। शार्वं धारयितुं तेजो वराकी मुच्यतां त्वियम् ॥ ८ ॥

मुने! वे तीनों कन्याएँ जन्मसे छः वर्षके बाद तपस्या करने चली गयीं। देवताओंने उन सुन्दरी कन्याओंको देखा, फिर आदित्य तथा वसुगण चन्द्रमाकी किरणोंके समान कान्तिवाली तपस्विनी (मध्यमा कन्या) कुटिलाको ब्रह्मलोकमें ले गये। उसके बाद सभी देवताओंने ब्रह्मासे कहा कि ब्रह्मन्! आप बतलायें कि क्या यह कन्या महिषासुरको मारनेवाले पुत्रको जनेगी? तब सुरपतिने कहा—यह बेचारी तपस्विनी शिवका तेज धारण करनेमें समर्थ नहीं है; इसे छोड दो ॥ ५-८ ॥

ततस्तु कुटिला क्रुद्धा ब्रह्माणं प्राह नारद। तथा यतिष्ये भगवन् यथा शार्वं सुदुर्द्धरम् ॥ ९ ॥
धारयिष्याम्यहं तेजस्तथैव शृणु सत्तम। तपसाहं सुतप्तेन समाराध्य जनार्दनम् ॥ १० ॥
यथा हरस्य मूर्धानं नमयिष्ये पितामह। तथा देव करिष्यामि सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ११ ॥

नारद ! उसके बाद कुपित होकर कुटिलाने ब्रह्मासे कहा—भगवन् ! शङ्करके दुर्धरणीय तेजको जैसे धारण कर सकूँ, मैं वैसा उपाय करूँगी । सत्तम ! आप सुनें, कठिनतर तपस्यासे जनार्दन भगवान्‌की उत्तम उपासना करके मैं उनके तेजको वैसे ही धारण करूँगी जिससे शङ्करका सिर नत कर दूँ । पितामह देव ! मैंने जो कहा है वह सत्य है, सत्य है; मैं वैसा ही करूँगी—॥ ९–११ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः पितामहः क्रुद्धः कुटिलां प्राह दारुणाम् । भगवानादिकृद् ब्रह्मा सर्वेशोऽपि महामुने ॥ १२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महामुने ! उसके बाद आदिकर्ता सबके उपास्य पितामह भगवान् ब्रह्माने उग्र स्वभाववाली कुटिलासे कुपित होकर कहा—॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

यस्मान्मद्वचनं पापे न क्षान्तं कुटिले त्वया । तस्मान्मच्छापनिर्दग्धा सर्वा आपो भविष्यसि ॥ १३ ॥
इत्येवं ब्रह्मणा शप्ता हिमवद्दुहिता मुने । आपोमयी ब्रह्मलोकं प्लावयामास वेगिनी ॥ १४ ॥
तामुद्वृत्तजलां दृष्ट्वा प्रबबन्ध पितामहः । ऋक्सामाथर्वयजुर्भिर्वाङ्मयैर्बन्धनैर्दृढम् ॥ १५ ॥
सा बद्धा संस्थिता ब्रह्मन् तत्रैव गिरिकन्यका । आपोमयी प्लावयन्ती ब्रह्मणो विमला जटाः ॥ १६ ॥

ब्रह्माने कहा—पापिनी कुटिले ! जिस कारण तुमने मेरे वचनको सहन नहीं किया, उसी कारण मेरे शापसे तुम निर्दग्ध होकर पूर्णतः जलमयी हो जाओगी । मुने ! इस प्रकार ब्रह्मासे अभिशप्त हिमालय-पुत्री (कुटिला) जलमयी होकर (अपने) वेगसे ब्रह्मलोकको जलसे आप्लावित करने लगी । पितामहने उसके उमड़कर बहते हुए जलकी धाराको देखकर ऋक्, साम, अथर्व और यजुष्‌की स्तुतियोंका पाठ करके उसे स्तुतिद्वारा दृढ़तापूर्वक बाँध दिया । ब्रह्मन् ! जलमयी वह पर्वतपुत्री ब्रह्माकी विमल जटाको भिगोती हुई वहीं बद्ध (अवरुद्ध) हो गयी ॥ १३–१६ ॥

या सा रागवती नाम सापि नीता सुरैर्दिवम् । ब्रह्मणे तां निवेद्यैवं तामप्याह प्रजापतिः ॥ १७ ॥
सापि क्रुद्धाऽब्रवीन्नूनं तथा तप्स्ये महत्तपः । यथा मन्नामसंयुक्तो महिषघ्नो भविष्यति ॥ १८ ॥
तामप्यथाशपद् ब्रह्मा सन्ध्या पापे भविष्यसि । या मद्वाक्यमलङ्घ्यं वै सुरैर्लङ्घयसे बलात् ॥ १९ ॥
सापि जाता मुनिश्रेष्ठ संध्या रागवती ततः । प्रतीच्छत् कृत्तिकायोगं शैलेयी विग्रहं दृढम् ॥ २० ॥

जो रागवती (रागिणी) नामवाली थी उसे भी देवतागण स्वर्गमें ले गये और उन्होंने ब्रह्माको उसे समर्पित कर दिया । उससे भी ब्रह्माने उसी प्रकार कहा । उसने भी क्रुद्ध होकर कहा—मैं निश्चय ही ऐसी कठिन तपस्या करूँगी, जिससे मेरे नामसे सम्बद्ध पुत्र महिषको मारनेवाला होगा । ब्रह्माने उसे भी शाप दिया—पापे ! देवोंसे भी अनुपेक्ष्य मेरे वचनको अहंकारवश न माननेसे तुम 'सन्ध्या' हो जाओगी । मुनिश्रेष्ठ ! उसके बाद वह शैलतनया रागवती भी सन्ध्या हो गयी और स्वस्थ शरीर धारण कर कृत्तिकायोगकी प्रतीक्षा करने लगी ॥ १७–२० ॥

ततो गते कन्यके द्वे ज्ञात्वा मेना तपस्विनी । तपसो वारयामास उमेत्येवाब्रवीच्च सा ॥ २१ ॥
तदेव माता नामास्याश्चक्रे पितृसुता शुभा । उमेत्येव हि कन्यायाः सा जगाम तपोवनम् ॥ २२ ॥
ततः सा मनसा देवं शूलपाणिं वृषध्वजम् । रुद्रं चेतसि संधाय तपस्तेपे सुदुष्करम् ॥ २३ ॥
ततो ब्रह्माऽब्रवीद् देवान् गच्छध्वं हिमवत्सुताम् । इहानयध्वं तां कालीं तपस्यन्तीं हिमालये ॥ २४ ॥

(इस प्रकार) दो कन्याओंको चली गयी जानकर तपस्विनी मेनाने (तृतीय कन्या कालीको) तपस्या करनेसे रोका । उसने 'उ' 'मा' ऐसा कहा । पितरोंकी पुत्री, कल्याणमयी माता-(मेना-)ने कन्याका वही दो अक्षरोंसे संयुक्त 'उमा' यह नाम रखा । उमा भी तपोवनमें चली गयी । उसके बाद उसने मनमें शूलपाणि वृषकेतु रुद्रका ध्यानकर

कठिन तपस्या की। फिर ब्रह्माने देवताओंसे कहा—देवताओ! तुमलोग हिमालयपर तप करती हुई हिमालयकी पुत्री कालीके पास जाओ और उसे यहाँ लिवा लाओ ॥ २१—२४ ॥

ततो देवाः समाजग्मुर्ददृशुः शैलनन्दिनीम्। तेजसा विजितास्तस्या न शेकुरुपसर्पितुम् ॥ २५ ॥
इन्द्रोऽमरगणैः सार्द्धं निर्द्धूतस्तेजसा तया। ब्रह्मणोऽधिकतेजोऽस्या विनिवेद्य प्रतिष्ठितः ॥ २६ ॥
ततो ब्रह्माऽब्रवीत् सा हि ध्रुवं शङ्करवल्लभा। यूयं यत्तेजसा नूनं विक्षिप्तास्तु हतप्रभाः ॥ २७ ॥
तस्माद् भजध्वं स्वं स्वं हि स्थानं भो विगतज्वराः। सतारकं हि महिषं विद्ध्वं निहतं रणे ॥ २८ ॥

उसके बाद देवगण (हिमालयपर) आये और (उन लोगोंने) शैलनन्दिनीको देखा। परंतु उसके तेजसे व्यग्र (व्याकुल) हो जानेके कारण वे उसके निकट न जा सके। देवताओंके साथ इन्द्र भी उसके तेजसे कान्तिहीन-से हो गये। वे ब्रह्मासे उसके तेजका आधिक्य बतलाकर खड़े हो गये। उसके बाद ब्रह्माने कहा—वह निश्चय ही शङ्करकी पत्नी होगी; क्योंकि उसके तेजसे तुम सब आकुल और प्रभाहीन हो गये हो। अतः देवताओ! तुम लोग चिन्ता छोड़कर अपने-अपने स्थानको जाओ। अब समझ लो कि युद्धमें तारकके साथ महिष मारा (ही) गया ॥ २५—२८ ॥

इत्येवमुक्ता देवेन ब्रह्मणा सेन्द्रकाः सुराः। जग्मुः स्वान्येव धिष्ण्यानि सद्यो वै विगतज्वराः ॥ २९ ॥
उमामपि तपस्यन्तीं हिमवान् पर्वतेश्वरः। निवर्त्य तपसस्तस्मात् सदारो ह्यनयद्गृहान् ॥ ३० ॥
देवोऽप्याश्रित्य तद्रौद्रं व्रतं नाम्ना निराश्रयम्। विचचार महाशैलान् मेरुप्राग्र्यान् महामतिः ॥ ३१ ॥
स कदाचिन्महाशैलं हिमवन्तं समागतः। तेनार्चितः श्रद्धयाऽसौ तां रात्रिमवसद्धरः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माने जब इन्द्रके साथ सभी देवताओंसे कहा तब देवगण चिन्तारहित होकर उसी समय अपने-अपने स्थानपर चले गये। फिर पत्नीसहित पर्वतराज हिमवान् तपश्चर्यामें लगी हुई उमाको भी उस तपश्चर्यासे हटाकर उसे घर ले आये। महाज्ञानी महादेव भी निराश्रय नामके उस कठिन (रौद्र) व्रतका आश्रय लेकर मेरु आदि बड़े-बड़े पर्वतोंपर भ्रमण करने लगे। वे कभी पर्वतराज हिमाचलपर गये। हिमालयने उनकी श्रद्धासे पूजा की। उस रात उन्होने वहीं निवास किया ॥ २९—३२ ॥

द्वितीयेऽह्नि गिरीशेन महादेवो निमन्त्रितः। इहैव तिष्ठस्व विभो तपःसाधनकारणात् ॥ ३३ ॥
इत्येवमुक्तो गिरिणा हरश्चक्रे मतिं च ताम्। तस्थावाश्रममाश्रित्य त्यक्त्वा वासं निराश्रयम् ॥ ३४ ॥
वसतोऽप्याश्रमे तस्य देवदेवस्य शूलिनः। तं देशमगमत् काली गिरिराजसुता शुभा ॥ ३५ ॥
तामागतां हरो दृष्ट्वा भूयो जातां प्रियां सतीम्। स्वागतेनाभिसम्पूज्य तस्थौ योगरतो हरः ॥ ३६ ॥

दूसरे दिन पर्वतराज-(हिमालय-)ने महादेवको निमन्त्रित किया (और) कहा—हे प्रभो! आप तपस्या करनेके लिये यहीं रहें। हिमालयके इस प्रकार कहनेपर शङ्करने भी वही विचार किया और बिना घरका रहना छोड़कर आश्रममें रहने लगे। देवाधिदेव त्रिशूलधारी शङ्करके आश्रममे रहनेपर गिरिराजकी कल्याणी कन्या काली उस स्थानपर आयी। अपनी प्रिया सतीको पुनः हिमतनया उमाके रूपमें उत्पन्न हुई और (अपने) सामने आयी देखकर शङ्करने उनके आनेका अभिनन्दन तो किया, पर वे फिर योगमे लीन हो गये ॥ ३३—३६ ॥

सा चाभ्येत्य वरारोहा कृताञ्जलिपरिग्रहा। ववन्दे चरणौ शैवौ सखीभिः सह भामिनी ॥ ३७ ॥
ततस्तु सुचिराच्छर्वः समीक्ष्य गिरिकन्यकाम्। न युक्तं चैवमुक्त्वाऽथ सगणोऽन्तर्दधे ततः ॥ ३८ ॥
साऽपि शर्ववचो रौद्रं श्रुत्वा ज्ञानसमन्विता। अन्तर्दुःखेन दह्यन्ती पितरं प्राह पार्वती ॥ ३९ ॥
तात यास्ये महारण्ये तप्तुं घोरं महत्तपः। आराधनाय देवस्य शङ्करस्य पिनाकिनः ॥ ४० ॥

सुन्दर शरीरवाली हिमसुताने वहाँ जानेके बाद दोनों हाथ जोड़कर सहेलियोंके साथ शिवके दोनों चरणोंमें अभिवादन (प्रणाम) किया। उसके बाद शङ्करने देरतक गिरिकन्याको देखा और कहा—यह उचित नहीं है। ऐसा कहकर शङ्कर अपने गणोंके साथ तिरोहित हो गये (छिप गये)। भय उत्पन्न करनेवाले शङ्करके वचनको सुनकर आन्तरिक दुःखसे जलती हुई ज्ञानिनी उन पार्वतीने भी अपने पितासे कहा—तात! पिनाक धारण करनेवाले शङ्करदेवकी आराधना एवं उत्कट तथा महान् तप करनेके लिये मैं विशाल वनमें जाऊँगी ॥ ३७–४० ॥

तथेत्युक्तं वचः पित्रा पादे तस्यैव विस्तृते। ललिताख्या तपस्तेपे हराराधनकाम्यया ॥ ४१ ॥
तस्याः सख्यस्तदा देव्याः परिचर्यां तु कुर्वते। समित्कुशफलं चापि मूलाहरणमादितः ॥ ४२ ॥
विनोदनार्थं पार्वत्या मृन्मयः शूलधृग् हरः। कृतस्तु तेजसा युक्तो भद्रमस्त्विति साऽब्रवीत् ॥ ४३ ॥
पूजां करोति तस्यैव तं पश्यति मुहुर्मुहुः। ततोऽस्यास्तुष्टिमगमच्छ्रद्धया त्रिपुरान्तकृत् ॥ ४४ ॥

पिताने कहा—ठीक है। उसके बाद शङ्करकी आराधनाकी इच्छासे ललिता (पार्वती) उसी (हिमालय) पर्वतकी विस्तृत तलहटीमें तप करने लगीं। उस समय उनकी सहचरियाँ समिधा, कुश, फल-मूल आदि लाकर देवीकी सेवा करने लगीं। (उन सहचरियोंने) पार्वतीके विनोदके लिये तेजस्वी त्रिशूलधारी शङ्करकी मिट्टीकी मूर्ति बनायी। पार्वतीने भी कहा—सखियो! ठीक है। (फिर तो) वे (पार्वतीजी) उसी मूर्तिकी पूजा करतीं और बार-बार उसे निहारती रहती थीं। उसके बाद उनकी श्रद्धासे त्रिपुरासुरको मारनेवाले शङ्कर प्रसन्न हो गये ॥ ४१–४४ ॥

बटुरूपं समास्थाय आषाढी मुञ्जमेखली। यज्ञोपवीती छत्री च मृगाजिनधरस्तथा ॥ ४५ ॥
कमण्डलुव्यग्रकरो भस्मारुणितविग्रहः। प्रत्याश्रमं पर्यटन् स तं काल्याश्रममागतः ॥ ४६ ॥
तमुत्थाय तदा काली सखीभिः सह नारद। पूजयित्वा यथान्यायं पर्यपृच्छदिदं ततः ॥ ४७ ॥

उसके बाद पलाशका दण्ड, मुञ्जकी मेखला, यज्ञोपवीत, छत्र एवं मृगचर्म, हाथमें कमण्डलु लिये एवं शरीरमें भस्म रमाये हुए वे (शङ्कर) बटुके रूपमें एक-एक आश्रममें घूमते हुए कालीके आश्रममें पहुँचे। नारद! उसके बाद सहचरियोंके साथ कालीने (उनका) प्रत्युत्थान किया और यथोचित पूजन कर उनसे यह पूछा— ॥ ४५–४७ ॥

उमोवाच

कस्मादागम्यते भिक्षो कुत्र स्थाने तवाश्रमः। क्व च त्वं प्रतिगन्तासि मम शीघ्रं निवेदय ॥ ४८ ॥

उमाने कहा (पूछा)—अये भिक्षुक! आप शीघ्र मुझे बतलायें कि आप कहाँसे आ रहे हैं? आपका आश्रम कहाँ है एवं आप कहाँ जायँगे? ॥ ४८ ॥

भिक्षुरुवाच

ममाश्रमपदं बाले वाराणस्यां शुचिव्रते। अथातस्तीर्थयात्रायां गमिष्यामि पृथूदकम् ॥ ४९ ॥

भिक्षुने कहा—पवित्र व्रतोंवाली बाले! मेरा आश्रम वाराणसीमें है। अब मैं यहाँसे तीर्थयात्रामें पृथूदक जाऊँगा ॥ ४९ ॥

देव्युवाच

किं पुण्यं तत्र विप्रेन्द्र लब्धाऽसि त्वं पृथूदके। पथि स्नानेन च फलं केषु किं लब्धवानसि ॥ ५० ॥

देवीने कहा—विप्रेन्द्र! पृथूदकतीर्थमें आपको कौन-सा पुण्य प्राप्त होगा? मार्गमें किन-किन तीर्थोंमें स्नान करनेसे आप कौन-कौन-सा फल प्राप्त कर चुके हैं? ॥ ५० ॥

भिक्षुरुवाच

मया स्नातं प्रयागे तु कृतं प्रथममेव हि । ततोऽथ तीर्थे कुब्जाम्रे जयन्ते चण्डिकेश्वरे ॥ ५१ ॥
बन्धुवृन्दे च कर्कन्धे तीर्थे कनखले तथा । सरस्वत्यामग्निकुण्डे भद्रायां तु त्रिविष्टपे ॥ ५२ ॥
कोनटे कोटितीर्थे च कुब्जके च कृशोदरि । निष्कामेन कृतं स्नानं ततोऽभ्यागां तवाश्रमम् ॥ ५३ ॥
इहस्थां त्वां समाभाष्य गमिष्यामि पृथूदकम् । पृच्छामि यदहं त्वां वै तत्र न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ५४ ॥

भिक्षुने कहा—कृशोदरि ! मैंने पहले प्रयागमें स्नान किया, उसके बाद कुब्जाम्र, जयन्त, चण्डिकेश्वर, बन्धुवृन्द, कर्कन्ध, कनखलतीर्थ, सरस्वती, अग्निकुण्ड, भद्रा, त्रिविष्टप, कोनट, कोटितीर्थ और कुब्जकमें निष्काम-भावसे स्नान कर मै तुम्हारे आश्रममें आया हूँ । यहाँपर स्थित रहनेवाली तुमसे वार्ता करनेके बाद मै पृथूदक तीर्थमें जाऊँगा । मैं तुमसे जो कुछ पूछता हूँ, उसपर क्रोध न करना ॥ ५१–५४ ॥

अहं यत्तपसात्मानं शोषयामि कृशोदरि । बाल्येऽपि संयततनुस्तत्तु श्लाघ्यं द्विजन्मनाम् ॥ ५५ ॥
किमर्थं भवती रौद्रं प्रथमे वयसि स्थिता । तपः समाश्रिता भीरु संशयः प्रतिभाति मे ॥ ५६ ॥
प्रथमे वयसि स्त्रीणां सह भर्त्रा विलासिनि । सुभोगा भोगिताः काले व्रजन्ति स्थिरयौवने ॥ ५७ ॥
तपसा वाञ्छयन्तीह गिरिजे सचराचराः । रूपाभिजनमैश्वर्यं तच्च ते विद्यते बहु ॥ ५८ ॥
तत् किमर्थमपास्यैतानलंकाराञ् जटा धृताः । चीनांशुकं परित्यज्य किं त्वं वल्कलधारिणी ॥ ५९ ॥

कृशोदरि ! मैं बचपनमें भी शरीरको संयत कर तपस्यासे जो अपनेको सुखा रहा हूँ वह तो ब्राह्मणोंके लिये प्रशंसनीय है । परंतु भीरु ! तुम इस प्रथम अवस्थामें ही क्यो उग्र तप कर रही हो ? (इसमे मुझे) शंका हो रही है । अयि स्थिरयौवने ! अयि विलासिनि ! प्रथम अवस्थामें स्त्रियाँ पतिके साथ सुन्दर भोगोका भोग करती हैं । पर्वतपुत्रि ! चर और अचर सभी प्राणी तपस्यासे संसारमें रूप, उत्तम कुल और सम्पत्ति चाहते हैं, सो तो तुम्हें अधिक-से-अधिक मात्रामें उपलब्ध हैं ही; फिर सौन्दर्य-साधनोको छोडकर तुमने जटा क्यो धारण कर ली है ? तुमने रेशमी वस्त्र छोडकर वल्कल क्यों पहन लिया है ? ॥ ५५–५९ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु तपसा वृद्धा देव्याः सोमप्रभा सखी । भिक्षवे कथयामास यथावत् सा हि नारद ॥ ६० ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! उसके बाद तपस्यामें बढी हुई पार्वतीकी सोमप्रभा नामकी सहचरीने उन भिक्षुसे वस्तुस्थिति कही ॥ ६० ॥

सोमप्रभोवाच

तपश्चर्या द्विजश्रेष्ठ पार्वत्या येन हेतुना । तं श्रृणुष्व त्वियं काली हरं भर्तारमिच्छति ॥ ६१ ॥

सोमप्रभाने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! पार्वती जिस हेतुसे तपस्या कर रही है, उसे सुनिये । ये काली (तपस्याके बलसे) शिवको अपना पति बनाना चाहती है ॥ ६१ ॥

पुलस्त्य उवाच

सोमप्रभाया वचनं श्रुत्वा संकम्प्य वै शिरः । विहस्य च महाहासं भिक्षुराह वचस्त्विदम् ॥ ६२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—सोमप्रभाकी बात सुनकर भिक्षुने सिर हिलाते हुए बडे जोरसे हँसकर यह वचन कहा—॥ ६२ ॥

भिक्षुरुवाच

वदामि ते पार्वति वाक्यमेवं केन प्रदत्ता तव बुद्धिरेषा ।
कथं करः पल्लवकोमलस्ते समेष्यते शार्वकरं ससर्पम् ॥ ६३ ॥
तथा दुकूलाम्बरशालिनी त्वं मृगारिचर्माभिवृतस्तु रुद्रः ।
त्वं चन्दनाक्ता स च भस्मभूषितो न युक्तरूपं प्रतिभाति मे त्विदम् ॥ ६४ ॥

भिक्षुकने कहा—पार्वति ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ; तुमको यह बुद्धि किसने दी ? पल्लवके सदृश तुम्हारा कोमल कर शङ्करके सर्पयुक्त हाथसे कैसे मिलेगा ? कहाँ तुम सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाली और कहाँ व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले ये रुद्र ! कहाँ तुम चन्दनसे चर्चित और कहाँ भस्मसे भूषित शङ्कर ! अतः मुझे यह मेल अनुरूप नहीं प्रतीत होता ॥ ६३-६४ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं वादिनि विप्रेन्द्र पार्वती भिक्षुमब्रवीत् । मा मैवं वद भिक्षो त्वं हरः सर्वगुणाधिकः ॥ ६५ ॥
शिवो वाप्यथवा भीमः सधनो निर्धनोऽपि वा । अलङ्कृतो वा देवेशस्तथा वाप्यनलङ्कृतः ॥ ६६ ॥
यादृशस्तादृशो वापि स मे नाथो भविष्यति ।
निवार्यतामयं भिक्षुर्विवक्षुः स्फुरिताधरः । न तथा निन्दकः पापी यथा शृण्वञ्छशिप्रभे ॥ ६७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—विप्रेन्द्र ! भिक्षुकके इस प्रकार कहनेपर पार्वतीने उससे कहा—भिक्षुक ! तुम ऐसी बात मत बोलो । शङ्कर सब गुणोंमें श्रेष्ठ हैं । वे देवेश चाहे मङ्गलमूर्ति हों या भयङ्कर रूप, धनी हों या निर्धन तथा अलङ्कार-सम्पन्न हों अथवा अलङ्कार-विहीन—वे जैसे-तैसे ही क्यों न हों—पर वे ही मेरे स्वामी होंगे । (सहचरीको निर्देश कर) शशिप्रभे ! इसे (भिक्षुकको) मना करो । यह पुनः कुछ कहना चाहता है; क्योंकि इसके ओठ फड़क रहे हैं । देखो, निन्दा करनेवाला व्यक्ति वैसा पापी नहीं होता जैसा कि निन्दाकी बात सुननेवाला होता है ॥ ६५—६७ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वरदा समुत्थातुमथैच्छत । ततोऽत्यजद् भिक्षुरूपं स्वरूपस्थोऽभवच्छिवः ॥ ६८ ॥
भूत्वोवाच प्रिये गच्छ स्वमेव भवनं पितुः । तवार्थाय प्रहेष्यामि महर्षीन् हिमवद्गृहे ॥ ६९ ॥
यच्चेह रुद्रमीहन्त्या मृन्मयश्चेश्वरः कृतः । असौ भद्रेश्वरेत्येवं ख्यातो लोके भविष्यति ॥ ७० ॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः किंपुरुषोरगाः । पूजयिष्यन्ति सततं मानवाश्च शुभेप्सवः ॥ ७१ ॥

पुलस्त्यजी (पुनः)बोले—इस प्रकार कहकर वरदायिनी पार्वतीने (ज्यों ही) वहाँसे उठकर जाना चाहा त्यों ही शङ्कर (बनावटी) भिक्षुरूपको छोड़कर अपने वास्तविक रूपमें हो गये । वे अपने वास्तविक रूपमें आनेपर बोले—प्रिये ! अपने गृह जाओ । मैं हिमवान्‌के घर तुम्हारे लिये महर्षियोंको भेजूँगा । रुद्रकी कामना करनेवाली तुमने यहाँ जिन पार्थिव रूपको ईश्वर माना है, वे संसारमें भद्रेश्वर नामसे प्रसिद्ध होंगे । देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, उरग एवं मनुष्य जो भी कल्याणकी कामना करनेवाले होंगे, वे सदा उनकी पूजा करेंगे ॥ ६८—७१ ॥

इत्येवमुक्ता देवेन गिरिराजसुता मुने । जगामाम्बरमाविश्य स्वमेव भवनं पितुः ॥ ७२ ॥
शङ्करोऽपि महातेजा विसृज्य गिरिकन्यकाम् । पृथूदकं जगामाथ स्नानं चक्रे विधानतः ॥ ७३ ॥
ततस्तु देवप्रवरो महेश्वरः पृथूदके स्नानमपास्तकल्मषः ।
कृत्वा सनन्दिः सगणः सवाहनो महागिरिं मन्दरमाजगाम ॥ ७४ ॥

आयाति त्रिपुरान्तके सह गणैर्ब्रह्मर्षिभिः सप्तभिरारोहत्पुलको बभौ गिरिवरः संहृष्टचित्तः क्षणात्।
चक्रे दिव्यफलैर्जलेन शुचिना मूलैश्च कन्दादिभिः पूजां सर्वगणेश्वरैः सह विभोरद्रिस्त्रिनेत्रस्य तु ॥ ७५ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

मुने ! शङ्करके इस प्रकार कहनेपर हिमालय-पुत्री पार्वतीजी आकाशमार्गसे अपने पिताके घर चली गयीं। महातेजस्वी शङ्कर भी पर्वतराजकी कन्याको विदाकर पृथूदक नामके तीर्थमे चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने यथाविधि स्नान किया। उसके बाद देवोंमे प्रधान महेश्वर पृथूदक-तीर्थमे स्नान करके पापसे विमुक्त होकर नन्दी, गणों एवं वाहनके सहित महान् मन्दर गिरिपर आ गये। सात ब्रह्मर्षियों (सप्तर्षियो) तथा अपने गणोके साथ त्रिपुरासुरको मारनेवाले शङ्करके आ जानेपर पर्वतश्रेष्ठ मन्दर क्षणभरमे ही प्रसन्नचित्त हो गया। पर्वतराजने दिव्य फलों, मूलों, कन्दों एवं पवित्र जलसे समस्त गणेश्वरोके साथ भगवान् शङ्करकी पूजा की ॥ ७२–७५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥
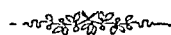
[अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः सम्पूजितो रुद्रः शैलेन प्रीतिमानभूत्। सस्मार च महर्षीस्तु अरुन्धत्या समं ततः ॥ १ ॥
ते संस्मृतास्तु ऋषयः शङ्करेण महात्मना। समाजग्मुर्महाशैलं मन्दरं चारुकन्दरम् ॥ २ ॥
तानागतान् समीक्ष्यैव देवस्त्रिपुरनाशनः। अभ्युत्थायाभिपूज्यैतानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
धन्योऽयं पर्वतश्रेष्ठः श्लाघ्यः पूज्यश्च दैवतैः। धूतपापस्तथा जातो भवतां पादपङ्कजैः ॥ ४ ॥
स्थीयतां विस्तृते रम्ये गिरिप्रस्थे समे शुभे। शिलासु पद्मवर्णासु श्लक्ष्णासु च मृदुष्वपि ॥ ५ ॥

बावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(शिवजीका महर्षियोंको स्मृतकर उन्हें हिमवान्‌के यहाँ भेजना, महर्षियोंका हिमवान्‌से शिवके लिये उमाकी याचना, हिमालयकी स्वीकृति और सप्तर्षियोंद्वारा शिवको स्वीकृति-सूचना)

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद पर्वतद्वारा सम्यक् रूपसे पूजित होकर भगवान् रुद्र बहुत प्रसन्न हुए। उसके बाद शङ्करने अरुन्धतीसहित सप्त महर्षियोंका स्मरण किया। महात्मा शङ्करके द्वारा स्मृत किये गये वे ऋषिगण सुन्दर कन्दराओंवाले महान् शैल मन्दरपर आ गये। उन-(ऋषियो-)को आये हुए देखकर त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले महादेवने अभ्युत्थानकर उनका पूजन किया; फिर यह वचन कहा—प्रभो ! यह पर्वतश्रेष्ठ देवताओंद्वारा प्रशंसनीय एवं पूजनीय होनेसे धन्य है, (और आज यह) आपके चरणकमलोकी अनुकम्पासे निष्पाप हो गया। अब आपलोग इस विस्तृत, सम, रम्य तथा शुभ पर्वतशिखरपर बैठे। इसकी शिला कमल-वर्णकी तथा चिकनी एवं कोमल है ॥ १–५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता देवेन शङ्करेण महर्षयः। सममेव त्वरुन्धत्या विविशुः शैलसानुनि ॥ ६ ॥
उपविष्टेषु ऋषिषु नन्दी देवगणाग्रणीः। अर्घ्यादिना समभ्यर्च्य स्थितः प्रयतमानसः ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिर्धर्म्यं वाक्यं हितं सुरान्। आत्मनो यशसो वृद्ध्यै सप्तर्षीन् विनयान्वितान् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी (फिर) बोले—भगवान् शङ्करके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर महर्षिगण अरुन्धतीके साथ शैलशिखरपर बैठ गये। ऋषियोंके बैठ जानेपर देवताओंमें अग्रणी तथा संयत-चित्तवाले नन्दी अर्घ्य आदिसे उनकी पूजा कर खड़े हो गये। उसके बाद सुरपालक शिवने विनयसे युक्त सप्तर्षियोंसे अपने यशकी वृद्धि तथा देवताओंके कल्याणके लिये धर्मसे युक्त वचन कहा—॥ ६–८ ॥

हर उवाच

कश्यपात्रे वारुणेय गाधेय शृणु गौतम। भरद्वाज शृणुष्व त्वमङ्गिरस्त्वं शृणुष्व च ॥ ९ ॥
ममासीद् दक्षतनुजा प्रिया सा दक्षकोपतः। उत्ससर्ज सती प्राणान् योगदृष्ट्या पुरा किल ॥ १० ॥
साऽद्य भूयः समुद्भूता शैलराजसुता उमा। सा मदर्थाय शैलेन्द्रो याच्यतां द्विजसत्तमाः ॥ ११ ॥

शङ्करजीने कहा—कश्यप! अत्रि! वसिष्ठ! विश्वामित्र! गौतम! भरद्वाज! अङ्गिरा! आप सभी लोग सुनें—प्राचीन कालमें दक्षकी आत्मजा सती मेरी प्रिया थीं। उसने दक्षके ऊपर कुपित होकर योगदृष्टिसे अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। वही आज फिर उमा नामसे गिरिराज हिमालयकी कन्या हुई है। द्विजसत्तमो! आपलोग मेरे लिये पर्वतराजसे उसकी याचना करें ॥ ९–११ ॥

पुलस्त्य उवाच

सप्तर्षयस्त्वेवमुक्ता बाढमित्यब्रुवन् वचः। ॐ नमः शङ्करायेति प्रोक्त्वा जग्मुर्हिमालयम् ॥ १२ ॥
ततोऽप्यरुन्धतीं शर्वः प्राह गच्छस्व सुन्दरि। पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणां गतिं धर्मस्य वै विदुः ॥ १३ ॥
इत्येवमुक्ता दुर्लङ्घ्यं लोकाचारं त्वरुन्धती। नमस्ते रुद्र इत्युक्त्वा जगाम पतिना सह ॥ १४ ॥
गत्वा हिमाद्रिशिखरमोषधिप्रस्थमेव च। ददृशुः शैलराजस्य पुरीं सुरपुरीमिव ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—शङ्करजीके ऐसा कहनेपर सप्तर्षियोंने 'बहुत अच्छा'—यह वचन कहा एवं **'ॐ नमः शङ्कराय'** कहकर वे हिमालयके यहाँ गये। उसके पश्चात् शङ्करने अरुन्धतीसे कहा—'सुन्दरि! तुम भी जाओ। स्त्रियोंके धर्मकी गतिको स्त्रियाँ ही जानती हैं।' शङ्करके इस प्रकार कहनेपर लोकाचारको दुर्लङ्घ्य प्रतिपादित करनेवाली अरुन्धती अपने पतिके साथ **'नमस्ते रुद्र'** ऐसा कहकर हिमालयपर गयीं। उन लोगोंने ओषधियोंसे भरे हिमालयकी चोटीपर जाकर सुरपुरीके समान हिमालयकी पुरीको देखा ॥ १२–१५ ॥

ततः सम्पूज्यमानास्ते शैलयोषिद्भिरादरात्। सुनाभादिभिरव्यग्रैः पूज्यमानास्तु पर्वतैः ॥ १६ ॥
गन्धर्वैः किन्नरैर्यक्षैस्तथान्यैस्तत्पुरस्सरैः। विविशुर्भवनं रम्यं हिमाद्रेर्हाटकोज्ज्वलम् ॥ १७ ॥
ततः सर्वे महात्मानस्तपसा धौतकल्मषाः। समासाद्य महाद्वारं संतस्थुर्द्वाःस्थकारणात् ॥ १८ ॥
ततस्तु त्वरितोऽभ्यागाद् द्वाःस्थोऽद्रिर्गन्धमादनः। धारयन् वै करे दण्डं पद्मरागमयं महत् ॥ १९ ॥

उसके बाद वे पर्वतोंकी पत्नियों, शान्तचित्तवाले सुनाभादि पर्वतों, गन्धर्वों, किंनरों, यक्षों एवं अन्य दूसरोंसे भी पूजित (सम्मानित) होकर स्वर्णकी भाँति प्रकाशमान हिमालयके सुन्दर भवनमें प्रविष्ट हुए। फिर तपस्या करनेसे निष्पाप हुए वे सभी महात्मा महाद्वारपर जाकर द्वारपालके निकट रुक गये। उसके बाद द्वारपर स्थित गन्धमादन पर्वत पद्मरागके बने विशाल दण्डको हाथमें धारण किये हुए शीघ्र उनके पास गया ॥ १६–१९ ॥

ततस्तमूचुर्मुनयो गत्वा शैलपतिं शुभम्। निवेदयास्मान् सम्प्राप्तान् महत्कार्यार्थिनो वयम् ॥ २० ॥
इत्येवमुक्तः शैलेन्द्रो ऋषिभिर्गन्धमादनः। जगाम तत्र यत्रास्ते शैलराजो द्विभिर्वृतः ॥ २१ ॥
निषण्णो भुवि जानुभ्यां दत्त्वा हस्तौ मुखे गिरिः। दण्डं निक्षिप्य कक्षायामिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

उसके बाद मुनियोंने उससे कहा—द्वारपाल ! तुम श्रीमान् शैलपतिसे जाकर यह शुभ समाचार निवेदित करो कि हम सब विशेष कार्यके लिये यहाँ आये हैं । ऋषियोंके ऐसा कहनेपर शैलेन्द्र गन्धमादन, पर्वतोंसे घिरे हुए शैलराजके पास गया और पृथ्वीपर घुटनोंके बल बैठ गया । फिर दण्डको कॉखमें दबाकर एवं दोनों हाथ मुखके निकट ले जाकर उसने यह वचन कहा—॥ २०–२२ ॥

गन्धमादन उवाच

इमे हि ऋषयः प्राप्ताः शैलराज तवार्थिनः । द्वारे स्थिताः कार्यिणस्ते तव दर्शनलालसाः ॥ २३ ॥

गन्धमादनने कहा—शैलराज ! ये ऋषिगण किसी कार्यकी याचनाके हेतु आपसे भेंट करनेकी इच्छावाले होकर आये हैं और द्वारपर स्थित हैं ॥ २३ ॥

पुलस्त्य उवाच

द्वाःस्थवाक्यं समाकर्ण्य समुत्थायाचलेश्वरः । स्वयमभ्यागमद् द्वारि समादायार्घ्यमुत्तमम् ॥ २४ ॥
तानर्च्यार्घ्यादिना शैलः समानीय सभातलम् । उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः कृतासनपरिग्रहान् ॥ २५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—द्वारपालकी बात सुननेके बाद पर्वतराज उठकर स्वयं उत्तम अर्घ्य लेकर द्वारपर आये । अर्घ्य आदिसे उन ऋषियोंका अर्चन करनेके बाद उन्हें सभा-स्थानमें लिवा लाये । फिर उनके यथायोग्य आसन ग्रहण कर लेनेपर वक्ताके अभिप्रायको स्पष्टतः समझनेवाले शैलराजने उन ऋषियोंसे यह वाक्य कहा—॥ २४-२५ ॥

हिमवानुवाच

अनभ्रवृष्टिः किमियमुताहो कुसुमं फलम् । अप्रतर्क्यमचिन्त्यं च भवदागमनं त्विदम् ॥ २६ ॥
अद्यप्रभृति धन्योऽस्मि शैलराडद्य सत्तमाः । संशुद्धदेहोऽस्म्यद्यैव यद् भवन्तो ममाजिरम् ॥ २७ ॥
आत्मसंसर्गसंशुद्धं कृतवन्तो द्विजोत्तमाः । दृष्टिपूतं पदाक्रान्तं तीर्थं सारस्वतं यथा ॥ २८ ॥
दासोऽहं भवतां विप्राः कृतपुण्यश्च साम्प्रतम् । येनार्थिनो हि ते यूयं तन्ममाज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥
सदारोऽहं समं पुत्रैर्भृत्यैर्नप्तृभिरव्ययाः । किंकरोऽस्मि स्थितो युष्मदाज्ञाकारी तदुच्यताम् ॥ ३० ॥

हिमवान्‌ने कहा—(ऋषियो ! मेरे लिये) आपलोगोंका यहाँ पधारना ऐसा ही है जैसे बिना बादलकी वृष्टि तथा बिना फूलके फलका उद्गम; यह अतर्क्य एवं अचिन्त्य है । परमपूज्यो ! आजसे मैं धन्य हो गया । आज ही मैं (अन्वर्थक) शैलराज हुआ । आज ही मेरा शरीर शुद्ध हुआ; क्योंकि आप लोगोंने आज मेरे आँगनको पवित्र किया है । द्विजोत्तमो ! जिस प्रकार सारस्वत तीर्थका जल पवित्र कर देता है, उसी प्रकार आपलोगोंने चरण रखकर तथा अपनी पवित्र दृष्टिसे देखकर हमें पवित्र कर दिया है । ब्राह्मणो ! मैं आप लोगोंका दास हूँ । इस समय मैं पुण्यवान् हुआ हूँ । जिस उद्देश्यसे आपलोग अर्थी—याचना करनेवाले—हुए हैं, उसके लिये मुझे आज्ञा दें । महर्षियो ! मैं स्त्री, पुत्र, नाती और भृत्योंके साथ आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ; अतः आदेश दीजिये ॥ २६–३० ॥

पुलस्त्य उवाच

शैलराजवचः श्रुत्वा ऋषयः संशितव्रताः । ऊचुरङ्गिरसं वृद्धं कार्यमद्रौ निवेदय ॥ ३१ ॥
इत्येवं चोदितः सर्वैर्ऋषिभिः कश्यपादिभिः । प्रत्युवाच परं वाक्यं गिरिराजं तमङ्गिराः ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—गिरिराजकी बात सुनकर प्रशस्तव्रती ऋषियोंने वृद्ध अङ्गिरा मुनिसे कहा—(मुने !) आप हिमवान्‌को कार्यका निवेदन करें । इस प्रकार कश्यप आदि ऋषियोंसे प्रेरणा प्राप्तकर अङ्गिरा मुनि उन गिरिराज हिमालयसे (उनके अनुरोधके उत्तरमें) यह श्रेष्ठ वचन बोले—॥ ३१-३२ ॥

अङ्गिरा उवाच

श्रूयतां पर्वतश्रेष्ठ येन कार्येण वै वयम् । समागतास्त्वत्सदनमरुन्धत्या समं गिरे ॥ ३३ ॥
योऽसौ महात्मा सर्वात्मा दक्षयज्ञक्षयङ्करः । शङ्करः शूलधृक् शर्वस्त्रिनेत्रो वृषवाहनः ॥ ३४ ॥
जीमूतकेतुः शत्रुघ्नो यज्ञभोक्ता स्वयं प्रभुः । यमीश्वरं वदन्त्येके शिवं स्थाणुं भवं हरम् ॥ ३५ ॥
भीममुग्रं महेशानं महादेवं पशोः पतिम् । वयं तेन प्रेषिताः स्मस्त्वत्सकाशं गिरीश्वर ॥ ३६ ॥

अङ्गिराने कहा—पर्वतराज ! हमलोग अरुन्धतीके साथ आपके घर जिस कार्यके लिये आये हैं, उसे (आप) सुनें । गिरीश्वर ! जिन महात्मा सर्वात्मा, दक्षयज्ञके विनाशक, शूलधारी, शर्व, त्रिनेत्र, वृषवाहन, जीमूतकेतु, शत्रुघ्न, यज्ञभोक्ता, स्वयंप्रभु ईश्वरको कुछ लोग शिव, स्थाणु, भव, हर, भीम, उग्र, महेशान, महादेव एवं पशुपति कहते हैं, उन्होंने ही हमलोगोंको आपके पास भेजा है ॥ ३३-३६ ॥

इयं या त्वत्सुता काली सर्वलोकेषु सुन्दरी । तां प्रार्थयति देवेशस्तां भवान् दातुमर्हति ॥ ३७ ॥
स एव धन्यो हि पिता यस्य पुत्री शुभं पतिम् । रूपाभिजनसम्पत्त्या प्राप्नोति गिरिसत्तम ॥ ३८ ॥
यावन्तो जङ्गमागम्या भूताः शैल चतुर्विधाः । तेषां माता त्वियं देवी यतः प्रोक्तः पिता हरः ॥ ३९ ॥
प्रणम्य शङ्करं देवाः प्रणमन्तु सुतां तव । कुरुष्व पादं शत्रूणां मूर्ध्नि भस्मपरिप्लुतम् ॥ ४० ॥
याचितारो वयं शर्वो वरो दाता त्वमप्युमा । वधूः सर्वजगन्माता कुरु यच्छ्रेयसे तव ॥ ४१ ॥

[बात यह है कि—] आपकी यह 'काली' कन्या समस्त लोकोंमें सुन्दर है । इसके लिये देवेश (भगवान्-शङ्कर) प्रार्थना कर रहे हैं । आपको उन्हें उसका दान दे देना चाहिये । गिरिश्रेष्ठ ! वही पिता धन्य है, जिसकी पुत्री रूपवान्, निष्कलङ्क कुलीन और श्रीमान् शुभ पतिको प्राप्त करती है । शैल ! ये देवी चार प्रकारके जितने जड-जङ्गम प्राणी हैं उनकी माता (हो जाती) हैं; क्योंकि शङ्करजी सबके पिता कहे गये हैं । (हम सबका निवेदन है कि) समस्त देवता शङ्करको प्रणामकर तुम्हारी पुत्रीको भी प्रणाम करें; इसलिये समर्पित कर दें । (और इस प्रकार आप) अपने शत्रुओंके सिरपर अपना भस्मयुक्त चरण रखें (शत्रुओंको विजित करें) । हमलोग याचना करनेवाले हैं, शङ्कर वर हैं, आप दाता हैं और समस्त संसारकी जननी उमा वधू हैं । आपको जो कल्याणकारी जँचे, उसे करें ॥ ३७-४१ ॥

पुलस्त्य उवाच

तद्वचोऽङ्गिरसः श्रुत्वा काली तस्थावधोमुखी । हर्षमागत्य सहसा पुनर्दैन्यमुपागता ॥ ४२ ॥
ततः शैलपतिः प्राह पर्वतं गन्धमादनम् । गच्छ शैलानुपामन्त्र्य सर्वानागन्तुमर्हसि ॥ ४३ ॥
ततः शीघ्रतरः शैलो गृहाद् गृहमगाज्जवी । मेर्वादीन् पर्वतश्रेष्ठानाजुहाव समन्ततः ॥ ४४ ॥
तेऽप्याजग्मुस्त्वरावन्तः कार्यं मत्वा महत्तदा । विविशुर्विस्मयाविष्टाः सौवर्णेष्वासनेषु ते ॥ ४५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—अङ्गिराकी वह वाणी सुनकर कालीने (लज्जासे) अपना मुख नीचे झुका लिया । सहसा वे प्रसन्न होकर पुनः उदास हो गयीं । उसके बाद गिरिराजने गन्धमादन पर्वतसे कहा—(गन्धमादन !) जाओ ! सभी पर्वतोंको आनेके लिये आमन्त्रित कर आओ । उसके पश्चात् वेगशाली पर्वत-(गन्धमादन-) ने चारों ओर शीघ्रतापूर्वक घर-घरजाकर मेरु आदि सभी श्रेष्ठ पर्वतोंको आनेके लिये निमन्त्रण दे दिया । वे सभी पर्वत भी कार्यकी महत्ता समझकर शीघ्रतासे आ गये और सुवर्णमय आसनोंपर उत्सुकतापूर्वक बैठ गये ॥ ४२-४५ ॥

*

उदयो हेमकूटश्च रम्यको मन्दरस्तथा। उद्दालको वारुणश्च वराहो गरुडासनः ॥ ४६ ॥
शुक्तिमान् वेगसानुश्च दृढशृङ्गोऽथ शृङ्गवान्। चित्रकूटस्त्रिकूटश्च तथा मन्दरकाचलः ॥ ४७ ॥
विन्ध्यश्च मलयश्चैव पारियात्रोऽथ दुर्दरः। कैलासाद्रिर्महेन्द्रश्च निषधोऽञ्जनपर्वतः ॥ ४८ ॥
एते प्रधाना गिरयस्तथाऽन्ये क्षुद्रपर्वताः। उपविष्टाः सभायां वै प्रणिपत्य ऋषींश्च तान् ॥ ४९ ॥

उदय, हेमकूट, रम्यक, मन्दर, उद्दालक, वारुण, वराह, गरुडासन, शुक्तिमान्, वेगसानु, दृढशृङ्ग, शृङ्गवान्, चित्रकूट, त्रिकूट, मन्दरकाचल, विन्ध्य, मलय, पारियात्र, दुर्दर, कैलास, महेन्द्र, निषध, अञ्जन—ये सभी प्रमुख पर्वत तथा छोटे-छोटे अन्य पर्वत उन ऋषियोंको प्रणाम कर सभामें बैठ गये ॥ ४६—४९ ॥

ततो गिरीशः स्वां भार्यां मेनामाहूतवांश्च सः। समागच्छत कल्याणी समं पुत्रेण भामिनी ॥ ५० ॥
साऽभिवन्द्य ऋषीणां हि चरणांश्च तपस्विनी। सर्वान् ज्ञातीन् समाभाष्य विवेश ससुता ततः ॥ ५१ ॥
ततोऽद्रिषु महाशैल उपविष्टेषु नारद। उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः सर्वानाभाष्य सुस्वरम् ॥ ५२ ॥

उसके पश्चात् उन गिरीशने अपनी भार्या मेनाको बुलाया। (वे) कल्याणी भामिनी अपने पुत्रके साथ आयीं और तब उन साध्वीने ऋषियोंके चरणोंमे प्रणाम किया एवं समस्त ज्ञानियोसे अनुज्ञा लेकर वे पुत्रके साथ बैठ गयीं। नारदजी ! उसके बाद सभी पर्वतोंके भी बैठ जानेपर उनकी अनुमति लेकर उक्तिके अभिप्रायके विज्ञाता महाशैलने मधुर वचन कहा—॥ ५०—५२ ॥

हिमवानुवाच

इमे सप्तर्षयः पुण्या याचितारः सुतां मम। महेश्वरार्थं कन्यां तु तच्चावेद्यं भवत्सु वै ॥ ५३ ॥
तद् वदध्वं यथाप्रज्ञं ज्ञातयो यूयमेव मे। नोलङ्घ्य युष्मान् दास्यामि तत्क्षमं वक्तुमर्हथ ॥ ५४ ॥

हिमवान्‌ने निवेदन किया—(उपस्थित सज्जनो !) ये पुण्यात्मा सप्तर्षि भगवान् शङ्करके लिये मेरी कन्याकी याचना कर रहे हैं। शङ्करके लिये कन्या देनेका प्रस्ताव है—यही आपलोगोसे निवेदन करना है। आप लोग ही मेरे ज्ञाति-बन्धु हैं, अतः अपनी बुद्धिके अनुसार परामर्श दें। आप-(के मत-)का उल्लङ्घन कर मैं (कन्याका) दान नहीं करूँगा; अतः आप लोग उचित परामर्श दें ॥ ५३—५४ ॥

पुलस्त्य उवाच

हिमवद्वचनं श्रुत्वा मेर्वाद्याः स्थावरोत्तमाः। सर्व एवाब्रुवन् वाक्यं स्थिताः स्वेष्वासनेषु ते ॥ ५५ ॥
याचितारश्च मुनयो वरस्त्रिपुरहा हरः। दीयतां शैल कालीयं जामाताऽभिमतो हि नः ॥ ५६ ॥
मेनाप्यथाह भर्तारं शृणु शैलेन्द्र मद्वचः। पितॄनाराध्य देवैस्तैर्दत्ताऽनेनैव हेतुना ॥ ५७ ॥
यस्त्वस्यां भूतपतिना पुत्रो जातो भविष्यति। स हनिष्यति दैत्येन्द्रं महिषं तारकं तथा ॥ ५८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिमवान्‌के प्रस्तावकी बात सुनकर मेरु आदि सभी श्रेष्ठ गिरिवरोंने अपने-अपने आसनपर आसीन होते हुए ही कहा—(गिरिराज !) याचना करनेवाले सप्तर्षि हैं और त्रिपुरासुरका वध करनेवाले शङ्कर वर हैं। शैलराज ! इस कालीको आप उनके लिये प्रदान करें। जामाता हमलोगोंके मनपसंद हैं। उसके बाद मेनाने अपने पतिसे कहा—शैलेन्द्र ! मेरी बात सुनिये। पितरोंकी आराधना करनेके बाद उन देवोंने (इस कन्याको) मुझे इसीलिये दिया था कि भूतपति (शिव) द्वारा इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह दैत्येन्द्र महिष एवं तारकका वध करेगा ॥ ५५—५८ ॥

इत्येवं मेनया प्रोक्तः शैलैः शैलेश्वरः सुताम्। प्रोवाच पुत्रि दत्ताऽसि शर्वाय त्वं मयाऽधुना ॥ ५९ ॥
ऋषीनुवाच कालीयं मम पुत्री तपोधनाः। प्रणामं शङ्करवधूर्भक्तिनम्रा करोति वः ॥ ६० ॥

ततोऽप्यरुन्धती कालीमङ्कमारोप्य चाटुकैः। लज्जमानां समाश्वास्य हरनामोदितैः शुभैः ॥ ६१ ॥
ततः सप्तर्षयः प्रोचुः शैलराज निशामय। जामित्रगुणसंयुक्तां तिथिं पुण्यां सुमङ्गलाम् ॥ ६२ ॥
उत्तराफाल्गुनीयोगं तृतीयेऽह्नि हिमांशुमान्। गमिष्यति च तत्रोक्तो मुहूर्त्तो मैत्रनामकः ॥ ६३ ॥

मेना तथा पर्वतोंके इस प्रकार कहनेपर हिमवान्‌ने अपनी कन्यासे कहा—पुत्रि ! अब मैंने तुझे शङ्करको दे दिया। फिर उन्होने ऋषियोंसे कहा—हे तपोवनो ! यह मेरी पुत्री तथा शङ्करकी वधू काली भक्ति-सहित विनम्र-भावसे आप लोगोंको प्रणाम करती है। उसके बाद अरुन्धतीने लज्जित हो रही कालीको (अपनी) गोदमें बैठाकर शङ्करके प्रेमभरे शुभ नामोंके उच्चारणसे उसे भलीभाँति आश्वस्त किया। उसके बाद सप्तर्षियोंने कहा—शैलराज ! (अब आप) जामित्र (सप्तम भावकी शुद्धता) गुणसे संयुक्त मङ्गलमय पवित्र तिथिको सुनिये। (आजके) तीसरे दिन चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रसे योग करेगा। उसे मैत्र नामक मुहूर्त्त कहते हैं ॥ ५९–६३ ॥

तस्यां तिथ्यां हरः पाणिं ग्रहीष्यति समन्त्रकम्। तव पुत्र्या वयं यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ६४ ॥
ततः सम्पूज्य विधिना फलमूलादिभिः शुभैः। विसर्जयामास शनैः शैलराड् ऋषिपुङ्गवान् ॥ ६५ ॥
तेऽप्याजग्मुर्महावेगास् त्वाक्रम्य मरुदालयम्। आसाद्य मन्दरगिरिं भूयोऽवन्दन्त शङ्करम् ॥ ६६ ॥
प्रणम्योचुर्महेशानं भवान् भर्त्ताऽद्रिजा वधूः। सब्रह्मकास्त्रयो लोका द्रक्ष्यन्ति घनवाहनम् ॥ ६७ ॥

उस तिथिमें शङ्कर मन्त्रपूर्वक आपकी पुत्रीका पाणिग्रहण करेंगे। आप अनुमति दें; (अब) हम लोग जा रहे हैं। उसके बाद शैलराजने उन ऋषिश्रेष्ठोंको सुन्दर फल-मूलोंसे विधिपूर्वक पूजितकर विदा किया। वे ऋषि भी आकाशमार्गसे अत्यन्त वेगसे मन्दरगिरिपर आ गये और शंकरको प्रणाम किया। उन महर्षिजनोंने पुनः महेशको प्रणाम कर कहा—शङ्कर ! आप वर हैं एवं गिरिजा वधू हैं। ब्रह्माके साथ तीनो लोक आप घनवाहन-(शिव-) का (इस रूपमें) दर्शन करेंगे (—ऐसी सबकी लालसा है)॥ ६४–६७ ॥

ततो महेश्वरः प्रीतो मुनीन् सर्वाननुक्रमात्। पूजयामास विधिना अरुन्धत्या समं हरः ॥ ६८ ॥
ततः सम्पूजिता जग्मुः सुराणां मन्त्रणाय ते। तेऽप्याजग्मुर्हरं द्रष्टुं ब्रह्मविष्णिवन्द्रभास्कराः ॥ ६९ ॥
गेहं ततोऽभ्येत्य महेश्वरस्य कृतप्रणामा विविशुर्महर्षे।
सस्मार नन्दिप्रमुखांश्च सर्वानभ्येत्य ते वन्द्य हरं निषण्णाः ॥ ७० ॥
देवैर्गणैश्चापि वृतो गिरीशः स शोभते मुक्तजटाग्रभारः।
यथा वने सर्ज्जकदम्बमध्ये प्ररोहमूलोऽथ वनस्पतिर्वै ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

उसके बाद शङ्करने प्रसन्न होकर क्रमानुसार अरुन्धतीके साथ सप्तर्षियोंका विधिपूर्वक पूजन (सत्कार) किया। (शिवद्वारा) भलीभाँति पूजित होकर वे सभी ऋषि देवोंसे मन्त्रणा करनेके लिये चले गये। फिर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र एवं सूर्य आदि (देवता) भी शिवका दर्शन करने आ गये। (पुलस्त्यजी कहते हैं—) महर्षे ! वहाँ जाकर (शङ्करको) प्रणाम करनेके बाद वे लोग शङ्करके गृहमें प्रविष्ट हुए। उन्होंने नन्दी आदिका स्मरण किया। (फलतः) वे सभी आकर शङ्करको प्रणाम करनेके बाद बैठ गये। देवों एवं गणोंसे घिरे खुली जटावाले वे शङ्करजी वनमें सर्ज्ज और कदम्बके मध्य प्ररोहयुक्त (बरोहवाले) वटवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ६८–७१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

[अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

समागतान् सुरान् दृष्ट्वा नन्दिराख्यातवान् विभोः। अथोत्थाय हरिं भक्त्या परिष्वज्य न्यपीडयत् ॥ १ ॥
ब्रह्माणं शिरसा नत्वा समाभाष्य शतक्रतुम्। आलोक्यान्यान् सुरगणान् संभावयत् स शङ्करः ॥ २ ॥
गणाश्च जय देवेति वीरभद्रपुरोगमाः। शैवाः पाशुपताद्याश्च विविशुर्मन्दराचलम् ॥ ३ ॥
ततस्तस्मान्महाशैलं कैलासं सह दैवतैः। जगाम भगवान् शर्वः कर्तुं वैवाहिकं विधिम् ॥ ४ ॥

तिरपनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(हिमालय-पुत्री उमाका भगवान् शिवके साथ विवाह और वालखिल्योंकी उत्पत्ति)

पुलस्त्यजी बोले—नन्दीने आये हुए सभी देवताओंको देखकर शङ्करको बताया। शङ्करने उठकर भक्तिपूर्वक विष्णुका गाढ आलिङ्गन किया। उन शङ्करने ब्रह्माको सिरसे (झुककर) प्रणाम किया एवं इन्द्रसे कुशल-समाचार पूछा तथा अन्य देवोंकी ओर देखकर उनका आदर किया। वीरभद्र आदि शैव एवं पाशुपतगण 'जय देव' कहते हुए मन्दराचलमें प्रविष्ट हुए। उसके बाद भगवान् शिव वैवाहिक विधि सम्पन्न करनेके लिये देवताओंके साथ महान् कैलास पर्वतपर गये ॥ १–४ ॥

ततस्तस्मिन् महाशैले देवमाताऽदितिः शुभा। सुरभिः सुरसा चान्याश्चक्रुर्मण्डनमाकुलाः ॥ ५ ॥
महास्थिशेखरी चारुरोचनातिलको हरः। सिंहाजिनी चालिनीलभुजङ्गकृतकुण्डलः ॥ ६ ॥
महाहिरत्नवलयो हारकेयूरनूपुरः। समुन्नतजटाभारो वृषभस्थो विराजते ॥ ७ ॥
तस्याग्रतो गणाः स्वैः स्वैरारूढा यान्ति वाहनैः। देवाश्च पृष्ठतो जग्मुर्हुताशनपुरोगमाः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उस महान् पर्वतपर कल्याणी देवमाता अदिति, सुरभि, सुरसा एवं अन्य स्त्रियोंने शीघ्रतासे शङ्करका श्रृङ्गार किया। (गलेमें) मुण्डमाल धारण किये, कटिमें व्याघ्रचर्म, कानोमें भ्रमरके समान नीले (काले) सर्पका कुण्डल, (कलाईमें) महान् सर्पोंका रत्नरूपी कङ्कण पहने, कण्ठमें हार, बाहुओंमें भुजबंद, पैरोंमें नूपुर धारण किये, सिरपर ऊँची जटा बाँधे, ललाटपर गोरोचनका तिलक लगाये हुए भगवान् शङ्कर वृषभपर विराजमान हुए। शङ्करके आगे अपनी-अपनी सवारियोंपर बैठे उनके गण एवं उनके पीछे अग्नि आदि देवता (बारात) चले ॥ ५–८ ॥

वैनतेयं समारूढः सह लक्ष्म्या जनार्दनः। प्रयाति देवपार्श्वस्थो हंसेन च पितामहः ॥ ९ ॥
गजाधिरूढो देवेन्द्रश्छत्रं शुक्लपटं विभुः। धारयामास विततं शच्या सह सहस्रदृक् ॥ १० ॥
यमुना सरितां श्रेष्ठा वालव्यजनमुत्तमम्। श्वेतं प्रगृह्य हस्तेन कच्छपे संस्थिता ययौ ॥ ११ ॥
हंसकुन्देन्दुसंकाशं वालव्यजनमुत्तमम्। सरस्वती सरिच्छ्रेष्ठा गजारूढा समादधे ॥ १२ ॥

शङ्करकी बगलमें लक्ष्मीके साथ गरुड़पर बैठे हुए विष्णु एवं हंसपर आरूढ ब्रह्मा चलने लगे। शचीके साथ ऐरावत हस्तीपर चढ़कर सहस्र नेत्रधारी इन्द्रने श्वेत वस्त्रके बने विशाल छत्रको धारण किया। (एक ओर) नदियोंमें श्रेष्ठ यमुना कच्छपर सवार होकर अपने हाथमें उत्तम श्वेत चँवर लेकर डुलाने लगी और (दूसरी ओर) सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती भी हाथीपर आरूढ होकर हंस, कुन्द एवं इन्दुके समान उत्तम चँवर लेकर डुलाने लगी ॥ ९–१२ ॥

ऋतवः षट् समादाय कुसुमं गन्धसंयुतम्। पञ्चवर्णं महेशानं जग्मुस्ते कामचारिणः ॥ १३ ॥
मत्तमैरावणनिभं गजमारुह्य वेगवान्। अनुलेपनमादाय ययौ तत्र पृथूदकः ॥ १४ ॥
गन्धर्वास्तुम्बुरुमुखा गायन्तो मधुरस्वरम्। अनुजग्मुर्महादेवं वादयन्तश्च किंनराः ॥ १५ ॥
नृत्यन्त्योऽप्सरसश्चैव स्तुवन्तो मुनयश्च तम्। गन्धर्वा यान्ति देवेशं त्रिनेत्रं शूलपाणिनम् ॥ १६ ॥

कामचारी छः ऋतुएँ पँचरंगे सुगन्धित पुष्पोंको लेकर शङ्करके साथ चलने लगीं। ऐरावतके समान मतवाले हाथीपर चढ़कर पृथूदक अनुलेपन लेकर चला। तुम्बुरु आदि गन्धर्व मधुर स्वरमें गाते एवं किंनर बाजा बजाते हुए शङ्करके पीछे-पीछे चले। नृत्य करती हुई अप्सराएँ तथा शूलपाणि त्रिलोचनदेवेशकी स्तुति करते हुए मुनि और गन्धर्व (मङ्गलमयी वरयात्रामें) चले ॥ १३–१६ ॥

एकादश तथा कोट्यो रुद्राणां तत्र वै ययुः। द्वादशैवादितेयानामष्टौ कोट्यो वसूनपि ॥ १७ ॥
सप्तषष्टिस्तथा कोट्यो गणानामृषिसत्तम। चतुर्विंशत् तथा जग्मुर्ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ॥ १८ ॥
असंख्यातानि यूथानि यक्षकिंनररक्षसाम्। अनुजग्मुर्महेशानं विवाहाय समाकुलाः ॥ १९ ॥
ततः क्षणेन देवेशः क्षमाधराधिपतेस्तलम्। संप्राप्तस्त्वागमन् शैलाः कुञ्जरस्थाः समन्ततः ॥ २० ॥

ऋषिसत्तम! ग्यारह कोटि रुद्र, बारह कोटि आदित्य, आठ कोटि वसु, सतसठ कोटि गण एवं चौबीस (कोटि) ऊर्ध्वरेता ऋषियोंने (भी साथ ही) प्रस्थान किया। महेशके पीछे यक्ष, किंनर एवं राक्षसोंके अनगिनत झुंड विवाहके लिये उत्साहपूर्वक चले। तत्पश्चात् देवेश (भगवान् शङ्कर) क्षणमात्रमें पर्वतराज हिमालयपर पहुँच गये। चारों ओरसे हाथियोंपर बैठे पर्वत उनके पास इकट्ठे हो गये ॥ १७–२० ॥

ततो ननाम भगवांस्त्रिनेत्रः स्थावराधिपम्। शैलाः प्रणेमुरीशानं ततोऽसौ मुदितोऽभवत् ॥ २१ ॥
समं सुरैः पार्षदैश्च विवेश वृषकेतनः। नन्दिना दर्शिते मार्गे शैलराजपुरं महत् ॥ २२ ॥
जीमूतकेतुरायात इत्येवं नगरस्त्रियः। निजं कर्म परित्यज्य दर्शनव्यापृताभवन् ॥ २३ ॥
माल्यार्द्धमन्या चादाय करेणैकेन भामिनी। केशपाशं द्वितीयेन शङ्कराभिमुखी गता ॥ २४ ॥

इसके बाद त्रिलोचन भगवान् शङ्करने पर्वतराजको प्रणाम किया। उसके बाद अन्य पर्वतोंने भी शिवजीको प्रणाम किया जिससे वे प्रसन्न हो गये। नन्दीद्वारा दिखाये गये मार्गसे देवताओं एवं पार्षदोंके साथ वृषकेतु शंकर पर्वतराजके महान् पुरमें प्रविष्ट हुए। जीमूतकेतु शङ्करको आया हुआ जानकर नगरकी स्त्रियाँ (स्वागतके उल्लासमें इतनी विह्वल हो गयीं कि) अपना काम छोड़कर उन्हें देखने लगीं। एक स्त्री एक हाथमें आधी माला और दूसरे हाथमें अपने केशपाशको पकड़े हुए शङ्करकी ओर दौड़ पड़ी ॥ २१–२४ ॥

अन्याऽलक्तकरागाढ्यं पादं कृत्वाकुलेक्षणा। अनलक्तकमेकं हि हरं द्रष्टुमुपागता ॥ २५ ॥
एकेनाक्ष्णाञ्जितेनैव श्रुत्वा भीममुपागतम्। साञ्जनां च प्रगृह्यान्या शलाकां सुष्ठु धावति ॥ २६ ॥
अन्या सरसनं वासः पाणिनादाय सुन्दरी। उन्मत्तेवागमन्नग्ना हरदर्शनलालसा ॥ २७ ॥
अन्यातिक्रान्तमीशानं श्रुत्वा स्तनभरालसा। अनिन्दत रुषा बाला यौवनं स्वं कृशोदरी ॥ २८ ॥

लालसाभरी नेत्रोंवाली अन्य स्त्री एक पैरमें महावर लगाकर तथा दूसरेमें बिना महावर लगाये शङ्करको देखने चली आयी। कोई स्त्री शङ्करको आया सुनकर एक आँखमें अञ्जन लगाये और दूसरी आँखमें अञ्जन लगानेके लिये अञ्जनयुक्त सलाई लिये दौड़ पड़ी। शङ्करके दर्शनकी उत्सुकतासे दूसरी सुन्दरी उन्मत्ताकी भाँति करधनीके साथ पहननेके वस्त्रको हाथमें लिये नंगी ही चली आयी। दूसरी कोई महादेवका आना सुनकर स्तनके भारसे अलसायी कृशोदरी बाला रोषसे अपने यौवनकी निन्दा करने लगी ॥ २५–२८ ॥

इत्थं स नगरस्त्रीणां क्षोभं संजनयन् हरः। जगाम वृषभारूढो दिव्यं श्वशुरमन्दिरम् ॥ २९ ॥
ततः प्रविष्टं प्रसमीक्ष्य शम्भुं शैलेन्द्रवेश्मन्यबला ब्रुवन्ति।
स्थाने तपो दुश्चरमम्बिकायाश्चीर्णं महानेष सुरस्तु शम्भुः ॥ ३० ॥
स एष येनाङ्गमनङ्गतां कृतं कन्दर्पनाम्नः कुसुमायुधस्य।
क्रतोः क्षयी दक्षविनाशकर्ता भगाक्षिहा शूलधरः पिनाकी ॥ ३१ ॥
नमो नमः शङ्कर शूलपाणे मृगारिचर्माम्बर कालशत्रो।
महाहिहाराङ्कितकुण्डलाय नमो नमः पार्वतिवल्लभाय ॥ ३२ ॥

इस प्रकार नगरकी महिलाओंको क्षुभित करते हुए बैलपर चढ़े शङ्कर अपने श्वशुरके दिव्य महलमें गये। तदनन्तर घरमें प्रविष्ट हुए। शम्भुको देखकर घरमें आयी हुई स्त्रियाँ स्पष्ट कहने लगीं कि पार्वतीद्वारा किया गया कठिन तप सर्वथा उचित है; क्योंकि ये शङ्कर महान् देव हैं। ये वही हैं, जिन्होंने कन्दर्प नामके कामदेवके शरीरको भस्म कर दिया। (फिर वे उन्हें बार-बार नमन करने लगीं—) ये ही क्रतुक्षयी, दक्षयज्ञविनाशक, भगाक्षिहन्ता, शूलधर एवं पिनाकी हैं। हे शङ्कर ! हे शूलपाणे ! हे व्याघ्रचर्मधारिन् ! हे कालशत्रो ! हे महान् सर्पोंका हार और कुण्डल धारण करनेवाले पार्वती-वल्लभ ! आपको बार-बार नमस्कार है ॥ २९—३२ ॥

इत्थं संस्तूयमानः सुरपतिविधृतेनातपत्रेण शम्भुः सिद्धैर्वन्द्यः सयक्षैरहिकृतवलयी चारुभस्मोपलिप्तः।
अग्रस्थेनाग्रजेन प्रमुदितमनसा विष्णुना चानुगेन वैवाहीं मङ्गलाढ्यां हुतवहमुदितामारुरोहाथ वेदीम् ॥३३॥
आयाते त्रिपुरान्तके सहचरैः सार्धं च सप्तर्षिभिर्व्यग्रोऽभूद्गिरिराजवेश्मनि जनः काल्याः समालङ्कृतौ।
व्याकुल्यं समुपागताश्च गिरयः पूजादिना देवताःप्रायो व्याकुलिता भवन्ति सुहृदः कन्याविवाहोत्सुकाः ॥३४॥
प्रसाध्य देवीं गिरिजां ततः स्त्रियो दुकूलशुक्लाभिवृताङ्गयष्टिकाम्।
भ्रात्रा सुनाभेन तदोत्सवे कृते सा शङ्कराभ्याशमथोपपादिता ॥ ३५ ॥
ततः शुभे हर्म्यतले हिरण्मये स्थिताः सुराः शङ्करकालिचेष्टितम्।
पश्यन्ति देवोऽपि समं कृशाङ्ग्या लोकानुजुष्टं पदमाससाद ॥ ३६ ॥

इस प्रकार संस्तुत तथा इन्द्रके द्वारा धारण किये छत्रसे युक्त, सिद्धों एव यक्षोंद्वारा वन्दनीय, सर्पका कंकण पहने, सुन्दर भस्म रमाये, ब्रह्माको आगे किये हुए एवं विष्णुद्वारा अनुगत शिव मङ्गलमयी अग्निपूर्ण विवाह-मण्डपकी वेदीपर गये। सहचरों और सप्तर्षियोंके साथ त्रिपुरान्तक शिवके आ जानेपर हिमवान्के घरके लोग कालीका शृङ्गार करनेमें एवं आये हुए पर्वत-देवताओंकी पूजा और सत्कार करनेमें व्यस्त हो गये। कन्याके विवाहमें उत्साहभरे प्रेमीजन प्रायः व्याकुल हो ही जाते हैं। फिर तो पार्वतीके दुबले-पतले शरीरको स्त्रियोंने उज्ज्वल रेशमी वस्त्र पहनाकर अलङ्कृत कर दिया एवं भाई सुनाभने वैवाहिक उत्सवके लिये उसे शङ्करके पास पहुँचाया। उसके बाद सोनेके बने महलके अंदर बैठे हुए देवगण शङ्कर और पार्वतीकी विवाह-विधि देखने लगे और महादेवजीने भी दुबले-पतले शरीरवाली पार्वतीके साथ जगत्पूज्य स्थानको प्राप्त कर लिया ॥ ३३—३६ ॥

यत्र क्रीडा विचित्राः सुकुसुमतरवो वारिणो विन्दुपातै-
र्गन्धाढ्यैर्गन्धचूर्णैः प्रविरलमवनौ गुण्डितौ गुण्डिकायाम्।
मुक्तादामैः प्रकामं हरगिरितनया क्रीडनार्थं तदाऽऽनत्
पश्चात् सिन्दूरपुञ्जैरविरतविततैश्चक्रतुः क्ष्मां सुरक्ताम् ॥ ३७ ॥
एवं क्रीडां हरः कृत्वा समं च गिरिकन्यया। आगच्छद् दक्षिणां वेदिमृषिभिः सेवितां दृढाम् ॥ ३८ ॥

अथाजगाम हिमवान् शुक्लाम्बरधरः शुचिः। पवित्रपाणिरादाय मधुपर्कमथोज्ज्वलम् ॥ ३९ ॥
उपविष्टस्त्रिनेत्रस्तु शाक्रीं दिशमपश्यत। सप्तर्षिकांश्च शैलेन्द्रः स्वुपविष्टोऽवलोकयन् ॥ ४० ॥
सुखासीनस्य शर्वस्य कृताञ्जलिपुटो गिरिः। प्रोवाच वचनं श्रीमान् धर्मसाधनमात्मनः ॥ ४१ ॥

सुन्दर पुष्पोंवाले वृक्षोंसे सुशोभित भूमिके घेरेमें क्रीडा करते हुए शङ्कर और पार्वतीने एक दूसरेपर सुगन्धित जलसीकरों (फुहारों) और गन्धचूर्णोंकी लगातार वर्षा की। उसके बाद उन दोनोंने क्रीडा-हेतु एक दूसरेको मुक्तादाम (मोतीकी मालाओं)से आहरण-क्रीडा करनेके बाद सिन्दूरकी मुट्ठी भर-भरकर विवाह-स्थलको सिन्दूरसे रँग दिया—पृथ्वीपर सिन्दूर-ही-सिन्दूर कर दिया। इस प्रकार शङ्करजी पार्वतीके साथ क्रीडा करनेके पश्चात् ऋषियोंसे सेवित सुदृढ़ (वैवाहिक मण्डपकी) दक्षिण वेदीपर आये। उसके बाद पवित्रक पहने तथा श्वेतवस्त्र धारण किये हिमवान् श्वेत-मधुर मधुपर्क लिये हुए आये। बैठे हुए त्रिनेत्र ऐन्द्री (पूर्व) दिशाकी ओर देख रहे थे। शैलेन्द्रने सप्तर्षियोंकी ओर देखते हुए भलीभाँति आसन ग्रहण किया। आरामसे आसनपर आसीन शङ्करसे गिरिने हाथ जोड़कर अपने धर्मका साधक वचन कहा—॥ ३७—४१ ॥

हिमवानुवाच

मत्पुत्रीं भगवन् कालीं पौत्रीं च पुलहाग्रजे। पितॄणामपि दौहित्रीं प्रतीच्छेमां मयोद्यताम् ॥ ४२ ॥

हिमवान्ने कहा—भगवन्! मेरे द्वारा दी जा रही पुलहाग्रजकी पौत्री, पितरोंकी दौहित्री एवं मेरी पुत्री कालीको आप कृपया स्वीकार करें ॥ ४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा शैलेन्द्रो हस्तं हस्तेन योजयन्। प्रादात् प्रतीच्छ भगवन् इदमुच्चैरुदीरयन् ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—यह कहकर शैलेन्द्रने (शङ्करके) हाथसे (पार्वतीके) हाथको संयोजितकर उच्च स्वरसे यह कहते हुए कि 'हे भगवन्! इसे आप स्वीकार करें' दान दे दिया ॥ ४३ ॥

हर उवाच

न मेऽस्ति माता न पिता तथैव न ज्ञातयो वाऽपि च बान्धवाश्च।
निराश्रयोऽहं गिरिशृङ्गवासी सुतां प्रतीच्छामि तवाद्रिराज ॥ ४४ ॥
इत्येवमुक्त्वा वरदोऽवपीडयत् करं करेणाद्रिकुमारिकायाः।
सा चापि संस्पर्शमवाप्य शम्भोः परां मुदं लब्धवती सुरर्षे ॥ ४५ ॥
तथाधिरूढो वरदोऽथ वेदिं सहाद्रिपुत्र्या मधुपर्कमश्नन्।
दत्त्वा च लाजान् कमलस्य शुक्लांस्ततो विरिञ्चो गिरिजामुवाच ॥ ४६ ॥

कालि पश्यस्व वदनं भर्तुः शशधरप्रभम्। समदृष्टिः स्थिरा भूत्वा कुरुष्वाग्नेः प्रदक्षिणम् ॥ ४७ ॥
ततोऽम्बिका हरमुखे दृष्टे शैत्यमुपागता। यथार्करश्मिसंतप्ता प्राप्य वृष्टिमिवावनिः ॥ ४८ ॥

शङ्करने कहा—पर्वतराज! मेरे पिता, माता, दायाद या कोई बान्धव नहीं है। मैं गृह-विहीन होकर पर्वतकी ऊँची चोटीपर रहता हूँ। मैं आपकी पुत्रीको अङ्गीकार करता हूँ। यह कहकर वरदाता शङ्करने पर्वतकी पुत्री पार्वतीके हाथको अपने हाथमें ले लिया। देवर्षे! शङ्करके हाथका स्पर्श प्राप्त कर उसे भी अत्यन्त हर्ष हुआ। इसके बाद मधुपर्कका प्राशन करते हुए वरदायक शङ्कर पर्वतकी पुत्रीके साथ वेदीपर बैठे। उसके बाद धानका सफेद लावा देकर ब्रह्माने गिरिजासे कहा—काली! पतिके चन्द्रमाके समान मुखको देखो एवं समदृष्टिमें स्थित होकर अग्निकी प्रदक्षिणा करो। उसके बाद शङ्करका मुख देखनेपर अम्बिकाको इस प्रकारकी शीतलता प्राप्त हुई जैसी सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त पृथ्वीको वृष्टि पाकर होती है ॥ ४४—४८ ॥

भूयः प्राह विभोर्वक्त्रमीक्षस्वेति पितामहः। लज्जया साऽपि दृष्टेति शनैर्ब्रह्माणमब्रवीत्॥ ४९॥
समं गिरिजया तेन हुताशस्त्रिः प्रदक्षिणम्। कृतो लाजाश्च हविषा समं क्षिप्ता हुताशने॥ ५०॥
ततो हराङ्घ्रिम।लिन्या गृहीतो दायकारणात्। किं याचसि च दास्यामि मुञ्चस्वेति हरोऽब्रवीत्॥ ५१॥
मालिनी शङ्करं प्राह मत्सख्या देहि शङ्कर। सौभाग्यं निजगोत्रीयं ततो मोक्षमवाप्स्यसि॥ ५२॥

पितामहने फिर कहा—विभुका मुख देखो। अब उसने भी लज्जापूर्वक धीरेसे ब्रह्मासे कहा—देख लिया। (इसके बाद) गिरिजाके साथ उन्होंने अग्निकी तीन प्रदक्षिणा की एवं अग्निमें हविष्यके साथ लावाकी आहुति दी। तत्पश्चात् मालिनीने दाय- (नेग-) के लिये शङ्करका पैर पकड़ लिया। शङ्करने कहा—क्या माँगती हो ? मै दूँगा। पैर छोड़ दो। मालिनीने शङ्करसे कहा—हे शङ्करजी ! मेरी सखीको अपने गोत्रका सौभाग्य दीजिये, तभी छुटकारा मिलेगा॥ ४९-५२॥

अथोवाच महादेवो दत्तं मालिनि मुञ्च माम्। सौभाग्यं निजगोत्रीयं योऽस्यास्तं शृणु वच्मि ते॥५३॥
योऽसौ पीताम्बरधरः शङ्खभृन्मधुसूदनः। एतदीयो हि सौभाग्यो दत्तोऽसद्गोत्रमेव हि॥ ५४॥
इत्येवमुक्ते वचने प्रमुमोच वृषध्वजम्। मालिनी निजगोत्रस्य शुभचारित्रमालिनी॥ ५५॥
यदा हरो हि मालिन्या गृहीतश्चरणे शुभे। तदा कालीमुखं ब्रह्मा ददर्श शशिनोऽधिकम्॥ ५६॥

उसके बाद महादेवने कहा—मालिनी ! तुम जो माँगती हो उसे मैंने दे दिया। मुझे छोड़ो। इसका जो गोत्रीय सौभाग्य होगा उसे मै तुम्हे बतलाता हूँ। तुम सुनो ! ये जो पीताम्बर पहनने और शङ्ख धारण करनेवाले मधुसूदन हैं मेरा गोत्र इनका सौभाग्य ही है; उसे मैने दे दिया। इस प्रकार शङ्करके कहनेपर अपने कुलकी शुभ सच्चरित्रताकी माला धारण करनेवाली मालिनीने शङ्करको छोड़ दिया। जब मालिनीने शङ्करके दोनों चरण पकड़ रखे थे, तब ब्रह्माने कालीके चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर मुखको देखा॥ ५३-५६॥

तद् दृष्ट्वा क्षोभमगमच्छुक्रच्युतिमवाप च। तच्छुक्रं वालुकायां च खिलीचक्रे ससाध्वसः॥ ५७॥
ततोऽब्रवीद्धरो ब्रह्मन् न द्विजान् हन्तुमर्हसि। अमी महर्षयो धन्या वालखिल्याः पितामह॥ ५८॥
ततो महेशवाक्यान्ते समुत्तस्थुस्तपस्विनः। अष्टाशीतिसहस्राणि वालखिल्या इति स्मृताः॥ ५९॥
ततो विवाहे निर्वृत्ते प्रविष्टः कौतुकं हरः। रेमे सहोमया रात्रिं प्रभाते पुनरुत्थितः॥ ६०॥
ततोऽद्रिपुत्रीं समवाप्य शम्भुः सुरैः समं भूतगणैश्च हृष्टः।
सम्पूजितः पर्वतपार्थिवेन स मन्दरं शीघ्रमुपाजगाम॥ ६१॥
ततः सुरान् ब्रह्महरीन्द्रमुख्यान् प्रणम्य सम्पूज्य यथाविभागम्।
विसर्ज्य भूतैः सहितो महीध्रमध्यावसन्मन्दरमष्टमूर्तिः॥ ६२॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३॥

उसको देखकर वे क्षुब्ध हो गये। उनका शुक्र च्युत हो गया। भयवश उन्होने उस शुक्रको वालुकामें छिपा दिया। उसके बाद शङ्करने कहा—ब्रह्मन् ! ब्राह्मणोंका वध मत कीजिये। पितामह ! ये सभी वालखिल्य महर्षि है, जो बडे ही धन्य है। फिर शङ्करके कहनेके बाद अट्ठासी हजार वालखिल्य नामक तपस्वी उठ खड़े हुए। उसके बाद विवाह हो जानेपर शङ्कर कौतुकागार (कोहवर) में गये। उन्होने रात्रिमे पार्वतीके साथ विनोद किया। पुनः प्रातःकाल उठे। उसके बाद पार्वतीको प्राप्तकर प्रसन्न हुए शङ्कर पर्वतराजसे पूजित होनेके बाद देवों एवं भूतगणोके साथ तुरन्त ही मन्दराचलपर आ गये। उसके बाद अष्टमूर्ति शङ्करने ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओंका यथोचित पूजन किया तथा उन्हे प्रणाम कर विदा किया। फिर स्वयं अपने भूतगणोके साथ मन्दर पर्वतपर रहने लगे॥ ५७-६२॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५३॥

[अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततो गिरौ वसन् रुद्रः स्वेच्छया विचरन् मुने। विश्वकर्माणमाहूय प्रोवाच कुरु मे गृहम्॥ १ ॥
ततश्चकार शर्वस्य गृहं स्वस्तिकलक्षणम्। योजनानि चतुःषष्टिः प्रमाणेन हिरण्मयम्॥ २ ॥
दन्ततोरणनिर्व्यूहं मुक्ताजालान्तरं शुभम्। शुद्धस्फटिकसोपानं वैडूर्यकृतरूपकम्॥ ३ ॥
सप्तकक्षं सुविस्तीर्णं सर्वैः समुदितं गुणैः। ततो देवपतिश्चक्रे यज्ञं गार्हस्थ्यलक्षणम्॥ ४ ॥

चौवनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् शिवके लिये मन्दरपर विश्वकर्माद्वारा गृहनिर्माण, शिवका यज्ञ-कर्म करना; पार्वतीकी तपस्यासे ब्रह्माका वर देना, कौशिकीकी उत्पत्ति, शिवके पार्श्वमें अग्नि-प्रवेश, देवोंकी प्रार्थना आदि और गजाननकी उत्पत्ति)

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! मन्दरगिरिपर रहते हुए और इच्छानुसार भ्रमण करते हुए शङ्करने विश्वकर्माको आवाहित कर कहा—विश्वकर्मन् ! मेरे लिये गृह बना दो। उसके बाद विश्वकर्माने शङ्करके लिये चौंसठ योजन विस्तृत स्वर्णनिर्मित तथा स्वस्तिक चिह्नोंसे युक्त गृहका निर्माण किया। उसमें हाथीके दाँतोंके तोरण तथा मोतियोंकी सुन्दर झालरें लगी हुई थीं और वैडूर्यमणिसे जटित शुद्ध-स्फटिककी सीढ़ियाँ थीं। सात कक्षोंवाला वह लम्बा-चौड़ा घर सभी गुणोंसे भरा-पूरा था। घर बन जानेके बाद देवाधिदेवने गृहस्थ आश्रमके उपयुक्त यज्ञकर्म सम्पन्न किया॥ १—४॥

तं पूर्वचरितं मार्गमनुयाति स्म शङ्करः। तथा सतस्त्रिनेत्रस्य महान् कालोऽभ्यगान्मुने॥ ५ ॥
रमतः सह पार्वत्या धर्मापेक्षी जगत्पतिः। ततः कदाचिन्नर्मार्थं कालीत्युक्ता भवेन हि॥ ६ ॥
पार्वती मन्युनाविष्टा शङ्करं वाक्यमब्रवीत्।
संरोहतीषुणा विद्धं वनं परशुना हतम्। वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम्॥ ७ ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति तैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
न तान् विमुञ्चेत हि पण्डितो जनस्तमद्य धर्मं वितथं त्वया कृतम्॥ ८ ॥

शङ्कर भगवान् पहलेके श्रेष्ठ जनोंद्वारा आचरित (धर्म्य) पथका अनुसरण करने लगे। मुने ! त्रिनेत्रके इस प्रकार रहते हुए बहुत समय बीत गया। पार्वतीके साथ धर्मके अनुसार व्यवहार करते हुए जगत्स्वामी शङ्करने किसी समय विनोदमें गिरिजाको 'काली' कह दिया। क्रोधसे भरकर पार्वतीने शङ्करसे कहा—(देखिये प्रभु !) बाणसे बिंधा हुआ घाव भर जाता है और कुल्हाड़ीसे काटा हुआ वन पुनः हरा-भरा हो जाता है; किंतु वाणीसे किया गया दोषपूर्ण तथा बीभत्स घाव नहीं भरता। मुखसे निकले हुए वाग्बाणोंसे घायल प्राणी दिन-रात चिन्ता करते रहते हैं; अतः पण्डितजनोंको उन्हें (कुवाच्य वाक्य-बाणोंको) नहीं प्रयुक्त करना चाहिये। आज आपने उस वाङ्मयधर्मको व्यर्थ कर दिया॥ ५—८॥

तस्माद् व्रजामि देवेश तपस्तप्तुमनुत्तमम्। तथा यतिष्ये न यथा भवान् कालीति वक्ष्यति॥ ९ ॥
इत्येवमुक्त्वा गिरिजा प्रणम्य च महेश्वरम्। अनुज्ञाता त्रिनेत्रेण दिवमेवोत्पपात ह॥ १० ॥
समुत्पत्य च वेगेन हिमाद्रिशिखरं शिवम्। टङ्कच्छिन्नं प्रयत्नेन विधात्रा निर्मितं यथा॥ ११ ॥
ततोऽवतीर्य सस्मार जयां च विजयां तथा। जयन्तीं च महापुण्यां चतुर्थीमपराजिताम्॥ १२ ॥

मङ्गलायतन भगवान् विनायक

देवेश्वर ! इसलिये मैं सर्वोत्तम तपस्या करने जा रही हूँ । मैं कठोर परिश्रम करके ऐसा उपाय करूँगी जिससे आप फिर मुझे 'काली'—ऐसा न कहेंगे । इस प्रकार कहनेके बाद हिमतनया-(पार्वती-)ने शङ्करको प्रणाम किया एवं उनसे आदेश लेकर आकाशमें चली गयीं और वे उड़कर मङ्गलमय हिमालयकी चोटीपर पहुँची । वह हिमालयकी चोटी ऐसी थी जैसे विधाताने प्रयत्नपूर्वक टाँकीसे काटकर निर्माण किया हो । (आकाशसे पर्वतपर) उतरकर (उन्होंने) जया, विजया, जयन्ती, महापुण्या तथा चौथी अपराजिताका स्मरण किया ॥ ९–१२ ॥

ताः संस्मृताः समाजग्मुः कालीं द्रष्टुं हि देवताः । अनुज्ञातास्तथा देव्या शुश्रूषां चक्रिरे शुभाः ॥ १३ ॥
ततस्तपसि पार्वत्यां स्थितायां हिमवद्वनात् । समाजगाम तं देशं व्याघ्रो दंष्ट्रानखायुधः ॥ १४ ॥
एकपादस्थितायां तु देव्यां व्याघ्रस्त्वचिन्तयत् । यदा पतिष्यते चेयं तदा दास्यामि वै अहम् ॥ १५ ॥
इत्येवं चिन्तयन्नेव दत्तदृष्टिर्मृगाधिपः । पश्यमानस्तु वदनमेकदृष्टिरजायत ॥ १६ ॥

(पार्वतीके) स्मरण करते ही वे (आहूत) देवियाँ कालीको देखनेके लिये आ गयीं । (और) वे कल्याणकारिणी सखियाँ देवीकी आज्ञा पाकर उनकी सेवा करने लगीं । उसके बाद पार्वतीके तपस्यामे लग जानेपर हिमालयके वनसे आयुधके काममे आनेवाले दाँतों और नखोंके आयुधवाला एक बाघ उस स्थानपर आया । पार्वतीको एक पैरपर खड़ी देखकर बाघने सोचा कि जब यह गिरेगी तो मै अवश्य ही इसे पा जाऊँगा । इस प्रकार सोचता हुआ वह मृगोंका स्वामी पार्वतीके मुखको एकटक देखने लगा ॥ १३–१६ ॥

ततो वर्षशतं देवी गृणन्ती ब्रह्मणः पदम् । तपोऽतप्यत् ततोऽभ्यागाद् ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः॥ १७ ॥
पितामहस्ततोवाच देवीं प्रीतोऽस्मि शाश्वते । तपसा धूतपापाऽसि वरं वृणु यथेप्सितम् ॥ १८ ॥
अथोवाच वचः काली व्याघ्रस्य कमलोद्भव । वरदो भव तेनाहं यास्ये प्रीतिमनुत्तमाम् ॥ १९ ॥
ततः प्रादाद् वरं ब्रह्मा व्याघ्रस्याद्भुतकर्मणः । गाणपत्यं विभौ भक्तिमजेयत्वं च धर्मिताम् ॥ २० ॥

उसके बाद सौ वर्षोतक ब्रह्ममन्त्रका जाप करती हुई देवीने तपस्या की । तब स्वर्ग, पृथ्वी तथा पातालके स्वामी ब्रह्मा उपस्थित हुए । ब्रह्माने देवीसे कहा—'सनातनि ! मै प्रसन्न हूँ । तुम तपस्या करके निष्पाप हो गयी हो । इच्छानुकूल वर माँगो ।' इसके बाद कालीने कहा—हे कमलजन्मा (ब्रह्माजी) ! इस व्याघ्रको आप वर दें । इससे मै उत्तम सुख प्राप्त करूँगी । तब ब्रह्माजीने उस अलौकिक कर्म करनेवाले व्याघ्रको गणनायक हो जाने, शंङ्करकी भक्ति प्राप्त करने एवं किसीसे न जीते जाने और धार्मिक हो जानेका वर दिया' ॥ १७–२० ॥

वरं व्याघ्राय दत्त्वैवं शिवकान्तामथाऽब्रवीत् । वृणीष्व वरमव्यग्रा वरं दास्ये तवाऽम्बिके ॥ २१ ॥
ततो वरं गिरिसुता प्राह देवी पितामहम् । वरः प्रदीयतां मह्यं वर्णं कनकसंनिभम् ॥ २२ ॥
तथेत्युक्त्वा गतो ब्रह्मा पार्वती चाभवत् ततः । कोशं कृष्णं परित्यज्य पद्मकिञ्जल्कसन्निभा ॥ २३ ॥
तस्मात् कोशाच्च संजाता भूयः कात्यायनी मुने ।
तामभ्येत्य सहस्राक्षः प्रतिजग्राह दक्षिणाम् । प्रोवाच गिरिजां देवो वाक्यं स्वार्थाय वासवः ॥ २४ ॥

इस प्रकार व्याघ्रको वर देकर (उन्होने) शिवकान्ता-(पार्वती-) से कहा—अम्बिके ! तुम (भी) शान्त चित्तसे वर माँगो । मै तुम्हे (भी) वर दूँगा । उसके बाद गिरिनन्दिनी पार्वती देवीने पितामहसे कहा—ब्रह्मन् ! मुझे यही वर दीजिये कि मेरा वर्ण सुवर्णके समान हो जाय । ब्रह्मा 'ऐसा ही हो' कहकर चले गये । पार्वती भी अपने शरीरका कालापन त्यागकर कमलके केसरके समान हो गयीं । मुने ! उस कृष्ण कोशसे फिर कात्यायनी

उत्पन्न हुई। हजार आँखोंवाले इन्द्रने उनके पास जाकर दक्षिणा ग्रहण की और अपने लिये गिरिजासे वह वचन कहा—॥ २१–२४ ॥

इन्द्र उवाच

इयं प्रदीयतां मह्यं भगिनी मेऽस्तु कौशिकी। त्वत्कोशसम्भवा चेयं कौशिकी कौशिकोऽप्यहम्॥ २५॥
तां प्रादादिति संश्रुत्य कौशिकीं रूपसंयुताम्। सहस्राक्षोऽपि तां गृह्य विन्ध्यं वेगाज्जगाम च॥ २६॥
तत्र गत्वा त्वथोवाच तिष्ठस्वात्र महाबले। पूज्यमाना सुरैर्नाम्ना ख्याता त्वं विन्ध्यवासिनी॥ २७॥
तत्र स्थाप्य हरिर्देवीं दत्त्वा सिंहं च वाहनम्। भवामरारिहन्त्रीत्युक्त्वा स्वर्गमुपागमत्॥ २८॥

इन्द्रने कहा—आप इसे मेरे लिये दे दें। यह कौशिकी मेरी बहन बनेगी। आपके कोशसे उत्पन्न होनेके कारण यह 'कौशिकी' हुई और मैं भी कौशिक हुआ। उसे मैंने दे दिया—इस (प्रतिज्ञा-वचन)को सुननेके बाद उस रूपवती कौशिकीको लेकर देवराज इन्द्र शीघ्रतापूर्वक विन्ध्यपर्वतपर चले गये। इसके बाद वहाँ जाकर (उन्होंने उससे) कहा—महाबले! तुम यहाँ रहो। देवताओंद्वारा आराधित होती हुई तुम 'विन्ध्यवासिनी' नामसे प्रसिद्ध होगी। इन्द्रने देवीको वहाँ स्थापितकर उनके वाहनके लिये (उन्हें) सिंह दे दिया और तुम देवताओंके शत्रुओंको मारनेवाली बनो—ऐसा कहकर वे स्वर्ग चले गये॥ २५–२८॥

उमाऽपि तं वरं लब्ध्वा मन्दरं पुनरेत्य च। प्रणम्य च महेशानं स्थिता सविनयं मुने॥ २९॥
ततोऽमरगुरुः श्रीमान् पार्वत्या सहितोऽव्ययः। तस्थौ वर्षसहस्रं हि महामोहनके मुने॥ ३०॥
महामोहस्थिते रुद्रे भुवनाश्चेलुरुद्धताः। चुक्षुभुः सागराः सप्त देवाश्च भयमागमन्॥ ३१॥
ततः सुराः सहेन्द्रेण ब्रह्मणः सदनं गताः। प्रणम्योचुर्महेशानं जगत् क्षुब्धं तु किं त्विदम्॥ ३२॥

मुने! उमादेवी भी उस वरको प्राप्त करके मन्दर पर्वतपर चली गयीं और महेशको प्रणाम कर विनीतभावसे रहने लगीं। मुने! उसके पश्चात् पार्वतीके साथ श्रीमान्, अव्यय देवगुरु एक हजार वर्षोंतक महामोहनक (सुरत-क्रीडामें) स्थित रहे। रुद्रदेवके महामोहमें स्थित होनेपर समस्त भुवन क्षुब्ध होकर विचलित हो गये। सातों सागर खलबला उठे और देवगण भयभीत हो गये। तब देवता लोग इन्द्रके साथ ब्रह्मलोक गये और महेशान-(ब्रह्मा-)को प्रणाम कर बोले—यह जगत् क्यों अशान्त हो गया है—यह क्या बात है?॥ २९–३२॥

तानुवाच भवो नूनं महामोहनके स्थितः। तेनाक्रान्तास्त्विमे लोका जग्मुः क्षोभं दुरत्ययम्॥ ३३॥
इत्युक्त्वा सोऽभवत् तूष्णीं ततोऽप्यूचुः सुरा हरिम्। आगच्छ शक्र गच्छामो यावत् तन्न समाप्यते॥ ३४॥
समाप्ते मोहने बालो यः समुत्पत्स्यतेऽव्ययः। स नूनं देवराजस्य पदमैन्द्रं हरिष्यति॥ ३५॥
ततोऽमराणां वचनाद् विवेको बलघातिनः। भयाज्ज्ञानं ततो नष्टं भाविकर्मप्रचोदनात्॥ ३६॥

(ब्रह्माने) उन देवताओंसे कहा—निश्चय ही महादेव महामोहनक (सुरतक्रीडा-)में स्थित हैं। उन्हींसे आक्रान्त होनेके कारण यह सारा जगत् अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। इतना कहकर वे चुप हो गये। तब देवताओंने इन्द्रसे कहा—शक्र! जबतक वह (महामोहनक) समाप्त नहीं हो जाता, तभीतक हमलोग उन-(महेश्वर-)के पास चलें। मोह समाप्त हो जानेपर उत्पन्न होनेवाला अविनाशी बालक निश्चय ही देवराजके ऐन्द्रपदका हरण कर लेगा। उसके बाद भवितव्यतावश देवताओंके वचनसे बलघाती-(इन्द्र-)का विवेक एवं भयके कारण ज्ञान (भी) नष्ट हो गया॥ ३३–३६॥

ततः शक्रः सुरैः सार्धं वह्निना च सहस्रदृक्। जगाम मन्दरगिरिं तच्छृङ्गे न्यविशत्ततः ॥ ३७ ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रवेष्टुं तद्भवाजिरम्। चिन्तयित्वा तु सुचिरं पावकं ते व्यसर्जयन् ॥ ३८ ॥
स चाभ्येत्य सुरश्रेष्ठो दृष्ट्वा द्वारे च नन्दिनम्। दुष्प्रवेशं च तं मत्वा चिन्तां वह्निः परां गतः ॥ ३९ ॥
स तु चिन्तार्णवे मग्नः प्रापश्यच्छम्भुसद्मनः। निष्क्रामन्तीं महापङ्क्तिं हंसानां विमलां तथा ॥ ४० ॥

तब हजार आँखवाले इन्द्र अग्नि और देवताओंके साथ मन्दर पर्वतपर गये एवं उस पर्वतकी ऊँची चोटीपर बैठ गये; परंतु वे सभी महादेवके भवनमें प्रवेश न पा सके। अधिक समयतक आपसमें विचार-विमर्श कर उन लोगोंने अग्निदेवको (उनके पास) भेजा। सुरश्रेष्ठ अग्निदेव वहाँ गये और द्वारपर नन्दीको देखकर एवं वहाँ प्रवेश पाना कठिन समझकर चिन्ता-सागरमें डूब गये। शोक-सागरमें डूबे हुए उन्होंने शम्भुके भवनसे निकल रही हंसोंकी विमल लम्बी कतार देखी ॥ ३७–४० ॥

असावुपाय इत्युक्त्वा हंसरूपो हुताशनः। वञ्चयित्वा प्रतीहारं प्रविवेश हराजिरम् ॥ ४१ ॥
प्रविश्य सूक्ष्ममूर्तिश्च शिरोदेशे कपर्दिनः। प्राह प्रहस्य गम्भीरं देवा द्वारि स्थिता इति ॥ ४२ ॥
तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय परित्यज्य गिरेः सुताम्। विनिष्क्रान्तोऽजिराच्छर्वो वह्निना सह नारद ॥ ४३ ॥
विनिष्क्रान्ते सुरपतौ देवा मुदितमानसाः। शिरोभिरवनीं जग्मुः सेन्द्रार्कशशिपावकाः ॥ ४४ ॥
ततः प्रीत्या सुरानाह वदध्वं कार्यमाशु मे। प्रणामावनतानां वो दास्येऽहं वरमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

यही उपाय है—ऐसा कहकर वे अग्निदेव द्वारपालको भुलावा देकर महादेवके गृहमें हंसरूपमें प्रविष्ट हो गये। प्रवेश करनेके पश्चात् सूक्ष्म शरीर धारण करनेवाले अग्निदेवने महादेवके सिरके पास हँसते हुए गम्भीर स्वरमें कहा—(प्रभो!) देवतालोग दरवाजेपर खडे हैं। (पुलस्त्यजी बोले) नारदजी! महादेवजी उस बातको सुनकर उसी समय सहसा उठे और हिमालयकी कन्याको छोड़कर अग्निके साथ आँगनसे निकल आये। सुरपति शङ्करके निकल जानेपर इन्द्रसहित चन्द्र, सूर्य और अग्नि आदि सभी देवताओंने हर्षित मनवाले होकर पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया। उसके बाद (भगवान् महादेवने) प्रेमपूर्वक देवताओंसे कहा—देवताओ! आपलोग मुझे शीघ्र अपना कार्य बतायें। मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करनेवाले आपलोगोंको उत्तम वर दूँगा ॥ ४१–४५ ॥

देवा ऊचुः

यदि तुष्टोऽसि देवानां वरं दातुमिहेच्छसि। तदिदं त्यज्यतां तावन्महामैथुनमीश्वर ॥ ४६ ॥

देवताओंने कहा—ईश्वर! यदि आप प्रसन्न हैं और हम देवताओंको वर देना चाहते हैं तो आप इस महासुरतलीलाका परित्याग कर दें ॥ ४६ ॥

ईश्वर उवाच

एवं भवतु संत्यक्तो मया भावोऽमरोत्तमाः। ममेदं तेज उद्रिक्तं कश्चिद् देवः प्रतीच्छतु ॥ ४७ ॥

ईश्वरने कहा—देवश्रेष्ठो! ऐसा ही होगा। मैंने आसक्ति छोड दी। किंतु कोई देवता मेरे इस बढ़े हुए तेज(शुक्र)को ग्रहण करे ॥ ४७ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्ताः शम्भुना देवाः सेन्द्रचन्द्रदिवाकराः। असीदन्त यथा मग्नाः पङ्के वृन्दारका इव ॥ ४८ ॥
सीदत्सु दैवतेष्वेवं हुताशोऽभ्येत्य शङ्करम्। प्रोवाच मुञ्च तेजस्त्वं प्रतीच्छाम्येष शङ्कर ॥ ४९ ॥
ततो मुमोच भगवांस्तद्रेतः स्कन्नमेव तु। जलं तृषान्ते वै यद्वत् तैलपानं पिपासितः ॥ ५० ॥
ततः पीते तेजसि वै शार्वे देवेन वह्निना। स्वस्थाः सुराः समामन्त्र्य हरं जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ ५१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—शम्भुके इस प्रकार कहनेपर (प्रकृत प्रसङ्गमें) इन्द्रके साथ चन्द्रमा एवं सूर्य आदि देवता कीचड़में फँसे हुए हाथीके समान दुःखी हो गये। देवताओंके इस प्रकार दुःखी हो जानेपर अग्निने (साहसकर) शङ्करके पास जाकर कहा—शङ्कर! आप (अपने) तेजको छोड़ें—बाहर करें। मैं उसे ग्रहण करूँगा। उसके बाद भगवान्‌ने तेजको छोड़ दिया और उस त्यक्त रेतस्‌को जैसे जलका प्यासा व्यक्ति तेल पी जाता है, अग्निदेवने उसी प्रकार (उसे) पी लिया। अग्निदेव द्वारा शङ्करके तेजको इस प्रकार पी लिये जानेपर देवतालोग स्वस्थ हो गये और महादेवसे अनुमति लेकर स्वर्गमें लौट गये ॥ ४८—५१ ॥

सम्प्रयातेषु देवेषु हरोऽपि निजमन्दिरम्। समभ्येत्य महादेवीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५२ ॥
देवि देवैरिहाभ्येत्य यत्नात् प्रेष्य हुताशनम्। नीतः प्रोक्तो निषिद्धस्तु पुत्रोत्पत्तिं तवोदरात् ॥ ५३ ॥
साऽपि भर्तुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धा रक्तान्तलोचना। शशाप दैवतान् सर्वान् नष्टपुत्रोद्भवा शिवा ॥ ५४ ॥
यस्मान्नेच्छन्ति ते दुष्टा मम पुत्रमथौरसम्। तस्मात् ते न जनिष्यन्ति स्वासु योषित्सु पुत्रकान् ॥ ५५ ॥

देवताओंके स्वर्ग चले जानेपर महादेवने भी अपने मन्दिरमें जाकर महादेवीसे यह वचन कहा—देवि! देवोंने यहाँ आकर युक्तिसे अग्निको मेरे निकट भेजकर मुझे बुलाया और तुम्हारी कोखसे पुत्र न जननेके लिये कहा। पुत्र न जननेकी बात पतिसे सुनकर क्रोधसे शिवाकी आँखें लाल हो गयीं और (उन्होंने) समस्त देवताओंको शाप दे दिया; यतः वे दुष्ट मेरे उदरसे पुत्रकी उत्पत्ति नहीं चाहते; अतः वे भी अपनी पत्नियोंसे पुत्र नहीं उत्पन्न करेंगे ॥ ५२—५५ ॥

एवं शप्त्वा सुरान् गौरी शौचशालामुपागमत्। आहूय मालिनीं स्नातुं मतिं चक्रे तपोधना ॥ ५६ ॥
मालिनी सुरभिं गृह्य श्लक्ष्णमुद्वर्तनं शुभा।
देव्यङ्गमुद्वर्तयते कराभ्यां कनकप्रभम्। तत्स्वेदं पार्वती चैव मेने कीदृग्गुणेन हि ॥ ५७ ॥
मालिनी तूर्णमगमद् गृहं स्नानस्य कारणात्। तस्यां गतायां शैलेयी मलाच्चक्रे गजाननम् ॥ ५८ ॥
चतुर्भुजं पीनवक्षं पुरुषं लक्षणान्वितम्। कृत्वोत्ससर्ज भूम्यां च स्थिता भद्रासने पुनः ॥ ५९ ॥

इस तरह देवताओंको शाप देकर तपोधना गौरी शुद्धिशालामें गयीं और मालिनीको बुलाकर स्नान करनेका विचार किया। सुन्दरी मालिनी सुगन्धयुक्त मुलायम उबटन लेकर देवीके सोने-जैसे कान्तिवाले शरीरमें (उसे) दोनों हाथोंसे लगाने लगी। (उबटन लगाते समय पसीनेसे मिला उबटनका मैल देखकर) पार्वतीजी (अपने मनमें) विचार करने लगीं कि (देखूँ कि) इस स्वेदमें क्या गुण है। मालिनी स्नान-(कराने-)के लिये शीघ्र स्नानगृहमें चली गयी। उसके चले जानेपर शैलपुत्रीने (उस) मैलसे गजवदनको बनाया। चार भुजावाले, चौड़ी छातीवाले, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त पुरुषको बनाकर उसे भूमिपर रख दिया और वे स्वयं पुनः उत्तम आसनपर बैठ गयीं ॥ ५६—५९ ॥

मालिनी तच्छिरः स्नानं ददौ विहसती तदा। ईषद्धासामुमा दृष्ट्वा मालिनीं प्राह नारद ॥ ६० ॥
किमर्थं भीरु शनकैर्हससि त्वमतीव च। साऽथोवाच हसाम्येवं भवत्यास्तनयः किल ॥ ६१ ॥
भविष्यतीति देवेन प्रोक्तो नन्दी गणाधिपः। तच्छ्रुत्वा मम हासोऽयं संजातोऽद्य कृशोदरि ॥ ६२ ॥
यस्माद् देवैः पुत्रकामः शङ्करो विनिवारितः। एतच्छ्रुत्वा वचो देवी सस्नौ तत्र विधानतः ॥ ६३ ॥

उस समय मालिनीने हँसते हुए देवीको सिरसे स्नान कराया। नारदजी! मालिनीको मुस्कराते हुए देखकर देवीने कहा—भीरु! तुम धीरे-धीरे इतना क्यों हँस रही हो? मालिनीने कहा—मैं इसलिये हँस रही

हैं कि आपको (अवश्य) पुत्र होगा, ऐसा महादेवने गणपति नन्दीसे कहा था। कृशोदरि ! उसे सुनकर (स्मरण कर) आज मुझे हँसी आ गयी है; क्योंकि देवताओंने शङ्करको पुत्रके लिये इच्छा करनेसे रोक दिया है। इस बातको सुनकर देवीने (फिर) वहाँ विधिपूर्वक स्नान किया ॥ ६०—६३ ॥

स्नात्वार्च्य शङ्करं भक्त्या समभ्यागाद् गृहं प्रति। ततः शम्भुः समागत्य तस्मिन् भद्रासने त्वपि ॥ ६४ ॥
स्नातस्तस्य ततोऽधस्तात् स्थितः स मलपूरुषः। उमास्वेदं भवस्वेदं जलभूतिसमन्वितम् ॥ ६५ ॥
तत्सम्पर्कात् समुत्तस्थौ फूत्कृत्य करमुत्तमम्। अपत्यं हि विदित्वा च प्रीतिमान् भुवनेश्वरः ॥ ६६ ॥
तं चादाय हरो नन्दिमुवाच भगनेत्रहा। रुद्रः स्नात्वार्च्य देवादीन् वाग्भिरद्भिः पितॄनपि ॥ ६७ ॥

स्नान करनेके बाद भक्तिसे शङ्करकी अर्चना कर देवी घरकी ओर चलीं। उसके बाद महादेवने भी आकर उसी पवित्र आसनपर स्नान किया। उसी आसनके नीचे वह मैलसे बनाया पुरुष पड़ा था। उमाके स्वेद एवं जल तथा भस्मसे युक्त शङ्करके स्वेदका सम्मिश्रण होनेसे वह उत्तम शुण्डसे फूत्कार करते हुए उठा। उसे अपना पुत्र जानकर भुवनेश्वर प्रसन्न हो गये। भगनेत्रको नष्ट करनेवाले महादेवने उसे लेकर नन्दीसे कहा— (यह मेरा पुत्र है)। स्नान करनेके बाद शिवने स्तुतियोंसे देवताओंकी तथा जलसे (नित्य) पितरोंकी भी अर्चना की ॥ ६४—६७ ॥

जप्त्वा सहस्रनामानमुमापार्श्वमुपागतः। समेत्य देवीं विहसन् शङ्करः शूलधृग् वचः ॥ ६८ ॥
प्राह त्वं पश्य शैलेयि स्वसुतं गुणसंयुतम्। इत्युक्ता पर्वतसुता समेत्यापश्यदद्भुतम् ॥ ६९ ॥
यत्तदङ्गमलाद्दिव्यं कृतं गजमुखं नरम्। ततः प्रीता गिरिसुता तं पुत्रं परिषष्वजे ॥ ७० ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय ततः शर्वोऽब्रवीदुमाम्। नायकेन विना देवि तव भूतोऽपि पुत्रकः ॥ ७१ ॥
यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः। एष विघ्नसहस्राणि सुरादीनां हरिष्यति ॥ ७२ ॥

वे सहस्रनामका जप कर उमाके निकट गये। देवीके निकट जाकर शूल धारण करनेवाले शङ्करने हँसते हुए यह वचन कहा—शैलजे ! तुम अपने गुणवान् पुत्रको देखो। इस प्रकार कहे जानेपर पार्वतीने जाकर यह आश्चर्य देखा कि उनके शरीरके मलसे अलौकिक सुन्दर हाथीके मुखवाला पुरुष हो गया है। उसके बाद गिरिजाने प्रसन्नतापूर्वक उस पुत्रको आलिङ्गित किया। उसके सिरको सूँघकर शम्भुने उमासे कहा— देवि ! तुम्हारा यह पुत्र बिना नायकके उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम 'विनायक' होगा। यह देवादिकोंके सहस्रों विघ्नोंका हरण करेगा ॥ ६८—७२ ॥

पूजयिष्यन्ति चैवास्य लोका देवि चराचराः। इत्येवमुक्त्वा देव्यास्तु दत्तवांस्तनयाय हि ॥ ७३ ॥
सहायं तु गणश्रेष्ठं नाम्ना ख्यातं घटोदरम्। तथा मातृगणा घोरा भूता विघ्नकराश्च ये ॥ ७४ ॥
ते सर्वे परमेशेन देव्याः प्रीत्योपपादिताः। देवी च स्वसुतं दृष्ट्वा परां मुदमवाप च ॥ ७५ ॥
रेमेऽथ शम्भुना सार्धं मन्दरे चारुकन्दरे।
एवं भूयोऽभवद् देवी इयं कात्यायनी विभो। या जघान महादैत्यौ पुरा शुम्भनिशुम्भकौ ॥ ७६ ॥
एतत् तवोक्तं वचनं शुभाख्यं यथोद्भवं पर्वततो मृडान्याः।
स्वर्ग्यं यशस्यं च तथाघहारि आख्यानमूर्जस्करमद्रिपुत्र्याः ॥ ७७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

देवि ! सारा चर और अचर जगत् इसकी पूजा करेगा। देवीसे इस प्रकार कहकर उन्होंने पुत्र विनायकके लिये घटोदर नामके श्रेष्ठ गणको दे दिया। फिर देवीके प्रेमसे घोर मातृगणों तथा विघ्नकारी भूतोंको अधीनतामें कार्य

करनेवाला बना दिया—परमेशने उन सबकी सृष्टि की। अपने पुत्रको देखकर पार्वती देवीको भी परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके बाद देवी शम्भुके साथ सुन्दर कन्दराओंवाले मन्दराचलपर विचरण करने लगीं। विभो! यह देवी फिर कात्यायनी हुईं, जिन्होंने प्राचीन कालमें शुम्भ और निशुम्भ नामके दो महान् दैत्योंका विनाश किया। (पुलस्त्यजी प्रकृत प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—) मृडानी जैसे पर्वतसे उत्पन्न हुईं, उस शुभ आख्यानको मैंने आपसे कहा। पर्वतनन्दिनीका यह आख्यान स्वर्ग एवं यशको देनेवाला, पापका हरण करनेवाला एवं ओजस्वी है ॥ ७३—७७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौवनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

[अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कश्यपस्य दनुर्नाम भार्यासीद् द्विजसत्तम। तस्याः पुत्रत्रयं चासीत् सहस्राक्षाद् बलाधिकम्॥ १ ॥
ज्येष्ठः शुम्भ इति ख्यातो निशुम्भश्चापरोऽसुरः। तृतीयो नमुचिर्नाम महाबलसमन्वितः ॥ २ ॥
योऽसौ नमुचिरित्येवं ख्यातो दनुसुतोऽसुरः। तं हन्तुमिच्छति हरिः प्रगृह्य कुलिशं करे ॥ ३ ॥
त्रिदिवेशं समायान्तं नमुचिस्तद्भयादथ। प्रविवेश रथं भानोस्ततो नाशकदच्युतः ॥ ४ ॥

पचपनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवीद्वारा नमुचिका वध, शुम्भ-निशुम्भका वृत्तान्त, धूम्रलोचनका वध, देवीका चण्ड-मुण्डसे युद्ध और असुरसैन्य-सहित चण्ड-मुण्डका विनाश)

पुलस्त्यजी बोले—द्विजसत्तम! कश्यपकी दनु नामकी पत्नी थी। उसके इन्द्रसे अधिक बलशाली तीन पुत्र थे। उनमें बडेका नाम था शुम्भ, मझलेका नाम निशुम्भ और महाबलशाली तृतीय पुत्रका नाम नमुचि था। इन्द्रने हाथमें वज्र धारणकर नमुचि नामसे विख्यात (उस) दनुपुत्र असुरको मारना चाहा; तब नमुचि इन्द्रको आते देखकर उनके भयसे सूर्यके रथमें प्रवेश कर गया। इससे इन्द्र उसे मार न सके ॥ १—४ ॥

शक्रस्तेनाथ समयं चक्रे सह महात्मना। अवध्यत्वं वरं प्रादाच्छस्त्रैरस्त्रैश्च नारद ॥ ५ ॥
ततोऽवध्यत्वमाज्ञाय शस्त्रादस्त्राच्च नारद। संत्यज्य भास्कररथं पातालमुपयादथ ॥ ६ ॥
स निमज्जन्नपि जले सामुद्रं फेनमुत्तमम्। ददर्श दानवपतिस्तं प्रगृह्येदमब्रवीत् ॥ ७ ॥
यदुक्तं देवपतिना वासवेन वचोऽस्तु तत्। अयं स्पृशतु मां फेनः कराभ्यां गृह्य दानवः ॥ ८ ॥
मुखनासाक्षिकर्णादीन् सम्ममार्ज्ज यथेच्छया। तस्मिञ्छक्रोऽसृजद् वज्रमन्तर्हितमपीश्वरः ॥ ९ ॥

नारद! इसके बाद महात्मा इन्द्रने उससे समझौता कर लिया और उसे अस्त्र-शस्त्रोंसे न मारे जानेका वर दे दिया। नारदजी! उसके बाद तो वह (नमुचि) अपनेको अस्त्र-शस्त्रोंसे न मारे जानेवाला जानकर सूर्यके रथको त्यागकर पाताललोकमें चला गया। उस दानवपतिने जलमें स्नान करते हुए समुद्रके उत्तम फेनको देखा और उसे ग्रहण कर यह वचन कहा—देवराज! इन्द्रने जो वचन कहा है वह सफल हो। यह फेन मेरा स्पर्श करे। ऐसा कहकर वह दानव दोनों हाथोंसे फेन उठाकर अपनी इच्छाके अनुसार उससे अपने मुख, नाक और कर्ण आदिका मार्जन करने लगा। उस-(फेन-) में छिपे हुए इन्द्रदेवने वज्रकी सृष्टि की ॥ ५—९ ॥

तेनासौ भग्ननासास्यः पपात च ममार च। समये च तथा नष्टे ब्रह्महत्याऽस्पृशद्धरिम् ॥ १० ॥
स वै तीर्थे समासाद्य स्नातः पापादमुच्यत। ततोऽस्य भ्रातरौ वीरौ क्रुद्धौ शुम्भनिशुम्भकौ ॥ ११ ॥
उद्योगं सुमहत्कृत्वा सुरान् बाधितुमागतौ। सुरास्तेऽपि सहस्राक्षं पुरस्कृत्य विनिर्ययुः ॥ १२ ॥
जितास्त्वाक्रम्य दैत्याभ्यां सबलाः सपदानुगाः। शक्रस्याहृत्य च गजं याम्यं च महिषं बलात् ॥ १३ ॥
वरुणस्य मणिच्छत्रं गदां वै मारुतस्य च। निधयः पद्मशङ्खाद्या हृतास्त्वाक्रम्य दानवैः ॥ १४ ॥

उससे उसकी नाक और मुख भग्न हो गये और वह गिर पड़ा तथा मर गया। प्रतिज्ञाके भङ्ग हो जानेसे इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा। (फिर) वे तीर्थोंमें जाकर स्नान करनेसे पापमुक्त हुए। उसके बाद (नमुचिके मर जानेपर) शुम्भ और निशुम्भ नामके उसके दो वीर भाई अत्यन्त कुपित हुए। वे दोनों बहुत बड़ी तैयारी कर देवताओंको मारनेके लिये चढ़ आये। (फिर तो) वे सभी देवता भी इन्द्रको आगे कर निकल पडे। उन दोनों दैत्योंने धावा बोलकर सेना और अनुचरोंके साथ देवताओंको पराजित कर दिया। दानवोंने आक्रमणकर इन्द्रके हाथी, यमके महिष, वरुणके मणिमय छत्र, वायुकी गदा तथा पद्म और शङ्ख आदि निधियोंको भी छीन लिया ॥१०—१४॥

त्रैलोक्यं वशगं चास्ते ताभ्यां नारद सर्वतः। तदाजग्मुर्महीपृष्ठं ददृशुस्ते महासुरम् ॥ १५ ॥
रक्तबीजमथोचुस्ते को भवानिति सोऽब्रवीत्। स चाह दैत्योऽस्मि विभो सचिवो महिषस्य तु ॥ १६ ॥
रक्तबीजेति विख्यातो महावीर्यो महाभुजः। अमात्यौ रुचिरौ वीरौ चण्डमुण्डाविति श्रुतौ ॥ १७ ॥
तावास्तां सलिले मग्नौ भयाद् देव्या महाभुजौ। यस्त्वासीत् प्रभुरस्माकं महिषो नाम दानवः ॥ १८ ॥
निहतः स महादेव्या विन्ध्यशैले सुविस्तृते।
भवन्तौ कस्य तनयौ कौ वा नाम्ना परिश्रुतौ। किंवीर्यौ किंप्रभावौ च एतच्छंसितुमर्हथ ॥ १९ ॥

नारदजी! उन दोनोंने तीनों लोकोंको अपने अधीन कर लिया। तब वे सभी (देवतालोग) पृथ्वीतलपर आ गये तथा उन लोगोंने रक्तबीज नामके एक महान् असुरको देखा और उससे पूछा—आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया—विभो! मैं महिषासुरका मन्त्री एक दैत्य हूँ। मैं रक्तबीज नामसे विख्यात महापराक्रमी एवं विशाल भुजाओंवाला (दैत्य) हूँ। सुन्दर, श्रेष्ठ और विशाल भुजाओंवाले चण्ड और मुण्ड नामसे विख्यात, महिषके दो मन्त्री देवीके डरसे जलमें छिप गये हैं। महादेवीने सुविस्तृत विन्ध्यपर्वतपर हमारे स्वामी महिष नामके दानवको मार डाला है। फिर (देवताओने पूछा—)आपलोग (हमे) यह बतलावें कि आप दोनों किसके पुत्र हैं तथा आपलोग किस नामसे विख्यात हैं? (और आप दोनो यह भी बतलावें कि) आपलोगोंमें कितना बल एवं प्रभाव है? ॥ १५—१९ ॥

शुम्भनिशुम्भावूचतुः

अहं शुम्भ इति ख्यातो दनोः पुत्रस्तथौरसः। निशुम्भोऽयं मम भ्राता कनीयान् शत्रुपूगहा ॥ २० ॥
अनेन बहुशो देवाः सेन्द्ररुद्रदिवाकराः। समेत्य निर्जिता वीरा येऽन्ये च बलवत्तराः ॥ २१ ॥
तदुच्यतां कया दैत्यो निहतो महिषासुरः। यावत्तां घातयिष्यावः स्वसैन्यपरिवारितौ ॥ २२ ॥
इत्थं तयोस्तु वदतोर्नर्मदायास्तटे मुने। जलवासाद् विनिष्क्रान्तौ चण्डमुण्डौ च दानवौ ॥ २३ ॥

शुम्भ और निशुम्भने कहा—(पहले शुम्भ बोला—) मै दनुका औरस पुत्र हूँ और शुम्भ नामसे प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा छोटा भाई है। इसका नाम निशुम्भ है। यह शत्रुसमूहका विनाश करनेवाला (वीर) है। इसने इन्द्र, रुद्र, दिवाकर आदि देवताओं तथा अन्य अनेक अत्यन्त बलशाली वीरोंको भी (बहुत वार चढ़ाई करके) पराजित कर दिया है। अब तुम बतलाओ कि किस देवीने दैत्य महिषासुरको मार दिया है? हम दोनों अपनी सेनाओंको साथ लेकर उस देवीका

विनाश करेंगे । मुने ! नर्मदाके किनारे इस प्रकार दोनोंके बात करते समय चण्ड और मुण्ड नामके दोनों दानव जलसे बाहर निकल आये ॥ २०—२३ ॥

ततोऽभ्येत्यासुरश्रेष्ठौ रक्तबीजं समाश्रितौ । ऊचतुर्वचनं श्लक्ष्णं कोऽयं तव पुरस्सरः ॥ २४ ॥
स चोभौ प्राह दैत्योऽसौ शुम्भो नाम सुरार्दनः । कनीयानस्य च भ्राता द्वितीयो हि निशुम्भकः ॥ २५ ॥
एतावाश्रित्य तां दुष्टां महिषघ्नीं न संशयः । अहं विवाहयिष्यामि रत्नभूतां जगत्त्रये ॥ २६ ॥

उसके बाद असुरश्रेष्ठ उन दोनोंने रक्तबीजके निकट जाकर मधुर शब्दोंमें पूछा—तुम्हारे सामने यह कौन खड़ा है ? उसने उन दोनोंसे कहा—यह देवताओंको कष्ट देनेवाला शुम्भ नामका दैत्य है एवं यह दूसरा इसका छोटा भाई निशुम्भ है । मैं निश्चय ही इन दोनोंकी सहायतासे उस तीनों लोकोंमें रत्नस्वरूपा, (पर) दुष्टासे विवाह करूँगा, जिसने महिषासुरका विनाश किया है ॥ २४—२६ ॥

चण्ड उवाच

न सम्यगुक्तं भवता रत्नार्होऽसि न साम्प्रतम् । यः प्रभुः स्यात्स रत्नार्हस्तस्माच्छुम्भाय योज्यताम् ॥ २७ ॥
तदाचचक्षे शुम्भाय निशुम्भाय च कौशिकीम् । भूयोऽपि तद्विधां जातां कौशिकीं रूपशालिनीम् ॥ २८ ॥
ततः शुम्भो निजं दूतं सुग्रीवं नाम दानवम् । दैत्यं च प्रेषयामास सकाशं विन्ध्यवासिनीम् ॥ २९ ॥
स गत्वा तद्वचः श्रुत्वा देव्यागत्य महासुरः । निशुम्भशुम्भावाहेदं मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥

चण्डने कहा—आपका कहना उचित नहीं है; (क्योंकि) आप अभी उस रत्नके योग्य नहीं हैं । राजा ही रत्नके योग्य होता है । अतः शुम्भके लिये ही यह संयोग बैठाइये । उसके बाद उन्होंने शुम्भ और निशुम्भसे उस प्रकार सम्पन्न स्वरूपवाली कौशिकीका वर्णन किया । तब शुम्भने अपने दूत सुग्रीव नामके दानवको विन्ध्यवासिनीके समीप भेजा । वह महान् असुर सुग्रीव वहाँ गया एवं देवीकी बात सुनकर क्रोधसे तिलमिला उठा । फिर उसने आकर निशुम्भ और शुम्भसे कहा ॥ २७—३० ॥

सुग्रीव उवाच

युवयोर्वचनाद् देवीं प्रदेष्टुं दैत्यनायकौ । गतवानहमद्यैव तामहं वाक्यमब्रुवम् ॥ ३१ ॥
यथा शुम्भोऽतिविख्यातः ककुद्मी दानवेष्वपि । स त्वां प्राह महाभागे प्रभुरस्मि जगत्त्रये ॥ ३२ ॥
यानि स्वर्गे महीपृष्ठे पाताले चापि सुन्दरि । रत्नानि सन्ति तावन्ति मम वेश्मनि नित्यशः ॥ ३३ ॥
त्वमुक्ता चण्डमुण्डाभ्यां रत्नभूता कृशोदरि । तस्माद् भजस्व मां वा त्वं निशुम्भं वा ममानुजम् ॥ ३४ ॥

सुग्रीवने कहा—दैत्यनायको ! आप लोगोंके कथनके अनुसार देवीसे (संवाद) कहनेके लिये मैं गया था । मैंने आज ही जाकर उससे कहा कि भाग्यशालिनि ! सुप्रसिद्ध दानवश्रेष्ठ शुम्भने तुमसे कहा है कि—मैं तीनों लोकोंका समर्थ स्वामी हूँ । सुन्दरि ! स्वर्ग, पृथ्वी एवं पातालके सारे रत्न मेरे घरमें सदा भरे रहते हैं । कृशोदरि ! चण्ड और मुण्डने तुम्हें रत्नस्वरूपा बतलाया है । अतः तुम मेरा या मेरे छोटे भाई निशुम्भका वरण करो ॥ ३१—३४ ॥

सा चाह मां विहसती शृणु सुग्रीव मद्वचः । सत्यमुक्तं त्रिलोकेशः शुम्भो रत्नार्ह एव च ॥ ३५ ॥
किं त्वस्ति दुर्विनीताया हृदये मे मनोरथः । यो मां विजयते युद्धे स भर्ता स्यान्महासुर ॥ ३६ ॥
मया चोक्ताऽवलिप्ताऽसि यो जयेत् ससुरासुरान् । स त्वां कथं न जयते सा त्वमुत्तिष्ठ भामिनी ॥ ३७ ॥
साऽथ मां प्राह किं कुर्मि यदनालोचितः कृतः । मनोरथस्तु तद् गच्छ शुम्भाय त्वं निवेदय ॥ ३८ ॥
तयैवमुक्तस्त्वभ्यागां त्वत्सकाशं महासुर । सा चाग्निकोटिसदृशी मत्वैवं कुरु यत्क्षमम् ॥ ३९ ॥

*

(उसके बाद) हँसती हुई उसने मुझसे कहा कि सुग्रीव ! मेरी बात सुनो । तुमने यह ठीक कहा है कि तीनो लोकोंका स्वामी शुम्भ रत्नके अर्ह (उपयुक्त) है । परंतु महासुर ! मुझ अविनीताके हृदयकी यह अभिलाषा है कि युद्धमें मुझे पराजित करनेवाला ही मेरा पति हो । उत्तरमें (तब) मैंने (उससे) कहा कि तुम्हें घमण्ड हो गया है । भला जिस असुरने सारे देवताओं और राक्षसोंको पराजित कर अपने अधीन कर लिया है वह तुम्हें क्यों नहीं पराजित कर देगा ? इसलिये अये क्रोधवाली ! तुम उठो—बात मान लो । उसके बाद उसने मुझसे कहा—मैं क्या करूँ ? बिना विचार किये ही मैंने इस प्रकारका पग कर लिया है । अतः (तुम) जाकर शुम्भसे मेरी बात कहो । फलतः महासुर ! उसके इस प्रकार कहनेपर मैं आपके निकट आ गया हूँ । वह जलती हुई आगकी लौकी भाँति तेजस्विनी है; यह जानकर आप जैसा उचित हो, वैसा कार्य करें ॥ ३५—३९ ॥

पुलस्त्य उवाच

इति सुग्रीववचनं निशम्य स महासुरः । प्राह दूरस्थितं शुम्भो दानवं धूम्रलोचनम् ॥ ४० ॥

पुलस्त्यजी बोले—सुग्रीवकी इस बातको सुनकर उस महान् असुर शुम्भने कुछ दूरपर खड़े, धूम्रलोचन दानवसे कहा ॥ ४० ॥

शुम्भ उवाच

धूम्राक्ष गच्छ तां दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम् । सापराधां यथा दासीं कृत्वा शीघ्रमिहानय ॥ ४१ ॥
यश्चास्याः पक्षकृत् कश्चिद् भविष्यति महाबलः । स हन्तव्योऽविचार्यैव यदि हि स्यात् पितामहः ॥ ४२ ॥
स एवमुक्तः शुम्भेन धूम्राक्षोऽक्षौहिणीशतैः । वृतः षड्भिर्महातेजा विन्ध्यं गिरिमुपाद्रवत् ॥ ४३ ॥
स तत्र दृष्ट्वा तां दुर्गां भ्रान्तदृष्टिरुवाच ह ।
एह्येहि मूढे भर्तारं शुम्भमिच्छस्व कौशिकी । न चेद् बलान्नयिष्यामि केशाकर्षणविह्वलाम् ॥ ४४ ॥

शुम्भने कहा—धूम्राक्ष ! तुम जाओ । उस दुष्टाको अपराधिनी दासीकी तरह केश खींचनेसे व्याकुल बनाकर यहाँ शीघ्र ले आओ । यदि कोई पराक्रमी उसका पक्ष ले तो तुम बिना विचारे उसे मार डालना—चाहे ब्रह्मा ही क्यों न हो । शुम्भके इस प्रकार कहनेपर उस महान् तेजस्वी धूम्राक्षने छः सौ अक्षौहिणी* सेनाके साथ विन्ध्य पर्वतपर चढ़ाई कर दी । किन्तु वहाँ उन दुर्गाको देखकर दृष्टि चौंधिया जानेसे उसने कहा—मूढे ! आओ, आओ ! कौशिकि ! तुम शुम्भको अपना पति बनानेकी इच्छा करो; अन्यथा मैं बलपूर्वक तुम्हारे केश पकड़कर तुम्हें घसीटता हुआ व्याकुल रूपमें (यहाँसे) ले जाऊँगा ॥ ४१—४४ ॥

श्रीदेव्युवाच

प्रेषितोऽसीह शुम्भेन बलान्नेतुं हि मां किल । तत्र किं ह्यबला कुर्याद् यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४५ ॥

श्रीदेवीने कहा—शुम्भने तुमको मुझे बलपूर्वक ले जानेके लिये निश्चय ही भेजा है तो इस विषयमें एक अबला क्या करेगी ! तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥ ४५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तो विभावर्या बलवान् धूम्रलोचनः । समभ्यधावत् त्वरितो गदामादाय वीर्यवान् ॥ ४६ ॥
तमापतन्तं सगदं हुंकारेणैव कौशिकी । सबलं भस्मसाच्चक्रे शुष्कमग्निरिवेन्धनम् ॥ ४७ ॥
ततो हाहाकृतमभूज्जगत्यस्मिंश्चराचरे । सबलं भस्मसान्नीतं कौशिक्या वीक्ष्य दानवम् ॥ ४८ ॥

---

* एक अक्षौहिणी सेनामें १०९३५० पैदल सिपाही, ६५६१० घुडसवार, २१८७० रथी और २१८७० गजारोही रहते हैं ।

पुलस्त्यजी बोले—विभावरी-(देवी-) के इस प्रकार कहनेपर बलवान् एवं पराक्रमी धूम्रलोचन गदा लेकर झट दौड़ पड़ा। कौशिकीने गदा लेकर आ रहे उस असुरको, साथ ही उसकी सेनाको भी हुंकारसे ही ऐसे भस्म कर दिया जैसे आग सूखी लकड़ीको जला देती है। कौशिकीद्वारा सेनाके साथ बलवान् दानवको भस्म किये जाते देखकर सारे संसारमें हाहाकार मच गया॥ ४६—४८॥

तच्च शुम्भोऽपि शुश्राव महच्छब्दमुदीरितम्। अथादिदेश बलिनौ चण्डमुण्डौ महासुरौ॥ ४९॥
रुरुं च बलिनां श्रेष्ठं तथा जग्मुर्मुदान्विताः। तेषां च सैन्यमतुलं गजाश्वरथसंकुलम्॥ ५०॥
समाजगाम सहसा यत्रास्ते कोशसम्भवा। तदायान्तं रिपुबलं दृष्ट्वा कोटिशतावरम्॥ ५१॥
सिंहोऽद्रवद् धुतसटः पाटयन् दानवान् रणे। कांश्चित् करप्रहारेण कांश्चिदास्येन लीलया॥ ५२॥
नखरैः कांश्चिदाक्रम्य उरसा प्रममाथ च। ते वध्यमानाः सिंहेन गिरिकन्दरवासिना॥ ५३॥
भूतैश्च देव्यनुचरैश्चण्डमुण्डौ समाश्रयन्। तावार्त्तं स्वबलं दृष्ट्वा कोपप्रस्फुरिताधरौ॥ ५४॥

शुम्भने भी (हाहाकारका) वह महान् शब्द सुना। उसके बाद उसने चण्ड एवं मुण्ड नामके दोनों महान् एवं बलवान् असुरों तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ रुरुको आदेश दिया और वे प्रसन्नतापूर्वक (युद्धके लिये) चल पड़े। हाथियों, और रथोंसे भरी उनकी बड़ी सेना शीघ्र ही वहाँ पहुँच गयी, जहाँ कौशिकी खड़ी थीं। उस समय शत्रुकी सैकड़ों सेनाओंको आते देखकर सिंह युद्धमें अपनी गर्दनके बालोंको फटकारने लगा तथा खेल-खेलमें—बिना किसी परिश्रमके ही—दानवोंको पछाड़-पछाड़कर मारने लगा। उसने कुछको पंजोंके थपेड़ोंसे, कुछको मुखसे, कुछको तेज नखोंसे एवं कुछको अपनी छातीके धक्के देकर भयत्रस्त कर दिया। फिर तो पर्वतकी गुफामें रहनेवाले सिंहसे एवं देवीके अनुगत भूतोंसे मारे जा रहे वे सभी दानव (भागकर) चण्ड-मुण्डकी शरणमें चले गये। चण्ड और मुण्ड अपनी सेनाको घबरायी एवं दुःखी हुई देखकर कुपित हो गये और अपने ओठ फड़फड़ाने लगे॥ ४९—५४॥

समाद्रवेतां दुर्गां वै पतङ्गाविव पावकम्। तावापतन्तौ रौद्रौ वै दृष्ट्वा क्रोधपरिप्लुता॥ ५५॥
त्रिशाखां भ्रुकुटीं वक्त्रे चकार परमेश्वरी।
भ्रुकुटीकुटिलाद् देव्या ललाटफलकाद् द्रुतम्। काली करालवदना निःसृता योगिनी शुभा॥ ५६॥
खट्वाङ्गमादाय करेण रौद्रमसिञ्च कालाञ्जनकोशमुग्रम्।
संशुष्कगात्रा रुधिराप्लुताङ्गी नरेन्द्रमूर्ध्ना स्रजमुद्वहन्ती॥ ५७॥
कांश्चित् खड्गेन चिच्छेद खट्वाङ्गेन परान् रणे। न्यषूदयद् भृशं क्रुद्धा सरथाश्वगजान् रिपून्॥ ५८॥

अग्निकी ओर उड़कर जानेवाले (जलकर मरनेवाले) पतिंगोंके समान वे दोनो दैत्य देवीकी ओर दौड़े। उन दोनों भयङ्कर दानवोंको सामने आते हुए देखकर देवी अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं। परमेश्वरीने मुखके ऊपर तीन रेखाओंवाली भृकुटि चढ़ायी। देवीके टेढ़ी भौहोंसे युक्त भालस्थलसे शीघ्र ही विकराल मुखवाली, (भक्तोंके लिये) मङ्गल-दायिनी योगिनी काली निकल आयीं। उनके हाथमें भयङ्कर खट्वाङ्ग (नामक) हथियार तथा काले अञ्जनके समान तरकससे युक्त भयङ्कर तलवार थी। उनका शरीर कंकाल और खूनसे सना हुआ था तथा उनके गलेमें राजाओंके कटे हुए सिरोंकी बनी हुई मुण्डमाला थी। उन्होंने बहुत अधिक क्रुद्ध होकर युद्धमें कुछको तलवारके घाट उतार दिया और हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे युक्त कुछ अन्य असुर-शत्रुओंको खट्वाङ्गसे मार डाला॥ ५५—५८॥

चर्माङ्कुशं मुद्गरं च सधनुष्कं सघण्टिकम्। कुञ्जरं सह यन्त्रेण प्रचिक्षेप मुखेऽम्बिका॥ ५९॥
सचक्रकूबररथं ससारथितुरङ्गमम्। समं योधेन वदने क्षिप्य चर्वयतेऽम्बिका॥ ६०॥

एकं जग्राह केशेषु ग्रीवायामपरं तथा। पादेनाक्रम्य चैवान्यं प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ६१ ॥
ततस्तु तद् बलं देव्या भक्षितं सबलाधिपम्। रुरुर्दृष्ट्वा प्रदुद्राव तं चण्डी ददृशे स्वयम् ॥ ६२ ॥
आजघानाथ शिरसि खट्वाङ्गेन महासुरम्। स पपात हतो भूम्यां छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ ६३ ॥

अम्बिका देवी चर्म, अङ्कुश, मुद्गर, धनुष, घण्टियों और यन्त्रके साथ हाथियोंको अपने मुखमें झोंकने लगीं और चक्र तथा सारथी, घोड़े और योद्धाके साथ कूबरसे युक्त रथको अपने मुखमें डालकर वे चबाने लगीं। फिर उन्होंने किसीको सिरके केश पकड़कर, किसीको गला पकड़कर और अन्य किसीको पैरोंसे रौंद-रौंदकर मृत्युके समीप पहुँचा दिया। उसके बाद सेनापतिके साथ उस सेनाको देवीद्वारा भक्षण किया जाता हुआ देखकर रुरु दौड़ पड़ा। चण्डीने स्वयं उसे देखा और खट्वाङ्गसे उस महान् असुरके सिरपर आघात कर दिया। वह मरकर जड़से कटे हुए वृक्षके समान पृथ्वीपर (धड़ामसे) गिर पड़ा ॥ ५९–६३ ॥

ततस्तं पतितं दृष्ट्वा पशोरिव विभावरी। कोशमुत्कर्तयामास कर्णादिचरणान्तिकम् ॥ ६४ ॥
सा च कोशं समादाय बबन्ध विमला जटाः। एका न बन्धमगमत् तामुत्पाट्याक्षिपद् भुवि ॥ ६५ ॥
सा जाता सुतरां रौद्री तैलाभ्यक्तशिरोरुहा। कृष्णार्धमर्धशुक्लं च धारयन्ती स्वकं वपुः ॥ ६६ ॥
साऽब्रवीद् वरमेकं तु मारयामि महासुरम्। तस्या नाम तदा चक्रे चण्डमारीति विश्रुतम् ॥ ६७ ॥

देवीने उसे जमीनपर गिरा हुआ देखकर पशुके समान उसके कानसे पैरतकका कोश काट दिया—उसकी चमड़ी उधेड़ ली। उस कोश-(चमड़ी-)को लेकर उन्होंने अपनी निर्मल जटाओंको बाँध लिया। उनमें एक जटा नहीं बाँधी गयी। उसे उखाड़कर उन्होंने जमीनपर फेंक दिया। वह जटा एक भयावनी देवी हो गयी। उसके सिरके बाल तेलसे सिक्त (सने) थे एवं वह आधा काला तथा आधा सफेद वर्णका शरीर धारण किये हुए थी। उसने कहा—मैं एक भारी महासुरको मारूँगी। तब देवीने उसका चण्डमारी—यह प्रसिद्ध नाम रख दिया ॥ ६४–६७ ॥

प्राह गच्छस्व सुभगे चण्डमुण्डाविहानय। स्वयं हि मारयिष्यामि तावानेतुं त्वमर्हसि ॥ ६८ ॥
श्रुत्वैवं वचनं देव्याः साऽभ्यद्रवत तावुभौ। प्रदुद्रुवतुर्भयार्त्तौ दिशमाश्रित्य दक्षिणाम् ॥ ६९ ॥
ततस्तावपि वेगेन प्राधावत् त्यक्तवाससौ। साऽधिरुह्य महावेगं रासभं गरुडोपमम् ॥ ७० ॥
यतो गतौ च तौ दैत्यौ तत्रैवानुययौ शिवा। सा ददर्श तदा पौण्ड्रं महिषं वै यमस्य च ॥ ७१ ॥

देवीने कहा—सुभगे! तुम जाओ और चण्ड-मुण्डको यहाँ पकड़ लाओ! उन्हें पकड़ लानेमें तुम समर्थ हो। मैं स्वयं उन्हें मारूँगी। इस प्रकार देवीके उस कथनको सुनकर वह उन दोनोंकी ओर दौड़ पड़ी। वे दोनों भयसे दुःखी होकर दक्षिण दिशाकी ओर भाग गये। तब चण्डमारी गरुडके समान वेगवान् गदहेपर सवार होकर वेगसे भगनेके कारण वस्त्रहीन हुए उन दोनोंके पीछे दौड़ पड़ी। (फिर तो) जहाँ-जहाँ चण्ड और मुण्ड दोनों दैत्य गये, वहाँ-वहाँ उनके पीछे शिवा भी पहुँचती गयीं। उस समय उन्होंने यमराजके पौण्ड्रनामक महिषको देखा ॥ ६८–७१ ॥

सा तस्योत्पाटयामास विषाणं भुजगाकृतिम्। तं प्रगृह्य करेणैव दानवावन्वगाज्जवात् ॥ ७२ ॥
तौ चापि भूमिं संत्यज्य जग्मतुर्गगनं तदा। वेगेनाभिसृता सा च रासभेन महेश्वरी ॥ ७३ ॥
ततो ददर्श गरुडं पन्नगेन्द्रं चिखादिषुम्। कर्कोटकं स दृष्ट्वैव ऊर्ध्वरोमा व्यजायत ॥ ७४ ॥
भयान्मार्याश्च गरुडो मांसपिण्डोपमो बभौ। न्यपतंस्तस्य पत्राणि रौद्राणि हि पतत्त्रिणः ॥ ७५ ॥

उसने (चण्डमारीने) उस महिषकी साँपके आकारवाली सींगको उखाड़ लिया और उसे हाथमें लेकर वह शीघ्रतासे दानवोंके पीछे पील पड़ी। तब वे दोनों दैत्य पृथिवी छोड़कर आकाशमें चले गये। फिर महेश्वरीने अपने गवेके साथ शीघ्रतासे उन दोनोंका पीछा किया। (देवीने) सर्पराज कर्कोटकको खानेकी इच्छावाले गरुड़को देखा। (फिर तो देवीको) देखते ही उनके रोंगटे खड़े हो गये; वे डर गये। चण्डमारीके भयसे गरुड़ मांसपिण्डके समान—लोथड़े-से हो गये। उन पक्षिराजके भयङ्कर पाँख (भयके कारण) गिर पड़े ॥ ७२—७५ ॥

खगेन्द्रपत्राण्यादाय नागं कर्कोटकं तथा। वेगेनानुसरद् देवी चण्डमुण्डौ भयातुरौ ॥ ७६ ॥
सम्प्राप्तौ च तदा देव्या चण्डमुण्डौ महासुरौ। बद्धौ कर्कोटकेनैव बद्ध्वा विन्ध्यमुपागमत् ॥ ७७ ॥
निवेदयित्वा कौशिक्यै कोशमादाय भैरवम्। शिरोभिर्दानवेन्द्राणां तार्क्ष्यपत्रैश्च शोभनैः ॥ ७८ ॥
कृत्वा स्रजमनौपम्यां चण्डिकायै न्यवेदयत्। घर्घरां च मृगेन्द्रस्य चर्मणः सा समार्पयत् ॥ ७९ ॥

पक्षिराजके (गिरे हुए) पाँखों तथा कर्कोटक सर्पको लेकर चण्डमारी भयसे आर्त चण्ड और मुण्डके पीछे दौड़ी। उसके बाद तुरंत ही वह देवी चण्ड और मुण्ड नामक महान् असुरोंके निकट पहुँच गयी एवं उन दोनोंको कर्कोटक नागसे बाँधकर विन्ध्य पर्वतपर ले आयी। उस चण्डमारीने देवीके पास उन दानवोंको निवेदित करनेके बाद भयङ्कर कोश लेकर दानवोंके मस्तकों तथा गरुडके सुन्दर पाँखोंसे बनी अनुपम माला निर्मितकर देवीको दे दी एवं सिंहचर्मका घाघरा भी देवीको समर्पित किया ॥ ७६—७९ ॥

स्रजमन्यैः खगेन्द्रस्य पत्रैर्मूर्ध्नि निबध्य च। आत्मना सा पपौ पानं रुधिरं दानवेष्वपि ॥ ८० ॥
चण्डा त्वादाय चण्डं च मुण्डं चासुरनायकम्। चकार कुपिता दुर्गा विशिरस्कौ महासुरौ ॥ ८१ ॥
तयोरेवाहिना देवी शेखरं शुष्करेवती। कृत्वा जगाम कौशिक्याः सकाशं मारया सह ॥ ८२ ॥
समेत्य साब्रवीद् देवि गृह्यतां शेखरोत्तमः। ग्रथितो दैत्यशीर्षाभ्यां नागराजेन वेष्टितः ॥ ८३ ॥
तं शेखरं शिवा गृह्य चण्डाया मूर्ध्नि विस्तृतम्। बबन्ध प्राह चैवैनां कृतं कर्म सुदारुणम् ॥ ८४ ॥

उन्होंने स्वयं गरुड़के अन्य पाँखोंसे दूसरी माला बनाकर उसे अपने सिरमें बाँध लिया और (फिर वे) दानवोंका खून पीने लगीं। उसके बाद प्रचण्ड दुर्गाने चण्ड और असुरनायक मुण्डको पकड़ लिया एवं कुपित होकर उन दोनों महासुरोंका सिर काट डाला। शुष्करेवती देवीने सर्पद्वारा उनके सिरका अलंकार बनाया और वह चण्डमारीके साथ कौशिकीके पास गयी। वहाँ जाकर उसने कहा—देवि ! दैत्योंके सिरसे गुँथे एवं नागराजसे लपेटकर सिरपर पहने जानेवाले इस श्रेष्ठ अलंकारको धारण करें। शिवा देवीने उस विस्तृत सिरके आभूषणको लेकर उसे चामुण्डाके मस्तकपर बाँध दिया और उनसे कहा—आपने अत्यन्त भयंकर कार्य किया है ॥ ८०—८४ ॥

शेखरं चण्डमुण्डाभ्यां यस्माद् धारयसे शुभम्। तस्माल्लोके तव ख्यातिश्चामुण्डेति भविष्यति ॥ ८५ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं त्रिनेत्रा सा चण्डमुण्डस्रजधारिणी वै।
दिग्वाससं चाभ्यवदत् प्रतीता निषूदय स्वारिबलान्यमूनि ॥ ८६ ॥
सा त्वेवमुक्ताऽथ विषाणकोट्या सुवेगयुक्तेन च रासभेन।
निषूदयन्ती रिपुसैन्यमुग्रं चचार चान्यानसुरांश्चखाद ॥ ८७ ॥
ततोऽम्बिकायास्त्वथ चर्ममुण्डया मारया च सिंहेन च भूतसंघैः।
निपात्यमाना दनुपुङ्गवास्ते ककुद्मिनं शुम्भमुपाश्रयन्त ॥ ८८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

यतः आपने चण्ड और मुण्डके सिरोंका शुभ आभूषण धारण किया है, अतः आप लोकमें चामुण्डा नामसे प्रख्यात होंगी । चण्ड और मुण्डकी माला धारण करनेवाली उन देवीसे त्रिनेत्राने इस प्रकार कहकर दिगम्बरासे कहा—तुम अपने इन शत्रुसैनिकोंका विनाश करो । ऐसा कहनेपर बहुत तेज गतिवाले गधेके साथ वह देवी सींगकी नोकसे उग्र शत्रु-सेनाके दलोंका संहार करती हुई विचरण करने लगी और (इस प्रकार) असुरोंको चबाने लगी । उसके बाद अम्बिकाकी अनुगामिनियों—चर्ममुण्डा, मारी, सिंह एवं भूतगणोंद्वारा मारे जा रहे वे महादानव अपने नायक शुम्भकी शरणमें गये ॥ ८५-८८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

[अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

चण्डमुण्डौ च निहतौ दृष्ट्वा सैन्यं च विद्रुतम् ।
समादिदेशातिबलं रक्तबीजं महासुरम् । अक्षौहिणीनां त्रिंशद्भिः कोटिभिः परिवारितम् ॥ १ ॥
तमापतन्तं दैत्यानां बलं दृष्ट्वैव चण्डिका । मुमोच सिंहनादं वै ताभ्यां सह महेश्वरी ॥ २ ॥
निनदन्त्यास्ततो देव्या ब्रह्माणी मुखतोऽभवत् । हंसयुक्तविमानस्था साक्षसूत्रकमण्डलुः ॥ ३ ॥
माहेश्वरी त्रिनेत्रा च वृषारूढा त्रिशूलिनी । महाहिवलया रौद्रा जाता कुण्डलिनी क्षणात् ॥ ४ ॥

छप्पनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चण्डिकासे मातृकाओंकी उत्पत्ति, असुरोंसे उनका युद्ध, रक्तबीज-निशुम्भ-शुम्भ-वध, देवताओंके द्वारा देवीकी स्तुति, देवीद्वारा वरदान और भविष्यमें प्रादुर्भावका कथन)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) शुम्भने चण्ड और मुण्डको मृत तथा सैनिकोंको भगा हुआ देखकर अत्यन्त बलवान् महान् असुर रक्तबीजको (लड़नेके लिये) आज्ञा दी । उसके बाद महेश्वरी चण्डिकाने दैत्योंकी तीस करोड़ अक्षौहिणीवाली उस सेनाको आती हुई देखकर उन दोनों देवियोंके साथ सिंहके समान गर्जन किया । उसके बाद सिंहके समान निनाद (हुंकार) करती हुई देवीके मुखसे, हंसके विमानपर बैठी हुई तथा अक्षमाला और कमण्डलु लिये ब्रह्माणी उत्पन्न हो गयी । क्षणभरमें ही वृषपर आरूढ त्रिशूलधारिणी महासर्पके कंगन पहने और कुण्डल धारण किये हुए तीन नेत्रोंवाली माहेश्वरी भी उत्पन्न हो गयी ॥ १-४ ॥

कण्ठादथ च कौमारी बर्हिपत्रा च शक्तिनी । समुद्भूता च देवर्षे मयूरवरवाहना ॥ ५ ॥
बाहुभ्यां गरुडारूढा शङ्खचक्रगदासिनी । शार्ङ्गबाणधरा जाता वैष्णवी रूपशालिनी ॥ ६ ॥
महोग्रमुशला रौद्रा दंष्ट्रोल्लिखितभूतला । वाराही पृष्ठतो जाता शेषनागोपरि स्थिता ॥ ७ ॥
वज्राङ्कुशोद्यतकरा नानालङ्कारभूषिता । जाता गजेन्द्रपृष्ठस्था माहेन्द्री स्तनमण्डलात् ॥ ८ ॥

देवर्षि नारदजी ! मोरपंखसे सुशोभित, शक्तिरूपिणी एवं श्रेष्ठ मोरके वाहनपर आरूढ 'कौमारी' देवीके कण्ठसे उत्पन्न हुई । गरुडपर सवार, शङ्ख, चक्र, गदा, तलवार एवं धनुष-बाण धारण करनेवाली सौन्दर्यशालिनी 'वैष्णवी' शक्ति देवीकी दोनों भुजाओंसे उत्पन्न हुई । भारी भयङ्कर मूसल लिये, दाढ़ोंसे पृथ्वीको खोदनेवाली, शेषनागके ऊपर स्थित 'वाराही' शक्ति देवीकी पीठसे उत्पन्न हुई । हाथमें वज्र और अंकुशको लिये, भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित, गजराजकी पीठपर बैठी हुई 'माहेन्द्री' शक्ति उनके स्तन-मण्डलसे उत्पन्न हुई ॥ ५-८ ॥

विक्षिपन्ती सटाक्षेपैर्ग्रहनक्षत्रतारकाः । नखिनी हृदयाज्जाता नारसिंही सुदारुणा ॥ ९ ॥
नाभिर्निपात्यमानं तु निरीक्ष्य बलमासुरम् ।
ननाद भूयो नादान् वै चण्डिका निर्भया रिपून् । तन्निनादं महच्छ्रुत्वा त्रैलोक्यप्रतिपूरकम् ॥ १० ॥
समाजगाम देवेशः शूलपाणिस्त्रिलोचनः । अभ्येत्य वन्द्य चैवैनां प्राह वाक्यं तदाऽम्बिके ॥ ११ ॥
समायातोऽस्मि वै दुर्गे देह्याज्ञां किं करोमि ते । तद्वाक्यसमकालं च देव्या देहोद्भवा शिवा ॥ १२ ॥
जाता सा चाह देवेशं गच्छ दौत्येन शंकर । ब्रूहि शुम्भं निशुम्भं च यदि जीवितुमिच्छथ ॥ १३ ॥
तद् गच्छध्वं दुराचाराः सप्तमं हि रसातलम् । वासवो लभतां स्वर्गं देवाः सन्तु गतव्यथाः ॥ १४ ॥

गर्दनके बालोंको फटकारनेसे ग्रह, नक्षत्र और ताराओंको विक्षुब्ध करती हुई तीक्ष्ण नखोंवाली अत्यन्त भयङ्कर नारसिंही शक्ति देवीके हृदयसे उत्पन्न हुई । फिर चण्डिकाने उन शक्तियोंद्वारा संहार की जाती हुई असुर-सेना एवं शत्रुओंको देखकर भयरहित होकर घोर गर्जना की । तीनों लोकोंको ध्वनिसे गुंजा देनेवाले उस गर्जनको सुनकर शूलपाणि, त्रिलोचन, महादेवजी देवीके निकट आये और उनको प्रणामकर (उन्होंने) यह कहा—अम्बिके ! दुर्गे ! मैं आ गया हूँ । मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ? मुझे आज्ञा दीजिये । उस उक्तिके साथ ही देवीकी देहसे शिवा उत्पन्न हो गयीं । उन्होंने देवेश्वरसे कहा—शङ्कर ! आप दूत बनकर जाइये और शुम्भ-निशुम्भसे कहिये कि अये दुराचारियो ! यदि तुम सब जीनेकी इच्छा करते हो तो सातवें (लोक) रसातलमें चले जाओ । इन्द्रको स्वर्गकी प्राप्ति हो एवं देवगण पीड़ा (बाधासे) रहित हो जायँ ॥ ९–१४ ॥

यजन्तु ब्राह्मणाद्यामी वर्णा यज्ञांश्च साम्प्रतम् । नोचेद् बलावलेपेन भवन्तो योद्धुमिच्छथ ॥ १५ ॥
तदागच्छध्वमव्यग्रा एषाऽहं विनिषूदये । यतस्तु सा शिवं दौत्ये न्ययोजयत नारद ॥ १६ ॥
ततो नाम महादेव्याः शिवदूतीत्यजायत ।
ते चापि शंकरवचः श्रुत्वा गर्वसमन्वितम् । हुंकृत्वाऽभ्यद्रवन् सर्वे यत्र कात्यायनी स्थिता ॥ १७ ॥
ततः शरैः शक्तिभिरङ्कुशैर्वरैः परश्वधैः शूलभुशुण्डिपट्टिशैः ।
प्रासैः सुतीक्ष्णैः परिघैश्च विस्तृतैर्ववर्षतुर्दैत्यवरौ सुरेश्वरीम् ॥ १८ ॥

ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण विधि-विधानसे यज्ञ-(अनुष्ठान) करें । यदि तुम (सब) अपने पूरे बलके घमण्डसे युद्ध करना चाहते हो, तो आओ । यह मैं बिना किसी घबराहटके—आसानीसे तुमलोगोंका विनाश करूँ—किये देती हूँ । नारदजी ! उन्होंने शिवको दूत बनाया, अतः महादेवीका नाम शिवदूती हुआ । वे सारे असुर भी शङ्करके गर्वीले वचनको सुनकर हुंकार करते हुए, जहाँ कात्यायनी स्थित थीं वहाँ दौड़ पड़े । उसके बाद दोनों असुर सुरेश्वरीके ऊपर बाण, शक्ति, अङ्कुश, श्रेष्ठ कुठार, शूल, भुशुण्डी, पट्टिश, तीक्ष्ण प्रास और बहुत बड़े परिघ आदि अस्त्रोंकी बौछार करने लगे ॥ १५–१८ ॥

सा चापि बाणैर्वरकार्मुकच्युतैश्चिच्छेद शस्त्राण्यथ बाहुभिः सह ।
जघान चान्यान् रणचण्डविक्रमा महासुरान् बाणशतैर्महेश्वरी ॥ १९ ॥
मारी त्रिशूलेन जघान चान्यान् खट्वाङ्गपातैरपरांश्च कौशिकी ।
महाजलक्षेपहतप्रभावान् ब्राह्मी तथान्यानसुरांश्चकार ॥ २० ॥
माहेश्वरी शूलविदारितोरसश्चकार दैत्यानपरांश्च वैष्णवी ।
शक्त्या कुमारी कुलिशेन चैन्द्री तुण्डेन चक्रेण वराहरूपिणी ॥ २१ ॥
नखैर्विभिन्नानपि नारसिंही अट्टाट्टहासैरपि रुद्रदूती ।
रुद्रस्त्रिशूलेन तथैव चान्यान् विनायकश्चापि परश्वधेन ॥ २२ ॥

युद्ध मे प्रचण्ड पराक्रमशालिनी उस महेश्वरीने भी श्रेष्ठ धनुषसे निकले बाणोसे असुरोके शस्त्रोको उनकी भुजाओसहित काट दिया एवं सैकडो बाणोसे अन्य असुरोंको मौतके घाट उतार दिया । मारीने त्रिशूलसे बहुतोको मारा, कौशिकीने खट्वाङ्गके प्रहारसे बहुतोका वध किया तथा ब्राह्मीने जलराशि फेंककर दूसरे बहुत-से असुरोको प्रभाहीन कर दिया । माहेश्वरीने शूलसे बहुत-से असुरोंकी छाती छेदकर जर्जर कर दिया । वैष्णवीने बहुतोको जला कर भस्म कर डाला । कुमारीने शक्तिसे, ऐन्द्रीने वज्रसे, वराहीने मुखसे एवं चक्रसे असुरोका संहार किया । नारसिंहीने नखोके प्रहारसे दैत्योंको चीर डाला, शिवदूतीने अट्टहाससे, रुद्रने त्रिशूलसे एवं विनायकने फरसेकी मारसे अन्य असुरोंको विनष्ट कर दिया ॥ १९—२२ ॥

एवं हि देव्या विविधैस्तु रूपैर्निपात्यमाना दनुपुङ्गवास्ते ।
पेतुः पृथिव्यां भुवि चापि भूतैस्ते भक्ष्यमाणाः प्रलयं प्रजग्मुः ॥ २३ ॥
ते वध्यमानास्त्वथ देवताभिर्महासुरा मातृभिराकुलाश्च ।
विमुक्तकेशास्तरलेक्षणा भयात् ते रक्तबीजं शरणं हि जग्मुः ॥ २४ ॥
स रक्तबीजः सहसाभ्युपेत्य वरास्त्रमादाय च मातृमण्डलम् ।
विद्रावयन् भूतगणान् समन्ताद् विवेश कोपात् स्फुरिताधरश्च ॥ २५ ॥
तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य मातरः शस्त्रैः शिताग्रैर्दितिजं ववर्षुः ।
यो रक्तबिन्दुर्न्यपतत् पृथिव्यां स तत्प्रमाणस्त्वसुरोऽपि जज्ञे ॥ २६ ॥

इस प्रकार देवीके बहुत-से रूपोंद्वारा संहार किये जाते हुए दानव धराशायी होने लगे । भूतगण पृथ्वीपर (गिरे हुए) उन दानवोको खा-खाकर उन्हें नष्ट करने लगे । देवताओ और मातृशक्तियोंद्वारा सहार किये जा रहे एवं व्याकुल किये गये वे सारे महान् असुर खुले बालों एवं भयसे इधर-उधर देखते हुए रक्तबीजकी शरणमे गये । क्रोधसे ओठको फड़फड़ाते हुए रक्तबीज तेज धारवाले अस्त्रोंको लेकर एकाएक आ धमका एवं भूतगणोंको इधर-उधर खदेड़ते हुए मातृव्यूहमें प्रवेश कर गया । उसको आते हुए देखकर मातृशक्तियोने उस असुरपर अपने तेज शस्त्रोंकी बौछार कीं । (उनके शरीरसे) रक्तकी जो बूँदे पृथ्वीपर गिरती थीं उनसे उतने ही बलवान् असुर उत्पन्न हो जाते थे ॥ २३—२६ ॥

ततस्तदाश्चर्यमयं निरीक्ष्य सा कौशिकी केशिनिमभ्युवाच ।
पिबस्व चण्डे रुधिरं त्वरातेर्वितत्य वक्त्रं वडवानलाभम् ॥ २७ ॥
सा त्वेवमुक्ता वरदाऽम्बिका हि वितत्य वक्त्रं विकरालमुग्रम् ।
ओष्ठं नभस्पृक् पृथिवीं स्पृशन्तं कृत्वाऽधरं तिष्ठति चर्ममुण्डा ॥ २८ ॥
ततोऽम्बिका केशविकर्षणाकुलं कृत्वा रिपुं प्राक्षिपत स्ववक्त्रे ।
बिभेद शूलेन तथाऽप्युरस्तः क्षतोद्भवान्ये न्यपतंश्च वक्त्रे ॥ २९ ॥
ततस्तु शोषं प्रजगाम रक्तं रक्तक्षये हीनबलो बभूव ।
तं हीनवीर्यं शतधा चकार चक्रेण चामीकरभूषितेन ॥ ३० ॥

उसके बाद उस अद्भुत दृश्यको देखकर कौशिकीने केशिनीसे कहा—चण्डिके ! वडवानल-(समुद्रकी आग-) की भाँति अपने मुखको फैलाकर शत्रुका खून पी डालो । ऐसा कहनेपर वरदायिनी अम्बिकाने अपना विशाल भयङ्कर मुँह फैलाया । ऊपरी ओठसे आकाश एवं निचले ओठसे पृथ्वीका स्पर्श करती हुई चामुण्डा सामने खड़ी हो गयी । उसके बाद अम्बिकाने शत्रुके बालोंको पकड़ करके उसे घसीटकर व्याकुल कर दिया और उसे

अपने मुखमें डाल लिया और उसकी छातीमें शूलका प्रहार कर दिया। तब रक्तमें डूबनेवाले दूसरे राक्षस भी उनके मुखमें ही गिरने लगे। उसके बाद उसका रक्त सूख गया। रक्तके नष्ट हो जानेसे वह कान्तिहीन हो गया। निर्बल हो जानेपर उसको देवीने मुद्गरसे विदारित करके सौ टुकड़ोंमें काट डाला ॥ २७–३० ॥

तस्मिन् विशस्ते दनुसैन्यनाथे ते दानवा दीनतरं विनेदुः ।
हा तात हा भ्रातरिति ब्रुवन्तः क्व यासि तिष्ठस्व मुहूर्तमेहि ॥ ३१ ॥
तथाऽपरे विलुलितकेशपाशा विशीर्णवर्माभरणा दिगम्बराः ।
निपातिता धरणितले मृडान्या प्रदुद्रुवुर्गिरिमपहाय दैत्याः ॥ ३२ ॥
विशीर्णवर्मायुधभूषणं तद् बलं निरीक्ष्यैव हि दानवेन्द्रः ।
विशीर्णचक्राक्षरथो निशुम्भः क्रोधान्मृडानीं समुपाजगाम ॥ ३३ ॥
खड्गं समादाय च चर्म भास्वरं धुन्वञ्छिरः प्रेक्ष्य च रूपमस्याः ।
संस्तम्भमोहज्वरपीडितोऽथ चित्रे यथाऽसौ लिखितो बभूव ॥ ३४ ॥

उस दानव-सेनापतिके मारे जानेपर वे सभी दानव हा तात! हा भाई! कहाँ जा रहे हो, क्षणभर रुको, यहाँ आओ—ऐसा कहते हुए करुण-क्रन्दन करने लगे। मृडानीने खुले और बिखरे बालोंवाले तथा टुकड़े-टुकड़े हुए कवचवाले अनेक नंगे दैत्योंको पृथ्वीपर गिरा दिया। वे इस पर्वतश्रेष्ठको छोड़कर भाग गये। टूटे कवच, हथियारों एवं आभूषणोंसे युक्त अपनी सेनाको देखकर टूटे (भी) चक्र एवं धुरीवाले रथपर चढ़कर दानवश्रेष्ठ निशुम्भ क्रोधपूर्वक मृडानी (देवी)के पास गया। चमकती हुई तलवार और ढाल लेकर सिर हिलाते हुए वह देवीका रूप देखकर मोहज्वरसे पीड़ित हो चित्र-लिखे हुएकी भाँति ठिठक गया ॥ ३१–३४ ॥

तं स्तम्भितं वीक्ष्य सुरारिमग्रे प्रोवाच देवी वचनं विहस्य ।
अनेन वीर्येण सुरास्त्वया जिता अनेन मां प्रार्थयसे बलेन ॥ ३५ ॥
श्रुत्वा तु वाक्यं कौशिक्या दानवः सुचिरादिव । प्रोवाच चिन्तयित्वाऽथ वचनं वदतां वरः ॥ ३६ ॥
सुकुमारशरीरोऽयं मच्छस्त्रपतनादपि । शतधा यास्यते भीरु आमपात्रमिवाम्भसि ॥ ३७ ॥
एतद् विचिन्तयन्नर्थं त्वां प्रहर्तुं न सुन्दरि । करोमि बुद्धिं तस्मात् त्वं मां भजस्वायतेक्षणे ॥ ३८ ॥

देवीने उस स्तब्ध हुए देवताओंके शत्रुको सामने देखकर हँसते हुए यह वचन कहा—क्या इसी शक्तिके बलपर तुमने देवताओंको पराजित किया है? और, क्या इसी बलपर मुझको (पत्नीरूपमें) पानेके लिये याचना करते रहे? कौशिकीकी बात सुननेके बाद देरतक विचार करके बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ वह दानव यह वचन बोला—भीरु! यह तुम्हारा अत्यन्त कोमल शरीर मेरे शस्त्रोंकी मारसे जलमें कच्चे बर्तनकी तरह सैकड़ों टुकड़ोंमें अलग-अलग हो जायगा। सुन्दरि! यह सोचकर मैं तुम्हारे ऊपर आघात करनेका विचार नहीं कर रहा हूँ। अतः विशालनयने! तुम मुझे अङ्गीकार कर लो ॥ ३५–३८ ॥

मम खड्गनिपातं हि नेन्द्रो धारयितुं क्षमः । निवर्तय मतिं युद्धाद् भार्या मे भव साम्प्रतम् ॥ ३९ ॥
इत्थं निशुम्भवचनं श्रुत्वा योगीश्वरी मुने । विहस्य भावगम्भीरं निशुम्भं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥
नाजिताऽहं रणे वीर भवे भार्या हि कस्यचित् । भवान् यदीह भार्यार्थी ततो मां जय संयुगे ॥ ४१ ॥
इत्येवमुक्ते वचने खड्गमुद्यम्य दानवः । प्रचिक्षेप तदा वेगात् कौशिकीं प्रति नारद ॥ ४२ ॥

मेरी तलवारकी मारको इन्द्र भी नहीं सह सकते। तुम युद्धका विचार छोड़ दो एवं अब मेरी पत्नी बन जाओ। मुने! योगीश्वरीने निशुम्भकी यह बात सुनकर हँसते हुए उससे भावभरे वचनमें कहा—

वीर ! लड़ाईके मैदानमें बिना हारे हुए मैं किसीकी पत्नी नहीं बन सकती । यदि तुम मुझे अपनी स्त्री बनाना चाहते हो तो संग्राममें मुझे जीत लो । नारदजी ! इस बातके कहनेपर उस दानवने तलवार उठाकर कौशिकीकी ओर उसे वेगसे चलाया ॥ ३९–४२ ॥

तमापतन्तं निस्त्रिंशं षड्भिर्बर्हिणराजितैः । चिच्छेद चर्मणा सार्द्धं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४३ ॥
खड्गे सचर्मणि छिन्ने गदां गृह्य महासुरः । समाद्रवत् कोशभवां वायुवेगसमो जवे ॥ ४४ ॥
तस्यापतत एवाशु करौ श्लिष्टौ समौ दृढौ । गदया सह चिच्छेद क्षुरप्रेण रणेऽम्बिका ॥ ४५ ॥
तस्मिन्निपतिते रौद्रे सुरशत्रौ भयंकरे । चण्डाद्या मातरो हृष्टाश्चक्रुः किलकिलाध्वनिम् ॥ ४६ ॥

देवीने अपनी ओर आती हुई उस तलवारको ढालसहित मोरके पंखसे सुशोभित छः बाणोंसे काट दिया । वह (दृश्य) बड़ा ही विचित्र हुआ । ढालके साथ तलवारके कट जानेपर वह महा असुर गदा लेकर हवाके समान तेजीसे कौशिकीकी ओर दौड़ा । अम्बिकाने लड़ाईमे चढाई करनेवाले उस असुरकी, गदाके साथ सुपुष्ट, सुडौल, गठीली भुजाओको क्षुरप्र (खुरपे या बाण) से उसी समय काट गिराया । उस अत्यन्त भयङ्कर देवशत्रुके गिरनेपर चण्डी आदि मातृकाएँ प्रसन्न होकर किलकिलाध्वनि (हर्षसूचक ध्वनि) करने लगीं ॥ ४३–४६ ॥

गगनस्थास्ततो देवाः शतक्रतुपुरोगमाः । जयस्व विजयेत्यूचुर्हृष्टाः शत्रौ निपातिते ॥ ४७ ॥
ततस्तूर्याण्यवाद्यन्त भूतसङ्घैः समन्ततः । पुष्पवृष्टिं च मुमुचुः सुराः कात्यायनी प्रति ॥ ४८ ॥
निशुम्भं पतितं दृष्ट्वा शुम्भः क्रोधान्महामुने । वृन्दारकं समारुह्य पाशपाणिः समभ्यगात् ॥ ४९ ॥
तमापतन्तं दृष्ट्वाऽथ सगजं दानवेश्वरम् । जग्राह चतुरो बाणांश्चन्द्रार्धाकारवर्चसः ॥ ५० ॥

उसके बाद आकाशमे स्थित इन्द्र आदि देवगण शत्रुको मारकर गिराये जानेपर हर्षित होते हुए बोले—विजये ! तुम्हारी जय हो । फिर चारों ओर भूतगण भेरी बजाने लगे और देवगण कात्यायनीके ऊपर फूलोकी वर्षा करने लगे । महामुनि नारदजी ! निशुम्भको गिरा हुआ देखकर शुम्भ क्रोधसे हाथमे पाश लिये हुए हाथीपर चढकर आया । हाथीपर चढकर दानवेश्वरको आते देख (देवीने) चमकते हुए अर्धचन्द्राकार चार बाणोको उठा लिया ॥ ४७–५० ॥

क्षुरप्राभ्यां समं पादौ द्वौ चिच्छेद द्विपस्य सा । द्वाभ्यां कुम्भे जघानाथ हसन्ती लीलयाऽम्बिका ॥ ५१ ॥
निकृत्ताभ्यां गजः पद्भ्यां निपपात यथेच्छया । शक्रवज्रसमाक्रान्तं शैलराजशिरो यथा ॥ ५२ ॥
तस्यावर्जितनागस्य शुम्भस्याप्युत्पतिष्यतः । शिरश्चिच्छेद बाणेन कुण्डलालंकृतं शिवा ॥ ५३ ॥
छिन्ने शिरसि दैत्येन्द्रो निपपात सकुञ्जरः । यथा समहिषः क्रौञ्चो महासेनसमाहतः ॥ ५४ ॥

श्रुत्वा सुराः सुररिपू निहतौ मृडान्या सेन्द्राः ससूर्यमरुदश्विवसुप्रधानाः ।
आगत्य तं गिरिवरं विनयावनम्रा देव्यास्तदा स्तुतिपदं त्विदमीरयन्तः ॥ ५५ ॥

हँसते हुए उस अम्बिकाने खेल-खेलमे दो तीखे बाणोसे उस हाथीके दो पैरोको काट दिया एव दो बाणोसे उसके कुम्भस्थलपर आघात किया । दो पैरोंके कट जानेपर वह हाथी इन्द्रके वज्रसे घायल पर्वतराजकी ऊँची चोटीकी तरह अपने-आप ही गिर पडा । शिवाने घायल हुए हाथीपरसे उछलनेवाले शुम्भका कुण्डलसे सुशोभित मस्तक बाणसे (झट) काट दिया । सिरके कट जानेपर दैत्येन्द्र हाथीके साथ ऐसे गिरा जैसे महासेन कार्तिकेयद्वारा घायल हुआ क्रौञ्चासुर महिषके साथ गिरा था । मृडानी-(देवी-)द्वारा दोनो देवशत्रुओंका संहार किया जाना सुनकर इन्द्रसहित सूर्य, मरुत्, अश्विनीकुमार एव वसुगण आदि देवता उस श्रेष्ठ पर्वतपर आये एवं विनयपूर्वक देवीकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ५१–५५ ॥

देवा ऊचुः

नमोऽस्तु ते भगवति पापनाशिनि नमोऽस्तु ते सुररिपुदर्पशातनि ।
नमोऽस्तु ते हरिहरराज्यदायिनि नमोऽस्तु ते मखभुजकार्यकारिणि ॥ ५६ ॥
नमोऽस्तु ते त्रिदशरिपुक्षयंकरि नमोऽस्तु ते शतमखपादपूजिते ।
नमोऽस्तु ते महिषविनाशकारिणि नमोऽस्तु ते हरिहरभास्करस्तुते ॥ ५७ ॥
नमोऽस्तु तेऽष्टादशबाहुशालिनि नमोऽस्तु ते शुम्भनिशुम्भघातिनि ।
नमोऽस्तु लोकार्त्तिहरे त्रिशूलिनि नमोऽस्तु नारायणि चक्रधारिणि ॥ ५८ ॥
नमोऽस्तु वाराहि सदा धराधरे त्वां नारसिंहि प्रणता नमोऽस्तु ते ।
नमोऽस्तु ते वज्रधरे गजध्वजे नमोऽस्तु कौमारि मयूरवाहिनि ॥ ५९ ॥

देवताओंने स्तुति की—भगवति ! पापनाशिनि ! आपको नमस्कार है । सुर-शत्रुओंके दर्पका दलन करनेवाली ! आपको नमस्कार है । विष्णु और शङ्करको राज्य देनेवाली ! आपको नमस्कार है । यज्ञके भागके भोक्ता देवोंका कार्य करनेवाली ! आपको नमस्कार है । देवताओंके शत्रुओंका विनाश करनेवाली ! आपको नमस्कार है । इन्द्रके द्वारा पूजित चरणोंवाली ! आपको नमस्कार है । महिषासुरका विनाश करनेवाली ! आपको नमस्कार है । विष्णु, शङ्कर एवं सूर्यसे स्तुति की जानेवाली ! आपको नमस्कार है । अष्टादश भुजाओंवाली ! आपको नमस्कार है । शुम्भ और निशुम्भका वध करनेवाली ! आपको नमस्कार है । समस्त संसारका दुःख हरण करनेवाली ! त्रिशूल धारण करनेवाली ! आपको नमस्कार है । चक्र धारण करनेवाली नारायणि ! आपको नमस्कार है । वाराहि ! धराको सदा धारण करनेवाली ! आपको नमस्कार है । नारसिंहि ! आपके चरणोंपर हम प्रणत हैं, आपको नमस्कार है । वज्र धारण करनेवाली ! गजध्वजे ! आपको नमस्कार है । कौमारि ! मयूरवाहिनि ! आपको नमस्कार है ॥ ५६—५९ ॥

नमोऽस्तु पैतामहहंसवाहने नमोऽस्तु मालाविकटे सुकेशिनि ।
नमोऽस्तु ते रासभपृष्ठवाहिनि नमोऽस्तु सर्वार्तिहरे जगन्मये ॥ ६० ॥
नमोऽस्तु विश्वेश्वरि पाहि विश्वं निषूदयारीन् द्विजदेवतानाम् ।
नमोऽस्तु ते सर्वमयि त्रिनेत्रे नमो नमस्ते वरदे प्रसीद ॥ ६१ ॥
ब्रह्माणी त्वं मृडानी वरशिखिगमना शक्तिहस्ता कुमारी
वाराही त्वं सुवक्त्रा खगपतिगमना वैष्णवी त्वं सशार्ङ्गी ।
दुर्दृश्या नारसिंही घुरघुरितरवा त्वं तथैन्द्री सवज्रा
त्वं मारी चर्ममुण्डा शवगमनरता योगिनी योगसिद्धा ॥ ६२ ॥
नमस्ते त्रिनेत्रे भगवति तव चरणानुषिता ये अहरहर्विनतशिरसोऽवनताः ।
नहि नहि परिभवमस्त्यशुभं च स्तुतिबलिकुसुमकराः सततं ये ॥ ६३ ॥

ब्रह्माके हंसपर बैठनेवाली ! आपको नमस्कार है । विकटमाला धारण करनेवाली ! सुन्दर केशोंवाली ! आपको नमस्कार है । गर्दभकी पीठपर बैठनेवाली ! आपको नमस्कार है । समस्त क्लेशोंका नाश करनेवाली ! जगन्मये ! आपको नमस्कार है । विश्वेश्वरि ! आपको नमस्कार है । आप विश्वकी रक्षा करें तथा ब्राह्मणों और देवताओंके शत्रुओंका संहार करें । त्रिनेत्रे ! सर्वमयि ! आपको नमस्कार है । वरदायिनि ! आपको बारम्बार नमस्कार है । आप प्रसन्न हों । ब्रह्माणी और मृडानी आप ही हैं । आप ही सुन्दर मोरपर

चलनेवाली और हाथमें शक्ति धारण करनेवाली कुमारी हैं। सुन्दर मुखवाली वाराही आप ही हैं तथा गरुड़पर चलनेवाली, शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाली वैष्णवी आप ही हैं। घुर-घुर शब्द करनेवाली, देखनेमें भयंकर नारसिंही आप ही हैं। आप ही वज्र धारण करनेवाली ऐन्द्री एवं महामारी चर्ममुण्डा हैं। शवपर चलनेवाली तथा योग सिद्ध-कर चुकनेवाली योगिनी भी आप ही हैं। तीन नेत्रोंवाली भगवति! आपको नमस्कार है। आपके चरणोंका आश्रय कर नम्रतासे प्रतिदिन अपना सिर झुकानेवालों तथा बलि एवं फूलोंको हाथमें लिये सर्वदा आपकी स्तुति करने-वालोंका कोई पराजय, अनादर और अकल्याण नहीं होता ॥ ६०—६३ ॥

एवं स्तुता सुरवरैः सुरशत्रुनाशिनी प्राह प्रहस्य सुरसिद्धमहर्षिवर्यान्।
प्राप्तो मयाऽद्भुततमो भवतां प्रसादात् संग्राममूर्ध्नि सुरशत्रुजयः प्रमर्दात् ॥ ६४ ॥
इमां स्तुतिं भक्तिपरा नरोत्तमा भवद्भिरुक्तामनुकीर्त्तयन्ति।
दुःस्वप्ननाशो भविता न संशयो वरस्तथान्यो व्रियतामभीप्सितः ॥ ६५ ॥

श्रेष्ठ देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर देवताओंके शत्रुओंका संहार करनेवाली देवीने देवताओं, सिद्धों और श्रेष्ठ महर्षियोंसे हँसकर कहा—मैंने आपलोगोंकी कृपासे युद्धभूमिमें (शत्रुका) मर्दन कर देवशत्रुओं (दानवों) पर अत्यन्त अनूठी विजय प्राप्त की है। आपलोगोंसे कही गयी इस स्तुतिको पढ़नेवाले भक्तिपरायण श्रेष्ठ मनुष्योंके दुःस्वप्नोंका निस्सन्देह नाश होगा। (अब) आपलोग दूसरे इच्छित वरको माँगें ॥ ६४—६५ ॥

देवा ऊचुः

यदि वरदा भवती त्रिदशानां द्विजशिशुगोषु यतस्व हिताय।
पुनरपि देवरिपूनपरांस्त्वं प्रदह हुताशनतुल्यशरीरे ॥ ६६ ॥

देवताओंने कहा—यदि आप देवताओंको वर देना चाहती हैं तो ब्राह्मणों, बच्चों और गौओंके कल्याणके लिये यत्न कीजिये। अग्निके सदृश शरीरवाली! आप (हम सबके) अन्य देवशत्रुओंको भविष्यमें भी जलाकर भस्म करें ॥ ६६ ॥

देव्युवाच

भूयो भविष्याम्यसृगुक्षिताननना हराननस्वेदजलोद्भवा सुराः।
अन्धासुरस्याप्रतिपोषणे रता नाम्ना प्रसिद्धा भुवनेषु चर्चिका ॥ ६७ ॥
भूयो वधिष्यामि सुरारिमुत्तमं सम्भूय नन्दस्य गृहे यशोदया।
तं विप्रचित्तिं लवणं तथाऽपरौ शुम्भं निशुम्भं दशनप्रहारिणी ॥ ६८ ॥
भूयः सुरास्तिष्ययुगे निराशिनी निरीक्ष्य मारीं च गृहे शतक्रतोः।
सम्भूय देव्याऽमितसत्यधामया सुरा भरिष्यामि च शाकम्भरी वै ॥ ६९ ॥
भूयो विपक्षक्षपणाय देवा विन्ध्ये भविष्याम्यृपिरक्षणार्थम्।
दुर्वृत्तचेष्टान् विनिहत्य दैत्यान् भूयः समेष्यामि सुरालयं हि ॥ ७० ॥
यदाऽरुणाक्षो भविता महासुरः तदा भविष्यामि हिताय देवताः।
महालिरूपेण विनष्टजीवितं कृत्वा समेष्यामि पुनस्त्रिविष्टपम् ॥ ७१ ॥

देवीने कहा—देवो! मैं पुनः शङ्करके मुखके पसीनेके जलसे उत्पन्न हो करके रक्तसे रञ्जित मुखवाली होकर संसारमें चर्चिका नामसे प्रसिद्ध होऊँगी और अन्धकासुरका संहार करूँगी। फिर मैं नन्दके गृहमें यशोदासे उत्पन्न होकर प्रबल देव-शत्रुका वध करूँगी। वहाँ मैं अवतार लेकर दाँतोंके आघातसे विप्रचित्ति, लवणासुर एवं

अन्य शुम्भ-निशुम्भ दानवोंका विनाश करूँगी । देवताओ ! कलियुगमें भोजन न करती हुई इन्द्रके घरमें मारीको देखकर मैं पुनः अमितसत्यधामा देवीके साथ इन्द्रके घर शाकम्भरीके रूपमें प्रकट होकर भरण-पोषण करूँगी । देवताओ ! पुनः मैं शत्रुओंके संहार तथा ऋषियोंकी रक्षाके लिये विन्ध्याचलमें उपस्थित होऊँगी । देवो ! वहाँ दुराचारी दैत्योंका नाश करनेके बाद पुनः स्वर्ग चली जाऊँगी । देवताओ ! अरुणाक्ष नामक महासुरके उत्पन्न होनेपर महाभ्रमरके रूपसे पुनः उत्पन्न होऊँगी एवं उसका संहार कर फिर स्वर्ग चली जाऊँगी ॥ ६७–७१ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वरदा सुराणां कृत्वा प्रणामं द्विजपुङ्गवानाम् ।
विसृज्य भूतानि जगाम देवी खं सिद्धसङ्घैरनुगम्यमाना ॥ ७२ ॥
इदं पुराणं परमं पवित्रं देव्या जयं मङ्गलदायि पुंसाम् ।
श्रोतव्यमेतन्नियतैः सदैव रक्षोघ्नमेतद्भगवानुवाच ॥ ७३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ऐसा कहनेके बाद देवी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रणाम करके अन्य प्राणियोंको विदाकर एवं देवोंको वर देकर सिद्धोंके साथ स्वर्गमें चली गयीं । संयतचित्त मनुष्योंको यह प्राचीन, परम पवित्र, पुरुषोंको मङ्गल देनेवाली देवीकी विजयकथा सदा सुननी चाहिये । भगवान्ने इसे 'रक्षोघ्न' कहा है ॥ ७२-७३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छप्पनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

[अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

नारद उवाच

कथं समहिषः क्रौञ्चो भिन्नः स्कन्देन सुव्रत । एतन्मे विस्तराद् ब्रह्मन् कथयस्वामितद्युते ॥ १ ॥

सत्तावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कार्तिकेयका जन्म, उनके छः मुख और चतुर्मूर्ति होनेका हेतु, उनका सेनापति होना तथा उनका गण, मयूर, शक्ति और दण्डादिका पाना)

नारदजीने पूछा—दृढतासे व्रतका सुपालन करनेवाले अमित तेजस्वी ब्रह्मन् ! आप मुझे विस्तारसे यह बतलाइये कि स्कन्दने महिषके सहित क्रौञ्चको किस प्रकार मारा ? ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि कथां पुण्यां पुरातनीम् । यशोवृद्धिं कुमारस्य कार्तिकेयस्य नारद ॥ २ ॥
यत्तत्पीतं हुताशेन स्कन्नं शुक्रं पिनाकिनः । तेनाक्रान्तोऽभवद् ब्रह्मन् मन्दतेजा हुताशनः ॥ ३ ॥
ततो जगाम देवानां सकाशममितद्युतिः । तैश्चापि प्रहितस्तूर्णं ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ ४ ॥
स गच्छन् कुटिलां देवीं ददर्श पथि पावकः । तां दृष्ट्वा प्राह कुटिले तेज एतत्सुदुर्द्धरम् ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! सुनो, मैं कीर्तिको बढ़ानेवाली कुमार कार्तिकेयकी पवित्र प्राचीन कथा कहता हूँ । ब्रह्मन् ! अग्निने शङ्करके उस च्युत शुक्रका पान कर लिया था । उससे ग्रस्त होनेके कारण अग्निका तेज फीका हो गया । उसके बाद अत्यन्त तेजस्वी अग्नि देवताओंके निकट गये । फिर उन देवोंके भेजे जानेपर वे शीघ्र ही ब्रह्मलोक चले गये । मार्गमें जाते हुए अग्निने कुटिला नामकी देवीको देखा । उसको देखकर अग्निने कहा—कुटिले ! इस तेजको धारण करना अत्यन्त कठिन है ॥ २–५ ॥

महेश्वरेण संत्यक्तं निर्दहेद् भुवनान्यपि । तस्मात् प्रतीच्छ पुत्रोऽयं तव धन्यो भविष्यति ॥ ६ ॥
इत्यग्निना सा कुटिला स्मृत्वा स्वमतमुत्तमम् । प्रक्षिपस्वाम्भसि मम प्राह वह्निं महापगा ॥ ७ ॥
ततस्त्वधारयद्देवी शार्वं तेजस्त्वपूपुपत् । हुताशनोऽपि भगवान् कामचारी परिभ्रमन् ॥ ८ ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि धृतवान् हव्यभुक् ततः । मांसमस्थीनि रुधिरं मेदोन्त्ररेतसी त्वचः ॥ ९ ॥
रोमश्मश्र्वक्षिकेशाद्याः सर्वे जाता हिरण्मयाः । हिरण्यरेता लोकेषु तेन गीतश्च पावकः ॥ १० ॥

शङ्करके द्वारा त्यागा गया (यह तेज समस्त) लोकोंको दग्ध कर देगा, अतः तुम इसे ग्रहण कर लो । इससे तुम्हें एक भाग्यशाली पुत्र होगा। अग्निके इस प्रकार कहनेपर अपने उत्तम मनोरथका स्मरणकर महानदी कुटिलाने अग्निसे कहा—इसे मेरे जलमें छोड़ दें । (ऐसा करनेपर) उसके बाद वह देवी शङ्करके तेजको ग्रहणकर उसका पालन-पोषण करने लगी । भगवान् अग्निदेव भी इच्छाके अनुसार विचरण करने लगे । अग्निने उस तेजको पाँच हजार वर्षोंतक धारण किया था । इसलिये अग्निके मांस, हड्डी, रक्त, मेदा, आँत, रेतस्, त्वचा, रोम, दाढ़ी, मूँछ, नेत्र एवं केश आदि सभी सुवर्णमय बन गये । इसीसे संसारमें अग्निको 'हिरण्यरेता' कहा जाने लगा ॥ ६–१० ॥

पञ्चवर्षसहस्राणि कुटिला ज्वलनोपमम् । धारयन्ती तदा गर्भं ब्रह्मणः स्थानमागता ॥ ११ ॥
तां दृष्टवान् पद्मजन्मा संतप्यन्तीं महापगाम् । दृष्ट्वा पप्रच्छ केनायं तव गर्भः समाहितः ॥ १२ ॥
सा चाह शाङ्करं यत्तच्छुक्रं पीतं हि वह्निना । तदशक्तेन तेनाद्य निक्षिप्तं मयि सत्तम ॥ १३ ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि धारयन्त्याः पितामह । गर्भस्य वर्तते कालो न पपात च कर्हिचित् ॥ १४ ॥

तब अग्निके समान उस गर्भको पाँच हजार वर्षोंतक धारण करती हुई कुटिला ब्रह्माके स्थानपर गयी । कमलजन्मा ब्रह्माने उस महानदीको सन्तप्त होती देखकर पूछा—तुम्हारा यह गर्भ किसके द्वारा स्थापित है ? उसने उत्तर दिया—सत्तम ! अग्निने पिये हुए शङ्करके उस शुक्रको अपनेमें धारण करनेकी शक्ति न होनेके कारण मुझमें त्याग दिया । पितामह ! गर्भ धारण किये हुए मेरा पाँच हजार वर्षका समय बीत गया; परंतु किसी प्रकार यह बाहर नहीं निकल रहा है ॥ ११–१४ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह गच्छ त्वमुदयं गिरिम् । तत्रास्ति योजनशतं रौद्रं शरवणं महत् ॥ १५ ॥
तत्रैनं क्षिप सुश्रोणि विस्तीर्णे गिरिसानुनि । दशवर्षसहस्रान्ते ततो बालो भविष्यति ॥ १६ ॥
सा श्रुत्वा ब्रह्मणो वाक्यं रूपिणी गिरिमागता । आगत्य गर्भं तत्याज मुखेनैवाद्रिनन्दिनी ॥ १७ ॥
सा तु संत्यज्य तं बालं ब्रह्माणं सहसागमत् । आपोमयी मन्त्रवशात् संजाता कुटिला सती ॥ १८ ॥

उसको सुनकर भगवान् ब्रह्माने कहा—तुम उदयाचलपर जाओ । वहाँपर सौ योजनमें फैला हुआ सरपतोंका विशाल घनघोर वन है । अयि सुन्दर कटिवाली ! उस विस्तृत पर्वतकी ऊँची चोटीपर इसे छोड़ दो । यह दस हजार वर्षोंके बाद बालक हो जायगा । ब्रह्माकी बात सुननेके बाद यह गिरिनन्दिनी सुन्दरी पर्वतपर गयी एवं मुखसे ही (उसने) गर्भका परित्याग कर दिया । वह उस (जन्म लेनेवाले) बालकको छोड़कर शीघ्र ही ब्रह्माके समीप चली गयी । सती कुटिला मन्त्र-(शाप-)के कारण जलरूपमें हो गयी ॥ १५–१८ ॥

तेजसा चापि शार्वेण रौक्मं शरवणं महत् । तन्निवासरताश्चान्ये पादपा मृगपक्षिणः ॥ १९ ॥
ततो दशसु पूर्णेषु शरद्दशशतेष्वथ । बालार्कदीप्तिः संजातो बालः कमललोचनः ॥ २० ॥
उत्तानशायी भगवान् दिव्ये शरवणे स्थितः । मुखेऽङ्गुष्ठं समाक्षिप्य रुरोद घनराडिव ॥ २१ ॥
एतस्मिन्नन्तरे देव्यः कृत्तिकाः षट् सुतेजसः । ददृशुः स्वेच्छया यान्त्यो बालं शरवणे स्थितम् ॥ २२ ॥

शङ्करके तेजसे वह विशाल सरपतोंका वन सुवर्णमय बन गया। उस वनमें रहनेवाले वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी सुवर्णमय हो गये। उसके बाद दस हजार वर्षोंके बीत जानेपर उगते हुए बालसूर्यके सदृश दीप्तिमान् तथा कमलके समान आँखोंवाला बालक उत्पन्न हुआ। उस दिव्य सरपतके वनमें उतान सोये हुए भगवान् कुमार अपने मुखमें अपना अंगूठा डालकर बादलकी ध्वनिके समान अस्पष्ट ध्वनिमें रोने लगे। इसी बीच स्वेच्छासे जाती हुई दिव्य तेजस्विनी छहों कृत्तिकाओंने सरपतके वनमें स्थित उस बालकको देखा ॥ १९–२२ ॥

कृपायुक्ताः समाजग्मुः यत्र स्कन्दः स्थितोऽभवत्। अहं पूर्वमहं पूर्वं तस्मै स्तन्येऽभिचुक्रुशुः ॥ २३ ॥
विवदन्तीः स ता दृष्ट्वा षण्मुखः समजायत। अबीभरंश्च ताः सर्वाः शिशुं स्नेहाच्च कृत्तिकाः ॥ २४ ॥
भ्रियमाणः स ताभिस्तु बालो वृद्धिमगान्मुने। कार्त्तिकेयेति विख्यातो जातः स बलिनां वरः ॥ २५ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् पावकं प्राह पद्मजः। कियत्प्रमाणः पुत्रस्ते वर्त्तते साम्प्रतं गुहः ॥ २६ ॥

ये कृत्तिकाएँ दयापूर्वक वहाँ गयीं जहाँ कुमार स्कन्द थे। उन्हें दूध पिलानेके लिये वे आपसमें 'हम पहले, हम पहले' (पिलायेंगी—) कहकर विवाद करने लगीं। उन्हें आपसमें विवाद करती हुई देखकर वह कुमार षण्मुख (छह मुखवाले) बन गये। फिर तो उन (छहों) कृत्तिकाओंने प्रेमपूर्वक बच्चेका पोषण किया। मुने! उनके द्वारा रक्षित होकर वह शिशु बड़ा हुआ। वह बलवानोंमें श्रेष्ठ कार्त्तिकेय नामसे प्रसिद्ध हुआ। ब्रह्मन्! इसी बीच ब्रह्माने अग्निसे प्रश्न किया कि अग्निदेव! तुम्हारा पुत्र गुह (कार्तिकेय) इस समय कितना बड़ा हुआ है? ॥ २३–२६ ॥

स तद्वचनमाकर्ण्य अजानंस्तं हरात्मजम्। प्रोवाच पुत्रं देवेश न वेद्मि कतमो गुहः ॥ २७ ॥
तं प्राह भगवान् यत्तु तेजः पीतं पुरा त्वया। त्र्यम्बकं त्रिलोकेश जातः शरवणे शिशुः ॥ २८ ॥
श्रुत्वा पितामहवचः पावकस्त्वरितोऽभ्यगात्। वेगिनं मेषमारुह्य कुटिला तं ददर्श ह ॥ २९ ॥
ततः पप्रच्छ कुटिला शीघ्रं क्व व्रजसे कवे। सोऽब्रवीत् पुत्रदृष्ट्यर्थं जातं शरवणे शिशुम् ॥ ३० ॥

ब्रह्माके प्रश्नको सुनकर अग्निने शंकरके उस पुत्रको न जाननेके कारण उत्तरमें कहा—देवेश! मैं पुत्रको नहीं जानता; कौन-सा गुह है? भगवान्ने उनसे कहा—त्रिलोकेश! पूर्वकालमें तुमने शंकरका जो तेज पी लिया था, वह शरवण-(सरपतके वन-)में शिशुरूपसे उत्पन्न हुआ है। पितामहका वचन सुननेके बाद अग्निदेव तीव्र गतिवाले बकरेपर चढ़कर शीघ्र (वहाँ) गये। कुटिलाने उन्हे जाते हुए देखा। तब कुटिलाने उनसे पूछा—अग्निदेव! आप कहाँ जा रहे हैं? उन्होने कहा—कुटिले! शरवणमें उत्पन्न हुए बालक पुत्रको देखने जा रहा हूँ॥ २७–३० ॥

साऽब्रवीत् तनयो मह्यं ममेत्याह च पावकः। विवदन्तौ ददर्शाथ स्वेच्छाचारी जनार्दनः ॥ ३१ ॥
तौ पप्रच्छ किमर्थं वा विवादमिह चक्रथः। तावूचतुः पुत्रहेतो रुद्रशुक्रोद्भवाय हि ॥ ३२ ॥
तावुवाच हरिर्देवो गच्छ तं त्रिपुरान्तकम्। स यद् वक्ष्यति देवेशस्तत्कुरुध्वमसंशयम् ॥ ३३ ॥
इत्युक्तौ वासुदेवेन कुटिलाग्नी हरान्तिकम्। समभ्येत्योचतुस्तथ्यं कस्य पुत्रेति नारद ॥ ३४ ॥

उसने कहा कि 'पुत्र मेरा है' और अग्निने कहा कि 'मेरा है'। स्वेच्छासे विचरण कर रहे जनार्दनने उन दोनोको परस्पर विवाद करते हुए देखा। उन्होने उन दोनोसे पूछा—तुम दोनो आपसमे किसलिये विवाद कर रहे हो। (तो) उन दोनोंने कहा—रुद्रके शुक्रसे उत्पन्न हुए पुत्रके लिये। विष्णुने उन दोनोंसे कहा—तुमलोग

त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले शिवके पास जाओ। वे देवेश जो कहे, उसे निस्सन्देह करो। (पुलस्त्यजी कहते हैं कि) नारदजी ! वासुदेवके इस प्रकार कहनेपर कुटिला एवं अग्नि शंकरके पास गये और उन्होंने (उनसे) यह गूढ रहस्य पूछा कि पुत्र किसका है ? ॥ ३१–३४ ॥

रुद्रस्तद्वाक्यमाकर्ण्य हर्षनिर्भरमानसः। दिष्ट्या दिष्ट्येति गिरिजां प्रोद्भूतपुलकोऽब्रवीत् ॥ ३५ ॥
ततोऽम्बिका प्राह हरं देव गच्छाम तं शिशुम्। प्रष्टुं समाश्रयेद् यं स तस्य पुत्रो भविष्यति ॥ ३६ ॥
बाढमित्येव भगवान् समुत्तस्थौ वृषध्वजः। सहोमया कुटिलया पावकेन च धीमता ॥ ३७ ॥
सम्प्राप्तास्ते शरवणं हराग्निकुटिलाम्बिकाः। ददृशुः शिशुकं तं च कृत्तिकोत्सङ्गशायिनम् ॥ ३८ ॥

उनके वचनको सुनकर शंकरका मन हर्षसे भर गया। उन्होंने हर्षगद्गद होकर गिरिजासे कहा—अहो भाग्य ! अहो भाग्य !! तब अम्बिकाने शंकरसे कहा—देव ! हम सब उस शिशुसे ही पूछने चलें। वह जिसका आश्रय स्वीकार करेगा उसीका पुत्र होगा। ठीक है—ऐसा कहकर वृषध्वज भगवान् शंकर पार्वती, कुटिला तथा बुद्धिमान् पावकके साथ चलनेके लिये उठ खड़े हुए। शंकर, पार्वती, कुटिला एवं पावक शरवणमें गये। इन लोगोंने कृत्तिकाकी गोदमें लेटे हुए उस बालकको देखा ॥ ३५–३८ ॥

ततः स बालकस्तेषां मत्वा चिन्तितमादरात्। योगी चतुर्मूर्तिरभूत् षण्मुखः स शिशुस्त्वपि ॥ ३९ ॥
कुमारः शङ्करमगाद् विशाखो गौरिमागमत्। कुटिलामगमच्छाखो महासेनोऽग्निमभ्ययात् ॥ ४० ॥
ततः प्रीतियुतो रुद्र उमा च कुटिला तथा। पावकश्चापि देवेशः परां मुदमवाप च ॥ ४१ ॥
ततोऽब्रुवन् कृत्तिकास्ताः षण्मुखः किं हरात्मजः। ता अब्रवीद्धरः प्रीत्या विधिवद् वचनं मुने ॥ ४२ ॥

उसके बाद छः मुखोंवाला वह बालक उन लोगोंको चिन्तित जान करके उनमें आदर रखकर बच्चा होते हुए भी योगीके समान कुमार, विशाख, शाख, महासेन—(इन) चार मूर्तियोंवाला हो गया। कुमार शङ्करके, विशाख गिरिजाके, शाख कुटिलाके और महासेन अग्निके समीप चले गये। फिर तो रुद्र, उमा, कुटिला तथा देवेश्वर अग्नि—ये चारों ही अत्यन्त हर्षित हो गये। उसके बाद उन कृत्तिकाओंने पूछा—क्या षड्वदन शङ्करके पुत्र हैं ? मुने ! शङ्करने उन सभीसे प्रेमपूर्वक विधिवत् (आगेका) वचन कहा—॥ ३९–४२ ॥

नाम्ना तु कार्त्तिकेयो हि युष्माकं तनयस्त्वसौ। कुटिलायाः कुमारेति पुत्रोऽयं भविताऽव्ययः ॥ ४३ ॥
स्कन्द इत्येव विख्यातो गौरीपुत्रो भवत्वसौ। गुह इत्येव नाम्ना च ममासौ तनयः स्मृतः ॥ ४४ ॥
महासेन इति ख्यातो हुताशस्यास्तु पुत्रकः। शारद्वत इति ख्यातः सुतः शरवणस्य च ॥ ४५ ॥
एवमेष महायोगी पृथिव्यां ख्यातिमेष्यति। षडास्यत्वान्महाबाहुः षण्मुखो नाम गीयते ॥ ४६ ॥

कृत्तिकाओ ! 'कार्त्तिकेय' नामसे ये तुम्हारे पुत्र होंगे तथा ये अविनाशी 'कुमार' नामसे कुटिलाके पुत्र होंगे। ये ही 'स्कन्द' नामसे विख्यात गौरीके पुत्र होंगे तथा 'गुह' नामसे मेरे पुत्र होंगे। 'महासेन' नामसे ये अग्निके प्रख्यात पुत्र होंगे तथा 'शारद्वत'—इस नामसे विख्यात ये शरवणके पुत्र होंगे। इस प्रकार ये महायोगी भूमण्डलमें विख्यात होंगे। छः मुखवाले होनेके कारण ये महाबाहु षण्मुख नामसे प्रसिद्ध होंगे ॥ ४३–४६ ॥

इत्येवमुक्त्वा भगवाञ्शूलपाणिः पितामहम्। सस्मार दैवतैः सार्द्धं तेऽप्याजग्मुस्त्वरान्विताः ॥ ४७ ॥
प्रणिपत्य च कामारिमुमां च गिरिनन्दिनीम्। दृष्ट्वा हुताशनं प्रीत्या कुटिलां कृत्तिकास्तथा ॥ ४८ ॥
ददृशुर्बालमत्युग्रं षण्मुखं सूर्यसंनिभम्। मुष्णन्तमिव चक्षूंषि तेजसा स्वेन देवताः ॥ ४९ ॥
कौतुकाभिवृताः सर्वे एवमूचुः सुरोत्तमाः। देवकार्यं त्वया देव कृतं देव्याऽग्निना तथा ॥ ५० ॥

इस प्रकार कहकर शूलपाणि शङ्करने देवताओंके साथ पितामह ब्रह्माका स्मरण किया । वे सभी सहसा वहाँ आ गये और कामरिपु शङ्कर तथा गिरिनन्दिनी पार्वतीको प्रणामकर एवं अग्निदेव, कुटिला और कृत्तिकाओंको स्नेहपूर्वक देखकर उन देवोंने अतिशय दीप्तिमान् सूर्यके सदृश एवं अपने तेजसे सभीके नेत्रोंको चकाचौंधमें डालनेवाले उस षडानन बालकको देखा । प्रसन्नतासे भरे उन श्रेष्ठ देवोंने कहा—देव ! आपने, देवीने एवं अग्निने देवताओंका कार्य सम्पन्न कर दिया ॥ ४७–५० ॥

तदुत्तिष्ठ व्रजामोऽद्य तीर्थमौजसमव्ययम् । कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यामभिषिञ्चाम षण्मुखम् ॥ ५१ ॥
सेनायाः पतिरस्त्वेष देवगन्धर्वकिंनराः । महिषं घातयत्वेष तारकं च सुदारुणम् ॥ ५२ ॥
बाढमित्यब्रवीच्छर्वः समुत्तस्थुः सुरास्ततः । कुमारसहिता जग्मुः कुरुक्षेत्रं महाफलम् ॥ ५३ ॥
तत्रैव देवताः सेन्द्रा रुद्रब्रह्मजनार्दनाः । यत्नमस्याभिषेकार्थे चक्रुर्मुनिगणैः सह ॥ ५४ ॥

तो आप उठें । अब हमलोग अविनाशी औजस तीर्थको चलें । कुरुक्षेत्रमें चलकर सरस्वती (नदी) में हमलोग षण्मुखका अभिषेक करें । देवो, गन्धर्वो और किन्नरो ! ये हमारे सेनापति बनें और महिष तथा भयंकर तारकका संहार करें । शङ्करने कहा—बहुत अच्छा । उसके बाद सभी देवता उठे और कुमारके साथ महान् फलदायी कुरुक्षेत्रमें चले गये । वहीं मुनियोंके साथ इन्द्र, रुद्र, जनार्दन आदि समस्त देवताओंने उस कुमारके अभिषेकका उपाय किया ॥ ५१–५४ ॥

ततोऽम्बुना सप्तसमुद्रवाहिनी नदीजलेनापि महाफलेन ।
वरौषधीभिश्च सहस्रमूर्तिभिस्तदाभ्यषिञ्चन् गुहमच्युताद्याः ॥ ५५ ॥
अभिषिञ्चति सेनान्यां कुमारे दिव्यरूपिणि । जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ५६ ॥
अभिषिक्तं कुमारं च गिरिपुत्री निरीक्ष्य हि । स्नेहादुत्सङ्गगं स्कन्दं मूर्ध्न्यजिघ्रन्मुहुर्मुहुः ॥ ५७ ॥
जिघ्रती कार्तिकेयस्य अभिषेकार्द्रमाननम् । भात्यद्रिजा यथेन्द्रस्य देवमाताऽदितिः पुरा ॥ ५८ ॥

उसके बाद अच्युत (विष्णु) आदि देवताओंने (सरस्वतीके तथा) सातों समुद्रोंमें मिलकर बहनेवाली नदियोंके महान् फलदायक जलसे एव सहस्रों प्रकारकी उत्तमोत्तम ओषधियोंसे गुहका (सेनापतिके पदपर) अभिषेक किया । दिव्य रूप धारण करनेवाले सेनापति कुमारके अभिषिक्त हो जानेपर गन्धर्वराज गाने लगे एवं अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । गिरिजाने कुमारको अभिषिक्त देखकर स्नेहसे गोदमें ले लिया और वे बार-बार उनके सिरको सूँघने लगीं । अभिषेकसे आर्द्र हुए कार्तिकेयके मुखको (आशीर्वाद देनेकी प्रक्रियामें) सूँघती हुई पार्वती पूर्वकालमें (आशीर्वाद देती हुई) इन्द्रके मुखको सूँघनेवाली देवमाता अदिति-जैसी सुशोभित हुई ॥ ५५–५८ ॥

तदाऽभिषिक्तं तनयं दृष्ट्वा शर्वो मुदं ययौ । पावकः कृत्तिकाश्चैव कुटिला च यशस्विनी ॥ ५९ ॥
ततोऽभिषिक्तस्य हरः सेनापत्ये गुहस्य तु । प्रमथांश्चतुरः प्रादाच्छक्रतुल्यपराक्रमान् ॥ ६० ॥
घण्टाकर्णं लोहिताक्षं नन्दिसेनं च दारुणम् । चतुर्थं बलिनां मुख्यं ख्यातं कुमुदमालिनम् ॥ ६१ ॥
हरदत्तान् गणान् दृष्ट्वा देवाः स्कन्दस्य नारद । प्रददुः प्रमथान् स्वान् स्वान् सर्वे ब्रह्मपुरोगमाः ॥ ६२ ॥

उसके बाद शङ्कर, पावक, कृत्तिकाएँ एवं यशस्विनी कुटिला (—ये सभी) अपने पुत्रको अभिषिक्त देखकर अत्यन्त हर्षित हुए । उसके बाद शङ्करने सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किये गये गुहको इन्द्रके सदृश शक्तिवाले चार प्रमथों—घण्टाकर्ण, लोहिताक्ष, दारुण नन्दिसेन और चौथे बलवानोंमें श्रेष्ठ विख्यात कुमुदमालीको दिया । नारदजी ! शङ्करद्वारा दिये गये गणोंको देखकर ब्रह्मा आदि सभी देवताओंने (सेनापति) स्कन्दके लिये अपने-अपने प्रमथोंको (भी) दे दिया ॥ ५९–६२ ॥

*

स्थाणुं ब्रह्मा गणं प्रादाद् विष्णुः प्रादाद् गणत्रयम्। संक्रमं विक्रमं चैव तृतीयं च पराक्रमम्॥ ६३॥
उत्केशं पङ्कजं शक्रो रविर्दण्डकपिङ्गलौ। चन्द्रो मणिं वसुमणिमश्विनौ वत्सनन्दिनौ॥ ६४॥
ज्योतिर्हुताशनः प्रादाज्ज्वलज्जिह्वं तथापरम्। कुन्दं मुकुन्दकुसुमं त्रीन् धाताऽनुचरान् ददौ॥ ६५॥
चक्रानुचक्रौ त्वष्टा च वेधातिस्थिरसुस्थिरौ। पाणित्यजं कालकञ्च प्रादात् पूषा महाबलौ॥ ६६॥

ब्रह्माने अपने गण स्थाणुको दिया और विष्णुने संक्रम, विक्रम और पराक्रम नामके तीन गणोंको दिया। इन्द्रने उत्केश और पङ्कजको, रविने दण्डक और पिङ्गलको, चन्द्रमाने मणि एवं वसुमणिको, अश्विनीकुमारोंने वत्स और नन्दीको दिया। अग्निने ज्योति तथा दूसरे ज्वलजिह्वको दिया। धाताने कुन्द, मुकुन्द तथा कुसुम नामके तीन अनुचरोंको दिया। त्वष्टाने चक्र और अनुचक्रको, वेधाने अतिस्थिर और सुस्थिरको एवं पूषाने महाबलशाली पाणित्यज तथा कालकको दिया॥ ६३—६६॥

स्वर्णमालं घनाह्वं च हिमवान् प्रमथोत्तमौ। प्रादाद्देवोच्छ्रितो विन्ध्यस्त्वतिशृङ्गं च पार्षदम्॥ ६७॥
सुवर्चसं च वरुणः प्रददौ चातिवर्चसम्। संग्रहं विग्रहं चाब्धिर्नागा जयमहाजयौ॥ ६८॥
उन्मादं शङ्कुकर्णं च पुष्पदन्तं तथाऽम्बिका। घसं चातिघसं वायुः प्रादादनुचरावुभौ॥ ६९॥
परिघं चटकं भीमं दहतिदहनौ तथा। प्रददावंशुमान् पञ्च प्रमथान् षण्मुखाय हि॥ ७०॥

हिमालयने प्रमथोंमें श्रेष्ठ स्वर्णमाल और घनाह्वको तथा ऊँचे विन्ध्याचलने अतिशृङ्ग नामक पार्षदको दिया। वरुणने सुवर्चा एवं अतिवर्चाको, समुद्रने संग्रह तथा विग्रहको एवं नागोंने जय तथा महाजयको दिया। अम्बिकाने उन्माद, शङ्कुकर्ण और पुष्पदन्तको तथा पवनने घस और अतिघस नामके दो अनुचरोंको दिया। अंशुमान्‌ने षडाननको परिघ, चटक, भीम, दहति तथा दहन नामके पाँच प्रमथोंको दिया॥ ६७—७०॥

यमः प्रमाथमुन्माथं कालसेनं महामुखम्। तालपत्रं नाडिजङ्घं षडेवानुचरान् ददौ॥ ७१॥
सुप्रभं च सुकर्माणं ददौ धाता गणेश्वरौ। सुव्रतं सत्यसन्धं च मित्रः प्रादाद् द्विजोत्तम॥ ७२॥
अनन्तः शङ्कुपीठश्च निकुम्भः कुमुदोऽम्बुजः। एकाक्षः कुनटी चक्षुः किरीटी कलशोदरः॥ ७३॥
सूचीवक्त्रः कोकनदः प्रहासः प्रियकोऽच्युतः। गणाः पञ्चदशैते हि यक्षैर्दत्ता गुहस्य तु॥ ७४॥

यमराजने प्रमाथ, उन्माथ, कालसेन, महामुख, तालपत्र और नाडिजङ्घ नामके छः अनुचरोंको दिया। द्विजोत्तम! धाताने सुप्रभ और सुकर्मा नामके दो गणेश्वरोंको तथा मित्रने सुव्रत तथा सत्यसन्ध नामके दो अनुचरोंको दिया। यक्षोंने अनन्त, शङ्कुपीठ, निकुम्भ, कुमुद, अम्बुज, एकाक्ष, कुनटी, चक्षु, किरीटी, कलशोदर, सूचीवक्त्र, कोकनद, प्रहास, प्रियक एवं अच्युत—इन पंद्रह गणोंको कार्तिकेयको दे दिया॥ ७१—७४॥

कालिन्द्याः कालकन्दश्च नर्मदाया रणोत्कटः। गोदावर्याः सिद्धयात्रस्तमसायाद्रिकम्पकः॥ ७५॥
सहस्रबाहुः सीताया वञ्जुलायाः सितोदरः। मन्दाकिन्यास्तथा नन्दो विपाशायाः प्रियंकरः॥ ७६॥
ऐरावत्याश्चतुर्दंष्ट्रः षोडशाक्षो वितस्तया। मार्जारं कौशिकी प्रादात् क्रथक्रौञ्चौ च गौतमी॥ ७७॥
बाहुदा शतशीर्षं च वाहा गोनन्दनन्दिकौ। भीमं भीमरथी प्रादाद् वेगारिं सरयूर्ददौ॥ ७८॥

कालिन्दीने कालकन्दको, नर्मदाने रणोत्कटको, गोदावरीने सिद्धयात्रको एवं तमसाने अद्रिकम्पकको दिया। सीताने सहस्रबाहुको, वञ्जुलाने सितोदरको, मन्दाकिनीने नन्दको एवं विपाशाने प्रियङ्करको दिया। ऐरावतीने चतुर्दंष्ट्रको, वितस्ताने षोडशाक्षको, कौशिकीने मार्जारको एवं गौतमीने क्रथ और क्रौञ्चको दिया। बाहुदाने शतशीर्षको, वाहाने गोनन्द और नन्दिकको, भीमरथीने भीमको और सरयूने वेगारिको दिया॥ ७५—७८॥

अष्टबाहुं ददौ काशी सुबाहुमपि गण्डकी। महानदी चित्रदेवं चित्रा चित्ररथं ददौ ॥ ७९ ॥
कुहूः कुवलयं प्रादान्मधुवर्णं मधूदका। जम्बूकं धूतपापा च वेणा श्वेताननं ददौ ॥ ८० ॥
श्रुतवर्णं च पर्णासा रेवा सागरवेगिनम्। प्रभावार्थं सहं प्रादात् काञ्चना कनकेक्षणम् ॥ ८१ ॥
गृध्रपत्रं च विमला चारुवक्त्रं मनोहरा। धूतपापा महारावं कर्णा विद्रुमसंनिभम् ॥ ८२ ॥

काशीने अष्टबाहुको, गण्डकीने सुबाहुको, महानदीने चित्रदेवको तथा चित्राने चित्ररथको दिया। कुहूने कुवलयको, मधूदकाने मधुवर्णको, धूतपापाने जम्बूकको और वेणाने श्वेताननको समर्पित किया। पर्णासाने श्रुतवर्णको, रेवाने सागरवेगीको, प्रभावाने अर्थ और सहको एवं काञ्चनाने कनकेक्षणको दिया। विमलाने गृध्रपत्रको, मनोहराने चारुवक्त्रको, धूतपापाने महारावको एवं कर्णाने विद्रुमसन्निभको दिया ॥ ७९-८२ ॥

सुप्रसादं सुवेणुश्च जिष्णुमोघवती ददौ। यज्ञबाहुं विशाला च सरस्वत्यो ददुर्गणान् ॥ ८३ ॥
कुटिला तनयस्यादाद् दश शक्रबलान् गणान्। करालं सितकेशं च कृष्णकेशं जटाधरम् ॥ ८४ ॥
मेघनादं चतुर्दंष्ट्रं विद्युज्जिह्वं दशाननम्। सोमाप्यायनमेवोग्रं देवयाजिनमेव च ॥ ८५ ॥
हंसास्यं कुण्डजठरं बहुग्रीवं हयाननम्। कूर्मग्रीवं च पञ्चैतान् ददुः पुत्राय कृत्तिकाः ॥ ८६ ॥

सुवेणुने सुप्रसादको और ओघवतीने जिष्णुको प्रदान किया। विशालाने यज्ञबाहुको दिया। इस प्रकार इन सरस्वती आदि नदियोंने अनेक गणोंको दिया। कुटिलाने अपने पुत्र (उन)को कराल, सितकेश, कृष्णकेश, जटाधर, मेघनाद, चतुर्दंष्ट्र, विद्युज्जिह्व, दशानन, सोमाप्यायन एवं उग्र देवयाजी नामके दस गणोंको दिया। कृत्तिकाओंने अपने पुत्रको हंसास्य, कुण्डजठर, बहुग्रीव, हयानन तथा कूर्मग्रीव—इन पाँच अनुचरोंको प्रदान किया ॥ ८३-८६ ॥

स्थाणुजङ्घं कुम्भवक्त्रं लोहजङ्घं महाननम्। पिण्डाकारं च पञ्चैतान् ददुः स्कन्दाय चर्षयः ॥ ८७ ॥
नागजिह्वं चन्द्रभासं पाणिकूर्मं शशीक्षकम्। चापवक्त्रं च जम्बूकं ददौ तीर्थः पृथूदकः ॥ ८८ ॥
चक्रतीर्थं सुचक्राक्षं मकराक्षं गयाशिरः। गणं पञ्चशिखं नाम ददौ कनखलः स्वकम् ॥ ८९ ॥
बन्धुदत्तं वाजिशिरो बाहुशालं च पुष्करम्। सर्वौजसं माहिषकं मानसः पिङ्गलं यथा ॥ ९० ॥

ऋषियोंने स्कन्दको स्थाणुजङ्घ, कुम्भवक्त्र, लोहजङ्घ, महानन और पिण्डाकार—इन पाँच अनुचरोंको दिया। पृथूदक तीर्थने नागजिह्व, चन्द्रभास, पाणिकूर्म, शशीक्षक, चापवक्त्र तथा जम्बूक नामके अनुचरोंको दिया। चक्रतीर्थने सुचक्राक्ष तथा गयाशिरने मकराक्षको और कनखलने पञ्चशिख नामके अपने गणोंको दिया। वाजिशिरने बन्धुदत्त और पुष्करने बाहुशालको तथा मानसने सर्वौजस, माहिषक और पिङ्गलको दिया ॥ ८७-९० ॥

रुद्रमौशनसः प्रादात् ततोऽन्ये मातरो ददुः। वसुदामां सोमतीर्थः प्रभासो नन्दिनीमपि ॥ ९१ ॥
इन्द्रतीर्थं विशोकां च उदपानो घनस्वनाम्। सप्तसारस्वतः प्रादान्मातरश्चतुरोऽद्भुताः ॥ ९२ ॥
गीतप्रियां माधवीं च तीर्थनेमिं सितानानाम्। एकचूडां नागतीर्थः कुरुक्षेत्रं पलासदाम् ॥ ९३ ॥
ब्रह्मयोनिश्चण्डशिलां भद्रकालीं त्रिविष्टपः। चौण्डीं भैण्डीं योगभैण्डीं प्रादाच्चरणपावनः ॥ ९४ ॥

औशनसने रुद्रको प्रदान किया तथा अन्योंने मातृकाओंको दिया। सोमतीर्थने वसुदामाको और प्रभासने नन्दिनीको तथा इन्द्रतीर्थने विशोकाको अर्पित किया। उदपानने घनस्वनाको एवं सप्तसारस्वतने गीतप्रिया, माधवी, तीर्थनेमि एवं सितानना नामकी चार अद्भुत मातृकाओंको प्रदान किया। नागतीर्थने एकचूडाको एवं कुरुक्षेत्रने पलासदाको दिया। ब्रह्मयोनिने चण्डशिलाको, त्रिविष्टपने भद्रकालीको तथा चरणपावनने चौण्डी, भैण्डी तथा योगभैण्डीको दिया ॥ ९१-९४ ॥

सोपानीयां मही प्रादाच्छालिकां मानसो ह्रदः। शतघण्टां शतानन्दां तथोलूखलमेखलाम् ॥ ९५ ॥
पद्मावतीं माधवीं च ददौ बदरिकाश्रमः। सुपमामेकचूडां च देवीं धमधमां तथा ॥ ९६ ॥
उत्क्राथनीं वेदमित्रां केदारो मातरो ददौ। सुनक्षत्रां कद्रूलां च सुप्रभातां सुमङ्गलाम् ॥ ९७ ॥
देवमित्रां चित्रसेनां ददौ रुद्रमहालयः। कोटरामूर्ध्ववेणीं च श्रीमतीं बहुपुत्रिकाम् ॥ ९८ ॥
पलितां कमलाक्षीं च प्रयागो मातरो ददौ। सूपलां मधुकुम्भां च ख्यातिं दहदहां पराम् ॥ ९९ ॥
प्रादात् खटकटां चान्यां सर्वपापविमोचनः। संतानिकां विकलिकां क्रमश्चत्वरवासिनीम् ॥१००॥

महीने सोपानीयाको, मानसह्रदने शालिकाको एवं बदरिकाश्रमने शतघण्टा, शतानन्दा, उलूखलमेखला, पद्मावती और माधवीको प्रदान किया। केदारतीर्थने सुपमा, एकचूडा, धमधमादेवी, उत्क्राथनी तथा वेदमित्रा नामक मातृकाओंको दिया। रुद्रमहालयने सुनक्षत्रा, कद्रूला, सुप्रभाता, सुमङ्गला, देवमित्रा और चित्रसेनाको दिया। प्रयागने कोटरा, ऊर्ध्ववेणी, श्रीमती, बहुपुत्रिका, पलिता तथा कमलाक्षी नामकी मातृकाओंको अर्पित किया। सर्वपापविमोचनने सूपला, मधुकुम्भा, ख्याति, दहदहा, परा और खटकटाको समर्पित किया। क्रमने सन्तानिका, विकलिका और चत्वरवासिनीको प्रदान किया ॥ ९५–१०० ॥

जलेश्वरीं कुक्कुटिकां सुदामां लोहमेखलाम्।
वपुष्मत्युल्मुकाक्षी च कोकनामा महाशनी। रौद्रा कर्कटिका तुण्डा श्वेततीर्थो ददौ त्विमाः ॥१०१॥
एतानि भूतानि गणांश्च मातरो दृष्ट्वा महात्मा विनतातनूजः।
ददौ मयूरं स्वसुतं महाजवं तथाऽरुणस्ताम्रचूडं च पुत्रम् ॥१०२॥
शक्तिं हुताशोऽद्रिसुता च वस्त्रं दण्डं गुरुः सा कुटिला कमण्डलुम्।
मालां हरिः शूलधरः पताकां कण्ठे च हारं मघवानुरस्तः ॥१०३॥
गणैर्वृतो मातृभिरन्वयातो मयूरसंस्थो वरशक्तिपाणिः।
सैन्याधिपत्ये स कृतो भवेन रराज सूर्येव महावपुष्मान् ॥१०४॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

श्वेततीर्थने तो जलेश्वरी, कुक्कुटिका, सुदामा, लोहमेखला, वपुष्मती, उल्मुकाक्षी, कोकनामा, महाशनी, रौद्रा, कर्कटिका और तुण्डा—इन अनुचरियोंको दिया। इन भूतों, गणों और मातृकाओंको देखकर विनतापुत्र महात्मा गरुड़ने अपने पुत्र महावेगशाली मयूरको समर्पित किया और अरुणने अपने पुत्र ताम्रचूडको प्रदान कर दिया। अग्निने शक्ति, पार्वतीने वस्त्र, बृहस्पतिने दण्ड, उस कुटिलाने कमण्डलु, विष्णुने माला, शङ्करने पताका तथा इन्द्रने अपने हृदयका हार कार्त्तिकेयके कण्ठमें अर्पित कर दिया। गणोंसे युक्त, मातृकाओंसे अनुसरित, मयूरपर बैठे एवं श्रेष्ठ शक्तिको हाथमें लिये हुए महाशरीरधारी वे कुमार (कार्त्तिकेय) शंकरके द्वारा सैन्याधिपतिके पदपर अभिषिक्त होकर (और उपहार पाकर) सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ १०१–१०४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

[अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

सेनापत्येऽभिषिक्तस्तु कुमारो दैवतैरथ । प्रणिपत्य भवं भक्त्या गिरिजां पावकं शुचिम् ॥ १ ॥
षट् कृत्तिकाश्च शिरसा प्रणम्य कुटिलामपि । ब्रह्माणं च नमस्कृत्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अट्ठावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सेनापतिपदपर नियुक्त कार्तिकेयके लिये ऋषियोंद्वारा स्वस्त्ययन, तारक-विजयके लिये प्रस्थान, पातालकेतुका वृत्तान्त, तारक महिषासुर-वध तथा मुचकाक्षको वर)

पुलस्त्यजी बोले—जब शङ्कर एवं देवताओंने देवताओंके सेनापतिके पदपर कुमार कार्तिकेयका अभिषेक किया तब उक्त पदपर अभिषिक्त कुमारने भक्तिपूर्वक शङ्कर, पार्वती और पवित्र अग्निको प्रणाम किया । उसके बाद छः कृत्तिकाओं एवं कुटिलाको भी सिर झुकाकर प्रणाम करके ब्रह्माको नमस्कार कर यह वचन कहा ॥१-२॥

कुमार उवाच

नमोऽस्तु भवतां देवा ओं नमोऽस्तु तपोधनाः । युष्मत्प्रसादाज्जेष्यामि शत्रू महिषतारकौ ॥ ३ ॥
शिशुरस्मि न जानामि वक्तुं किंचन देवताः । दीयतां ब्रह्मणा सार्द्धमनुज्ञा मम साम्प्रतम् ॥ ४ ॥
इत्येवमुक्ते वचने कुमारेण महात्मना । मुखं निरीक्षन्ति सुराः सर्वे विगतसाध्वसाः ॥ ५ ॥
शङ्करोऽपि सुतस्नेहात् समुत्थाय प्रजापतिम् । आदाय दक्षिणे पाणौ स्कन्दान्तिकमुपागतम् ॥ ६ ॥
अथोमा प्राह तनयं पुत्र एह्येहि शत्रुहन् । वन्दस्व चरणौ दिव्यौ विष्णोर्लोकनमस्कृतौ ॥ ७ ॥

कुमारने कहा—देवताओ ! आपलोगोंको नमस्कार है । तपोधनो ! आपलोगोंको ओंकारके साथ नमस्कार (ॐ नमः) है । आपलोगोंकी अनुकम्पासे मैं महिष एवं तारक दोनों शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा । देवताओ ! मैं शिशु हूँ, मैं बोलना नहीं जानता । ब्रह्माके सहित आपलोग इस समय मुझे अनुमति दें । महात्मा कुमारके इस प्रकार कहनेपर सभी देवता निडर होकर उनका मुख देखने लगे । भगवान् शङ्कर पुत्रके स्नेहवश उठे और ब्रह्माको अपने दाहिने हाथसे पकड़कर स्कन्दके समीप ले आये । उसके बाद उमाने पुत्रसे कहा—शत्रुको मारनेवाले ! आओ ! आओ ! संसारसे वन्दित विष्णुके दिव्य चरणोंको प्रणाम करो ॥ ३–७ ॥

ततो विहस्याह गुहः कोऽयं मातर्वदस्व माम् । यस्यादरात् प्रणामोऽयं क्रियते मद्विधैर्जनैः ॥ ८ ॥
तं माता प्राह वचनं कृते कर्मणि पद्मभूः । वक्ष्यते तव योऽयं हि महात्मा गरुडध्वजः ॥ ९ ॥
केवलं त्विह मां देवस्त्वत्पिता प्राह शङ्करः । नान्यः परतरोऽस्माद्धि वयमन्ये च देहिनः ॥ १० ॥
पार्वत्या गदिते स्कन्दः प्रणिपत्य जनार्दनम् । तस्थौ कृताञ्जलिपुटस्त्वाज्ञां प्रार्थयतेऽच्युतात् ॥ ११ ॥
कृताञ्जलिपुटं स्कन्दं भगवान् भूतभावनः । कृत्वा स्वस्त्ययनं देवो ह्यनुज्ञां प्रददौ ततः ॥ १२ ॥

उसके बाद कार्तिकेयने हँसकर कहा—हे माता ! मुझे स्पष्ट बतलाओ कि ये कौन हैं, जिन्हें हमारे-जैसे (अन्य) व्यक्ति भी प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं ? माताने उनसे कहा—ये महात्मा गरुडध्वज कौन हैं, यह तुम्हें कार्य कर लेनेपर ब्रह्मा ही बतलायेंगे । तुम्हारे पिता शङ्करदेवने मुझसे केवल यही बतलाया कि इनसे बढ़कर हमलोग या अन्य कोई शरीरधारी नहीं हैं । पार्वतीके स्पष्टतः कहनेपर कार्तिकेयने जनार्दनको प्रणाम किया एवं दोनों हाथोंको जोड़-कर वे खड़े हो गये और भगवान् अच्युतसे आज्ञा माँगने लगे । लोकस्रष्टा भगवान् विष्णुने हाथ जोड़े हुए स्कन्दका स्वस्त्ययन कर उन्हें आज्ञा दी ॥ ८–१२ ॥

नारद उवाच

यत्तत् स्वस्त्ययनं पुण्यं कृतवान् गरुडध्वजः। शिखिध्वजाय विप्रर्षे तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १३ ॥

नारदने कहा—विप्रर्षे ! गरुडध्वज विष्णुने मयूरध्वज कार्तिकेयके लिये जिस पवित्र स्वस्त्ययनका पाठ किया, उसे आप मुझसे कहे ॥ १३ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणु स्वस्त्ययनं पुण्यं यत्प्राह भगवान् हरिः। स्कन्दस्य विजयार्थाय महिषस्य वधाय च ॥ १४ ॥
स्वस्ति ते कुरुतां ब्रह्मा पद्मयोनी रजोगुणः। स्वस्ति चक्राङ्कितकरो विष्णुस्ते विदधात्वजः ॥ १५ ॥
स्वस्ति ते शङ्करो भक्त्या सपत्नीको वृषध्वजः। पावकः स्वस्ति तुभ्यं च करोतु शिखिवाहन ॥ १६ ॥
दिवाकरः स्वस्ति करोतु तुभ्यं सोमः सभौमः सबुधो गुरुश्च।
काव्यः सदा स्वस्ति करोतु तुभ्यं शनैश्चरः स्वस्त्ययनं करोतु ॥ १७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) स्कन्दकी विजय एवं महिषके वधके लिये भगवान् विष्णुद्वारा कहे गये मङ्गलमय स्वस्तिवाचन–स्वस्त्ययनको सुनिये । (विष्णुने जो स्वस्त्ययन-पाठ किया, वह इस प्रकार है—) रजोगुणसे सम्पन्न कमलयोनि ब्रह्मा तुम्हारा कल्याण करें । हाथमे चक्र धारण करनेवाले अजन्मा विष्णु तुम्हारा मङ्गल करें । पत्नीसहित वृषभध्वज शङ्कर प्रेमपूर्वक तुम्हारा मङ्गल करें । मयूरवाहन ! अग्निदेव तुम्हारा कल्याण करें । सूर्य तुम्हारा मङ्गल करें, भौमसहित सोम तथा बुधसहित बृहस्पति तुम्हारा मङ्गल करें । शुक्र सदैव तुम्हारा मङ्गल करें तथा शनैश्चर तुम्हारा मङ्गल करें ॥ १४–१७ ॥

मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुर्वसिष्ठो भृगुरङ्गिराश्च।
मृकण्डुजस्ते कुरुतां हि स्वस्ति स्वस्ति सदा सप्त महर्षयश्च ॥ १८ ॥
विश्वेऽश्विनौ साध्यमरुद्गणाग्नयो दिवाकराः शूलधरा महेश्वराः।
यक्षाः पिशाचा वसवोऽथ किन्नरास्ते स्वस्ति कुर्वन्तु सदोद्यतास्त्वमी ॥ १९ ॥
नागाः सुपर्णाः सरितः सरांसि तीर्थानि पुण्यायतनाः समुद्राः।
महाबला भूतगणा गणेन्द्रास्ते स्वस्ति कुर्वन्तु सदा समुद्यताः ॥ २० ॥
स्वस्ति द्विपादिकेभ्यस्ते चतुष्पादेभ्य एव च। स्वस्ति ते बहुपादेभ्यस्त्वपादेभ्योऽप्यनामयम् ॥ २१ ॥

मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, वसिष्ठ, भृगु, अङ्गिरा, मार्कण्डेय—ये ऋषि तुम्हारा मङ्गल करें । सप्तर्षिगण तुम्हारा सदा मङ्गल करें । विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, साध्य, मरुद्गण, अग्नि, सूर्य, शूलधर, महेश्वर, यक्ष, पिशाच, वसु और किन्नर—ये सब तत्परतासे सदा तुम्हारा मङ्गल करें । नाग, पक्षी, नदियाँ, सरोवर, तीर्थ, पवित्र देवस्थान, समुद्र, महाबलशाली भूतगण तथा विनायकगण सदा तत्पर होकर तुम्हारा मङ्गल करें । दो पैरवाले एवं चार पैरवालोंसे तुम्हारा मङ्गल हो । बहुत पैरवालोंद्वारा तुम्हारा मङ्गल हो एवं बिना पैरवालोंसे तुम्हारी स्वस्थता बनी रहे—तुम नीरोग बने रहो ॥ १८–२१ ॥

प्राचीं दिग् रक्षतां वज्री दक्षिणां दण्डनायकः। पाशी प्रतीचीं रक्षतु लक्ष्मांशुः पातु चोत्तराम् ॥ २२ ॥
वह्निर्दक्षिणपूर्वां च कुबेरो दक्षिणापराम्। प्रतीचीमुत्तरां वायुः शिवः पूर्वोत्तरामपि ॥ २३ ॥
उपरिष्टाद् ध्रुवः पातु अधस्ताच्च धराधरः। मुसली लाङ्गली चक्री धनुष्मानन्तरेषु च ॥ २४ ॥
वाराहोऽम्बुनिधौ पातु दुर्गे पातु नृकेसरी। सामवेदध्वनिः श्रीमान् सर्वतः पातु माधवः ॥ २५ ॥

वज्र धारण करनेवाले (इन्द्र) पूर्व दिशाकी, दण्डनायक (यम) दक्षिण दिशाकी, पाश-धारी (वरुण) पश्चिम दिशाकी तथा चन्द्रमा उत्तर दिशाकी रक्षा करें । अग्नि अग्नि-(पूर्व-दक्षिण-) कोणकी, कुबेर नैर्ऋत्य

-(दक्षिण-पश्चिम-) कोणकी, वायुदेव वायव्य-(पश्चिम-उत्तर-) कोणकी और शिव ईशान-(उत्तर-पूर्व-) कोणकी (रक्षा करें) । ऊपरकी ओर ध्रुव, नीचेकी ओर पृथिवीको धारण करनेवाले शेषनाग एवं बीचके स्थानोंमें मुसल, हल, चक्र तथा धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णु रक्षा करें । समुद्रमें वाराह, दुर्गम स्थानमें नरसिंह तथा सभी ओरसे सामवेदके ध्वनि-रूप श्रीमान् श्रीलक्ष्मीकान्त माधव तुम्हारी रक्षा करें ॥ २२—२५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं कृतस्वस्त्ययनो गुहः शक्तिधरोऽग्रणीः । प्रणिपत्य सुरान् सर्वान् समुत्पपात भूतलात् ॥ २६ ॥
तमन्वेव गणाः सर्वे दत्ता ये मुदितैः सुरैः । अनुजग्मुः कुमारं ते कामरूपा विहङ्गमाः ॥ २७ ॥
मातरश्च तथा सर्वाः समुत्पेतुर्नभस्तलम् । समं स्कन्देन बलिना हन्तुकामा महासुरान् ॥ २८ ॥
ततः सुदीर्घमध्वानं गत्वा स्कन्दोऽब्रवीद् गणान् । भूम्यां तूर्णं महावीर्याः कुरुध्वमवतारणम् ॥ २९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार स्वस्त्ययन सम्पन्न हो जानेपर शक्ति धारण करनेवाले सेनापति कार्तिकेयजी सभी देवताओंको प्रणामकर भूतलसे आकाशकी ओर उड़ चले । प्रसन्न होकर देवताओंने जिन गणोंको गुहके लिये दिया था, उन इच्छानुकूल रूप धारण करनेवाले सभी गणोंने पक्षीका रूप धारण कर कुमारका अनुगमन किया । सभी माताएँ भी पराक्रमी स्कन्दके साथ महान् असुरोंके वधके लिये आकाशमें उड़ चलीं । उसके बाद बहुत दूर जानेपर स्कन्दने गणोंसे कहा—महापराक्रमियो ! तुमलोग शीघ्र ही पृथ्वीपर उतर जाओ ॥ २६—२९ ॥

गणा गुहवचः श्रुत्वा अवतीर्य महीतलम् । आरात् पतन्तस्तद्देशं नादं चक्रुर्भयंकरम् ॥ ३० ॥
तन्निनादो महीं सर्वामापूर्य च नभस्तलम् । विवेशार्णवरन्ध्रेण पातालं दानवालयम् ॥ ३१ ॥
श्रुतः स महिषेणाथ तारकेण च धीमता । विरोचनेन जम्भेन कुजम्भेनासुरेण च ॥ ३२ ॥
ते श्रुत्वा सहसा नादं वज्रपातोपमं दृढम् । किमेतदिति संचिन्त्य तूर्णं जग्मुस्तदान्धकम् ॥ ३३ ॥

गुहकी बात सुनकर सभी गण पृथ्वीपर उतर आये । उतरकर उस स्थानपर उन गणोंने एकाएक भयंकर नाद किया । वह भयंकर नाद सारी पृथ्वी एवं गगनमण्डलमें गूँज गया । फिर तो वह समुद्री छिद्रसे दानवोंके निवासस्थान पाताललोक-(तक-)में पहुँच गया । उसके बाद मतिमान् महिष, तारक, विरोचन, जम्भ तथा कुजम्भ आदि असुरोंने उस ध्वनिको सुना । एकाएक वज्रपातके समान उस भयंकर ध्वनिको सुनकर यह क्या है—यह सोचकर वे सभी शीघ्रतासे अन्धकके पास चले गये ॥ ३० -३३ ॥

ते समेत्यान्धकेनैव समं दानवपुङ्गवाः । मन्त्रयामासुरुद्विग्नास्तं शब्दं प्रति नारद ॥ ३४ ॥
मन्त्रयत्सु च दैत्येषु भूतलात् सूकराननः । पातालकेतुर्दैत्येन्द्रः सम्प्राप्तोऽथ रसातलम्॥ ३५ ॥
स बाणविद्धो व्यथितः कम्पमानो मुहुर्मुहुः । अब्रवीद् वचनं दीनं समभ्येत्यान्धकासुरम् ॥ ३६ ॥

नारदजी ! वे सभी असुरश्रेष्ठ व्याकुल होकर अन्धकके साथ ही एकत्र होकर उस शब्दके विषयमें परस्पर विचार-विमर्श करने लगे । उन दैत्योंके विचार करते समय सूकर-जैसे मुखवाला दैत्यश्रेष्ठ पातालकेतु धरातलसे रसातलमें आया । बाणसे विद्ध होनेके कारण व्यथित होकर वह बारम्बार काँपता हुआ अन्धकासुरके पास आकर दैन्य वचन बोला—॥ ३४—३६ ॥

पातालकेतुरुवाच

गतोऽहमासं दैत्येन्द्र गालवस्याश्रमं प्रति । तं विध्वंसयितुं यत्नं समारब्धं बलान्मया ॥ ३७ ॥
यावत्सूकररूपेण प्रविशामि तमाश्रमम् । न जाने तं नरं राजन् येन मे प्रहितः शरः ॥ ३८ ॥

शरसंभिन्नजत्रुश्च भयात् तस्य महाजवः। प्रणष्ट आश्रमात् तस्मात् स च मां पृष्ठतोऽन्वगात्॥ ३९॥
तुरङ्गखुरनिर्घोषः श्रूयते परमोऽसुर।
तिष्ठ तिष्ठेति वदतस्तस्य शूरस्य पृष्ठतः। तद्भयादस्मि जलधिं सम्प्राप्तो दक्षिणार्णवम्॥ ४०॥

पातालकेतुने कहा—दैत्येश्वर! मैं गालवके आश्रममें गया था और उसको बलपूर्वक नष्ट करनेका उद्योग करने लगा। राजन्! मैंने सूकरके रूपमें जैसे ही उस आश्रममें प्रवेश किया, वैसे ही पता नहीं, किस मानवने मेरे ऊपर बाण छोड़ दिया। बाणसे हँसलीके टूट जानेपर मैं उसके भयके कारण आश्रमसे तुरंत भागा। पर उसने मेरा पीछा किया। असुर! मेरे पीठ-पीछे आ रहे 'रुको रुको' कहनेवाले उस वीरके घोड़ेकी टापका महान् शब्द सुनायी पड रहा था। उसके भयसे मैं जलनिधि दक्षिण समुद्रमें आ गया॥ ३७–४०॥

यावत्पश्यामि तत्रस्थान् नानावेषाकृतीन् नरान्। केचिद् गर्जन्ति घनवत् प्रतिगर्जन्ति चापरे॥ ४१॥
अन्ये चोचुर्वयं नूनं निघ्नामो महिषासुरम्। तारकं घातयामोऽद्य वदन्त्यन्ये सुतेजसः॥ ४२॥
तच्छ्रुत्वा सुतरां त्रासो मम जातोऽसुरेश्वर। महार्णवं परित्यज्य पतितोऽस्मि भयातुरः॥ ४३॥
धरण्यां विवृतं गर्तं स मामन्वपतद् बली। तद्भयात् सम्परित्यज्य हिरण्यपुरमात्मनः॥ ४४॥
तवान्तिकमनुप्राप्तः प्रसादं कर्तुमर्हसि। तच्छ्रुत्वा चान्धको वाक्यं प्राह मेघस्वनं वचः॥ ४५॥

वहाँ मैंने अनेक प्रकारके पहनावे तथा आकृतिवाले मनुष्योंको देखा। उनमें कुछ तो बादलकी भाँति गर्जन कर रहे थे और कुछ दूसरे उसी प्रकारकी प्रतिध्वनि कर रहे थे। दूसरे कह रहे थे कि हम महिषासुरको निश्चय ही मार डालेंगे और अति तेजस्वी दूसरे लोग कह रहे थे कि आज हम तारकको मारेंगे। असुरेश्वर! उसे सुनकर मुझे बहुत डर हो गया और मैं विशाल समुद्रको छोड़कर भयभीत हो पृथ्वीके नीचे विस्तृत गड्ढे (सुरंग)के रूपमें बने हुए गुप्त मार्गसे भागा। तब भी उस बलशालीने मेरा पीछा किया। उसके डरसे मैं अपना हिरण्यपुर त्यागकर आपके पास आ गया हूँ। आप मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये। यह बात सुनकर अन्धकने बादलकी गर्जनध्वनिमें यह वचन कहा—॥ ४१–४५॥

न भेतव्यं त्वया तस्मात् सत्यं गोप्तास्मि दानव। महिषस्तारकश्चोभौ बाणश्च बलिनां वरः॥ ४६॥
अनाख्यायैव ते वीरास्त्वन्धकं महिषादयः। स्वपरिग्रहसंयुक्ता भूमिं युद्धाय निर्ययुः॥ ४७॥
यत्र ते दारुणाकारा गणाश्चक्रुर्महास्वनम्। तत्र दैत्याः समाजग्मुः सायुधाः सबला मुने॥ ४८॥
दैत्यानापततो दृष्ट्वा कार्तिकेयगणास्ततः। अभ्यद्रवन्त सहसा स चोग्रो मातृमण्डलः॥ ४९॥

दानव! तुम्हें उससे डरना नहीं चाहिये। मैं तुम्हारा सच्चा रक्षक हूँ। उसके बाद महिष और तारक—ये दोनों तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ बाण—ये सभी अन्धकसे बिना पूछे ही अपने अनुगामियोंके साथ युद्ध करनेके लिये पृथ्वीपर निकल आये। मुने! जिस स्थानपर भयंकर आकारवाले गण गर्जन कर रहे थे, उसी स्थानपर हथियारोंसे सजे-धजे दल-बलके साथ दैत्य भी आ गये। इसके बाद दैत्योंको आक्रमण करते हुए देखकर कार्तिकेयके गण तथा उग्र मातृकाएँ (उनपर) सहसा टूट पड़ीं॥ ४६–४९॥

तेषां पुरस्सरः स्थाणुः प्रगृह्य परिघं बली। निषूदयत् परबलं क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव॥ ५०॥
तं निघ्नन्तं महादेवं निरीक्ष्य कलशोदरः। कुठारं पाणिनादाय हन्ति सर्वान् महासुरान्॥ ५१॥
ज्वालामुखो भयकरः करेणादाय चासुरम्। सरथं सगजं साश्वं विस्तृते वदनेऽक्षिपत्॥ ५२॥
दण्डकश्चापि संक्रुद्धः प्रासपाणिर्महासुरम्। सवाहनं प्रक्षिपति समुत्पाट्य महार्णवे॥ ५३॥

उन सबमें सबसे आगे बलशाली स्थाणु भगवान् लोहेकी बनी गदा लेकर क्रोधसे भरकर पशुओंके तुल्य शत्रुओंके सैन्य-बलका संहार करने लगे। असुरोंको मारते हुए महादेवजीको देखकर कलशोदर (भी) हाथमें कुल्हाड़ा लेकर सभी बड़े असुरोंका विनाश करने लगा। भय उत्पन्न कर देनेवाला ज्वालामुख रथ, हाथी और घोड़ोंके साथ असुरोंको हाथसे पकड़-पकड़कर अपने फैलाये हुए मुखमें झोंकने लगा। हाथमें बर्छी लिये हुए दण्डक भी क्रुद्ध होकर महासुरोंको उनके वाहनोंसहित उठाकर समुद्रमें फेंकने लगा ॥ ५०—५३ ॥

शङ्कुकर्णश्च मुसली हलेनाकृष्य दानवान्। संचूर्णयति मन्त्रीव राजानं प्रासभृद् वशी ॥ ५४ ॥
खड्गचर्मधरो वीरः पुष्पदन्तो गणेश्वरः। द्विधा त्रिधा च बहुधा चक्रे दैतेयदानवान् ॥ ५५ ॥
पिङ्गलो दण्डमुद्यम्य यत्र यत्र प्रधावति। तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते राशयः शावदानवैः ॥ ५६ ॥
सहस्रनयनः शूलं भ्रामयन् वै गणाग्रणीः। निजघानासुरान् वीरः सवाजिरथकुञ्जरान् ॥ ५७ ॥

मुसल एवं प्रास लिये हुए जितेन्द्रिय शङ्कुकर्ण दानवोंको हलसे खींच-खींचकर इस प्रकार मटियामेट करने लगा, जैसे मन्त्री (अनाचारी-अविचारी) राजाको नष्ट करता जाता है। तलवार और ढाल धारण करनेवाला गणोंका स्वामी वीर पुष्पदन्त भी दैत्यों एवं दानवोंमें किसीको दो-दो, किसीको तीन-तीन टुकड़ोंमें काट डालता तथा किसी-किसीको तो अनेक खण्डोंमें कर डालता था। पिङ्गल दण्डको उठाकर जहाँ-जहाँ दौड़ता, वहाँ-वहाँ दैत्योंके शवका ढेर दिखलायी पड़ने लगता। गणोंमें श्रेष्ठ वीर सहस्रनयन शूल घुमाते हुए घोड़े, रथ और हाथियोंसहित असुरोंको मार रहा था ॥ ५४—५७ ॥

भीमो भीमशिलावर्षैः स पुरस्सरतोऽसुरान्। निजघान यथैवेन्द्रो वज्रवृष्ट्या नगोत्तमान् ॥ ५८ ॥
रौद्रः शकटचक्राक्षो गणः पञ्चशिखो बली। भ्रामयन् मुद्गरं वेगान्निजघान् बलाद् रिपून् ॥ ५९ ॥
गिरिभेदी तलेनैव सारोहं कुञ्जरं रणे। भस्म चक्रे महावेगो रथं च रथिना सह ॥ ६० ॥
नाडीजङ्घोऽङ्घ्रिपातैश्च मुष्टिभिर्जानुनाऽसुरान्। कीलाभिर्वज्रतुल्याभिर्जघान बलवान् मुने ॥ ६१ ॥

भीम भयङ्कर शिलाओंकी वर्षासे सामने आ रहे असुरोंको इस भाँति मार रहा था, जिस प्रकार इन्द्र वज्रकी वृष्टिसे उत्तम पर्वतोंको ध्वस्त करते हैं। भयङ्कर शकटचक्राक्ष और बलवान् पञ्चशिख नामक गण तेजीसे मुद्गर घुमाते हुए बलपूर्वक शत्रुओंका संहार कर रहे थे। प्रबल वेगवान् गिरिभेदी युद्धमें थप्पड़ोंके भीषण आघातसे ही सवारके साथ हाथीको एवं रथीके सहित रथको चूर्ण-विचूर्ण करने लगा। मुने! बलवान् नाडीजङ्घ पैरों, मुक्कों, घुटनों एवं वज्रके समान कोहनियोंके प्रहारसे असुरोंको मारने लगा ॥ ५८—६१ ॥

कूर्मग्रीवो ग्रीवयैव शिरसा चरणेन च। लुण्ठनेन तथा दैत्यान् निजघान सवाहनान् ॥ ६२ ॥
पिण्डारकस्तु तुण्डेन शृङ्गाभ्यां च कलिप्रिय। विदारयति संग्रामे दानवान् समरोद्धतान् ॥ ६३ ॥
ततस्तत्सैन्यमतुलं वध्यमानं गणेश्वरैः। प्रदुद्रावाथ महिषस्तारकश्च गणाग्रणीः ॥ ६४ ॥
ते हन्यमानाः प्रमथा दानवाभ्यां वरायुधैः। परिवार्य समन्तात् ते युयुधुः कुपितास्तदा ॥ ६५ ॥

कूर्मग्रीव ग्रीवा, सिर एवं पैरोंके प्रहारोंसे तथा धक्का देकर वाहनोंके साथ दैत्योंको मारने लगा। नारदजी! पिण्डारक अपने मुख तथा दोनों सींगोंसे गर्वीले दानवोंको छिन्न-भिन्न करने लगा। इसके बाद गणेश्वरोंद्वारा उस असीम सेनाके दलोंको मारा जाता देख गणनायक महिष एवं तारक दौड़े। उन दोनों दानवोंद्वारा उत्तम-से-उत्तम आयुधोंसे संहारे जा रहे वे सभी प्रमथगण अधिक क्रुद्ध होकर चारों ओरसे घेरकर युद्ध करने लगे ॥ ६२—६५ ॥

हंसास्यः पट्टिशेनाथ जघान महिषासुरम् । षोडशाक्षस्त्रिशूलेन शतशीर्षो वरासिना ॥ ६६ ॥
श्रुतायुधस्तु गदया विशोको मुसलेन तु । बन्धुदत्तस्तु शूलेन मूर्ध्नि दैत्यमताडयत् ॥ ६७ ॥
तथान्यैः पार्षदैर्युद्धे शूलशक्त्यृष्टिपट्टिशैः । नाकम्पत् ताड्यमानोऽपि मैनाक इव पर्वतः ॥ ६८ ॥
तारको भद्रकाल्या च तथोलूखलया रणे । वध्यते चैकचूडाया दार्यते परमायुधैः ॥ ६९ ॥

हंसास्य पट्टिशसे, षोडशाक्ष त्रिशूलसे और शतशीर्ष श्रेष्ठ तलवारसे महिषासुरको मारने लगा । श्रुतायुधने गदासे, विशोकने मुसलसे तथा बन्धुदत्तने शूलसे उस दैत्यके मस्तकपर मारा । वैसे ही अन्य पार्षदोंद्वारा शूल, शक्ति, ऋष्टि एवं पट्टिशोंसे मार खाते रहनेपर भी वह मैनाकपर्वतके समान तनिक भी विकम्पित नहीं हुआ । रणमें भद्रकाली, उलूखला एवं एकचूडाने श्रेष्ठ आयुधोंसे तारकके ऊपर प्रहार किया ॥ ६६–६९ ॥

तौ ताड्यमानौ प्रमथैर्मातृभिश्च महासुरौ । न क्षोभं जग्मतुर्वीरौ क्षोभयन्तौ गणानपि ॥ ७० ॥
महिषो गदया तूर्णं प्रहारैः प्रमथानथ । पराजित्य पराधावत् कुमारं प्रति सायुधः ॥ ७१ ॥
तमापतन्तं महिषं सुचक्राक्षो निरीक्ष्य हि । चक्रमुद्यम्य संक्रुद्धो रुरोध दनुनन्दनम् ॥ ७२ ॥
गदाचक्राङ्कितकरौ गणासुरमहारथौ । अयुध्येतां तत्र ब्रह्मन् लघु चित्रं च सुष्ठु च ॥ ७३ ॥

वे दोनो महान् असुर प्रमथों और मातृशक्तियोंसे मारे जाते हुए होनेपर भी (स्वयं) अक्षुब्ध रहकर गणोंको क्षुब्ध कर रहे थे । उसके बाद आयुधसहित महिषासुर गदाकी बार-बार मारसे प्रमथोंको शीघ्र पराजितकर कुमारकी ओर झपटा । उस महिषको झपटते देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुए सुचक्राक्षने चक्र उठाकर (उस) दनुनन्दनको (बीचमें ही) रोक दिया । ब्रह्मन् ! हाथोंमें गदा और चक्र धारण किये हुए असुर और गण दोनो महारथी उस समय आपसमें कभी तेज, कभी अद्भुत, कभी निपुण (इस प्रकार विविध प्रकारकी) लड़ाई करने लगे ॥ ७०–७३ ॥

गदां मुमोच महिषः समाविध्य गणाय तु । सुचक्राक्षो निजं चक्रमुत्ससर्जासुरं प्रति ॥ ७४ ॥
गदां छित्त्वा सुतीक्ष्णारं चक्रं महिषमाद्रवत् । तत उच्चुक्रुशुर्दैत्या हा हतो महिषस्त्विति ॥ ७५ ॥
तच्छ्रुत्वाऽभ्यद्रवद् बाणः प्रासमाविध्य वेगवान् । जघान चक्रं रक्ताक्षः पञ्चमुष्टिशतेन हि ॥ ७६ ॥
पञ्चबाहुशतेनापि सुचक्राक्षं बबन्ध सः । बलवानपि बाणेन निष्प्रयत्नगतिः कृतः ॥ ७७ ॥

महिषने गदा घुमाकर सुचक्राक्षके ऊपर मारा और सुचक्राक्षने अपने चक्रको उस असुरकी ओर चलाया । अत्यन्त तीक्ष्ण अरोंसे युक्त वह चक्र गदाको टूक-टूक काट कर महिषके ऊपर चल पड़ा । उसके बाद दैत्यलोग यह कहते हुए जोरसे चिल्ला उठे कि हाय ! महिष मारा गया । उसे सुननेके बाद लाल-लाल आँखोंवाला बाणासुर प्रास लेकर वेगपूर्वक दौड़ा और पाँच सौ मुष्टियोंसे चक्रपर प्रहार किया तथा पाँच सौ बाहुओंसे सुचक्राक्षको बाँध लिया । बलवान् होते हुए भी सुचक्राक्ष बाणासुरके द्वारा प्रयत्नशून्य कर दिया गया ॥ ७४–७७ ॥

सुचक्राक्षं सचक्रं हि बद्धं बाणासुरेण हि । दृष्ट्वाद्रवद्गदापाणिर्मकराक्षो महाबलः ॥ ७८ ॥
गदया मूर्ध्नि बाणं हि निजघान महाबलः ।
वेदनार्तो मुमोचाथ सुचक्राक्षं महासुरः । स चापि तेन संयुक्तो व्रीडायुक्तो महामनाः ॥ ७९ ॥
स संग्रामं परित्यज्य सालिग्राममुपाययौ । बाणोऽपि मकराक्षेण ताडितोऽभूत्पराङ्मुखः ॥ ८० ॥
प्रभज्यत बलं सर्वं दैत्यानां सुरतापस ।
ततः स्वबलमीक्ष्यैव प्रभग्नं तारको बली । खड्गोद्यतकरो दैत्यः प्रदुद्राव गणेश्वरान् ॥ ८१ ॥

फिर, बाणासुरके द्वारा सुचक्राक्षको चक्रसहित बँधा हुआ देखकर महाबली मकराक्ष हाथमें गदा लेकर दौड़ा । महाबली मकराक्षने गदासे बाणके मस्तकपर प्रहार किया । उसके बाद कष्टसे दुखी बाणने सुचक्राक्षको

छोड़ दिया और वह मनस्वी उससे छूटकर लज्जित होता हुआ युद्ध छोड़कर मालिग्रामके समीप चला गया। बाण भी मकराक्षसे चोट खाकर युद्धसे मुख मोड़ लिया। नारदजी! दैत्योंकी सारी सेना छिन्न-भिन्न हो गयी। उसके बाद अपनी सेनाको नष्ट हुआ देख बलवान् दैत्य तारक हाथमें तलवार लेकर गणेश्वरोंकी ओर दौड़ा॥ ७८-८१॥

ततस्तु तेनाप्रतिमेन सासिना ते हंसवक्त्रप्रमुखा गणेश्वराः।
समातरश्चापि पराजिता रणे स्कन्दं भयार्त्ताः शरणं प्रपेदिरे॥ ८२॥
भग्नान् गणान् वीक्ष्य महेश्वरात्मजस्तं तारकं सासिनमापतन्तम्।
दृष्ट्वैव शक्त्या हृदये बिभेद स भिन्नमर्मा न्यपतत् पृथिव्याम्॥ ८३॥
तस्मिन्हते भ्रातरि भग्नदर्पो भयातुरोऽभून्महिषो महर्षे।
संत्यज्य संग्रामशिरो दुरात्मा जगाम शैलं स हिमाचलाख्यम्॥ ८४॥
बाणेऽपि वीरे निहतेऽथ तारके गते हिमाद्रिं महिषे भयार्त्ते।
भयाद् विवेशोग्रमपां निधानं गणैर्बले वध्यति स्वापराधे॥ ८५॥

उसके बाद खड्ग धारण करनेवाले उस बेजोड़ वीरने उन मातृकाओंसहित हंसवक्त्र आदि गणेश्वरोंको हरा दिया। वे सभी डरकर स्कन्दकी शरणमें गये। महेश्वरके पुत्र कुमारने अपने गणोंको निरुत्साह तथा खड्गधारी तारकासुरको आते हुए देखकर शक्तिके प्रहारसे उसका हृदय विदीर्ण कर डाला। हृदय फट जानेके कारण वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। महर्षे! उस भाईके मर जानेपर महिषासुरका अभिमान चूर हो गया। वह दुष्टात्मा डरसे व्याकुल होकर युद्धभूमिसे भागकर हिमालय पर्वतपर चला गया। वीर तारकके मारे जाने, डरकर महिषके हिमालयपर भाग जाने एवं गणोंद्वारा अपराधी सेनाका संहार किये जानेपर बाण भी डरके कारण अगाध समुद्रमें प्रवेश कर गया॥ ८२-८५॥

हत्वा कुमारो रणमूर्ध्नि तारकं प्रगृह्य शक्तिं महता जवेन।
मयूरमारुह्य शिखण्डमण्डितं ययौ निहन्तुं महिषासुरस्य॥ ८६॥
स पृष्ठतः प्रेक्ष्य शिखण्डिकेतनं समापतन्तं वरशक्तिपाणिनम्।
कैलासमुत्सृज्य हिमाचलं तथा क्रौञ्चं समभ्येत्य गुहां विवेश॥ ८७॥
दैत्यं प्रविष्टं स पिनाकिसूनुर्जुगोप यत्नाद् भगवान् गुहोऽपि।
स्वबन्धुहन्ता भविता कथं त्वहं संचिन्तयन्नेव ततः स्थितोऽभूत्॥ ८८॥
ततोऽभ्यगात् पुष्करसम्भवस्तु हरो मुरारिस्त्रिदशेश्वरश्च।
अभ्येत्य चोचुर्महिषं सशैलं भिन्दस्व शक्त्या कुरु देवकार्यम्॥ ८९॥

युद्धभूमिमें तारकका संहार कर कुमारने शक्ति उठा ली और वे शिखण्डयुक्त मोरपर चढ़ गये। फिर अत्यन्त शीघ्रतासे महिषासुरको मारने चले। हाथमें श्रेष्ठ शक्ति लिये हुए मयूरध्वज (मोरछापकी पताकावाले) कार्तिकेयको पीछे आते देख वह महिषासुर कैलास एवं हिमालयको छोड़कर क्रौञ्च पर्वतपर चला गया और उसकी गुफामें प्रवेश कर गया। महादेवके पुत्र भगवान् गुह (कार्तिकेय) पर्वतकी गुफामें प्रविष्ट हुए दैत्यकी (अब) प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने लगे। वे सोचने लगे कि मैं अपने (ममेरे) बन्धुका विनाशकर्त्ता कैसे होऊँ! वे (कुछ क्षण) स्तब्ध हो गये। उसके बाद ही कमलजन्मा ब्रह्मा, भगवान् शंकर, विष्णु और इन्द्र वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने कहा कि शक्तिके द्वारा पर्वतसहित महिषको विदीर्ण कर दो और देवताओंका कार्य पूरा करो॥ ८६-८९॥

तत् कार्तिकेयः प्रियमेव तथ्यं श्रुत्वा वचः प्राह सुरान् विहस्य।
कथं हि मातामहनप्तृकं वधे स्वभ्रातरं भ्रातृसुतं च मातुः॥ ९०॥
एषा श्रुतिश्चापि पुरातनी किल गायन्ति यां वेदविदो महर्षयः।
कृत्वा च यस्या मतमुत्तमायाः स्वर्गं व्रजन्ति ह्यतिपापिनोऽपि॥ ९१॥
गां ब्राह्मणं वृद्धमथाप्तवाक्यं बालं स्वबन्धुं ललनामदुष्टाम्।
कृतापराधा अपि नैव वध्या आचार्यमुख्या गुरवस्तथैव॥ ९२॥
एवं जानन् धर्ममग्र्यं सुरेन्द्रा नाहं हन्यां भ्रातरं मातुलेयम्।
यदा दैत्यो निर्गमिष्यद् गुहान्तः तदा शक्त्या घातयिष्यामि शत्रुम्॥ ९३॥

इस प्रिय-तथ्य वचनको सुनकर हँसते हुए कार्तिकेय देवताओंसे बोले—मैं नानाके नाती, माताके भतीजे और अपने ममेरे भाईको कैसे मारूँ? (इस विषयमें) यह (इनको न मारनेकी) प्राचीन श्रुति भी है, जिसे वेदज्ञाता महर्षिगण गाया करते हैं। (इसी प्रकार) गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, यथार्थवक्ता, बालक, अपना सम्बन्धी, दोषरहित स्त्री तथा आचार्य आदि गुरुजन अपराध करनेपर भी अवध्य होते हैं। इस उत्तम श्रुतिके अनुसार आचरण करनेवाले महान् पापी भी स्वर्गलोकको जाते हैं। सुरश्रेष्ठो! मैं इस श्रेष्ठ धर्मको जानते हुए (ऐसी दशामें—गुफामें छिपी अवस्थामें) अपने भाईको नहीं मार सकूँगा। जब दैत्य गुहाके भीतरसे बाहर निकलेगा तब मैं शक्तिसे उस (देव-)शत्रुका संहार करूँगा (तब हमें धर्मबाधा नहीं होगी)॥ ९०—९३॥

श्रुत्वा कुमारवचनं भगवान्महर्षे कृत्वा मतिं स्वहृदये गुहमाह शक्रः।
मत्तो भवान् न मतिमान् वदसे किमर्थं वाक्यं शृणुष्व हरिणा गदितं हि पूर्वम्॥ ९४॥
नैकस्यार्थे बहून् हन्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः। एकं हन्याद् बहुभ्योऽर्थे न पापी तेन जायते॥ ९५॥
एतच्छ्रुत्वा मया पूर्वं समयस्थेन चाग्निज। निहतो नमुचिः पूर्वं सोदरोऽपि ममानुजः॥ ९६॥
तस्माद् बहूनामर्थाय सक्रौञ्चं महिषासुरम्। घातयस्व पराक्रम्य शक्त्या पावकदत्तया॥ ९७॥

महर्षे! कुमारका वचन सुननेके बाद इन्द्रने अपने हृदयमें विचारकर गुहसे कहा—आप मुझसे अधिक मतिमान् नहीं हैं। आप (ऐसा) क्यों बोल रहे हैं। पहले समयमें भगवान् श्रीहरिकी कही हुई बातको सुनिये। शास्त्रोंमें यह निश्चय किया गया है कि एक व्यक्तिकी रक्षाके लिये बहुतोंका संहार नहीं करना चाहिये। परंतु बहुतोंके कल्याणके लिये एकका वध करनेसे मनुष्य पापी नहीं होता। अग्निपुत्र! इस शास्त्रनिर्णयको सुनकर पहले समयमें मैंने मेल रहनेपर भी अपने सहोदर छोटे भाई नमुचिको मार दिया। अतः बहुतोंके कल्याणके लिये तुम क्रौञ्चसहित महिषासुरका संहार अग्निद्वारा दी हुई शक्तिसे बलपूर्वक कर डालो॥ ९४—९७॥

पुरन्दरवचः श्रुत्वा क्रोधादारक्तलोचनः। कुमारः प्राह वचनं कम्पमानः शतक्रतुम्॥ ९८॥
मूढ किं ते बलं बाह्वोः शारीरं चापि वृत्रहन्। येनाधिक्षिपसे मां त्वं ध्रुवं न मतिमानसि॥ ९९॥
तमुवाच सहस्राक्षस्त्वत्तोऽहं बलवान् गुह। तं गुहः प्राह एह्येहि युद्धयस्व बलवान् यदि॥१००॥
शक्रः प्राहाथ बलवाञ् ज्ञायते कृत्तिकासुत। प्रदक्षिणं शीघ्रतरं यः कुर्यात् क्रौञ्चमेव हि॥१०१॥

इन्द्रकी बात सुनकर कुमारकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। आवेशमें काँपते हुए कुमारने इन्द्रसे कहा—मूढ वृत्रारि! तुम्हारी बाहुओं और शरीरमें कितनी शक्ति है, जिसके बलपर तुम मेरे ऊपर (मतिमन्द कहकर) आक्षेप कर रहे हो। तुम निश्चय ही बुद्धिमान् नहीं हो। हजार आँखोंवाले इन्द्रने उनसे कहा—गुह! मैं तुमसे शक्तिशाली हूँ।

गुहने इन्द्रसे कहा—यदि तुम शक्तिशाली हो तो आओ, युद्ध कर देख लो । तब इन्द्रने कहा—कृत्तिकानन्दन ! हम दोनोंमें जो पहले क्रौञ्च पर्वतकी प्रदक्षिणा कर सकेगा वही शक्तिशाली समझा जायगा ॥ ९८–१०१ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं स्कन्दो मयूरं प्रोज्झ्य वेगवान्। प्रदक्षिणं पादचारी कर्तुं तूर्णतरोऽभ्यगात् ॥१०२॥
शक्रोऽवतीर्य नागेन्द्रात् पादेनाथ प्रदक्षिणम्। कृत्वा तस्थौ गुहोऽभ्येत्य मूढ किं संस्थितो भवान् ॥१०३॥
तमिन्द्रः प्राह कौटिल्यं मया पूर्वं प्रदक्षिणः। कृतोऽस्य न त्वया पूर्वं कुमारः शक्रमब्रवीत् ॥१०४॥
मया पूर्वं मया पूर्वं विवदन्तौ परस्परम्। प्राप्योचतुर्महेशाय ब्रह्मणे माधवाय च ॥१०५॥

उस बातको सुनकर स्कन्द अपने वाहन मयूरको छोड़कर पैदल प्रदक्षिणा करनेके लिये शीघ्रतासे चल पड़े । इन्द्र भी गजराजसे उतरकर पैदल ही प्रदक्षिणाकर वहाँ आ गये । स्कन्दने उनके पास जाकर कहा—मूढ ! क्यों बैठे हो ? इन्द्रने उन कौटिल्य-(कुटिलाके पुत्र स्कन्द-)से कहा—मैंने तुमसे पहले ही इसकी प्रदक्षिणा कर ली है । कुमारने इन्द्रसे कहा—तुमने पहले नहीं की है । 'मैंने पहले की है, मैंने पहले की है ।' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए उन दोनोंने शंकर, ब्रह्मा एवं विष्णुके पास जाकर कहा ॥ १०२–१०५ ॥

अथोवाच हरिः स्कन्दं प्रष्टुमर्हसि पर्वतम्। योऽयं वक्ष्यति पूर्वं स भविष्यति महाबलः ॥१०६॥
तन्माधववचः श्रुत्वा क्रौञ्चमभ्येत्य पावकिः। पप्रच्छाद्रिमिदं केन कृतं पूर्वं प्रदक्षिणम् ॥१०७॥
इत्येवमुक्तः क्रौञ्चस्तु प्राह पूर्वं महामतिः। चकार गोत्रभित् पश्चात्त्वया कृतमथो गुह ॥१०८॥
एवं ब्रुवन्तं क्रौञ्चं स क्रोधात्प्रस्फुरिताधरः। बिभेद शक्त्या कौटिल्यो महिषेण समं तदा ॥१०९॥

इसके बाद विष्णुने स्कन्दसे कहा कि तुम पर्वतसे पूछ सकते हो । वह जिसे पहले आया हुआ बतलायेगा, वही महाशक्तिशाली मान्य होगा । माधवकी उन बातोंको सुनकर अग्निनन्दनने क्रौञ्चपर्वतके पास जाकर उससे यह पूछा कि प्रदक्षिणा पहले किसने की है ? इस बातको सुनकर चतुर क्रौञ्चने कहा—कार्तिकेय ! पहले इन्द्रने प्रदक्षिणा की; इसके बाद तुमने की है । इस प्रकार कहनेवाले क्रौञ्चको क्रोधसे ओंठ कँपाते हुए उस कुटिलानन्दन कुमारने शक्तिकी मारसे महिषासुरके साथ ही विदीर्ण कर दिया ॥ १०६–१०९ ॥

तस्मिन् हतेऽथ तनये बलवान् सुनाभो वेगेन भूमिधरपार्थिवजस्तथागात्।
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमरुदश्विवसुप्रधाना जग्मुर्दिवं महिषमीक्ष्य हतं गुहेन ॥ ११० ॥
स्वमातुलं वीक्ष्य बली कुमारः शक्तिं समुत्पाट्य निहन्तुकामः।
निवारितश्चक्रधरेण वेगादालिङ्ग्य दोर्भ्यां गुरुरित्युदीर्य ॥ १११ ॥
सुनाभमभ्येत्य हिमाचलस्तु प्रगृह्य हस्तेऽन्यत एव नीतवान्।
हरिः कुमारं सशिखण्डिनं नयद्वेगाद्दिवं पन्नगशत्रुपत्रः ॥ ११२ ॥
ततो गुहः प्राह हरिं सुरेशं मोहेन नष्टो भगवन् विवेकः।
भ्राता मया मातुलजो निरस्तस्तस्मात् करिष्ये स्वशरीरशोषम् ॥ ११३ ॥

उस पुत्रके मार दिये जानेपर पर्वतराजपुत्र बलवान् सुनाभ शीघ्र ही वहाँ आ गये । ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, वायु, अश्विनीकुमार, वसु आदि देवता गुह-(कार्तिकेय-) के द्वारा महिषको मारा गया देखकर स्वर्ग चले गये । अपने मामाको देखनेके बाद बलवान् कुमारने शक्ति लेकर (उन्हें) मारना चाहा । परंतु विष्णुने शीघ्रतासे उन्हें बाहुओंसे आलिङ्गित करते हुए 'ये गुरु हैं' ऐसा कहकर रोक दिया । हिमालय सुनाभके निकट आये और उनका हाथ पकड़कर दूसरी ओर ले गये तथा गरुडवाहन विष्णु मयूरसहित कुमारको जल्दीसे स्वर्गमें लिये चले गये । उसके

बाद गुहने सुरेश्वर हरिसे कहा—भगवन् ! मोहसे मेरी विचार-शक्ति नष्ट हो गयी और मैंने अपने ममेरे भाईका संहार कर दिया है । अतः (प्रायश्चित्तमें) मैं अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥ ११०–११३ ॥

तं प्राह विष्णुर्व्रज तीर्थवर्यं पृथूदकं पापतरोः कुठारम् ।
स्नात्वौघवत्यां हरमीक्ष्य भक्त्या भविष्यसे सूर्यसमप्रभावः ॥ ११४ ॥
इत्येवमुक्तो हरिणा कुमारस्त्वभ्येत्य तीर्थं प्रसमीक्ष्य शम्भुम् ।
स्नात्वार्च्य देवान् स रविप्रकाशो जगाम शैलं सदनं हरस्य ॥ ११५ ॥
सुचक्रनेत्रोऽपि महाश्रमे तपश्चचार शैले पवनाशनस्तु ।
आराधयानो वृषभध्वजं तदा हरोऽस्य तुष्टो वरदो बभूव ॥ ११६ ॥
देवात् स वव्रे वरमायुधार्थं चक्रं तथा वै रिपुबाहुषण्डम् ।
छिन्द्याद्यथा त्वप्रतिमं करेण बाणस्य तन्मे भगवान् ददातु ॥ ११७ ॥

विष्णुने उनसे कहा—कुमार ! तुम पापरूपी वृक्षके लिये कुठार-स्वरूप श्रेष्ठ तीर्थ पृथूदकमें जाओ । वहाँ ओघवतीके जलमें स्नानकर भक्तिपूर्वक महादेवका दर्शन करनेसे तुम (निष्पाप होकर) सूर्यके समान कान्तियुक्त हो जाओगे । हरिके इस प्रकार कहनेपर कुमार (पृथूदक) तीर्थमें गये और उन्होंने महादेवका दर्शन किया । स्नान करनेके बाद देवताओंकी पूजा करके वे सूर्यके समान तेजस्वी होकर महादेवके निवासस्थल पर्वतपर चले गये । सुचक्रनेत्र भी केवल वायु पीकर पर्वतके महान् आश्रममें शंकरकी आराधना करता हुआ तपस्या करने लगा । तब प्रसन्न होकर शंकरने उसे वर देनेका वचन दिया । उसने अस्त्रप्राप्तिके हेतु वर माँगा—हे भगवन् ! शत्रुकी भुजाओंको काटनेवाला ऐसा अनुपम चक्र मुझे दें, जिससे मैं हाथसे ही बाणासुरकी भुजाओंको काट सकूँ ॥ ११४–११७ ॥

तमाह शम्भुर्व्रज दत्तमेतद् वरं हि चक्रस्य तवायुधस्य ।
बाणस्य तद्बाहुबलं प्रवृद्धं संछेत्स्यते नात्र विचारणाऽस्ति ॥ ११८ ॥
वरे प्रदत्ते त्रिपुरान्तकेन गणेश्वरः स्कन्दमुपाजगाम ।
निपत्य पादौ प्रतिवन्द्य हृष्टो निवेदयामास हरप्रसादम् ॥ ११९ ॥

महादेवजीने उससे कहा—जाओ ! तुमने चक्रके निमित्त जो वर माँगा, उसे मैंने दे दिया । यह बाणासुरके अत्यन्त बढ़े हुए बाहुबलको निःसन्देह काट डालेगा । त्रिपुरको मारनेवाले महेश्वरके वर देनेपर गणेश्वर (सुचक्रनेत्र) स्कन्दके निकट गया और (उसने) उनके चरणोंमें गिरकर वन्दना की । उसके बाद उनसे प्रसन्नतापूर्वक महादेवकी कृपाका वर्णन किया ॥ ११८–११९ ॥

एवं तवोक्तं महिषासुरस्य वधं त्रिनेत्रात्मजशक्तिभेदात् ।
क्रौञ्चस्य मृत्युः शरणागतार्थे पापापहं पुण्यविवर्धनं च ॥ १२० ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार मैंने (पुलस्त्यने) तुमसे शंकरके पुत्रके द्वारा शक्तिसे महिषासुरके संहार किये जानेका वर्णन किया । शरणागतके हेतु क्रौञ्चकी मृत्यु हुई । यह आख्यान पापका विनाश एवं पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

[अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

योऽसौ मन्वयतां प्राप्तो दैत्यानां शरताडितः । स केन वद निर्भिन्नः शरेण दितिजेश्वरः ॥ १ ॥

उनसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(ऋतध्वजका पातालकेतुपर आक्रमण कर प्रहार करना, अन्धकका गौरीको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना)

नारदने पूछा—आप हमें यह बतलायें कि सुलाह करते हुए दैत्योंमेंसे जो वह दैत्य बाणद्वारा बिंध गया था उसे किसने बाणसे विदीर्ण कर दिया था ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

आसीन्नृपो रघुकुले रिपुजिन्महर्षे तस्यात्मजो गुणगणैकनिधिर्महात्मा ।
शूरोऽरिसैन्यदमनो बलवान् सुहृत्सु विप्रान्धदीनकृपणेषु समानभावः ॥ २ ॥
ऋतध्वजो नाम महान् महीयान् स गालवार्थे तुरगाधिरूढः ।
पातालकेतुं निजघान पृष्ठे बाणेन चन्द्रार्धनिभेन वेगात् ॥ ३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे ! रघुकुलमें रिपुजित् नामके एक राजा थे । उनके ऋतध्वज नामका एक पुत्र था । वह सभी गुणोंकी निधि, महात्मा, वीर, शत्रुकी सेनाओंका नाश करनेवाला, बली, मित्रों, ब्राह्मणों, अन्धों, गरीबों एवं दयापात्र दीनोंमें समान भाव रखनेवाला था । उसने गालवके लिये घोड़ेपर सवार होकर पातालकेतुकी पीठमें अर्धचन्द्रके सदृश बाणसे बड़ी तेजीसे मारा था ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

किमर्थं गालवस्यासौ साधयामास सत्तमः । येनाशौ पत्रिणा दैत्यं निजघान नृपात्मजः ॥ ४ ॥

नारदने कहा (पूछा)—उस श्रेष्ठ राजपुत्रने जिस कारण बाणसे उस दैत्यको मारा, उससे गालवका कौन-सा कार्य सिद्ध किया ? ॥ ४ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुरा तपस्तप्यति गालवर्षिर्महाश्रमे स्वे सततं निविष्टः ।
पातालकेतुस्तपसोऽस्य विघ्नं करोति मौढ्यात् स समाधिभङ्गम् ॥ ५ ॥
न चेष्यतेऽसौ तपसो व्ययं हि शक्तोऽपि कर्तुं त्वथ भस्मसात् तम् ।
आकाशमीक्ष्याथ स दीर्घमुष्णं मुमोच निःश्वासमनुत्तमं हि ॥ ६ ॥
ततोऽम्बराद् वाजिवरः पपात बभूव वाणी त्वशरीरिणी च ।
असौ तुरङ्गो बलवान् क्रमेत अह्ना सहस्राणि तु योजनानाम् ॥ ७ ॥
स तं प्रगृह्याश्ववरं नरेन्द्रं ऋतध्वजं योज्य तदात्तशस्त्रम् ।
स्थितस्तपस्येव ततो महर्षिर्दैत्यं समेत्य विशिखैर्नृपजो बिभेद ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—पहले समयकी बात है कि गालव अपने आश्रममें तपस्यामें सदा लीन रहा करते थे । दैत्य पातालकेतु मूर्खताके कारण उनकी तपस्यामें बाधा डाला करता और उनकी समाधि-(ध्यान-) को भंग किया करता था । वे उसको जलाकर राख कर देनेमें समर्थ होते हुए भी अपनी तपस्या क्षीण नहीं करना चाहते थे; (क्योंकि तपोबलसे दूसरोंका अनिष्ट करनेपर तपस्या क्षीण हो जाती है) । उन्होंने ऊपरकी ओर देखकर लंबा,

गर्म निःश्वास छोड़ा। वह सर्वथा अनुपम था। उसके बाद आकाशसे एक सुन्दर घोड़ा गिरा और अशरीरिणी वाणी—आकाशवाणी हुई कि यह बलवान् अश्व एक दिनमें हजारों योजन जा सकता है। ढालसे सजे हुए उस राजा ऋतध्वजको वह घोड़ा सौंपकर वे महर्षि (पुनः) तपस्या करने लगे। उसके बाद राजपुत्रने दैत्यके पास जाकर उसे बाणसे घायल कर दिया ॥ ५-८ ॥

नारद उवाच

केनाम्बरतलाद् वाजी निसृष्टो वद सुव्रत। वाक् कस्याऽदेहिनी जाता परं कौतूहलं मम ॥ ९ ॥

नारदने कहा (पुनः पूछा)—सुव्रत! आप यह बतलायें कि किसने आकाशसे इस अश्वको गिराया था एवं आकाशवाणी किसकी थी? (इस विषयमें) मुझे बड़ी उत्सुकता है ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वावसुर्नाम महेन्द्रगायनो गन्धर्वराजो बलवान् यशस्वी।
निसृष्टवान् भूवलये तुरङ्गं ऋतध्वजस्यैव सुतार्थमाशु ॥ १० ॥

पुलस्त्यजी बोले—महेन्द्रका गुणगान करनेवाले बलशाली विश्वावसु नामके यशस्वी गन्धर्वराजने अपनी पुत्रीके लिये ऋतध्वजके हेतु उस समय अश्वको पृथ्वीपर गिराया था ॥ १० ॥

नारद उवाच

कोऽर्थो गन्धर्वराजस्य येनाप्रैषीन्महाजवम्। राज्ञः कुवलयाश्वस्य कोऽर्थो नृपसुतस्य च ॥ ११ ॥

नारदने कहा (फिर पूछा)—महान् वेगशाली इस अश्वको भेजनेमे गन्धर्वराजका क्या उद्देश्य था तथा राजपुत्र राजा कुवलयाश्वका इसमें क्या लाभ था? (कृपया इसे भी बतलाइये।) ॥ ११ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वावसोः शीलगुणोपपन्ना आसीत्पुरंध्रीषु वरा त्रिलोके।
लावण्यराशिः शशिकान्तितुल्या मदालसा नाम मदालसैव ॥ १२ ॥
तां नन्दने देवरिपुस्तरस्वी संक्रीडतीं रूपवतीं ददर्श।
पातालकेतुस्तु जहार तन्वीं तस्यार्थतः सोऽश्ववरः प्रदत्तः ॥ १३ ॥
हत्वा च दैत्यं नृपतेस्तनूजो लब्ध्वा वरोरूमपि संस्थितोऽभूत्।
दृष्टो यथा देवपतिर्महेन्द्रः शच्या तथा राजसुतो मृगाक्ष्या ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—विश्वावसुकी मदसे अलसायी-सी मदालसा नामकी एक (भोलीभाली) कन्या थी। वह शील और गुणसे सम्पन्न, त्रिलोककी स्त्रियोंमें उत्तम, सुन्दरताकी खानि और चन्द्रमाकी कान्तिके समान (कोमलकिशोरी) थी। नन्दनवनमे क्रीडा कर रही उस सौन्दर्यशालिनीको देवताओंके शत्रु पातालकेतुने देखा और तुरन्त उसे उठा ले गया। उसीके कारण वह श्रेष्ठ घोड़ा दिया गया था। दैत्यको मारनेके बाद श्रेष्ठ ऊरुवाली स्त्रीको पाकर राजपुत्र निश्चिन्त हो गये। राजपुत्र (उस) मृगनयनीके साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे शचीके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ १२-१४ ॥

नारद उवाच

एवं निरस्ते महिषे तारके च महासुरे। हिरण्याक्षसुतो धीमान् किमचेष्टत वै पुनः ॥ १५ ॥

नारदने पुनः पूछा—इस प्रकार महान् असुर तारक और महिषके निरस्त—समाप्त हो जानेपर हिरण्याक्षके बुद्धिमान् पुत्र-(अन्धक-)ने पुनः क्या किया? ॥ १५ ॥

पुलस्त्य उवाच

तारकं निहतं दृष्ट्वा महिषं च रणेऽन्धकः। क्रोधं चक्रे सुदुर्बुद्धिर्देवानां देवसैन्यहा ॥ १६ ॥
ततः स्वल्पपरीवारः प्रगृह्य परिघं करे। निर्जगामाथ पातालाद् विचचार च मेदिनीम् ॥ १७ ॥
ततो विचरता तेन मन्दरे चारुकन्दरे। दृष्टा गौरी च गिरिजा सखीमध्ये स्थिता शुभा ॥ १८ ॥
ततोऽभूत् कामबाणार्त्तः सहसैवान्धकोऽसुरः। तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं गिरिराजसुतां वने ॥ १९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तारक और महिष दोनोंको संग्राममें मारे गये देखकर देवसेनाके समूहोंका नाश करनेवाला, महामूर्ख अन्धक देवताओंपर कुपित हो गया। उसके बाद थोड़ी-सी सेनाके साथ वह हाथमें परिघ लेकर पातालसे बाहर निकल आया और पृथ्वीपर विचरण करने लगा। उसके बाद घूमते हुए ही उसने सुन्दर कन्दराओंवाले मन्दर गिरिपर सखियोंके बीचमें गिरिनन्दिनी कल्याणी गौरीको देखा। उस सर्वाङ्गसुन्दरी गिरिराज-नन्दिनीको वनमें देखकर अन्धकासुर एकाएक काम-बाणसे पीड़ित हो गया ॥ १६—१९ ॥

अथोवाचासुरो मूढो वचनं मन्मथान्धकः। कस्येयं चारुसर्वाङ्गी वने चरति सुन्दरी ॥ २० ॥
इयं यदि भवेन्नैव ममान्तःपुरवासिनी। तन्मदीयेन जीवेन क्रियते निष्फलेन किम् ॥ २१ ॥
यदस्यास्तनुमध्याया न परिष्वङ्गवानहम्। अतो धिङ्मां रूपेण किं स्थिरेण प्रयोजनम् ॥ २२ ॥
स मे बन्धुः स सचिवः स भ्राता साम्परायिकः। यो मामसितकेशां तां योजयेन्मृगलोचनाम् ॥ २३ ॥

तब कामसे अंधे हुए उस मूर्ख असुर अन्धकने कहा—वनमें भ्रमण कर रही यह सर्वाङ्गसुन्दरी ललना किसकी है? यदि यह मेरे अन्तःपुरमें निवास करनेवाली न हुई तो मेरे इस व्यर्थके जीवनसे क्या लाभ? यदि इस कृशोदरी सुन्दरी ललनाका आलिङ्गन मुझे प्राप्त न हुआ तो मुझे धिक्कार है! मेरी इस स्थायी सुन्दरतासे क्या लाभ? मेरा वही बन्धु, वही सचिव, वही भ्राता तथा वही संकटकालका साथी है जो इस काले केशवाली मृगनयनी सुन्दरीको मुझसे मिला दे ॥ २०—२३ ॥

इत्थं वदति दैत्येन्द्रे प्रह्लादो बुद्धिसागरः। पिधाय कर्णौ हस्ताभ्यां शिरःकम्पं वचोऽब्रवीत् ॥ २४ ॥
मा मैवं वद दैत्येन्द्र जगतो जननी त्वियम्। लोकनाथस्य भार्येयं शङ्करस्य त्रिशूलिनः ॥ २५ ॥
मा कुरुष्व सुदुर्बुद्धिं सद्यः कुलविनाशिनीम्। भवतः परदारेयं मा निमज्ज रसातले ॥ २६ ॥
सत्सु कुत्सितमेवं हि असत्स्वपि हि कुत्सितम्। शत्रवस्ते प्रकुर्वन्तु परदारावगाहनम् ॥ २७ ॥

दैत्यराजके इस प्रकार कहनेपर महाबुद्धिमान् प्रह्लाद दोनों हाथोंसे दोनों कानोंको ढँककर सिर हिलाते हुए बोले—दैत्येन्द्र! इस प्रकार मत कहो। ये तो संसारकी जननी और लोकस्वामी, त्रिशूलधारी शङ्करकी पत्नी हैं। तुम कुलका सद्यः विनाश करनेवाली ऐसी दुर्बुद्धि मत करो। तुम्हारे लिये ये परस्त्री हैं। अतः रसातलमें मत गिरो; क्योंकि (ऐसा दुष्कर्म) सज्जनोंमें तो अत्यन्त निन्दित है ही, असत् पुरुषोंमें भी निन्दित है। ऐसा दुष्कर्म—परदारा-अभिगमन तुम्हारे शत्रु करें (जिससे उनका विनाश हो जाय) ॥ २४—२७ ॥

किंचित् त्वया न श्रुतं दैत्यनाथ गीतं श्लोकं गाधिना पार्थिवेन।
दृष्ट्वा सैन्यं विप्रधेनुप्रसक्तं तथ्यं पथ्यं सर्वलोके हितं च ॥ २८ ॥
वरं प्राणास्त्याज्या न च पिशुनवादेष्वभिरतिः वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम्।
वरं क्लीवैर्भाव्यं न च परकलत्राभिगमनं वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनास्वादमसकृत् ॥ २९ ॥
स प्रह्लादवचः श्रुत्वा क्रोधान्धो मदनार्दितः। इयं सा शत्रुजननीत्येवमुक्त्वा प्रदुद्रुवे ॥ ३० ॥
ततोऽन्वधावन् दैतेया यन्त्रमुक्ता इवोपलाः। तान् रुरोध बलान्नन्दी वज्रोद्यतकरोऽव्ययः ॥ ३१ ॥

*

दैत्येश! ब्राह्मणकी गौपर प्रसक्त सेनाको देखकर गाधिराजने समस्त जगत्‌के लिये कल्याणकारी, सत्य एवं उचित जो श्लोक कहा है क्या उसे आपने नहीं सुना है? (उन्होंने कहा है—) प्राणोका छोड़ देना अच्छा है, परंतु चुगुलखोरोंकी बातमें दिलचस्पी लेना उचित नहीं। मौन रहना अच्छा है, किंतु असत्य बोलना ठीक नहीं। नपुंसक होकर रहना ठीक है, परंतु परस्त्रीगमन उचित नहीं। भीख माँगना अच्छा है, किंतु बार-बार दूसरेके धनका उपभोग करना उचित नहीं। प्रह्लादका वचन सुननेके बाद काम-पीडित अन्धक क्रोधसे अंधा होकर 'यह वही शत्रुकी जननी है'—यह कहते हुए दौड़ पडा। उसके बाद दूसरे और दानव भी यन्त्रसे छूटे हुए पत्थरकी गोलीके समान उसके पीछे दौड़ चले। परतु अव्यय नन्दीने हाथमें वज्र उठाकर बलपूर्वक उन सबको रोक दिया ॥ २८–३१ ॥

मयतारपुरोगास्ते वारिता द्राविलास्तथा। कुलिशेनाहतास्तूर्णं जग्मुर्भीता दिशो दश ॥ ३२ ॥
तानर्दितान् रणे दृष्ट्वा नन्दिनाऽन्धकदानवः। परिघेण समाहत्य पातयामास नन्दिनम् ॥ ३३ ॥
शैलादिं पतितं दृष्ट्वा धावमानं तथान्धकम्। शतरूपाऽभवद् गौरी भयात् तस्य दुरात्मनः ॥ ३४ ॥
ततः स देवीगणमध्यसंस्थितः परिभ्रमन् भाति महाऽसुरेन्द्रः ।
यथा वने मत्तकरी परिभ्रमन् करेणुमध्ये मदलोलदृष्टिः ॥ ३५ ॥

वज्रकी मारसे रोक दिये गये और भगाये जाते हुए वे मय एव तारक आदि सभी दैत्य डरकर दसो दिशाओंमें भाग गये। संग्राममें अन्धकासुरने उन सभीको नन्दीद्वारा पीड़ित देखकर नन्दीको परिघसे मारकर गिरा दिया। नन्दीको गिरा हुआ और अन्धकको दौड़कर आते हुए देखकर गौरी उस दुष्टात्माके भयसे सैकड़ो रूपवाली हो गयीं। उसके बाद देवियोके बीच घूमता हुआ (वह) दैत्य ऐसा लग रहा था जैसा कि वनमें हथिनियोके बीच घूमता हुआ मदसे चञ्चल दृष्टिवाला मतवाला हाथी सुशोभित होता है ॥ ३२–३५ ॥

न परिज्ञातवांस्तत्र का तु सा गिरिकन्यका। नात्राश्चर्यं न पश्यन्ति चत्वारोऽमी सदैव हि ॥ ३६ ॥
न पश्यतीह जात्यन्धो रागान्धोऽपि न पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तो लोभाक्रान्तो न पश्यति। सोऽपश्यमानो गिरिजां पश्यन्नपि तदान्धकः ॥ ३७ ॥
प्रहारं नाददत् तासां युवत्य इति चिन्तयन्। ततो देव्या स दुष्टात्मा शतावर्या निराकृतः ॥ ३८ ॥
कुट्टितः प्रवरैः शस्त्रैर्निपपात महीतले। वीक्ष्यान्धकं निपतितं शतरूपा विभावरी ॥ ३९ ॥
तस्मात् स्थानादपाक्रम्य गताऽन्तर्धानमम्बिका। पतितं चान्धकं दृष्ट्वा दैत्यदानवयूथपाः ॥ ४० ॥
कुर्वन्तः सुमहाशब्दं प्राद्रवन्त रणार्थिनः। तेषामापततां शब्दं श्रुत्वा तस्थौ गणेश्वरः ॥ ४१ ॥

(पर) वह नहीं समझ रहा था कि उनमे वे गिरिनन्दिनी कौन हैं? इसमें (उसके न समझनेमें) कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि ससारमें ये चार प्रकारके व्यक्ति सदा ही (ठीक-ठीक) नहीं देख पाते। जन्मका अन्धा नहीं देखता, प्रेममे अन्धा हुआ नहीं देखता, मदोन्मत्त नहीं देखता एवं लोभसे पराभूत भी नहीं देखता है। अतः अन्धक उस समय देखते हुए भी गिरिजाको नहीं देख पा रहा था। उस दानवने उन सभीको युवती समझकर उनपर आघात नहीं किया, फिर तो शतावरीदेवीने (ही) उस दुष्टात्मापर आघात कर दिया। उत्कृष्ट कोटिके शस्त्रोंसे बिंधकर वह पृथ्वीपर गिर पडा। अन्धकको गिरा हुआ देखकर शतरूपोंवाली विभावरी अम्बिका उस स्थानसे हटकर अन्तर्हित हो गयीं। अन्धकको गिरा हुआ देख दैत्यो एवं दानवोंके सेनापति युद्धके लिये ललकारते हुए दौड़ पडे। आक्रमण करनेवाले उन-(दैत्यो-) के शब्दको सुनकर गणेश्वर खडे हो गये ॥ ३६–४१ ॥

आदाय वज्रं बलवान् मघवानिव कोपितः। दानवान् समयान् वीरः पराजित्य गणेश्वरः॥ ४२॥
समभ्येत्याम्बिकां दृष्ट्वा ववन्दे चरणौ शुभौ। देवी च ता निजा मूर्तीः प्राह गच्छध्वमिच्छया॥ ४३॥
विहरध्वं महीपृष्ठे पूज्यमाना नरैरिह। वसतिर्भवतीनां च उद्यानेषु वनेषु च॥ ४४॥
वनस्पतिषु वृक्षेषु गच्छध्वं विगतज्वराः। तास्त्वेवमुक्ताः शैलेय्या प्रणिपत्याम्बिकां क्रमात्॥४५॥
दिक्षु सर्वासु जग्मुस्ताः स्तूयमानाश्च किंनरैः।
अन्धकोऽपि स्मृतिं लब्ध्वा अपश्यन्नद्रिनन्दिनीम्। स्वबलं निर्जितं दृष्ट्वा ततः पातालमाद्रवत्॥ ४६॥
ततो दुरात्मा स तदान्धको मुने पातालमभ्येत्य दिवा न भुङ्क्ते।
रात्रौ न शेते मदनेषुताडितो गौरीं स्मरन्कामपराभिपन्नः॥ ४७॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

क्रुद्ध हुए गणेश्वर इन्द्रके समान वज्र लेकर मयसहित दानवोंको हराकर अम्बिकाके निकट गये और (उन्होंने) उनके शुभ चरणोंमें प्रणाम किया। देवीने भी अपनी उन मूर्त्तियोंसे कहा—तुम सभी इच्छानुरूप स्थानोंको जाओ और मनुष्योंकी आराधना प्राप्त करती हुई पृथ्वीपर भ्रमण करो। तुम सबका निवास उद्यानों, वनों, वनस्पतियों एवं वृक्षोंमें होगा। अब तुम सभी निश्चिन्त होकर जाओ। पार्वतीके इस प्रकार कहनेपर वे सभी देवियाँ अम्बिकाको प्रणामकर किन्नरोंसे स्तुत होती हुई (दसों) दिशाओंमें चली गयीं। अन्धक भी होशमें आनेके बाद गिरिजाको न देखकर तथा अपनी सेनाको हारी हुई समझकर पातालमें चला गया। मुने! उसके बाद कामबाणसे घायल एवं कामके वेगसे पीड़ित दुष्टात्मा अन्धक पातालमें जाकर गौरीका चिन्तन करता हुआ न दिनमें खाता था और न रातमें सोता था—वह बेचैन-सा हो गया था॥ ४२—४७॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५९॥

[अथ षष्टितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

क्व गतः शङ्करो ह्यासीद् येनाम्बा नन्दिना सह। अन्धकं योधयामास एतन्मे वक्तुमर्हसि॥ १॥

साठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुनः तेजःप्राप्तिके लिये शिवकी तपश्चर्या, केदारतीर्थकी उपलब्धि, शिवका सरस्वतीमें निमग्न होना, मुरासुरका प्रसंग और सनत्कुमारका प्रसंग)

नारदने कहा (पूछा)—आप मुझे यह बतलायें कि शंकर कहाँ चले गये थे, जिससे नन्दिसहित अम्बिकाने अन्धकसे (स्वयं) युद्ध किया॥ १॥

पुलस्त्य उवाच

यदा वर्षसहस्रं तु महामोहे स्थितोऽभवत्। तदाप्रभृति निस्तेजाः क्षीणवीर्यः प्रदृश्यते॥ २॥
स्वमात्मानं निरीक्ष्याथ निस्तेजोऽङ्गं महेश्वरः। तपोऽर्थाय तथा चक्रे मतिं मतिमतां वरः॥ ३॥
स महाव्रतमुत्पाद्य समाश्वास्याम्बिकां विभुः। शैलादिं स्थाप्य गोप्तारं विचचार महीतलम्॥ ४॥
महामुद्रार्पितग्रीवो महाहिकृतकुण्डलः। धारयाणः कटीदेशे महाशङ्खस्य मेखलाम्॥ ५॥

पुलस्त्यजी बोले—वे (शंकरजी) जिस समय एक हजार वर्षतक महामोहमें पड़ गये थे, उस समयसे वे तेजरहित एवं शक्तिहीन-से दिखायी दे रहे थे। मतिमानोंमें श्रेष्ठ महेश्वरने स्वयं अपने अङ्गोंको निस्तेज देखकर तप

करनेके लिये निश्चय किया। उन व्यापक शंकरने महाव्रतका निर्णय करनेके बाद अम्बिकाको धैर्य धारण कराया और वे शैल आदि-(नन्दी-) को उनकी रक्षाके लिये नियुक्त कर पृथ्वीपर विचरण करने लगे। उन्होंने गलेमें तन्त्रानुसार महामुद्रा पहन ली। महासर्पोंके कुण्डल एवं कमरमे महाशङ्खकी मेखला धारण कर ली ॥ २–५ ॥

कपालं दक्षिणे हस्ते सव्ये गृह्य कमण्डलुम्। एकाहवासी वृक्षे हि शैलसानुनदीष्वटन्॥ ६ ॥
स्थानं त्रैलोक्यमास्थाय मूलाहारोऽम्बुभोजनः। वाय्वाहारस्तदा तस्थौ नववर्षशतं क्रमात्॥ ७ ॥
ततो वीटां मुखे क्षिप्य निरुच्छ्वासोऽभवद् यतिः। विस्तृते हिमवत्पृष्ठे रम्ये समशिलातले॥ ८ ॥
ततो वीटा विदार्यैव कपालं परमेष्ठिनः। सार्चिष्मती जटामध्यान्निषण्णा धरणीतले॥ ९ ॥

दाहिने हाथमे कपाल एवं बायें हाथमें कमण्डलु लेकर वे वृक्षोंके नीचे (कभी) पडे रहते, कभी पहाड़ोंकी चोटियोंपर तथा नदियोंके तटपर चक्कर लगाते रहते। प्रथम (आरम्भमें) मूल-फल खाकर फिर जल पीकर, उसके बाद वायु पीकर (यम-नियमका) व्रत पालन करनेवाले उन्होंने क्रमशः तीनों लोकोंमें नौ सौ वर्ष व्यतीत किये। उसके बाद उन्होंने हिमालयके ऊपर रमणीय तथा समतल पर्वतीय चट्टानपर आसन लगा लिया और अपने मुखमें काष्ठकी बनी गुल्ली डालकर श्वास रोक लिया—कुम्भक प्राणायाम कर लिया। उसके बाद शंकरके कपालको फाड़कर ज्वालामयी वह गुल्ली (उनकी) जटाके बीचसे निकलकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६–९ ॥

वीट्या तु पतन्त्याऽद्रिर्दारितः क्ष्मासमोऽभवत्। जातस्तीर्थवरः पुण्यः केदार इति विश्रुतः॥ १० ॥
ततो हरो वरं प्रादात् केदाराय वृषध्वजः। पुण्यवृद्धिकरं ब्रह्मन् पापघ्नं मोक्षसाधनम्॥ ११ ॥
ये जलं तावके तीर्थे पीत्वा संयमिनो नराः। मधुमांसनिवृत्ता ये ब्रह्मचारिव्रते स्थिताः॥ १२ ॥
षण्मासाद् धारयिष्यन्ति निवृत्ताः परपाकतः। तेषां हृत्पङ्कजेष्वेव मल्लिङ्गं भविता ध्रुवम्॥ १३ ॥

उस गुल्लीके गिरनेसे पर्वत टूट-फूटकर पृथ्वीके समान (समतल) हो गया और वहाँ केदार नामका प्रसिद्ध तीर्थ बन गया। ब्रह्मन्! उसके बाद वृषध्वज महादेवने केदारको पुण्यकी वृद्धि करनेवाले एवं पापके विनाश करनेवाले और मोक्षके साधनका वर दिया तथा यह भी वर दिया कि जो संयमी मनुष्य परान्नभोजनको त्यागकर तथा ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर तुम्हारा जल पीते हुए यहाँ छः महीनेतक निवास करेंगे उनके हृदयकमलमें निश्चय ही मेरे लिङ्गकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रकट होगी ॥ १०–१३ ॥

न चास्य पापाभिरतिर्भविष्यति कदाचन। पितॄणामक्षयं श्राद्धं भविष्यति न संशयः॥ १४ ॥
स्नानदानतपांसीह होमजप्यादिकाः क्रियाः। भविष्यन्त्यक्षया नृणां मृतानामपुनर्भवः॥ १५ ॥
एतद् वरं हरात् तीर्थं प्राप्य पुष्णाति देवताः। पुनाति पुंसां केदारस्त्रिनेत्रवचनं यथा॥ १६ ॥
केदाराय वरं दत्त्वा जगाम त्वरितो हरः। स्नातुं भानुसुतां देवीं कालिन्दीं पापनाशिनीम्॥ १७ ॥

उन्हें कभी पापमें अभिरुचि नहीं होगी तथा उनसे किया गया पितरोंका श्राद्ध अक्षय होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। मनुष्योंद्वारा यहाँ की गयी स्नान, दान, तपस्या, होम एवं जप आदिकी क्रियाएँ अक्षय होंगी तथा इस स्थानपर मनुष्योंके मरनेपर उनका पुनर्जन्म नहीं होगा। महादेवसे इस प्रकारका वर पाकर वह केदारतीर्थ त्रिनेत्र महादेवके वचनके अनुकूल प्राणिवर्गको पवित्र एवं देवताओंका पोषण करने लगा। केदारतीर्थको वर देकर महादेव पापविनाशिनी रवितनया देवी कालिन्दी (यमुना)में स्नान करनेके लिये शीघ्र चले गये ॥ १४–१७ ॥

तत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा जगामाथ सरस्वतीम्। वृतां तीर्थशतैः पुण्यैः प्लक्षजां पापनाशिनीम्॥ १८ ॥
अवतीर्णस्ततः स्नातुं निमग्नश्च महाम्भसि। द्रुपदां नाम गायत्रीं जजापान्तर्जले हरः॥ १९ ॥

निमग्ने शङ्करे देव्यां सरस्वत्यां कलिप्रिय। साग्रः संवत्सरो जातो न चोन्मज्जत ईश्वरः ॥ २० ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् भुवनाः सप्त सार्णवाः। चेलुः पेतुर्धरण्यां च नक्षत्रास्तारकैः सह ॥ २१ ॥

वहाँ स्नान करके पवित्र होकर भगवान् शंकर सैकड़ों पवित्र तीर्थोंसे घिरी (वृत) और प्लक्ष वृक्षसे उत्पन्न पापनाशिनी सरस्वतीके निकट गये। उसके बाद वे स्नान करनेके लिये उसमें उतरे एवं अगाध जलमें भलीभाँति स्नान कर द्रुपदा गायत्रीका जप करने लगे। कलिप्रिय! देवी सरस्वतीके जलमें शंकरको डुबकी लगाये हुए एक वर्षसे अधिक बीत गया; परंतु भगवान् ऊपर नहीं उठे। ब्रह्मन्! उस समय समुद्रोंसहित सातों भुवन काँपने लगे और ताराओंके साथ नक्षत्र (टूट-टूटकर) भूतलपर गिरने लगे ॥ १८-२१ ॥

आसनेभ्यः प्रचलिता देवाः शक्रपुरोगमाः। स्वस्त्यस्तु लोकेभ्य इति जपन्तः परमर्षयः ॥ २२ ॥
ततः क्षुब्धेषु लोकेषु देवा ब्रह्माणमागमन्। दृष्ट्वोचुः किमिदं लोकाः क्षुब्धाः संशयमागताः॥ २३ ॥
तानाह पद्मसम्भूतो नैतद् वेद्मि च कारणम्। तदागच्छत वो युक्तं द्रष्टुं चक्रगदाधरम् ॥ २४ ॥
पितामहेनैवमुक्ता देवाः शक्रपुरोगमाः। पितामहं पुरस्कृत्य मुरारिसदनं गताः ॥ २५ ॥

इन्द्र प्रमुख हैं जिनमें, ऐसे देवता अपने-अपने आसनोंसे उचक पड़े और महर्षिगण 'संसारका कल्याण हो'—इस भावनासे जप करने लगे। तत्पश्चात् जगत्‌के अशान्त हो जानेपर देवगण ब्रह्माके निकट आये और उन्हें देखकर उन लोगोंने पूछा—ब्रह्मन्! संसार अशान्त होकर क्यों सन्देहके झोंके खा रहा है? कमलयोनि ब्रह्माने उनसे कहा—मैं इसके कारणको नहीं जान पा रहा हूँ। तुम लोग जाओ, (इसके लिये) चक्र-गदाधारी विष्णुका दर्शन करना उचित है। पितामहके इस प्रकार कहनेपर इन्द्र आदि सभी देवता पितामहको आगे कर मुरारिलोक (विष्णुलोक)में गये ॥ २२-२५ ॥

नारद उवाच

कोऽसौ मुरारिर्देवर्षे देवो यक्षो नु किन्नरः। दैत्यो राक्षसो वापि पार्थिवो वा तदुच्यताम् ॥ २६ ॥

नारदने पूछा—देवर्षे! आप यह बतलायें कि ये मुरारि कौन हैं? ये देवता हैं या यक्ष, किन्नर हैं या दैत्य, राक्षस हैं या मनुष्य? ॥ २६ ॥

पुलस्त्य उवाच

योऽसौ रजः सत्त्वमयो गुणवांश्च तमोमयः। निर्गुणः सर्वगो व्यापी मुरारिर्मधुसूदनः ॥ २७ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—देवताओ! जो ये मुरारि हैं वे मधु नामके राक्षसके विनाशकारी हैं; वे सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणसे युक्त हैं; निर्गुण और सगुण हैं; सर्वगामी और सर्वव्यापी हैं ॥ २७ ॥

नारद उवाच

योऽसौ मुर इति ख्यातः कस्य पुत्रः स गीयते। कथं च निहतः संख्ये विष्णुना तद् वदस्व मे ॥ २८ ॥

नारदने (पुलस्त्यजीसे) पूछा—आप मुझे यह बतलायें कि यह मुर-नामधारी दानव किसका पुत्र है और लड़ाईके मैदानमें भगवान् विष्णुने उसे किस प्रकार मारा? ॥ २८ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि मुरासुरनिबर्हणम्। विचित्रमिदमाख्यानं पुण्यं पापप्रणाशनम् ॥ २९ ॥
कश्यपस्यौरसः पुत्रो मुरो नाम दनूद्भवः। स ददर्श रणे शस्तान् दितिपुत्रान् सुरोत्तमैः ॥ ३० ॥
ततः स मरणाद् भीतस्तप्त्वा वर्षगणान्बहून्। आराधयामास विभुं ब्रह्माणमपराजितम् ॥ ३१ ॥
ततोऽस्य तुष्टो वरदः प्राह वत्स वरं वृणु। स च वव्रे वरं दैत्यो वरमेनं पितामहात् ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! मुर असुरके विनाशकी कथा अद्भुत है, वह पापका विनाश करनेवाली और पवित्रकारिणी है; मैं उसे कहूँगा; तुम सुनो । दनुकी कोखसे कश्यपका औरस पुत्र मुर उत्पन्न हुआ । उसने श्रेष्ठ देवोंद्वारा संग्राममें दैत्योंको पराजित देखा । उसके बाद मृत्युसे भयभीत होकर उसने बहुत वर्षोंतक तपस्या करते हुए व्यापक अजेय ब्रह्माकी आराधना की । उसके बाद उसके ऊपर संतुष्ट होकर ब्रह्माने कहा—वत्स ! वर माँगो । उस दैत्यने पितामहसे यह श्रेष्ठ वर माँगा—॥ २९–३२ ॥

यं यं करतलेनाहं स्पृशेयं समरे विभो । स स मद्धस्तसंस्पृष्टस्त्वमरोऽपि मरत्वतः ॥ ३३ ॥
बाढमित्याह भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । ततोऽभ्यागान्महातेजा मुरः सुरगिरिं बली ॥ ३४ ॥
समेत्याह्वयते देवं यक्षं किन्नरमेव वा । न कश्चिद् युयुधे तेन समं दैत्येन नारद ॥ ३५ ॥
ततोऽमरावतीं क्रुद्धः स गत्वा शक्रमाह्वयत् । न चास्य सह योद्धुं वै मतिं चक्रे पुरंदरः ॥ ३६ ॥

विभो ! युद्धमें मैं जिसे हाथसे छू दूँ वह मेरे हाथसे छूते ही अमर (देवता) होनेपर भी मृत्युको प्राप्त हो जाय। लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने कहा—बहुत ठीक; ऐसा ही होगा । उसके बाद महातेजस्वी बलशाली मुर देवगिरि-पर जा पहुँचा । [पुलस्त्यजी कहते हैं कि] नारदजी ! वहाँ पहुँचकर उसने देवता, यक्ष, किन्नर आदिको युद्धके लिये ललकारा, किंतु किसीने भी उसके साथ युद्ध नहीं किया । उसके बाद क्रुद्ध होकर वह अमरावतीकी ओर चला गया और इन्द्रको संग्राम करनेके लिये ललकारने लगा । किंतु इन्द्रने भी उसके साथ युद्ध करनेका विचार नहीं किया ॥ ३३–३६ ॥

ततः स करमुद्यम्य प्रविवेशामरावतीम् । प्रविशन्तं न तं कश्चिन्निवारयितुमुत्सहेत् ॥ ३७ ॥
स गत्वा शक्रसदनं प्रोवाचेन्द्रं मुरस्तदा । देहि युद्धं सहस्राक्ष नो चेत् स्वर्गं परित्यज ॥ ३८ ॥
इत्येवमुक्तो मुरुणा ब्रह्मन् हरिहयस्तदा । स्वर्गराज्यं परित्यज्य भूचरः समजायत ॥ ३९ ॥
ततो गजेन्द्रकुलिशौ हृतौ शक्रस्य शत्रुणा । सकलत्रो महातेजाः सह देवैः सुतेन च ॥ ४० ॥
कालिन्द्या दक्षिणे कूले निवेश्य स्वपुरं स्थितः । मुरुश्चापि महाभोगान् बुभुजे स्वर्गसंस्थितः ॥ ४१ ॥

उसके बाद हाथ उठाये हुए उसने अमरावतीमें प्रवेश किया । परंतु किसीने भी प्रवेश करते हुए उसको रोकनेका साहस नहीं किया । उसके बाद इन्द्रके भवनमें जाकर मुरने इन्द्रसे कहा—सहस्राक्ष ! मुझसे संग्राम करो, अन्यथा स्वर्गको छोड़ दो । ब्रह्मन् ! मुरके इस प्रकार कहनेपर इन्द्र (युद्ध न कर) स्वर्गका राज्य छोड़कर पृथ्वीपर विचरण करने लगे । उसके बाद (उस) शत्रुने इन्द्रके गजराज (ऐरावत) और वज्रको छीन लिया । महातेजस्वी इन्द्र अपनी पत्नी, पुत्र और देवताओंके साथ कालिन्दीके दक्षिण तटपर अपना नगर बसाकर रहने लगे और मुर स्वर्गमें रहते हुए महान् भोगोंका उपभोग करने लगा ॥ ३७–४१ ॥

दानवाश्चापरे रौद्रा मयतारपुरोगमाः । मुरमासाद्य मोदन्ते स्वर्गे सुकृतिनो यथा ॥ ४२ ॥
स कदाचिन्महीपृष्ठं समायातो महासुरः । एकाकी कुञ्जरारूढः सरयूं निम्नगां प्रति ॥ ४३ ॥
स सरय्वास्तटे वीरं राजानं सूर्यवंशजम् । ददर्श रघुनामानं दीक्षितं यज्ञकर्मणि ॥ ४४ ॥
तमुपेत्याब्रवीद् दैत्यो युद्धं मे दीयतामिति । नो चेन्निवर्ततां यज्ञो नेष्टव्या देवतास्त्वया ॥ ४५ ॥

मय और तारक आदि दूसरे भयङ्कर दानव भी मुरके निकट पहुँचकर स्वर्गमें पुण्यात्माओंके समान आमोद-प्रमोद करने लगे । वह महान् असुर किसी समय पृथ्वीपर आया और अकेला ही हाथीपर चढ़कर सरयू नदीके तटपर उपस्थित हुआ । उसने सरयूके किनारे सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए एवं यज्ञकर्ममें दीक्षित रघु नामके राजाको

देखा। उनके पास जाकर उस दैत्यने कहा—मुझसे संग्राम करो, नहीं तो यज्ञ करना बंद कर दो। तुम देवताओंकी पूजा नहीं कर सकते ॥ ४२–४५ ॥

तमुपेत्य महातेजा मित्रावरुणसंभवः। प्रोवाच बुद्धिमान् ब्रह्मन् वसिष्ठस्तपतां वरः ॥ ४६ ॥
किं ते जितैर्नरैर्दैत्य अजिताननुशासय। प्रहर्तुमिच्छसि यदि तं निवारय चान्तकम् ॥ ४७ ॥
स बली शासनं तुभ्यं न करोति महासुर। तस्मिञ्जिते हि विजितं सर्वं मन्यस्व भूतलम् ॥ ४८ ॥
स तद् वसिष्ठवचनं निशम्य दनुपुङ्गवः। जगाम धर्मराजानं विजेतुं दण्डपाणिनम् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मन्! मित्रावरुणके पुत्र महातेजस्वी, बुद्धिमान् और तपस्वियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठने उस दैत्यके पास जाकर कहा—दैत्य! मनुष्योंको जीत लेनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? जो नहीं जीते गये हैं उनको पराजित करो। यदि तुम (चढ़ाई कर) प्रहार करना चाहते हो तो उन यमराजका अवरोध करो। महासुर! वे बलशाली हैं। तुम्हारा शासन नहीं मानते। उनको जीत लेनेपर समस्त भूतलको पराजित हुआ समझो। वसिष्ठका वह वचन सुनकर दानवश्रेष्ठ दण्ड धारण करनेवाले धर्मराजको जीतनेके लिये चल पड़ा ॥ ४६–४९ ॥

तमायान्तं यमः श्रुत्वा मत्वाऽवध्यं च संयुगे। स समारुह्य महिषं केशवान्तिकमागमत् ॥ ५० ॥
समेत्य चाभिवाद्यैनं प्रोवाच मुरचेष्टितम्। स चाह गच्छ मामद्य प्रेषयस्व महासुरम् ॥ ५१ ॥
स वासुदेववचनं श्रुत्वाऽभ्यागात् त्वरान्वितः। एतस्मिन्नन्तरे दैत्यः सम्प्राप्तो नगरीं मुरः ॥ ५२ ॥
तमागतं यमः प्राह किं मुरो कर्तुमिच्छसि। वदस्व वचनं कर्ता त्वदीयं दानवेश्वर ॥ ५३ ॥

उसे आता हुआ सुनकर तथा संग्राममें वह अवध्य है—ऐसा विचारकर वे यमराज महिषपर सवार होकर भगवान् केशवके पास चले गये। उनके पास जाकर प्रणाम करनेके पश्चात् (यमराजने) मुरके कृत्योंको बताया। उन्होंने कहा—तुम जाकर अभी उस महासुरको मेरे पास भेज दो। वासुदेवके वचनको सुनकर वे शीघ्र चले आये। इतनेमें मुर दैत्य उनकी नगरीमें आया। उसके आनेपर यमने कहा—हे मुर! बतलाओ तुम क्या करना चाहते हो? दानवेश्वर! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ५०–५३ ॥

मुरुरुवाच

यम प्रजासंयमनान्निवृत्तिं कर्तुमर्हसि। नो चेत् तवाद्य छित्त्वाऽहं मूर्धानं पातये भुवि ॥ ५४ ॥
तमाह धर्मराड् ब्रह्मन् यदि मां संयमाद् भवान्। गोपायति मुरो सत्यं करिष्ये वचनं तव ॥ ५५ ॥
मुरस्तमाह भवतः कः संयन्ता वदस्व माम्। अहमेनं पराजित्य वारयामि न संशयः ॥ ५६ ॥
यमस्तं प्राह मां विष्णुर्देवश्चक्रगदाधरः। श्वेतद्वीपनिवासी यः स मां संयमतेऽव्ययः ॥ ५७ ॥

मुरु या मुरने कहा—यम! तुम प्रजाओंके ऊपर नियन्त्रण करना बंद कर दो, नहीं तो मैं तुम्हारा सिर काटकर पृथ्वीपर फेंक दूँगा। ब्रह्मन्! धर्मराजने उससे कहा—यदि तुम मेरे ऊपर संयम करनेवालेसे मेरी रक्षा कर सको तो मैं सत्य कहता हूँ कि तुम्हारे वचनका पालन करूँगा। मुरने उनसे कहा—मुझे बतलाओ कि तुम्हारा संयन्ता (शासक) कौन है? मैं निस्सन्देह उसे पराजित कर रोक दूँगा। यमने उससे कहा—जो श्वेतद्वीपके निवासी, चक्र-गदा धारण करनेवाले, अविनाशी भगवान् विष्णु हैं, वे ही मुझे शासित करते हैं ॥ ५४–५७ ॥

तमाह दैत्यशार्दूलः क्वासौ वसति दुर्जयः। स्वयं तत्र गमिष्यामि तस्य संयमनोद्यतः ॥ ५८ ॥
तमुवाच यमो गच्छ क्षीरोदं नाम सागरम्। तत्रास्ते भगवान् विष्णुर्लोकनाथो जगन्मयः ॥ ५९ ॥
मुरस्तद्वाक्यमाकर्ण्य प्राह गच्छामि केशवम्। किं तु त्वया न तावद्धि संयम्या धर्म मानवाः ॥ ६० ॥
स प्राह गच्छ त्वं तावत् प्रवर्तिष्ये जयं प्रति। संयन्तुर्वा यथा स्याद्धि ततो युद्धं समाचर ॥ ६१ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं दुग्धाब्धिमगमन्मुरः। यत्रास्ते शेषपर्यङ्के चतुर्मूर्तिर्जनार्दनः ॥ ६२ ॥

दैत्योंमें श्रेष्ठ मुरने यमराजसे कहा—यम ! वह कहाँ रहता है, जिसे कठिनतासे जीता जा सकता है ? उसका संयमन करनेके लिये मैं तैयार होकर वहाँ स्वयं जाऊँगा । यमराजने उससे कहा—तुम क्षीरसागरमें जाओ । वहाँ लोकस्वामी जगन्मूर्ति भगवान् विष्णु रहते हैं । मुरने उनकी बात सुनकर कहा—धर्मराज ! मैं केशवके पास जा रहा हूँ, परंतु तुम तबतक मनुष्योंका नियमन मत करना । उस-(मुर-) ने कहा—तुम जाओ । तबतक मैं तुम्हारे नियामकको जैसे भी हो जीतनेका प्रयत्न करूँगा । उसके बाद तुम युद्ध करना । इतना कहकर मुरु या मुर दैत्य क्षीरसागरमें जा पहुँचा । वहाँ (जाकर उसने देखा कि) चतुर्भुजाधारी जनार्दन अनन्त नागकी शय्यापर (पड़े हुए) हैं ॥ ५८–६२ ॥

नारद उवाच

चतुर्मूर्त्तिः कथं विष्णुरेक एव निगद्यते । सर्वगत्वात् कथमपि अव्यक्तत्वाच्च तद्वद ॥ ६३ ॥

नारदजीने पूछा—आप (कृपया) यह बतलायें कि विष्णु एक होनेपर भी चतुर्मूर्ति क्यों कहे जाते हैं । क्या सर्वगत एवं अव्यक्त होनेके कारण तो नहीं कहा जाता ? (आप) उसे कहें ॥ ६३ ॥

पुलस्त्य उवाच

अव्यक्तः सर्वगोऽपीह एक एव महामुने । चतुर्मूर्त्तिर्जगन्नाथो यथा ब्रह्मंस्तथा शृणु ॥ ६४ ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं शुक्लं शान्तं परं पदम् । वासुदेवाख्यमव्यक्तं स्मृतं द्वादशपत्रकम् ॥ ६५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! अव्यक्त एवं सर्वव्यापी होनेपर भी वे एक ही हैं । जिस कारणसे जगन्नाथ चतुर्मूर्ति कहे जाते हैं, उसे बताता हूँ, सुनो । वासुदेव नामक श्रेष्ठ पद (तर्क या अनुमानद्वारा अज्ञेय) एवं निर्देश किये जानेमें अशक्य, शुक्ल (शुद्ध), शान्तियुक्त, अव्यक्त (अप्रकट) एवं द्वादशपत्रक (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय—**) द्वादशाक्षर मन्त्रवाला) कहा गया है ॥ ६४-६५ ॥

नारद उवाच

कथं शुक्लं कथं शान्तमप्रतर्क्यमनिन्दितम् । कान्यस्य द्वादशैवोक्ता पत्रका तानि मे वद ॥ ६६ ॥

नारदजीने पुनः पूछा—किस प्रकार वे शुक्ल, शान्त, अप्रतर्क्य एवं अनिन्दित हैं ? मुझे बतलाइये कि उनके कथित द्वादशपत्रक कौन हैं ॥ ६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व गुह्यं परमं परमेष्ठिप्रभाषितम् । श्रुतं सनत्कुमारेण तेनाख्यातं च तन्मम ॥ ६७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—पितामह ब्रह्माने जिस परम गुह्य वचनको कहा है, उसे सुनिये । सनत्कुमारने उसे सुना था और उन्होंने मुझसे कहा था ॥ ६७ ॥

नारद उवाच

कोऽयं सनत्कुमारेति यस्योक्तं ब्रह्मणा स्वयम् । तवापि तेन गदितं वद मामनुपूर्वशः ॥ ६८ ॥

नारदजीने फिर कहा—इस विषयमें स्वयं ब्रह्माने जिनसे कहा है, वे सनत्कुमार कौन हैं ? और उन्होंने भी आपसे जो कहा है उसे क्रमशः मुझसे कहें ॥ ६८ ॥

पुलस्त्य उवाच

धर्मस्य भार्याहिंसाख्या तस्यां पुत्रचतुष्टयम् । संजातं मुनिशार्दूल योगशास्त्रविचारकम् ॥ ६९ ॥
ज्येष्ठः सनत्कुमारोऽभूद् द्वितीयश्च सनातनः । तृतीयः सनको नाम चतुर्थश्च सनन्दनः ॥ ७० ॥
सांख्यवेत्तारमपरं कपिलं वोढुमासुरिम् । दृष्ट्वा पञ्चशिखं श्रेष्ठं योगयुक्तं तपोनिधिम् ॥ ७१ ॥

सनत्कुमारश्चाभ्येत्य ब्रह्माणं कमलोद्भवम्। अपृच्छद् योगविज्ञानं तमुवाच प्रजापतिः ॥ ७३ ॥

ज्ञानयोगं न ते दद्युर्ज्यायांसोऽपि कनीयसाम्। मानमुक्तं महायोगं कपिलादीनुपासतः ॥ ७२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—धर्मकी पत्नी अहिंसा है। उससे चार पुत्र हुए। मुनिश्रेष्ठ! वे सभी योगशास्त्रके विचार करनेमे कुशल थे। उनमें सनत्कुमार ज्येष्ठ, सनातन द्वितीय, सनक तृतीय एवं चतुर्थ सनन्दन हुए। वे सभी सांख्यवेत्ता कपिल, वोढु, आसुरी एवं योगसे युक्त तपोनिधि श्रेष्ठ पञ्चशिख नामक (ऋषि) को देखकर (उनके पास गये)। वडे होनेपर भी उन लोगोंने अपनेमे छोटोंको ज्ञानयोगका उपदेश नहीं दिया। कपिल आदिकी उपासना करनेवालोंको महायोगका परिणाम मात्र बतला दिया। सनत्कुमारने कमलोद्भव ब्रह्माके पास जाकर योग-विज्ञान पूछा। प्रजापतिने उनसे कहा ॥ ६९-७३ ॥

ब्रह्मोवाच

कथयिष्यामि ते साध्य यदि पुत्रत्वमिच्छसि। यस्य कस्य न वक्तव्यं तत्सत्यं नान्यथेति हि ॥ ७४ ॥

ब्रह्माने कहा—साध्य! यदि तुम पुत्र होना चाहो तो मै तुमसे कहूँगा। उसे जिस-किसीसे नहीं कहना चाहिये; क्योंकि यह सत्य है, अन्यथा नहीं है ॥ ७४ ॥

सनत्कुमार उवाच

पुत्र एवास्मि देवेश यतः शिष्योऽस्म्यहं विभो। न विशेषोऽस्ति पुत्रस्य शिष्यस्य च पितामह ॥ ७५ ॥

सनत्कुमारने कहा—देवेश! मैं पुत्र ही हूँ; क्योंकि विभो! मै शिष्य हूँ। पितामह! पुत्र और शिष्यमें कोई भेद नहीं होता ॥ ७५ ॥

ब्रह्मोवाच

विशेषः शिष्यपुत्राभ्यां विद्यते धर्मनन्दन। धर्मकर्मसमायोगे तथापि गदतः शृणु ॥ ७६ ॥

पुन्नाम्नो नरकात् त्राति पुत्रस्तेनेह गीयते। शेषपापहरः शिष्य इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ ७७ ॥

ब्रह्माने कहा—धर्मनन्दन! शिष्य और पुत्रमे धर्म-कर्मके संयोगमें (जो) कुछ भेद होता है उसे बताता हूँ; मुझसे सुनो। यह वैदिकी श्रुति है—जो पुम् नामक नरकसे उद्धार कर देता है उसे 'पुत्र' कहा जाता है और शेष पापोंका हरण करनेवाला होनेसे 'शिष्य' कहा जाता है (—यही दोनोंमें भेद है) ॥ ७६-७७ ॥

सनत्कुमार उवाच

कोऽयं पुन्नामको देव नरकात् त्राति पुत्रकः। कस्माच्छेषं ततः पापं हरेच्छिष्यश्च तद्वद ॥ ७८ ॥

सनत्कुमारने कहा (पूछा)—देव! वह 'पुम्' नामक नरक कौन है? जिस नरकसे पुत्र रक्षा करता है और शिष्य किससे अवशिष्ट पापका हरण करता है; आप कृपया इन्हे बतलाइये ॥ ७८ ॥

ब्रह्मोवाच

एतत् पुराणं परमं महर्षे योगाङ्गयुक्तं च सदैव यच्च।
तथैव चोग्रं भयहारि मानवं वदामि ते साध्य निशामयैनम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

ब्रह्माने कहा—महर्षे! मैं तुमको अत्यन्त प्राचीन, योगाङ्गसे युक्त, उग्र भय दूर करनेवाली परम पवित्र कथा सुनाता हूँ। हे साध्य! तुम इसे सुनो ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें साठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

[अथैकषष्टितमोऽध्यायः]

ब्रह्मोवाच

परदाराभिगमनं पापीयांसोपसेवनम्। पारुष्यं सर्वभूतानां प्रथमं नरकं स्मृतम्॥ १ ॥
फलस्तेयं महापापं फलहीनं तथाऽटनम्। छेदनं वृक्षजातीनां द्वितीयं नरकं स्मृतम्॥ २ ॥
वर्ज्यादानं तथा दुष्टमवध्यवधबन्धनम्। विवादमर्थहेतूत्थं तृतीयं नरकं स्मृतम्॥ ३ ॥
भयदं सर्वसत्त्वानां भवभूतिविनाशनम्। भ्रंशनं निजधर्माणां चतुर्थं नरकं स्मृतम्॥ ४ ॥

इकसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुन्नाम नरकोंका वर्णन, पुत्र-शिष्यकी विशेषता एवं बारह प्रकारके पुत्रोंका वर्णन, सनत्कुमार-ब्रह्माका प्रसंग, चतुर्मूर्तिका वर्णन और मुरु-वध)

ब्रह्माने कहा—परस्त्रीसे संगत होना, पापियोंके साथ रहना और सब प्राणियोंके प्रति (किसी भी प्राणीके साथ) कठोरताका व्यवहार करना पहला नरक कहा गया है। फलोंकी चोरी, (अच्छे) उद्देश्यसे रहित घूमना (अवारापन) एवं वृक्ष आदि वनस्पतियोंका काटना घोर पाप तथा दूसरा नरक कहा गया है। दोषयुक्त एवं वर्जित—ग्रहण न करने योग्य—वस्तुओंका लेना, जो वधके योग्य नहीं है उसे मारना अथवा बन्धनमें डालना (बन्दी बनाना) और अर्थ-(धन—रुपये-पैसे-)के लिये किया जानेवाला विवाद (मुकदमा उठाना) तीसरा नरक होता है। सभी प्राणियोंको भय देना, संसारकी सार्वजनिक सम्पत्तिको नष्ट करना तथा अपने नियत धर्म-नियमोंसे विचलित होना चौथे प्रकारका नरक कहलाता है॥ १—४॥

मारणं मित्रकौटिल्यं मिथ्याऽभिशपनं च यत्। मिष्टैकाशनमित्युक्तं पञ्चमं तु नृपाचनम्॥ ५ ॥
पत्रफलादिहरणं यमनं योगनाशनम्। यानयुग्यस्य हरणं षष्ठमुक्तं नृपाचनम्॥ ६ ॥
राजभागहरं मूढं राजजायानिषेवणम्। राज्ये त्वहितकारित्वं सप्तमं निरयं स्मृतम्॥ ७ ॥
लुब्धत्वं लोलुपत्वं च लब्धधर्मार्थनाशनम्। लालासंकीर्णमेवोक्तमष्टमं नरकं स्मृतम्॥ ८ ॥

पुरश्चरण आदि तान्त्रिक अभिचारोंसे किसीको मारना, मृत्यु-जैसा अपार कष्ट देना तथा मित्रके साथ छल-छद्म, झूठी शपथ और अकेले मधुर पदार्थ खाना पाँचवाँ नरक कहा जाता है। पत्र (पुष्प आदि) एवं फल चोराना, किसीको बाँध (बन्धुवा बनाये) रखना, किसीके प्राप्तव्यकी प्राप्तिमें विघ्न-बाधा डालकर उसे नष्ट कर देना, घोड़ा-गाड़ी आदि सवारीके जूए (आदि सामानों) की चोरी कर लेना छठा पाप कहा गया है। भुलावेमें पड़कर राजाके अंशका चुरा लेना एवं मूर्खतावश साहस कर राजपत्नीका संसर्ग एवं राज्यका अमङ्गल (नुकसान) करना सातवाँ नरक कहा जाता है। किसी वस्तु या व्यक्तिपर लुभा जाना, लालच करना, पुरुषार्थसे प्राप्त धर्मयुक्त अर्थका विनाश करना और लारमिली वाणीको आठवाँ नरक कहते हैं॥ ५—८॥

विप्रोष्यं ब्रह्महरणं ब्राह्मणानां विनिन्दनम्। विरोधं बन्धुभिश्चोक्तं नवमं नरपाचनम्॥ ९ ॥
शिष्टाचारविनाशं च शिष्टद्वेषं शिशोर्वधम्। शास्त्रस्तेयं धर्मनाशं दशमं परिकीर्तितम्॥ १० ॥
षडङ्गनिधनं घोरं षाड्गुण्यप्रतिषेधनम्। एकादशममेवोक्तं नरकं सद्भिरुत्तमम्॥ ११ ॥
सत्सु नित्यं सदा वैरमनाचारमसत्क्रिया। संस्कारपरिहीनत्वमिदं द्वादशमं स्मृतम्॥ १२ ॥

ब्राह्मणको देशसे निकाल देना, ब्राह्मणका धन चुराना, ब्राह्मणोंकी निन्दा करना तथा बन्धुओंसे विरोध करना नवाँ नरक कहा जाता है। शिष्टाचारका नाश, शिष्टजनोंसे विरोध, नादान बालककी हत्या, शास्त्रग्रन्थोंकी

चोरी तथा स्वधर्मका नाश करना दसवाँ नरक कहा जाता है। षडङ्गनिधन अर्थात् छः अङ्गोंवाली वेद-विद्याको नष्ट करना और षाड्गुण्य अर्थात् सन्धि-विग्रह, यान, आसन-द्वैधीभाव, समाश्रय-(राजनीति-गुणों-)का प्रतिषेध ग्यारहवाँ घोर नरक कहा गया है। राजनोंसे सदा वैर-भाव, आचारसे रहित रहना, बुरे कार्यमें लगे रहना एवं संस्कारविहीनताको बारहवाँ नरक कहा गया है ॥ ९-१२ ॥

हानिर्धर्मार्थकामानामपवर्गस्य हारणम्। संभेदः संविदामेतत् त्रयोदशममुच्यते ॥ १३ ॥
कृपणं धर्महीनं च यद् वर्ज्यं यच्च वह्निदम्। चतुर्दशममेवोक्तं नरकं तद् विगर्हितम् ॥ १४ ॥
अज्ञानं चाप्यसूयत्वमशौचमशुभावहम्। स्मृतं तत् पञ्चदशममसत्यवचनानि च ॥ १५ ॥
आलस्यं वै षोडशममाक्रोशं च विशेषतः। सर्वस्य चाततायित्वमावासेष्वग्निदीपनम् ॥ १६ ॥

धर्म, अर्थ एवं सत्कामनाकी हानि, मोक्षका नाश एवं इनके समन्वयमें विरोध उत्पन्न करनेको तेरहवाँ नरक कहा जाता है। कृपण, धर्महीन, परित्याज्य एवं आग लगानेवालेको चौदहवाँ निन्दित नरक कहते हैं। विवेकहीनता, दूसरेके गुणमें दोष निकालना, अमङ्गल करना, अपवित्रता एवं असत्य वचन बोलनेको पंद्रहवाँ नरक कहते हैं। आलस्य करना, विशेष रूपसे क्रोध करना, सभीके प्रति आततायी बन जाना एवं घरमें आग लगाना सोलहवाँ नरक कहलाता है ॥ १३-१६ ॥

इच्छा च परदारेषु नरकाय निगद्यते। ईर्ष्याभावश्च सत्येषु उद्वृत्तं तु विगर्हितम् ॥ १७ ॥
एतैस्तु पापैः पुरुषः पुन्नामाद्यैर्न संशयः। संयुक्तः प्रीणयेद् देवं संतत्या जगतः पतिम् ॥ १८ ॥
प्रीतः सुप्रज्या तु शुभया स पापाद् येन मुच्यते। पुंनामनरकं घोरं विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥
एतस्मात् कारणात् साध्य सुतः पुत्रेति गद्यते। अतः परं प्रवक्ष्यामि शेषपापस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

परस्त्रीकी कामना, सत्यके प्रति ईर्ष्या रखना, निन्दित एवं उद्दण्ड व्यवहार करना नरक देनेवाला कहा गया है। इन पुन्नाम आदि पापोंसे युक्त पुरुष (भी) निस्सन्देह 'पुत्र'के द्वारा जगत्पति जनार्दनको प्रसन्न कर सकता है। पापहारी सुसन्ततिसे प्रसन्न होकर भगवान् जनार्दन पुंनामके घोर नरकको पूर्णतया नष्ट कर देते हैं। साध्य! इसीलिये सुतको 'पुत्र' कहा जाता है। अब इसके बाद मैं शेष पापोंका लक्षण बतलाता हूँ ॥ १७-२० ॥

ऋणं देवर्षिभूतानां मनुष्याणां विशेषतः। पितृणां च द्विजश्रेष्ठ सर्ववर्णेषु चैकता ॥ २१ ॥
ओंकारादपि निर्वृत्तिः पापकार्यकृतश्च यः। मत्स्यादश्च महापापमगम्यागमनं तथा ॥ २२ ॥
घृतादिविक्रयं घोरं चण्डालादिपरिग्रहः। स्वदोषाच्छादनं पापं परदोषप्रकाशनम् ॥ २३ ॥
मत्सरित्वं वाग्दुष्टत्वं निष्ठुरत्वं तथा परम्। टाकित्वं तालवादित्वं नाम्ना वाचाऽप्यधर्मजम् ॥ २४ ॥
दारुणत्वमधार्मिक्यं नरकावहमुच्यते। एतैश्च पापैः संयुक्तः प्रीणयेद् यदि शङ्करम् ॥ २५ ॥
ज्ञानाधिकमशेषेण शेषपापं जयेत् ततः। शारीरं वाचिकं यत् तु मानसं कायिकं तथा ॥ २६ ॥
पितृमातृकृतं यच्च कृतं यच्चाश्रितैर्नरैः। भ्रातृभिर्बान्धवैश्चापि तस्मिञ् जन्मनि धर्मज ॥ २७ ॥
तत्सर्वं विलयं याति स धर्मः सुतशिष्ययोः। विपरीते भवेत् साध्य विपरीतः पदक्रमः ॥ २८ ॥
तस्मात् पुत्रश्च शिष्यश्च विधातव्यौ विपश्चिता।
एतदर्थमभिध्याय शिष्याच्छ्रेष्ठतरः सुतः। शेषात् तारयते शिष्यः सर्वतोऽपि हि पुत्रकः ॥ २९ ॥

द्विजश्रेष्ठ! देवऋण, ऋषिऋण, प्राणियोंके ग्रहण—विशेषतः मनुष्यों एवं पितरोंका ऋण; सभी वर्णोंको एक समझना, ॐकारके उच्चारणमें उपेक्षा-भाव रखना, पापकामोंका करना, मछली खाना तथा अगम्या स्त्रीसे संगत होना—ये महापाप हैं। घृत-तैल आदिका बेचना, चाण्डाल आदिसे दान लेना, अपना दोष छिपाना और दूसरेका

दोष प्रकट करना—ये घोर पाप हैं। दूसरेका उत्कर्ष देखकर जलना, कड़वी बात बोलना, निर्दयपना, नाम कहनेसे भी अधर्मजनक टाकिता और तालवादिता, भयङ्करता तथा अधार्मिकताके कार्य नरकके कारण हैं। इन पापोंसे युक्त मनुष्य (भी) यदि परमज्ञानी शङ्करको (अपनी आराधनासे) संतुष्ट कर लेता है तो शेष पापोंको वह पूर्णरूपसे जीत लेता है। धर्मपुत्र ! उस जन्ममे किये गये (अपने) सभी कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म तथा माता-पिता एवं आश्रितजनो और भाइयों एवं बान्धवोद्वारा किये गये कर्म भी विलीन हो जाते हैं। साध्य ! सुत और शिष्यका यही धर्म है। इसके विपरीत होनेपर विपरीत गति प्राप्त होती है, अतएव विद्वान् व्यक्तिको चाहिये कि पुत्र और शिष्यकी (परम्परा) बनाये रखे। इसी अभिप्रायकी दृष्टिसे शिष्यकी अपेक्षा पुत्र अत्यन्त श्रेष्ठ होता है कि शिष्य केवल शेष पापोंसे मुक्त करता है और पुत्र सम्पूर्ण पापोंसे बचा लेता है ॥ २१–२९ ॥

पुलस्त्य उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा साध्यः प्राह तपोधनः। त्रिः सत्यं तव पुत्रोऽहं देव योगं वदस्व मे ॥ ३० ॥
तमुवाच महायोगी त्वन्मातापितरौ यदि। दास्येते च ततः सूनुर्दायादो मेऽसि पुत्रक ॥ ३१ ॥
सनत्कुमारः प्रोवाच दायादपरिकल्पना। येयं हि भवता प्रोक्ता तां मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३२ ॥
तदुक्तं साध्यमुख्येन वाक्यं श्रुत्वा पितामहः। प्राह प्रहस्य भगवाञ् शृणु वत्सेति नारद ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—पितामहकी बात सुनकर साध्य तपोधन सनत्कुमारने कहा—देव ! मै तीन बार सत्यका उच्चारण करके कहता हूँ कि मैं आपका पुत्र हूँ। अत. मुझे आप योगका उपदेश दीजिये। तब महायोगी पितामहने उनसे कहा—पुत्र ! तुम्हारे माता-पिता यदि तुमको मुझे दे दें तो तुम मेरे (स्वत्वप्राप्तिमें अधिकृत) 'दायाद' (भागीदार) पुत्र हो जाओगे। सनत्कुमारने कहा—भगवन् ! आपने जो यह 'दायाद' शब्द कहा है उसका अर्थ क्या है ? (कृपया) उसकी विवेचना कीजिये। नारदजी ! भगवान् पितामह साध्यप्रधान सनत्कुमारका वचन सुनकर हँसते हुए बोले—वत्स ! सुनो ॥ ३०–३३ ॥

ब्रह्मोवाच

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवास्तु षट् ॥ ३४ ॥
अमीषु षट्सु पुत्रेषु ऋणपिण्डधनक्रियाः। गोत्रसाम्यं कुले वृत्तिःप्रतिष्ठा शाश्वती तथा ॥ ३५ ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तः पारशवः षड् दायादबान्धवाः ॥ ३६ ॥
अमीभिर्ऋणपिण्डादिकथा नैवेह विद्यते। नामधारका एवेह न गोत्रकुलसंमताः ॥ ३७ ॥

ब्रह्माने कहा—'औरस', 'क्षेत्रज', 'दत्त', 'कृत्रिम', 'गूढोत्पन्न' और 'अपविद्ध'—ये छः बान्धव दायाद अर्थात् (दायभागके अधिकारी) होते हैं। इन छः पुत्रोसे ऋण, पिण्ड, धनकी क्रिया, गोत्रसाम्य, कुलवृत्ति और स्थिर प्रतिष्ठा रहती है। (इसके अतिरिक्त) कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और पारशव—ये छः दायाद-बान्धव कहे जाते हैं। इनके द्वारा ऋण एवं पिण्ड आदिका कार्य नहीं होता। ये केवल नामधारी होते हैं। ये गोत्र एवं कुलसे सम्मत नहीं होते ॥ ३४–३७ ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा ब्रह्मणः सनकाग्रजः। उवाचैषां विशेषं मे ब्रह्मन् व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३८ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिर्विशेषं शृणु पुत्रक। औरसो यः स्वयं जातः प्रतिबिम्बमिवात्मनः ॥ ३९ ॥
क्लीबोन्मत्ते व्यसनिनि पत्यौ तस्याज्ञया तु या। भार्या ह्यनातुरा पुत्रं जनयेत् क्षेत्रजस्तु सः ॥ ४० ॥
मातापितृभ्यां यो दत्तः स दत्तः परिगीयते। मित्रपुत्रं मित्रदत्तं कृत्रिमं प्राहुरुत्तमाः ॥ ४१ ॥

सनत्कुमारने उनकी बात सुनकर (पुनः) कहा—ब्रह्मन् ! आप इन सभीका विशेष लक्षण मुझे बतलाइये। उसके पश्चात् देवोंके स्वामी ब्रह्माने कहा—पुत्र ! इन्हें मैं विशेषरूपसे बतलाता हूँ; सुनो । अपनेद्वारा उत्पन्न किया गया पुत्र 'औरस' कहलाता है । यह अपना ही प्रतिबिम्ब होता है । पतिके नपुंसक, उन्मत्त (पागल) या व्यसनी होनेपर उसकी आज्ञासे अनातुरा (कामवासनासे रहित) पत्नी जो पुत्र उत्पन्न करती है, उसे 'क्षेत्रज' कहते हैं । माता-पिता यदि दूसरेको अपने पुत्रको सौंप दे तो वह 'दत्तक' (या गोद लिया हुआ) कहा जाता है । श्रेष्ठजन मित्रके पुत्र और मित्रद्वारा दिये गये पुत्रको 'कृत्रिम पुत्र' कहते हैं ॥ ३८–४१ ॥

न ज्ञायते गृहे केन जातस्त्विति स गूढकः । बाह्यतः स्वयमानीतः सोऽपविद्धः प्रकीर्तितः ॥ ४२ ॥
कन्याजातस्तु कानीनः सगर्भोढः सहोढकः । मूल्यैर्गृहीतः क्रीतः स्याद् द्विविधः स्यात् पुनर्भवः ॥ ४३ ॥
दत्त्वैकस्य च या कन्या हृत्वाऽन्यस्य प्रदीयते । तज्जातस्तनयो ज्ञेयो लोके पौनर्भवो मुने ॥ ४४ ॥
दुर्भिक्षे व्यसने चापि येनात्मा विनिवेदितः । स स्वयंदत्त इत्युक्तस्तथान्यः कारणान्तरैः ॥ ४५ ॥

वह पुत्र 'गूढ' होता है, जिसके विषयमें यह ज्ञान न हो कि गृहमें किसके द्वारा वह उत्पन्न हुआ है । बाहरसे स्वयं लाये हुए पुत्रको 'अपविद्ध' कहते हैं । कुमारी कन्याके गर्भसे उत्पन्न पुत्रका नाम 'कानीन' होता है । गर्भिणी कन्यासे विवाहके बाद उत्पन्न पुत्रको 'सहोढ' कहते हैं । मूल्य देकर खरीदा हुआ पुत्र 'क्रीत' पुत्र कहलाता है । 'पुनर्भव' पुत्र दो प्रकारका होता है । एक कन्याको एक पतिके हाथमें देकर पुनः उससे छीनकर दूसरे पतिके हाथमें देनेपर जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे 'पुनर्भव' पुत्र कहते हैं । दुर्भिक्ष, व्यसन या अन्य किसी कारणसे जो स्वयंको (किसी दूसरेके हाथमें) समर्पित कर देता है उसे 'स्वयंदत्त' पुत्र कहते हैं ॥ ४२–४५ ॥

ब्राह्मणस्य सुतः शूद्रयां जायते यस्तु सुव्रत । ऊढायां वाप्यनूढायां स पारशव उच्यते ॥ ४६ ॥
एतस्मात् कारणात् पुत्र न स्वयं दातुमर्हसि । स्वमात्मानं गच्छ शीघ्रं पितरौ समुपाह्वय ॥ ४७ ॥
ततः स मातापितरौ सस्मार वचनाद् विभोः । तावाजग्मतुरीशानं द्रष्टुं वै दम्पती मुने ॥ ४८ ॥
धर्मोऽहिंसा च देवेशं प्रणिपत्य न्यषीदताम् । उपविष्टौ सुखासीनौ साध्यो वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

सुव्रत ! ब्याही गयी या कॉरी अविवाहित शूद्राके गर्भसे ब्राह्मणका जो पुत्र होता है उसका नाम 'पारशव' पुत्र है । पुत्र ! इन कारणोंसे तुम स्वयं आत्मदान नहीं कर सकते । अतः शीघ्र जाकर अपने माता-पिताको बुला लाओ । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] मुने ! इसके बाद सनत्कुमारने विभु ब्रह्माके कहनेसे अपने माता-पिताका स्मरण किया । नारदमुनि ! वे दम्पति पितामहका दर्शन करनेके लिये वहाँ आ गये । धर्म और अहिंसा—दोनों ब्रह्माको प्रणाम कर बैठ गये । उनके सुखसे बैठ जानेपर सनत्कुमारने यह वचन कहा ॥ ४६–४९ ॥

सनत्कुमार उवाच

योगं जिगमिषुस्तात ब्रह्माणं स्वमचूचुदम् । स चोक्तवान् मां पुत्रार्थे तस्मात् त्वं दातुमर्हसि ॥ ५० ॥
तावेवमुक्तौ पुत्रेण योगाचार्यं पितामहम् । उक्तवन्तौ प्रभोऽयं हि आवयोस्तनयस्तव ॥ ५१ ॥
अद्यप्रभृत्ययं पुत्रस्तव ब्रह्मन् भविष्यति । इत्युक्त्वा जग्मतुस्तूर्णं येनैवाभ्यागतौ यथा ॥ ५२ ॥
पितामहोऽपि तं पुत्रं साध्यं सद्विनयान्वितम् । सनत्कुमारं प्रोवाच योगं द्वादशपत्रकम् ॥ ५३ ॥

सनत्कुमारने कहा—तात ! मैंने योग जाननेके लिये पितामहसे प्रार्थना की थी। उन्होंने मुझसे अपना पुत्र होनेके लिये कहा था। अतः आप मुझे प्रदान कर दें। पुत्रके इस प्रकार कहनेपर उन दोनों योगाचार्योंने पितामहसे कहा—प्रभो ! हम दोनोंका यह पुत्र आपका हो। ब्रह्मन् ! आजसे यह पुत्र आपका होगा। इतना कहकर वे शीघ्र ही जिस मार्गसे आये थे उसीसे फिर चले गये। पितामहने भी उस विनयी पुत्र सनत्कुमारको द्वादशपत्रयोगका उपदेश किया (जो आगे वर्णित है—) ॥ ५०—५३ ॥

शिखासंस्थं तु ओङ्कारं मेषोऽस्य शिरसि स्थितः। मासो वैशाखनामा च प्रथमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
नकारो मुखसंस्थो हि वृषस्तत्र प्रकीर्तितः। ज्येष्ठमासश्च तत्पत्रं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ५५ ॥
मोकारो भुजयोर्युग्मं मिथुनस्तत्र संस्थितः। मासो आषाढनामा च तृतीयं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५६ ॥
भकारं नेत्रयुगलं तत्र कर्कटकः स्थितः। मासः श्रावण इत्युक्तश्चतुर्थं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

इन-(भगवान् वासुदेव-)की शिखामें स्थित 'ओकार', सिरपर स्थित मेष और वैशाखमास—ये इनके प्रथम पत्रक हैं। मुखमें स्थित 'न'अक्षर और वहींपर विद्यमान वृषराशि तथा ज्येष्ठमास—ये उनके द्वितीय पत्रक कहे गये हैं। दोनों भुजाओंमें स्थित 'मो' अक्षर, मिथुन राशि एवं आषाढमास—ये उनके तृतीय पत्रक हैं। उनके नेत्रद्वयमें विद्यमान 'भ'अक्षर कर्क राशि और श्रावणमास—ये चतुर्थ पत्रक हैं ॥ ५४—५७ ॥

गकारं हृदयं प्रोक्तं सिंहो वसति तत्र च। मासो भाद्रस्तथा प्रोक्तः पञ्चमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५८ ॥
वकारं कवचं विद्यात् कन्या तत्र प्रतिष्ठिता। मासश्चाश्वयुजो नाम षष्ठं तत् पत्रकं स्मृतम् ॥ ५९ ॥
तेकारमस्त्रग्रामं च तुलाराशिः कृताश्रयः। मासश्च कार्तिको नाम सप्तमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ६० ॥
वाकारं नाभिसंयुक्तं स्थितस्तत्र तु वृश्चिकः। मासो मार्गशिरो नाम त्वष्टमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ६१ ॥

(उनके) हृदयके रूपमें विद्यमान 'ग'अक्षर, सिंहराशि और भाद्रपदमास—ये पञ्चम पत्रक हैं। (उनके) कवचके रूपमें विद्यमान 'व'अक्षर, कन्याराशि और आश्विनमास—ये षष्ठ पत्रक हैं। (उनके) अस्त्र-समूहके रूपमें विद्यमान 'ते'अक्षर, तुलाराशि और कार्तिकमास—ये सप्तम पत्रक हैं। मुने ! (उनके) नाभिरूपसे विद्यमान 'वा'अक्षर वृश्चिक राशि और मार्गशीर्षमास—ये अष्टम पत्रक हैं ॥ ५८—६१ ॥

सुकारं जघनं प्रोक्तं तत्रस्थश्च धनुर्धरः। पौषेति गदितो मासो नवमं परिकीर्तितम् ॥ ६२ ॥
देकारश्चोरुयुगलं मकरोऽप्यत्र संस्थितः। माघो निगदितो मासः पत्रकं दशमं स्मृतम् ॥ ६३ ॥
वाकारो जानुयुग्मं च कुम्भस्तत्रादिसंस्थितः। पत्रकं फाल्गुनं प्रोक्तं तदेकादशमुत्तमम् ॥ ६४ ॥
पादौ यकारो मीनोऽपि स चैत्रे वसते मुने। इदं द्वादशमं प्रोक्तं पत्रं वै केशवस्य हि ॥ ६५ ॥

(उनके) जघनरूपमें विद्यमान 'सु'अक्षर, धनुराशि और पौषमास—ये नवम पत्रक हैं। (उनके) ऊरु-युगलरूपमें विद्यमान 'दे'अक्षर, मकर राशि और माघमास—ये दशम पत्रक हैं। (उनके) दोनों घुटनोंके रूपमें विद्यमान 'वा'अक्षर, कुम्भ राशि और फाल्गुनमास—ये एकादशम पत्रक हैं। (उनके) चरणद्वयरूपमें विद्यमान 'य'अक्षर, मीन राशि और चैत्रमास—ये द्वादश पत्रक हैं। ये ही केशवके द्वादश पत्र हैं ॥६२—६५॥

द्वादशारं तथा चक्रं षण्णाभि द्वियुतं तथा। त्रिव्यूहमेकमूर्तिश्च तथोक्तः परमेश्वरः ॥ ६६ ॥
एतत् तवोक्तं देवस्य रूपं द्वादशपत्रकम्। यस्मिञ् ज्ञाते मुनिश्रेष्ठ न भूयो मरणं भवेत् ॥ ६७ ॥
द्वितीयमुक्तं सत्त्वाढ्यं चतुर्वर्णं चतुर्मुखम्। चतुर्बाहुमुदाराङ्गं श्रीवत्सधरमव्ययम् ॥ ६८ ॥
तृतीयस्तामसो नाम शेषमूर्तिः सहस्रपात्। सहस्रवदनः श्रीमान् प्रजाप्रलयकारकः ॥ ६९ ॥

उनका चक्र बारह अरों, बारह नाभियों और तीन व्यूहोंसे युक्त है। इस प्रकारकी उन परमेश्वरकी एक मूर्ति है। मुनिश्रेष्ठ ! मैंने तुमसे भगवान्‌के इस द्वादश-पत्रक (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय—इस) स्वरूपका वर्णन किया, जिसके जाननेसे पुनः (जन्म-) मरण नहीं होता। उनका द्वितीय सत्त्वमय, श्रीवत्सधारी, अविनाशी-स्वरूप चतुर्वर्ण, चतुर्मुख, चतुर्बाहु एवं उदार अङ्गोंसे युक्त है। हजारों पैरों एवं हजारों मुखोंसे सम्पन्न श्रीसंयुक्त तमोगुणमयी उनकी तृतीय शेषमूर्ति प्रजाओंका प्रलय करती है ॥ ६६—६९ ॥

चतुर्थो राजसो नाम रक्तवर्णश्चतुर्मुखः। द्विभुजो धारयन् मालां सृष्टिकृच्चादिपूरुषः ॥ ७० ॥
अव्यक्तात् सम्भवन्त्येते त्रयो व्यक्ता महामुने। अतो मरीचिप्रमुखास्तथान्येऽपि सहस्रशः ॥ ७१ ॥
एतत् तवोक्तं मुनिवर्य रूपं विभोः पुराणं मतिपुष्टिवर्धनम्।
चतुर्भुजं तं स मुरुर्दुरात्मा कृतान्तवाक्यात् पुनराससाद ॥ ७२ ॥
तमागतं प्राह मुने मधुघ्नः प्राप्तोऽसि केनासुर कारणेन।
स प्राह योद्धुं सह वै त्वयाऽद्य तं प्राह भूयः सुरशत्रुहन्ता ॥ ७३ ॥

उनका चतुर्थ रूप राजस है। वह रक्तवर्ण, चार मुख एवं दो भुजाओंवाला एवं माला धारण किये हुए है। यही सृष्टि करनेवाला आदिपुरुष रूप है। महामुने ! ये तीन व्यक्त मूर्तियाँ अव्यक्त (अदृश्य तत्त्व) से उत्पन्न होती हैं। इनसे ही मरीचि आदि ऋषि तथा अन्यान्य हजारों पुरुष उत्पन्न हुए हैं। मुनिवर ! तुम्हारे सामने मैंने विष्णुके अत्यन्त प्राचीन और मति-पुष्टिवर्द्धक रूपका वर्णन किया है। [अब आगेकी कथा सुनिये—] दुरात्मा मुरु यमराजके कहनेसे पुनः उन चतुर्भुज-(विष्णु-) के पास गया। मुने ! मधुसूदनने आये हुए उससे पूछा—असुर ! तुम किसलिये आये हो ? उसने कहा—मैं तुम्हारे साथ आज युद्ध करने आया हूँ। असुरारि-(विष्णु-) ने फिर उससे कहा—॥ ७०—७३ ॥

यदीह मां योद्धुमुपागतोऽसि तत् कम्पते ते हृदयं किमर्थम्।
ज्वरातुरस्येव मुहुर्मुहुर्वै तन्नास्मि योत्स्ये सह कातरेण ॥ ७४ ॥
इत्येवमुक्तो मधुसूदनेन मुरुस्तदा स्वे हृदये स्वहस्तम्।
कथं क कस्येति मुहुस्तथोक्त्वा निपातयामास विपन्नबुद्धिः ॥ ७५ ॥
हरिश्च चक्रं मृदुलाघवेन मुमोच तद्धृत्कमलस्य शत्रोः।
चिच्छेद देवास्तु गतव्यथाभवन् देवं प्रशंसन्ति च पद्मनाभम् ॥ ७६ ॥
एतत् तवोक्तं मुरदैत्यनाशनं कृतं हि युक्त्या शितचक्रपाणिना।
अतः प्रसिद्धिं समुपाजगाम मुरारिरित्येव विभुर्नृसिंहः ॥ ७७ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

यदि तुम मेरे साथ युद्ध करनेके लिये आये हो तो ज्वरसे पीड़ितके सदृश तुम्हारा हृदय बारंबार क्यों काँप रहा है ? मैं तो कातरके साथ युद्ध नहीं करूँगा। मधुसूदनके इस प्रकार कहनेपर 'कैसे, कहाँ ? किसका ?' इस प्रकार बार-बार कहते हुए बुद्धिहीन मुरुने अपने हृदयपर हाथ रखा। इसे देखकर हरिने आसानीसे (अत्यन्त लाघवतासे) चक्र निकाला और उस शत्रुके हृदय-कमलपर उसे छोड़ दिया (जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो गया)। उसके बाद सभी देवता सन्तापरहित होकर भगवान् पद्मनाभ विष्णुकी स्तुति करने लगे। मैंने (ब्रह्माने) तुमसे तीक्ष्ण चक्र धारण करनेवाले विष्णुद्वारा (कौशलसे) किये गये दैत्यके विनाशका वर्णन किया। इसीसे विभु नृसिंह 'मुरारि' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ७४—७७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इकसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

[अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततो मुरारिभवनं समभ्येत्य सुरास्ततः। ऊचुर्देवं नमस्कृत्य जगत्संक्षुब्धिकारणम्॥ १ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् प्राह गच्छामो हरमन्दिरम्। स वेत्स्यति महाज्ञानी जगत्क्षुब्धं चराचरम्॥ २ ॥
तथोक्ता वासुदेवेन देवाः शक्रपुरोगमाः।
जनार्दनं पुरस्कृत्य प्रजग्मुर्मन्दरं गिरिम्। न तत्र देवं न वृषं न देवीं न च नन्दिनम्॥ ३ ॥
शून्यं गिरिमपश्यन्त अज्ञानतिमिरावृताः। तान् मूढदृष्टीन् संप्रेक्ष्य देवान् विष्णुर्महाद्युतिः॥ ४ ॥
प्रोवाच किं न पश्यध्वं महेशं पुरतः स्थितम्। तमूचुर्नैव देवेशं पश्यामो गिरिजापतिम्॥ ५ ॥

बासठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(शिवके अभिषेक और तप्त-कृच्छ्र-व्रतका उपदेश, हरि-हरके संयोगसे विष्णुके हृदयमें शिवकी सस्थिति, शुक्रको सजीवनी विद्याकी शिक्षा, मङ्कणकी कथा और सप्त सारस्वततीर्थका माहात्म्य)

पुलस्त्यजी (पुनः) बोले—उन देवोंने विष्णुभवनमें पहुँचकर उन्हें नमस्कार करनेके बाद जगत्के अशान्त होनेका कारण पूछा। भगवान् विष्णुने उनके प्रश्नको सुनकर कहा—हम सभी लोग शिवजीके पास चलें। वे महान् ज्ञानी हैं। इस चराचर जगत्के व्याकुल होनेका कारण वे जानते होंगे। वासुदेवके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि देवगण जनार्दन भगवान्को आगेकर मन्दर पर्वतपर गये। (किंतु) वहाँ उन्होंने न तो महादेवको देखा, न वृषको, न देवी पार्वती और न नन्दीको ही। अज्ञानके अन्धकारमें पड़े हुए उन लोगोंने पर्वतको देवशून्य देखा। (फिर तो) महातेजस्वी विष्णुने दर्शन प्राप्त न होनेके कारण चकपकाये हुए देवोंको देखकर कहा—क्या आपलोग सामने स्थित महादेवको नहीं देख रहे हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हाँ, हमलोग गिरिजापति देवेशको नहीं देख रहे हैं॥ १—५॥

न विद्मः कारणं तच्च येन दृष्टिर्हता हि नः। तानुवाच जगन्मूर्तिर्यूयं देवस्य सागसः॥ ६ ॥
पापिष्ठा गर्भहन्तारो मृडान्याः स्वार्थतत्पराः। तेन ज्ञानविवेको वै हृतो देवेन शूलिना॥ ७ ॥
येनाग्रतः स्थितमपि पश्यन्तोऽपि न पश्यथ। तस्मात् कायविशुद्ध्यर्थं देवदृष्ट्यर्थमादरात्॥ ८ ॥
तप्तकृच्छ्रेण संशुद्धाः कुरुध्वं स्नानमीश्वरे। क्षीरस्नाने प्रयुञ्जीत सार्द्धं कुम्भशतं सुराः॥ ९ ॥

हमलोग उस कारणको नहीं जानते, जिससे हमारी देखनेकी शक्ति नष्ट हो गयी है। जगन्मूर्ति-(विष्णु-)ने उनसे कहा—आपलोगोंने देवताओंके साथ अपराध किया है। आपलोग स्वार्थी हैं। आपलोग मृडानीका गर्भ नष्ट करनेके कारण महापापसे ग्रस्त हो गये हैं, इसलिये शूलपाणि महादेवने आपलोगोंके सम्यक् अवबोधको और विचारशक्तिको अपहृत कर लिया है। इस कारण आप सब सामने स्थित-(शङ्कर-) को देखकर भी नहीं देख रहे हैं। अतः सब लोग विश्वासके साथ शरीरकी पवित्रता और देवका दर्शन प्राप्त करनेके लिये तप्तकृच्छ्र-व्रतद्वारा पावन होकर स्नान करें। और, हे देवताओ! महादेवको दूधसे स्नान करानेके लिये डेढ़ सौ घड़ोंका प्रयोग करें॥ ६—९॥

दधिस्नाने चतुःषष्टिर्द्वात्रिंशद्घविषोऽर्हणे। पञ्चगव्यस्य शुद्धस्य कुम्भाः षोडश कीर्तिताः॥ १० ॥
मधुनोऽष्टौ जलस्योक्ताः सर्वे ते द्विगुणाः सुराः। ततो रोचनया देवमष्टोत्तरशतेन हि॥ ११ ॥
अनुलिम्पेत् कुङ्कुमेन चन्दनेन च भक्तितः। बिल्वपत्रैः सकमलैः धत्तूरसुरचन्दनैः॥ १२ ॥

मन्दारैः पारिजातैश्च अतिमुक्तैस्तथाऽर्चयेत्। अगुरुं सह कालेयं चन्दनेनापि धूपयेत् ॥ १३ ॥
जप्तव्यं शतरुद्रीयं ऋग्वेदोक्तैः पदक्रमैः। एवं कृते तु देवेशं पश्यध्वं नेतरेण च ॥ १४ ॥
इत्युक्ता वासुदेवेन देवाः केशवमब्रुवन्।
विधानं तप्तकृच्छ्रस्य कथ्यतां मधुसूदन। यस्मिंश्चीर्णे कायशुद्धिर्भवते सार्वकालिकी ॥ १५ ॥

उनके अभिषेकके लिये दहीके चौंसठ, घीके बत्तीस, पञ्चगव्यके शुद्ध सोलह घड़ोंका विधान कहा गया है। देवताओ ! मधुका स्नान आठ घड़ोंसे तथा जलका स्नान इन सभीके दुगुने (२४०) घड़ोंसे कहा गया है। उसके बाद भक्तिपूर्वक देवको एक सौ आठ बार गोरोचन, कुङ्कुम और चन्दनका लेपन करनेका विधान है। फिर उन्हें भक्तिसे मलयचन्दन लगाना चाहिये। पूरे खिले हुए कमलोंके सहित बिल्वपत्र, धतूर एवं हरिचन्दनसे उनकी अर्चा होनी चाहिये। पूर्ण खिले हुए मन्दार और हरश्रृङ्गार चढाकर पूजा करनी चाहिये। फिर अगुरु, केशर या काले चन्दन एवं चन्दनसे धूप दे। उसके बाद ऋग्वेदमें कथित 'पद' और 'क्रम' शैलियोंसे शतरुद्रीका जप करना चाहिये। ऐसा करनेसे आपलोग देवेश्वरका दर्शन कर सकेंगे; अन्य किसी उपायसे नहीं। वासुदेवके ऐसा कहनेपर देवताओंने केशवसे कहा—मधुदसून ! आप हमें तप्तकृच्छ्र-(व्रत-) का विधान (भी) बतलाइये, जिसके करनेसे सदाके लिये कायशुद्धि हो जाती है ॥ १०–१५ ॥

वासुदेव उवाच

त्र्यहमुष्णं पिबेदापः त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत्। त्र्यहमुष्णं पिबेत्सर्पिर्वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥ १६ ॥
पला द्वादश तोयस्य पलाष्टौ पयसः सुराः। षट्पलं सर्पिषः प्रोक्तं दिवसे दिवसे पिबेत् ॥ १७ ॥

वासुदेवने कहा—देवताओ ! (तप्तकृच्छ्रव्रतका विधान इस प्रकार है—) तीन दिन बारह पल गरम जल पिये, तीन दिन आठ पल गरम दूध पिये, तीन दिन छः पल गरम घी पिये एवं तीन दिन केवल वायु पीकर रहे ॥ १६–१७ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने सुराः कायविशुद्धये। तप्तकृच्छ्ररहस्यं वै चक्रुः शक्रपुरोगमाः ॥ १८ ॥
ततो व्रते सुराश्चीर्णे विमुक्ताः पापतोऽभवन्। विमुक्तपापा देवेशं वासुदेवमथाब्रुवन् ॥ १९ ॥
क्वासौ वद जगन्नाथ शंभुस्तिष्ठति केशव। यं क्षीराद्यभिषेकेण स्नापयामो विधानतः ॥ २० ॥
अथोवाच सुरान्विष्णुरेष तिष्ठति शङ्करः। मद्देहे किं न पश्यध्वं योगश्चायं प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार कहनेपर इन्द्र आदि देवताओंने शरीरकी शुद्धिके लिये तप्तकृच्छ्रव्रतका एकान्त अनुष्ठान किया। उसके बाद उस व्रतका पालन हो जानेपर देवता पापसे छूट गये। पापसे छूटकर देवताओंने देवोंके स्वामी वासुदेवसे कहा—जगन्नाथ ! केशव ! आप कृपया यह बतलाइये कि शम्भु किस स्थानपर अवस्थित हैं ? जिन्हें हमलोग दूध आदिके अभिषेकसे विधिपूर्वक स्नान करायें। उसके बाद विष्णुने देवताओंसे कहा—देवताओ ! मेरे शरीरमें ये शङ्कर संयुक्त होकर स्थित हैं। क्या आपलोग नहीं देख रहे हैं ? ॥ १८–२१ ॥

तमूचुर्नैव पश्यामस्त्वत्तो वै त्रिपुरान्तकम्। सत्यं वद सुरेशान महेशानः क्व तिष्ठति ॥ २२ ॥
ततोऽव्ययात्मा स हरिः स्वहृत्पङ्कजशायिनम्। दर्शयामास देवानां मुरारिर्लिङ्गमैश्वरम् ॥ २३ ॥
ततः सुरा क्रमेणैव क्षीरादिभिरनन्तरम्। स्नापयाञ्चक्रिरे लिङ्गं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ॥ २४ ॥
गोरोचनया त्वालिप्य चन्दनेन सुगन्धिना। बिल्वपत्राम्बुजैर्देवं पूजयामासुरञ्जसा ॥ २५ ॥

*

उन लोगोंने विष्णुसे कहा कि हमलोग तो आपमें त्रिपुरनाशक शङ्करको नहीं देख रहे हैं । सुरेशान ! आप सच बतलाइये कि महेश किस स्थानपर स्थित हैं । उसके बाद अव्ययात्मा मुरारि विष्णुने देवताओंको अपने हृदयकमलमें विश्राम करनेवाले शङ्करके लिङ्गका दर्शन करा दिया । उसके बाद देवताओंने क्रमशः दूध आदिसे उस नित्य, स्थिर एवं अक्षय लिङ्गको स्नान कराया । फिर उन लोगोंने गोरोचन और सुगन्धित चन्दनका लेपन कर बिल्वपत्रों और कमलोंसे भक्तिपूर्वक (यथाविधि उन) देवकी पूजा की ॥ २२–२५ ॥

प्रधूप्यागुरुणा भक्त्या निवेद्य परमौषधीः । जप्त्वाऽष्टशतनामानं प्रणामं चक्रिरे ततः ॥ २६ ॥
इत्येवं चिन्तयन्तश्च देवावेतौ हरीश्वरौ । कथं योगत्वमापन्नौ सत्त्वान्धतमसोद्भवौ ॥ २७ ॥
सुराणां चिन्तितं ज्ञात्वा विश्वमूर्तिरभूद्विभुः । सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वायुधधरोऽव्ययः ॥ २८ ॥
साऽर्द्धं त्रिनेत्रं कमलाहिकुण्डलं जटागुडाकेशखगर्षभध्वजम् ।
समाधवं हारभुजङ्गवक्षसं पीताजिनाच्छन्नकटिप्रदेशम् ॥ २९ ॥
चक्रासिहस्तं हलशार्ङ्गपाणिं पिनाकशूलाजगवान्वितं च ।
कपर्दखट्वाङ्गकपालघण्टासशङ्खटङ्काररवं महर्षे ॥ ३० ॥
दृष्ट्वैव देवा हरिशङ्करं तं नमोऽस्तु ते सर्वगताव्ययेति ।
प्रोक्त्वा प्रणामं कमलासनाद्याश्चक्रुर्मतिं चैकतरां नियुज्य ॥ ३१ ॥

उसके बाद देवोंने प्रेमपूर्वक धूप-दानकर परमौषधियों-(भङ्ग आदि-)को समर्पित किया । फिर (शङ्करके) एक सौ आठ नामोंका जप करनेके बाद उन्हें प्रणाम किया । सभी देवता यह विचारने लगे कि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे विष्णु एवं तमोगुणकी अधिकतासे आविर्भूत शिवमें एकता किस प्रकार हुई ? देवताओंके विचारको जानकर अविनाशी व्यापक भगवान् सभी (शुभ) लक्षणोंसे युक्त एवं सब प्रकारके आयुधोंको धारण करनेवाले विश्वमूर्ति हो गये । महर्षे ! फिर तो देवताओंने एक ही शरीरमें कानमें सर्पके कुण्डल पहने, सिरपर आपसमें चिपके लंबे बालके जटाजूट बाँधे, गलेमें सर्पके हार लटकाये, हाथमें पिनाक, शूल, आजगव धनुष, खट्वाङ्ग धारण किये तथा घण्टासे युक्त बाघाम्बर धारण करनेवाले त्रिनेत्रधारी वृषध्वज महादेव और साथ ही कमलके कुण्डलधारी, गरुड़-ध्वज, हार और पीताम्बर पहने, हाथोंमें चक्र, असि, हल, शार्ङ्गधनुष, टंकार-सी ध्वनि करनेवाले शङ्खको लिये गुडाकेश विष्णुको देखा । उसके बाद 'सर्वव्यापी अविनाशी प्रभुको नमस्कार है'—इस प्रकार कहकर ब्रह्मा आदि देवताओंने उन हरि एवं शङ्करको एक रूप (अभिन्न) समझा ॥२६–३१॥

तानेकचित्तान् विज्ञाय देवान् देवपतिर्हरिः । प्रगृह्याभ्यद्रवत्तूर्णं कुरुक्षेत्रं स्वमाश्रमम् ॥ ३२ ॥
ततोऽपश्यन्त देवेशं स्थाणुभूतं जले शुचिम् । दृष्ट्वा नमः स्थाणवेति प्रोक्त्वा सर्वे ह्युपाविशन् ॥ ३३ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिरेह्येहि दीयतां वरः । क्षुब्धं जगज्जगन्नाथ उन्मज्जस्व प्रियातिथे ॥ ३४ ॥
ततस्तां मधुरां वाणीं शुश्राव वृषभध्वजः । श्रुत्वोत्तस्थौ च वेगेन सर्वव्यापी निरञ्जनः ॥ ३५ ॥
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यः प्रोवाच प्रहसन् हरः । स चागतः सुरैः सेन्द्रैः प्रणतो विनयान्वितैः ॥ ३६ ॥

देवोंके स्वामी भगवान् विष्णु उन देवताओंको समान हृदयवाला समझ उन्हें साथ लेकर शीघ्र अपने आश्रम कुरुक्षेत्रमें चले गये । उसके बाद उन लोगोंने जलके भीतर पवित्र स्थाणुभूत उन देवेश-(महादेव-) को देखा । उन्हें देखकर **'स्थाणवे नमः'** (स्थाणुको नमस्कार है)—यह कहकर वे सभी (वहीं) बैठ गये । उसके बाद इन्द्रने कहा—जगन्नाथ ! अतिथिप्रिय ! संसार अशान्त हो उठा है । आप (कृपया) बाहर निकलकर

यहाँ आइये, यहाँ आइये (और आकर) हमें वर दीजिये । उसके बाद वृषकेतु महादेवने वह मधुर वाणी सुनी । फिर उसे सुनकर वे सर्वव्यापी परमविशुद्ध शंकर वेगसे उठ खड़े हुए । उन्होंने हँसते हुए 'सभी देवताओंको नमस्कार है' ऐसा कहा । इन्द्र आदि देवताओंने जलसे ऊपर आये हुए उन शङ्करको और अधिक विनय-भावसे प्रणाम किया ॥ ३२–३६ ॥

तमूचुर्देवताः सर्वास्त्यज्यतां शङ्कर द्रुतम् । महाव्रतं त्रयो लोकाः क्षुब्धास्त्वत्तेजसावृताः ॥ ३७ ॥
अथोवाच महादेवो मया त्यक्तो महाव्रतः । ततः सुरा दिवं जग्मुर्हृष्टाः प्रयतमानसाः ॥ ३८ ॥
ततोऽपि कम्पते पृथ्वी साब्धिद्वीपाचला मुने । ततोऽभिचिन्तयद्रुद्रः किमर्थं क्षुभिता मही ॥ ३९ ॥
ततः पर्यचरच्छूली कुरुक्षेत्रं समन्ततः । ददर्शौघवतीतीरे उशनसं तपोनिधिम् ॥ ४० ॥
ततोऽब्रवीत्सुरपतिः किमर्थं तप्यते तपः । जगत्क्षोभकरं विप्र तच्छीघ्रं कथ्यतां मम ॥ ४१ ॥

सभी देवताओंने उनसे कहा कि शंकर ! कृपया महाव्रतको शीघ्र छोड़ दीजिये । आपके तेजसे व्याप्त होकर तीनों लोक क्षुब्ध हो गये हैं । उसके बाद महादेवने कहा कि (लीजिये,) मैंने महाव्रतका त्याग कर दिया । उसके बाद देवता प्रसन्न हो गये और शान्तचित्त होकर स्वर्ग चले गये । मुने ! तो भी समुद्र, द्वीप और पर्वतोंसहित पृथ्वी काँप रही थी । तब (स्वयं) रुद्रने सोचा कि (अब) पृथ्वी क्यों क्षुब्ध हो रही है ? फिर त्रिशूल धारण करनेवाले (शङ्कर) कुरुक्षेत्रके चारों ओर विचरण करने लगे । उन्होंने ओघवतीके किनारे (तपस्या करते) तपोनिधि उशनाको देखा । उसके बाद देवाधिदेव शंकरने उनसे कहा—विप्र ! आप जगतको क्षुब्ध करनेवाला तप क्यों कर रहे हैं ? उसे मुझे शीघ्र बतलाइये ॥ ३७–४१ ॥

उशना उवाच

तवाराधनकामार्थं तप्यते हि महत्तपः । संजीवनीं शुभां विद्यां ज्ञातुमिच्छे त्रिलोचन ॥ ४२ ॥

उशनाने कहा—आपकी आराधना-(प्रसन्नता-प्राप्ति-)की इच्छासे मैं महान् तप कर रहा हूँ । त्रिनयन ! मैं मङ्गलमयी संजीवनी विद्याको जानना चाहता हूँ ॥ ४२ ॥

हर उवाच

तपसा परितुष्टोऽस्मि सुतप्तेन तपोधन । तस्माद् संजीवनीं विद्यां भवाञ् ज्ञास्यति तत्त्वतः ॥ ४३ ॥
वरं लब्ध्वा ततः शुक्रस्तपसः संन्यवर्त्तत । तथापि चलते पृथ्वी साब्धिभूभृन्नगावृता ॥ ४४ ॥
ततोऽगमन्महादेवः सप्तसारस्वतं शुचिः । ददर्श नृत्यमानं च ऋषिं मङ्कणसंज्ञितम् ॥ ४५ ॥
भावेन पोप्लूयति बालवत् स भुजौ प्रसार्यैव ननर्त्त वेगात् ।
तस्यैव वेगेन समाहता तु चचाल भूर्भूमिधरैः सहैव ॥ ४६ ॥

महादेवने कहा—तपोधन ! मैं भलीभाँति की गयी आपकी तपस्यासे प्रसन्न हूँ । इसलिये आप सञ्जीवनी विद्याको यथार्थरूपमें जान जायँगे । शुक्र (शुक्राचार्य) वर पाकर तपस्यासे विरत हो गये । फिर भी सागर, पर्वत, वृक्ष आदिके साथ सारी पृथ्वी काँप रही थी । उसके बाद परमपावन महादेव सप्तसारस्वतमें गये । वहाँ उन्होंने मङ्कण नामके महर्षिको नाचते हुए देखा । वे बालकके समान भाव-विभोर होकर दोनों हाथ फैलाकर वेगसे (उछल-उछलकर) नाच रहे थे । उसके (उछलनेके) वेगसे आहत हो पृथ्वी पर्वतोंसहित बड़े जोरसे काँप रही थी—हिल रही थी ॥ ४३–४६ ॥

तं शङ्करोऽभ्येत्य करे निगृह्य प्रोवाच वाक्यं प्रहसन् महर्षे ।
किं भावितो नृत्यसि केन हेतुना वदस्व मामेत्य किमत्र तुष्टिः ॥ ४७ ॥

स ब्राह्मणः प्राह ममाद्य तुष्टिर्येनेह जाता शृणु तद् द्विजेन्द्र।
बहून् गणान् वै मम तप्यतस्तपः संवत्सरान् कायविशोषणार्थम् ॥ ४८ ॥
ततोऽनुपश्यामि करात् क्षतोत्थं निर्गच्छते शाकरसं ममेह।
तेनाद्य तुष्टोऽस्मि भृशं द्विजेन्द्र येनास्मि नृत्यामि सुभावितात्मा ॥ ४९ ॥
तं प्राह शम्भुर्द्विज पश्य मह्यं भस्म प्रवृत्तोऽङ्गुलितोऽतिशुक्लम्।
संताडनादेव न च प्रहर्षो ममास्ति नूनं हि भवान् प्रमत्तः ॥ ५० ॥

शङ्करने उनके पास जाकर एवं उनका हाथ पकडकर हँसते हुए कहा—महर्षे ! किस भावनासे प्रभावित होकर एवं किस कारणसे आप नाच रहे हैं ? आप (मेरे पास) आकर मुझसे यह बतलाइये कि आपको इस विषयमे क्यो संतुष्टि है ? उस ब्राह्मणने कहा—द्विजेन्द्र ! आज मुझे जिस कारणसे प्रसन्नता हो रही है, उसे सुनिये। शरीरको दुर्बल करनेके लिये तपस्या करते हुए मेरे अनेक वर्ष बीत गये हैं। अब मै देखता हूँ कि मेरे हाथके घावसे शाकरस निकल रहा है। द्विजेन्द्र ! इसी कारण मुझे बहुत आनन्द मिल रहा है और मै भावविभोर होकर नृत्य कर रहा हूँ। शम्भुने उनसे कहा—द्विज ! मुझे देखो। चोट करनेसे ही मेरी अङ्गुलिसे अत्यन्त स्वच्छ सफेद भस्म निकल रहा है, परतु इससे मुझे तो उत्कृष्ट प्रसन्नता नहीं होती। आप निश्चय ही उन्मत्त हो गये है ॥ ४७–५० ॥

श्रुत्वाऽथ वाक्यं वृषभध्वजस्य मत्वा मुनिर्मङ्कणको महर्षे।
नृत्यं परित्यज्य सुविस्मितोऽथ ववन्द पादौ विनयावनम्रः ॥ ५१ ॥
तमाह शम्भुर्द्विज गच्छ लोकं तं ब्रह्मणो दुर्गममव्ययस्य।
इदं च तीर्थं प्रवरं पृथिव्यां पृथूदकस्यास्तु समं फलेन ॥ ५२ ॥
सांनिध्यमत्रैव सुरासुराणां गन्धर्वविद्याधरकिन्नराणाम्।
सदाऽस्तु धर्मस्य निधानमग्र्यं सारस्वतं पापमलापहारि ॥ ५३ ॥
सुप्रभा काञ्चनाक्षी च सुवेणुर्विमलोदका। मनोहरा चौघवती विशाला च सरस्वती ॥ ५४ ॥
एताः सप्त सरस्वत्यो निवसिष्यन्ति नित्यशः। सोमपानफलं सर्वाः प्रयच्छन्ति सुपुण्यदाः ॥ ५५ ॥

महर्षे ! शकरकी बात सुनकर और उसे मानकर मङ्कणक मुनिने नृत्य करना छोड दिया और आश्चर्यसहित तथा विनम्र भावसे झुककर उनके चरणोमे प्रणाम किया। शम्भुने उनसे कहा—द्विज ! तुम अविनाशी ब्रह्मके दुर्गम लोकको जाओ। और यह श्रेष्ठ तीर्थ पृथूदक-तीर्थके सदृश पृथ्वीमें फल देनेवाला प्रसिद्ध होगा। सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर और किन्नरलोग सदा यहाँ उपस्थित रहेंगे। यह श्रेष्ठ 'सारस्वत' तीर्थ सदा धर्मका निधान एवं पाप-मलका अपहरण करनेवाला होगा। यहाँ सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, सुवेणु, विमलोदका, मनोहरा, ओघवती, विशाला, सरस्वती नामकी सात नदियाँ नित्य निवास करेंगी। ये सभी पुण्य प्रदान करनेवाली नदियाँ यज्ञीय सोमरसके पीनेसे होनेवाले फलको देनेवाली हैं ॥ ५१–५५ ॥

भवानपि कुरुक्षेत्रे मूर्तिं स्थाप्य गरीयसीम्। गमिष्यति महापुण्यं ब्रह्मलोकं सुदुर्गमम् ॥ ५६ ॥
इत्येवमुक्तो देवेन शङ्करेण तपोधनः। मूर्तिं स्थाप्य कुरुक्षेत्रे ब्रह्मलोकमगाद् वशी ॥ ५७ ॥
गते मङ्कणके पृथ्वी निश्चला समजायत। अथागान्मन्दरं शम्भुर्निजमावसथं शुचिः ॥ ५८ ॥
एतत् तवोक्तं द्विज शङ्करस्तु गतस्तदासीत् तपसेऽथ शैले।
शून्येऽभ्यगाद् दुष्टमतिर्हि देव्या संयोधितो येन हि कारणेन ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

तुम भी कुरुक्षेत्रमें अत्यन्त उत्तम मूर्ति स्थापित करके परम पवित्र सुदुर्गम ब्रह्मलोकमें जाओगे। महादेवके इस प्रकार कहनेपर जितेन्द्रिय तपस्वी मङ्कणक ऋषि कुरुक्षेत्रमें मूर्ति स्थापित करके ब्रह्मलोक चले गये। मङ्कणक ऋषिके चले जानेपर पृथ्वी शान्त हो गयी। महादेव भी अपने पवित्र निवास-स्थान मन्दर पर्वतपर चले गये। (पुलस्त्यजीने कहा-) द्विज! मैंने तुमसे यह बतलाया कि उस समय शङ्करके तपस्या-हेतु जानेके कारण शून्य (उनकी उपस्थितिसे रहित) पर्वतपर जाकर दुष्टमति (अन्धक-) ने जिस कारणसे देवीसे युद्ध किया॥ ५६—५९॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बासठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ६२॥

[अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

गतोऽन्धकस्तु पाताले किमचेष्टत दानवः। शङ्करो मन्दरस्थोऽपि यच्चकार तदुच्यताम्॥ १॥

तिरसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकासुरका प्रसङ्ग, दण्डकाख्यानका कथन, दण्डकका अरजासे चित्राङ्गदाका वृत्तान्त-कथन)

नारदजीने पूछा—मुने! अन्धक दानवने पातालमें जाकर क्या किया? शङ्करने मन्दर पर्वतपर रहकर जो कुछ किया उसे भी बतलाइये॥ १॥

पुलस्त्य उवाच

पातालस्थोऽन्धको ब्रह्मन् बाध्यते मदनाग्निना। संतप्तविग्रहः सर्वान् दानवानिदमब्रवीत्॥ २॥
स मे सुहृत्स मे बन्धुः स भ्राता स पिता मम। यस्तामद्रिसुतां शीघ्रं ममान्तिकमुपानयेत्॥ ३॥
एवं ब्रुवति दैत्येन्द्रे अन्धके मदनान्धके। मेघगम्भीरनिर्घोषं प्रह्लादो वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥
येयं गिरिसुता वीर सा माता धर्मतस्तव। पिता त्रिनयनो देवः श्रूयतामत्र कारणम्॥ ५॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन्! पातालमें रहता हुआ अन्धक कामाग्निसे दुखी हो गया; उसका शरीर सन्तप्त होने लगा। उसने सभी दानवोंसे यह कहा—(दानवो!) वही मेरा मित्र, बन्धु, भाई और पिता है, जो इस पर्वतपुत्रीको मेरे पास शीघ्र ला दे। कामसे अधीर हुए दैत्येन्द्र अन्धकके ऐसा कहनेपर प्रह्लादने बादलके समान गम्भीर शब्दमें कहा—वीर! ये जो गिरिजा हैं, वे धर्मतः तुम्हारी माता हैं और त्रिलोचन शङ्कर तुम्हारे पिता हैं; इसका जो कारण है, उसे तुम सुनो—॥ २—५॥

तव पित्रा ह्यपुत्रेण धर्मनित्येन दानव। आराधितो महादेवः पुत्रार्थाय पुरा किल॥ ६॥
तस्मै त्रिलोचनेनासीद् दत्तोऽन्धोऽप्येव दानव। पुत्रकः पुत्रकामस्य प्रोक्त्वेत्थं वचनं विभो॥ ७॥
नेत्रत्रयं हिरण्याक्ष नर्मार्थमुमया मम। पिहितं योगसंस्थस्य ततोऽन्धमभवत्तमः॥ ८॥
तस्माच्च तमसो जातो भूतो नीलघनस्वनः। तदिदं गृह्यतां दैत्य तवौपयिकमात्मजम्॥ ९॥

दानव! पहले समयमें धर्ममें सदा तत्पर रहनेवाले पुत्रहीन तुम्हारे पिताने पुत्रकी कामनासे महादेवकी आराधना की थी। दानव! त्रिलोचन शङ्करने पुत्रकी कामनावाले उसको अन्ध पुत्र दिया और यह कहा कि शक्तिशाली हिरण्याक्ष! एक समय मैं योगमें स्थित था और उमाने परिहासार्थ मेरे तीनों नेत्रोंको बंद कर दिया था। उसके बाद अन्धकारस्वरूप तम उत्पन्न हुआ। उस तमसे नीले मेघके समान शब्द करनेवाला एक भूत (प्राणी) उत्पन्न हुआ। दैत्य! तुम इसे ग्रहण करो। यह तुम्हारे योग्य पुत्र है॥ ६—९॥

यदा तु लोकविद्विष्टं दुष्टं कर्म करिष्यति । त्रैलोक्यजननीं चापि अभिवाञ्छिष्यतेऽधमः ॥१०॥
घातयिष्यति वा विप्रं यदा प्रक्षिप्य चासुरान् । तदास्य स्वयमेवाहं करिष्ये कायशोधनम् ॥११॥
एवमुक्त्वा गतः शम्भुः स्वस्थानं मन्दराचलम् । त्वत्पिताऽपि समभ्यागात् त्वामादाय रसातलम् ॥१२॥
एतेन कारणेनाम्बा शैलेयी भविता तव । सर्वस्यापीह जगतो गुरुः शम्भुः पिता ध्रुवम् ॥१३॥

(किंतु) यह अधम जब संसारके विरोधमें बुरा कर्म करेगा तथा त्रैलोक्य-जननीकी चाह करेगा अथवा असुरोंको भेजकर जब यह विप्रोंका वध करायेगा, तब मैं स्वयं इसके शरीरकी शुद्धि करूँगा । ऐसा कहकर शम्भु अपने स्थान मन्दराचलपर चले गये और तुम्हारे पिता तुमको लेकर रसातलमे चले आये । इसी कारण शैलपुत्री तुम्हारी माता एव समस्त जगत्‌के गुरु शम्भु निश्चय ही तुम्हारे पिता हैं ॥ १०–१३ ॥

भवानपि तपोयुक्तः शास्त्रवेत्ता गुणाप्लुतः । नेदृशे पापसंकल्पे मतिं कुर्याद् भवद्विधः ॥ १४ ॥
त्रैलोक्यप्रभुरव्यक्तो भवः सर्वैर्नमस्कृतः । अजेयस्तस्य भार्येयं न त्वमर्होऽमरार्दन ॥ १५ ॥
न चापि शक्तः प्राप्तुं तां भवाञ्शैलनृपात्मजाम् । अजित्वा सगणं रुद्रं स च कामोऽद्य दुर्लभः ॥ १६ ॥
यस्तरेत् सागरं दोर्भ्यां पातयेद् भुवि भास्करम् । मेरुमुत्पाटयेद् वापि स जयेच्छूलपाणिनम् ॥ १७ ॥

आप भी तपस्या करनेवाले एवं शास्त्रके ज्ञाता तथा अनेक अलौकिक गुणोसे भूषित हो । अतः आप-जैसे पुरुषको इस प्रकारके पाप करनेमे मानसिक निश्चय भी नहीं करना चाहिये । देवताओंको कष्ट देनेवाले, तीनो लोकोपर शासन करनेवाले और सबसे वन्दित अव्यक्त भगवान् शङ्कर (सर्वथा) अजेय हैं । उनकी ये भार्या है । तुम न तो इनके योग्य हो और न समर्थ ही । गणोंके सहित शङ्करको बिना जीते तुम उस पर्वतराजकी कन्याको प्राप्त करना चाहते हो, सो तो यह मनोरथ पूरा होना कठिन है । शूलपाणि शङ्करको वही जीत सकता है, जो अपनी भुजाओसे समुद्रको पार कर जाय अथवा सूर्यको पृथ्वीपर गिरा दे या मेरु-पर्वतको उखाड़ दे ॥ १४–१७ ॥

उताहोस्विदिमाः शक्याः क्रियाः कर्तुं नरैर्बलात् । न च शक्यो हरो जेतुं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ १८ ॥
किं त्वया न श्रुतं दैत्य यथा दण्डो महीपतिः । परस्त्रीकामवान् मूढः सराष्ट्रो नाशमाप्तवान् ॥ १९ ॥
आसीद् दण्डो नाम नृपः प्रभूतबलवाहनः । स च वव्रे महातेजाः पौरोहित्याय भार्गवम् ॥ २० ॥
ईजे च विविधैर्यज्ञैर्नृपतिः शुक्रपालितः । शुक्रस्यासीच्च दुहिता अरजा नाम नामतः ॥ २१ ॥

उपर्युक्त सभी कार्य भले ही मनुष्य बलसे कर ले, किंतु शङ्कर नहीं जीते जा सकते, यह मैंने सच-सच कह दिया है । दैत्य ! क्या तुमने यह नहीं सुना है कि परस्त्रीकी अभिलाषा करनेवाला दण्ड नामका मूर्ख राजा अपने राष्ट्रके साथ विनष्ट हो गया । (सुनो, प्राचीन कालमे) प्रचुर सेना एवं वाहनोसे भरा-पूरा दण्ड नामका एक राजा था । उस महातेजस्वीने पुरोहितके स्थानपर शुक्राचार्यको वृत किया था । शुक्राचार्यके निर्देशनमे उस राजाने भाँति-भाँतिके यज्ञोंका अनुष्ठान किया । शुक्राचार्यकी अरजा- नामकी एक कन्या थी ॥ १८–२१ ॥

शुक्रः कदाचिदगमद् वृषपर्वाणमासुरम् । तेनार्चितश्चिरं तत्र तस्थौ भार्गवसत्तमः ॥ २२ ॥
अरजा स्वगृहे वह्निं शुश्रूषन्ती महासुर । अतिष्ठत सुचार्वङ्गी ततोऽभ्यागान्नराधिपः ॥ २३ ॥
स पप्रच्छ क्व शुक्रेति तमूचुः परिचारिकाः । गतः स भगवान् शुक्रो याजनाय दनोः सुतम् ॥ २४ ॥
पप्रच्छ नृपतिः का तु तिष्ठते भार्गवाश्रमे । तास्तमूचुर्गुरोः पुत्री संतिष्ठत्यरजा नृप ॥ २५ ॥

किसी समय शुक्राचार्य वृषपर्वा नामके असुरके पास गये, भार्गव-वंशमें श्रेष्ठ वे (शुक्र) उससे पूजित—सत्कृत होकर बहुत समयतक वहीं रह गये। महासुर ! सुन्दरी अरजा अपने घरमें अग्निकी सेवा—हवनादि कार्य करती हुई रह गयी थी। इतनेमें एक दिन राजा दण्ड वहाँ पहुँच गया। उसने पूछा—शुक्राचार्य कहाँ हैं ? घरकी सेविकाओंने उससे कहा—वे भगवान् शुक्र दनुनन्दन-(वृषपर्वा-)के यहाँ यज्ञ कराने गये हैं। राजाने पूछा—शुक्राचार्यके आश्रममें (यह) कौन स्त्री रह रही है ? उन लोगोंने उत्तर दिया—राजन् ! (यह) गुरुजीकी कन्या अरजा है ॥ २२–२५ ॥

तामाश्रमे शुक्रसुतां द्रष्टुमिक्ष्वाकुनन्दनः। प्रविवेश महाबाहुर्ददर्शारजसं ततः ॥ २६ ॥
तां दृष्ट्वा कामसंतप्तस्तत्क्षणादेव पार्थिवः। संजातोऽन्धक दण्डस्तु कृतान्तबलचोदितः ॥ २७ ॥
ततो विसर्जयामास भृत्यान् भ्रातॄन् सुहृत्तमान्। शुक्रशिष्यानपि बली एकाकी नृप आव्रजत् ॥ २८ ॥
तमागतं शुक्रसुता प्रत्युत्थाय यशस्विनी। पूजयामास संहृष्टा भ्रातृभावेन दानव ॥ २९ ॥

महाबाहु इक्ष्वाकुनन्दन (दण्ड) शुक्राचार्यकी उस कन्याको देखनेके लिये आश्रममें प्रविष्ट हुआ और उसने अरजाको देखा। अन्धक ! कालबलसे प्रेरित होकर राजा उसे देखकर तत्काल ही कामसे पीड़ित हो गया। उसके बाद बलवान् राजाने भृत्यों, भाइयों, घनिष्ठ मित्रों एवं शुक्राचार्यके शिष्योंको भी (वहाँसे) हटा दिया और (वहाँ) अकेला आ गया। शुक्राचार्यकी यशस्विनी कन्याने आये हुए उस राजाका भ्रातृभावसे प्रसन्नतापूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ २६–२९ ॥

ततस्तामाह नृपतिर्बाले कामाग्नितापितम्। मां समाह्लादयस्वाद्य स्वपरिष्वङ्गवारिणा ॥ ३० ॥
साऽपि प्राह नृपश्रेष्ठ मा विनीनश आतुरः। पिता मम महाक्रोधात् त्रिदशानपि निर्दहेत् ॥ ३१ ॥
मूढबुद्धे भवान् भ्राता ममासि त्वनयाप्लुतः। भगिनी धर्मतस्तेऽहं भवाञ्शिष्यः पितुर्मम ॥ ३२ ॥
सोऽब्रवीद् भीरु मां शुक्रः कालेन परिधक्ष्यति। कामाग्निर्निर्दहति मामद्यैव तनुमध्यमे ॥ ३३ ॥

उसके बाद राजाने उससे पूछा—बाले ! मैं कामाग्निसे संतप्त हूँ। आज तुम अपने आलिङ्गनरूपी जलसे मुझे आनन्दित करो। वह (अरजा) बोली—नरपतिप्रवर ! (कामसे) अधीर होकर अपनेको विनष्ट मत करो। मेरे पिता अपने महान् क्रोधसे देवताओंको भी भस्म कर सकते हैं। मूढ़-बुद्धे ! तुम मेरे भाई हो। परंतु अनीतिमें ओतप्रोत हो गये हो। मैं धर्मसे तुम्हारी बहन हूँ; क्योंकि तुम मेरे पिताके शिष्य हो। उस (दण्डक) ने कहा—भीरु ! शुक्र (भविष्यमें) किसी समय मुझे जला देंगे; परंतु कृशोदरि ! कामकी आग तो मुझे आज ही (अभी) जलाये जा रही है ॥ ३०–३३ ॥

सा प्राह दण्डं नृपतिं मुहूर्तं परिपालय। तमेव याचस्व गुरुं स ते दास्यत्यसंशयम् ॥ ३४ ॥
दण्डोऽब्रवीत् सुतन्वङ्गि कालक्षेपो न मे क्षमः। च्युतावसरकर्तृत्वे विघ्नो जायेत सुन्दरि ॥ ३५ ॥
ततोऽब्रवीच्च विरजा नाहं त्वां पार्थिवात्मज। दातुं शक्ता स्वमात्मानं स्वतन्त्रा न हि योषितः ॥ ३६ ॥
किं वा ते बहुनोक्तेन मा त्वं नाशं नराधिप। गच्छस्व शुक्रशापेन सभृत्यज्ञातिबान्धवः ॥ ३७ ॥

उस-(अरजा-)ने राजा दण्डसे कहा—राजन् ! एक क्षण प्रतीक्षा करो। तुम उन गुरुसे ही याचना करो। वे तुम्हें निःसन्देह मुझको दे देंगे। दण्डने कहा—सुन्दरि ! मैं समयकी प्रतीक्षा करनेमें असमर्थ हूँ। बहुधा अवसर चूक जानेपर कार्यमें विघ्न हो जाया करता है। उसके बाद अरजाने कहा—राजपुत्र ! मैं स्वयं अपनेको तुम्हें अर्पित करनेमें समर्थ नहीं हूँ; क्योंकि स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं होतीं। अथवा नरपते ! तुमसे अधिक कहनेसे

क्या (लाभ); (बस मैं इतना ही कहती हूँ कि इस असत् प्रस्तावके कारण—) तुम शुक्राचार्यके शापसे भृत्य, जाति और बन्धुओंके साथ अपना विनाश मत करो ॥ ३४–३७ ॥

ततोऽब्रवीन्नरपतिः सुतनु शृणु चेष्टितम्। चित्राङ्गदाया यद् वृत्तं पुरा देवयुगे शुभे ॥ ३८ ॥
विश्वकर्मसुता साध्वी नाम्ना चित्राङ्गदाऽभवत्। रूपयौवनसम्पन्ना पद्महीनेव पद्मिनी ॥ ३९ ॥
सा कदाचिन्महारण्यं सखीभिः परिवारिता। जगाम नैमिषं नाम स्नातुं कमललोचना ॥ ४० ॥
सा स्नातुमवतीर्णा च अथाभ्यागान्नरेश्वरः।
सुदेवतनयो धीमान् सुरथो नाम नामतः। तां ददर्श च तन्वङ्गी शुभाङ्गो मदनातुरः ॥ ४१ ॥

उसके बाद राजाने कहा—सुन्दरि ! प्राचीन कालमें—पवित्र देवयुगमें घटित चित्राङ्गदाका एक वृत्तान्त सुनो। विश्वकर्माकी चित्राङ्गदा नामकी एक साध्वी कन्या थी। वह रूप और यौवनसे सम्पन्न मानो कमलसे रहित कमलिनी थी। कमलके समान नेत्रोंवाली वह किसी समय अपनी सखियोंसे घिरी हुई—सखियोंके साथ नैमिष नामके महारण्यमें स्नान करनेके लिये गयी। वह स्नान करनेके लिये जलमें जैसे ही उतरी, वैसे ही सुदेवके पुत्र बुद्धिमान् राजा सुरथ वहाँ पहुँचे। उन्होंने उस कृशाङ्गीको देखा। सुन्दर शरीरवाले वे उसे देखकर कामातुर हो गये ॥ ३८–४१ ॥

तं दृष्ट्वा सा सखीराह वचनं सत्यसंयुतम्। असौ नराधिपसुतो मदनेन कदर्थ्यते ॥ ४२ ॥
मदर्थे च क्षमं मेऽस्य स्वप्रदानं सुरूपिणः। सख्यस्तामब्रुवन् बाला न प्रगल्भाऽसि सुन्दरि ॥ ४३ ॥
अस्वातन्त्र्यं तवास्तीह प्रदाने स्वात्मनोऽनघे। पिता तवास्ति धर्मिष्ठः सर्वशिल्पविशारदः ॥ ४४ ॥
न ते युक्तमिहात्मानं दातुं नरपतेः स्वयम्। एतस्मिन्नन्तरे राजा सुरथः सत्यवाक् सुधीः ॥ ४५ ॥
समभ्येत्याऽब्रवीदेनां कन्दर्पशरपीडितः। त्वं मुग्धे मोहयसि मां दृष्ट्यैव मदिरेक्षणे ॥ ४६ ॥

उनको देखकर उस (चित्राङ्गदा) ने अपनी सखियोंसे सत्य (छिपावरहित) वचन कहा—यह राजपुत्र मेरे ही लिये कामपीड़ित होकर कष्ट पा रहा है। अतः मुझे यह उचित (प्रतीत होता) है कि इस सौन्दर्यशाली व्यक्तिको मैं अपनेको समर्पित कर दूँ। उसकी 'बाला' सहेलियोंने उससे कहा कि सुन्दरि ! तुम सयानी (वयस्का) नहीं हो। निष्पाप बालिके ! स्वयको दान करनेमें तुम्हें स्वतन्त्रता नहीं है, तुम्हारे पिता परम धार्मिक हैं और सभी शिल्पकर्मोंमें परम निपुण हैं, इसलिये यहाँ तुम्हें अपनेको राजाके लिये (दान) दे देना ठीक नहीं है। इसी बीच कामबाणसे पीड़ित सत्यवक्ता बुद्धिमान् सुरथने उसके पास आकर कहा—मुग्धे ! मदिरेक्षणे ! तुम अपनी दृष्टिसे ही मुझे मोहित कर रही हो ॥ ४२–४६ ॥

त्वद्दृष्टिशरपातेन स्मरेणाभ्येत्य ताडितः। तन्मां कुचतले तल्पे अभिशायितुमर्हसि ॥ ४७ ॥
नोचेत् प्रधक्ष्यते कामो भूयो भूयोऽतिदर्शनात्। ततः सा चारुसर्वाङ्गी राज्ञो राजीवलोचना ॥ ४८ ॥
वार्यमाणा सखीभिस्तु प्रादादात्मानमात्मना। एवं पुरा तया तन्व्या परित्रातः स भूपतिः ॥ ४९ ॥
तस्मान्मामपि सुश्रोणि त्वं परित्रातुमर्हसि। अरजस्काऽब्रवीद् दण्डं तस्या यद् वृत्तमुत्तरम् ॥ ५० ॥
किं त्वया न परिज्ञातं तस्मात् ते कथयाम्यहम्। तदा तया तु तन्वङ्ग्या सुरथस्य महीपतेः ॥ ५१ ॥
आत्मा प्रदत्तः स्वातन्त्र्यात् ततस्तामशपत् पिता। यस्माद् धर्मं परित्यज्य स्त्रीभावान्मन्दचेतसे ॥ ५२ ॥
आत्मा प्रदत्तस्तस्माद्धि न विवाहो भविष्यति। विवाहरहिता नैव सुखं लप्स्यसि भर्तृतः ॥ ५३ ॥

कामदेवने उपस्थित होकर तुम्हारी दृष्टिरूपी बाणसे मुझे घायल कर दिया है। इसलिये तुम मुझे अपने कुचतलरूपी शय्यापर सुलानेकी योग्या हो। ऐसा न करनेपर बार-बार तुम्हारे देखनेसे तो काम मुझे जला ही डालेगा।

उसके बाद उस कमलनयनी सर्वाङ्गसुन्दरीने सखियोंके रोकनेपर भी स्वयंको राजाके प्रति अर्पित कर दिया। इस तरह प्राचीन कालमें उस कृशाङ्गीने उस राजाकी रक्षा की थी। अतः सुश्रोणि ! तुम्हें भी मेरी रक्षा करनी चाहिये। शुक्रनन्दिनी अरजाने राजा दण्डसे कहा—क्या तुम उसके आगेकी घटित घटनाको नहीं जानते ? (ऐसा ही लगता है;) अतः मैं तुमसे कहती हूँ, (सुनो)। जब उस कृशाङ्गीने स्वयंको राजा सुरथके लिये स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छासे दान कर दिया, तब पिताने उसको शाप दे दिया। मन्दबुद्धि ! यतः तुमने स्त्रीस्वभावके कारण धर्मको छोड़कर (अपनी इच्छासे) स्वयंको प्रदान कर दिया है, अतः तुम्हारा विवाह नहीं होगा। (और तब विवाहसे रहित होनेके कारण) तुम पतिसे सुख नहीं प्राप्त कर सकोगी ॥ ४७—५३ ॥

न च पुत्रफलं नैव पतिना योगमेष्यसि। उत्सृष्टमात्रे शापे तु ह्यपोवाह सरस्वती ॥ ५४ ॥
अकृतार्थं नरपतिं योजनानि त्रयोदश। अपकृष्टे नरपतौ साऽपि मोहमुपागता ॥ ५५ ॥
ततस्तां सिषिचुः सख्यः सरस्वत्या जलेन हि। सा सिच्यमाना सुतरां शिशिरेणाप्यथाम्भसा ॥ ५६ ॥
मृतकल्पा महाबाहो विश्वकर्मसुताऽभवत्। तां मृतामिति विज्ञाय जग्मुः सख्यस्त्वरान्विताः ॥ ५७ ॥
काष्ठान्याहर्तुमपरा वह्निमानेतुमाकुलाः। सा च तास्वपि सर्वासु गतासु वनमुत्तमम् ॥ ५८ ॥
संज्ञां लेभे सुचार्वङ्गी दिशश्चाप्यवलोकयत्। अपश्यन्ती नरपतिं तथा स्निग्धं सखीजनम् ॥ ५९ ॥
निपपात सरस्वत्याः पयसि स्फुरितेक्षणा। तां वेगात् काञ्चनाक्षी तु महानद्यां नरेश्वर ॥ ६० ॥
गोमत्यां परिचिक्षेप तरङ्गकुटिले जले। तयाऽपि तस्यास्तद्भाव्यं विदित्वाऽथ विशांपते ॥ ६१ ॥
महावने परिक्षिप्ता सिंहव्याघ्रभयाकुले। एवं तस्याः स्वतन्त्राया एषाऽवस्था श्रुता मया ॥ ६२ ॥
तस्मान्न दास्याम्यात्मानं रक्षन्ती शीलमुत्तमम्।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा दण्डः शक्रसमो बली। विहस्य त्वरजां प्राह स्वार्थमर्थक्षयंकरम् ॥ ६३ ॥

तुम्हें न तो पुत्रफलकी प्राप्ति होगी और न पतिसे संयोग ही होगा। फिर तो शाप देते ही सरस्वती व्यर्थ हुए मनोरथवाले राजाको तेरह योजनतक बहा ले गयी। राजाके (बहकर) दूर चले जानेपर चित्राङ्गदा भी बेहोश हो गयी। महाबाहो ! उसके बाद सखियोंने सरस्वतीके जलसे उसको सींचा। सखियोंद्वारा शीतल जलसे भलीभाँति सींचे जानेपर भी वह विश्वकर्माकी पुत्री मरे हुएके समान हो गयी। सखियाँ उसे मरी हुई समझकर शीघ्रतासे कोई काष्ठ लेने एवं कुछ व्याकुल होकर अग्नि लाने चली गयीं। उत्तम वनमें उन सभीके चले जानेपर उसे चेतना प्राप्त हुई; सुन्दर अङ्गोंवाली वह चारों ओर देखने लगी। राजा एवं प्रिय सखियोंको न देखकर चञ्चल नेत्रवाली वह सरस्वतीके जलमें गिर पड़ी। नरेश्वर ! काञ्चनाक्षीने वेगपूर्वक उसे महानदी गोमतीके हिलोरे लेती हुई लहरोंवाले जलमें फेंक दिया। राजन् ! उसकी भवितव्यताको जानकर उस-(गोमती—) ने भी उसे सिंह एवं व्याघ्रसे पूर्ण वनमें फेंक दिया। इस प्रकार मैंने उसकी स्वतन्त्रताकी इस दुरवस्थाका वर्णन सुना है। अतः मैं अपने उत्तम शीलकी रक्षा करती हुई स्वयंको तुम्हें समर्पित नहीं करूँगी। इन्द्रके तुल्य बलवान् राजा दण्डने उसके उस वचनको सुनकर हँसते हुए उस अरजासे पुरुषार्थको नष्ट करनेवाला अपना अभिप्राय कहा ॥ ५४—६३ ॥

दण्ड उवाच

तस्या यदुत्तरं वृत्तं तत्पितुश्च कृशोदरि। सुरथस्य तथा राज्ञस्तच्छ्रोतुं मतिमादध ॥ ६४ ॥
यदाऽवकृष्टे नृपतौ पतिता सा महावने। तदा गगनसंचारी दृष्टवान् गुह्यकोऽञ्जनः ॥ ६५ ॥
ततः सोऽभ्येत्य तां बालां परिसान्त्व्य प्रयत्नतः। प्राह मा गच्छ सुभगे विषादं सुरथं प्रति ॥ ६६ ॥
ध्रुवमेष्यसि तेन त्वं संयोगमसितेक्षणे। तस्माद् गच्छस्व शीघ्रं त्वं द्रष्टुं श्रीकण्ठमीश्वरम् ॥ ६७ ॥

दण्डने कहा—कृशोदरि ! उसके पिता तथा राजा सुरथके साथ घटित हुए उसके बादके वृत्तान्तको सुननेके लिये तुम सावधान हो जाओ । राजाके दूर चले जानेपर जब वह महावनमे गिरी, उस समय आकाशमे संचरण करनेवाले अञ्जन नामके गुह्यकने उसे देखा । उसके बाद वह उस बालाके पास गया और प्रयत्नपूर्वक उसे सान्त्वना देते हुए कहा—सुभगे ! सुरथके लिये उदास मत होओ । अयि कजरारे नेत्रोंवाली ! तुम उससे संयोग अवश्य प्राप्त कर लोगी । अतः तुम शीघ्र भगवान् श्रीकण्ठका दर्शन करनेके लिये चली जाओ ॥६४–६७॥

इत्येवमुक्ता सा तेन गुह्यकेन सुलोचना । श्रीकण्ठमागता तूर्णं कालिन्द्या दक्षिणे तटे ॥ ६८ ॥
दृष्ट्वा महेशं श्रीकण्ठं स्नात्वा रविसुताजले । अतिष्ठत शिरोनम्रा यावन्मध्यस्थितो रविः ॥ ६९ ॥
अथाजगाम देवस्य स्नानं कर्तुं तपोधनः । शुभः पाशुपताचार्यः सामवेदी ऋतध्वजः ॥ ७० ॥
ददर्श तत्र तन्वङ्गीं मुनिश्चित्राङ्गदां शुभाम् । रतीमिव स्थितां पुण्यामनङ्गपरिवर्जिताम् ॥ ७१ ॥

उस गुह्यकके ऐसा कहनेपर सुन्दर नेत्रोवाली वह शीघ्रतापूर्वक कालिन्दीके दक्षिण तटपर स्थित श्रीकण्ठके निकट चली गयी । वह कालिन्दीके जलमे स्नान करके महेश्वर श्रीकण्ठका दर्शन कर दोपहरतक सिर झुकाये स्थित रही । इतनेमे देव श्रीकण्ठके पास शुभ लक्षणोंसे युक्त, पाशुपताचार्य, सामवेदी, तपोधन, ऋतध्वज स्नान करनेके लिये आये । मुनिने कामसे रहित रतिके समान कृशाङ्गी कल्याणकारिणी चित्राङ्गदाको वहाँ देखा ॥ ६८–७१ ॥

तां दृष्ट्वा स मुनिर्ध्यानमगमत् केयमित्युत । अथ सा तमृषिं वन्द्य कृताञ्जलिरुपस्थिता ॥ ७२ ॥
तां प्राह पुत्रि कस्यासि सुता सुरसुतोपमा । किमर्थमागतासीह निर्मनुष्यमृगे वने ॥ ७३ ॥
ततः सा प्राह तमृषिं यथातथ्यं कृशोदरी । श्रुत्वर्षिः कोपमगमदशपच्छिल्पिनां वरम् ॥ ७४ ॥
यस्मात् स्वतनुजातेयं परदेयाऽपि पापिना । योजिता नैव पतिना तस्माच्छाखामृगोऽस्तु सः ॥ ७५ ॥

उन मुनिने उसको देखकर ध्यान किया कि यह कौन है । इसके बाद वह उन ऋषिके निकट जाकर उन्हे प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी । (ऋषिने) उससे पूछा—पुत्रि ! देवकन्याकी भाँति तुम किसकी पुत्री हो ? मनुष्य तथा पशुरहित इस वनमे तुम क्यो आयी हो ? उसके बाद उस कृशोदरीने उन ऋषिसे सच्ची बात कही । उसे सुनकर ऋषि क्रुद्ध हो गये और शिल्पियोमे श्रेष्ठ विश्वकर्माको शाप दे दिया—यत. उस पापीने दूसरेके देनेयोग्य भी अपनी इस पुत्रीको पतिसे युक्त नहीं किया, अत. वह शाखामृग (बन्दर) हो जाय ॥ ७२–७५ ॥

इत्युक्त्वा स महायोगी भूयः स्नात्वा विधानतः । उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां पूजयामास शङ्करम् ॥ ७६ ॥
सम्पूज्य देवदेवेशं यथोक्तविधिना हरम् । उवाचागम्यतां सुभ्रू सुदतीं पतिलालसाम् ॥ ७७ ॥
गच्छस्व सुभगे देशं सप्तगोदावरं शुभम् । तत्रोपास्य महेशानं महान्तं हाटकेश्वरम् ॥ ७८ ॥
तत्र स्थितायाः रम्भोरु ख्याता देववती शुभा । आगमिष्यति दैत्यस्य पुत्री कन्दरमालिनः ॥ ७९ ॥

यह कहनेके बाद उन महायोगीने पुनः विधिपूर्वक स्नान एवं पश्चिम (सायकालीन) सन्ध्या कर शङ्करजीका पूजन किया । शास्त्रमे कही गयी विधिसे देवेश्वर शङ्करकी पूजा करनेके बाद उन्होने पतिको चाहनेवाली तथा सुन्दर भौहो और दाँतोवाली चित्राङ्गदासे कहा—सुभगे ! कल्याणदायक सप्तगोदावर नामके देशमें जाओ । वहाँ महान् हाटकेश्वर भगवान्‌की पूजा करते हुए निवास करो । रम्भोरु ! वहाँपर रहती हुई, दैत्य कन्दरमालीकी प्रसिद्ध देववती नामकी कल्याणकारिणी पुत्री तुम्हारे पास आयेगी ॥ ७६–७९ ॥

तथाऽन्या गुह्यकसुता नन्दयन्तीति विश्रुता ।
अञ्जनस्यैव तत्रापि समेष्यति तपस्विनी । तथाऽपरा वेदवती पर्जन्यदुहिता शुभा ॥ ८० ॥
यदा तिस्रः समेष्यन्ति सप्तगोदावरे जले । हाटकाख्ये महादेवे तदा संयोगमेष्यसि ॥ ८१ ॥
इत्येवमुक्ता मुनिना बाला चित्राङ्गदा तदा । सप्तगोदावरं तीर्थमगमत् त्वरिता ततः ॥ ८२ ॥
सम्प्राप्य तत्र देवेशं पूजयन्ती त्रिलोचनम् । समध्यास्ते शुचिपरा फलमूलाशनाऽभवत् ॥ ८३ ॥
स चर्षिर्ज्ञानसम्पन्नः श्रीकण्ठायतनेऽलिखत् । श्लोकमेकं महाख्यानं तस्याश्च प्रियकाम्यया ॥ ८४ ॥
न सोऽस्ति कश्चित् त्रिदशोऽसुरो वा यक्षोऽथ मर्त्यो रजनीचरो वा ।
इदं हि दुःखं मृगशावनेत्र्या निर्मार्जयेद् यः स्वपराक्रमेण ॥ ८५ ॥
इत्येवमुक्त्वा स मुनिर्जगाम द्रष्टुं विभुं पुष्करनाथमीड्यम् ।
नदीं पयोष्णीं मुनिवृन्दवन्द्यां संचिन्तयन्नेव विशालनेत्राम् ॥ ८६ ॥
इति श्रीवामनपुराणे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इसके सिवाय वहींपर अञ्जन नामक गुह्यककी प्रसिद्ध नन्दयन्ती नामकी तपस्विनी पुत्री तथा वेदवती नामक पर्जन्यकी कल्याणमयी पुत्री भी आयेगी । जब वे तीनो हाटकेश्वर महादेवके पास सप्तगोदावरमें आयेंगी उस समय तुम उनसे मिलोगी । मुनिके इस प्रकार कहनेपर बाला चित्राङ्गदा वहाँसे शीघ्र सप्तगोदावर नामके तीर्थमे गयी । वहाँ जानेके बाद वह देवाधिदेव त्रिलोचनकी पूजा तथा फल-मूलका भक्षण करती हुई पवित्रता-पूर्वक रहने लगी और उन ज्ञानसम्पन्न ऋषिने उसकी हित-कामनासे प्रेरित होकर श्रीकण्ठके मन्दिरमे महान् आख्यानसे युक्त एक श्लोक लिखा—'ऐसा कोई देवता, असुर, यक्ष, मनुष्य या राक्षस नहीं है, जो अपने पराक्रमसे इस मृगनयनीका दुःख दूर कर सके । इस प्रकार श्लोक कहने-(लिखने-)के बाद उस विशालाक्षीके विषयमे सोच-विचार करते हुए वे मुनि पूज्य विभु पुष्करनाथका दर्शन करनेके लिये मुनिवृन्दसे वन्द्य पयोष्णी नदीके तटपर चले गये ॥ ८०—८६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

[अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः]

दण्ड उवाच

चित्राङ्गदायास्त्वरजे तत्र सत्या यथासुखम् । स्मरन्त्याः सुरथं वीरं महान् कालः समभ्यगात् ॥ १ ॥
विश्वकर्माऽपि मुनिना शप्तो वानरतां गतः । न्यपतन्मेरुशिखराद् भूपृष्ठं विधिचोदितः ॥ २ ॥
वनं घोरं सुगुल्माढ्यं नदीं शाल्किनीमनु । शाल्वेयं पर्वतश्रेष्ठं समावसत सुन्दरि ॥ ३ ॥
तत्रासतोऽस्य सुचिरं फलमूलान्यथाश्नतः । कालोऽत्यगाद् वरारोहे बहुवर्षगणो वने ॥ ४ ॥

चौंसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चित्राङ्गदा-सन्दर्भ, विश्वकर्माका बन्दर होना, वेदवती आदिका उपाख्यान, जाबालिका बन्धन-मोचन)

दण्डने कहा—अरजे ! वहाँ वीर सुरथका स्मरण करते हुए आनन्दपूर्वक चित्राङ्गदाका लंबा समय व्यतीत हो गया । मुनिद्वारा शापित हो जानेके कारण विश्वकर्मा भी बन्दर हो गये । होनहारवश वे मेरुकी ऊँची चोटीमे गिरकर पृथ्वीपर आ गये । सुन्दरि ! (फिर) वे शाल्किनी नदीके निकट घने झुरमुटोंसे भरे भयङ्कर वनवाले पर्वतश्रेष्ठ शाल्वेयपर रहने लगे । वरारोहे ! उस वनमे फल-मूल खाकर रहते हुए उनके बहुत वर्षोंके युग निकल गये ॥ १—४ ॥

एकदा दैत्यशार्दूलः कन्दराख्यः सुतां प्रियाम्। प्रतिगृह्य समभ्यागात् ख्यातां देववतीमिति ॥ ५ ॥
तां च तद् वनमायान्तीं समं पित्रा वराननाम्। ददर्श वानरश्रेष्ठः प्रजग्राह बलात् करे ॥ ६ ॥
ततो गृहीतां कपिना स दैत्यः स्वसुतां शुभे। कन्दरो वीक्ष्य संक्रुद्धः खड्गमुद्यम्य चाद्रवत् ॥ ७ ॥
तमापतन्तं दैत्येन्द्रं दृष्ट्वा शाखामृगो बली। तथैव सह चार्वङ्ग्या हिमाचलमुपागतः ॥ ८ ॥

एक समय कन्दर नामका दैत्य वीर 'देववती' नामसे प्रसिद्ध अपनी प्रिय पुत्रीको साथ लेकर वहाँ आया। उसके बाद पिताके साथ वनमे आ रही उस सुन्दरीको उस वानरश्रेष्ठने देखा, (उसने) बलपूर्वक उसका हाथ पकड़ लिया। शुभे! दैत्य कन्दर अपनी कन्याको बन्दरसे पकडी गयी देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और तलवार उठाकर दौड पड़ा। बलशाली बन्दर (अपने पीछे) उस दैत्येन्द्रको आते देखकर उस सुन्दरी कन्याको साथ लिये हिमालयपर चला गया ॥ ५–८ ॥

ददर्श च महादेवं श्रीकण्ठं यमुनातटे। तस्याविदूरे गहनमाश्रमं ऋषिवर्जितम् ॥ ९ ॥
तस्मिन् महाश्रमे पुण्ये स्थाप्य देववतीं कपिः। न्यमज्जत स कालिन्द्यां पश्यतो दानवस्य हि ॥ १० ॥
सोऽजानत् तां मृतां पुत्रीं समं शाखामृगेण हि। जगाम च महातेजाः पातालं निलयं निजम् ॥ ११ ॥
स चापि वानरो देव्या कालिन्द्या वेगतो हृतः। नीतः शिवेति विख्यातं देशं शुभजनावृतम् ॥ १२ ॥

उसने यमुनाके तटपर महादेव श्रीकण्ठका दर्शन किया। (उसने) उससे थोडी दूरपर ऋषियोसे रहित एक दुर्गम आश्रम भी देखा। उस पवित्र महाश्रममे देववतीको रखकर वह बन्दर दैत्य कन्दरके देखते-देखते कालिन्दी-(के जल-)मे डूब गया। उस कन्दरने बन्दरके साथ पुत्रीको (डूबकर) मरी हुई समझ लिया। अतः (निराश होकर) वह महातेजस्वी पातालमे स्थित अपने घरमे चला गया और वेगपूर्वक उस बन्दरको भी देवी कालिन्दी भी शुभजनोसे व्याप्त शिवि नामसे प्रसिद्ध स्थानमे बहाकर ले गयी ॥ ९–१२ ॥

ततस्तीर्त्वाऽथ वेगेन स कपिः पर्वतं प्रति। गन्तुकामो महातेजा यत्र न्यस्ता सुलोचना ॥ १३ ॥
अथापश्यत् समायान्तमञ्जनं गुह्यकोत्तमम्। नन्दयन्त्या समं पुत्र्या गत्वा जिगमिषुः कपिः ॥ १४ ॥
तां दृष्ट्वाऽमन्यत श्रीमान् सेयं देववती ध्रुवम्। तन्मे वृथा श्रमो जातो जलमज्जनसम्भवः ॥ १५ ॥
इति संचिन्तयन्नेव समाद्रवत सुन्दरीम्। सा तद्भयाच्च न्यपतन्नदीं चैव हिरण्वतीम् ॥ १६ ॥

उसके बाद महातेजस्वी उस बन्दरने तेजीसे तैरकर उसे पार करनेके बाद उस पर्वतपर जानेकी इच्छा की, जहाँ वह सुनयना रखी गयी थी। उसके बाद उसने नन्दयन्ती नामकी पुत्रीके साथ आते हुए श्रेष्ठ गुह्यक अञ्जनको देखा। जानेकी इच्छा करनेवाला वह बन्दर (उसके) निकट गया। उसे देखकर श्रीमान् कपिने सोचा कि सचमुच यह वही देववती है। अतः जलमे डूबनेका मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया। इस प्रकार सोचता हुआ वह बन्दर उस सुन्दरीकी ओर दौडा। उसके भयसे वह कन्या हिरण्वती नदीमे कूद पडी ॥ १३–१६ ॥

गुह्यको वीक्ष्य तनयां पतितामापगाजले। दुःखशोकसमाक्रान्तो जगामाञ्जनपर्वतम् ॥ १७ ॥
तत्रासौ तप आस्थाय मौनव्रतधरः शुचिः। समास्ते वै महातेजाः संवत्सरगणान् बहून् ॥ १८ ॥
नन्दयन्त्यपि वेगेन हिरण्वत्याऽपवाहिता। नीता देशं महापुण्यं कौशलं साधुभिर्युतम् ॥ १९ ॥
गच्छन्ती सा च रुदती ददर्शे वटपादपम्। प्ररोहप्रावृततनुं जटाधरमिवेश्वरम् ॥ २० ॥

कन्याको नदीके जलमे कूदती हुई देखकर गुह्यक दुःख और शोकसे विह्वल होता हुआ अञ्जन पर्वतपर चला गया। वह महातेजस्वी वहाँ पवित्रतापूर्वक मौनव्रत धारण करके बहुत वर्षोतक तप करता रहा। हिरण्वती भी (जलधाराके) वेगसे नन्दयन्तीको भी बहा ले गयी और सज्जनोसे सेवित महापवित्र कोशल देशमें उसे पहुँचा

दिया। जाते समय रोती हुई उसने जटाधारी शङ्करकी भाँति बरोहोंसे घिरी हुई जड़वाले एक वटवृक्षको देखा ॥ १७–२० ॥

तं दृष्ट्वा विपुलच्छायं विशश्राम वरानना। उपविष्टा शिलापट्टे ततो वाचं प्रशुश्रुवे ॥ २१ ॥
न सोऽस्ति पुरुषः कश्चिद् यस्तं ब्रूयात् तपोधनम्। यथा स तनयस्तुभ्यमुद्बद्धो वटपादपे ॥ २२ ॥
सा श्रुत्वा तां तदा वाणीं विस्पष्टाक्षरसंयुताम्। तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव समन्तादवलोकयत् ॥ २३ ॥
ददृशे वृक्षशिखरे शिशुं पञ्चाब्दिकं स्थितम्। पिङ्गलाभिर्जटाभिस्तु उद्बद्धं यत्नतः शुभे ॥ २४ ॥

वह सुमुखी घनी छायावाले उस वृक्षको देखकर एक पत्थरपर बैठ गयी और विश्राम करने लगी। उसके बाद उसने यह वाणी सुनी—'क्या कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो उस तपोधन-(ऋतध्वज-) से कहे कि तुम्हारा वह पुत्र वटवृक्षमे बँधा हुआ है।' उसने उस समय सुस्पष्ट अक्षरोंसे युक्त उस वाणीको सुनकर चारों ओर ऊपर-नीचे देखा। शुभे! (तब) उसने वृक्षकी सबसे ऊँची चोटीपर यत्नपूर्वक पिङ्गलवर्णकी जटाओंसे बँधे पाँच वर्षके एक बालकको देखा ॥ २१–२४ ॥

तं विब्रुवन्तं दृष्ट्वैव नन्दयन्ती सुदुःखिता। प्राह केनासि बद्धस्त्वं पापिना वद बालक ॥ २५ ॥
स तामाह महाभागे बद्धोऽस्मि कपिना वटे। जटास्वेवं सुदुष्टेन जीवामि तपसो बलात् ॥ २६ ॥
पुरोन्मत्तपुरेत्येव तत्र देवो महेश्वरः। तत्रास्ति तपसो राशिः पिता मम ऋतध्वजः ॥ २७ ॥
तस्यास्मि जपमानस्य महायोगं महात्मनः। जातोऽलिवृन्दसंयुक्तः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २८ ॥

अत्यन्त दुःखित होती हुई नन्दयन्तीने उस बोलनेवालेको ऊपर देखकर कहा—अरे बालक! बतलाओ, किस पापीने तुम्हें बाँधा है? उस बालकने उससे कहा—महाभागे! एक महादुष्ट बन्दरने मुझे जटाओंद्वारा इस वटमें बाँध दिया है। मै अपने तपोबलसे ही जी रहा हूँ। पहले उन्मत्तपुरमें देव महेश्वर प्रतिष्ठित थे। वहाँ तपके राशिस्वरूप (महातपस्वी) मेरे पिता ऋतध्वज निवास करते थे। महायोगका जप-तप कर रहे उन महात्माका मैं सभी शास्त्रोमे निपुण एवं भौरोंके समूहसे युक्त पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २५–२८ ॥

ततो मामब्रवीत् तातो नाम कृत्वा शुभानने। जाबालीति परिख्याय तच्छृणुष्व शुभानने ॥ २९ ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि बाल एव भविष्यसि। दशवर्षसहस्राणि कुमारत्वे चरिष्यसि ॥ ३० ॥
विंशतिं यौवनस्थायी वीर्येण द्विगुणं ततः। पञ्चवर्षशतान् बालो भोक्ष्यसे बन्धनं दृढम् ॥ ३१ ॥
दशवर्षशतान्येव कौमारे कायपीडनम्। यौवने परमान् भोगान् द्विसहस्रसमास्तथा ॥ ३२ ॥

शुभानने! पिताजीने मेरा नाम जाबालि रखकर मुझसे जो कुछ कहा, उसे सुनो। उन्होंने कहा—तुम पाँच हजार वर्षोतक बालक रहोगे एवं दस हजार वर्षोतक कुमार रहोगे। बीस वर्षोतक तुम्हारा पराक्रम-पूर्ण यौवन रहेगा और उसके बाद उसके दुगुने समयतक बुढ़ापेकी स्थिति रहेगी। बाल्यावस्थामें पाँच सौ वर्षोतक तुम्हें दृढ बन्धन भोगना पडेगा। उसके बाद एक हजार वर्षोतक कुमारावस्थामे तुम्हे शारीरिक कष्ट भोगना पडेगा तथा युवावस्थामे दो हजार वर्षोतक तुम उत्तम भोगोंको प्राप्त करोगे ॥ २९–३२ ॥

चत्वारिंशच्छतान्येव वार्धके क्लेशमुत्तमम्। लप्स्यसे भूमिशय्याढ्यं कदन्नाशनभोजनम् ॥ ३३ ॥
इत्येवमुक्तः पित्राऽहं बालः पञ्चाब्ददेशिकः। विचरामि महीपृष्ठं गच्छन् स्नातुं हिरण्वतीम् ॥ ३४ ॥
ततोऽपश्यं कपिवरं सोऽवदन्मां क्व यास्यसि। इमां देववतीं गृहां मूढ न्यस्तां महाश्रमे ॥ ३५ ॥
ततोऽसौ मां समादाय विस्फुरन्तं प्रयत्नतः। वटाग्रेऽस्मिन्नुद्बबन्ध जटाभिरपि सुन्दरि ॥ ३६ ॥

बुढ़ापेमे चालीस सौ वर्षोंतक अत्यन्त क्लेश भोगना होगा। उस समय तुम्हें भूमिपर सोना तथा कुत्सित-अन्न—कदन्न—सॉवा, कोदो-(आदि-)का भोजन करना पड़ेगा। पिताके इस प्रकार कहनेके बाद पाँच वर्षकी अवस्थामे मै हिरण्वतीमे स्नान करनेके उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचरता हुआ जा रहा था। उस समय मैंने एक श्रेष्ठ बन्दरको देखा। उसने मुझसे कहा—अरे मूढ ! इस महान् आश्रममे रखी हुई इस देवव्रतीको लेकर तू कहॉ जा रहा है ? सुन्दरि ! उसके बाद उसने छटपटाते हुए मुझको पकड़कर प्रयत्नपूर्वक इस वटवृक्षके शिखरपर जटाओं (वरोहो-)से बॉध दिया ॥ ३३—३६ ॥

तथा च रक्षा कपिना कृता भीरु निरन्तरैः। लतापाशैर्महायन्त्रमधस्ताद् दुष्टबुद्धिना ॥ ३७ ॥
अभेद्योऽयमनाक्रम्य उपरिष्टात् तथाप्यधः। दिशां मुखेषु सर्वेषु कृतं यन्त्रं लतामयम् ॥ ३८ ॥
संयम्य मां कपिवरः प्रयातोऽमरपर्वतम्। यथेच्छया मया दृष्टमेतत् ते गदितं शुभे ॥ ३९ ॥
भवती का महारण्ये ललना परिवर्जिता। समायाता सुचार्वङ्गी केन सार्थेन मां वद ॥ ४० ॥

भीरु ! उस कुमति बन्दरने बहुत-से लता-जालोंसे एक महान् यन्त्र (छज्जा) बनाकर उसके नीचे मुझे स्थापित कर दिया और सदा मेरी रक्षा करता रहा। सभी दिशाओंमे चारो ओरसे बनाया गया यह लतायन्त्र न तो टूट सकता है और न किसी प्रकार ऊपर या नीचेसे इसके ऊपर आक्रमण ही किया जा सकता है। वह श्रेष्ठ बन्दर मुझको बॉधकर स्वेच्छासे अमर पर्वतपर चला गया। शुभे ! मैंने जो कुछ देखा था उसे तुमसे कह दिया। सुन्दरि ! मुझे बतलाओ कि तुम कौन हो एवं इस विस्तृत वनमें अकेली तुम किसके साथ आयी हो ? ॥ ३७—४० ॥

साऽब्रवीदञ्जनो नाम गुह्यकेन्द्रः पिता मम। नन्दयन्तीति मे नाम प्रम्लोचागर्भसम्भवा ॥ ४१ ॥
तत्र मे जातके प्रोक्तमृषिणा मुद्गलेन हि। इयं नरेन्द्रमहिषी भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥
तद्वाक्यसमकालं च व्यनदद् देवदुन्दुभिः। शिवा चाशिवनिर्घोषा ततो भूयोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ४३ ॥
न संदेहो नरपतेर्महाराज्ञी भविष्यति।
महान्तं संशयं घोरं कन्याभावे गमिष्यसि। ततो जगाम स ऋषिरेवमुक्त्वा वचोऽद्भुतम् ॥ ४४ ॥

उसने कहा—गुह्यकराज अञ्जन मेरे पिता हैं। मेरा नाम नन्दयन्ती है। मेरा जन्म प्रम्लोचाके गर्भसे हुआ है। मेरे जन्मके समय मुद्गल ऋषिने कहा था कि यह कन्या भविष्यमे राजरानी बनेगी। उनके कहनेके समय ही स्वर्गमे दुन्दुभि बजने लगी तथा तत्काल ही अमङ्गल सूचक शब्द सियारिनवाली बोलने लगी। उसके बाद मुनिने पुनः कहा—इसमे सदेह नहीं कि यह बालिका महाराजकी महारानी होगी। परंतु कन्या-अवस्थामे ही यह भयङ्कर विपत्तिमें पड जायगी। इस प्रकारका अद्भुत वचन कहकर वे ऋषि चले गये ॥ ४१—४४ ॥

पिता मामपि चादाय समागन्तुमथैच्छत। तीर्थं ततो हिरण्वत्यास्तीरात् कपिरथोत्पतत् ॥ ४५ ॥
तद्भयाच्च मया ह्यात्मा क्षिप्तः सागरगाजले। तयाऽस्मि देशमानीता इमं मानुषवर्जितम् ॥ ४६ ॥
श्रुत्वा जावालिरथ तद् वचनं वै तयोदितम्। प्राह सुन्दरि गच्छस्व श्रीकण्ठं यमुनातटे ॥ ४७ ॥
तत्रागच्छति मध्याह्ने मत्पिता शर्वमर्चितुम्। तस्मै निवेदयात्मानं तत्र श्रेयोऽधिलप्स्यसे ॥ ४८ ॥

उसके बाद मेरे पिताने तीर्थयात्रा करनेकी इच्छा की। इसी बीच मुझे (अपने साथ) लेकर बन्दर हिरण्वतीके तटसे उछला। उसके डरसे मैने अपनेको समुद्रमे गिरनेवाली नदीके जलमें गिरा दिया (मै नदीमें कूद पड़ी)। उस

नदीके भीषण प्रवाहसे मैं इस निर्जन देशमें आ गयी हूँ। जाबालिने उसकी कही हुई बातको सुनकर कहा— सुन्दरि! तुम यमुनाके किनारे श्रीकण्ठके पास जाओ। वहाँ मेरे पिताजी मध्याह्नमें शिवजीकी पूजा करनेके लिये आते हैं। तुम वहाँ जाकर उनको अपना समाचार सुनाओ। इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ४५—४८ ॥

ततस्तु त्वरिता काले नन्दयन्ती तपोनिधिम्। परित्राणार्थमगमद्धिमाद्रेर्यमुनां नदीम् ॥ ४९ ॥
सा त्वदीर्घेण कालेन कन्दमूलफलाशना। सम्प्राप्ता शङ्करस्थानं यत्रागच्छति तापसः ॥ ५० ॥
ततः सा देवदेवेशं श्रीकण्ठं लोकवन्दितम्। प्रनिवन्द्य ततोऽपश्यदक्षरांस्तान्महामुने ॥ ५१ ॥
तेषामर्थं हि विज्ञाय सा तदा चारुहासिनी। तज्जाबाल्युदितं श्लोकमलिखच्चान्यमात्मनः ॥ ५२ ॥

उसके बाद नन्दयन्ती अपनी रक्षाके लिये शीघ्रतापूर्वक हिमाचलसे चल पड़ी और यमुनाके तीरपर स्थित तपोनिधि-(ऋतध्वज-) के पास पहुँच गयी। कन्द-मूल-फल खाती हुई वह कुछ ही समयमें शङ्करके (भी) उस स्थानपर पहुँची जहाँ तपस्वी आया करते थे। महामुने! उसके बाद उसने विश्ववन्दित देवाधिदेव श्रीकण्ठकी पूजाकर उन (लिखे) अक्षरोंको देखा। उनका अर्थ जानकर मधुर मुस्कान करती हुई उसने जाबालिद्वारा कथित श्लोक तथा अपना एक अन्य श्लोक लिखा—॥ ४९—५२ ॥

मुद्गलेनास्मि गदिता राजपत्नी भविष्यति। सा चावस्थामिमां प्राप्ता कश्चिन्मां त्रातुमीश्वरः ॥ ५३ ॥
इत्युल्लिख्य शिलापट्टे गता स्नातुं यमस्वसाम्। ददृशे चाश्रमवरं मत्तकोकिलनादितम् ॥ ५४ ॥
ततोऽमन्यत सात्रर्षिर्नूनं तिष्ठति सत्तमः। इत्येवं चिन्तयन्ती सा सम्प्रविष्टा महाश्रमम् ॥ ५५ ॥
ततो ददर्श देवाभां स्थितां देववतीं शुभाम्। संशुष्कास्यां चलन्नेत्रां परिम्लानामिवाब्जिनीम् ॥ ५६ ॥

'महर्षि मुद्गलने कहा था कि मैं राजपत्नी होऊँगी, किंतु मैं इस अवस्थामें आ गयी हूँ। क्या कोई मेरा उद्धार करनेमें समर्थ है?' शिलापट्टपर यह लिखकर वह स्नान करनेके लिये यमुनाके किनारे चली गयी और उस स्थानपर मतवाली कोकिलोंके स्वरों (काकली)से निनादित एक सुन्दर आश्रम देखा। उसने सोचा—इस स्थानपर श्रेष्ठ ऋषि अवश्य रहते होंगे। ऐसा सोचती हुई उस महान् आश्रममें प्रविष्ट हुई। उसके बाद उसने देवी शोभासे युक्त, मुर्झायी हुई कमलिनीके समान सूखे मुख एवं चञ्चल नेत्रोंवाली देववतीको वहाँ बैठी हुई देखा ॥ ५३—५६ ॥

सा चापतन्तीं ददृशे यक्षजां दैत्यनन्दिनी। केयमित्येव संचिन्त्य समुत्थाय स्थिताभवत् ॥ ५७ ॥
ततोऽन्योन्यं समालिङ्ग्य गाढं गाढं सुहृत्तया। पप्रच्छतुस्तथान्योऽन्यं कथयामासतुस्तदा ॥ ५८ ॥
ते परिज्ञाततत्त्वार्थे अन्योन्यं ललनोत्तमे। समासीने कथाभिस्ते नानारूपाभिरादरात् ॥ ५९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः श्रीकण्ठं स्नातुमादरात्। स तत्त्वज्ञो मुनिश्रेष्ठो अक्षराण्यवलोकयन् ॥ ६० ॥

देववतीने यक्षपुत्रीको आती हुई देखा और यह कौन है—ऐसा विचारकर वह उठ खड़ी हुई। उसके बाद सखीभावसे उन दोनोंने आपसमें गाढ आलिङ्गन किया—वे एक दूसरेके गले लगीं तथा परस्पर पूछ-ताछ और बातचीत करने लगीं। वे दोनों उत्तम ललनाएँ एक दूसरीकी सच्ची घटनाओंको जानकर बैठ गयीं एवं आदरपूर्वक अनेक प्रकारकी कथाएँ कहने लगीं। इसी बीच वे तत्त्वज्ञाता मुनिश्रेष्ठ श्रीकण्ठके निकट स्नान करनेके लिये आये और उन्होंने पत्थरपर लिखे हुए अक्षरोंको देखा ॥ ५७—६० ॥

स दृष्ट्वा वाचयित्वा च तमर्थमधिगम्य च । मुहूर्तं ध्यानमास्थाय व्यजानाच्च तपोनिधिः ॥ ६१ ॥
ततः सम्पूज्य देवेशं त्वरया स ऋतध्वजः । अयोध्यामगमत् क्षिप्रं द्रष्टुमिक्ष्वाकुमीश्वरम् ॥ ६२ ॥
तं दृष्ट्वा नृपतिश्रेष्ठं तापसो वाक्यमब्रवीत् । श्रूयतां नरशार्दूल विज्ञप्तिर्मम पार्थिव ॥ ६३ ॥
मम पुत्रो गुणैर्युक्तः सर्वशास्त्रविशारदः । उद्बद्धः कपिना राजन् विषयान्ते तवैव हि ॥ ६४ ॥

उन्हें देख और पढ़कर तथा उनका अर्थ समझकर वे तपोनिधि एक क्षणमें ध्यान लगाकर (सब कुछ ठीक-ठीक) जान गये । उसके बाद महर्षि ऋतध्वज शीघ्रतासे देवेश्वरकी पूजाकर राजा इक्ष्वाकुका दर्शन करनेके लिये तुरंत ही अयोध्या चले गये । श्रेष्ठ नरपतिका दर्शन करके तपस्वी ऋतध्वजने कहा—नरशार्दूल ! राजन् ! मेरी विज्ञप्ति (याचिका) सुनिये । राजन् ! आपके ही राज्यकी सीमामें एक बन्दरने सर्वशास्त्रोंमें निपुण, अच्छे गुणोंसे युक्त मेरे पुत्रको बाँध रखा है ॥ ६१–६४ ॥

तं हि मोचयितुं नान्यः शक्तस्त्वत्तनयादृते । शकुनिर्नाम राजेन्द्र स ह्यस्त्रविधिपारगः ॥ ६५ ॥
तन्मुनेर्वाक्यमाकर्ण्य पिता मम कृशोदरि । आदिदेश प्रियं पुत्रं शकुनिं तापसान्वये ॥ ६६ ॥
ततः स प्रहितः पित्रा भ्राता मम महाभुजः । सम्प्राप्तो बन्धनोद्देशं समं हि परमर्षिणा ॥ ६७ ॥
दृष्ट्वा न्यग्रोधमत्युच्चं प्ररोहास्तृतदिङ्मुखम् । ददर्श वृक्षशिखरे उद्बद्धमृषिपुत्रकम् ॥ ६८ ॥

राजेन्द्र ! अस्त्र-विधिमें पारङ्गत आपके शकुनि नामक पुत्रके सिवाय दूसरा कोई उसे छुड़ा नहीं सकता । कृशोदरि ! मुनिके उस वचनको सुनकर मेरे पिताने अपने पुत्र (मेरे भाई) शकुनिको उन तपस्वीके पुत्रके (बन्धन छुड़ानेके) सम्बन्धमें उचित आदेश दिया । उसके बाद पिताके द्वारा भेजा गया वह शक्तिशाली मेरा भाई उन श्रेष्ठ ऋषिके साथ ही बन्धनके स्थानपर आया । चारों ओर बरोहोंसे ढके हुए अत्यन्त ऊँचे वटवृक्षको देखनेके बाद उसने वृक्षकी ऊँची चोटीपर बँधे हुए ऋषिके पुत्रको (बँधा हुआ) देखा ॥ ६५–६८ ॥

तांश्च सर्वाँल्लतापाशान् दृष्टवान् स समन्ततः । दृष्ट्वा स मुनिपुत्रं तं स्वजटासंयतं वटे ॥ ६९ ॥
धनुरादाय बलवानधिज्यं स चकार ह । लाघवादृषिपुत्रं तं रक्षंश्चिच्छेद मार्गणैः ॥ ७० ॥
कपिना यत् कृतं सर्वं लतापाशं चतुर्दिशम् । पञ्चवर्षशते काले गते शकस्तदा शरैः ॥ ७१ ॥
लताच्छन्नं ततस्तूर्णमारुरोह मुनिर्वटम् । प्राप्तं स्वपितरं दृष्ट्वा जाबालिः संयतोऽपि सन् ॥ ७२ ॥
आदरात् पितरं मूर्ध्ना ववन्दे तु विधानतः । सम्परिष्वज्य स मुनिर्मूर्ध्न्याघ्राय सुतं ततः ॥ ७३ ॥

(फिर) उसने (फैले हुए) उन समस्त लताजालोंको चारों ओरसे (अच्छी तरह) देखा एवं बड़के पेड़में एवं अपनी जटाओंसे बँधे मुनिपुत्रको देखकर उस पराक्रमीने धनुष लेकर उसकी प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ायी एवं वह ऋषि-पुत्रकी रक्षा करते हुए निपुणतासे बाणोंद्वारा लताजालोंको काटने लगा । पाँच सौ वर्ष बीत जानेपर चारों ओर बन्दरके द्वारा बनाया गया लताजाल बाणोंसे जब काट दिया गया तब ऋषि ऋतध्वज लताओंसे ढके उस वटवृक्षपर शीघ्र चढ़ गये । जाबालिने अपने पिताको आया देखकर बँधे रहनेपर भी अत्यन्त आदरके साथ यथाविधि सिरसे (सिर झुकाकर) प्रणाम किया । उस मुनिने (पुत्रका) मस्तक सूँघकर उसको अच्छी तरह गले लगाया ॥ ६९–७३ ॥

उन्मोचयितुमारब्धो न शशाक सुसंयतम् । ततस्तूर्णं धनुर्न्यस्य बाणांश्च शकुनिर्बली ॥ ७४ ॥
आरुरोह वटं तूर्णं जटा मोचयितुं तदा । न च शक्नोति संच्छन्नं दृढं कपिवरेण हि ॥ ७५ ॥
यदा न शकितास्तेन सम्प्रमोचयितुं जटाः । तदाऽवतीर्णः शकुनिः सहितः परमर्षिणा ॥ ७६ ॥

जग्राह च धनुर्बाणांश्चकार शरमण्डपम् । लाघवादर्द्धचन्द्रैस्तां शाखां चिच्छेद स त्रिधा ॥ ७७ ॥
शाखया कृत्तया चासौ भारवाही तपोधनः । शरसोपानमार्गेण अवतीर्णोऽथ पादपात् ॥ ७८ ॥
तस्मिंस्तदा स्वे तनये ऋतध्वजख्याते नरेन्द्रस्य सुतेन धन्विना ।
जावालिना भारवहेन संयुतः समाजगामाथ नदीं स सूर्यजाम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

फिर वे बन्धन खोलने लगे; परंतु अत्यन्त दृढ बन्धनको वे खोल न सके। तब पराक्रमी शकुनि शीघ्र ही धनुष और बाणोंको रखकर जटा खोलनेके लिये बरगदके पेड़पर चढ़ गया। पर (वह भी) कपिद्वारा दृढ़तापूर्वक बनाये गये बन्धनको न खोल सका। जब वह जटाओंको नहीं खोल सका, तब श्रेष्ठ ऋषिके साथ शकुनि नीचे उतर आया। फिर उसने धनुष एवं बाण लिया तथा एक शरमण्डप बनाया। उसके बाद उसने हल्के हाथ अर्द्धचन्द्राकार बाणोंसे उस शाखाको तीन टुकड़ोंमें काट दिया। कटी हुई शाखाके साथ ही भारवाही तपोधन बाणकी सीढ़ियोंके मार्गसे वृक्षके नीचे उतर आये। राजाके धनुर्धारी पुत्रद्वारा अपने पुत्रकी रक्षा हो जानेके बाद ऋतध्वज भारवाही जावालिके साथ सूर्यपुत्री (यमुना) नदीके तटपर गये ॥ ७४—७९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

[अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः]

दण्डक उवाच

एतस्मिन्नन्तरे बाले यक्षासुरसुते शुभे । समागते हरं द्रष्टुं श्रीकण्ठं योगिनां वरम् ॥ १ ॥
ददृशाते परिम्लानसंशुष्ककुसुमं विभुम् । बहुनिर्माल्यसंयुक्तं गते तस्मिन् ऋतध्वजे ॥ २ ॥
ततस्तं वीक्ष्य देवेशं ते उभे अपि कन्यके । स्नापयेतां विधानेन पूजयेतामहर्निशम् ॥ ३ ॥
ताभ्यां स्थिताभ्यां तत्रैव ऋषिरभ्यागमद् वनम् । द्रष्टुं श्रीकण्ठमव्यक्तं गालवो नाम नामतः ॥ ४ ॥

पैंसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(गालव-प्रसङ्ग, चित्राङ्गदा-वेदवती-वृत्तान्त, कन्याओंकी खोज, घृताची-वृत्तान्त, जावालिकी जटाओंसे मुक्ति, विश्वकर्माकी शाप-मुक्ति, इन्द्रद्युम्नादिका सप्तगोदावरमें आना, शिव-स्तुति, सप्तगोदावरमें सम्मेलन, कन्याओंका विवाह)

दण्डकने कहा—बाले ! इसी बीच यक्ष और असुरकी दोनों कन्याएँ योगीश्वर श्रीकण्ठ महादेवका दर्शन करनेके लिये आयीं। उन ऋतध्वजके चले जानेपर उन दोनोंने महादेवके चारों ओर मुर्झाये तथा सूखे हुए फूल और विसर्जनके बाद समर्पित की गयी अन्य बहुत-सी वस्तुएँ पड़ी हुई देखीं। उसके बाद उन देवेशका दर्शन कर वे दोनो कन्याएँ विधिसे दिन-रात श्रीकण्ठ भगवान्‌को स्नान करातीं एवं उनका पूजन करती थीं। उसी स्थानपर उन दोनोंके रहते हुए गालव नामके ऋषि अव्यक्तस्वरूपवाले श्रीकण्ठका दर्शन करनेके लिये इस वनमें आये ॥ १—४ ॥

स दृष्ट्वा कन्यकायुग्मं कस्येदमिति चिन्तयन् । प्रविवेश शुचिः स्नात्वा कालिन्द्या विमले जले ॥ ५ ॥
ततोऽनुपूजयामास श्रीकण्ठं गालवो मुनिः । गायेते सुस्वरं गीतं यक्षासुरसुते ततः ॥ ६ ॥
ततः स्वरं समाकर्ण्य गालवस्ते अजानत । गन्धर्वकन्यके चैते संदेहो नात्र विद्यते ॥ ७ ॥
सम्पूज्य देवमीशानं गालवस्तु विधानतः । कृतजप्यः समध्यास्ते कन्याभ्यामभिवादितः ॥ ८ ॥

उन्होंने उन दोनो कन्याओंको देखकर 'ये किसकी कन्याएँ हैं'—इस प्रकार सोचते-विचारते हुए कालिन्दीके विमल जलमें प्रवेश किया। गालव ऋषिने स्नान करनेके बाद पवित्र होकर श्रीकण्ठ महादेवकी पूजा की। उसके बाद यक्ष और असुरकी दोनो कन्याओंने मधुर स्वरसे गीत गाया। तब (उनके) स्वरको सुनकर गालवने यह जान लिया कि ये दोनो निस्सन्देह गन्धर्वकी ही कन्याएँ हैं। गालवने विधिसे श्रीकण्ठदेवकी पूजा कर जप किया। उसके बाद दोनों कन्याओंसे अभिनन्दित होकर वे बैठ गये ॥ ५-८ ॥

ततः पप्रच्छ स मुनिः कन्यके कस्य कथ्यताम्। कुलालङ्कारकरणे भक्तियुक्ते भवस्य हि ॥ ९ ॥
तमूचतुर्मुनिश्रेष्ठं याथातथ्यं शुभानने। जातो विदितवृत्तान्तो गालवस्तपतां वरः ॥ १० ॥
समुष्य तत्र रजनीं ताभ्यां सम्पूजितो मुनिः। प्रातरुत्थाय गौरीशं सम्पूज्य च विधानतः ॥ ११ ॥
ते उपेत्याब्रवीद्यास्ये पुष्करारण्यमुत्तमम्। आमन्त्रयामि वां कन्ये समनुज्ञातुमर्हथः ॥ १२ ॥

उसके बाद उन मुनिने उन दोनों कन्याओंसे पूछा—कन्याओ! तुम दोनो यह बतलाओ कि शङ्करमें भक्ति करनेवाली कुलकी शोभारूपा तुम दोनों किनकी कन्याएँ हो? शुभानने! उन दोनों कन्याओंने उन मुनिश्रेष्ठसे सत्य बातें बतलायीं। तब तपस्वियोंमें श्रेष्ठ गालवने सम्पूर्ण वृत्तान्त (पूर्णतः) जान लिया। उन दोनोंसे सत्कृत होकर मुनिने वहाँ रात्रिमें निवास किया और प्रातःकाल उठकर विधिपूर्वक गौरीपति शङ्करका पूजन किया। उसके बाद उन दोनोंके पास जाकर उन्होंने कहा—मैं परम उत्तम पुष्कर वनमें जाऊँगा। मैं तुम दोनोंसे अनुरोधकर विदा लेना चाहता हूँ। तुम दोनों मुझे अनुज्ञा (अनुमति) दो ॥ ९—१२ ॥

ततस्ते ऊचतुर्ब्रह्मन् दुर्लभं दर्शनं तव। किमर्थं पुष्करारण्यं भवान् यास्यत्यथादरात् ॥ १३ ॥
ते उवाच महातेजा महत्कार्यसमन्वितः। कार्तिकी पुण्यदा भाविमासान्ते पुष्करेषु हि ॥ १४ ॥
ते ऊचतुर्वयं यामो भवान् यत्र गमिष्यति। न त्वया स्म विना ब्रह्मन्निह स्थातुं हि शक्नुवः ॥ १५ ॥
बाढमाह ऋषिश्रेष्ठस्ततो नत्वा महेश्वरम्। गते ते ऋषिणा सार्द्धं पुष्करारण्यमादरात् ॥ १६ ॥

उसके बाद उन दोनोंने कहा—ब्रह्मन्! आपका दर्शन दुर्लभ है। किस कारण आप पुष्करारण्यमें जा रहे हैं। इसके बाद धार्मिक कृत्य करनेवाले महातेजस्वी-(मुनि-)ने उन दोनोंसे आदरपूर्वक कहा—आगे महीनेके अन्तमें पुष्करमें पुण्यदायिनी कार्तिकी पूर्णिमा होगी। उन दोनोंने कहा—(तो) आप जहाँ जायँगे, वहीं हम भी चलेंगी। ब्रह्मन्! आपके बिना हम दोनों यहाँ नहीं रह सकतीं। ऋषिश्रेष्ठने कहा—ठीक है। उसके बाद आदरपूर्वक महेश्वरको प्रणामकर ऋषिके साथ वे दोनों (कन्याएँ) पुष्करारण्य चली गयीं ॥ १३—१६ ॥

तथाऽन्ये ऋषयस्तत्र समायाताः सहस्रशः। पार्थिवा जानपद्याश्च मुक्त्वैकं तमृतध्वजम् ॥ १७ ॥
ततः स्नाताश्च कार्तिक्यामृषयः पुष्करेष्वथ। राजानश्च महाभागा नाभागेक्ष्वाकुसंयुताः ॥ १८ ॥
गालवोऽपि समं ताभ्यां कन्यकाभ्यामवातरत्। स्नातुं स पुष्करे तीर्थे मध्यमे धनुराकृतौ ॥ १९ ॥
निमग्नश्चापि ददृशे महामत्स्यं जलेशयम्। वह्वीभिर्मत्स्यकन्याभिः प्रीयमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

वहाँ केवल उन ऋतध्वजके सिवाय अन्य हजारों ऋषि, राजा एव जनपद-निवासी भी आये। उसके बाद ऋषियों एव नाभाग तथा इक्ष्वाकु आदि महाभाग्यवान् राजाओंने कार्त्तिकी पूर्णिमाके दिन पुष्कर तीर्थमें स्नान किया। गालव भी उन दोनो कन्याओंके साथ धनुषकी आकृतिवाले मध्यम पुष्करतीर्थमें स्नान करनेके लिये उतरे। (जलमें) निमग्न होनेपर उन्होंने देखा कि एक जलचर महामत्स्य जलमें स्थित है और अनेक मत्स्य-कन्याएँ उसे पुनः-पुनः प्रसन्न करनेमें लगी हुई हैं ॥ १७—२० ॥

स ताश्चाह तिमिर्मुग्धाः यूयं धर्मं न जानथ। जनापवादं घोरं हि न शक्तः सोढुमुल्बणम् ॥ २१ ॥
तास्तमूचुर्महामत्स्यं किं न पश्यसि गालवम्। तापसं कन्यकाभ्यां वै विचरन्तं यथेच्छया ॥ २२ ॥
यद्यसावपि धर्मात्मा न बिभेति तपोधनः। जनापवादात् नत्किं त्वं बिभेषि जलमध्यगः ॥ २३ ॥
ततस्ताश्चाह स तिमिर्नैष वेत्ति तपोधनः। रागान्धो नापि च भयं विजानाति सुबालिशः ॥ २४ ॥

उस मत्स्यने उन (मछलियों)से कहा—भोली प्रकृति होनेके कारण तुम सभी लोक-धर्म नहीं जानती हो। मैं जनताद्वारा किये जानेवाले कठोर अपवाद (निन्दा) सहन नहीं कर सकता। (तब) उन सभी-(मछलियों-)ने कहा—क्या तुम स्वच्छन्दतासे विचरते हुए तपस्वी गालवको दो कन्याओंके साथ नहीं देख रहे हो ? यदि धर्मात्मा एवं तपस्वी होते हुए भी वे लोक-निन्दासे नहीं डरते तो जलमें रहनेवाले तुम क्यों डर रहे हो ? उसके बाद उस तिमि-(मत्स्य-)ने उनसे कहा—तपस्वी लोक-निन्दाको नहीं जानते एवं प्रेममें अन्धा होनेसे प्रचण्डमूर्ख बनकर लोक-निन्दाके भयको भी नहीं समझते ॥ २१—२४ ॥

तच्छ्रुत्वा मत्स्यवचनं गालवो व्रीडया युतः। नोत्ततार निमग्नोऽपि तस्थौ स विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥
स्नात्वा ते अपि रम्भोरू समुत्तीर्य तटे स्थिते। प्रतीक्षन्त्यौ मुनिवरं तद्दर्शनसमुत्सुके ॥ २६ ॥
वृत्ता च पुष्करे यात्रा गता लोका यथागतम्। ऋषयः पार्थिवाश्चान्ये नाना जानपदास्तदा ॥ २७ ॥
तत्र स्थितैका सुदती विश्वकर्मतनूरुहा। चित्राङ्गदा सुचार्वङ्गी वीक्षन्ती तनुमध्यमे ॥ २८ ॥

मत्स्यके उस वचनको सुनकर गालव लज्जित हो गये। (फिर तो) वे जितेन्द्रिय मुनि जलमें निमग्न होनेपर भी ऊपर नहीं आये, भीतर ही डूबे रहे। वे दोनों कदली-सदृश ऊरुवाली सुन्दरियाँ स्नान करनेके बाद जलसे बाहर निकल कर तीरपर खड़ी हो गयीं एवं मुनिश्रेष्ठका दर्शन करनेके लिये उत्कण्ठित होकर उनकी प्रतीक्षा करने लगीं। पुष्करकी यात्रा पूरी होनेपर सभी ऋषि, राजा और नगरवासी लोग जहाँसे आये थे, वहाँ चले गये। वहाँ केवल सुन्दर दाँतोंवाली एवं पतली सुन्दर शरीरवाली विश्वकर्माकी कन्या चित्राङ्गदा उन दोनों कृशोदरियों-(कन्याओं-) को देखती हुई रह गयी ॥ २५—२८ ॥

ते स्थिते चापि वीक्षन्त्यौ प्रतीक्षन्त्यौ च गालवम्। संस्थिते निर्जने तीर्थे गालवोऽन्तर्जले तथा ॥ २९ ॥
ततोऽभ्यागाद् वेदवती नाम्ना गन्धर्वकन्यका। पर्जन्यतनया साध्वी घृताचीगर्भसम्भवा ॥ ३० ॥
सा चाभ्येत्य जले पुण्ये स्नात्वा मध्यमपुष्करे। ददर्श कन्यात्रितयमुभयोस्तटयोः स्थितम् ॥ ३१ ॥
चित्राङ्गदामथाभ्येत्य पर्यपृच्छदनिष्ठुरम्। कासि केन च कार्येण निर्जने स्थितवत्यसि ॥ ३२ ॥

वे दोनों भी (उसे) देखती एवं गालवकी प्रतीक्षा करती हुई निर्जन तीर्थमें पड़ी रहीं और गालव जलके भीतर ही स्थित रहे। उसके बाद वेदवती नामकी गन्धर्व-कन्या वहाँ आयी। वह साध्वी घृताचीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी एवं पर्जन्य नामक गन्धर्वकी पुत्री थी। उसने आकर मध्यम पुष्कर तीर्थके पवित्र जलमें स्नान किया और दोनों तटोंपर स्थित (उन) तीनों कन्याओंको देखा। इसके बाद चित्राङ्गदाके समीप जाकर उसने सरलतासे पूछा—तुम कौन हो ? और किस कार्यसे इस निर्जन स्थानमें स्थित हो ? ॥ २९—३२ ॥

सा तामुवाच पुत्रीं मां विन्दस्व सुरवर्धकेः। चित्राङ्गदेति सुश्रोणि विख्यातां विश्वकर्मणः ॥ ३३ ॥
साहमभ्यागता भद्रे स्नातुं पुण्यां सरस्वतीम्। नैमिषे काञ्चनाक्षीं तु विख्यातां धर्ममातरम् ॥ ३४ ॥
तत्रागताय राज्ञाऽहं दृष्ट्वा वैदर्भकेण हि। सुरथेन स कामार्तो मामेव शरणं गतः ॥ ३५ ॥
मयात्मा तस्य दत्तश्च सखीभिर्वार्यमाणया। ततः शप्ताऽसि तातेन वियुक्तासि च भूभुजा ॥ ३६ ॥

उस-(चित्राङ्गदा-) ने उस (वेदवती) से कहा—हे सुश्रोणि ! मुझे देवशिल्पी विश्वकर्माकी चित्राङ्गदा नामसे प्रसिद्ध पुत्री जानो । भद्रे ! मैं नैमिषमें धर्मकी जननी काञ्चनाक्षी नामसे प्रसिद्ध पवित्र सरस्वती नदीमें स्नान करने आयी थी । वहाँ आनेपर विदर्भवंशमें उत्पन्न राजा सुरथने मुझे देखा और कामपीड़ित होकर मेरी शरणमें आया । सखियोंके रोकनेपर भी मैंने उन्हें अपनेको समर्पित कर दिया । उसके बाद पिताजीने मुझे शाप दे दिया और मैं राजासे वियोगिनी हो गयी ॥ ३३–३६ ॥

मर्तुं कृतमतिर्भद्रे वारिता गुह्यकेन च । श्रीकण्ठमगमं द्रष्टुं ततो गोदावरं जलम् ॥ ३७ ॥
तस्मादिमं समायाता तीर्थप्रवरमुत्तमम् । न चापि दृष्टः सुरथः स मनोह्लादनः पतिः ॥ ३८ ॥
भवती चात्र का बाले वृत्ते यात्राफलेऽधुना । समागता हि तच्छंस मम सत्येन भामिनि ॥ ३९ ॥
साब्रवीच्छ्रूयतां याऽस्मि मन्दभाग्या कृशोदरी । यथा यात्राफले वृत्ते समायाताऽस्मि पुष्करम् ॥ ४० ॥

भद्रे ! मैंने मरनेका विचार किया; परंतु गुह्यकने मुझे रोक दिया । उसके बाद मैं श्रीकण्ठभगवान्‌का दर्शन करनेके लिये गयी और वहाँसे गोदावर जलके निकट गयी, (और अब) वहाँसे मैं इस श्रेष्ठ उत्तम तीर्थमें आ गयी हूँ । किंतु मनको आनन्दित करनेवाले उन सुरथ पतिको मैंने नहीं देखा । बाले ! यात्राफलके समाप्त होनेपर (पर्वकी समाप्ति हो जानेपर) आज यहाँ आनेवाली आप कौन हैं ? भामिनि ! मुझे सच-सच बतलाओ । उसने कहा—कृशोदरि ! मै मन्दभागिनी कौन हूँ तथा यात्राफलके समाप्त होनेपर पुष्करमें क्यों आयी हूँ, उसे सुनो ॥ ३७–४० ॥

पर्जन्यस्य घृताच्यां तु जाता वेदवतीति हि । रममाणा वनोद्देशे दृष्टाऽस्मि कपिना सखि ॥ ४१ ॥
स चाभ्येत्याब्रवीत् का त्वं यासि देववतीति हि । आनीतास्याश्रमात् केन भूपृष्ठान्मेरुपर्वतम् ॥ ४२ ॥
ततो मयोक्तो नैवास्मि कपे देववतीत्यहम् । नाम्ना वेदवतीत्येवं मेरोरपि कृताश्रया ॥ ४३ ॥
ततस्तेनातिदुष्टेन वानरेण ह्यभिद्रुता । समारूढास्मि सहसा बन्धुजीवं नगोत्तमम् ॥ ४४ ॥

मैं पर्जन्य नामक गन्धर्वकी पुत्री हूँ तथा घृताचीके गर्भसे उत्पन्न हुई हूँ । मेरा नाम वेदवती है । सखि ! वनप्रदेशमें भ्रमण कर रही मुझको एक बन्दरने देखा । उसने समीपमें आकर मुझसे कहा—तुम कौन हो ? कहाँ जा रही हो ? (निश्चय ही तुम) देववती हो । पृथ्वीपर रहनेवाले आश्रमसे मेरु पर्वतपर तुम्हें कौन लाया है ? इसपर मैंने कहा—कपे ! मैं देववती नहीं हूँ, मेरा नाम वेदवती है । मेरु पर्वतपर ही मैंने अपना आश्रम बना लिया है । उसके बाद अत्यन्त दुष्ट उस बन्दरसे खदेड़ी जाती हुई मैं बन्धुजीव-(गुलदुपहरिया)के उत्तम वृक्षपर शीघ्रतासे चढ़ गयी ॥ ४१–४४ ॥

तेनापि वृक्षस्तरसा पादाक्रान्तस्त्वभज्यत । ततोऽस्य विपुलां शाखां समालिङ्ग्य स्थिता त्वहम् ॥ ४५ ॥
ततः प्लवङ्गमो वृक्षं प्राक्षिपत् सागराम्भसि । सह तेनैव वृक्षेण पतितास्म्यहमाकुला ॥ ४६ ॥
ततोऽम्बरतलाद् वृक्षं निपतन्तं दृच्छया । ददृशुः सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ४७ ॥
ततो हाहाकृतं लोकैर्मां पतन्तीं निरीक्ष्य हि । ऊचुश्च सिद्धगन्धर्वाः कष्टं सेयं महात्मनः ॥ ४८ ॥
इन्द्रद्युम्नस्य महिषी गदिता ब्रह्मणा स्वयम् । मनोः पुत्रस्य वीरस्य सहस्रक्रतुयाजिनः ॥ ४९ ॥

उसने शीघ्र ही पैरके आघातसे उस वृक्षको तोड़ दिया । उसके बाद मैं उस वृक्षकी एक बड़ी डालीको पकड़कर स्थित रही । फिर बन्दरने उस वृक्षको समुद्रके जलमें फेंक दिया । मैं अत्यन्त घबड़ाकर उस वृक्षके साथ ही जलमें गिर पड़ी । उसके बाद चर और अचर सभी प्राणियोंने आकाशसे गिरनेवाले उस वृक्षको देखा ।

उसके बाद उसीके साथ मुझको भी गिरती हुई देखकर सभी लोग हाहाकार करने लगे। सिद्ध और गन्धर्वलोग कहने लगे—हाय! यह कष्टकी बात है। इसके सम्बन्धमें तो ब्रह्माने स्वयं कहा था कि यह कन्या हजारों यज्ञोंके करनेवाले मनुके वीर पुत्र इन्द्रद्युम्नकी राजरानी होगी (पर यह क्या हो गया!) ॥ ४५–४९ ॥

तां वाणीं मधुरां श्रुत्वा मोहमस्म्यागता ततः। न च जाने स केनापि वृक्षश्छिन्नः सहस्रधा ॥ ५० ॥
ततोऽस्मि वेगाद् चलिता हुतानलसखेन हि। समानीतास्म्यहमिमं त्वं दृष्टा चाद्य सुन्दरि ॥ ५१ ॥
तदुत्तिष्ठस्व गच्छावः पृच्छावः क इमे स्थिते। कन्यके अनुपश्ये हि पुष्करस्योत्तरे तटे ॥ ५२ ॥
एवमुक्त्वा वराङ्गी सा तया सुतनुकन्यया। जगाम कन्यके द्रष्टुं प्रष्टुं कार्यसमुत्सुका ॥ ५३ ॥

उस मधुर वाणीको सुननेके बाद मुझे मूर्च्छा आ गयी। मैं यह नहीं जानती कि उस वृक्षको किसने सहस्रों टुकड़ोंमें काट डाला। उसके बाद अग्निके सखा बलवान् वायुने मुझे शीघ्रतासे यहाँ ला दिया है। सुन्दरि! तुमको आज मैंने यहाँ देखा है। इसलिये उठो, हम दोनों चलें; और फिर पूछें तथा देखें कि पुष्कर तीर्थके उत्तरी तटपर दिखायी देनेवाली ये दोनों कन्याएँ कौन हैं? ऐसा कहकर इस कार्यके करनेमें उत्कण्ठित वह सुन्दरी उस सुन्दर तथा दुर्बल देहवाली कन्याके साथ उस पारकी दोनों कन्याओंको देखने तथा वस्तुस्थिति पूछनेके लिये वहाँ गयी ॥ ५०–५३ ॥

ततो गत्वा पर्यपृच्छत् ते ऊचतुरुभे अपि। याथातथ्यं तयोस्ताभ्यां स्वमात्मानं निवेदितम् ॥ ५४ ॥
ततस्ताश्चतुरोपीह सप्तगोदावरं जलम्। सम्प्राप्य तीर्थे तिष्ठन्ति अर्चन्त्यो हाटकेश्वरम् ॥ ५५ ॥
ततो बहून् वर्षगणान् बभ्रमुस्ते जनास्त्रयः। तासामर्थाय शकुनिर्जाबालिः स ऋतध्वजः ॥ ५६ ॥
भारवाही ततः खिन्नो दशाब्दशतिके गते। काले जगाम निर्वेदात् समं पित्रा तु शाकलम् ॥ ५७ ॥

उसके बाद वहाँ जाकर उसने उन दोनोंसे पूछा। उन दोनोंने अपनी सच्ची घटना उन दोनोंसे बतायीं। उसके बाद चारों कन्याएँ सप्तगोदावर जलके समीप जाकर हाटकेश्वर भगवान्‌की पूजा करती हुई तीर्थमें रहने लगीं। इधर शकुनि, जाबालि और ऋतध्वज—ये तीनों व्यक्ति उन कन्याओंके लिये अनेक वर्षोंतक भ्रमण करते रहे। तब एक हजार वर्ष बीत जानेपर भार-वहन करनेवाले (जाबालि) खिन्न होकर पिताके साथ शाकल जनपदमें चले गये ॥ ५४–५७ ॥

तस्मिन्नरपतिः श्रीमानिन्द्रद्युम्नो मनोः सुतः। समध्यास्ते स विज्ञाय सार्घपात्रो विनिर्ययौ ॥ ५८ ॥
सम्यक् सम्पूजितस्तेन सजाबालिर्ऋतध्वजः। स चेक्ष्वाकुसुतो धीमान् शकुनिर्भ्रातृजोर्चितः ॥ ५९ ॥
ततो वाक्यं मुनिः प्राह इन्द्रद्युम्नमृतध्वजः। राजन् नष्टाऽबलास्माकं नन्दयन्तीति विश्रुता ॥ ६० ॥
तस्यार्थे चैव वसुधा अस्माभिरटिता नृप। तस्मादुत्तिष्ठ मार्गस्व साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ६१ ॥

वहाँ मनुके पुत्र श्रीमान् राजा इन्द्रद्युम्न निवास कर रहे थे। वे इस समाचारको जानकर अर्घपात्र हाथमें लिये बाहर निकले। उन्होंने विधिपूर्वक सुन्दर रीतिसे जाबालि और ऋतध्वजकी पूजा की तथा उस इक्ष्वाकुनन्दन बुद्धिमान् भतीजे शकुनिकी भी अर्चना की। उसके बाद ऋतध्वज मुनिने इन्द्रद्युम्नसे कहा—राजन्! हमलोगोंकी नन्दयन्ती नामसे प्रसिद्ध (अयानी) कन्या खो गयी है। राजन्! उसके लिये हमलोगोंने सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया है। इसलिये (कृपया) उठिये, पता लगाइये और हमारी सहायता कीजिये ॥ ५८–६१ ॥

अथोवाच नृपो ब्रह्मन् ममापि ललनोत्तमा। नष्टा कृतश्रमस्यापि कस्याहं कथयामि ताम्॥ ६२॥
आकाशात् पर्वताकारः पतमानो नगोत्तमः। सिद्धानां वाक्यमाकर्ण्य बाणैश्छिन्नः सहस्रधा॥ ६३॥
न चैव सा वरारोहा विभिन्ना लाघवान्मया। न च जानामि सा कुत्र तस्माद् गच्छामि मार्गितुम्॥ ६४॥
इत्येवमुक्त्वा स नृपः समुत्थाय त्वरान्वितः। स्यन्दनानि द्विजाभ्यां स भ्रातृपुत्राय चार्पयत्॥ ६५॥

इसके बाद राजाने कहा—ब्रह्मन्! मेरी भी एक उत्तम लाडिली कन्या खो गयी है। उसे ढूँढनेमें मैं परिश्रम कर चुका हूँ। उसके विषयमें मैं किससे कहूँ। सिद्धोंका वचन सुनकर आकाशसे नीचे गिरनेवाले पर्वतके समान श्रेष्ठ वृक्षको मैंने बाणोंसे हजारो टुकड़ोंमें काट डाला। मेरे हस्तकौशलसे उस सुन्दरी कन्याको चोट नहीं लगी। मैं नहीं जानता हूँ कि वह कहाँ है? अतः उसे ढूँढ़नेके लिये मैं (भी) चल रहा हूँ। ऐसा कहनेके बाद वे राजा शीघ्रतासे उठे। उन्होंने उन दोनो ब्राह्मणो तथा अपने भतीजेके लिये रथ दे दिये॥ ६२—६५॥

तेऽधिरुह्य रथांस्तूर्णं मार्गन्ते वसुधां क्रमात्। बदर्याश्रममासाद्य ददृशुस्तपसां निधिम्॥ ६६॥
तपसा कर्शितं दीनं मलपङ्कजटाधरम्। निःश्वासायासपरमं प्रथमे वयसि स्थितम्॥ ६७॥
तमुपेत्याब्रवीद् राजा इन्द्रद्युम्नो महाभुजः। तपस्विन् यौवने घोरमास्थितोऽसि सुदुश्चरम्॥ ६८॥
तपः किमर्थं तच्छंस किमभिप्रेतमुच्यताम्। सोऽब्रवीत् को भवान् ब्रूहि ममात्मानं सुहृत्तया॥ ६९॥
परिपृच्छसि शोकार्तं परिखिन्नं तपोन्वितम्। स प्राह राजाऽस्मि विभो तपस्विञ् शाकले पुरे॥ ७०॥
मनोः पुत्रः प्रियो भ्राता इक्ष्वाकोः कथितं तव। स चास्मै पूर्वचरितं सर्वं कथितवान् नृपः॥ ७१॥

वे रथोंपर चढ़कर शीघ्रतासे क्रमशः पृथ्वीपर खोज करने लगे। (इस क्रममें) उन लोगोंने बदरिकाश्रममें जाकर तपस्या करनेसे दुबले और धूल-मिट्टीसे भरे, जटा धारण किये हुए, जोर-जोरसे साँस ले रहे एक तपोमूर्ति युवकको देखा। महाबाहु राजा इन्द्रद्युम्नने उसके पास जाकर कहा—तपस्विन्! यह बतलाओ कि युवा-अवस्थामें ही तुम अत्यन्त दुष्कर कठोर तप क्यों कर रहे हो? यह भी बतलाओ कि तुम्हारी अभिलाषा क्या है? उसने कहा—आप मुझसे यह बतलायें कि चिन्तासे ग्रस्त अत्यन्त दुखी एवं तपश्चर्यासे युक्त मुझसे प्रेमपूर्वक पूछनेवाले आप कौन हैं? उसने कहा—तपस्विन्! विभो! मै मनुका पुत्र एवं इक्ष्वाकुका प्रिय भाई शाकलपुरका राजा हूँ। मैंने अपना परिचय कह दिया। उस राजाने भी उनसे पहलेकी सारी कथा कह सुनायी॥ ६६—७१॥

श्रुत्वा प्रोवाच राजर्षिर्मा मुञ्चस्व कलेवरम्। आगच्छ यामि तन्वङ्गीं विचेतुं भ्रातृजोऽसि मे॥ ७२॥
इत्युक्त्वा सम्परिष्वज्य नृपं धमनिसंततम्। समारोप्य रथं तूर्णं तापसाभ्यां न्यवेदयत्॥ ७३॥
ऋतध्वजः सपुत्रस्तु तं दृष्ट्वा पृथिवीपतिम्। प्रोवाच राजन्नेह्येहि करिष्यामि तव प्रियम्॥ ७४॥
यासौ चित्राङ्गदा नाम त्वया दृष्टा हि नैमिषे। सप्तगोदावरं तीर्थं सा मयैव विसर्जिता॥ ७५॥

(ऊपर कही बातोंको) सुनकर राजर्षिने कहा—तुम अपने शरीरका त्याग मत करो। तुम मेरे भतीजे हो। आओ, मैं उस सुन्दरीकी खोज करने जा रहा हूँ। इतना कहकर उन्होंने उभरी शिराओंसे भरे हुए राजाको गले लगाया और उन्हे रथपर चढाकर शीघ्र उन दोनों तपस्वियोंके पास पहुँचा दिया। पुत्रके सहित ऋतध्वजने उन राजाको देखकर कहा—राजन्! आइये! आइये! मैं आपका प्रिय-कार्य करूँगा। आपने नैमिषारण्यमें जिस चित्राङ्गदाको देखा था, उसे मैंने ही सप्तगोदावर नामके तीर्थमें छोड़ दिया था॥ ७२—७५॥

तदागच्छथ गच्छामः सौदेवस्यैव कारणात्। तत्रास्माकं समेष्यन्ति कन्यास्तिस्रस्तथापराः ॥ ७६ ॥
इत्येवमुक्त्वा स ऋषिः समाश्वास्य सुदेवजम्। शकुनिं पुरतः कृत्वा सेन्द्रद्युम्नः सपुत्रकः ॥ ७७ ॥
स्यन्दनेनाश्वयुक्तेन गन्तुं समुपचक्रमे। सप्तगोदावरं तीर्थं यत्र ताः कन्यका गताः ॥ ७८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तन्वी घृताची शोकसंयुता। विचचारोदयगिरिं विचिन्वन्ती सुतां निजाम् ॥ ७९ ॥

तो आइये, हमलोग सुदेवके पुत्रके कार्यसे ही वहाँ चलें। वहाँपर हमलोगोंको अन्य तीन कन्याएँ भी मिलेंगी। इस प्रकार कहकर उन्होंने ऋषि सुदेवके पुत्रको सान्त्वना दे करके एवं शकुनिको आगे कर इन्द्रद्युम्न और पुत्रके साथ घोड़े जुते रथसे सप्तगोदावर तीर्थमें जानेकी योजना बनायी—जहाँ वे कन्याएँ गयी थीं। इस बीच दुर्बलाङ्गी घृताची शोकसे चिन्तित होकर अपनी कन्याको ढूँढ़ती हुई उदयगिरिपर विचरण करने लगी ॥ ७६–७९ ॥

तमाससाद च कपिं पर्यपृच्छत् तथाप्सराः। किं बाला न त्वया दृष्टा कपे सत्यं वदस्व माम् ॥ ८० ॥
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स कपिः प्राह बालिकाम्। दृष्टा देववती नाम्ना मया न्यस्ता महाश्रमे ॥ ८१ ॥
कालिन्द्या विमले तीर्थे मृगपक्षिसमन्विते। श्रीकण्ठायतनस्याग्रे मया सत्यं तवोदितम् ॥ ८२ ॥
सा प्राह वानरपते नाम्ना वेदवतीति सा। न हि देववती ख्याता तदागच्छ व्रजावहे ॥ ८३ ॥

वहाँ घृताची अप्सराको वह बन्दर मिल गया। घृताची अप्सराने उससे पूछा—कपे! मुझसे सच कहो कि क्या तुमने लड़कीको नहीं देखा है? उसके वचनको सुनकर उस कपिने कहा—मैंने देववती नामकी बालिकाको देखा है और उसे मृगों तथा पक्षियोंसे भरे कालिन्दीके विमल तीर्थमें श्रीकण्ठके मन्दिरके सामने स्थित महाश्रममें रख दिया है। मैंने तुमसे यह सत्य बात कही है। उस-(घृताची-)ने कहा—कपिराज! वह वेदवती नामसे विख्यात है, वह देववती नहीं है। तो आओ; हम दोनों वहाँ चलें ॥ ८०–८३ ॥

घृताच्यास्तद्वचः श्रुत्वा वानरस्त्वरितक्रमः। पृष्ठतोऽस्याः समागच्छन्नदीमन्वेव कौशिकीम् ॥ ८४ ॥
ते चापि कौशिकीं प्राप्ता राजर्षिप्रवरास्त्रयः। द्वितयं तापसाभ्यां च रथैः परमवेगिभिः ॥ ८५ ॥
अवतीर्य रथेभ्यस्ते स्नातुमभ्यागमन् नदीम्। घृताच्यपि नदीं स्नातुं सुपुण्यामाजगाम ह ॥ ८६ ॥
तामन्वेव कपिः प्रायाद् दृष्टो जाबालिना तथा। दृष्ट्वैव पितरं प्राह पार्थिवं च महाबलम् ॥ ८७ ॥

घृताचीकी उस बातको सुनकर बन्दर शीघ्रतासे पग बढ़ाता हुआ उसके पीछे-पीछे कौशिकी नदीकी ओर चला। वे तीनों श्रेष्ठ राजर्षि भी दोनों तपस्वियों- (जाबालि और ऋतध्वज-)के साथ बहुत तेज चलनेवाले रथोंपर चढ़कर कौशिकी नदीके समीप पहुँचे। वे लोग रथसे उतरकर स्नान करनेके लिये नदीके निकट आये। घृताची भी उस परम पवित्र नदीमें स्नान करने आयी। बन्दर भी उनके पीछे ही आ गया। जाबालिने उसे देखा। देखते ही उन्होंने पिता एवं महाबलशाली राजासे कहा— ॥ ८४–८७ ॥

स एव पुनरायाति वानरस्तात वेगवान्। पूर्वं जटास्वेव बलाद्येन बद्धोऽस्मि पादपे ॥ ८८ ॥
तज्जाबालिवचः श्रुत्वा शकुनिः क्रोधसंयुतः। सशरं धनुरादाय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८९ ॥
ब्रह्मन् प्रदीयतां मह्यमाज्ञां तात वदस्व माम्। यावदेनं निहन्म्यद्य शरेणैकेन वानरम् ॥ ९० ॥
इत्येवमुक्ते वचने सर्वभूतहिते रतः। महर्षिः शकुनिं प्राह हेतुयुक्तं वचो महत् ॥ ९१ ॥

तात! यह वही बन्दर फिर तेजीसे (यहाँ) आ रहा है, जिसने पहले मुझे जबर्दस्ती जटाजालसे बड़के पेड़में बाँध दिया था। जाबालिके उस वचनको सुनकर अत्यन्त कुपित हुए शकुनिने बाणसहित धनुषको लेकर यह वचन कहा—ब्रह्मन्! मुझे आज्ञा दीजिये; तात! मुझसे कहिये; क्या मैं एक बाणसे ही इस

बन्दरको मार डालूँ ? ऐसा कहनेपर समस्त प्राणियोंकी भलाईमें लगे रहनेवाले महर्षिने शकुनिसे अत्यन्त युक्तियुक्त वचन कहा— ॥ ८८–९१ ॥

न कश्चित्तात केनापि वध्यते हन्यतेऽपि वा। वधवन्धौ पूर्वकर्मवश्यौ नृपतिनन्दन ॥ ९२ ॥
इत्येवमुक्त्वा शकुनिमृषिवानरमब्रवीत्। एह्येहि वानरास्माकं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ९३ ॥
इत्येवमुक्तो मुनिना वाले स कपिकुञ्जरः।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रणिपत्येदमब्रवीत्। ममाज्ञा दीयतां ब्रह्मन् शाधि किं करवाण्यहम् ॥ ९४ ॥
इत्युक्ते प्राह स मुनिस्तं वानरपति वचः। मम पुत्रस्त्वयोद्बद्धो जटासु वटपादपे ॥ ९५ ॥

तात ! (वस्तुतः) न तो किसीको कोई बाँधता है और न मारता ही है । नृपतिनन्दन ! वध और बन्धन पूर्वजन्ममें किये गये कर्मोंके फलाधीन होते हैं । शकुनिसे इस प्रकार कहकर मुनिने वन्दरसे कहा—वन्दर! आओ, आओ ! तुम्हें हमलोगोंकी सहायता करनी चाहिये । बाले ! मुनिके ऐसा कहनेपर उस श्रेष्ठ कपिने करबद्ध प्रणाम करते हुए यह कहा—ब्रह्मन् ! मुझे आज्ञा दीजिये; मुझे निर्देश दीजिये कि मैं क्या करूँ ? उसके ऐसा कहनेपर मुनिने उस कपिपतिसे यह वचन कहा—तुमने मेरे पुत्रको वड़के पेड़में जटाओंसे बाँध रखा था ॥ ९२–९५ ॥

न चोन्मोचयितुं वृक्षाच्छक्नुयामोऽपि यत्नतः। तदनेन नरेन्द्रेण त्रिधा कृत्वा तु शाखिनः ॥ ९६ ॥
शाखां वहति मत्सूनुः शिरसा तां विमोचय। दशवर्षशतान्यस्य शाखां वै वहतोऽगमन् ॥ ९७ ॥
न च सोऽस्ति पुमान् कश्चिद् यो ह्युन्मोचयितुं क्षमः। स ऋषेर्वाक्यमाकर्ण्य कपिर्जावालिनो जटाः ॥ ९८ ॥
शनैरुन्मोचयामास क्षणादुन्मोचिताश्च ताः। ततः प्रीतो मुनिश्रेष्ठो वरदोऽभूदृतध्वजः ॥ ९९ ॥

विशेष यत्न करनेपर भी हमलोग उस पेड़से इसको उन्मुक्त (अलग) नहीं कर सके । इसलिये इस राजाने उस वृक्षके तीन टुकड़े कर दिये । मेरा पुत्र आजतक सिरपर उसकी डालीको ढो रहा है । अब तुम उसे उन्मुक्त कर दो । इस डालीको ढोते हुए उसको एक हजार वर्ष वीत गये हैं । ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो इसे छुड़ानेमें समर्थ हो । उस बन्दरने ऋषिकी बात सुनकर जावालिकी जटाओंको धीरे-धीरे खोल दिया । वे जटाएँ क्षणभरमें ही खुल गयीं । उसके बाद प्रसन्न होकर मुनिश्रेष्ठ ऋतध्वज वर देनेके लिये तैयार हो गये ॥ ९६–९९ ॥

कपिं प्राह वृणीष्व त्वं वरं यन्मनसेप्सितम्। ऋतध्वजवचः श्रुत्वा इमं वरमयाचत ॥ १०० ॥
विश्वकर्मा महातेजाः कपित्वे प्रतिसंस्थितः। ब्रह्मन् भवान् वरं मह्यं यदि दातुमिहेच्छति ॥ १०१ ॥
तत्त्वद्दत्तो महाघोरो मम शापो निवर्त्यताम्। चित्राङ्गदायाः पितरं मां त्वष्टारं तपोधन ॥ १०२ ॥
अभिजानीहि भवतः शापाद्वानरतां गतम्। सुबहूनि च पापानि मया यानि कृतानि हि ॥ १०३ ॥
कपिचापल्यदोषेण तानि मे यान्तु संक्षयम्। ततो ऋतध्वजः प्राह शापस्यान्तो भविष्यति ॥ १०४ ॥
यदा घृताच्यां तनयं जनिष्यसि महाबलम्। इत्येवमुक्तः संहृष्टः स तदा कपिकुञ्जरः ॥ १०५ ॥

(फिर) उन्होंने बन्दरसे कहा—तुम अपना मनोऽभिलषित वर माँगो । ऋतध्वजकी बात सुनकर कपि-योनिमें स्थित महातेजस्वी विश्वकर्माने यह वर माँगा—ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे वर देनेके लिये इच्छा कर रहे हैं तो मुझे दिये गये अपने महाघोर शापका निवारण कर दें । तपोधन ! चित्राङ्गदाके पिता मुझ त्वष्टाको आप पहचान लें । आपके शापसे (ही) मैं बन्दर हो गया हूँ । कपिकी (स्वाभाविक) चञ्चलतारूपी दोषसे

मैंने जिन बहुत-से पापोंको किया है, वे सभी नष्ट हो जायँ। उसके बाद ऋतध्वजने कहा—जब तुम घृताचीसे महाबलवान् पुत्र उत्पन्न करोगे तब शापका अन्त होगा। तब ऐसा कहनेपर वह कपिश्रेष्ठ अत्यन्त हर्षित हो गया ॥ १००–१०५ ॥

स्नातुं तूर्णं महानद्यामवतीर्णः कृशोदरि। ततस्तु सर्वे क्रमशः स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः ॥ १०६ ॥
जग्मुर्हृष्टा रथेभ्यस्ते घृताची दिवमुत्पतत्। तामन्वेव महावेगः स कपिः प्लवतां वरः ॥ १०७ ॥
ददृशे रूपसम्पन्नां घृताचीं स प्लवङ्गमः। सापि तं बलिनां श्रेष्ठं दृष्ट्वैव कपिकुञ्जरम् ॥ १०८ ॥
ज्ञात्वाऽथ विश्वकर्माणं कामयामास कामिनी। ततोऽनुपर्वतश्रेष्ठे ख्याते कोलाहले कपिः ॥ १०९ ॥
रमयामास तां तन्वीं सा च तं वानरोत्तमम्। एवं रमन्तौ सुचिरं सम्प्राप्तौ विन्ध्यपर्वतम् ॥ ११० ॥

कृशोदरि! वह शीघ्र ही महानदीमें स्नान करनेके लिये उतरा। उसके बाद वे सब क्रमशः स्नानकर पितरों और देवोंके तर्पण-अर्चन कर रथसे चले गये एवं घृताची स्वर्गमें उड़ गयी। महावेगशाली श्रेष्ठ कपिने भी उसका अनुसरण किया। उस बन्दरने रूपसे सम्पन्न घृताचीको देखा। उस कामिनी-(घृताची-)ने भी बलवानोंमें श्रेष्ठ उत्तम कपिको देखकर एवं उसे विश्वकर्मा जानकर उसकी कामना की। उसके बाद कोलाहल नामसे विख्यात श्रेष्ठ पर्वतपर उस बन्दरने घृताचीके साथ एवं घृताचीने उस श्रेष्ठ बन्दरके साथ आनन्द-क्रीड़ा की। इस प्रकार बहुत दिनोंतक क्रीड़ा करते हुए वे दोनों विन्ध्यपर्वतपर पहुँचे ॥१०६–११० ॥

रथैः पञ्चापि तत्तीर्थं सम्प्राप्तास्ते नरोत्तमाः। मध्याह्नसमये प्रीताः सप्तगोदावरं जलम् ॥१११॥
प्राप्य विश्रामहेत्वर्थमवतेरुस्त्वरान्विताः। तेषां सारथयश्चाश्वान् स्नात्वा पीतोदकाप्लुतान् ॥११२॥
रमणीये वनोद्देशे प्रचारार्थं समुत्सृजन्। शाड्वलाढ्येषु देशेषु मुहूर्त्तादेव वाजिनः ॥११३॥
तृप्ताः समाद्रवन् सर्वे देवायतनमुत्तमम्। तुरङ्गखुरनिर्घोषं श्रुत्वा ता योषितां वराः ॥११४॥
किमेतदिति चोक्त्वैव प्रजग्मुर्हाटकेश्वरम्। आरुह्य वलभीं तास्तु समुद्वीक्षन्त सर्वशः ॥११५॥

वे पाँचों श्रेष्ठ व्यक्ति भी उल्लसित होकर रथद्वारा दोपहरके समय सप्तगोदावर जलवाले उस तीर्थमें पहुँचे। वहाँ जाकर वे विश्राम करनेके लिये शीघ्रतासे नीचे उतरे। उनके सारथियोंने भी स्नान किया एवं घोड़ोंको जल पिलाकर तथा नहला-धुलाकर (उन्हें) सुन्दर वन-प्रदेशमें विचरण करनेके लिये छोड़ दिया। मुहूर्तभरमें ही हरियालीसे हरे-भरे स्थानमें वे घोड़े तृप्त हो गये। उसके बाद वे सभी (घोड़े) उत्तम देव-मन्दिरके पास दौड़ने लगे। घोड़ोंके टापका शब्द सुनकर श्रेष्ठ स्त्रियाँ 'यह क्या है' ऐसा कहकर हाटकेश्वर (के मन्दिरमें) गयीं एवं छतपर चढ़कर सभी ओर देखने लगीं ॥ १११–११५ ॥

अपश्यंस्तीर्थसलिले स्नायमानान् नरोत्तमान्।
ततश्चित्राङ्गदा दृष्ट्वा जटामण्डलधारिणम्। सुरथं हसती प्राह संरोहत्पुलका सखीम् ॥११६॥
योऽसौ युवा नीलघनप्रकाशः संदृश्यते दीर्घभुजः सुरूपः।
स एव नूनं नरदेवसूनुर्वृतो मया पूर्वतरं पतिर्यः ॥११७॥
यच्चैष जाम्बूनदतुल्यवर्णः श्वेतं जटाभारमधारयिष्यत्।
स एष नूनं तपतां वरिष्ठो ऋतध्वजो नात्र विचारमस्ति ॥११८॥
ततोऽब्रवीदेवी दृष्ट्वा नन्दयन्ती सखीजनम्। एषोऽपरोऽस्यैव सुतो जाबालिनाम संशयः ॥११९॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं वलभ्या अवतीर्य च। समासताग्रतः शम्भोर्गायन्त्यो गीतिकां शुभाम् ॥१२०॥

उन कन्याओंने तीर्थके जलमें स्नान करते हुए उन श्रेष्ठ पुरुषोंको देखा। फिर चित्राङ्गदाने जटा-मण्डल धारण करनेवाले नृपति सुरथको देखा। रोमाञ्चित होकर उसने हँसती हुई सखीसे कहा—नीले मेघके समान वर्ण तथा लम्बी भुजाओंवाला वह जो सुन्दर युवा पुरुष दिखलायी पड़ रहा है, निश्चय ही पहले (जन्ममे) मैंने उसी राजपुत्रको पतिरूपसे वरण किया था। इसमे कुछ विचारनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वर्णके समान वर्णवाले जो व्यक्ति श्वेत जटाभारको धारण किये हुए हैं वे निश्चय ही तपस्वियोमे श्रेष्ठ ऋतध्वज ही हैं (इसमें शङ्का नहीं है)। उसके बाद नन्दयन्तीने सखियोसे हर्षित होकर कहा—वह दूसरा व्यक्ति निस्सन्देह इन्हीं ऋतध्वजके पुत्र जावालि हैं। इस प्रकार कहकर वे सभी छतसे उतरीं एव शङ्करके सामने बैठकर कल्याण करनेवाले गीतका गान करने (स्तुति करने) लगीं—॥ ११६—१२० ॥

नमोऽस्तु शर्व शम्भो त्रिनेत्र चारुगात्र त्रैलोक्यनाथ उमापते दक्षयज्ञविध्वंसकर कामाङ्गनाशन घोर पापप्रणाशन महापुरुष महोग्रमूर्ते सर्वसत्त्वक्षयंकर शुभङ्कर महेश्वर त्रिशूलधारिन् स्मरारे गुहावासिन् दिग्वासः महाशङ्खशेखर जटाधर कपालमालाविभूषितशरीर वामचक्षुः वामदेवप्रजाध्यक्ष भगाक्ष्णोः क्षयङ्कर भीमसेन महासेननाथ पशुपते कामाङ्गदहन चत्वरवासिन् शिव महादेव ईशान शङ्कर भीम भव वृषभध्वज जटिल प्रौढ महानाट्येश्वर भूरिरत्न अविमुक्तक रुद्र रुद्रेश्वर स्थाणो एकलिङ्ग कालिन्दीप्रिय श्रीकण्ठ नीलकण्ठ अपराजित रिपुभयङ्कर सन्तोषपते वामदेव अघोर तत्पुरुष महाघोर अघोरमूर्ते शान्त सरस्वतीकान्त कीनाट सहस्रमूर्ते महोद्भव विभो कालाग्निरुद्र रुद्र हर महीधरप्रिय सर्वतीर्थाधिवास हंस कामेश्वर केदाराधिपते परिपूर्ण मुचुकुन्द मधुनिवासिन् कृपाणपाणे भयङ्कर विद्याराज सोमराज कामराज रञ्जक अञ्जनराजकन्याहृद्चलवसते समुद्रशायिन् गजमुख घण्टेश्वर गोकर्ण ब्रह्मयोने सहस्रवक्त्राक्षिचरण हाटकेश्वर नमोऽस्तु ते ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ताः सर्वे एवर्षिपार्थिवाः। द्रष्टुं त्रैलोक्यकर्तारं त्र्यम्बकं हाटकेश्वरम् ॥१२१॥

हे शर्व! हे शम्भो! हे तीन नेत्रवाले! हे सुन्दर गात्रवाले! हे तीनों लोकोंके स्वामिन्! हे उमापते! हे दक्ष यज्ञको विध्वस्त करनेवाले! हे कामदेवके नाश करनेवाले! हे घोर! हे पापके नष्ट करनेवाले! हे महापुरुष! हे भयङ्कर मूर्तिवाले! हे सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षय करनेवाले! हे शुभ करनेवाले! हे महेश्वर! हे त्रिशूलधारिन्! हे कामशत्रो! हे गुफामें रहनेवाले! हे दिगम्बर! हे महाशङ्खके शिरोभूषणवाले! हे जटाधर! हे कपालमालासे विभूषित शरीरवाले! हे वामचक्षु! हे वामदेव! हे प्रजाध्यक्ष! हे भगाक्षिके क्षयकारिन्! हे भीमसेन! हे महासेनानाथ! हे पशुपते! हे कामदेवके जलानेवाले! हे चत्वरवासिन् (चबूतरेपर वास करनेवाले)! हे शिव! हे महादेव! हे ईशान! हे शङ्कर! हे भीम! हे भव! हे वृषभध्वज! हे जटिल! हे प्रौढ! हे महानाट्यके ईश्वर! हे भूरिरत्न (रत्नराशि)! हे अविमुक्तक! हे रुद्र! हे रुद्रेश्वर! हे स्थाणो! हे एकलिङ्ग! हे कालिन्दीप्रिय! हे श्रीकण्ठ! हे नीलकण्ठ! हे अपराजित! हे रिपुभयङ्कर! हे सन्तोषपते! हे वामदेव! हे अघोर! हे तत्पुरुष! हे महाघोर! हे अघोरमूर्ते! हे शान्त! हे सरस्वतीकान्त! हे कीनाट! हे सहस्रमूर्ति! हे महोद्भव! हे विभो! हे कालाग्निरुद्र! हे रुद्र! हे हर! हे महीधरप्रिय! हे सर्वतीर्थाधिवास! हे हंस! हे कामेश्वर! हे केदाराधिपते! हे परिपूर्ण! हे मुचुकुन्द! हे मधुनिवासिन्! हे कपालपाणे! हे भयङ्कर! हे विद्याराज! हे सोमराज! हे कामराज! हे रञ्जक! हे अञ्जनराजकन्या (काली)के हृदयमें सदा रहनेवाले! हे समुद्रशायिन्! हे गजमुख! हे घण्टेश्वर! हे गोकर्ण! हे ब्रह्मयोने! हे हजार मुख, आँख एवं चरणवाले! हे हाटकेश्वर! आपको नमस्कार है।

इसी बीच समस्त ऋषि एवं राजालोग तीनों लोकोंके कर्ता भगवान् त्र्यम्बक हाटकेश्वरका दर्शन करने वहाँ पहुँच गये—॥ १२१ ॥

समारूढाश्च सुस्नाता ददृशुर्योषितश्च ताः। स्थितास्तु पुरतस्तस्य गायन्त्यो गेयमुत्तमम् ॥१२२॥
ततः सुदेवतनयो विश्वकर्मसुतां प्रियाम्। दृष्ट्वा हृषितचित्तस्तु संरोहत्पुलको बभौ ॥१२३॥
ऋतध्वजोऽपि तन्वङ्गीं दृष्ट्वा चित्राङ्गदां स्थिताम्। प्रत्यभिज्ञाय योगात्मा बभौ मुदितमानसः ॥१२४॥
ततस्तु सहसाऽभ्येत्य देवेशं हाटकेश्वरम्। सम्पूजयन्तस्त्र्यक्षं ते स्तुवन्तः संस्थिताः क्रमात् ॥१२५॥

और भलीभाँति स्नान करनेके बाद ऊपर चढ़कर उन लोगोंने देवताके अभिमुख बैठकर गीत गाती हुई (स्तुति करती हुई) स्त्रियोंको देखा। उसके बाद वसुदेवके पुत्र अपनी प्रिया विश्वकर्माकी पुत्रीको देखकर हर्षसे गद्गद हो गये। योगी ऋतध्वज भी तन्वङ्गी चित्राङ्गदाको वहाँ स्थित देख एवं पहचानकर महान् हर्षमें भर गये। उसके बाद सभी व्यक्ति शीघ्र ही देवाधिदेव हाटकेश्वर भगवान्के निकट गये एवं त्रिलोचनकी पूजाकर क्रमशः खड़े होकर स्तुति करने लगे ॥ १२२—१२५ ॥

चित्राङ्गदापि तान् दृष्ट्वा ऋतध्वजपुरोगमान्। समं ताभिः कृशाङ्गीभिरभ्युत्थायाभ्यवादयत् ॥ १२६ ॥
स च ताः प्रतिनन्द्यैव समं पुत्रेण तापसः। समं नृपतिभिर्हृष्टः संविवेश यथासुखम् ॥ १२७ ॥
ततः कपिवरः प्राप्तो घृताच्या सह सुन्दरि। स्नात्वा गोदावरीतीर्थे दिदृक्षुर्हाटकेश्वरम् ॥ १२८ ॥
ततोऽपश्यत् सुतां तन्वीं घृताची शुभदर्शनाम्। साऽपि तां मातरं दृष्ट्वा हृष्टाऽभूद्वरवर्णिनी ॥ १२९ ॥

चित्राङ्गदाने भी उन ऋतध्वज आदिको देखकर उन तन्वङ्गी-(कन्याओं-) के साथ उठकर प्रणाम किया। पुत्रसहित उन तपस्वीने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे प्रसन्नतासे राजाओंके साथ सुखपूर्वक बैठ गये। सुन्दरि! उसके बाद गोदावरीतीर्थमें स्नानकर हाटकेश्वर भगवान्का दर्शन करनेकी इच्छावाला वह श्रेष्ठ बन्दर भी घृताचीके साथ वहाँ पहुँचा। फिर घृताचीने अपनी शोभाशालिनी कृशाङ्गी पुत्रीको देखा। वह सुन्दरी भी अपनी उस माताको देखकर हर्षित हो गयी ॥ १२६—१२९ ॥

ततो घृताची स्वां पुत्रीं परिष्वज्य न्यपीडयत्। स्नेहात् सबाष्पनयनां मुहुस्तां परिजिघ्रती ॥ १३० ॥
ततो ऋतध्वजः श्रीमान् कपिं वचनमब्रवीत्। गच्छानेतुं गुह्यकं त्वमञ्जनाद्रौ महाञ्जनम् ॥ १३१ ॥
पातालादपि दैत्येशं वीरं कन्दरमालिनम्। स्वर्गाद् गन्धर्वराजानं पर्जन्यं शीघ्रमानय ॥ १३२ ॥
इत्येवमुक्ते मुनिना प्राह देववती कपिम्। गालवं वानरश्रेष्ठ इहानेतुं त्वमर्हसि ॥ १३३ ॥

उसके बाद घृताचीने अपनी पुत्रीको भलीभाँति गले लगाया। स्नेहसे आँखोंमें आँसू भरकर वह (अपनी) पुत्रीको बार-बार सूँघने लगी—आशीर्वादात्मक शुभ भावना करने लगी। उसके बाद श्रीमान् ऋतध्वजने कपिसे कहा—तुम महाजन नामके गुह्यकको ले आनेके लिये अञ्जन नामक पर्वतपर चले जाओ। फिर पातालसे वीर दैत्येश्वर कन्दरमालीको और स्वर्गसे गन्धर्वराज पर्जन्यको यहाँ शीघ्र बुला लाओ। मुनिके इस प्रकार कहनेपर देववतीने बन्दरसे कहा—कपिश्रेष्ठ! गालवको भी आप यहाँ बुला लावें ॥ १३०—१३३ ॥

इत्येवमुक्ते वचने कपिर्मारुतविक्रमः। गत्वाऽञ्जनं समामन्त्र्य जगामामरपर्वतम् ॥ १३४ ॥
पर्जन्यं तत्र चामन्त्र्य प्रेषयित्वा महाश्रमे। सप्तगोदावरे तीर्थे पातालमगमत् कपिः ॥ १३५ ॥
तत्रामन्त्र्य महावीर्यं कपिः कन्दरमालिनम्। पातालादभिनिष्क्रम्य महीं पर्यचरज्जवी ॥ १३६ ॥
गालवं तपसो योनिं दृष्ट्वा माहिष्मतीमनु। समुत्पत्यानयच्छीघ्रं सप्तगोदावरं जलम् ॥ १३७ ॥
तत्र स्नात्वा विधानेन सम्प्राप्तो हाटकेश्वरम्। ददृशे नन्दयन्ती च स्थितां देववतीमपि ॥ १३८ ॥

ऐसा कहनेपर वायुके समान पराक्रमवाला कपि अञ्जन पर्वतपर पहुँच गया और (गुह्यकको) आमन्त्रित कर पुनः सुमेरु पर्वतपर प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने पर्जन्यको आमन्त्रित किया और सप्तगोदावर तीर्थमें स्थित महाश्रममें उन्हें भेजनेके बाद वह फिर पाताललोकमें प्रविष्ट हो गया। वहाँ (जाकर उसने) महापराक्रमी कन्दरमालीको आमन्त्रित किया। वेगशाली बन्दर फिर पातालसे निकलकर पृथ्वीपर घूमने-फिरने लगा। तपोनिधि गालवको माहिष्मतीके निकट देखकर उसने छलाँग भरी और उन्हें शीघ्र सप्तगोदावरके जलके निकट ला दिया। वहाँ विधानसे स्नान करनेके बाद वह हाटकेश्वरके समीप पहुँचा और उसने वहाँ बैठी हुई नन्दयन्ती तथा देववतीको भी देखा ॥ १३४–१३८ ॥

तं दृष्ट्वा गालवं चैव समुत्थायाभ्यवादयत्।
स चार्चिष्यन्महादेवं महर्षीनभ्यवादयत्। ते चापि नृपतिश्रेष्ठास्तं सम्पूज्य तपोधनम् ॥१३९॥
प्रहर्षमतुलं गत्वा उपविष्टा यथासुखम्। तेषूपविष्टेषु तदा वानरोपनिमन्त्रिताः ॥१४०॥
समायाता महात्मानो यक्षगन्धर्वदानवाः। तानागतान् समीक्ष्यैव पुत्र्यस्ताः पृथुलोचनाः ॥१४१॥
स्नेहार्द्रनयनाः सर्वास्तदा सस्वजिरे पितॄन्। नन्दयन्त्यादिका दृष्ट्वा सपितृका वरानना ॥१४२॥
सबाष्पनयना जाता विश्वकर्मसुता तदा। अथ तामाह स मुनिः सत्यं सत्यध्वजो वचः ॥१४३॥

उन सभीने गालवको देखकर उठकर उनको प्रणाम किया। उन्होंने भी महादेवकी पूजा कर महर्षियोंको प्रणाम किया। उन श्रेष्ठ राजाओंने भी उन तपस्वीकी पूजा की तथा वे अत्यन्त हर्षित होकर सुखपूर्वक बैठ गये। उनके बैठ जानेपर कपिद्वारा आमन्त्रित किये गये यक्ष, महानुभाव गन्धर्व एवं दानव वहाँ आ गये। उन्हें आया हुआ देखते ही उन विशालनयना पुत्रियोंके नेत्रोंमें स्नेहसे आँसू भर आये। वे सभी अपने-अपने पिताके गले लग गयीं। नन्दयन्ती आदिको पिताके साथ उपस्थित हुई देखकर विश्वकर्माकी सुन्दरी पुत्रीके नेत्रोंमें (पिताकी स्मृतिमें) आँसू छलक आये। उसके बाद ऋतध्वज मुनिने उससे सच्ची बात कह दी—॥ १३९–१४३ ॥

मा विषादं कृथाः पुत्रि पिताऽयं तव वानरः। सा तद्वचनमाकर्ण्य व्रीडोपहतचेतना ॥१४४॥
कथं तु विश्वकर्माऽसौ वानरत्वं गतोऽधुना। दुष्पुत्र्यां मयि जातायां तस्मात् त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥१४५॥
इति संचिन्त्य मनसा ऋतध्वजमुवाच ह। परित्रायस्व मां ब्रह्मन् पापोपहतचेतनाम् ॥१४६॥
पितृघ्नी मर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि। अथोवाच मुनिस्तन्वीं मा विषादं कृथाधुना ॥१४७॥

पुत्रि! तुम उदास मत होओ। यह बन्दर ही तुम्हारा पिता है। उस वचनको सुनकर वह लजा गयी; क्योंकि मुझ कुपुत्रीके जन्म लेनेके कारण ये विश्वकर्मा इस समय बन्दर हो गये हैं; अतः (उसने सोचा-) मैं अपने शरीरका त्याग करूँगी। मनमे इस प्रकार विचारकर उसने ऋतध्वजसे कहा—ब्रह्मन्! मै पापसे नष्टमतिवाली हूँ। आप मेरी रक्षा करें। पिताका घात करनेवाली मैं मरना चाहती हूँ। अतः आप स्वीकृति दें। तब मुनिने उस तन्वङ्गीसे कहा—अब विषाद मत करो ॥ १४४–१४७ ॥

भाव्यस्य नैव नाशोऽस्ति तन्मा त्याक्षीः कलेवरम्। भविष्यति पिता तुभ्यं भूयोऽप्यमरवर्द्धकिः ॥१४८॥
जातेऽपत्ये घृताच्यां तु नात्र कार्या विचारणा। इत्येवमुक्ते वचने मुनिना भावितात्मना ॥१४९॥
घृताची तां समभ्येत्य प्राह चित्राङ्गदां वचः। पुत्रि त्यजस्व शोकं त्वं मासैर्दशभिरात्मजः ॥१५०॥
भविष्यति पितुस्तुभ्यं मत्सकाशान्न संशयः। इत्येवमुक्ता संहृष्टा बभौ चित्राङ्गदा तदा ॥१५१॥

भवितव्यताका विनाश नहीं होता—होनी होकर रहती है। इसलिये देहका परित्याग मत करो। घृताचीकी कोखसे पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर तुम्हारे पिता फिर भी देवताओंके शिल्पी हो जायँगे—इसमें संदेह

नहीं है। मनके ऊपर नियन्त्रण रखनेवाले मुनिके इस प्रकार कहनेपर घृताचीने चित्राङ्गदाके पास जाकर उससे कहा—पुत्रि ! तुम चिन्ता करना छोड़ दो। तुम्हारे पिताद्वारा मुझसे दस महीनोंमें निःसंदेह एक पुत्र उत्पन्न होगा। (फिर सुतरां शाप-विमोचन हो जायगा।) ऐसा कहनेपर चित्राङ्गदा हर्षित हो गयी ॥ १४८—१५१ ॥

प्रतीक्षन्ती सुचार्वङ्गी विवाहे पितृदर्शनम्। सर्वास्ता अपि तावन्तं कालं सुतनुकन्यकाः ॥१५२॥
प्रत्यैक्षन्त विवाहं हि तस्या एव प्रियेप्सया। ततो दशसु मासेषु समतीतेष्वथाप्सराः ॥१५३॥
तस्मिन् गोदावरीतीर्थे प्रसूता तनयं नलम्। जातेऽपत्ये कपित्वाच्च विश्वकर्माप्यमुच्यत ॥१५४॥

सुन्दरी (चित्राङ्गदा) अपने विवाहमे मिलनेवाले पिताके दर्शनकी (उत्सुकतासे) प्रतीक्षा करने लगी। वे सुन्दरी सभी कन्याएँ भी प्रियकी प्राप्तिकीरवाञ्छासे उसके विवाहके समयकी प्रतीक्षा करने लगीं। दस महीने बीत जानेपर अप्सराने उस गोदावरी तीर्थमें पुत्रको उत्पन्न किया, जो (आगे चलकर) नल (नामक) हुआ। पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर विश्वकर्मा भी वानरत्वसे छूट गये ॥ १५२—१५४ ॥

समभ्येत्य प्रियां पुत्रीं पर्यष्वजत चादरात्। ततः प्रीतेन मनसा सस्मार सुरवर्द्धकिः ॥१५५॥
सुराणामधिपं शक्रं सहैव सुरकिन्नरैः। त्वष्ट्राऽथ संस्मृतः शक्रो मरुद्गणवृतस्तदा ॥१५६॥
सुरैः सरुद्रैः सम्प्राप्तस्तत्तीर्थं हाटकाह्वयम्। समायातेषु देवेषु गन्धर्वेष्वप्सरस्सु च ॥१५७॥
इन्द्रद्युम्नो मुनिश्रेष्ठमृतध्वजमुवाच ह। जाबालेर्दीयतां ब्रह्मन् सुता कन्दरमालिनः ॥१५८॥
गृह्णातु विधिवत् पाणिं दैतेय्यास्तनयस्तव। नन्दयन्तीं च शकुनिः परिणेतुं स्वरूपवान् ॥१५९॥

अपनी प्रिय पुत्रीके पास जाकर उन्होने उसको स्नेहपूर्वक गले लगाया। उसके बाद प्रसन्न मनसे देवशिल्पीने देवताओं एवं किन्नरोंसहित देवराज इन्द्रका स्मरण किया। देवशिल्पीके स्मरण करनेपर इन्द्र मरुद्गणों, देवों एवं रुद्रोंके साथ हाटक नामके तीर्थमें आ गये। देवताओं, गन्धर्वों और अप्सराओंके आनेपर इन्द्रद्युम्नने मुनिश्रेष्ठ ऋतध्वजसे कहा—ब्रह्मन्! जाबालिको कन्दरमालीकी कन्याका दान कर दें। आपका पुत्र विधिवत् दैत्यनन्दिनीका पाणिग्रहण कर ले। स्वरूपवान् शकुनि नन्दयन्तीसे विवाह करे ॥ १५५—१५९ ॥

ममेयं वेदवत्यस्तु त्वाष्ट्रेयी सुरथस्य च। बाढमित्यब्रवीद्धृष्टो मुनिर्मनुसुतं नृपम् ॥१६०॥
ततोऽनुचक्रुः संहृष्टा विवाहविधिमुत्तमम्। ऋत्विजोऽभूद् गालवस्तु हुत्वा हव्यं विधानतः ॥१६१॥
गायन्ते तत्र गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा। आदौ जाबालिनः पाणिर्गृहीतो दैत्यकन्यया ॥१६२॥
इन्द्रद्युम्नेन तदनु वेदवत्या विधानतः। ततः शकुनिना पाणिर्गृहीतो यक्षकन्यया ॥१६३॥
चित्राङ्गदायाः कल्याणि सुरथः पाणिमग्रहीत्। एवं क्रमाद् विवाहस्तु निर्वृत्तस्तनुमध्यमे ॥१६४॥

यह वेदवती मेरी (इन्द्रद्युम्नकी) और त्वष्टा-(विश्वकर्मा-) की पुत्री (चित्राङ्गदा) सुरथकी पत्नी हो। मुनिने मनुपुत्र राजासे कहा—ठीक है। उसके बाद उन लोगोंने प्रसन्नतापूर्वक भलीभाँति विवाह की विधिको पूरा किया। विधिसे हव्यका हवन करनेवाले गालव ऋत्विक् बने। उस समय वहाँ गन्धर्वोंने गाना गाया और अप्सराओंने नृत्य किया। सबसे पहले दैत्यकन्याने जाबालिका पाणिग्रहण किया। कल्याणि! उसके बाद विधिपूर्वक इन्द्रद्युम्नने वेदवतीका, शकुनिने यक्ष-कन्याका तथा सुरथने चित्राङ्गदाका पाणिग्रहण किया। कृशोदरि! इस प्रकार विवाहकार्य क्रमशः सम्पन्न हुआ ॥ १६०—१६४ ॥

वृत्ते मुनिर्विवाहे तु शक्रादीन् प्राह दैवतान्। अस्मिंस्तीर्थे भवद्भिस्तु सप्तगोदावरे सदा ॥१६५॥
स्थेयं विशेषतो मासमिमं माधवमुत्तमम्। बाढमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा दिवं क्रमात् ॥१६६॥

मुनयो मुनिमादाय सपुत्रं जग्मुरादरात्। भार्याश्चादाय राजानः स्वं स्वं नगरमागताः ॥ १६७ ॥
प्रहृष्टाः सुखिनस्तस्थुः भुञ्जते विषयान् प्रियान्।
चित्राङ्गदायाः कल्याणि एवं वृत्तं पुरा किल। तन्मां कमलपत्राक्षि भजस्व ललनोत्तमे ॥ १६८ ॥
इत्येवमुक्त्वा नरदेवसूनुस्तां भूमिदेवस्य सुतां वरोरुम्।
स्तुवन्मृगाक्षीं मृदुना क्रमेण सा चापि वाक्यं नृपतिं बभाषे ॥ १६९ ॥
इति श्रीवामनपुराणे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर मुनि-(ऋतध्वज-) ने इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—इस सप्तगोदावर तीर्थमें आपलोग सदा निवास करें। विशेषरूपसे इस उत्तम वैशाखके महीनेमें आपलोग यहाँ अवश्य रहें। देवता लोग 'ऐसा ही हो'—(ऐसा) कहकर प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग चले गये। मुनिलोग पुत्रसहित मुनि-(ऋतध्वज-) को सादर साथ लेकर चले गये। राजा लोग भी अपनी-अपनी पत्नीके साथ अपने-अपने नगरमें आ गये। सभी लोग प्रिय विषयोंका उपभोग करते हुए आनन्दपूर्वक रहने लगे। कल्याणि! चित्राङ्गदाका पूर्व वृत्तान्त इस प्रकारका है। इसलिये सरोजनयने! ललनोत्तमे! तुम मुझे अङ्गीकार करो। ऐसा कहकर राजपुत्र (दण्ड) ब्राह्मणकी उस सुन्दरी मृगनयनी पुत्रीकी कोमल वाणीसे स्तुति करने लगे। उसने भी राजासे (आगेवाला वचन) कहा—॥ १६५–१६९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥
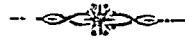
[अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः]

अरजा उवाच

नात्मानं तव दास्यामि बहुनोक्तेन किं तव। रक्षन्ती भवतः शापादात्मानं च महीपते ॥ १ ॥

छाछठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दण्डक-अरजाके प्रसङ्गमें शुक्रद्वारा दण्डकको शाप, प्रह्लादका अन्धकको उपदेश और अन्धक-शिव-सन्दर्भ)

अरजाने कहा—पृथिवीपते! आपके अधिक कहनेसे क्या लाभ? (थोड़ेमें समझ लीजिये कि पिताके) शापसे आपकी और अपनी रक्षा करती हुई (ही) मैं अपनेको आपके लिये समर्पित नहीं करूँगी ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

इत्थं विवदमानां तां भार्गवेन्द्रसुतां बलात्। कामोपहतचित्तात्मा व्यध्वंसयत मन्दधीः ॥ २ ॥
तां कृत्वा च्युतचारित्रां मदान्धः पृथिवीपतिः। निश्चक्रामाश्रमात् तस्माद् गतश्च नगरं निजम् ॥ ३ ॥
साऽपि शुक्रसुता तन्वी अरजा रजसाप्लुता। आश्रमादथ निर्गत्य बहिस्तस्थावधोमुखी ॥ ४ ॥
चिन्तयन्ती स्वपितरं रुदती च मुहुर्मुहुः। महाग्रहोपतप्तेव रोहिणी शशिनः प्रिया ॥ ५ ॥

प्रह्लादने कहा—कामसे अंधे हुए उस मूर्खने इस प्रकार विवाद (निषेध) करती हुई श्रेष्ठ भार्गव कुलमें प्रसूत उस कन्याको हठात् अपावन (ध्वस्तशील) कर दिया। मदसे अंधा बना हुआ वह चरित्रसे च्युत हो करके उस आश्रमसे बाहर निकलकर अपने नगर चला गया। उसके बाद रजसे लपटायी वह कृशाङ्गी शुक्रपुत्री अरजा भी आश्रमसे बाहर निकलकर नीचे मुख लटकाये बैठ गयी। राहुसे पीड़ित चन्द्र-प्रिया रोहिणीके समान वह अपने पिताका चिन्तन करती हुई बारम्बार (बिलख-बिलखकर) रोने लगी ॥ २–५ ॥

ततो बहुतिथे काले समाप्ते यज्ञकर्मणि । पातालादागमच्छुक्रः स्वमाश्रमपदं मुनिः ॥ ६ ॥
आश्रमान्ते च ददृशे सुतां दैत्य रजस्वलाम् । मेघलेखामिवाकाशे संध्यारागेण रञ्जिताम् ॥ ७ ॥
तां दृष्ट्वा परिपप्रच्छ पुत्रि केनासि धर्षिता । कः क्रीडति सरोषेण सममाशीविषेण हि ॥ ८ ॥
कोऽद्यैव याम्यां नगरीं गमिष्यति सुदुर्मतिः । कस्त्वां शुद्धसमाचारां विध्वंसयति पापकृत् ॥ ९ ॥
ततः स्वपितरं दृष्ट्वा कम्पमाना पुनः पुनः । रुदन्ती व्रीडयोपेता मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १० ॥

उसके बाद जब बहुत तिथिवाला समय बीत गया और यज्ञ समाप्त हो गया तब शुक्रमुनि पातालसे अपने आश्रममें आये । दैत्य ! उन्होंने आश्रमसे बाहर आकाशमें सन्ध्याके समय लालिमासे रञ्जित मेघमालाकी तरह धूलसे लिपटी हुई अपनी पुत्रीको देखा । उसे देखकर उन्होंने पूछा—पुत्रि ! किसने तुम्हारा धर्षण (अपमान) किया है ? क्रोधभरे साँपसे कौन खेल कर रहा है ? पवित्र आचरणवाली तुम्हें शीलसे च्युत कर कौन दुर्बुद्धि पापी आज ही यमपुरी जानेवाला है ? उसके बाद अपने पिताको देखकर बारम्बार काँपती, रोती एवं लजाती हुई अरजाने धीरे-धीरे कहा—॥ ६—१० ॥

तव शिष्येण दण्डेन वार्यमाणेन चासकृत् । बलादनाथा रुदती नीताऽहं वचनीयताम् ॥ ११ ॥
एतत् पुत्र्या वचः श्रुत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः । उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥
यस्मात् तेनाविनीतेन मत्तो ह्यभयमुत्तमम् । गौरवं च तिरस्कृत्य च्युतधर्माऽरजा कृता ॥ १३ ॥
तस्मात् सराष्ट्रः सबलः सभृत्यो वाहनैः सह । सप्तरात्रान्तराद् भस्म ग्रावबृष्ट्या भविष्यति ॥ १४ ॥

बार-बार बरजनेपर भी आपके शिष्य दण्डने रोती हुई मुझ अनाथाको बलपूर्वक निन्दनीया बना दिया है—हमारा शीलभ्रंश कर दिया है । कन्याकी इस बातको सुनकर शुक्राचार्यकी आँखें क्रोधसे अत्यन्त लाल हो गयीं । उन्होंने आचमन करके शुद्ध होकर यह (शाप-) वचन कहा—यतः उस उद्दण्डने मुझसे प्राप्त उत्तम अभय एवं गौरवको तिरस्कृतकर अरजाको धर्मसे च्युत किया है, अतः वह सात रात्रियों-(दिनों-) में उपलवृष्टिके कारण राष्ट्र, सेना, भृत्य एवं वाहनोंसहित विनष्ट हो जायगा—हो जाय ॥ ११—१४ ॥

इत्येवमुक्त्वा मुनिपुङ्गवोऽसौ शप्त्वा स दण्डं स्वसुतामुवाच ।
त्वं पापमोक्षार्थमिहैव पुत्रि तिष्ठस्व कल्याणि तपश्चरन्ती ॥ १५ ॥
शप्त्वेत्थं भगवाञ् शुक्रो दण्डमिक्ष्वाकुनन्दनम् । जगाम शिष्यसहितः पातालं दानवालयम् ॥ १६ ॥
दण्डोऽपि भस्मसाद् भूतः सराष्ट्रबलवाहनः । महता ग्राववर्षेण सप्तरात्रान्तरे तदा ॥ १७ ॥
एवं दण्डकारण्यं परित्यजन्ति देवताः । आलयं राक्षसानां तु कृतं देवेन शम्भुना ॥ १८ ॥

उन मुनिश्रेष्ठने ऐसा कहकर दण्डको शाप देनेके बाद अपनी पुत्रीसे कहा—पुत्रि ! कल्याणि ! पापसे छुटकारा पानेके लिये तुम तपस्या करती हुई यहीं रहो । भगवान् शुक्र इक्ष्वाकुनन्दन दण्डको इस प्रकार शाप देकर शिष्यके साथ दानवोंके निवास-स्थान पाताललोकमें चले गये । उसके बाद दण्ड भी बहुत बड़ी उपलवृष्टिके कारण सात रात्रियोंके भीतर ही अपने राष्ट्र, सेना और वाहनोंके साथ नष्ट हो गया । यही कारण है कि देवताओंने दण्डकारण्यको छोड़ दिया और शम्भुने उसे राक्षसोंका स्थान बना दिया ॥ १५—१८ ॥

एवं परकलत्राणि नयन्ति सुकृतीनपि । भस्मभूतान् प्राकृतांस्तु महान्तं च पराभवम् ॥ १९ ॥
तस्मादन्धक दुर्बुद्धिर्न कार्या भवता त्वियम् । प्राकृताऽपि दहेन्नारी किमुताद्रिनन्दिनी ॥ २० ॥
शङ्करोऽपि न दैत्येश शक्यो जेतुं सुरासुरैः । द्रष्टुमप्यमितौजस्कः किमु योधयितुं रणे ॥ २१ ॥

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर वर्णित है, परनारियाँ अपनेको (अपवित्र करनेवाले) पुण्यात्माओंको भी जलाकर राख (नष्ट) कर देती है, फिर साधारण मनुष्य तो बहुत बडा तिरस्कार प्राप्त करते हैं । अतः अन्धक ! आपको ऐसी दुर्बुद्धि नहीं करनी चाहिये । साधारण स्त्री भी जला सकती है तो पार्वतीका क्या कहना । दैत्येश्वर ! सुर या असुर कोई भी महादेवको नहीं जीत सकता । जब रणमे अत्यधिक ओजसे सम्पन्न शंकरको देखा भी नहीं जा सकता तब उनसे युद्ध करना कैसे सम्भव है ॥१०-२१॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने क्रुद्धस्ताम्रेक्षणः श्वसन् । वाक्यमाह महातेजाः प्रह्लादं चान्धकासुरः ॥ २२ ॥
किं ममासौ रणे योद्धुं शक्तस्त्रिणयनोऽसुर । एकाकी धर्मरहितो भस्मारुणितविग्रहः ॥ २३ ॥
नान्धको बिभियादिन्द्रान्नामरेभ्यः कथंचन । स कथं वृषपत्राक्षाद् बिभेति स्त्रीमुखेक्षकात् ॥ २४ ॥
तच्छ्रुत्वाऽस्य वचो घोरं प्रह्लादः प्राह नारद । न सम्यगुक्तं भवता विरुद्धं धर्मतोऽर्थतः ॥ २५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ऐसा वचन कहनेपर क्रुद्ध एवं लाल-लाल आँखे किये हुए महातेजस्वी अन्धकासुरने लंबी साँस लेते हुए प्रह्लादसे कहा—असुर ! क्या शरीरपर राख लपेटे, (किंतु, लोक) धर्मसे रहित अकेला वह त्रिनयन लडाईके मैदानमे मुझसे युद्ध कर सकता है ? जो अन्धक इन्द्र या (अन्य) देवताओंसे कभी नहीं डरता वह बैलकी सवारी करनेवाले तथा स्त्रीका मुख निहारनेवाले त्रिनेत्र-(शंकर-) से कैसे डर सकता है ? नारद ! उसके उस कठोर वचनको सुनकर प्रह्लादने कहा—आप यह उचित नहीं कह रहे हैं । आपका कहना धर्म एवं अर्थके विपरीत है ॥ २२-२५ ॥

हुताशनपतङ्गाभ्यां सिंहक्रोष्टुकयोरिव । गजेन्द्रमशकाभ्यां च रुक्मपाषाणयोरिव ॥ २६ ॥
एतेषामेभिरुदितं यावदन्तरमन्धक । तावदेवान्तरं चास्ति भवतो वा हरस्य च ॥ २७ ॥
वारितोऽसि मया वीर भूयो भूयश्च वार्यसे । शृणुष्व वाक्यं देवर्षेरसितस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
यो धर्मशीलो जितमानरोषो विद्याविनीतो न परोपतापी ।
स्वदारतुष्टः परदारवर्जी न तस्य लोके भयमस्ति किंचित् ॥ २९ ॥

अन्धक ! अग्नि और जुगनू, सिंह और सियार, गजेन्द्र और मशक तथा सोने और पत्थरमे जितना अन्तर कहा जाता है, उतना ही अन्तर आप और शङ्करकी तुलनामें है । वीर ! आपको मैंने रोका है और (अब भी) बार-बार रोक रहा हूँ । आप देवर्षि असितका वचन सुने—जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ, अभिमान और क्रोधको जीतनेवाला, विद्यासे विनम्र, किसीको दुःख न देनेवाला, अपनी पत्नीमे सन्तुष्ट तथा परस्त्रीका त्याग करनेवाला होता है, उसे संसारमे कोई भय नहीं होता ॥ २६-२९ ॥

यो धर्महीनः कलहप्रियः सदा परोपतापी श्रुतिशास्त्रवर्जितः ।
परार्थदारेप्सुरवर्णसंगमी सुखं न विन्देत परत्र चेह ॥ ३० ॥
धर्मान्वितोऽभूद् भगवान् प्रभाकरः संत्यक्तरोषश्च मुनिः स वारुणिः ।
विद्याऽन्वितोऽभूत्मनुरर्कपुत्रः स्वदारसंतुष्टमनास्त्वगस्त्यः ॥ ३१ ॥
एतानि पुण्यानि कृतान्यमीभिर्मया निबद्धानि कुलक्रमोक्त्या ।
तेजोऽन्विताः शापवरक्षमाश्च जाताश्च सर्वे सुरसिद्धपूज्याः ॥ ३२ ॥
अधर्मऽयुक्तोऽङ्गसुतो बभूव विभुश्च नित्यं कलहप्रियोऽभूत् ।
परोपतापी नमुचिर्दुरात्मा परावलेप्सुर्नहुषश्च राजा ॥ ३३ ॥

जो व्यक्ति धर्मसे हीन, कलहसे प्रेम रखनेवाला, सदा दूसरोंको दुःख देनेवाला, वेद-शास्त्र (के अध्ययन-) से रहित, दूसरेके धन और दूसरेकी स्त्रीकी इच्छा रखनेवाला तथा भिन्न वर्णके साथ सम्बन्ध करनेवाला होता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख नहीं पा सकता। भगवान् सूर्य धर्मसे युक्त थे, महर्षि वारुणिने (वसिष्ठने) क्रोध छोड़ दिया था, सूर्यपुत्र मनु विद्यावान् थे और अगस्त्य ऋषि अपनी पत्नीमें सन्तुष्ट थे। मैंने कुलके क्रमानुसार इन पुण्य करनेवालोंका उल्लेख किया है। शाप और वर देनेमें समर्थ ये सभी तेजस्वीलोग देवताओं और सिद्धोंके पूज्य हुए। अङ्गपुत्र (वेन) अधार्मिक और शक्तिशाली तथा नित्य कलहप्रिय था। दुरात्मा नमुचि परसतापी एवं राजा नहुष पर-स्त्रीपर अधिकार प्राप्त करना चाहता था ॥ ३०–३३ ॥

परार्थलिप्सुर्दितिजो हिरण्यदृक् मूर्खस्तु तस्याप्यनुजः सुदुर्मतिः।
अवर्णसंगी यदुरुत्तमौजा एते विनष्टास्त्वनयात् पुरा हि ॥ ३४ ॥
तस्माद् धर्मो न संत्याज्यो धर्मो हि परमा गतिः। धर्महीना नरा यान्ति रौरवं नरकं महत् ॥ ३५ ॥
धर्मस्तु गदितः पुम्भिस्तारणे दिवि चेह च। पतनाय तथाऽधर्म इह लोके परत्र च ॥ ३६ ॥
त्याज्यं धर्मान्वितैर्नित्यं परदारोपसेवनम्।
नयन्ति परदारा हि नरकानेकविंशतिम्। सर्वेषामपि वर्णानामेष धर्मो ध्रुवोऽन्धक ॥ ३७ ॥

दितिका पुत्र हिरण्याक्ष परधनका लालची था। उसका छोटा भाई दुर्बुद्धि एवं मूर्ख था तथा पराक्रमी यदु भिन्न जातिके साथ सम्बन्ध करनेवाला था। ये सभी पूर्वकालमें दुर्नीतिके कारण नष्ट हो गये। इसलिये धर्मको नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि धर्म ही उत्तम गति है। धर्मसे हीन मनुष्य महान् रौरव नरकमें जाते हैं। पूर्वजोंने धर्मको ही परलोकको पार करनेवाला बताया है तथा अधर्मको इस लोक और परलोकमें पतनका हेतु बताया है। धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंको परस्त्रीका सेवन करना सदैव वर्जनीय बताया है यतः परस्त्रियाँ इक्कीस नरकोंमें ले जाती हैं। अन्धक! सभी वर्णोंके लिये यह निश्चित धर्म है ॥ ३४–३७ ॥

परार्थपरदारेषु यदा वाञ्छां करिष्यति। स याति नरकं घोरं रौरवं बहुलाः समाः ॥ ३८ ॥
एवं पुराऽसुरपते देवर्षिरसितोऽव्ययः। प्राह धर्मव्यवस्थानं खगेन्द्रायारुणाय हि ॥ ३९ ॥
तस्मात् सुदूरतो वर्जेत् परदारान् विचक्षणः। नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम् ॥ ४० ॥

जो मनुष्य दूसरेके धन और दूसरेकी स्त्रीमें कामना करता है, वह बहुत वर्षोंके लिये भयंकर रौरव नरकमें चला जाता है। राक्षसराज! प्राचीन समयमें महात्मा देवर्षि असितने गरुड़ तथा अरुणसे धर्मकी यह व्यवस्था कही थी। इसलिये विद्वान् व्यक्ति दूसरी स्त्रियोंको दूरसे ही परित्याग कर दे; क्योंकि परस्त्रियाँ नीच बुद्धिवाले मनुष्योंको तिरस्कृत करा देती हैं ॥ ३८–४० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने प्रह्लादं प्राह चान्धकः। भवान् धर्मपरस्त्वेको नाहं धर्मं समाचरे ॥ ४१ ॥
इत्येवमुक्त्वा प्रह्लादमन्धकः प्राह शम्बरम्। गच्छ शम्बर शैलेन्द्रं मन्दरं वद शङ्करम् ॥ ४२ ॥
भिक्षो किमर्थं शैलेन्द्रं स्वर्गतुल्यं सकन्दरम्। परिभुञ्जसि केनाद्य तव दत्तो वदस्व माम् ॥ ४३ ॥
तिष्ठन्ति शासने मह्यं देवाः शक्रपुरोगमाः। तत् किमर्थं निवससे मामनादृत्य मन्दरे ॥ ४४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकारका वचन कहनेपर अन्धकने प्रह्लादसे कहा कि आप अकेले धर्मनिष्ठ हैं। मैं धर्मका व्यवहार नहीं करता। प्रह्लादसे इस प्रकार कहकर अन्धकने शम्बरसे कहा—शम्बर! तुम मन्दर

पर्वतपर जाओ और शंकरसे कहो—भिक्षुक ! तुम गुफामें रहनेवाले होकर और सबके समान मन्दर पर्वतका उपभोग क्यों कर रहे हो ? मुझे बतलाओ कि तुमको इसे किसने दे दिया है ? इन्द्र आदि देवता मेरा शासन मानते हैं । तुम मेरा अपमान करके इस मन्दर पर्वतपर कैसे रह रहे हो ? ॥ ४१—४४ ॥

यदीष्टस्तव शैलेन्द्रः क्रियतां वचनं मम । येयं हि भवतः पत्नी सा मे शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ ४५ ॥
इत्युक्तः स तदा तेन शम्बरो मन्दरं द्रुतम् । जगाम तत्र यत्रास्ते सह देव्या पिनाकधृक् ॥ ४६ ॥
गत्वोवाचान्धकवचो याथातथ्यं दनोः सुतः । तमुत्तरं हरः प्राह शृण्वत्या गिरिकन्यया ॥ ४७ ॥
ममायं मन्दरो दत्तः सहस्राक्षेण धीमता । तन्न शक्नोम्यहं त्यक्तुं विनाज्ञां वृत्रवैरिणः ॥ ४८ ॥

यदि यह पर्वतराज तुम्हे अभीष्ट है तो मेरे कहनेके अनुसार कार्य करो । तुम्हारी जो यह स्त्री है, उसे मुझे शीघ्र दे दो । उसके ऐसा कहनेपर शम्बर शीघ्रतासे उस मन्दर पर्वतपर गया, जहाँ पिनाकपाणि शंकर देवीके साथ निवास कर रहे थे । दनुपुत्रने वहाँ जाकर अन्धकके वचनको ज्यों-का-त्यों कहा । शङ्करने पर्वतनन्दिनीके सुनते हुए उसे उत्तर दिया । बुद्धिमान् इन्द्रने मुझे यह मन्दर पर्वत दिया है । इसलिये वृत्रासुरके वैरी इन्द्रकी आज्ञाके विना मै इसे नहीं छोड़ सकता ॥ ४५—४८ ॥

यच्चाब्रवीद् दीयतां मे गिरिपुत्रीति दानवः । तदेषा यातु स्वं कामं नाहं वारयितुं क्षमः ॥ ४९ ॥
ततोऽब्रवीद् गिरिसुता शम्बरं मुनिसत्तम । ब्रूहि गत्वान्धकं वीर मम वाक्यं विपश्चितम् ॥ ५० ॥
अहं पताका संग्रामे भवानीशश्च देविनौ । प्राणद्यूतं परिस्तीर्य यो जेष्यति स लप्स्यते ॥ ५१ ॥
इत्येवमुक्तो मतिमाञ् शम्बरोऽन्धकमागमत् । समागम्याब्रवीद् वाक्यं शर्वगौर्योश्च भाषितम् ॥ ५२ ॥

दानवने जो यह कहा कि गिरिनन्दिनीको मुझे दे दो, तो ये अपनी इच्छासे जा सकती हैं । मैं इन्हें नहीं रोक सकता । मुनिसत्तम ! उसके बाद गिरिपुत्री पार्वतीने शम्बरसे कहा—वीर ! तुम जाकर विद्वान् अन्धकसे मेरी बात कहो—सग्राममें मै तो पताका हूँ । आप और शंकर खेलनेवाले हैं । प्राणोका द्यूत फैलाकर (हार-जीतका दाँव लगाकर) जो जीतेगा वह मुझे प्राप्त करेगा ! ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् शम्बर अन्धकके पास गया एवं उसने शंकर तथा गौरीकी कही हुई बाते (ज्यों-की-त्यो) उससे कह दीं ॥ ४९—५२ ॥

तच्छ्रुत्वा दानवपतिः क्रोधदीप्तेक्षणः श्वसन् । समाहूयाब्रवीद् वाक्यं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ५३ ॥
गच्छ शीघ्रं महाबाहो भेरीं सान्नाहिकीं दृढाम् । ताडयस्व सुविश्रब्धं दुःशीलामिव योषितम् ॥ ५४ ॥
समादिष्टोऽन्धकेनाथ भेरीं दुर्योधनो बलात् । ताडयामास वेगेन यथा प्राणेन भूयसा ॥ ५५ ॥
सा ताडिता बलवता भेरी दुर्योधनेन हि । सत्वरं भैरवं रावं रुराव सुरभी यथा ॥ ५६ ॥

उसे सुनकर दानवपतिकी आँखें क्रोधसे जलने लगीं । लंबी साँस लेते हुए दुर्योधनको बुलाकर उसने कहा—महाबाहो ! शीघ्र जाओ एव मारू या सग्रामके समयमे बजनेवाले जुझाऊ नगाडेको (मस्तीसे) जोर-जोरसे ऐसे पीटो जैसे दुराचारिणीको कोई (उसके अपराधके कारण उसका अभिभावक आदि निर्भयतामे) ताड़ित करता है । उसके बाद अन्धकसे आदेश प्राप्त कर दुर्योधन अत्यन्त बलपूर्वक जी-जानसे वेगपूर्वक भेरीको बजाने लगा । बलवान् दुर्योधनद्वारा बलपूर्वक बजायी जाती हुई वह भेरी सहसा भयंकर ध्वनिमे घरघराने लगी, जिस प्रकार सुरभी घरघराती है ॥ ५३—५६ ॥

तस्यास्तं स्वनमाकर्ण्य सर्वे एव महासुराः । समायाताः सभां तूर्णं किमेतदिति वादिनः ॥ ५७ ॥
याथातथ्यं च तान् सर्वानाह सेनापतिर्बली । ते चापि बलिनां श्रेष्ठाः सन्नद्धा युद्धकाङ्क्षिणः ॥ ५८ ॥

सहान्धका निर्ययुस्ते गजैरुष्ट्रैर्हयै रथैः। अन्धको रथमास्थाय पञ्चनल्वप्रमाणतः ॥ ५९ ॥
त्र्यम्बकं स पराजेतुं कृतबुद्धिर्विनिर्ययौ। जम्भः कुजम्भो हुण्डश्च तुहुण्डः शम्बरो बलिः ॥ ६० ॥
बाणः कार्तस्वरो हस्ती सूर्यशत्रुर्महोदरः। अयःशंकुः शिबिः शाल्वो वृषपर्वा विरोचनः ॥ ६१ ॥
हयग्रीवः कालनेमिः संह्लादः कालनाशनः। शरभः शलभश्चैव विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ॥ ६२ ॥
दुर्योधनश्च पाकश्च विपाकः कालशम्बरौ।
एते चान्ये च बहवो महावीर्या महाबलाः। प्रजग्मुरुत्सुका योद्धुं नानायुधधरा रणे ॥ ६३ ॥
इत्थं दुरात्मा दनुसैन्यपालस्तदान्धको योद्धुमना हरेण।
महाचलं मन्दरमभ्युपेयिवान् स कालपाशावसितो हि मन्दधीः ॥ ६४ ॥
इति श्रीवामनपुराणे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

उसकी उस ध्वनिको सुनकर सभी बड़े असुर 'यह क्या है ?'— ऐसा कहते हुए शीघ्रतासे सभामें आ गये। पराक्रमी सेनापतिने उन सभीसे उचित और सत्य वचन कहा। युद्धकी इच्छा करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ वे सभी वीर तैयार हो गये। हाथी, ऊँट, घोड़ो और रथोंसहित वे सभी अन्धकके साथ बाहर निकले। पाँच नल्व— अर्थात् चार सौ (४००) हाथके प्रमाणवाले रथपर चढ़कर अन्धक त्रिलोचन शंकरको जीतनेका निश्चय कर बाहर निकला। जम्भ, कुजम्भ, हुण्ड, तुहुण्ड, शम्बर, बलि, बाण, कार्तस्वर, हस्ती, सूर्यशत्रु, महोदर, अयःशङ्कु, शिबि, शाल्व, वृषपर्वा, विरोचन, हयग्रीव, कालनेमि, संह्लाद, कालनाशन, शरभ, शलभ, पराक्रमी विप्रचित्ति, दुर्योधन, पाक, विपाक, काल एवं शम्बर—ये सभी तथा अन्य अनेक महापराक्रमशाली एवं महाबलवान् राक्षस भाँति-भाँतिके आयुधोंको लेकर प्रबल इच्छासे संग्राममें लड़नेके लिये चल पड़े। इस प्रकार काल-पाशसे बँधा हुआ वह अल्पमति दनुसैन्यपति दुष्टात्मा अन्धक शंकरसे युद्ध करनेके विचारसे महान् पर्वत मन्दरपर गया ॥ ५७–६४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छाछठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

[अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

हरोऽपि शम्बरे याते समाहूयाथ नन्दिनम्। प्राहामन्त्रय शैलादीन् ये स्थितास्तव शासने ॥ १ ॥
ततो महेशवचनान्नन्दी तूर्णतरं गतः। उपस्पृश्य जलं श्रीमान् सस्मार गणनायकान् ॥ २ ॥
नन्दिना संस्मृताः सर्वे गणनाथाः सहस्रशः। समुत्पत्य त्वरायुक्ताः प्रणतास्त्रिदशेश्वरम् ॥ ३ ॥
आगतांश्च गणान्नन्दी कृताञ्जलिपुटोऽव्ययः। सर्वान् निवेदयामास शङ्कराय महात्मने ॥ ४ ॥

सड़सठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(नन्दिद्वारा आहूत गणोंका वर्णन, उनसे हरि और हरका एकत्व प्रतिपादन, गणोंको सदाशिवका दर्शन और गणोंद्वारा मन्दरका भर जाना)

पुलस्त्यजी बोले—शम्बरके चले जानेपर शंकरने भी नन्दीको बुलाकर कहा—नन्दिन् ! तुम्हारे शासनमें जो पर्वत आदि रहते हैं, उन्हें इस (माङ्गलिक) कार्यमें आनेके लिये आमन्त्रित करो। उसके बाद महेशके कहनेसे नन्दी शीघ्रातिशीघ्र गये और उन्होंने जलका आचमन कर गणनायकोंका स्मरण किया। नन्दीसे स्मरण किये गये सभी गणनाथोंने हजारोंकी संख्यामें शीघ्रतासे आकर त्रिदशेश्वर शंकरको प्रणाम किया। अविनाशी नन्दीने महात्मा शंकरसे हाथ जोड़कर सभी आये हुए गणोंको निवेदित किया ॥ १–४ ॥

नन्द्युवाच

यानेतान् पश्यसे शम्भो त्रिनेत्राञ्जटिलाञ्शुचीन्। एते रुद्रा इति ख्याताः कोट्य एकादशैव तु॥ ५॥
वानरास्यान् पश्यसे यान् शार्दूलसमविक्रमान्। एतेषां द्वारपालास्ते मन्नामानो यशोधनाः॥ ६॥
षण्मुखान् पश्यसे यांश्च शक्तिपाणीञ्शिखिध्वजान्। षट् च षष्टिस्तथा कोट्यःस्कन्दनाम्नःकुमारकान्॥ ७॥
एतावत्यस्तथा कोट्यः शाखा नाम षडाननाः। विशाखास्तावदेवोक्ता नैगमेयाश्च शङ्कर॥ ८॥

नन्दीने कहा—शम्भो! तीन नेत्रोंवाले और जटा धारण करनेवाले तथा पवित्र जिन गणोंको आप देख रहे हैं, उन्हें रुद्र कहते हैं। इनकी संख्या ग्यारह कोटि है। बन्दरके समान मुँह और सिंहके समान पराक्रम-वाले जिन्हें आप देख रहे हैं, वे मेरे नामको धारण करनेवाले यशस्वी इनके द्वारपाल हैं। हाथमें शक्ति लिये तथा मयूरध्वजी जिन छः मुखवालोंको आप देख रहे हैं, वे स्कन्द नामके कुमार हैं। इनकी संख्या छाछठ करोड़ है। शंकर! इतने ही छः मुख धारण करनेवाले शाखा नामके गण हैं और इतने ही विशाख और नैगमेय नामके गण हैं॥ ५–८॥

सप्तकोटिशतं शम्भो अमी वै प्रमथोत्तमाः। एकैकं प्रति देवेश तावत्यो ह्यपि मातरः॥ ९॥
भस्मारुणितदेहाश्च त्रिनेत्राः शूलपाणयः। एते शैवा इति प्रोक्तास्तव भक्ता गणेश्वराः॥ १०॥
तथा पाशुपताश्चान्ये भस्मप्रहरणा विभो। एते गणास्त्वसंख्याताः सहायार्थं समागताः॥ ११॥
पिनाकधारिणो रौद्रा गणाः कालमुखापरे। तव भक्ताः समायाता जटामण्डलिनोऽद्भुताः॥ १२॥

शम्भो! इन उत्तम प्रमथोंकी संख्या सात सौ करोड़ है। देवेश! प्रत्येकके साथ उतनी ही मातृकाएँ भी हैं। इन भस्मविभूषित शरीरवाले शूलपाणि त्रिनेत्रधारियोंको शैव कहा जाता है। ये सभी गणेश्वर आपके भक्त हैं। विभो! भस्मरूपी अस्त्र धारण करनेवाले अन्य अनगिनत पाशुपत गण सहायताके लिये आये हैं। पिनाक धारण करनेवाले जटामण्डलसे युक्त, अद्भुत भयङ्कर कालमुखनामक आपके अन्य गण (भी) आये हैं॥ ९–१२॥

खट्वाङ्गयोधिनो वीरा रक्तचर्मसमावृताः। इमे प्राप्ता गणा योद्धुं महाव्रतिन उत्तमाः॥ १३॥
दिग्वाससो मौनिनश्च घण्टाप्रहरणास्तथा। निराश्रया नाम गणाः समायाता जगद्गुरो॥ १४॥
सार्धद्विनेत्राः पद्माक्षाः श्रीवत्साङ्कितवक्षसः। समायाताः खगारूढा वृषभध्वजिनोऽव्ययाः॥ १५॥
महापाशुपता नाम चक्रशूलधरास्तथा। भैरवो विष्णुना सार्द्धमभेदेनार्चितो हि यैः॥ १६॥

खट्वाङ्गसे संग्राम करनेवाले, लाल ढालसे युक्त महाव्रती नामके ये उत्तम गण युद्धके लिये आये हैं। जगद्गुरो! घण्टा नामके आयुधको धारण करनेवाले दिगम्बर और मौनी तथा निराश्रय नामक गण उपस्थित हुए हैं। तीन नेत्रोंवाले, पद्माक्ष एवं श्रीवत्ससे चिह्नित वक्षःस्थलवाले गरुड़ पक्षीपर चढ़े हुए तथा अविनाशी वृषभध्वजी गण यहाँ आ गये हैं। चक्र तथा शूल धारण करनेवाले महापाशुपत नामके गण आ गये हैं जिन्होंने अभिन्नभावसे विष्णुके साथ भैरवकी पूजा (यहाँ) की है॥ १३–१६॥

इमे मृगेन्द्रवदनाः शूलबाणधनुर्धराः। गणास्त्वद्रोमसम्भूता वीरभद्रपुरोगमाः॥ १७॥
एते चान्ये च बहवः शतशोऽथ सहस्रशः। सहायार्थं तवायाता यथा प्रीत्यादिशस्व तान्॥ १८॥
ततोऽभ्येत्य गणाः सर्वे प्रणेमुर्वृषभध्वजम्। तान् करेणैव भगवान् समाश्वास्योपवेशयत्॥ १९॥
महापाशुपतान् दृष्ट्वा समुत्थाय महेश्वरः। सम्परिष्वजताध्यक्षांस्ते प्रणेमुर्महेश्वरम्॥ २०॥

आपके रोमोंसे उत्पन्न हुए ये सभी सिंहके समान मुखवाले शूल, बाण और धनुष धारण करनेवाले वीरभद्र आदि गण तथा दूसरे भी सैकड़ों एवं हजारों गण आपकी सहायताके लिये आ गये हैं। अपनी

इच्छाके अनुसार आप इन्हें आदेश दें। उसके बाद सभी गणोंने पास जाकर वृषभध्वजको प्रणाम किया। भगवान्ने हाथसे उन्हें विश्वस्तकर बैठाया। महापाशुपत नामके अपने अध्यक्षोंको देखनेके बाद महेश्वरने उठकर उनको गले लगाया। उन लोगोंने महेश्वरको अभिवन्दित किया ॥ १७-२० ॥

ततस्तदद्भुततमं दृष्ट्वा सर्वे गणेश्वराः। सुचिरं विस्मिताक्षाश्च वैलक्ष्यमगमत् परम् ॥ २१ ॥
विस्मिताक्षान् गणान् दृष्ट्वा शैलादिर्योगिनां वरः। प्राह प्रहस्य देवेशं शूलपाणिं गणाधिपम् ॥ २२ ॥
विस्मितामी गणा देव सर्व एव महेश्वर। महापाशुपतानां हि यत् त्वयालिङ्गनं कृतम् ॥ २३ ॥
तदेतेषां महादेव स्फुटं त्रैलोक्यविन्दकम्। रूपं ज्ञानं विवेकं च वदस्व स्वेच्छया विभो ॥ २४ ॥
प्रमथाधिपतेर्वाक्यं विदित्वा भूतभावनः। बभाषे तान् गणान् सर्वान् भावाभावविचारिणः ॥ २५ ॥

उसके बाद उस अत्यन्त विचित्र दृश्यको देखकर सभी गणेश्वरोंकी आँखें आश्चर्यसे भर गयीं। उसके बाद वे सभी बहुत ही लज्जित हो गये। गणोंको अचरजभरे नेत्रोंवाला देखकर योगिश्रेष्ठ शैलादि नन्दीने हँसकर गणाधिप देवेश शूलपाणिसे कहा—देव! महेश्वर! महापाशुपतोंको आपने जो गले लगाया है, उससे ये सभी गण आश्चर्यमें पड़ गये हैं। अतः महादेव! विभो! इनके तीनों लोकोंमें विख्यात रूप, ज्ञान एवं विवेकका अपने इच्छानुसार वर्णन करें। प्रमथोंके अधिपति नन्दीकी बात सुनकर भूतभावन महादेव भाव और अभावका विचार करनेवाले उन गणोंसे कहने लगे—॥ २१-२५ ॥

रुद्र उवाच

भवद्भिर्भक्तिसंयुक्तैर्हरो भावेन पूजितः। अहंकारविमूढैश्च निन्दद्भिर्वैष्णवं पदम् ॥ २६ ॥
तेनाज्ञानेन भवतोनादृत्यानुविरोधिताः। योऽहं स भगवान् विष्णुर्विष्णुर्यः सोऽहमव्ययः ॥ २७ ॥
नावयोर्वै विशेषोऽस्ति एका मूर्तिर्द्विधा स्थिता। तदमीभिर्नरव्याघ्रैर्भक्तिभावयुतैर्गणैः ॥ २८ ॥
यथाहं वै परिज्ञातो न भवद्भिस्तथा ध्रुवम्। येनाहं निन्दितो नित्यं भवद्भिर्मूढबुद्धिभिः ॥ २९ ॥
तेन ज्ञानं हि वै नष्टं नातस्त्वालिङ्गिता मया। इत्येवमुक्ते वचने गणाः प्रोचुर्महेश्वरम् ॥ ३० ॥

रुद्रने कहा—अहंकारसे विमूढ़ किंतु मेरी भक्तिसे युक्त आपलोगोंने वैष्णवपदकी निन्दा करते हुए भावपूर्वक शंकरकी पूजा की है। इसी अज्ञानके हेतु आप सभीका अनादर कर उनका विरोध आग्रह किया गया। जो मैं हूँ वही भगवान् विष्णु हैं एवं जो विष्णु हैं वही अविनाशी मैं हूँ। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। एक ही मूर्ति दो रूपोंमें अवस्थित है। अतः भक्तिभावसे युक्त इन पुरुषश्रेष्ठ गणोंने जैसा मुझे जाना है, निश्चय ही उस प्रकार आपलोग मुझे नहीं जानते। जड-बुद्धिवाले आप लोगोंने यतः नित्य मेरी निन्दा की है अतः आपलोगोंका ज्ञान नष्ट हो गया। इसीलिये मैंने आपलोगोंको गले नहीं लगाया है। इस प्रकार कहनेपर गणोंने महेश्वरसे कहा—॥ २६-३० ॥

कथं भवान् यथैक्येन संस्थितोऽस्ति जनार्दनः। भवान् हि निर्मलः शुद्धः शान्तः शुक्लो निरञ्जनः ॥ ३१ ॥
स चाप्यञ्जनसंकाशः कथं तेनेह युज्यते। तेषां वचनमर्थाढ्यं श्रुत्वा जीमूतवाहनः ॥ ३२ ॥
विहस्य मेघगम्भीरं गणानिदमुवाच ह। श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये स्वयशोवर्द्धनं वचः ॥ ३३ ॥
न त्वेव योग्या यूयं हि महाज्ञानस्य कर्हिचित्। अपवादभयाद् गुह्यं भवतां हि प्रकाशये ॥ ३४ ॥

आप एवं जनार्दन ऐक्यरूपसे कैसे रहते हैं? आप निर्मल, शुद्ध, शान्त, शुक्ल और निर्दोष एवं अज्ञानसे रहित हैं। किंतु वे अञ्जनके तुल्य हैं; अतः उनसे आपका मेल कैसे होता है? उनके अभिप्राययुक्त वचनको सुननेके

बाद जीमूतवाहन शंकरने मेघके समान गम्भीर वाणीमें हँसकर कहा—अपनी कीर्ति बढ़ानेवाली सम्पूर्ण बात मैं बतलाता हूँ; उसे सुनो—तुमलोग कभी भी महाज्ञानके योग्य नहीं हो। परंतु अपकीर्तिके डरसे मैं आप सभीके सामने गोपनीय वस्तु-स्थितिको प्रकाशित करता हूँ ॥ ३१–३४ ॥

प्रियत्वं मयि चैतेन यन्मच्चित्तास्तु नित्यशः। एकरूपात्मकं देहं कुरुध्वं यत्नमास्थिताः ॥ ३५ ॥
पयसा हविषाद्यैश्च स्नपनेन प्रयत्नतः। चन्दनादिभिरेकाग्रैर्न मे प्रीतिः प्रजायते ॥ ३६ ॥
यत्नात् क्रकचमादाय छिन्दध्वं मम विग्रहम्। नरकार्हा भवद्भक्ता रक्षामि स्वयशोऽर्थतः ॥ ३७ ॥
माऽयं वदिष्यते लोको महान्तमपवादिनम्। यथा पतन्ति नरके हरभक्तास्तपस्विनः ॥ ३८ ॥

मुझमें निरन्तर चित्त लगाये रहनेसे भी अन्य लोग प्रिय हैं। तुमलोग यत्नपूर्वक एक देहात्मक रूपको समझो प्रयत्नपूर्वक दूध या घीसे स्नान कराने तथा स्थिरचित्ततापूर्वक चन्दन आदिद्वारा लेप करनेसे मुझे प्रसन्नता नहीं उत्पन्न होती। आरा लेकर मेरी देहको भले ही चीर डालो, परंतु अपनी कीर्तिके लिये नरकके योग्य आप भक्तोंकी मैं (उससे) रक्षा करता ही हूँ। (क्योंकि) यह संसार मुझे इस प्रकारका महान् कलङ्क न लगाये कि शंकरके तपस्वी भक्त नरकमें जाते हैं ॥ ३५–३८ ॥

व्रजन्ति नरकं घोरमित्येवं परिवादिनः। अतोऽर्थं न क्षिपाम्यद्य भवतो नरकेऽद्भुते ॥ ३९ ॥
यन्निन्दध्वं जगन्नाथं पुष्कराक्षं च मन्मयम्। स चैव भगवाञ्शर्वः सर्वव्यापी गणेश्वरः ॥ ४० ॥
न तस्य सदृशो लोके विद्यते सचराचरे। श्वेतमूर्तिः स भगवान् पीतो रक्तोऽञ्जनप्रभः ॥ ४१ ॥
तस्मात् परतरं लोके नान्यद् धर्मं हि विद्यते।
सात्त्विकं राजसं चैव तामसं मिश्रकं तथा। स एव धत्ते भगवान् सर्वपूज्यः सदाशिवः ॥ ४२ ॥

इस प्रकारकी निन्दा करनेवाले लोग भयंकर नरकमें जाते हैं। इसलिये मैं आपलोगोंको अद्भुत नरकमें नहीं डालता। आपलोग मेरे स्वरूप जिन कमलनयन जगन्नाथकी निन्दा करते हैं, वे ही सर्वव्यापी गणेश्वर भगवान् शर्व हैं। इस समस्त चर और अचर लोकमें उनके समान कोई नहीं है। वे भगवान् श्वेतमूर्ति पीत, रक्त एवं अञ्जनके सदृश कान्तिवाले हैं। संसारमें उनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा धर्म नहीं है। सर्वपूज्य वे सदाशिव (सदा मङ्गल करनेवाले) भगवान् ही सभी सात्त्विक, राजस, तामस एवं मिश्रित भावोंको धारण करते हैं ॥ ३९–४२ ॥

शङ्करस्य वचः श्रुत्वा शैवाद्याः प्रमथोत्तमाः। प्रत्यूचुर्भगवन् ब्रूहि सदाशिवविशेषणम् ॥ ४३ ॥
तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा प्रमथानामधीश्वरः। दर्शयामास तद्रूपं सदाशैवं निरञ्जनम् ॥ ४४ ॥
ततः पश्यन्ति हि गणाः तमीशं वै सहस्रशः। सहस्रवक्त्रचरणं सहस्रभुजमीश्वरम् ॥ ४५ ॥
दण्डपाणिं सुदुर्दृश्यं लोकैर्व्याप्तं समन्ततः। दण्डसंस्थाऽस्य दृश्यन्ते देवप्रहरणास्तथा ॥ ४६ ॥

शंकरके वचनको सुनकर शैव आदि श्रेष्ठ गणोंने कहा—भगवन्! आप सदाशिवकी विशेषता प्रकट करनेवाले गुणको कहिये। प्रमथेश्वरने उनके इस वचनको सुनकर उन्हें निरञ्जन सदाशिवरूपको दिखलाया। उसके बाद हजारों गणोंने उन ईश्वरको हजारों मुख, चरण एवं भुजाओंवाला हुआ देखा। वे लोकोंसे सभी ओर व्याप्त थे तथा दण्डपाणि एवं अत्यधिक सुदुर्दृश्य थे। देवताओंके अस्त्र उनके दण्डमें दिखलायी पड़ रहे थे ॥ ४३–४६ ॥

तत एकमुखं भूयो ददृशुः शङ्करं गणाः। रौद्रैश्च वैष्णवैश्चैव वृतं चिह्नैः सहस्रशः ॥ ४७ ॥
अर्द्धेन वैष्णववपुरर्द्धेन हरविग्रहः। खगध्वजं वृषारूढं खगारूढं वृषध्वजम् ॥ ४८ ॥
यथा यथा त्रिनयनो रूपं धत्ते गुणाग्रणीः। तथा तथा त्वजायन्त महापाशुपता गणाः ॥ ४९ ॥

रणाय निर्गच्छति लोकपाले महेश्वरे शूलधरे महर्षे।
शुभानि सौम्यानि सुमङ्गलानि जातानि चिह्नानि जयाय शम्भोः ॥ १३ ॥
शिवा स्थिता वामतरेऽथ भागे प्रयाति चाग्रे स्वनमुन्नदन्ती।
क्रव्यादसंघाश्च तथामिषैषिणः प्रयान्ति हृष्टास्तृपितासृगर्थे ॥ १४ ॥
दक्षिणाङ्गं नखान्तं वै समकम्पत शूलिनः। शकुनिश्चापि हारीतो मौनी याति पराङ्मुखः ॥ १५ ॥
निमित्तानीदृशान् दृष्ट्वा भूतभव्यभवो विभुः। शैलादिं प्राह वचनं सस्मितं शशिशेखरः ॥ १६ ॥

महर्षे! शूल धारण करनेवाले संसारके पालक महेश्वरके युद्ध करनेके लिये घरसे निकलनेपर उनकी जयके लिये शुभ, सौम्य और मङ्गलजनक लक्षण (शकुन) प्रकट हुए। उनकी बायीं बगलमें शृगालिनी स्थित होकर ऊँचे स्वरसे बोलती हुई आगे-आगे जा रही थी। मांसभक्षी प्राणियोंका समूह प्रसन्नतापूर्वक रक्तके लिये जा रहा था। शूलपाणिका सारा दायाँ अङ्ग फड़क उठा। हारीत पक्षी मौन होकर पीछेकी ओर जा रहा था। भूत, भविष्य एवं वर्तमानस्वरूप एवं व्यापक चन्द्रमौलि महादेव शंकरने इस प्रकारके लक्षणोंको देखकर शैलादि (नन्दी)से प्रसन्नतापूर्ण वचन कहा—॥ १३—१६ ॥

हर उवाच

नन्दिन् जयोऽद्य मे भावी न कथंचित् पराजयः। निमित्तानीह दृश्यन्ते सम्भूतानि गणेश्वर ॥ १७ ॥
तच्छम्भुवचनं श्रुत्वा शैलादिः प्राह शङ्करम्। कः संदेहो महादेव यत् त्वं जयसि शात्रवान् ॥ १८ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं नन्दी रुद्रगणांस्तथा। समादिदेश युद्धाय महापाशुपतैः सह ॥ १९ ॥
तेऽभ्येत्य दानवबलं मर्दयन्ति स्म वेगिताः। नानाशस्त्रधरा वीरा वृक्षानशनयो यथा ॥ २० ॥

शंकरने कहा—नन्दिन्! गणेश्वर! इस समय कल्याणकारी लक्षण दिखायी दे रहे हैं। इसलिये आज मेरी विजय होगी। किसी भी प्रकार पराजय नहीं हो सकती। शंकरके उस वचनको सुनकर शैलादिने उनसे कहा—महादेव! आप शत्रुओंको जीत लेंगे, इसमें सन्देह ही कौन-सा है? ऐसा कहकर नन्दीने महापाशुपतके सहित रुद्रगणोंको युद्ध करनेके लिये आदेश दे दिया। (फिर तो) भाँति-भाँतिके शस्त्रोंको धारण करनेवाले वे वीर दानवसैन्यके पास पहुँचकर उसे ऐसे कुचलकर नष्ट करने लगे जैसे वज्र वृक्षोंको नष्ट करता है ॥ १७—२० ॥

ते वध्यमाना बलिभिः प्रमथैर्दैत्यदानवाः। प्रवृत्ताः प्रमथान् हन्तुः कूटमुद्गरपाणयः ॥ २१ ॥
ततोऽम्बरतले देवाः सेन्द्रविष्णुपितामहाः। ससूर्याग्निपुरोगास्तु समायाता दिदृक्षवः ॥ २२ ॥
ततोऽम्बरतले घोषः सस्वनः समजायत। गीतवाद्यादिसम्मिश्रो दुन्दुभीनां कलिप्रिय ॥ २३ ॥
ततः पश्यत्सु देवेषु महापाशुपतादयः। गणास्तद्दानवं सैन्यं जिघांसन्ति स्म कोपिताः ॥ २४ ॥

बलशाली प्रमथोंद्वारा मारे जा रहे वे दैत्य-दानवगण (भी) हाथोंमें कूट-मुद्गर लेकर प्रमथोंको मारने लगे। उसके बाद (युद्ध) देखनेकी लालसासे इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा एवं अग्नि आदि देवगण आकाशमें एकत्र हो गये। नारदजी! उसके बाद गाने-बजानेके साथ दुन्दुभियोंकी ध्वनि आकाशमें गूँजने लगी। फिर तो देवताओंके देखते-ही-देखते क्रुद्ध होकर महापाशुपत आदि गण दानव-सेनाका विध्वंस करने लगे ॥ २१—२४ ॥

चतुरङ्गबलं दृष्ट्वा हन्यमानं गणेश्वरैः। क्रोधान्वितस्तुहुण्डस्तु वेगेनाभिससार ह ॥ २५ ॥
आदाय परिघं घोरं पट्टोद्बद्धमयस्मयम्। राजतं राजतेऽत्यर्थमिन्द्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ॥ २६ ॥
तं भ्रामयानो बलवान् निजघान रणे गणान्। रुद्राद्याः स्कन्दपर्यन्तास्तेऽभज्यन्त भयातुराः ॥ २७ ॥
तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा गणनाथो विनायकः। समाद्रवत वेगेन तुहुण्डं दनुपुङ्गवम् ॥ २८ ॥

गणेश्वरोंद्वारा चतुरङ्गिणी—रथ, हाथी, घोड़े, पैदल चार अङ्गोंवाली सेनाको मारी जाती हुई देख करके क्रुद्ध होकर तुहुण्ड तेजीसे आगे बढ़ा। ढालसे बँधे हुए लोहके बने चमचमाते भयङ्कर परिघको लेकर वह इन्द्रके ऊँचे ध्वजके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। बलशाली तुहुण्ड उस परिघको घुमाते हुए युद्धमें गणोंको मारने लगा। रुद्रसे लेकर स्कन्दतक वे सभी गण भयभीत होकर भाग चले। उस सेनाको नष्ट हुई देखकर गणनाथ विनायक दानवश्रेष्ठ तुहुण्डकी ओर तेजीसे दौड़े ॥ २५–२८ ॥

आपतन्तं गणपतिं दृष्ट्वा दैत्यो दुरात्मवान्। परिघं पातयामास कुम्भपृष्ठे महाबलः ॥ २९ ॥
विनायकस्य तत्कुम्भे परिघं वज्रभूषणम्। शतधा त्वगमद् ब्रह्मन् मेरोः कूट इवाशनिः ॥ ३० ॥
परिघं विफलं दृष्ट्वा समायान्तं च पार्षदम्। बबन्ध बाहुपाशेन राहू रक्षन् हि मातुलम् ॥ ३१ ॥
स बद्धो बाहुपाशेन बलादाकृष्य दानवम्। समाजघान शिरसि कुठारेण महोदरः ॥ ३२ ॥

महाबलशाली दुष्टात्मा दैत्यने गणपतिको सामने आते देखकर (उनके) कुम्भस्थलमें परिघका वार कर दिया। ब्रह्मन्! वज्रसे अलंकृत वह परिघ विनायकके कुम्भस्थलपर ऐसे सैकड़ों टुकड़े हो गया, जैसे मेरुके शिखरपर वज्र सैकड़ों टुकड़े हो जाता है। परिघको विफल हुआ देखकर अपने मामाकी रक्षा करते हुए राहुने आनेवाले पार्षदको अपने भुजापाशमें जकड़ लिया। भुजापाशमें बँधे हुए (होनेपर भी) उन महोदरने दानवको बलपूर्वक खींचकर उसके मस्तकपर कुठारसे वार किया ॥ २९–३२ ॥

काष्ठवत् स द्विधा भूतो निपपात धरातले।
तथाऽपि नात्यजद् राहुर्बलवान् दानवेश्वरः। स मोक्षार्थेऽकरोद् यत्नं न शशाक च नारद ॥ ३३ ॥
विनायकं संयतमीक्ष्य राहुणा कुण्डोदरो नाम गणेश्वरोऽथ।
प्रगृह्य तूर्णं मुशलं महात्मा राहुं दुरात्मानमसौ जघान ॥ ३४ ॥
ततो गणेशः कलशध्वजस्तु प्रासेन राहुं हृदये बिभेद।
घटोदरो वै गदया जघान खड्गेन रक्षोऽधिपतिः सुकेशी ॥ ३५ ॥
स तैश्चतुर्भिः परिताड्यमानो गणाधिपं राहुरथोत्ससर्ज।
संत्यक्तमात्रोऽथ परश्वधेन तुहुण्डमूर्द्धानमथो बिभेद ॥ ३६ ॥

वह काष्ठके समान दो टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर भी बलशाली दानवेश्वर राहुने उन्हें नहीं छोड़ा। नारदजी! उन्होंने छूटनेका प्रयत्न तो किया, किंतु उससे वे छूट न सके। राहुद्वारा विनायकको बँधा हुआ देखकर कुण्डोदर नामके गणेश्वरने तुरंत मुसल उठा लिया और उन महात्माने दुरात्मा राहुपर (दे) मारा। उसके बाद कलशके ध्वजवाले गणेशने प्रासद्वारा राहुके हृदयपर (भी) चोट कर दिया। घटोदरने गदासे तथा राक्षसोंके अधिपति सुकेशीने तलवारसे वार किया। उन चारोंद्वारा प्रहार किये जानेपर राहुने गणाधिपतिको छोड़ दिया। छूटते ही उन्होंने फरसेसे तुहुण्डके मस्तकको काट दिया ॥ ३३–३६ ॥

हते तुहुण्डे विमुखे च राहौ गणेश्वराः क्रोधविषं मुमुक्षवः।
पञ्चैककालानलसन्निकाशा विशन्ति सेनां दनुपुङ्गवानाम् ॥ ३७ ॥
तां वध्यमानां स्वचमूं समीक्ष्य बलिर्बली मारुततुल्यवेगः।
गदां समाविध्य जघान मूर्ध्नि विनायकं कुम्भतटे करे च ॥ ३८ ॥

कुण्डोदरं भग्नकटिं चकार महोदरं शीर्णशिरःकपालम्।
कुम्भध्वजं चूर्णितसंधिबन्धं घटोदरं चोरुविभिन्नसंधिम्॥ ३९॥
गणाधिपांस्तान् विमुखान् स कृत्वा बलान्वितो वीरतरोऽसुरेन्द्रः।
समभ्यधावत् त्वरितो निहन्तुं गणेश्वरान् स्कन्दविशाखमुख्यान्॥ ४०॥

तुहुण्डके मारे जाने और राहुके पीठ दिखा देनेपर क्रोधरूपी विषको छोड़नेकी कामनावाले प्रलयकालकी अग्निके समान पाँचो गणेश्वर एक साथ दानवश्रेष्ठोंकी सेनामें पैठ गये। अपनी उस सेनाको भागी जाती हुई देखकर वायुके समान तीव्र गतिवाले बलशाली बलिने गदा लेकर विनायकके कुम्भस्थल, मस्तक एवं सूँड़पर वार किया। कुण्डोदरकी कमर तोड दी, महोदरके सिरकी खोपड़ीको विधुन दिया, कुम्भध्वजके जोड़ोको चूर-चूर कर डाला एवं घटोदरकी जाँघोको तोड़ दिया। उन गणाधिपोको पीछे भगाकर वीरश्रेष्ठ वह बलशाली असुरेन्द्र तुरन्त स्कन्द, विशाख आदि मुख्य-मुख्य गणेश्वरोको मारनेके लिये दौड़ पड़ा॥ ३७—४०॥

तमापतन्तं भगवान् समीक्ष्य महेश्वरः श्रेष्ठतमं गणानाम्।
शैलादिमामन्त्र्य वचो बभाषे गच्छस्व दैत्यान् जहि वीर युद्धे॥ ४१॥
इत्येवमुक्तो वृषभध्वजेन वज्रं समादाय शिलादसूनुः।
बलिं समभ्येत्य जघान मूर्ध्नि सम्मोहितः सोऽवनिमाससाद॥ ४२॥
सम्मोहितं भ्रातृसुतं विदित्वा बली कुजम्भो मुसलं प्रगृह्य।
सम्भ्रामयंस्तूर्णतरं स वेगात् ससर्ज नन्दिं प्रति जातकोपः॥ ४३॥
तमापतन्तं मुसलं प्रगृह्य करेण तूर्णं भगवान् स नन्दी।
जघान तेनैव कुजम्भमाहवे स प्राणहीनो निपपात भूमौ॥ ४४॥

भगवान् महेश्वरने उसे आते हुए देखकर गणोमे सर्वश्रेष्ठ शैलादिको बुलाकर कहा—वीर! जाओ और संग्राममे दैत्योको मारो। वृषभध्वजके ऐसा कहनेपर शिलादके पुत्र नन्दीने वज्र ले करके बलिके पास जाकर उसके सिरपर वार किया, जिससे वह अचेत होकर धरतीपर गिर-पडा। अपने भतीजेको बेहोश जानकर बलवान् कुजम्भने क्रुद्ध हो मुसल लेकर उसे घुमाते हुए नन्दीकी ओर तेजीमे फेका। भगवान् नन्दीने आते हुए उस मुसलको तुरन्त हाथसे पकड़ लिया और उसीसे युद्धमे कुजम्भको मार दिया। वह प्राणहीन होकर भूमिपर गिर पड़ा॥ ४१—४४॥

हत्वा कुजम्भं मुसलेन नन्दी वज्रेण वीरः शतशो जघान।
ते वध्यमाना गणनायकेन दुर्योधनं वै शरणं प्रपन्नाः॥ ४५॥
दुर्योधनः प्रेक्ष्य गणाधिपेन वज्रप्रहारैर्निहतान् दितीशान्।
प्रासं समाविध्य तडित्प्रकाशं नन्दिं प्रचिक्षेप हतोऽसि वै ब्रुवन्॥ ४६॥
तमापतन्तं कुलिशेन नन्दी बिभेद गुह्यं पिशुनो यथा नरः।
तत्प्रासमालक्ष्य तदा निकृत्तं संवर्त्य मुष्टिं गणमाससाद॥ ४७॥
ततोऽस्य नन्दी कुलिशेन तूर्णं शिरोऽच्छिनत् तालफलप्रकाशम्।
हतोऽथ भूमौ निपपात वेगाद् दैत्याश्च भीता विगता दिशो दश॥ ४८॥

वीर नन्दीने कुजम्भको मुसलसे मारकर वज्रद्वारा सैकड़ो दानवोंको भी मार डाला। गणनायकद्वारा मारे जा रहे वे सभी दानव दुर्योधनकी शरणमे गये। दुर्योधनने गणाधिपद्वारा वज्रके आघातसे दैत्योको मारा हुआ देखकर

बिजलीके सदृश प्रकाशसे युक्त प्रास ले लिया तथा 'तुम मारे गये' ऐसा कहते हुए उसे नन्दीकी ओर फेंका। नन्दीने आ रहे उस-(प्रास-) को वज्रसे इस प्रकार टुकडे-टुकडे काट दिया, जैसे चुगलखोर व्यक्ति गुप्त विषयका भेदन कर देता है। उसके बाद उस प्रासको विदीर्ण हुआ देख (दुर्योधन) मुट्ठी बाँधकर गण (नन्दी)के पास पहुँचा। उसके बाद ही नन्दीने शीघ्रतासे तालके समान उसके मस्तकको कुलिशसे काट डाला। मारे जानेपर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और भयभीत हुए सभी दैत्य तेजीसे दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४५—४८ ॥

ततो हतं स्वं तनयं निरीक्ष्य हस्ती तदा नन्दिनमाजगाम।
प्रगृह्य बाणासनमुग्रवेगं बिभेद बाणैर्यमदण्डकल्पैः ॥ ४९ ॥
गणान् सनन्दीन् वृषभध्वजांस्तान् धाराभिरेवाम्बुधरास्तु शैलान्।
ते छाद्यमानाः सुरबाणजालैर्विनायकाद्या बलिनोऽपि वीराः।
सिंहप्रणुन्ना वृषभा यथैव भयातुरा दुद्रुविरे समन्तात् ॥ ५० ॥
पराङ्मुखान् वीक्ष्य गणान् कुमारः शक्त्या पृषत्कानथ वारयित्वा।
तूर्णं समभ्येत्य रिपुं समीक्ष्य प्रगृह्य शक्त्या हृदये बिभेद ॥ ५१ ॥
शक्तिनिर्भिन्नहृदयो हस्ती भूम्यां पपात ह। ममार चारिपृतना जाता भूयः पराङ्मुखी ॥ ५२ ॥
अमरारिबलं दृष्ट्वा भग्नं क्रुद्धा गणेश्वराः। पुरतो नन्दिनं कृत्वा जिघ्रांसन्ति स्म दानवान् ॥ ५३ ॥
ते वध्यमानाः प्रमथैर्दैत्याश्चापि पराङ्मुखाः। भूयो निवृत्ता बलिनः कार्त्तस्वरपुरोगमाः ॥ ५४ ॥

हस्ती (नामक असुर) अपने पुत्रको मारा गया देखकर नन्दीके समीप आ गया। उसने धनुष लेकर तीव्र वेगसे यमदण्डके समान बाणोंसे वार किया। बादल जिस प्रकार जलकी धाराओंसे पर्वतोंको ढँक देता है, उसी प्रकार उसने नन्दीके साथ वृषभध्वजके उन गणोंको ढँक दिया। असुरके बाणसमूहसे घिरे वे विनायक आदि बलशाली वीर सिंहके द्वारा आक्रमण किये जानेपर वृषभोंकी भाँति भयसे व्याकुल होकर चारों ओर भागने लगे। कुमारने गणोंको विमुख होते देख शक्तिद्वारा बाणोंको रोक दिया और तुरन्त ही शत्रुके पास पहुँचकर शक्तिसे उसके हृदयको वेध डाला। शक्तिसे हृदयके विंध जानेपर हस्ती भूमिपर गिर पड़ा तथा मर गया और शत्रुसेना फिर पीठ दिखाकर विमुख हो गयी। दैत्यसेनाको छिन्न-भिन्न हुई देखकर कुपित हुए गणेश्वर नन्दीको आगे कर दानवोंको और मारने लगे; किंतु प्रमथोंद्वारा मारे जा रहे वे सभी विमुख बलशाली कार्त्तस्वरादि दैत्य फिर लौट पड़े ॥ ४९—५४ ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव क्रोधदीप्तेक्षणः श्वसन्। नन्दिषेणो व्याघ्रमुखो निवृत्तश्चापि वेगवान् ॥ ५५ ॥
तस्मिन् निवृत्ते गणपे पट्टिशाग्रकरे तदा। कार्त्तस्वरो निववृते गदामादाय नारद ॥ ५६ ॥
तमापतन्तं ज्वलनप्रकाशं गणः समीक्ष्यैव महासुरेन्द्रम्।
तं पट्टिशं भ्राम्य जघान मूर्ध्नि कार्त्तस्वरं विस्वरमुन्नदन्तम् ॥ ५७ ॥
तस्मिन् हते भ्रातरि मातुलेये पाशं समाविध्य तुरङ्गकन्धरः।
बबन्ध वीरः सह पट्टिशेन गणेश्वरं चाप्यथ नन्दिषेणम् ॥ ५८ ॥
नन्दिषेणं तथा बद्धं समीक्ष्य बलिनां वरः। विशाखः कुपितोऽभ्येत्य शक्तिपाणिरवस्थितः ॥ ५९ ॥
तं दृष्ट्वा बलिनां श्रेष्ठः पाशपाणिरयःशिराः। संयोधयामास बली विशाखं कुक्कुटध्वजम् ॥ ६० ॥

उन्हें लौटकर आते देख वेगशाली व्याघ्रमुख नन्दिषेण भी क्रोधसे आँखें लाल कर हाँफता हुआ लौट पड़ा। नारदजी! उसके बाद हाथके अग्रभागमें पट्टिश लिये हुए उस गणाधिपके लौटनेपर कार्त्तस्वर भी

गदा लेकर लौट पड़ा। अग्निके समान प्रकाशवाले उस महासुरेन्द्रको आते देखकर गणपतिने पट्टिश घुमाकर उसके मस्तकपर मारा। कार्तस्वर चीत्कार करता हुआ मर गया। उस ममेरे भाईके मारे जानेपर वीर तुरङ्गकन्धरने पाशको लेकर पट्टिशके सहित नन्दिषेण गणेश्वरको बाँध लिया। नन्दिषेणको बँधा देखकर बलवानोंमें श्रेष्ठ विशाख क्रुद्ध होकर उसके पास गये और हाथमे शक्ति लिये हुए (उसके सामने) खडे हो गये। उन्हें देखकर बलवानोंमें श्रेष्ठ अयःशिरा हाथमें पाश लेकर कुक्कुटध्वज विशाखके साथ संग्राम करने लगा॥ ५५—६०॥

विशाखं संनिरुद्धं वै दृष्ट्वाऽयःशिरसा रणे। शाखश्च नैगमेयश्च तूर्णमाद्रवतां रिपुम्॥ ६१॥
एकतो नैगमेयेन भिन्नः शक्त्या त्वयःशिराः। एकतश्चैव शाखेन विशाखप्रियकाम्यया॥ ६२॥
स त्रिभिः शङ्करसुतैः पीड्यमानो जहौ रणम्। ते प्राप्ताः शम्बरं तूर्णं प्रेक्ष्यमाणा गणेश्वराः॥ ६३॥
पाशं शक्त्या समाहत्य चतुर्भिः शङ्करात्मजैः। जगाम विलयं तूर्णमाकाशादिव भूतलम्॥ ६४॥
पाशे निराशतां याते शम्बरः कातरेक्षणः। दिशोऽथ भेजे देवर्षे कुमारः सैन्यमर्दयत्॥ ६५॥
तैर्वध्यमाना पृतना महर्षे सा दानवी रुद्रसुतैर्गणैश्च।
विषण्णरूपा भयविह्वलाङ्गी जगाम शुक्रं शरणं भयार्ता॥ ६६॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

विशाखको अयःशिराके द्वारा युद्धमे घिरा हुआ देखकर शाख तथा नैगमेय नामके गण शीघ्रतासे शत्रुकी ओर दौड़ पड़े। विशाखको प्रसन्न करनेकी इच्छासे एक ओरसे नैगमेयने और दूसरी ओरसे शाखने शक्तिद्वारा अयःशिराको मारा। शंकरके तीनो पुत्रोंद्वारा ग्रस्त होनेपर उस अयःशिराने युद्ध छोड़ दिया। वे गणेश्वर शम्बरको देखकर शीघ्र ही उसके समीप पहुँचे। शम्बरने पाशको घुमाकर उनपर चलाया। शंकरके चार पुत्रोंने पाशपर वार किया, (इससे वह पाश) आकाशसे भूमिपर गिरकर नष्ट हो गया। पाशके नष्ट हो जानेपर भयभीत होकर शम्बर (इधर-उधर) दिशाओंमे भाग गया और कुमार सेनाको रौंदने लगे। महर्षे! उन रुद्र-पुत्रों एवं गणोद्वारा मारी जा रही वह दानवी सेना दुःखो एवं भयसे व्याकुल होकर शुक्रकी शरणमें गयी॥ ६१—६६॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अड़सठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ६८॥

[अथैकोनसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः स्वसैन्यमालक्ष्य निहतं प्रमथैरथ। अन्धकोऽभ्येत्य शुक्रं तु इदं वचनमब्रवीत्॥ १॥
भगवंस्त्वां समाश्रित्य वयं बाधाम देवताः। अथान्यानपि विप्रर्षे गन्धर्वसुरकिन्नरान्॥ २॥
तदियं पश्य भगवन् मया गुप्ता वरूथिनी। अनाथेव यथा नारी प्रमथैरपि काल्यते॥ ३॥
कुजम्भाद्याश्च निहता भ्रातरो मम भार्गव। अक्षयाः प्रमथाश्चामी कुरुक्षेत्रफलं यथा॥ ४॥

उनहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(शुक्रद्वारा संजीवनीका प्रयोग, नन्दि-दानव-युद्ध, शिवका शुक्रको उदरस्थ रखना, शुक्रकृत शिवस्तुति और विश्व-दर्शन, प्रमथ-देवोंसे युद्धमें दैत्योंकी हार, शिववेषमें अन्धकका पार्वतीहेतु विफलप्रयास, पुनः दैत्य-देव और इन्द्र-जम्भ-युद्ध, मातलिका जन्म और सारथ्य, दैत्योका नाश, जम्भ-कुजम्भ-वध)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) उसके बाद अन्धकने अपनी सेनाको प्रमथोद्वारा मारी गयी जान करके शुक्राचार्यके निकट जाकर यह वचन कहा—भगवन्! विप्रर्षे! हम आपके ही बलपर देवता, गन्धर्व, असुर, किन्नर एवं अन्य

प्राणियोंको बाधित (पराभूत) करते हैं। परंतु भगवन् ! आप देखिये कि मेरे द्वारा संरक्षित (हमारी) यह सेना अनाथिनी नारी-सी होकर प्रमथोंद्वारा कालके मुखमें भेजी जा रही है। भार्गव ! कुजम्भ आदि मेरे भाई तो मारे गये और ये प्रमथगण (अबतक) कुरुक्षेत्रतीर्थके फलके सदृश अक्षय बने हुए हैं ॥ १-४ ॥

तस्मात् कुरुष्व श्रेयो नो न जीयेम यथा परैः। जयेम च परान् युद्धे तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥
शुक्रोऽन्धकवचः श्रुत्वा सान्त्वयन् परमाद्भुतम्।
वचनं प्राह देवर्षे ब्रह्मर्षिर्दानवेश्वरम्। त्वद्धितार्थं यतिष्यामि करिष्यामि तव प्रियम् ॥ ६ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं विद्यां संजीवनीं कविः। आवर्तयामास तदा विधानेन शुचिव्रतः ॥ ७ ॥
तस्यामावर्त्यमानायां विद्यायामसुरेश्वराः। ये हताः प्रथमं युद्धे दानवास्ते समुत्थिताः ॥ ८ ॥

अतः आप हमलोगोंके लिये कल्याणका विधान करें, जिससे हमलोग शत्रुओंके द्वारा जीते न जायँ और ऐसा भी उपाय करें जिससे हमलोग युद्धमें दूसरोंको जीत सकें। देवर्षे ! ब्रह्मर्षि शुक्राचार्यने अन्धककी बातको सुनकर दानवेश्वरको आश्वासन देते हुए उससे कहा—मैं तुम्हारे कल्याणके लिये उद्योग करूँगा और तुम्हारा प्रिय करूँगा। ऐसा कहकर पवित्र व्रतवाले शुक्राचार्यने विधानके अनुसार सजीवनी विद्याको प्रकट किया। उस विद्याके प्रकट होनेपर युद्धमें पहले मारे गये (सभी) असुरेश्वर और दानव जी उठे ॥ ५-८ ॥

कुजम्भादिषु दैत्येषु भूय एवोत्थितेष्वथ। युद्धायाभ्यागतेष्वेव नन्दी शङ्करमब्रवीत् ॥ ९ ॥
महादेव वचो मह्यं शृणु त्वं परमाद्भुतम्। अविचिन्त्यमसह्यं च मृतानां जीवनं पुनः ॥ १० ॥
ये हताः प्रमथैर्दैत्या यथाशक्त्या रणाजिरे। ते समुज्जीविता भूयो भार्गवेणाथ विद्यया ॥ ११ ॥
तदिदं तैर्महादेव महत्कर्मकृतं रणे। संजातं स्वल्पमेवेश शुक्रविद्याबलाश्रयात् ॥ १२ ॥

उसके बाद कुजम्भ आदि दैत्योंके फिर उठ खड़े होने तथा युद्ध करनेके लिये उपस्थित होनेपर नन्दीने शंकरसे कहा—महादेव ! आप मेरा अत्यन्त अद्भुत वचन सुनिये। मरे हुए लोगोंका फिर भी जी उठना कल्पनासे परे तथा असहनीय है। संग्राममें प्रमथोंने जिन दैत्योंको बलपूर्वक मारा था, उन्हें भार्गवने संजीवनी विद्याद्वारा पुनः जीवित कर दिया। अतः हे महादेव ! हे ईश ! उन सभीने युद्धमें जो उत्कृष्ट कार्य किया था, वह शुक्रकी विद्याके बलसे महत्त्वहीन हो गया है—सबपर पानी फिर गया है ॥ ९-१२ ॥

इत्येवमुक्ते वचने नन्दिना कुलनन्दिना। प्रत्युवाच प्रभुः प्रीत्या स्वार्थसाधनमुत्तमम् ॥ १३ ॥
गच्छ शुक्रं गणपते ममान्तिकमुपानय। अहं तं संयमिष्यामि यथायोगं समेत्य हि ॥ १४ ॥
इत्येवमुक्तो रुद्रेण नन्दी गणपतिस्ततः। समाजगाम दैत्यानां चमूं शुक्रजिघृक्षया ॥ १५ ॥
तं ददर्शासुरश्रेष्ठो बलवान् हयकन्धरः। संरुरोध तदा मार्गं सिंहस्येव पशुर्वने ॥ १६ ॥
समुपेत्याहनन्नन्दी वज्रेण शतपर्वणा। स पपाताथ निःसंज्ञो ययौ नन्दी ततस्त्वरन् ॥ १७ ॥

कुलको आनन्द देनेवाले नन्दीके इस प्रकार कहनेपर महादेवने स्नेहपूर्वक स्वार्थसिद्ध करनेवाला उत्तम वचन कहा—गणपते ! तुम जाओ और शुक्रको मेरे समीप लिवा लाओ। (फिर तो) मैं उन्हें पाकर योग-क्रियासे संयमित कर दूँगा। रुद्रके ऐसा कहनेपर गणपति नन्दी शुक्राचार्यको पकड़ लानेकी कामनासे दैत्योंकी सेनामें गये। हयकन्धर नामके बलवान् श्रेष्ठ असुरने उन्हें सेनामें आते हुए देखा और जिस प्रकार साधारण पशु (दुस्साहससे) वनमें सिंहका मार्ग रोक दे, उसी प्रकार उनके मार्गको उसने रोका। नन्दीने समीप जाकर शतपर्व-(वज्र-) से उसे मारा और वह अचेत होकर गिर पड़ा। उसके बाद नन्दी तुरंत वहाँसे चल दिये ॥ १३-१७ ॥

ततः कुजम्भो जम्भश्च बलो वृत्रस्त्वयःशिराः । पञ्च दानवशार्दूला नन्दिनं समुपाद्रवन् ॥ १८ ॥
तथाऽन्ये दानवश्रेष्ठा मयह्लादपुरोगमाः । नानाप्रहरणा युद्धे गणनाथमभिद्रवन् ॥ १९ ॥
ततो गणानामधिपं कुट्यमानं महाबलैः । समपश्यन्त देवास्तं पितामहपुरोगमाः ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा प्राह शक्रपुरोगमान् । साहाय्यं क्रियतां शम्भोरेतदन्तरमुत्तमम ॥ २१ ॥

उसके बाद कुजम्भ, जम्भ, बल, वृत्र और अयःशिरा नामके पाँच श्रेष्ठ दानव नन्दीकी ओर दौड़े । इसी प्रकार युद्धमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करनेवाले मय एवं ह्लाद आदि दानवश्रेष्ठोंने भी नन्दीका पीछा किया । फिर पितामहादि देवोंने महाबली दानवोंके द्वारा कूटे जा रहे गणाधिपको देखा । भगवान् ब्रह्माने उसे देखकर इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—आप लोग इस उत्तम (उपयुक्त) अवसरपर शम्भुकी सहायता करें ॥ १८–२१ ॥

पितामहोक्तं वचनं श्रुत्वा देवाः सवासवाः । समापतन्त वेगेन शिवसैन्यमथाम्बरात् ॥ २२ ॥
तेषामापततां वेगः प्रमथानां बले बभौ । आपगानां महावेगं पतन्तीनां महार्णवे ॥ २३ ॥
ततो हलहलाशब्दः समजायत चोभयोः । बलयोर्घोरसंकाशो सुरप्रमथयोरथ ॥ २४ ॥
तमन्तरमुपागम्य नन्दी संगृह्य वेगवान् । रथाद् भार्गवमाक्रामत् सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २५ ॥
तमादाय हराभ्याशमागमद् गणनायकः । निपात्य रक्षिणः सर्वानथ शुक्रं न्यवेदयत् ॥ २६ ॥
तमानीतं कविं शर्वः प्राक्षिपद् वदने प्रभुः । भार्गवं त्वावृततनुं जठरे स न्यवेशयत् ॥ २७ ॥
स शम्भुना कविश्रेष्ठो ग्रस्तो जठरमास्थितः । तुष्टाव भगवन्तं तं मुनिर्वाग्भिरथादरात् ॥ २८ ॥

पितामहके कहे हुए वचनको सुनकर इन्द्र आदि देवता आकाशमार्गसे जल्दी ही शिवकी सेनामें आ गये । समुद्रमें जाती हुई नदियोंके महावेगके सदृश प्रमथोंकी सेनामें (आकाशसे) आते हुए देवताओंका वेग सुशोभित हुआ । उसके बाद प्रमथों और असुरों—दोनों पक्षोंकी सेनाओंमें भीषण 'हलहला' शब्द उत्पन्न हुआ । उसी समय अवसर पाकर तीव्र गतिवाले नन्दी, जिस प्रकार सिंह क्षुद्र मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार भार्गवको लेकर रथसे भाग चले । गणनायक उन्हें लेकर सभी रक्षा करनेवालोंको मारते हुए शंकरके पास पहुँच गये । शुक्राचार्यको उन्होंने उनके निकट निवेदित कर दिया । समर्थ शंकरने लाये गये उन शुक्रको अपने मुखमें फेंका और अक्षुण्ण शरीरवाले भार्गवको अपने उदरमें (ज्यों-का-त्यों) रख लिया । शम्भुसे ग्रस्त होकर उनके उदरमें स्थित हुए वे मुनिश्रेष्ठ शुक्र प्रेमपूर्वक उन भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ २२–२८ ॥

शुक्र उवाच

वरदाय नमस्तुभ्यं हराय गुणशालिने । शङ्कराय महेशाय त्र्यम्बकाय नमो नमः ॥ २९ ॥
जीवनाय नमस्तुभ्यं लोकनाथ वृषाकपे । मदनाग्ने कालशत्रो वामदेवाय ते नमः ॥ ३० ॥
स्थाणवे विश्वरूपाय वामनाय सदागते । महादेवाय शर्वाय ईश्वराय नमो नमः ॥ ३१ ॥

त्रिनयन हर भव शङ्कर उमापते जीमूतकेतो गुहागृह श्मशाननिरत भूतिविलेपन शूलपाणे पशुपते गोपते तत्पुरुषसत्तम नमो नमस्ते ।

इत्थं स्तुतः कविवरेण हरोऽथ भक्त्या प्रीतो वरं वरय दद्मि तवेत्युवाच ।
स प्राह देववर देहि वरं ममाद्य यद्वै तवैव जठरात् प्रतिनिर्गमोऽस्तु ॥ ३२ ॥
ततो हरोऽक्षीणि तदा निरुध्य प्राह द्विजेन्द्राद्य विनिर्गमस्व ।
इत्युक्तमात्रो विभुना चचार देवोदरे भार्गवपुङ्गवस्तु ॥ ३३ ॥

शुक्रने कहा—प्रभो ! गुणसे सम्पन्न आप वरदानी हरको नमस्कार है । शंकर, महेश, त्रिनेत्रको बार-बार नमस्कार है । लोकोंके स्वामिन् ! वृषाकपे ! आप जीवनस्वरूपको नमस्कार है । हे कामदेवके लिये अग्निस्वरूप ! कालशत्रो ! आप वामदेवको नमस्कार है । स्थाणु, विश्वरूप, वामन, सदागति, महादेव, शर्व और ईश्वर ! आपको बार-बार नमस्कार है । हे त्रिनयन ! हे हर ! हे भव ! हे शंकर ! हे उमापते ! हे जीमूतकेतो ! हे गुहागृह ! हे श्मशाननिरत ! हे भूतिविलेपन ! हे त्रिशूलधारिन् ! हे पशुपते ! हे गोपते ! हे श्रेष्ठ परमपुरुष ! आपको बार-बार नमस्कार है । इस प्रकार कविवर-(शुक्राचार्य-)के भक्तिपूर्वक स्तुति करनेपर शंकरने कहा—मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । तुम वर माँगो; मैं तुम्हे वर दूँगा । उन्होने कहा—हे देववर ! इस समय मुझे यही वर दीजिये कि मैं पुनः आपके उदरसे बाहर निकलूँ । उसके बाद शंकरने नेत्रोको बंदकर कहा—हे द्विजेन्द्र ! अब तुम बाहर निकल जाओ ! (परंतु) शंकरके इस प्रकार कहनेपर भी वे भार्गवश्रेष्ठ शुक्राचार्य उनके उदरमे विचरण करने लगे ॥ २९—३३ ॥

परिभ्रमन् ददर्शाथ शम्भोरेवोदरे कविः । भुवनार्णवपातालान् वृतान् स्थावरजङ्गमैः ॥ ३४ ॥
आदित्यान् वसवो रुद्रान् विश्वेदेवान् गणांस्तथा । यक्षान् किंपुरुषाद्यादीन् गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥ ३५ ॥
मुनीन् मनुजसाध्यांश्च पशुकीटपिपीलिकान् । वृक्षगुल्मान् गिरीन् वल्ल्यः फलमूलौषधानि च ॥ ३६ ॥
स्थलस्थांश्च जलस्थांश्चानिमिषान्निमिषानपि । चतुष्पदान् सद्विपदान् स्थावरान् जङ्गमानपि ॥ ३७ ॥
अव्यक्तांश्चैव व्यक्तांश्च सगुणान्निर्गुणानपि ।
स दृष्ट्वा कौतुकाविष्टः परिबभ्राम भार्गवः । तत्रासतो भार्गवस्य दिव्यः संवत्सरो गतः ॥ ३८ ॥
न चान्तमलभद् ब्रह्मंस्ततः श्रान्तोऽभवत् कविः ।
स श्रान्तं वीक्ष्य चात्मानं नालभन्निर्गमं वशी । भक्तिनम्रो महादेवं शरणं समुपागमत् ॥ ३९ ॥

(भगवान् शंकरके उदरमें) विचरण करते हुए शुक्राचार्यने शंकरके ही उदरमें चराचर प्राणियोंसे व्याप्त सारा जगत्, समुद्र एवं पातालोको देखा । आदित्यो, वसुओ, रुद्रो, विश्वेदेवो, गणो, यक्षो, किम्पुरुषों, गन्धर्वों, अप्सराओ, मुनियो, मनुष्यो, साध्यो, पशुओ, कीटो, पिपीलिकाओ, वृक्षो, गुल्मो, पर्वतो, लताओ, फलों, मूलो, ओषधियो, स्थलपर रहनेवालो, जलमें रहनेवालो, अनिमिषो, निमिषो, चतुष्पदो, द्विपदो, स्थावरो, जङ्गमो, अव्यक्तो, व्यक्तो, सगुणो एवं निर्गुणोको देखते हुए कुतूहलवश (उसी उदरमे ही) भार्गव चारो ओर घूमने लगे । भृगु-वंशी शुक्राचार्यको वहाँ इस प्रकार रहते हुए एक दिव्य वर्ष बीत गया । परंतु ब्रह्मन् ! शुक्रको अन्त नहीं मिला और वे थक गये । स्वयंको थका हुआ देखकर और बाहर निकलनेका मार्ग न पाकर आत्माको वशमें करनेवाले वे भक्तिसे नम्र होकर महादेवकी शरणमे आ गये ॥ ३४—३९ ॥

शुक्र उवाच

विश्वरूप महारूप विश्वरूपाक्षसूत्रधृक् । सहस्राक्ष महादेव त्वामहं शरणं गतः ॥ ४० ॥
नमोऽस्तु ते शङ्कर शर्व शम्भो सहस्रनेत्राङ्घ्रिभुजङ्गभूषण ।
दृष्ट्वैव सर्वान् भुवनांस्तवोदरे श्रान्तो भवन्तं शरणं प्रपन्नः ॥ ४१ ॥
इत्येवमुक्ते वचने महात्मा शम्भुर्वचः प्राह ततो विहस्य ।
निर्गच्छ पुत्रोऽसि ममाधुना त्वं शिश्नेन भो भार्गववंशचन्द्र ॥ ४२ ॥
नाम्ना तु शुक्रेति चराचरास्त्वां स्तोष्यन्ति नैवात्र विचारमन्यत् ।
इत्येवमुक्त्वा भगवान् मुमोच शिश्नेन शुक्रं स च निर्जगाम ॥ ४३ ॥
विनिर्गतो भार्गववंशचन्द्रः शुक्रत्वमापद्य महानुभावः ।
प्रणम्य शम्भुं स जगाम तूर्णं महासुराणां बलमुत्तमौजाः ॥ ४४ ॥

शुक्रने कहा—हे विश्वरूप ! हे महारूप ! हे विश्वरूपाक्ष ! हे सूत्रधारिन् ! हे सहस्राक्ष ! हे महादेव ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। हे शंकर ! हे शर्व ! हे शम्भो ! हे सहस्रनेत्राङ्घ्रि ! हे सर्पभूषण ! आपके उदरमें सभी भुवनोंको देखते-देखते थककर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। इस प्रकारके वचन कहनेपर महात्मा शम्भुने हँसकर यह वचन कहा—अब तुम मेरे पुत्र हो गये हो। इसलिये हे भार्गववंशके चन्द्र ! मेरे शिश्नसे बाहर निकलो। अब समस्त चराचर जगत् तुम्हारी स्तुति शुक्रके नामसे करेगा। इसमें किसी अन्य प्रकारके विचारका स्थान नहीं है। ऐसा कहकर भगवान्‌ने शिश्न-मार्गसे शुक्रको मुक्त कर दिया और वे बाहर निकल आये। शुक्रत्व प्राप्तकर बाहर निकले ओजस्वी महानुभाव भार्गववंशचन्द्र शम्भुको प्रणामकर शीघ्र महासुरोंकी सेनामें चले गये ॥ ४०—४४ ॥

भार्गवे पुनरायाते दानवा मुदिताभवन्। पुनर्युद्धाय चिदधुर्मतिं सह गणेश्वरैः ॥ ४५ ॥
गणेश्वरास्तानसुरान् सहामरगणैरथ। युयुधुः संकुलं युद्धं सर्व एव जयेप्सवः ॥ ४६ ॥
ततोऽसुरगणानां च देवतानां च युध्यताम्। द्वन्द्वयुद्धं समभवद् घोररूपं तपोधन ॥ ४७ ॥
अन्धको नन्दिनं युद्धे शङ्कुकर्णं त्वयःशिराः। कुम्भध्वजं बलिर्धीमान् नन्दिषेणं विरोचनः ॥ ४८ ॥

शुक्राचार्यके वापस आ जानेपर दानव प्रसन्न हो गये। उन्होंने गणेश्वरोंके साथ फिर युद्ध करनेका विचार किया। उसके बाद देवताओंसहित विजयकी कामनावाले सभी गणेश्वरोंने उन असुरोंसे भयंकर युद्ध किया। हे तपोधन ! उसके बाद युद्ध करनेमें लगे हुए असुरगणों एवं देवताओंमें भयानक द्वन्द्वयुद्ध हुआ। अन्धक नन्दीके साथ, अयःशिरा शङ्कुकर्णके साथ, बुद्धिमान् बलि कुम्भध्वजके साथ एवं विरोचन नन्दिषेणके साथ भिड़ गये ॥ ४५—४८ ॥

अश्वग्रीवो विशाखं च शाखो वृत्रमयोधयत्। बाणस्तथा नैगमेयं बलं राक्षसपुङ्गवः ॥ ४९ ॥
विनायको महावीर्यः परश्वधधरो रणे।
संक्रुद्धो राक्षसश्रेष्ठं तुहुण्डं समयोधयत्। दुर्योधनश्च बलिनं घण्टाकर्णमयोधयत् ॥ ५० ॥
हस्ती च कुण्डजठरं ह्लादो वीरं घटोदरम्।
एते हि बलिनां श्रेष्ठा दानवाः प्रमथास्तथा। संयोधयन्ति देवर्षे दिव्याब्दानां शतानि षट् ॥ ५१ ॥
शतक्रतुमथायान्तं वज्रपाणिमभिस्थितम्। वारयामास बलवाञ् जम्भो नाम महासुरः ॥ ५२ ॥

अश्वग्रीव विशाखके साथ और शाख वृत्रके साथ, बाण नैगमेयके साथ और राक्षसपुंगव बलके साथ लड़ने लगा। युद्धमें कुपित होकर परशु धारण करनेवाले महापराक्रमी विनायक राक्षसश्रेष्ठ तुहुण्डके साथ भिड़ गये और दुर्योधन बलशाली घण्टाकर्णके साथ युद्ध करने लगा। हस्ती कुण्डजठरके साथ और ह्लाद वीर घटोदरसे लड़ने लगा। देवर्षे ! बलवानोंमें श्रेष्ठ ये सभी दानव एवं प्रमथगण आपसमें छः सौ दिव्य वर्षोंतक संग्राम करते रहे। जम्भ नामके बलशाली असुरने सामने आ रहे वज्रपाणि इन्द्रको रोक लिया ॥ ४९—५२ ॥

शम्भुर्नामाऽसुरपतिः स ब्रह्माणमयोधयत्। महौजसं कुजम्भश्च विष्णुं दैत्यान्तकारिणम् ॥ ५३ ॥
विपश्यन्तं रणे शाल्वो वरुणं त्रिशिरास्तथा। द्विमूर्धा पवनं सोमं राहुर्मित्रं विरूपधृक् ॥ ५४ ॥
अष्टौ ये वसवः ख्याता धराद्यास्ते महासुरान्। अष्टावेव महेष्वासान् वारयामासुराहवे ॥ ५५ ॥
सरभः शलभः पाकः पुरोऽथ विपृथुः पृथुः। वातापी चेल्वलश्चैव नानाशस्त्रास्त्रयोधिनः ॥ ५६ ॥
विश्वेदेवगणान् सर्वान् विष्वक्सेनपुरोगमान्। एक एव रणे रौद्रः कालनेमिर्महासुरः ॥ ५७ ॥

शम्भु नामका असुरराज ब्रह्मासे लड़ने लगा और कुजम्भ दैत्योंका अन्त करनेवाले महान् ओजस्वी विष्णुसे युद्ध करने लगा। शाल्व सूर्यसे, त्रिशिरा वरुणसे, द्विमूर्धा पवनसे, राहु सोमसे और विरूपधृक् मित्रसे लड़ने लगा। धरादि नामसे विख्यात आठ वसुओंने सरभ, शलभ, पाक, पुर, विपृथु, पृथु, वातापी और इल्वल—इन आठ महान् धनुर्धारी असुरोंको युद्धमे लड़कर (पीछे) हटा दिया। ये असुर भाँति-भाँतिके शस्त्र और अस्त्र लेकर लड़ने लगे। कालनेमि नामका भयंकर महासुर युद्धमें अकेला ही विष्वक्सेन आदि विश्वेदेव गणोंसे युद्ध करने लगा॥ ५३—५७॥

एकादशैव ये रुद्रास्तानेकोऽपि रणोत्कटः। योधयामास तेजस्वी विद्युन्माली महासुरः॥ ५८॥
द्वावश्विनौ च नरको भास्करानेव शम्बरः। साध्यान् मरुद्गणांश्चैव निवातकवचादयः॥ ५९॥
एवं द्वन्द्वसहस्राणि प्रमथामरदानवैः। कृतानि च सुराब्दानां दशतीः पञ्चमहामुने॥ ६०॥
यदा न शकिता योद्धुं दैवतैरमरारयः। तदा मायां समाश्रित्य ग्रसन्तः क्रमशोऽन्वयान्॥ ६१॥

रणमे उत्कट तेजवाले विद्युन्माली नामके महासुरने अकेले ही एकादश रुद्रोंका (डटकर) सामना किया। नरकने दोनों अश्विनीकुमारोंसे, शम्बरने (द्वादश) भास्करोंसे एवं निवातकवचादिने साध्यों तथा मरुद्गणोंसे युद्ध किया। महामुने! इस प्रकार आठ दिव्य वर्षोंतक प्रमथों एवं दानवोंके हजारोंकी संख्यामें दो-दो लड़ाके वीर आपसमें द्वन्द्वयुद्ध करते रहे। जब असुरगण इस प्रकार देवोंसे युद्ध करनेमें समर्थहीन हो गये, तब उन लोगोंने मायाका सहारा लेकर देवोंको क्रमशः निगलना प्रारम्भ कर दिया॥ ५८—६१॥

ततोऽभवच्छैलपृष्ठं प्रावृडभ्रसमप्रभैः। आवृतं वर्जितं सर्वैः प्रमथैरमरैरपि॥ ६२॥
दृष्ट्वा शून्यं गिरिप्रस्थं ग्रस्तांश्च प्रमथामरान्। क्रोधादुत्पादयामास रुद्रो जृम्भायिकां वशी॥ ६३॥
तया स्पृष्टा दनुसुता अलसा मन्दभाषिणः। वदनं विकृतं कृत्वा मुक्तशस्त्रं विजृम्भिरे॥ ६४॥
जृम्भमाणेषु च तदा दानवेषु गणेश्वराः। सुराश्च निर्ययुस्तूर्णं दैत्यदेहेभ्य आकुलाः॥ ६५॥

उसके बाद सारे प्रमथों और देवोंसे रहित पर्वत वर्षाकालीन मेघके समान दानवोंसे ढक गया। पर्वत-प्रान्तको शून्य और प्रमथों तथा देवोंको ग्रसित हुआ देखकर विजितेन्द्रिय रुद्रने क्रोधसे जृम्भायिकाको उत्पन्न किया। उसके स्पर्श करनेपर अस्त्रोंको छोड़कर धीरे-धीरे बोलते हुए आलस्यसे पूर्ण दानव मुखको विवर्ण बनाकर जँभाई लेने लगे। दानवोंके जँभाई लेते समय आकुल होकर गणेश्वर एवं देवतालोग दैत्योंकी देहसे अविलम्ब बाहर निकल गये॥ ६२—६५॥

मेघप्रभेभ्यो दैत्येभ्यो निर्गच्छन्तोऽमरोत्तमाः। शोभन्ते पद्मपत्राक्षा मेघेभ्य इव विद्युतः॥ ६६॥
गणामरेषु च समं निर्गतेषु तपोधन। अयुध्यन्त महात्मानो भूय एवातिकोपिताः॥ ६७॥
ततस्तु देवैः सगणैः दानवाः शर्वपालितैः। पराजीयन्त संग्रामे भूयो भूयस्त्वहर्निशम्॥ ६८॥
ततस्त्रिनेत्रः स्वां संध्यां सप्ताब्दशतिके गते। कालेऽभ्युपासत तदा सोऽष्टादशभुजोऽव्ययः॥ ६९॥

मेघके समान दैत्योंके शरीरसे बाहर निकल रहे कमलके सदृश आँखोंवाले श्रेष्ठ देवगण बादलसे निकलनेवाली बिजलीकी भाँति शोभित हो रहे थे। तपोधन! गणों और देवोंके बाहर आ जानेपर वे महान् (दैत्य) अत्यन्त कुपित होकर युद्ध करने लगे। उसके बाद शम्भुसे पालित गणों एवं देवोंने युद्धमें दानवोंको दिन-रात बारम्बार हराया। उसके बाद सात सौ वर्षोंका समय बीत जानेपर अठारह भुजाओंवाले अविनाशी त्र्यम्बक शंकर अपनी नित्यक्रियाकी सन्ध्या करने लगे॥ ६६—६९॥

संस्पृश्यापः सरस्वत्यां स्नात्वा च विधिना हरः । कृतार्थो भक्तिमान् मूर्ध्ना पुष्पाञ्जलिमुपाक्षिपत् ॥ ७० ॥
ततो ननाम शिरसा ततश्चक्रे प्रदक्षिणम् । हिरण्यगर्भेत्यादित्यमुपतस्थे जजाप ह ॥ ७१ ॥
त्वष्ट्रे नमो नमस्तेऽस्तु सम्यगुच्चार्य शूलधृक् । ननर्त भावगम्भीरं दोर्दण्डं भ्रामयन् बलात् ॥ ७२ ॥
परिनृत्यति देवेशे गणाश्चैवामरास्तथा । नृत्यन्ते भावसंयुक्ता हरस्यानुविलासिनः ॥ ७३ ॥

उन भक्तिमान् शंकरने जलका स्पर्शकर (आचमनकर) विधिपूर्वक सरस्वतीमें स्नान किया । वे कृतार्थ हो गये । उन्होंने पुष्पाञ्जलि सिरसे लगाकर समर्पित की । उसके बाद उन्होंने सिर झुकाकर प्रणाम एवं उसके पश्चात् प्रदक्षिणा कर 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यकी वन्दना की और जप किया । उसके बाद **'त्वष्ट्रे नमो नमस्तेऽस्तु'** इसका स्पष्टरूपसे उच्चारण कर शूलपाणि शंकर बलपूर्वक अपना बाहुदण्ड घुमाते हुए भाव-गम्भीर होकर नाचने लगे । देवेश्वरके नाचनेपर उनके अनुगामी गण और देवता भी (वैसे ही) भाव-विभोर होकर नाचने लगे ॥ ७०—७३ ॥

सन्ध्यामुपास्य देवेशः परिनृत्य यथेच्छया । युद्धाय दानवैः सार्द्धं मतिं भूयः समादधे ॥ ७४ ॥
ततोऽमरगणैः सर्वैस्त्रिनेत्रभुजपालितैः । दानवा निर्जिताः सर्वे बलिभिर्भयवर्जितैः ॥ ७५ ॥
स्वबलं निर्जितं दृष्ट्वा मत्वाऽजेयं च शङ्करम् । अन्धकः सुन्दमाहूय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७६ ॥
सुन्द भ्राताऽसि मे वीर विश्वास्यः सर्ववस्तुषु । तद्वदाम्यद्य यद्वाक्यं तच्छ्रुत्वा यत्क्षमं कुरु ॥ ७७ ॥

सन्ध्योपासन करके इच्छानुकूल नृत्य करनेके बाद शंकरने फिर दानवोंसे संग्राम करनेका विचार किया । फिर तो शंकरकी भुजाओंसे रक्षित बलशाली और निर्भय सम्पूर्ण देवताओंने सारे दानवोंको जीत लिया । अपनी सेनाको पराजित देखकर तथा महादेवको पराजित करनेमें कठिनाई जान करके अन्धकने सुन्दको बुलाकर यह वचन कहा—वीर सुन्द ! तुम मेरे भाई हो और सभी विषयोंमें तुम मेरे विश्वासी हो । इसलिये आज मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे सुनकर यथाशक्ति उसे पूर्ण करो ॥ ७४—७७ ॥

दुर्जयोऽसौ रणपटुर्धर्मात्मा कारणान्तरैः । समास्ते हि हृदये पद्माक्षी शैलनन्दिनी ॥ ७८ ॥
तदुत्तिष्ठस्व गच्छामो यत्रास्ते चारुहासिनी । तत्रैनां मोहयिष्यामि हररूपेण दानव ॥ ७९ ॥
भवान् भवस्यानुचरो भव नन्दी गणेश्वरः । ततो गत्वाऽथ भुक्त्वा तां जेष्यामि प्रमथान् सुरान् ॥ ८० ॥
इत्येवमुक्ते वचने बाढं सुन्दोऽभ्यभाषत । समजायत शैलादिरन्धकः शङ्करोऽप्यभूत् ॥ ८१ ॥

किन्हीं मुख्य कारणोंसे युद्ध करनेमें परम चतुर ये धर्मात्मा दुर्जेय हैं । मेरे हृदयमें कमलनयनी पार्वती बसी हुई है । अतः उठो; हम वहाँ चलें, जहाँ वह मधुर मुसकानवाली स्थित है । दानव ! वहाँ मैं शंकरका रूप धारण करके उसे मुग्ध कर दूँगा (भुलावेमें डाल दूँगा) । तुम शंकरका अनुचर गणेश्वर नन्दी बनो । तब वहाँ पहुँच करके और उसका सुख भोगकर प्रमथों एवं देवोंको जीतूँगा । ऐसा कहनेपर सुन्दने कहा—ठीक है । उसके बाद वह शैलादि (नन्दी) बन गया और अन्धक शिव बन गया ॥ ७८—८१ ॥

नन्दिरुद्रौ ततो भूत्वा महासुरचमूपती । सम्प्राप्तौ मन्दरगिरिं प्रहारैः क्षतविग्रहौ ॥ ८२ ॥
हस्तमालम्ब्य सुन्दस्य अन्धको हरमन्दिरम् । विवेश निर्विशङ्केन चित्तेनासुरसत्तमः ॥ ८३ ॥
ततो गिरिसुता दूरादायान्तं वीक्ष्य चान्धकम् । महेश्वरवपुश्छन्नं प्रहारैर्जर्जरच्छविम् ॥ ८४ ॥
सुन्दं शैलादिरूपस्थमवप्रभ्याविशत् ततः । तं दृष्ट्वा मालिनीं प्राह सुयशां विजयां जयाम् ॥ ८५ ॥

उसके बाद महासुर (अन्धक) और सेनापति (सुन्द) शस्त्रास्त्रोंकी मारसे अधिक घायल हुए शरीरवाले रुद्र और नन्दीका रूप धारण कर मन्दरगिरिपर पहुँचे। असुरश्रेष्ठ अन्धक सुन्दका हाथ पकड़कर निडर होकर महादेवके मन्दिरमें घुस गया। उसके बाद शैलादि नन्दीके रूपमें स्थित सुन्दको पकड़कर मारोंसे जर्जर महादेवके शरीरमें छिपे अन्धकको दूरसे आते देखकर पार्वतीने यशस्विनी मालिनी, विजया तथा जयासे कहा—॥ ८२–८५॥

जये पश्यस्व देवस्य मदर्थे विग्रहं कृतम्। शत्रुभिर्दानववरैस्तदुत्तिष्ठस्व सत्वरम्॥ ८६॥
घृतमानय पौराणं बीजिकां लवणं दधि। व्रणभङ्गं करिष्यामि स्वयमेव पिनाकिनः॥ ८७॥
कुरुष्व शीघ्रं सुयशे स्वभर्तुर्व्रणनाशनम्। इत्येवमुक्त्वा वचनं समुत्थाय वरासनात्॥ ८८॥
अभ्युद्ययौ तदा भक्त्या मन्यमाना वृषध्वजम्। शूलपाणेस्ततः स्थित्वा रूपं चिह्नानि यत्नतः॥ ८९॥
अन्वियेप ततो ब्रह्मन्नोभौ पार्श्वस्थितौ वृषौ। सा ज्ञात्वा दानवं रौद्रं मायाच्छादितविग्रहम्॥ ९०॥

जये! देखो, मेरे स्वामीके शरीरको मेरे लिये दानव-शत्रुओंने किस प्रकार जर्जरित कर डाला है। इसलिये अविलम्ब उठो। पुराना घी, बीजिका, लवण और दही ले आओ। पिनाक धारण करनेवाले शंकरके घावोंको मैं स्वयं ही भरूँगी। यशस्विनि! शीघ्र अपने स्वामीके घावोंको भरो—ऐसा कहते हुए आसनसे उठकर उसे वृषध्वज शंकर समझती हुई वे भक्तिपूर्वक उसके पास गयीं। उसके बाद खड़ी होकर वे शंकरके रूप एवं चिह्नोंको भलीभाँति देखने लगीं। ब्रह्मन्! उन्होंने देखा कि उसकी बगलमें स्थित दोनों वृष नहीं हैं। इसलिये उन्हें यह मालूम हो गया कि यह मायासे छिपे शरीरवाला भयानक दानव है॥ ८६–९०॥

अपयानं तदा चक्रे गिरिराजसुता मुने। देव्याश्चिन्तितमाज्ञाय सुन्दं त्यक्त्वान्धकोऽसुरः॥ ९१॥
समाद्रवत वेगेन हरकान्तां विभावरीम्। समाद्रवत दैतेयो येन मार्गेण साऽगमत्॥ ९२॥
अपस्कारान्तरं भञ्जन् पादप्लुतिभिराकुलः। तमापतन्तं दृष्ट्वैव गिरिजा प्राद्रवद् भयात्॥ ९३॥
गृहं त्यक्त्वा ह्युपवनं सखीभिः सहिता तदा। तत्राप्यनुजगामासौ मदान्धो मुनिपुङ्गव॥ ९४॥
तथापि न शशापैनं तपसो गोपनाय तु। तद्भयादाविशद् गौरी श्वेतार्ककुसुमं शुचि॥ ९५॥

मुने! उसके बाद गिरिराजकी कन्या भाग चलीं। देवीके विचारको समझकर अन्धकासुर सुन्दको छोड़कर शीघ्रतापूर्वक शंकरप्रिया विभावरीके पीछे उसी रास्तेसे दौड़ा, जिससे वे गयी थीं। चरणके चपेटोंसे राहकी रुकावटोंको चूर-चूर करते हुए वह अधीरतापूर्वक दौड़ पड़ा। उसे आते देखकर गिरितनया भयसे (और) भाग चलीं। मुनिवर! उसके बाद देवी सखियोंके साथ घर छोड़कर उपवनमें चली गयीं। वहाँ भी मदान्ध-(अन्धक-) ने उनका पीछा किया। इतनेपर भी अपने तपकी रक्षाके लिये उन्होंने उसे शाप नहीं दिया। किंतु गौरी स्वयं उसके डरसे पवित्र सफेद अर्कके फूलमें छिप गयीं॥ ९१–९५॥

विजयाद्या महागुल्मे सञ्श्रयाता लयं मुने। नष्टायामथ पार्वत्यां भूयो हैरण्यलोचनिः॥ ९६॥
सुन्दं हस्ते समादाय ससैन्यं पुनरागमत्। अन्धके पुनरायाते सबलं मुनिसत्तम॥ ९७॥
प्रावर्तत महायुद्धं प्रमथासुरयोरथ। ततोऽमरगणश्रेष्ठो विष्णुश्चक्रगदाधरः॥ ९८॥
निजघानासुरबलं शङ्करप्रियकाम्यया। शार्ङ्गचापच्युतैर्बाणैः संस्यूता दानवर्षभाः॥ ९९॥
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ वा ब्रध्नपादैर्घना इव। गदया कांश्चिदवधीच्चक्रेणान्यान् जनार्दनः॥१००॥
खड्गेन चकर्तान्यान् दग्ध्वान्यान् भस्मसाद् व्यधात्। हलेनाकृष्य चैवान्यान् मुसलेन व्यचूर्णयत्॥१०१॥

मुने ! विजया आदि भी घनी झाड़ियोंमें छिप गयीं । उसके बाद पार्वतीके अदृश्य हो जानेपर हिरण्याक्षका पुत्र (अन्धक) सुन्दका हाथ पकड़कर पुनः अपनी सेनामें वापस आ गया । मुनिसत्तम ! अन्धकके अपनी सेनामें पुनः लौट आनेपर प्रमथों और असुरोंमें घमासान लड़ाई होने लगी । उसके बाद अमरगणोंमें श्रेष्ठ चक्र एवं गदा धारण करनेवाले विष्णुभगवान् शंकरका प्रिय करनेकी इच्छासे असुर-सेनाका संहार करने लगे । शार्ङ्गनामक धनुषसे निकले हुए बाणोंसे पाँच-पाँच, छः-छः, सात-सात, आठ-आठ श्रेष्ठ दानव उसी प्रकार विदीर्ण होने लगे जैसे सूर्यकी किरणोंसे 'घन' (अन्धकार) विदीर्ण हो जाते हैं । जनार्दनने कुछको गदासे तथा कुछको चक्रसे मार डाला । किन्हींको तलवारसे काट डाला और किन्हींको देखकर ही भस्म कर दिया तथा कुछ असुरोंको हलद्वारा खींचकर मूसलसे चूर्ण-विचूर्ण कर दिया ॥ ९६–१०१ ॥

गरुडः पक्षपाताभ्यां तुण्डेनाप्युरसाऽहनत् । स चादिपुरुषो धाता पुराणः प्रपितामहः ॥१०२॥
भ्रामयन् विपुलं पद्ममभ्यषिञ्चत वारिणा । संस्पृष्टा ब्रह्मतोयेन सर्वतीर्थमयेन हि ॥१०३॥
गणामरगणाश्चासन् नवनागशताधिकाः । दानवास्तेन तोयेन संस्पृष्टाश्चाघहारिणा ॥१०४॥
सवाहनाः क्षयं जग्मुः कुलिशेनेव पर्वताः । दृष्ट्वा ब्रह्महरी युद्धे घातयन्तौ महासुरान् ॥१०५॥
शतक्रतुश्च दुद्राव प्रगृह्य कुलिशं बली । तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलो दानवसत्तमः ॥१०६॥
मुक्त्वा देवं गदापाणिं विमानस्थं च पद्मजम् ।
शक्रमेवाद्रवद् योद्धुं मुष्टिमुद्यम्य नारद । बलवान् दानवपतिरजेयो देवदानवैः ॥१०७॥

गरुड़ने अपने दोनों डैनोंकी मारसे चोंच तथा छातीके बलसे अनेक दैत्योंको मौतके घाट उतार दिया । पुरातन आदिपुरुष धाता प्रपितामहने विशाल कमलको घुमाते हुए सभी (देवगणों) को जलसे अभिषिञ्चित किया । सर्वतीर्थरूप ब्रह्म जलका स्पर्श होनेसे गण तथा देवतालोग नौजवान हाथियोंसे भी अधिक पराक्रमवाले हो गये । और सौ, पाप दूर करनेवाले उस जलके स्पर्शके प्रभावसे सवारीके साथ दानव ऐसे नष्ट होने लगे जैसे वज्रसे पर्वत नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मा और विष्णुको संग्राममें महासुरोंको मारते देखकर (उत्साहमें आकर) बलशाली इन्द्र भी अपना वज्र लेकर दौड़ पड़े । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] नारदजी ! उन्हें आते देखकर देवों तथा दानवोंसे अजेय शक्तिशाली श्रेष्ठ दानवपति बल, गदाधर विष्णु और विमानारूढ ब्रह्मासे लड़ना छोड़कर मुट्ठी तानकर इन्द्रसे ही युद्ध करनेके लिये दौड़ पड़ा ॥ १०२–१०७ ॥

तमापतन्तं त्रिदशेश्वरस्तु दोर्ष्णां सहस्रेण यथाबलेन ।
वज्रं परिभ्राम्य बलस्य मूर्ध्नि चिक्षेप हे मूढ हतोऽस्युदीर्य ॥ १०८ ॥
स तस्य मूर्ध्नि प्रवरोऽपि वज्रो जगाम तूर्णं हि सहस्रधा मुने ।
बलोऽद्रवद् देवपतिश्च भीतः पराङ्मुखोऽभूत् समरान्महर्षे ॥ १०९ ॥
तं चापि जम्भो विमुखं निरीक्ष्य भूत्वाऽग्रतः प्राह न युक्तमेतत् ।
तिष्ठस्व राजाऽसि चराचरस्य न राजधर्मे गदितं पलायनम् ॥ ११० ॥
सहस्राक्षो जम्भवाक्यं निशम्य भीतस्तूर्णं विष्णुमागान्महर्षे ।
उपेत्याह श्रूयतां वाक्यमीश त्वं मे नाथो भूतभव्येश विष्णो ॥ १११ ॥

उसे आते देखकर देवताओंके स्वामी इन्द्रने हजारों भुजाओंसे अपनी शक्तिभर वज्रको घुमाते हुए उसे बलके सिरपर 'हे मूढ ! अब तुम मारे गये'—कहकर फेंक दिया । मुने ! वह श्रेष्ठ वज्र भी उसके सिरपर शीघ्र ही हजारों टुकड़ोंमें टूक-टूक हो गया । (फिर) बल (इन्द्रकी ओर) दौड़ा । महर्षे ! देवराज

भयभीत होकर युद्धसे विमुख हो गये—भाग गये। उन्हे विमुख होकर भागते देख जम्भने आगे आकर कहा कि यह उचित नहीं है। रुकिये; आप समस्त स्थावर-जङ्गमके राजा हैं। राजधर्ममें लड़ाईके मैदानसे भागनेका नियम नहीं है। महर्षे! जम्भका वचन सुनकर भयभीत होकर इन्द्र जल्दीसे विष्णुके समीप चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने कहा—हे ईश! आप मेरी बात सुनें। हे भूत तथा भव्यके स्वामी विष्णो! आप मेरे स्वामी हैं॥ १०८–१११॥

जम्भस्तर्जयतेऽत्यर्थं मां निरायुधमीक्ष्य हि। आयुधं देहि भगवन् त्वामहं शरणं गतः॥ ११२॥
तमुवाच हरिः शक्रं त्यक्त्वा दर्पं व्रजाधुना। प्रार्थयस्वायुधं वह्निं स ते दास्यत्यसंशयम्॥ ११३॥
जनार्दनवचः श्रुत्वा शक्रस्त्वरितविक्रमः। शरणं पावकमगादिदं चोवाच नारद॥ ११४॥

जम्भ मुझे शस्त्रास्त्रसे रहित देखकर बहुत अधिक ललकार रहा है। भगवन्! आप मुझे आयुध दें। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। विष्णुने इन्द्रसे कहा—इस समय (अपने पदके) अहंकारको छोड़कर तुम अग्निदेवके पास जाओ और उनसे आयुधके लिये प्रार्थना करो। वे निस्सन्देह तुम्हें आयुध प्रदान करेंगे। नारदजी! जनार्दनकी बात सुनकर तीव्र गतिवाले इन्द्र अग्निकी शरणमें चले गये और उनसे उन्होंने कहा—॥ ११२–११४॥

शक्र उवाच

निघ्नतो मे बलं वज्रं कृशानो शतधा गतम्। एष चाह्वयते जम्भस्तस्मादेह्यायुधं मम॥ ११५॥

इन्द्रने कहा—अग्निदेव! बलको मारनेमें मेरा वज्र सैकड़ों टुकड़े हो गया; यह जम्भ मुझे ललकार रहा है। अतः आप मुझे आयुध प्रदान करें॥ ११५॥

पुलस्त्य उवाच

तमाह भगवान् वह्निः प्रीतोऽस्मि तव वासव। यत्त्वं दर्पं परित्यज्य मामेव शरणं गतः॥ ११६॥
इत्युच्चार्य स्वशक्त्यास्तु शक्तिं निष्क्राम्य भावतः। प्रादादिन्द्राय भगवान् रोचमानो दिवं गतः॥ ११७॥
तामादाय तदा शक्तिं शतघण्टां सुदारुणाम्। प्रत्युद्ययौ तदा जम्भं हन्तुकामोऽरिमर्दनः॥ ११८॥
तेनातियशसा दैत्यः सहसैवाभिसंद्रुतः। क्रोधं चक्रे तदा जम्भो निजघान गजाधिपम्॥ ११९॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवन्! अग्निदेवने उनसे कहा—वासव! मैं आपके ऊपर प्रसन्न हूँ; क्योंकि आप अहंकार छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं। ऐसा कहनेके बाद प्रकाशयुक्त भगवान् अग्निदेवने भावपूर्वक अपनी शक्तिसे एक दूसरी शक्ति निकालकर उसे इन्द्रको दे दिया और वे स्वर्ग चले गये। शत्रुका मर्दन करनेवाले इन्द्र सैकड़ो घण्टाओंसे युक्त उस भीषण शक्तिको लेकर जम्भको मारनेके लिये चले गये। उन अत्यन्त यशस्वीके सहसा पीछा करनेपर जम्भने कोपपूर्वक गजाधिप (ऐरावत) पर वार कर दिया॥ ११६–११९॥

जम्भमुष्टिनिपातेन भग्नकुम्भकटो गजः। निपपात यथा शैलः शक्रवज्रहतः पुरा॥१२०॥
पतमानाद् द्विपेन्द्रात्तु शक्रश्चाप्लुत्य वेगवान्। त्यक्त्वैव मन्दरगिरिं पपात वसुधातले॥१२१॥
पतमानं हरिं सिद्धाश्चारणाश्च तदाऽब्रुवन्। मा मा शक्र पतस्वाद्य भूतले तिष्ठ वासव॥१२२॥
स तेषां वचनं श्रुत्वा योगी तस्थौ क्षणं तदा। प्राह चैतान् कथं योत्स्ये अपत्रः शत्रुभिः सह॥१२३॥

जम्भकी मुट्ठीके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल विदीर्ण हो गया। उसके बाद वह इस प्रकार गिर पड़ा जैसे पूर्वकालमें इन्द्रके वज्रसे आहत होकर पर्वत गिरता था। इन्द्र गिरते हुए गजेन्द्रसे वेगपूर्वक उछले और मन्दर

पर्वतको भी छोड़कर पृथ्वीकी ओर नीचे गिर पड़े । उसके बाद गिरते हुए इन्द्रसे सिद्धों एवं चारणोंने कहा—इन्द्र ! आप पृथ्वीपर न गिरें । आप रुकें । उनकी बात सुनकर योगी इन्द्र उस समय क्षणभरके लिये रुक गये और बोले—मैं बिना वाहनके इन शत्रुओंसे कैसे लड़ूँगा ? ॥ १२०–१२३ ॥

तमूचुर्देवगन्धर्वा मा विषादं व्रजेश्वर । युध्यस्व त्वं समारुह्य प्रेषयिष्याम यद् रथम् ॥१२४॥
इत्येवमुक्त्वा विपुलं रथं स्वस्तिकलक्षणम् । वानरध्वजसंयुक्तं हरिभिर्हरिभिर्युतम् ॥१२५॥
शुद्धजाम्बूनदमयं किङ्किणीजालमण्डितम् । शक्राय प्रेषयामासुर्विश्वावसुपुरोगमाः ॥१२६॥
तमागतमुदीक्ष्याथ हीनं सारथिना हरिः । प्राह योत्स्ये कथं युद्धे संयमिष्ये कथं हयान् ॥१२७॥

देवताओं और गन्धर्वोंने उत्तर दिया—हे ईश्वर (इन्द्र) ! आप चिन्तित न हों । हमलोग जो रथ भेज रहे हैं उसपर चढ़कर आप युद्ध करें । ऐसा कहकर विश्वावसु आदिने स्वस्तिकके आकारवाले कपिध्वजसे युक्त हरितवर्णके अश्वोंसे जुते शुद्ध स्वर्णसे बनाये गये तथा किंकिणीजालसे मण्डित विशाल रथ इन्द्रके लिये भेज दिया । इन्द्र सारथिसे रहित उस रथको देखकर बोले—मैं युद्धमें कैसे लड़ूँगा और कैसे घोड़ोंको संयत करूँगा—दोनों काम एक साथ कैसे होंगे ? ॥ १२४–१२७ ॥

यदि कश्चिद्धि सारथ्यं करिष्यति ममाधुना । ततोऽहं घातये शत्रून् नान्यथेति कथंचन ॥१२८॥
ततोऽब्रुवंस्ते गन्धर्वा नास्माकं सारथिर्विभो । विद्यते स्वयमेवाश्वांस्त्वं संयन्तुमिहार्हसि ॥१२९॥
इत्येवमुक्ते भगवांस्त्यक्त्वा स्यन्दनमुत्तमम् । क्ष्मातलं निपपातैव परिभ्रष्टस्रगम्बरः ॥१३०॥
चलन्मौलिर्मुक्तकचः परिभ्रष्टायुधाङ्गदः । पतमानं सहस्राक्षं दृष्ट्वा भूः समकम्पत ॥१३१॥

इस समय मेरे सारथिका काम यदि कोई करे तो मैं शत्रुओंका नाश कर सकता हूँ; अन्य किसी प्रकार नहीं । उसके बाद गन्धर्वोंने कहा—विभो ! हमारे पास कोई सारथि नहीं है । आप स्वयं घोड़ोंको नियन्त्रित कर सकते हैं । ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्र उत्तम रथको छोड़कर अस्त-व्यस्त हुए माल्य और वस्त्रोंके साथ पृथ्वीपर गिर गये । (पृथ्वीपर गिरते समय इन्द्रका) सिर काँप रहा था, उनके बाल बिखर गये थे और उनके आयुध तथा बाजूबंद नीचे गिर पड़े थे । इन्द्रको गिरते देख पृथ्वी काँपने लगी ॥ १२८–१३१ ॥

पृथिव्यां कम्पमानायां शमीकर्षेस्तपस्विनी । भार्याऽब्रवीत् प्रभो बालं बहिः कुरु यथासुखम् ॥१३२॥
स तु शीलावचः श्रुत्वा किमर्थमिति चाब्रवीत् । सा चाह श्रूयतां नाथ दैवज्ञपरिभाषितम् ॥ १३३ ॥
यदेयं कम्पते भूमिस्तदा प्रक्षिप्यते बहिः । यद्बाह्यतो मुनिश्रेष्ठ तद् भवेद् द्विगुणं मुने ॥ १३४ ॥
एतद्वाक्यं तदा श्रुत्वा बालमादाय पुत्रकम् । निराशङ्को बहिः शीघ्रं प्राक्षिपत् क्ष्मातले द्विजः ॥१३५॥

पृथ्वीके काँपनेपर शमीक ऋषिकी तपस्विनी पत्नीने कहा—'प्रभो ! बालकको सँभालकर बाहर ले जाइये । उन्होंने शीलाकी बात सुनकर कहा—क्यों ? उसने कहा—हे नाथ ! सुनिये, ज्योतिषियोंका कहना है कि इस भूमिके काँपनेपर वस्तुएँ बाहर निकाल दी जाती हैं; क्योंकि मुनिश्रेष्ठ ! उस समय बाहरमें रखी हुई वस्तु दुगुनी हो जाती है । इस वाक्यको सुनकर उस समय ब्राह्मणने अपने बालक पुत्रको लेकर निःशंक हो पृथ्वीपर बाहर रख दिया ॥ १३२–१३५ ॥

भूयो गोयुगलार्थाय प्रविष्टो भार्यया द्विजः । निवारितो गता वेला अर्द्धहानिर्भविष्यति ॥ १३६ ॥
इत्येवमुक्ते देवर्षिर्बहिर्निर्गम्य वेगवान् । ददर्श बालद्वितयं समरूपमवस्थितम् ॥ १३७ ॥
तं दृष्ट्वा देवताः पूज्य भार्यां चाद्भुतदर्शनाम् । प्राह तत्त्वं न विन्दामि यत् पृच्छामि वदस्व तत् ॥१३८॥
बालस्यास्य द्वितीयस्य के भविष्यद्गुणा वद । भाग्यानि चास्य यच्चोक्तं कर्म तत् कथयाधुना ॥१३९॥

फिर दो गायोंके लिये भीतर प्रविष्ट होनेपर पत्नीने ब्राह्मणको निवारित करते हुए कहा—समय बीत चुका है; अब इस समय आधे भागकी हानि हो जायगी ।[पुलस्त्यजी कहते हैं—]देवर्षे ! ऐसा कहनेपर (ब्राह्मणने) शीघ्रतासे बाहर निकलकर देखा कि समान आकारके दो बालक पडे हुए हैं । उन्हें देखकर उसने देवताओंकी पूजा करनेके बाद अपनी अद्भुत ज्ञानमती पत्नीसे कहा—मै इसका रहस्य नहीं समझता । अतः मैं जो पूछता हूँ उसे बतलाओ । यह बतलाओ कि इस दूसरे बालकमें कौन-से गुण होंगे ? उसके भाग्यो एवं कर्मोंको भी तुम अभी बतलाओ ॥ १३६–१३९ ॥

साऽब्रवीन्नाद्य ते वक्ष्ये वदिष्यामि पुनः प्रभो । सोऽब्रवीद् वद मेऽद्यैव नोचेन्नाश्नामि भोजनम् ॥१४०॥
सा प्राह श्रूयतां ब्रह्मन् वदिष्ये वचनं हितम् । कातरेणाद्य यत्पृष्टं भाव्यः कारुरयं किल ॥१४१॥
इत्युक्तवति वाक्यं तु बाल एव त्वचेतनः । जगाम साह्यं शक्रस्य कर्तुं सौत्यविशारदः ॥१४२॥
तं व्रजन्तं हि गन्धर्वा विश्वावसुपुरोगमाः । ज्ञात्वेन्द्रस्यैव साहाय्ये तेजसा समवर्धयन् ॥१४३॥

पत्नीने कहा—स्वामिन् ! मैं तुम्हें आज नहीं बतलाऊँगी । फिर कभी दूसरे समय बतलाऊँगी । उन्होंने कहा—आज ही मुझे बताओ; अन्यथा मैं भोजन नहीं करूँगा । उसने कहा—ब्रह्मन् ! आप सुनिये, आपने आर्त्ततासे जो पूछा है उस हितकर बातको मैं कहती हूँ । यह (बालक) निश्चय ही कारु (शिल्पी) होगा । ऐसा कहनेपर अज्ञान (अवस्थामे) होते हुए भी वह सूत-कर्ममे कुशल बालक इन्द्रकी सहायताके लिये गया । विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने उस बालकको इन्द्रकी सहायताके लिये जाते हुए जानकर उसके तेजको बढ़ा दिया ॥ १४०–१४३ ॥

गन्धर्वतेजसा युक्तः शिशुः शक्रं समेत्य हि । प्रोवाचैह्येहि देवेश प्रियो यन्ता भवामि ते ॥ १४४ ॥
तच्छ्रुत्वास्य हरिः प्राह कस्य पुत्रोऽसि बालक । संयन्ताऽसि कथं चाश्वान् संशयः प्रतिभाति मे ॥१४५॥
सोऽब्रवीदृषितेजोत्थं क्ष्माभवं विद्धि वासव । गन्धर्वतेजसा युक्तं वाजियानविशारदम् ॥१४६॥
तच्छ्रुत्वा भगवाञ्छक्रः खं भेजे योगिनां वरः । स चापि विप्रतनयो मातलिर्नामविश्रुतः ॥१४७॥
ततोऽधिरूढस्तु रथं शक्रस्त्रिदशपुङ्गवः । रश्मीन् शमीकतनयो मातलिः प्रगृहीतवान् ॥१४८॥

गन्धर्वोंके तेजसे परिपूर्ण होकर बालकने इन्द्रके निकट जाकर कहा—देवेश ! आइये, आइये ! मैं आपका प्रिय सारथि बनूँगा । उसे सुनकर इन्द्रने कहा—हे बालक ! तुम किसके पुत्र हो ? तुम घोड़ोंको कैसे संयमित करोगे ? इस विषयमे मुझे संदेह हो रहा है । उसने कहा—वासव ! मुझे ऋषिके तेजसे बल-वैभवमे बढ़े, भूमिसे उत्पन्न एव गन्धर्वोंके तेजसे युक्त अश्वयानमें पारंगत समझो । यह सुनकर योगिश्रेष्ठ भगवान् इन्द्र आकाशमें चले गये । मातलि नामसे विख्यात वह ब्राह्मणपुत्र भी आकाशमे चला गया । उसके बाद देवश्रेष्ठ इन्द्र रथपर चढ गये और शमीकपुत्र मातलिने प्रग्रह (लगाम) पकड़ लिया ॥ १४४–१४८ ॥

ततो मन्दरमागम्य विवेश रिपुवाहिनीम् । प्रविशन् ददृशे श्रीमान् पतितं कार्मुकं महत् ॥१४९॥
सशरं पञ्चवर्णाभं सितरक्तासितारुणम् । पाण्डुच्छायं सुरश्रेष्ठस्तं जग्राह समार्गणम् ॥१५०॥
ततस्तु मनसा देवान् रजःसत्त्वतमोमयान् । नमस्कृत्य शरं चापे साधिज्ये विनियोजयत् ॥१५१॥
ततो निश्चेरुरत्युग्राः शरा बर्हिणवाससः । ब्रह्मेशविष्णुनामाङ्काः सूदयन्तोऽसुरान् रणे ॥१५२॥

उसके बाद मन्दरगिरिपर पहुँचकर वे (इन्द्र) शत्रुसेनामें प्रविष्ट हो गये । प्रवेश करते समय सुरश्रेष्ठ श्रीमान्-(इन्द्र-) ने बाणयुक्त, सफेद, लाल, काला, उषाकालीन लालिमावाले एवं सफेद रंगसे मिले

पीले रंगवाले—पँचरंगे—एक महान् धनुषको पड़ा हुआ देखा और बाणके साथ ही उसे उठा लिया। उसके बाद रजःसत्त्वतमोमय—त्रिगुणमय—(ब्रह्मा, विष्णु और महेश) देवोंको मनसे नमस्कार करके उन्होंने प्रत्यञ्चा चढ़ाकर बाण संधान किया। उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरके नामोंसे अंकित मोरके पंख लगे हुए अत्यन्त भयंकर बाण निकले और असुरोंका संहार करने लगे ॥ १४०–१५२ ॥

आकाशं विदिशः पृथ्वीं दिशश्च स शरोत्करैः। सहस्राक्षोऽनिपद्भिरुछादयामास नारद ॥१५३॥
गजो विद्धो हयो भिन्नः पृथिव्यां पतितो रथः। महामात्रो धरां प्राप्तः स्वयः सोऽन्क्रगातुरः ॥१५४॥
पदातिः पतितो भूम्यां शक्रमार्गणताडितः। हतप्रधानभूयिष्ठं बलं तदभवद् रिपोः ॥१५५॥
तं शक्रबाणाभिहतं दुरासदं सैन्यं समालक्ष्य तदा कुजम्भः।
जम्भासुरश्चापि सुरेशमव्ययं प्रजग्मतुर्गृह्य गदे सुघोरे ॥१५६॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] नारदजी! उन इन्द्रने बड़ी चतुराईसे बाणोंकी बौछारसे आकाश, पृथ्वी, दिशाओं एवं विदिशाओंको छा (भर) दिया। हाथी बुरी तरह बिंध गये, घोडे विदीर्ण हो गये, रथ पृथ्वीपर गिर पड़े एवं हाथीका संचालक (महावत) बाणोंसे व्याकुल होकर कराहता हुआ धरतीपर गिर गया। इन्द्रके बाणोंसे घायल हुए पैदल युद्ध करनेवाले वीर भूमिपर गिर पड़े। (इस प्रकार) शत्रुकी उस सेनाके बहुतेरे प्रधान (वीर) मारे गये। उस दुर्धर्ष (अपराजेय) सेनाको इन्द्रके बाणोंसे मारी जाती हुई देखकर असुर कुजम्भ और जम्भ भयानक गदाओंको लेकर अविनाशी सुरेन्द्रकी ओर तेजीसे बढ़ चले ॥ १५३–१५६ ॥

तावापतन्तौ भगवान् निरीक्ष्य सुदर्शनेनारिविनाशनेन।
विष्णुः कुजम्भं निजघान वेगात् स स्यन्दनाद् गामगमद् गतासुः ॥१५७॥
तस्मिन् हते भ्रातरि माधवेन जम्भस्ततः क्रोधवशं जगाम।
क्रोधान्वितः शक्रमुपाद्रवद् रणे सिंहं यथैणोऽतिविपन्नबुद्धिः ॥१५८॥
तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य शक्रस्त्यक्त्वैव चापं सशरं महात्मा।
जग्राह शक्तिं यमदण्डकल्पां तामग्निदत्तां रिपवे ससर्ज ॥ १५९ ॥
शक्तिं सघण्टां कृतनिःस्वनां वै दृष्ट्वा पतन्तीं गदया जघान।
गदां च कृत्वा सहसैव भस्मसाद् बिभेद जम्भं हृदये च तूर्णम् ॥ १६० ॥
शक्त्या स भिन्नो हृदये सुरारिः पपात भूम्यां विगतासुरेव।
तं वीक्ष्य भूमौ पतितं विसंज्ञं दैत्यास्तु भीता विमुखा बभूवुः ॥ १६१ ॥
जम्भे हते दैत्यबले च भग्ने गणास्तु हृष्टा हरिमर्चयन्तः।
वीर्यं प्रशंसन्ति शतक्रतोश्च स गोत्रभिच्छर्वमुपेत्य तस्थौ ॥ १६२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

भगवान् विष्णुने उन दोनों-(कुजम्भ और जम्भ-)को शीघ्रतासे सामने आते देखकर शत्रु-संहारक सुदर्शनचक्रसे कुजम्भको मारा। वह प्राणहीन होकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। लक्ष्मीपति श्रीविष्णुके द्वारा भाईके मारे जानेपर जम्भ क्रुद्ध हो गया। कुपित होकर वह युद्धमें इन्द्रकी ओर ऐसे दौड़ा, जैसे विचारशक्ति नष्ट हो जानेपर मृग सिंहकी ओर दौड़ता है। उसे आते देखकर महात्मा इन्द्रने धनुष-बाणको छोड़ अग्निद्वारा प्रदत्त यमदण्डके समान शक्तिको लेकर उसे शत्रुकी ओर फेंका। घण्टासे घनघनाती हुई उस शक्तिको देखकर (जम्भने) उसपर बल लगाकर गदासे वार किया। (उस शक्तिने) गदाको एकाएक भस्मकर शीघ्र ही जम्भका

हृदय (भी) विदीर्ण कर दिया। शक्तिसे हृदयके विदीर्ण हो जानेपर वह देवशत्रु असुर जम्भ प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसे मरा और भूमिपर गिरा देख करके दैत्यगण डरकर पीठ दिखाकर भाग गये। जम्भके मारे जाने एवं दैत्यसेनाके हार जानेपर सभी गण हरिका अर्चन एवं इन्द्रके पराक्रमका गुणगान करने लगे। (फिर) वे इन्द्र शंकरके निकट जाकर खडे हो गये ॥ १५७–१६२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

[अथ सप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

तस्मिंस्तदा दैत्यबले च भग्ने शुक्रोऽब्रवीदन्धकमासुरेन्द्रम्।
एह्येहि वीराद्य गृहं महासुर योत्स्याम भूयो हरमेत्य शैलम् ॥ १ ॥
तमुवाचान्धको ब्रह्मन् न सम्यग्भवतोदितम्। रणान्नैवापयास्यामि कुलं व्यपदिशन् स्वयम् ॥ २ ॥
पश्य त्वं द्विजशार्दूल मम वीर्यं सुदुर्धरम्। देवदानवगन्धर्वाञ् जेष्ये सेन्द्रमहेश्वरम् ॥ ३ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं हिरण्याक्षसुतोऽन्धकः। समाश्वास्याब्रवीच्छम्भुं सारथिं मधुराक्षरम् ॥ ४ ॥

सत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकका शिव-शूलसे भेदन, भैरवादिकी उत्पत्ति, अन्धककृत शिवस्तुति, अन्धकका भृङ्गित्व, देवादिकोंका भेजना, अर्द्धकुसुमसे पार्वतीका प्राकट्य और अन्धकद्वारा उनकी स्तुति)

पुलस्त्यजी बोले—उस समय दैत्यसेनाके हार जानेपर शुक्रने असुरोंके स्वामी अन्धकसे कहा—वीर महासुर! इस समय घर चलो। फिर पर्वतपर आकर शंकरसे युद्ध करेंगे। अन्धकने उनसे कहा—ब्रह्मन्! आपने उचित बात नहीं कही। अपने कुलको कलंकित करते हुए मैं युद्धसे नहीं भागूँगा। द्विजश्रेष्ठ! मेरा अत्यन्त प्रबल पराक्रम तो देखिये। मै (उस पराक्रमसे) इन्द्र और महेश्वरके सहित सभी देवों और दानवो तथा गन्धर्वोंको जीत लूँगा। ऐसा वचन कहकर हिरण्याक्ष-पुत्र अन्धकने शम्भु (नामक) सारथिसे मीठी वाणीमें अच्छी तरह आश्वस्त करते हुए कहा—॥ १–४ ॥

सारथे वाहय रथं हराभ्याशं महाबल। यावन्निहन्मि बाणौघैः प्रमथामरवाहिनीम् ॥ ५ ॥
इत्यन्धकवचः श्रुत्वा सारथिस्तुरगांस्तदा। कृष्णवर्णान् महावेगान् कशयाऽभ्याहनन्मुने ॥ ६ ॥
ते यत्नतोऽपि तुरगाः प्रेर्यमाणा हरं प्रति। जघनेष्ववसीदन्तः कृच्छ्रेणोहुश्च तं रथम् ॥ ७ ॥
वहन्तस्तुरगा दैत्यं प्राप्ताः प्रमथवाहिनीम्। संवत्सरेण साग्रेण वायुवेगसमा अपि ॥ ८ ॥

महाबलशाली सारथे! तुम रथको महादेवके (आमने) सामने ले चलो। मैं बाणोकी वर्षासे प्रमथों एवं देवोंकी सेनाको मार भगाऊँगा। मुने! अन्धकके वचनको सुनकर सारथिने (अपने रथके) काले रंगके तीव्रगामी घोड़ोंको कोड़ेसे मारा। शंकरकी ओर चेष्टापूर्वक चलाये जाते हुए भी वे घोडे जाँघोंमें कष्टका अनुभव करते हुए कठिनाईसे उस रथको खींच रहे थे। दैत्यको ढोनेवाले वे घोडे वायुके वेगके समान होनेपर भी एक वर्षसे भी अधिक समयमे प्रमथोंकी सेनामें पहुँच सके ॥ ५–८ ॥

ततः कार्मुकमानम्य बाणजालैर्गणेश्वरान्। सुरान् संछादयामास सेन्द्रोपेन्द्रमहेश्वरान् ॥ ९ ॥
बाणैश्छादितमीक्ष्यैव बलं त्रैलोक्यरक्षिता। सुरान् प्रोवाच भगवांश्चक्रपाणिर्जनार्दनः ॥ १० ॥

उसके बाद (अन्धकने) धनुषको झुकाकर बाणसमूहोंसे गणेश्वरों एवं इन्द्र, विष्णु और महेश्वरके साथ सभी देवोंको ढक दिया। (पूरी) सेनाको बाणोंसे ढकी देखकर तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले चक्रपाणि भगवान् जनार्दनने देवोंसे कहा—॥ ९-१० ॥

विष्णुरुवाच

किं तिष्ठध्वं सुरश्रेष्ठा हतेनानेन वै जयः। तस्मान्मद्वचनं शीघ्रं क्रियतां वै जयेप्सवः ॥ ११ ॥
शात्यन्तामस्य तुरगाः समं रथकुटुम्बिना। भज्यतां स्यन्दनश्चापि विरथः क्रियतां रिपुः ॥ १२ ॥
विरथं तु कृतं पश्चादेनं धक्ष्यति शङ्करः। नोपेक्ष्यः शत्रुरुद्दिष्टो देवाचार्येण देवताः ॥ १३ ॥
इत्येवमुक्ताः प्रमथा वासुदेवेन सामराः। चक्रुर्वेगं सहेन्द्रेण समं चक्रधरेण च ॥ १४ ॥

विष्णुने कहा—सुरश्रेष्ठो ! आपलोग व्यर्थमें क्यों बैठे हैं ? इसके मारे जानेसे ही विजय होगी। इसलिये विजयकी अभिलाषा रखकर आपलोग शीघ्र मेरे कहनेके अनुसार कार्य करें। (पहले) रथके सारथिके साथ इस-(अन्धक-) के घोड़ोंको मार डालें एवं रथको तोड़कर शत्रुको बिना रथका कर दें। बिना रथका करनेके बाद तो शंकर इसे भस्म कर देंगे। देवो! देवताओंके आचार्य बृहस्पतिने कहा है कि शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भगवान् वासुदेवके ऐसा कहनेपर इन्द्र एवं विष्णुसहित प्रमथों तथा देवोंने शीघ्रतासे चढ़ाई कर दी ॥ ११-१४ ॥

तुरगाणां सहस्रं तु मेघाभानां जनार्दनः। निमिषान्तरमात्रेण गदया विनिपोथयत् ॥ १५ ॥
हताश्वात् स्यन्दनात् स्कन्दः प्रगृह्य रथसारथिम्। शक्त्या विभिन्नहृदयं गतासुं व्यसृजद् भुवि ॥ १६ ॥
विनायकाद्याः प्रमथाः समं शक्रेण दैवतैः। सध्वजाक्षं रथं तूर्णमभञ्जन्त तपोधनाः ॥ १७ ॥
सहसा स महातेजा विरथस्त्यज्य कार्मुकम्। गदामादाय बलवानभिदुद्राव दैवतान् ॥ १८ ॥

जनार्दन-(विष्णु-)ने क्षणमात्रमें ही अपनी (कौमोदकी) गदासे बादल-जैसे काले रंगवाले हजारों घोड़ोंको मार डाला। स्कन्दने मारे गये घोड़ोंवाले रथसे सारथिको खींचकर शक्तिसे उसके हृदयको विदीर्ण कर दिया और प्राणहीन हो जानेपर उसे पृथ्वीपर फेंक दिया। इन्द्र आदि देवताओंके साथ तपोधन विनायक प्रभृति प्रमथोंने शीघ्र ध्वजा और पहिये तथा धुरेके साथ रथको तोड़ डाला। (जब) महातेजस्वी पराक्रमी-(अन्धक-)ने बिना रथके हो जानेपर धनुषको छोड़ दिया और गदा लेकर वह देवताओंकी ओर दौड़ पड़ा—॥ १५-१८ ॥

पदान्यष्टौ ततो गत्वा मेघगम्भीरया गिरा। स्थित्वा प्रोवाच दैत्येन्द्रो महादेवं स हेतुमत् ॥ १९ ॥
भिक्षो भवान् सहानीकस्त्वसहायोऽस्मि साम्प्रतम्। तथाऽपि त्वां विजेष्यामि पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ २० ॥
तद्वाक्यं शङ्करः श्रुत्वा सेन्द्रान्सुरगणांस्तदा। ब्रह्मणा सहितान् सर्वान् स्वशरीरे न्यवेशयत् ॥ २१ ॥
शरीरस्थांस्तान् प्रमथान् कृत्वा देवांश्च शङ्करः। प्राह एह्येहि दुष्टात्मन् अहमेकोऽपि संस्थितः ॥ २२ ॥

तब दैत्येन्द्रने आठ पग चलकर मेघके समान गम्भीर वाणीमे महादेवसे अपना अभीष्ट वचन कहा—भिक्षुक ! यद्यपि इस समय तुम सेनावाले हो और मै असहाय हूँ, फिर भी मै तुमको जीत लूँगा। आज मेरी शक्ति देखो। उसका वचन सुनकर शंकरने इन्द्र और ब्रह्माके साथ सभी देवताओंको अपने शरीरमें निवेशित कर लिया—छिपा लिया। उन प्रमथो एवं देवोंको अपने शरीरमें छिपानेके बाद शंकरने कहा—दुष्टात्मन् ! आओ, आओ ! मैं अकेला रहनेपर भी (तुमसे लड़नेके लिये) खड़ा हूँ ॥ १९-२२ ॥

तं दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सर्वामरगणक्षयम्। दैत्यः शङ्करमभ्यागाद् गदामादाय वेगवान्॥ २३॥
तमापतन्तं भगवान् दृष्ट्वा त्यक्त्वा वृषोत्तमम्। शूलपाणिर्गिरिप्रस्थे पदातिः प्रत्यतिष्ठत॥ २४॥
वेगेनैवापतन्तं च विभेदोरसि भैरवः। दारुणं सुमहद् रूपं कृत्वा त्रैलोक्यभीषणम्॥ २५॥
दंष्ट्राकरालं रविकोटिसंनिभं मृगारिचर्माभिवृतं जटाधरम्।
भुजङ्गहारामलकण्ठकन्दरं विंशार्धबाहुं सपडर्धलोचनम्॥ २६॥

समस्त देवगणोंसे संहार किये जाते उस महान् आश्चर्यको देखकर वह दैत्य गदा लेकर शीघ्रतासे शंकरके पास चला गया। भगवान् शूलपाणि उसे आते देख अपने श्रेष्ठ वृषभ-(नन्दी-)को छोड़कर पर्वतपर पैरोंके बल खड़े हो गये। भैरवने तीनों लोकोंको डरा देनेवाला अत्यन्त भयानक रूप धारण करके तेजीसे आ रहे उस-(अन्धक-)का हृदय विदीर्ण कर दिया। (उस समय शंकरका रूप) भयानक दाढ़ोंवाले करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान, वाघंबर पहने, जटासे सुशोभित, सर्पके हारसे अलंकृत ग्रीवावाला तथा दस भुजा और तीन नयनोंसे युक्त था॥ २३—२६॥

एतादृशेन रूपेण भगवान् भूतभावनः। विभेद शत्रुं शूलेन शुभदः शाश्वतः शिवः॥ २७॥
सशूलं भैरवं गृह्य भिन्नेऽप्युरसि दानवः। विजहारातिवेगेन क्रोशमात्रं महामुने॥ २८॥
ततः कथंचिद् भगवान् संस्तभ्यात्मानमात्मना। तूर्णमुत्पाटयामास शूलेन सगदं रिपुम्॥ २९॥
दैत्याधिपस्त्वपि गदां हरमूर्ध्नि न्यपातयत्। कराभ्यां गृह्य शूलं च समुत्पतत दानवः॥ ३०॥

ऐसे लक्षणोंसे संयुक्त मङ्गलदाता, शाश्वत, भूतभावन भगवान् शिवने शूलसे शत्रुको विदीर्ण कर दिया। महामुने! हृदयके विदीर्ण हो जानेपर भी दानव शूलके साथ भैरवको पकड़कर एक कोसतक उन्हें खींच ले गया। तब भगवान्‌ने किसी प्रकार अपनेसे अपनेको रोककर गदा लिये हुए शत्रुको अपने शूलसे तुरंत मारा। दैत्योंके स्वामी-(अन्धक-)ने भी शंकरके सिरपर गदाका वार किया और शूलको दोनों हाथोंसे पकड़कर ऊपर उछल गया॥ २७—३०॥

संस्थितः स महायोगी सर्वाधारः प्रजापतिः। गदापातक्षताद् भूरि चतुर्धाऽसृगथापतत्॥ ३१॥
पूर्वधारासमुद्भूतो भैरवोऽग्निसमप्रभः। विद्याराजेति विख्यातः पद्ममालाविभूषितः॥ ३२॥
तथा दक्षिणधारोत्थो भैरवः प्रेतमण्डितः। कालराजेति विख्यातः कृष्णाञ्जनसमप्रभः॥ ३३॥
अथ प्रतीचीधारोत्थो भैरवः पत्रभूषितः। अतसीकुसुमप्रख्यः कामराजेति विश्रुतः॥ ३४॥

सबके आधारस्वरूप महायोगी वे प्रजापति शंकरजी खड़े रहे; परंतु इसके बाद गदाके आघातसे हुए चोटसे (चारों दिशाकी) चार धाराओंमें बहुत अधिक रक्त प्रवाहित होने लग गया। पूर्व दिशाकी धारासे अग्निके समान प्रभावाले, कमलकी मालासे सुशोभित 'विद्याराज' नामसे प्रसिद्ध भैरव उत्पन्न हुए। दक्षिण दिशाकी धारासे प्रेतसे मण्डित काले अञ्जनके समान प्रभावाले 'कालराज' नामसे प्रसिद्ध भैरव उत्पन्न हुए। उसके बाद पश्चिम दिशाकी धारासे अलसीके फूलके समान पत्रसे शोभित 'कामराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए॥ ३१—३४॥

उदग्धाराभवश्चान्यो भैरवः शूलभूषितः। सोमराजेति विख्यातश्चक्रमालाविभूषितः॥ ३५॥
क्षतस्य रुधिराज्जातो भैरवः शूलभूषितः। स्वच्छन्दराजो विख्यात इन्द्रायुधसमप्रभः॥ ३६॥
भूमिस्थाद् रुधिराज्जातो भैरवः शूलभूषितः। ख्यातो ललितराजेति सौभाञ्जनसमप्रभः॥ ३७॥
एवं हि सप्तरूपोऽसौ कथ्यते भैरवो मुने। विघ्नराजोऽष्टमः प्रोक्तो भैरवाष्टकमुच्यते॥ ३८॥

उत्तर दिशाकी धारासे चक्रमालासे सुशोभित (एवं) शूल लिये 'सोमराज' नामसे प्रसिद्ध अन्य भैरव उत्पन्न हुए। घावके रक्तसे इन्द्रधनुषके समान चमकवाले (एवं) शूल लिये 'स्वच्छन्दराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए। पृथ्वीपर गिरे हुए रक्तसे सौभाञ्जन (सहिजन) के समान (एवं) शूल लिये शोभायुक्त 'ललितराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए। मुने! इस प्रकार इन भैरवका सात रूप कहा जाता है। 'विघ्नराज' आठवें भैरव हैं। इन्हे भैरवाष्टक (आठों भैरव) कहा जाता है ॥ ३५–३८ ॥

एवं महात्मना दैत्यः शूलप्रोतो महासुरः। छत्रवद् धारितो ब्रह्मन् भैरवेण त्रिशूलिना ॥ ३९ ॥
तस्यासृगुल्वणं ब्रह्मञ्छूलभेदादवापतत्। येनाकण्ठं महादेवो निमग्नः सप्तमूर्तिमान् ॥ ४० ॥
ततः स्वेदोऽभवद् भूरि श्रमजः शङ्करस्य तु। ललाटफलके तस्माज्जाता कन्याऽसृगाप्लुता ॥ ४१ ॥
यद्भूम्यां न्यपतद् विप्र स्वेदबिन्दुः शिवाननात्। तस्मादङ्गारपुञ्जाभो बालकः समजायत ॥ ४२ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] ब्रह्मन्! इस प्रकार त्रिशूल धारण करनेवाले महात्मा भैरवने शूलसे विद्ध हुए महासुर दैत्यको छातेकी भाँति ऊपर उठा लिया। ब्रह्मन्! शूलसे विद्ध होनेके कारण उसका बहुत अधिक रक्त गिरा। उससे सात मूर्तिवाले महादेव गलेतक लहू-लुहान हो गये। परिश्रम करनेके कारण शंकरके पूरे ललाटपर बहुत अधिक पसीना आ गया। उससे खूनसे लथपथ एक कन्या उत्पन्न हुई। विप्र! शिवके मुखसे भूमिपर गिरे पसीनोंकी बूँदोंसे अंगारे-जैसी कान्तिवाला एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ ३९–४२ ॥

स बालस्तृषितोऽत्यर्थं पपौ रुधिरमान्धकम्। कन्या चोत्कृत्य संजातमसृग्विलिलिहेऽद्भुता ॥ ४३ ॥
ततस्तामाह बालार्कप्रभां भैरवमूर्तिमान्। शङ्करो वरदो लोके श्रेयोऽर्थाय वचो महत् ॥ ४४ ॥
त्वां पूजयिष्यन्ति सुरा ऋषयः पितरोरगाः। यक्षविद्याधराश्चैव मानवाश्च शुभङ्करि ॥ ४५ ॥
त्वां स्तोष्यन्ति सदा देवि बलिपुष्पोत्करैः करैः। चर्चिकेति शुभं नाम यस्माद् रुधिरचर्चिता ॥ ४६ ॥

अत्यन्त प्यासा वह बालक अन्धकका रक्त पीने लगा और अद्भुत कन्या भी काटकर उत्पन्न हुए रक्तको चाटने लगी। उसके बाद भैरवका रूप धारण करनेवाले वरदानी शंकरने प्रातःकालके सूर्यके समान कान्तिवाली उस कन्यासे जगत्-कल्याणकारी महान् वचन कहा—शुभकारिणि! देवता, ऋषि, पितर, सर्पादि, यक्ष, विद्याधर एवं मानव तुम्हारी पूजा करेंगे। देवि! (वे लोग) बलि एवं पुष्पाञ्जलिसे तुम्हारी स्तुति करेंगे। यतः तुम रक्तसे चर्चित (लथपथ) हो, अतः तुम्हारा शुभ नाम 'चर्चिका' होगा ॥ ४३–४६ ॥

इत्येवमुक्ता वरदेन चर्चिका भूतानुजाता हरिचर्मवासिनी।
महीं समन्ताद् विचचार सुन्दरी स्थानं गता हैङ्गुलताद्रिमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
तस्यां गतायां वरदः कुजस्य प्रादाद् वरं सर्ववरोत्तमं यत्।
ग्रहाधिपत्यं जगतां शुभाशुभं भविष्यति त्वद्वशगं महात्मन् ॥ ४८ ॥
हरोऽन्धकं वर्षसहस्रमात्रं दिव्यं स्वनेत्रार्कहुताशनेन।
चकार संशुष्कतनुं त्वशोणितं त्वगस्थिशेषं भगवान् स भैरवः ॥ ४९ ॥
तत्राग्निना नेत्रभवेन शुद्धः स मुक्तपापोऽसुरराड् बभूव।
ततः प्रजानां बहुरूपमीशं नाथं हि सर्वस्य चराचरस्य ॥ ५० ॥
ज्ञात्वा स सर्वेश्वरमीशमव्ययं त्रैलोक्यनाथं वरदं वरेण्यम्।
सर्वैः सुराद्यैर्नतमीड्यमाद्यं ततोऽन्धकः स्तोत्रमिदं चकार ॥ ५१ ॥

वरदानी शंकरके ऐसा कहनेपर व्याघ्रचर्मको वस्त्ररूपमें धारण करनेवाली और सब भूतोंके बाद उत्पन्न हुई सुन्दरी चर्चिका पृथ्वीपर चारों ओर विचरती हुई इंगुरके रंगवाले उत्तम पर्वतपर चली गयी। उसके (वहाँ) चले जानेपर वरदानी शंकरने कुज-(मंगल-) को सर्वश्रेष्ठ वर दिया। (उन्होंने कहा—) महात्मन्! तुम ग्रहोंके स्वामी बनोगे तथा संसारका शुभ और अशुभ तुम्हारे अधीन होगा। उन भैरव-रूपधारी भगवान् शिवने अपने अग्नि और सूर्यरूपी नेत्रोंसे एक हजार दिव्य वर्षोंतक अन्धकके शरीरको सुखाकर रक्तरहित कर हड्डी तथा चाम शेष रखकर कंकाल बना दिया। शंकरके नेत्रसे उत्पन्न अग्निद्वारा शुद्ध होनेके कारण वह असुरराज पापसे छूट गया। उसके बाद अनेक रूप धारण करके प्रजाओंका नियमन करनेवाले, समस्त चर और अचरके स्वामी, सर्वेश्वर, अविनाशी ईश, त्रैलोक्यपति, वरदानी, वरेण्य, सभी सुरादिकोंद्वारा विनयपूर्वक स्तुति करनेयोग्य एवं सबके आदिमें रहनेवाले शंकरको वास्तवरूपमें जानकर अन्धकने यह स्तुति की—॥ ४७–५१ ॥

अन्धक उवाच

नमोऽस्तु ते भैरव भीममूर्ते त्रिलोकगोप्त्रे शितशूलधारिणे।
विंशार्द्धबाहो भुजगेशहार त्रिनेत्र मां पाहि विपन्नबुद्धिम्॥ ५२॥
जयस्व सर्वेश्वर विश्वमूर्ते सुरासुरैर्वन्दितपादपीठ।
त्रैलोक्यमातुर्गुरवे वृषाङ्क भीतः शरण्यं शरणागतोऽस्मि॥ ५३॥
त्वां नाथ देवाः शिवमीरयन्ति सिद्धा हरं स्थाणुं महर्षयश्च।
भीमं च यक्षा मनुजा महेश्वरं भूताश्च भूताधिपमामनन्ति॥ ५४॥
निशाचरा उग्रमुपार्चयन्ति भवेति पुण्याः पितरो नमन्ति।
दासोऽस्मि तुभ्यं हर पाहि मह्यं पापक्षयं मे कुरु लोकनाथ॥ ५५॥

हे विशालकाय भैरव! हे त्रिलोककी रक्षा करनेवाले! हे तीक्ष्ण शूल धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। हे दस भुजाओंवाले तथा नागेशका हार धारण करनेवाले त्रिनेत्र! आप मुझ नष्टमतिकी रक्षा करें। हे देवों तथा असुरोंसे वन्दित पादपीठवाले विश्वमूर्ति सर्वेश्वर! आपकी जय हो। हे त्रिलोक-जननीके स्वामी वृषाङ्क! मैं भयभीत होकर आप शरणागतकी रक्षा करनेवालेकी शरणमें आया हूँ। हे नाथ! देवता आपको शिव (मङ्गलमय) कहते हैं। सिद्धलोग आपको हर (पापहारी), महर्षिलोग स्थाणु (अचल), यक्षलोग भीम, मनुष्य महेश्वर और भूत भूताधिपति मानते हैं। निशाचर उग्र नामसे आपकी अर्चना करते हैं तथा पुण्यात्मा पितृगण भव नामसे आपको नमस्कार करते हैं। हे हर! मैं आपका दास हूँ, आप मेरी रक्षा करें। हे लोकनाथ! मेरे पापोंका आप विनाश कीजिये॥ ५२–५५॥

भवांस्त्रिदेवस्त्रियुगस्त्रिधर्मा त्रिपुष्करश्चासि विभो त्रिनेत्र।
त्रय्यारुणिस्त्रिश्रुतिरव्ययात्मन् पुनीहि मां त्वां शरणं गतोऽस्मि॥ ५६॥
त्रिणाचिकेतस्त्रिपदप्रतिष्ठः षडङ्गवित् त्वं विषयेष्वलुब्धः।
त्रैलोक्यनाथोऽसि पुनीहि शम्भो दासोऽस्मि भीतः शरणागतस्ते॥ ५७॥
कृतं महच्छङ्कर तेऽपराधं मया महाभूतपते गिरीश।
कामारिणा निर्जितमानसेन प्रसादये त्वां शिरसा नतोऽस्मि॥ ५८॥
पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः। त्राहि मां देव ईशान सर्वपापहरो भव॥ ५९॥

हे सर्वसमर्थ त्रिनेत्र! आप त्रिदेव, त्रियुग, त्रिधर्मा तथा त्रिपुष्कर हैं। हे अव्ययात्मन्! आप त्र्यारुणि तथा त्रिश्रुति हैं। आप मुझे पवित्र करें। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप त्रिणाचिकेत, त्रिपदप्रतिष्ठ (स्वर्ग, मर्त्य,

पातालरूप तीनों पदोंपर प्रतिष्ठित) षडङ्गवित् (वेदके शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छः अङ्गोंके जाननेवाले), विषयोंके प्रति अनासक्त तथा तीनो लोकोंके स्वामी हैं । हे शम्भो ! आप मुझे पवित्र करें । मै आपका दास हूँ । भयभीत होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ । हे शंकर ! हे महाभूतपते ! हे गिरीश ! कामरूपी शत्रुने मेरे मनको जीत लिया था, इसलिये मैंने आपका महान् अपराध किया है । मै आपको सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ । मै पापी, पापकर्मा, पापात्मा तथा पापसे उत्पन्न हूँ । हे देव ईशान ! हे समस्त पापोंको हरण करनेवाले महादेव ! आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५६—५९ ॥

मा मे क्रुध्यस्व देवेश त्वया चैतादृशोऽस्म्यहम् । सृष्टः पापसमाचारो मे प्रसन्नो भवेश्वर ॥ ६० ॥
त्वं कर्ता चैव धाता च त्वं जयस्त्वं महाजयः । त्वं मङ्गल्यस्त्वमोंकारस्त्वमीशानो ध्रुवोऽव्ययः ॥ ६१ ॥
त्वं ब्रह्मा सृष्टिकृन्नाथस्त्वं विष्णुस्त्वं महेश्वरः । त्वमिन्द्रस्त्वं वषट्कारो धर्मस्त्वं च सुरोत्तमः ॥ ६२ ॥
सूक्ष्मस्त्वं व्यक्तरूपस्त्वं त्वमव्यक्तस्त्वमीश्वरः । त्वया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ६३ ॥
त्वमादिरन्तो मध्यश्च त्वमनादिः सहस्रपात् । विजयस्त्वं सहस्राक्षो विरूपाक्षो महाभुजः ॥ ६४ ॥
अनन्तः सर्वगो व्यापी हंसः प्राणाधिपोऽच्युतः । गीर्वाणपतिरव्यग्रो रुद्रः पशुपतिः शिवः ॥ ६५ ॥
त्रैविद्यस्त्वं जितक्रोधो जितारिर्विजितेन्द्रियः । जयश्च शूलपाणिस्त्वं त्राहि मां शरणागतम् ॥ ६६ ॥

देवेश ! आप मेरे ऊपर कुपित न हो । आपने ही मुझे इस प्रकारके पापका आचरण करनेवाला बनाया है । ईश्वर ! मेरे ऊपर प्रसन्न होइये । आप सृष्टि तथा पालन-पोषण करनेवाले हैं । आप ही जय और आप ही महाजय हैं । आप मङ्गलमय हैं । आप ओंकार है । आप ही ईशान, अव्यय तथा ध्रुव हैं । आप सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा तथा (सब कुछ करनेमे) समर्थ हैं । आप विष्णु और महेश्वर हैं । आप इन्द्र हैं, आप वषट्कार हैं, आप धर्म तथा देवोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । आप (कठिनतासे देखे जाने योग्य) सूक्ष्म हैं, आप (प्रतीतिका विषय होनेसे) व्यक्तरूप हैं, आप अप्रकटरहस्य—अव्यक्त हैं, आप ईश्वर हैं, आपसे ही यह चर-अचर जगत् व्याप्त (ओतप्रोत या ढका) है । आप आदि, मध्य एवं अन्त हैं, (साथ ही) आप आदि-रहित एवं हजारो पैरोंवाले सहस्रपात् हैं । आप विजय हैं । आप हजारो आँखोवाले, विरूप आँखवाले एवं बड़ी भुजावाले हैं । आप अन्तसे रहित, सर्वगत, व्यापी, हंस, प्राणोंके स्वामी (सदा स्वस्वरूपमे स्थित) अच्युत, देवाधिदेव, शान्त, रुद्र, पशुपति एवं शिव हैं । आप तीनो वेदोंके जाननेवाले, क्रोधको जीत लेनेवाले, शत्रुओंको विजित करनेवाले, इन्द्रियजयी, जय एवं शूलपाणि हैं । आप मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥ ६०—६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं महेश्वरो ब्रह्मन् स्तुतो दैत्याधिपेन तु । प्रीतियुक्तः पिङ्गलाक्षो हैरण्याक्षिमुवाच ह ॥ ६७ ॥
सिद्धोऽसि दानवपते परितुष्टोऽस्मि तेऽन्धक । वरं वरय भद्रं ते यमिच्छसि विनाऽम्बिकाम् ॥ ६८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! दैत्योंके स्वामी अन्धकके इस प्रकार स्तुति करनेपर लालिमा लिये भूरे रंगकी आँखवाले महेश्वरने प्रसन्न होकर हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकसे कहा—दानवपति अन्धक ! तुम सिद्ध हो गये हो; मै तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । अम्बिकाके सिवाय तुम जो चाहो, वह वर माँगो । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ६७-६८ ॥

अन्धक उवाच

अम्बिका जननी मह्यं भगवांस्त्र्यम्बकः पिता । वन्दामि चरणौ मातुर्वन्दनीया ममाम्बिका ॥ ६९ ॥
वरदोऽसि यदीशान तद् यातु विलयं मम । शारीरं मानसं वाग्जं दुष्कृतं दुर्विचिन्तितम् ॥ ७० ॥
तथा मे दानवो भावो व्यपयातु महेश्वर । स्थिराऽस्तु त्वयि भक्तिस्तु वरमेतत् प्रयच्छ मे ॥ ७१ ॥

अन्धकने (विनीत भावसे) कहा—अम्बिका मेरी माता और आप त्र्यम्बक मेरे पिता हैं। अम्बिका मेरी वन्दनीया हैं। मै उन माताके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। ईशान! यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो मेरे शरीरसम्बन्धी, मनसम्बन्धी एव वचनसम्बन्धी पाप तथा नीच विचार नष्ट हो जायँ। महेश्वर! मेरा दानवीय विचार भी दूर हो जाय एवं आपमे मेरी अटल भक्ति हो जाय—मुझे यही वर दीजिये ॥ ६९–७१ ॥

महादेव उवाच

एवं भवतु दैत्येन्द्र पापं ते यातु संक्षयम्। मुक्तोऽसि दैत्यभावाच्च भृङ्गी गणपतिर्भव ॥ ७२ ॥
इत्येवमुक्त्वा वरदः शूलाग्रादवतार्य तम्। निर्माज्य निजहस्तेन चक्रे निर्व्रणमन्धकम् ॥ ७३ ॥
ततः स्वदेहतो देवान् ब्रह्मादीनाजुहाव सः। ते निश्चेरुर्महात्मानो नमस्यन्तस्त्रिलोचनम् ॥ ७४ ॥
गणान् सनन्दीनाहूय सन्निवेश्य तदाग्रतः। भृङ्गिनं दर्शयामास ध्रुवं नैषोऽन्धकेति हि ॥ ७५ ॥

भगवान् महादेवने कहा—दैत्येन्द्र! ऐसा ही हो। तुम्हारे पाप नष्ट हो जायँ। तुम दानवीय विचारसे मुक्त हो गये। अब तुम भृङ्गी नामके गणपति हो गये। इस प्रकार कहकर वरदानी महादेवने उस अन्धकको शूलकी नोकसे उतारा और अपने हाथसे सहलाकर बिना घावका कर दिया। उसके बाद उन्होने अपने शरीरमे स्थित ब्रह्मादि देवोंका आह्वान किया। वे सभी महान् देवगण त्र्यम्बक शिवको नमस्कार करते हुए बाहर निकले। नन्दीके साथ गणोको बुलाकर और सामने बैठाकर भृङ्गीको दिखलाते हुए उन्होने कहा—निश्चय ही यह अन्धक (पहले-जैसा) नहीं रह गया है ॥ ७२–७५ ॥

तं दृष्ट्वा दानवपतिं संशुष्कपिशितं रिपुम्। गणाधिपत्यमापन्नं प्रशशंसुर्वृषध्वजम् ॥ ७६ ॥
ततस्तान् प्राह भगवान् सम्परिष्वज्य देवताः। गच्छध्वं स्वानि धिष्ण्यानि भुञ्जध्वं त्रिदिवं सुखम् ॥ ७७ ॥
सहस्राक्षोऽपि संयातु पर्वतं मलयं शुभम्। तत्र स्वकार्यं कृत्वैव पश्चाद् यातु त्रिविष्टपम् ॥ ७८ ॥
इत्येवमुक्त्वा त्रिदशान् समाभाष्य व्यसर्जयत्।
पितामहं नमस्कृत्य परिष्वज्य जनार्दनम्। ते विसृष्टा महेशेन सुरा जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ ७९ ॥

उस सूखे हुए मांसवाले शत्रु दानवपतिको गणाधिप हुआ देखकर वे सभी वृषध्वज (शंकर)की प्रशंसा करने लगे। उसके बाद भगवान् शंकरने उन देवोंको गले लगाकर कहा—देवताओ! आपलोग अपने-अपने स्थानको जाइये और स्वर्ग-सुखका उपभोग कीजिये। इन्द्र भी सुखद मलय-पर्वतपर जायँ तथा वहाँ अपना काम समाप्त करके ही स्वर्ग चले जायँ। ऐसा कहकर देवोसे वार्तालाप कर देवोंको विदा कर दिया। महेशने पितामहको नमस्कार तथा जनार्दनको गले लगाकर उन सभीको विदा कर दिया। (महेशसे विदा किये गये) वे देवगण स्वर्गको चले गये ॥ ७६–७९ ॥

महेन्द्रो मलयं गत्वा कृत्वा कार्यं दिवं गतः। गतेषु शक्रप्राग्र्येषु देवेषु भगवाञ्छिवः ॥ ८० ॥
विसर्जयामास गणाननुमान्य यथार्हतः। गणाश्च शङ्करं दृष्ट्वा स्वं स्वं वाहनमास्थिताः ॥ ८१ ॥
जग्मुस्ते शुभलोकानि महाभोगानि नारद। यत्र कामदुघा गावः सर्वकामफलद्रुमाः ॥ ८२ ॥
नद्यस्त्वमृतवाहिन्यो ह्रदाः पायसकर्दमाः। स्वां स्वां गतिं प्रयातेषु प्रमथेषु महेश्वरः ॥ ८३ ॥
समादायान्धकं हस्ते सनन्दिः शैलमभ्यगात्। द्वाभ्यां वर्षसहस्राभ्यां पुनरागाद्धरो गृहम् ॥ ८४ ॥
ददर्श च गिरेः पुत्रीं श्वेतार्ककुसुमस्थिताम्। समायातं निरीक्ष्यैव सर्वलक्षणसंयुतम् ॥ ८५ ॥
त्यक्त्वाऽर्कपुष्पं निर्गत्य सखीस्ताः समुपाह्वयत्। समाहूताश्च देव्या ता जयाद्यास्तूर्णमागमन् ॥ ८६ ॥

महेन्द्र भी मलयाचलपर जा करके (अपना) कार्य सम्पन्नकर स्वर्ग चले गये। शिवने इन्द्र आदि देवोंके चले जानेपर गणोंको यथायोग्य सम्मानित कर विदा कर दिया। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] नारदजी! गण

भी शंकरका दर्शन कर अपने वाहनोंपर आरूढ़ हो विशाल भोगसे सम्पन्न उन सुखद लोकोंको चले गये, जहाँकी गौएँ इच्छित वस्तु प्रदान करनेवाली थीं, वृक्ष समस्त कर्मरूपी फलोंके दाता थे, नदियाँ अमृतकी धारा बहानेवाली थीं और सरोवर दूधके पङ्कसे भरे थे। महेश्वर प्रमथोंके अपने-अपने स्थानपर चले जानेपर अन्धकका हाथ पकड़कर (उसे साथ लिये हुए) नन्दीसहित पर्वतपर चले गये। (वे) शंकर दो हजार वर्षोंके बाद फिर अपने घर लौटे। उन्होंने सफेद अर्क-(आक या मन्दार-)के फूलमें स्थित गिरिजाको देखा। पार्वती समस्त चिह्नोंसे युक्त शंकरको आया हुआ देखते ही अर्कके फूलको छोड़कर बाहर निकल आयीं और उन्होंने (अपनी जयादि) सखियोंको पुकारा। पुकारी गयीं वे जया आदि सभी देवियाँ शीघ्र वहाँ चली आयीं ॥ ८०-८६ ॥

ताभिः परिवृता तस्थौ हरदर्शनलालसा। ततस्त्रिनेत्रो गिरिजां दृष्ट्वा प्रेक्ष्य च दानवम् ॥ ८७ ॥
नन्दिनं च तथा हृष्टादालिलिङ्गे गिरेः सुताम्। अथोवाचैष दासस्ते कृतो देवि मयाऽन्धकः ॥ ८८ ॥
पश्यस्व प्रणतिं यातं स्वसुतं चारुहासिनि। इत्युच्चार्यान्धकं चैव पुत्र एह्येहि सत्वरम् ॥ ८९ ॥
व्रजस्व शरणं मातुरेषा श्रेयस्करी तव। इत्युक्तो विभुना नन्दी अन्धकश्च गणेश्वरः ॥ ९० ॥
समागम्याम्बिकापादौ ववन्दतुरुभावपि।
अन्धकोऽपि तदा गौरीं भक्तिनम्रो महामुने। स्तुतिं चक्रे महापुण्यां पापघ्नीं श्रुतिसम्मिताम् ॥ ९१ ॥

उन-(अपनी सहेली जयादि देवियों-)से घिरी हुई पार्वतीजी शिवके दर्शनकी अभिलाषासे (प्रतीक्षामें) खड़ी रहीं। त्रिनेत्रधारी शंकरने गिरिजाको देखकर दानव एवं नन्दीके ऊपर भी दृष्टिपात किया; फिर प्रसन्नतापूर्वक गिरिसुताको गले लगा लिया। उसके बाद उन्होंने कहा—देवि ! मैंने अन्धकको तुम्हारा दास बना लिया है। चारुहासिनि ! प्रणाम कर रहे अपने पुत्रको देखो। ऐसा कहनेके बाद उन्होंने कहा—पुत्र ! शीघ्र यहाँ आओ। अपनी इस माताकी शरणमें जाओ ! ये तुम्हारा कल्याण करेंगी। प्रभुके इस प्रकार कहनेपर गणेश्वर नन्दी एवं अन्धक दोनोंने जाकर अम्बिकाके चरणोंमें प्रणाम किया। महामुने ! उसके बाद श्रद्धापूर्वक नम्र होकर अन्धकने गौरीकी पाप नाश करनेवाली एवं अत्यन्त पवित्र वेद-सम्मत स्तुति की ॥ ८७-९१ ॥

अन्धक उवाच

ॐ नमस्ये भवानीं भूतभव्यप्रियां लोकधात्रीं जनित्रीं स्कन्दमातरं महादेवप्रियां धारिणीं स्यन्दिनीं चेतनां त्रैलोक्यमातरं धरित्रीं देवमातरमथेज्यां श्रुतिं स्मृतिं दयां लज्जां कान्तिमग्र्यामसूयां मतिं सदापावनीं दैत्यसैन्यक्षयकरीं महामायां वैजयन्तीं सुशुभां कालरात्रिं गोविन्दभगिनीं शैलराजपुत्रीं सर्वदेवार्चितां सर्वभूतार्चितां विद्यां सरस्वतीं त्रिनयनमहिषीं नमस्यामि मृडानीं शरण्यां शरणमुपागतोऽहं नमो नमस्ते ॥
इत्थं स्तुता सान्धकेन परितुष्टा विभावरी। प्राह पुत्र प्रसन्नाऽस्मि वृणुष्व वरमुत्तमम् ॥ ९२ ॥

अन्धकने कहा—ॐ मैं भवानीको प्रणाम करता हूँ। मैं भूतभव्य—शङ्करकी प्रिया, लोकधात्री, जनित्री, कार्तिकेयकी जननी, म०देवकी प्रिया, लोकोंको धारण करनेवाली, स्यन्दिनी, चेतना, त्रैलोक्यजननी, धरित्री, देवमाता, इज्या, श्रुति, स्मृति, दया, लज्जा, श्रेष्ठ कान्ति, अग्र्या, असूया, मति, सदापावनी, दैत्योंकी सेनाओंका विनाश करनेवाली, महामाया वैजयन्ती, अत्यन्त शोभावाली, कालरात्रि, गोविन्द-भगिनी, शैलराजपुत्री, सर्वदेवोंसे पूजित, सर्वभूतोंसे अर्चित, विद्या, सरस्वती, शंकरकी महारानीको प्रणाम करता हूँ। मैं शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली मृडानीकी शरणमें आया हूँ। (देवि !) आपको बार-बार प्रणाम है। अन्धकके इस प्रकार स्तुति करनेपर भवानीने प्रसन्न होकर कहा—पुत्र ! मैं प्रसन्न हूँ। तुम उत्तम वर माँगो ॥ ९२ ॥

*

भृङ्गिरुवाच

पापं प्रशममायातु त्रिविधं मम पार्वति। तथेश्वरे च सततं भक्तिरस्तु ममाम्बिके ॥ ९३ ॥

भृङ्गिने कहा—पार्वति ! अम्बिके ! मेरे त्रिविध—मानसिक, कायिक, वाचिक पाप दूर हो जायँ एवं भगवान् शिवमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥ ९३ ॥

पुलस्त्य उवाच

बाढमित्यब्रवीद् गौरी हिरण्याक्षसुतं ततः। स चास्ते पूजयञ्शर्वं गणानामधिपोऽभवत् ॥ ९४ ॥

एवं पुरा दानवसत्तमं तं महेश्वरेणाथ विरूपदृष्ट्या।
कृत्वैव रूपं भयदं च भैरवं भृङ्गित्वमीशेन कृतं स्वभक्त्या ॥ ९५ ॥
एतत् तवोक्तं हरकीर्तिवर्धनं पुण्यं पवित्रं शुभदं महर्षे।
संकीर्तनीयं द्विजसत्तमेषु धर्मायुरारोग्यधनैषिणा सदा ॥ ९६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद गौरीने हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकसे कहा—ऐसा ही हो । वह वहाँ रहकर शिवकी पूजा करते हुए गणाधिप हो गया । इस प्रकार पहले समयमें महेश्वरने उस दानवश्रेष्ठको अपनी विरूपदृष्टिसे भयदायक भीषण रूप प्रदानकर अपनी भक्तिसे 'भृङ्गी' बना दिया । महर्षे (नारदजी) ! मैंने आपसे शिवकी कीर्तिको बढ़ानेवाला यह पुण्य पवित्र एवं शुभद आख्यान कहा । धर्म, आयु, आरोग्य एवं धनको चाहनेवालेको श्रेष्ठ द्विजातियोमे इसका कीर्तन सदा करना चाहिये ॥ ९४—९६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

[अथैकसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

मलयेऽपि महेन्द्रेण यत्कृतं ब्राह्मणर्षभ। निष्पादितं स्वकं कार्यं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

एकहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(इन्द्रका मलयपर असुरोंसे युद्ध, उनका 'पाकशासन' और 'गोत्रभिद्' होनेका हेतु; मरुतोंकी उत्पत्तिकी कथा)

नारदने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! महेन्द्रने मलयपर्वतपर भी अपना जो कार्य पूरा किया उसे आप मुझसे कहिये ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां यन्महेन्द्रेण मलये पर्वतोत्तमे। कृतं लोकहितं ब्रह्मन्नात्मनश्च तथा हितम् ॥ २ ॥
अन्धासुरस्यानुचरा मयतारपुरोगमाः। ते निर्जिताः सुरगणैः पातालगमनोत्सुकाः ॥ ३ ॥
ददृशुर्मलयं शैलं सिद्धाध्युषितकन्दरम्। लतावितानसंछन्नं मत्तसत्त्वसमाकुलम् ॥ ४ ॥
चन्दनैरुरगाक्रान्तैः सुशीतैरभिसेवितम्। माधवीकुसुमामोदं ऋष्यर्चितहरं गिरिम् ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! महेन्द्रने श्रेष्ठ मलयपर्वतपर जगत्के हित तथा अपने कल्याणके लिये जो कार्य किया था, उसे सुनिये । मय, तार आदि अन्धकासुरके अनुचर दैत्य देवताओंसे पराजित होकर पाताललोकमें जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक होने लगे । उन लोगोंने सिद्धोंसे भरे कन्दराओंवाले तथा लतासमूहसे ढके, आमोदभरे प्राणियोंसे व्याप्त, साँपोंसे घिरे सुशीतल चन्दनसे युक्त तथा सुगन्धित माधवी लताके फूलोंकी सुगन्धिसे पूर्ण ऋषियों-द्वारा पूजित शंकरके मलयगिरिको देखा ॥ २—५ ॥

तं दृष्ट्वा शीतलच्छायं श्रान्ता व्यायामकर्षिताः। मयतारपुरोगास्ते निवासं समरोचयन्॥ ६॥
तेषु तत्रोपविष्टेषु प्राणतृप्तिप्रदोऽनिलः। विवाति शीतः शनकैर्दक्षिणो गन्धसंयुतः॥ ७॥
तत्रैव च रतिं चक्रुः सर्व एव महासुराः। कुर्वन्तो लोकसम्पूज्ये विद्वेषं देवतागणे॥ ८॥
ताञ्ज्ञात्वा शङ्करः शक्रं प्रेषयन्मलयेऽसुरान्। स चापि ददृशे गच्छन् पथि गोमातरं हरिः॥ ९॥

परिश्रमसे थके-माँदे तथा शक्तिहीन मय, तार आदि दानवोंने शीतल छायावाले उस पर्वतको देखकर वहाँ निवास करनेकी इच्छा की। उन लोगोंके वहाँ ठहर जानेपर प्राणोंको संतुष्टि प्रदान करनेवाली सुगन्धसे पूर्ण तथा शीतल दक्षिणी हवा मंद-मंद बहने लगी। जगत्-पूज्य देवताओंसे शत्रुता करते हुए सभी श्रेष्ठ दैत्य सुखसे वहीं रहने लगे। शंकरने उन असुरोंको मलय पर्वतपर रहते हुए जानकर इन्द्रको वहाँ भेजा। मार्गमें जाते हुए इन्द्रने गोमाताको देखा॥ ६-९॥

तस्याः प्रदक्षिणां कृत्वा दृष्ट्वा शैलं च सुप्रभम्। ददृशे दानवान् सर्वान् संहृष्टान् भोगसंयुतान्॥ १०॥
अथाजुहाव बलहा सर्वानेव महासुरान्। ते चाप्याययुरव्यग्रा विकिरन्तः शरोत्करान्॥ ११॥
तानागतान् बाणजालैः रथस्थोऽद्भुतदर्शनः। छादयामास विप्रर्षे गिरीन् वृष्ट्या यथा घनः॥ १२॥
ततो बाणैरवच्छाद्य मयादीन् दानवान् हरिः। पाकं जघान तीक्ष्णाग्रैर्मार्गणैः कङ्कवाससैः॥ १३॥

उसकी प्रदक्षिणा करनेके बाद उन्होंने सुकान्तिसे सम्पन्न पर्वतपर भोगसे संयुत तथा हर्षित सभी दानवोंको देखा। उसके बाद इन्द्रने सभी महासुरोंको ललकारा। वे भी बिना किसी हिचकके बाणोंकी वर्षा करते हुए आ गये। विप्रर्षे! रथपर बैठे हुए अद्भुत दिखायी पड़नेवाले इन्द्रने आये हुए उन दानवोंको बाणोंके समूहोंसे इस प्रकार ढक दिया जिस प्रकार बादल जलकी वर्षासे पर्वतोंको ढक देता है। उसके बाद इन्द्रने मय आदि दानवोंको बाणोंसे ढककर कङ्क पक्षीके पंख लगे तेज—नुकीली धारवाले बाणोंसे पाक नामके दानवका वध कर दिया॥ १०-१३॥

तत्र नाम विभुर्लेभे शासनत्वात् शरैर्दृढैः। पाकशासनतां शक्रः सर्वामरपतिर्विभुः॥ १४॥
तथाऽन्यं पुरनामानं बाणासुरसुतं शरैः। सुपुङ्खैर्दारयामास ततोऽभूत् स पुरन्दरः॥ १५॥
हत्वेत्थं समरेऽजैषीद् गोत्रभिद् दानवं बलम्। तच्चापि विजितं ब्रह्मन् रसातलमुपागमत्॥ १६॥
एतदर्थं सहस्राक्षः प्रेषितो मलयाचलम्। त्र्यम्बकेन मुनिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥ १७॥

मजबूत बाणोंसे पाकको दण्डित (शासित) करनेके कारण सभी अमरोंके पति विभु इन्द्रको पाकशासननामकी प्राप्ति हुई। इसी प्रकार उन्होंने सुन्दर पुंख लगे बाणोंसे दूसरे पुर नामक बाणासुरके पुत्रका (भी) वध कर दिया। इसीसे वे पुरन्दर हुए। ब्रह्मन्! इस प्रकार उन दानवोंका नाश कर इन्द्रने युद्धमें दानव-सेनाको जीत लिया। हारा हुआ वह दानवोंका सेना-समूह रसातलमें चला गया। मुनिश्रेष्ठ! इसीलिये शंकरने इन्द्रको मलय पर्वतपर भेजा था। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?॥ १४-१७॥

नारद उवाच

किमर्थं दैवतपतिर्गोत्रभित् कथ्यते हरिः। एष मे संशयो ब्रह्मन् हृदि सम्परिवर्तते॥ १८॥

नारदने कहा (पूछा)—ब्रह्मन्! मेरे हृदयमें यह संदेह है कि देवपति-(इन्द्र-) को गोत्रभिद् क्यों कहा जाता है॥ १८॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां गोत्रभिच्छक्रः कीर्तितो हि यथा मया। हते हिरण्यकशिपौ यच्चकारारिमर्दनः ॥ १९ ॥
दितिर्विनष्टपुत्रा कश्यपं प्राह नारद। विभो नाथोऽसि मे देहि शक्रहन्तारमात्मजम् ॥ २० ॥
कश्यपस्तामुवाचाथ यदि त्वमसितेक्षणे। शौचाचारसमायुक्ता स्थास्यसे दशतोर्दश ॥ २१ ॥
संवत्सराणां दिव्यानां ततस्त्रैलोक्यनायकम्। जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शत्रुघ्नं नान्यथा प्रिये ॥ २२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मैने इन्द्रको गोत्रभिद् जैसे कहा तथा हिरण्यकशिपुके मार दिये जानेपर शत्रुमर्दन इन्द्रने जो किया ? आप (सब) सुनें। नारदजी! पुत्रकी मृत्यु हो जानेपर दितिने कश्यपसे कहा—प्रभो! आप मेरे पति हैं, मुझे इन्द्रका वध करनेवाला पुत्र दीजिये। कश्यपने उससे कहा—असितनयने! यदि तुम सौ दिव्य वर्षोंतक पवित्र आचरण करोगी तो तुम तीनों लोकोंका मार्गदर्शक एवं शत्रुसंहारकारी पुत्र उत्पन्न करोगी। प्रिये! इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १९–२२ ॥

इत्येवमुक्ता सा भर्त्रा दितिर्नियममास्थिता। गर्भाधानमृषिः कृत्वा जगामोदयपर्वतम् ॥ २३ ॥
गते तस्मिन् मुनिश्रेष्ठे सहस्राक्षोऽपि सत्वरम्। तमाश्रममुपागम्य दितिं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
करिष्याम्यनुशुश्रूषां भवत्या यदि मन्यसे। बाढमित्यब्रवीद् देवी भाविकर्मप्रचोदिता ॥ २५ ॥
समिदाहरणादीनि तस्याश्चक्रे पुरन्दरः। विनीतात्मा च कार्यार्थी छिद्रान्वेषी भुजङ्गवत् ॥ २६ ॥

पतिके ऐसा कहनेपर दितिने नियमका निर्वाह करना प्रारम्भ कर दिया। कश्यप ऋषि गर्भाधान करके उदयगिरिपर चले गये। उन मुनिश्रेष्ठके उदयगिरिपर चले जानेके पश्चात् इन्द्रने शीघ्रतासे उस आश्रममें जाकर दितिसे यह वचन कहा—यदि आप अनुमति प्रदान करें तो मैं आपकी सेवा करूँ। भवितव्यतासे प्रेरित होकर देवीने कहा—ठीक है। विनीत बना हुआ इन्द्र अपने कार्यकी सिद्धिके लिये बिल खोजनेवाले सर्पकी भाँति अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए उस- (दिति-) के लिये लकड़ी आदि लानेका कार्य करने लगे ॥ २३–२६ ॥

एकदा सा तपोयुक्ता शौचे महति संस्थिता। दशवर्षशतान्ते तु शिरःस्नाता तपस्विनी ॥ २७ ॥
जानुभ्यामुपरि स्थाप्य मुक्तकेशा निजं शिरः। सुष्वाप केशप्रान्तैस्तु संश्लिष्टचरणाऽभवत् ॥ २८ ॥
तमन्तरमशौचस्य ज्ञात्वा वेदः सहस्रदृक्। विवेश मातुरुदरं नासारन्ध्रेण नारद ॥ २९ ॥
प्रविश्य जठरं क्रुद्धो दैत्यमातुः पुरन्दरः। ददर्शोर्ध्वमुखं बालं कटिन्यस्तकरं महत् ॥ ३० ॥

एक हजार वर्ष बीत जानेपर मनोयोगसे पवित्रताका पालन करनेमें लगी हुई वह तपस्विनी एक दिन सिरसे स्नान करनेके बाद बालोंको खोले हुए अपने घुटनोंपर सिर रखकर सो गयी। उसके बालोंके ऊपरी भाग (लटककर) पैरोंसे लग गये। नारदजी! सहस्राक्ष इन्द्रदेव अपवित्रताके लिये उस अवसरको (उपयुक्त) जानकर नासिकाके छिद्रसे माताके उदरमें प्रवेश कर गये। इन्द्रने दैत्यमाताकी विशाल कोखमें प्रवेश कर कमरपर हाथ रखे ऊपरको मुख किये हुए एक बालकको देखा ॥ २७–३० ॥

तस्यैवास्तेऽथ ददृशे पेशीं मांसस्य वासवः। शुद्धस्फटिकसंकाशां कराभ्यां जगृहेऽथ ताम् ॥ ३१ ॥
ततः कोपसमाध्मातो मांसपेशीं शतक्रतुः। कराभ्यां मर्दयामास ततः सा कठिनाऽभवत् ॥ ३२ ॥
ऊर्ध्वेनार्धं च ववृधे त्वधोऽध ववृधे तथा। शतपर्वाऽथ कुलिशः संजातो मांसपेशितः ॥ ३३ ॥
तेनैव गर्भं दितिजं वज्रेण शतपर्वणा। चिच्छेद सप्तधा ब्रह्मन् स रुरोद च विस्वरम् ॥ ३४ ॥

इन्द्रने उस बालकके मुँहमें एक शुद्ध स्फटिकके समान मांसपेशी देखी। इन्होंने उस मांसपेशीको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया। उसके बाद क्रोधकी आगसे संतप्त हुए शतक्रतुने अपने दोनों हाथोंसे उस मांसपेशीको मसल दिया जिससे वह कठोर हो गयी (अब वह पिण्डके रूपमें हो गयी)। उस पिण्डका आधा भाग ऊपरकी ओर और आधा भाग नीचेकी ओर बढ़ गया। इस प्रकार उस मांसपेशीसे सौ पोरोंवाला वज्र बन गया। ब्रह्मन्! (इन्द्रने) उन्हीं पोरोंवाले वज्रसे दितिके द्वारा धारण किये हुए गर्भको सात भागोंमें काट डाला। फिर वह गर्भमें रहनेवाला बालक विलखते स्वरमें रोने लगा ॥ ३१–३४ ॥

ततोऽप्यबुध्यत दितिरज्ञानाच्छक्रचेष्टितम्। शुश्राव वाचं पुत्रस्य रुद्यमानस्य नारद ॥ ३५ ॥
शक्रोऽपि प्राह मा मूढ रुदस्वेति सुघर्घरम्। इत्येवमुक्त्वा चैकैकं भूयश्चिच्छेद सप्तधा ॥ ३६ ॥
ते जाता मरुतो नाम देवभृत्याः शतक्रतोः। मातुरेवापचारेण चलन्ते ते पुरस्कृताः ॥ ३७ ॥
ततः सकुलिशः शक्रो निर्गम्य जठरात् तदा। दितिं कृताञ्जलिपुटः प्राह भीतस्तु शापतः ॥ ३८ ॥
ममास्ति नापराधोऽयं यच्छस्तस्तनयस्तव। तवैवापनयाच्छस्तस्तन्मे न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ३९ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] नारदजी! उसके बाद दिति जग गयी और उसने इन्द्रकी की हुई चेष्टाको जान लिया। उसने रोते हुए पुत्रकी वाणी सुनी। इन्द्रने भी कहा—मूर्ख! घर्घर शब्दसे मत रोओ। ऐसा कहकर उन्होंने प्रत्येक टुकड़ेको पुनः सात-सात टुकड़ोंमें काट डाला। वे (कटे हुए टुकडे) इन्द्रके मरुत् नामके देवभृत्य हो गये। माताके ही अनुचित कार्य करनेके कारण वे आगे चलते हैं। उसके बाद वज्र लिये हुए इन्द्रने जठरसे बाहर आकर एवं शापसे भयभीत होकर हाथ जोड़कर दितिसे कहा—आपके पुत्रको जो मैंने काटा है इसमें मेरा अपराध नहीं है। आपके ही अपचरण-(पवित्रताका पालन न करने-) से वह काटा गया। अतः मेरे ऊपर आपको कुपित नहीं होना चाहिये ॥ ३५–३९ ॥

दितिरुवाच

न तवात्रापराधोऽस्ति मन्ये दिष्टमिदं पुरा। सम्पूर्णे त्वपि काले वै याऽशौचत्वमुपागता ॥ ४० ॥

दितिने कहा—इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। मै इसे पूर्वनियोजित मानती हूँ। इसीसे समय पूरा होनेपर भी मैंने अपवित्रताका आचरण कर दिया ॥ ४० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा तान् बालान् परिसान्त्व्य दितिः स्वयम्। देवराज्ञा सहैतांस्तु प्रेषयामास भामिनी ॥ ४१ ॥
एवं पुरा स्वानपि सोदरान् स गर्भस्थितानुज्झरितुं भयार्तः।
बिभेद वज्रेण ततः स गोत्रभित् ख्यातो महर्षे भगवान् महेन्द्रः ॥ ४२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भामिनी दितिने ऐसा कहनेके बाद उन बालकोंको सान्त्वना देकर उन्हे देवराजके साथ ही भेज दिया। महर्षे! इस प्रकार पूर्वकालमें भयार्त्त होकर महेन्द्रने गर्भस्थित अपने ही सहोदरोंके विनाशके लिये उन्हें वज्रद्वारा काट दिया। इसीसे वे 'गोत्रभित्' नामसे प्रसिद्ध हो गये ॥ ४१-४२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें एकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

[अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

यदमी भवता प्रोक्ता मरुतो दितिजोत्तमाः। तत् केन पूर्वमासन् वै मरुन्मार्गेण कथ्यताम् ॥ १ ॥
पूर्वमन्वन्तरेष्वेव समतीतेषु सत्तम। के त्वासन् वायुमार्गस्थास्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

बहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत चाक्षुष-मन्वन्तरोंके मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन)

नारदजीने कहा—(पुलस्त्यजी !) आपने दितिसे उत्पन्न उत्तम मरुद्गणोंका जो वर्णन किया उसके विषयमें यह कहिये कि पहले वे मरुत् किस मार्गमें अवस्थित थे; सत्तम ! आप मुझे विशेषरूपसे यह बतलाइये कि पूर्व मन्वन्तरके बीत जानेपर कौन (मरुत्) वायुमार्गमें स्थित थे ? ॥ १-२ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां पूर्वमरुतामुत्पत्तिं कथयामि ते। स्वायम्भुवं समारभ्य यावन्मन्वन्तरं त्विदम् ॥ ३ ॥
स्वायम्भुवस्य पुत्रोऽभून्मनोर्नाम प्रियव्रतः। तस्यासीत् सवनो नाम पुत्रस्त्रैलोक्यपूजितः ॥ ४ ॥
स चानपत्यो देवर्षे नृपः प्रेतगतिं गतः। ततोऽरुदत् तस्य पत्नी सुदेवा शोकविह्वला ॥ ५ ॥
न ददाति तदा दग्धुं समालिङ्गय स्थिता पतिम्। नाथ नाथेति बहुशो विलपन्ती त्वनाथवत् ॥ ६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) स्वायम्भुव मन्वन्तरसे लेकर इस मन्वन्तरतकके पहलेतकके मरुद्गणोंकी उत्पत्ति आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये। स्वायम्भुव मनुके पुत्रका नाम प्रियव्रत था। तीनों लोकोंमें सत्कार प्राप्त सवन उन प्रियव्रतके पुत्र थे। देवर्षे ! वे राजा पुत्रहीन ही मृत्युको प्राप्त हो गये। उसके बाद उनकी सुदेवा नामकी पत्नी शोकसे विह्वल होकर रोने लगी। उसने उस मृत-शरीरको दाह-संस्कार करनेके लिये नहीं दिया। पतिके गलेसे लिपटी हुई वह 'हा नाथ, हा नाथ' कहती हुई असहायकी भाँति अत्यधिक विलाप करने लगी ॥ ३-६ ॥

तामन्तरिक्षादशरीरिणी वाक् प्रोवाच मा राजपत्नीह रोदीः।
यद्यस्ति ते सत्यमनुत्तमं तदा भवत्वयं ते पतिना सहाग्निः ॥ ७ ॥
सा तां वाणीमन्तरिक्षान्निशम्य प्रोवाचेदं राजपुत्री सुदेवा।
शोचाम्येनं पार्थिवं पुत्रहीनं नैवात्मानं मन्दभाग्यं विहङ्ग ॥ ८ ॥
सोऽथाब्रवीन्मा रुदस्वायताक्षि पुत्रास्त्वत्तो भूमिपालस्य सप्त।
भविष्यन्ति वह्निमारोह शीघ्रं सत्यं प्रोक्तं श्रद्दधत्स्व त्वमद्य ॥ ९ ॥
इत्येवमुक्ता खचरेण बाला चितौ समारोप्य पतिं वरार्हम्।
हुताशमासाद्य पतिव्रता तं संचिन्तयन्ती ज्वलनं प्रपन्ना ॥ १० ॥

उस समय आकाशसे अशरीरिणीवाणीने उससे कहा—राजपत्नि ! तुम रोओ मत। यदि तुम्हारा सत्य (पति-सेवा-) व्रत श्रेष्ठ है तो यह अग्नि पतिके साथ तुम्हारे हितके लिये हो। आकाशसे हुई उस वाणीको सुनकर राजपुत्री सुदेवाने कहा—आकाशचारिन् ! मै इस सुत-हीन राजाके लिये सोच कर रही हूँ; न कि अपने दुर्भाग्यके लिये। उस आकाशवाणीने फिर कहा—विशालनयने ! तुम रोओ मत। तुम्हारे गर्भसे तो राजाको सात पुत्र होंगे। तुम शीघ्र चितापर चढ जाओ। मैं सच कहता हूँ। इसपर तुम आज विश्वास करो। आकाशचारीके

ऐसा कहनेपर उस बालाने श्रेष्ठ पतिको चितापर रखा और पतिका ध्यान करती हुई जलती चितामें प्रवेश कर वह पतिव्रता अग्निकी शरणमें चली गयी (जल मरी) ॥ ७–१० ॥

ततो मुहूर्तान्नृपतिः श्रिया युतः समुत्तस्थौ सहितो भार्यया़ऽसौ।
समुत्पपाताथ स कामचारी समं महिष्या च सुनाभपुत्र्या ॥ ११ ॥
तस्याम्बरे नारद पार्थिवस्य जाता रजोगा महिषी तु गच्छतः।
स दिव्ययोगात् प्रतिसंस्थितोऽम्बरे भार्यासहायो दिवसानि पञ्च ॥ १२ ॥
ततस्तु षष्ठेऽहनि पार्थिवेन ऋतुर्न वन्ध्योऽद्य भवेद् विचिन्त्य।
रराम तन्व्या सह कामचारी ततोऽम्बरात् प्राच्यवतास्य शुक्रम् ॥ १३ ॥
शुक्रोत्सर्गावसाने तु नृपतिर्भार्यया सह। जगाम दिव्यया गत्या ब्रह्मलोकं तपोधन ॥ १४ ॥

उसके बाद क्षणभरमें शोभासे सम्पन्न वह राजा पत्नीके साथ उठा और सुनाभकी पुत्री अपनी राजरानीके साथ आकाशमें जाकर स्वच्छन्दतासे भ्रमण करने लगा। नारदजी ! आकाशमें जाते हुए उस राजाकी रानी रजस्वला हो गयी। वह राजा दिव्ययोगसे आकाशमें भार्या- (सुदेवा-) के साथ पाँच दिनोंतक रहा। उसके बाद छठे दिन आज ऋतु व्यर्थ न हो जाय—ऐसा सोचकर कामचारी राजा भार्याके साथ विहार करने लगा। उसके बाद आकाशसे उसका शुक्र स्खलित हो गया। तपोधन ! शुक्र-त्याग करनेके पश्चात् राजा पत्नीके साथ दिव्यगतिसे ब्रह्मलोकको चला गया ॥ ११–१४ ॥

तदम्बरात् प्रचलितमभ्रवर्णं शुक्रं समाना नलिनी वपुष्मती।
चित्रा विशाला हरितालिनी च सप्तर्षिपत्न्यो ददृशुर्यथेच्छया ॥ १५ ॥
तद् दृष्ट्वा पुष्करे न्यस्तं प्रत्यैच्छन्त तपोधन। मन्यमानास्तदमृतं सदा यौवनलिप्सया ॥ १६ ॥
ततः स्नात्वा च विधिवत् सम्पूज्य तान् निजान् पतीन्। पतिभिः समनुज्ञाताः पपुः पुष्करसंस्थितम् ॥ १७ ॥
तच्छुक्रं पार्थिवेन्द्रस्य मन्यमानास्तदाऽमृतम्। पीतमात्रेण शुक्रेण पार्थिवेन्द्रोद्भवेन ताः ॥ १८ ॥
ब्रह्मतेजोविहीनास्ता जाताः पत्न्यस्तपस्विनाम्। ततस्तु तत्यजुः सर्वे सदोषास्ताश्च पत्नयः ॥ १९ ॥

समाना, नलिनी, वपुष्मती, चित्रा, विशाला, हरिता एवं अलिनी—इन सात ऋषि-पत्नियोंने आकाशसे गिरते हुए अभ्रकके समान वर्णवाले शुक्रको इच्छाभर देखा। तपोधन ! उसे देखकर उसको अमृत समझती हुई उन सबोंने स्थायी युवावस्था प्राप्त करनेकी लालसासे उसे कमलमें रख लिया। उसके बाद वे स्नान करके अपने-अपने पतियोंका पूजनकर उन पतियोंकी अनुमतिसे कमलमें रखे राजाके उस शुक्रको अमृत मानती हुई पान कर गयीं। राजाके शुक्रका पान करते ही तपस्वियोंकी वे पत्नियाँ ब्रह्मतेजसे रहित हो गयीं। उसके बाद उन तपस्वी लोगोंने अपनी उन दोषिणी पत्नियोंका त्याग कर दिया ॥ १५–१९ ॥

सुषुवुः सप्त तनयान् रुदतो भैरवं मुने। तेषां रुदितशब्देन सर्वमापूरितं जगत् ॥ २० ॥
अथाजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः। समभ्येत्याब्रवीद् बालान् मा रुदध्वं महाबलाः ॥ २१ ॥
मरुतो नाम यूयं वै भविष्यध्वं वियच्चराः। इत्येवमुक्त्वा देवेशो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २२ ॥
तानादाय वियच्चारी मारुतानादिदेश ह। ते त्वासन् मरुतस्त्वाद्या मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ २३ ॥

मुने ! उन ऋषिकी पत्नियोंने भयंकर रुदन करते हुए सात पुत्रोंको जन्म दिया। उनकी रुलाई सारे संसारमें भर गयी। उसके बाद भगवान् लोकपितामह ब्रह्मा आ गये। बालकोंके समीप जाकर उन्होंने कहा—हे

महाबलवानो ! रोओ मत । तुम्हारा नाम मरुत् होगा । तुम आकाशमे विचरण करनेवाले होओगे । इतना कहकर लोक-पितामह देवेश ब्रह्मा उन मरुतोंको लेकर आकाशमें चले गये और उन्हे (आकाशमें रहनेका) आदेश दे दिया । वे ही स्वायम्भुव मनुके समयमे 'आद्य मरुत्' हुए ॥ २०—२३ ॥

स्वारोचिषे तु मरुतो वक्ष्यामि शृणु नारद । स्वारोचिषस्य पुत्रस्तु श्रीमानासीत् क्रतुध्वजः ॥ २४ ॥
तस्य पुत्राभवन् सप्त सप्तार्चिः प्रतिमा मुने । तपोऽर्थं ते गताः शैलं महामेरुं नरेश्वराः ॥ २५ ॥
आराधयन्तो ब्रह्माणं पदमैन्द्रमथेप्सवः । ततो विपश्चिन्नामाथ सहस्राक्षो भयातुरः ॥ २६ ॥
पूतनामप्सरोमुख्यां प्राह नारद वाक्यवित् । गच्छस्व पूतने शैलं महामेरुं विशालिनम् ॥ २७ ॥

नारदजी ! अब मै स्वारोचिष मन्वन्तरके मरुतोंका वर्णन करता हूँ, (उसे) सुनो । स्वारोचिषके पुत्र श्रीमान् क्रतुध्वज थे । मुने ! उनके अग्निके समान सात पुत्र थे । वे सभी नरेश्वर तपस्या करनेके लिये महामेरु पर्वतपर चले गये । वे इन्द्रपदको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्माकी आराधना करने लगे । उसके बाद बुद्धिमान् इन्द्र भयभीत हो गये । नारदजी ! वक्ताके अभिप्रायको स्पष्टतः समझनेवाले इन्द्रने अप्सराओंमे प्रधान पूतनासे कहा— पूतने ! तुम महान् विशाल मेरु पर्वतपर जाओ ॥२४—२७॥

तत्र तप्यन्ति हि तपः क्रतुध्वजसुता महत् । यथा हि तपसो विघ्नं तेषां भवति सुन्दरि ॥ २८ ॥
तथा कुरुष्व मा तेषां सिद्धिर्भवतु सुन्दरि । इत्येवमुक्ता शक्रेण पूतना रूपशालिनी ॥ २९ ॥
तत्राजगाम त्वरिता यत्रातप्यन्त ते तपः । आश्रमस्याविदूरे तु नदी मन्दोदवाहिनी ॥ ३० ॥
तस्यां स्नातुं समायाताः सर्वं एव सहोदराः । साऽपि स्नातुं सुचार्वङ्गी त्ववतीर्णा महानदीम् ॥ ३१ ॥

वहाँ क्रतुध्वजके पुत्र महान् तप कर रहे हैं । सुन्दरि ! उनके तपमे जिस प्रकार विघ्न हो तथा हे सुन्दरि ! उन्हे सिद्धिकी प्राप्ति जैसे न हो सके—ऐसा उपाय करो । इन्द्रके कहनेपर रूपवती पूतना शीघ्र वहाँ गयी, जहाँ वे तपस्या कर रहे थे । आश्रमके पास ही मन्द जल-प्रवाहवाली नदी थी । सभी सगे भाई उस नदीमें स्नान करनेके लिये आये । वह सुन्दरी भी स्नान करनेके लिये उस महानदीमे उतरी ॥ २८—३१ ॥

ददृशुस्ते नृपाः स्नातां ततश्चुक्षुभिरे मुने । तेषां च प्राच्यवच्छुक्रं तत्पपौ जलचारिणी ॥ ३२ ॥
शङ्खिनी ग्राहमुख्यस्य महाशङ्खस्य वल्लभा । तेऽपि विभ्रष्टतपसो जग्मू राज्यं तु पैतृकम् ॥ ३३ ॥
सा चाप्सराः शक्रमेत्य याथातथ्यं न्यवेदयत् । ततो बहुतिथे काले सा ग्राही शङ्खरूपिणी ॥ ३४ ॥
समुद्धृता महाजालैर्मत्स्यबन्धेन मानिनी । स तां दृष्ट्वा महाशङ्खीं स्थलस्थां मत्स्यजीविकः ॥ ३५ ॥
निवेदयामास तदा क्रतुध्वजसुतेषु वै । तथाऽभ्येत्य महात्मानो योगिनो योगधारिणः ॥ ३६ ॥

मुने ! उन राजपुत्रोने स्नान करती हुई उस पूतनाको देखा और वे क्षुभित हो गये; परिणामतः उनका शुक्रपात हो गया । मछलियोमें प्रधान महाशङ्खकी प्रिया शङ्खिनीने उसे पी लिया । तपके भ्रष्ट हो जानेपर वे भी अपने पिताके राज्यमें चले गये । उस अप्सराने भी इन्द्रके पास जाकर उनसे सत्य तथ्यको बतला दिया । उसके बाद बहुत समयके पश्चात् किसी धीवरने महाजालद्वारा उस शङ्खरूपिणी मानिनी बड़ी मछलीको पकड़ लिया । मछलीसे जीवनका निर्वाह करनेवाले-(धीवर-) ने भूमिपर पड़ी हुई उस महाशङ्खीको देखकर क्रतुध्वजके पुत्रोंसे निवेदित किया । योगको धारण करनेवाले वे महात्मा योगी उसके निकट गये ॥ ३२—३६ ॥

नीत्वा स्वमन्दिरं सर्वे पुरवाप्यां समुत्सृजन् । ततः क्रमाच्छङ्खिनी सा सुषुवे सप्त वै गिरीन् ॥ ३७ ॥
जातमात्रेषु पुत्रेषु मोक्षभावमगाच्च सा । अमातृपितृका बाला जलमध्यविहारिणः ॥ ३८ ॥
स्तन्यार्थिनो वै रुरुदुरथाभ्यागात् पितामहः । मा रुदध्वमितीत्याह मरुतो नाम पुत्रकाः ॥ ३९ ॥
यूयं देवा भविष्यध्वं वायुस्कन्धविचारिणः । इत्येवमुक्त्वाथादाय सर्वांस्तान् दैवतान् प्रति ॥ ४० ॥
नियोज्य च मरुन्मार्गे वैराजं भवनं गतः । एवमासंश्च मरुतो मनोः स्वारोचिषेऽन्तरे ॥ ४१ ॥

उन सभीने उसको अपने घर लाकर नगरके तालाबमें छोड़ दिया । उस शङ्खिनीने क्रमशः सात पुत्रोंको जन्म दिया । पुत्रोंका जन्म होते ही वह शङ्खिनी संसारसे विदा हो गयी । अब बिना माता-पिताके वे बालक जलमें विचरण करने लगे । दूधके लिये वे बिलखने लगे । उस समय वहाँ पितामह आ गये । उन्होंने 'मत रोओ' ऐसा कहा । इसीलिये उनका नाम मरुत् हुआ । 'तुमलोग वायुके कंधेपर विचरण करनेवाले देवता होगे' यह कहनेके बाद वे उन सभी देवताओंको ले जाकर उन्हें वायुमार्गमें नियुक्त कर ब्रह्मलोकको चले गये । इस प्रकार स्वारोचिष मनुके समयमें मरुत् हुए ॥ ३७–४१ ॥

उत्तमे मरुतो ये च ताञ्छृणुष्व तपोधन । उत्तमस्यान्ववाये तु राजासीन्निषधाधिपः ॥ ४२ ॥
वपुष्मानिति विख्यातो वपुषा भास्करोपमः । तस्य पुत्रो गुणश्रेष्ठो ज्योतिष्मान् धार्मिकोऽभवत् ॥ ४३ ॥
स पुत्रार्थी तपस्तेपे नदीं मन्दाकिनीमनु । तस्य भार्या च सुश्रोणी देवाचार्यसुता शुभा ॥ ४४ ॥
तपश्चरणयुक्तस्य बभूव परिचारिका । सा स्वयं फलपुष्पाम्बुसमित्कुशं समाहरत् ॥ ४५ ॥

तपोधन ! उत्तम-(मन्वन्तर-) में जो मरुत् थे, अब उनके विषयमें सुनिये । उत्तमके वंशमें शरीरसे सूर्यके सदृश वपुष्मान् नामके प्रसिद्ध निषधोंके एक राजा थे । उनका उत्तम गुणोंवाला ज्योतिष्मान् नामका एक धार्मिक पुत्र था । वह पुत्रकी कामनासे मन्दाकिनी नदीके किनारे तपस्या करने लगा । देवाताओंके आचार्य बृहस्पतिकी सुन्दरी पुत्री उसकी कल्याणकारिणी पत्नी थी । वह उस तपस्वीकी सेविका बनी । वह स्वयं फल, पुष्प, जल, समिधा एवं कुश लाती थी ॥ ४२–४५ ॥

चकार पद्मपत्राक्षी सम्यक् चातिथिपूजनम् । पतिं शुश्रूषमाणा सा कृशा धमनिसंतता ॥ ४६ ॥
तेजोयुक्ता सुचार्वङ्गी दृष्टा सप्तर्षिभिर्वने । तां तथा चारुसर्वाङ्गीं दृष्ट्वाऽथ तपसा कृशाम् ॥ ४७ ॥
पप्रच्छुस्तपसो हेतुं तस्यास्तद्भर्तुरेव च । साऽब्रवीत् तनयार्थाय आवाभ्यां वै तपःक्रिया ॥ ४८ ॥
ते चास्यै वरदा ब्रह्मन् जाताः सप्त महर्षयः । व्रजध्वं तनयाः सप्त भविष्यन्ति न संशयः ॥ ४९ ॥
युवयोर्गुणसंयुक्ता महर्षीणां प्रसादतः । इत्येवमुक्त्वा जग्मुस्ते सर्व एव महर्षयः ॥ ५० ॥

कमलदलके समान नयनोंवाली वह अच्छी तरह अतिथियोंका सत्कार करती थी । पतिकी सेवा करते हुए उसका शरीर दुबला हो गया तथा नाड़ियाँ दिखायी देने लगीं । सप्तर्षियोंने उस तेजस्विनी सर्वाङ्गसुन्दरीको वनमें देखा । तपसे दुर्बल उस सर्वाङ्गसुन्दरीको देखकर उन लोगोंने उसकी तथा उसके पतिकी तपस्याका कारण पूछा । उसने कहा—हम दोनों पुत्रके लिये तप कर रहे हैं । ब्रह्मन् ! सातों महर्षियोंने उसे वर दिया—तुम जाओ; महर्षियोंकी कृपासे तुम दोनोंको निःसन्देह सात गुणवान् पुत्र होंगे । इस प्रकार कहकर वे सभी महर्षि चले गये ॥ ४६–५० ॥

स चापि राजर्षिरगात् सभार्यो नगरं निजम् । ततो बहुतिथे काले सा राज्ञो महिषी प्रिया ॥ ५१ ॥
अवाप गर्भं तन्वङ्गी तस्मान्नृपतिसत्तमात् । गुर्विण्यामथ भार्यायां ममारासौ नराधिपः ॥ ५२ ॥
सा चाप्यारोढुमिच्छन्ती भर्तारं वै पतिव्रता । निवारिता तदामात्यैर्न तथापि व्यतिष्ठत ॥ ५३ ॥

समारोप्याथ भर्त्तारं चितायामारुहच्च सा। ततोऽग्निमध्यात् सलिले मांसपेश्यपतन्मुने ॥ ५४ ॥
साऽम्भसा सुखशीतेन संसिक्ता सप्तधाऽभवत्। तेऽजायन्ताथ मरुत उत्तमस्यान्तरे मनोः ॥ ५५ ॥

वे राजर्षि भी अपनी पत्नीके सहित नगरमें गये। उसके बाद बहुत समय बीत जानेपर राजाकी उस प्रिय रानीने उन नृपतिश्रेष्ठसे गर्भ धारण किया। भार्याके गर्भिणी होनेपर वे राजा संसारसे चल बसे। उस पतिव्रताने अपने पतिके साथ चितापर आरूढ़ होनेकी इच्छा की। मन्त्रियोंने उसे रोका, परंतु वह रुकी नहीं। पतिको चितापर रखकर वह भी उसपर चढ़ गयी। मुने! उसके बाद अग्निके बीचसे जलमें एक मांसपेशी गिरी। अत्यन्त शीतल जलसे संसिक्त होनेपर वह (मांसपेशी) सात टुकड़ोंमे अलग-अलग हो गयी। वे ही टुकड़े उत्तम मनुके कालमे मरुत् हुए ॥ ५१—५५ ॥

तामसस्यान्तरे ये च मरुतोप्यभवन् पुरा। तानहं कीर्तयिष्यामि गीतनृत्यकलिप्रिय ॥ ५६ ॥
तामसस्य मनोः पुत्रो ऋतध्वज इति श्रुतः। स पुत्रार्थी जुहावाग्नौ स्वमांसं रुधिरं तथा ॥ ५७ ॥
अस्थीनि रोमकेशांश्च स्नायुमज्जायकृद्घनम्। शुक्रं च चित्रगौ राजा सुतार्थी इति नः श्रुतम् ॥ ५८ ॥

हे गीतनृत्यकलिप्रिय (नारदजी)! पहले तामस मन्वन्तरमें जो मरुत् हुए (अब मै) उनका वर्णन करूँगा। तामस मनुके पुत्र ऋतध्वज नामसे विख्यात थे। उन्होंने पुत्रकी अभिलाषासे अग्निमें अपने शरीरके मांस और रक्तका हवन किया। हमलोगोंने सुना है कि पुत्रके अभिलाषी (उन) राजाने अस्थि, रोम, केश, स्नायु, मज्जा, यकृत् और घने शुक्रकी अग्निमें आहुति दी ॥ ५६—५८ ॥

सप्तस्वेवार्चिषु ततः शुक्रपातादनन्तरम्। मा मा क्षिपस्वेत्यभवच्छब्दः सोऽपि मृतो नृपः ॥ ५९ ॥
ततस्तस्माद्धुतवहात् सप्त तत्तेजसोपमाः। शिशवः समजायन्त ते रुदन्तोऽभवन् मुने ॥ ६० ॥
तेषां तु ध्वनिमाकर्ण्य भगवान् पद्मसम्भवः। समागम्य निवार्य्याथ स चक्रे मरुतः सुतान् ॥ ६१ ॥
ते त्वासन् मरुतो ब्रह्मंस्तामसे देवतागणाः। येऽभवन् रैवते तांश्च शृणुष्व त्वं तपोधन ॥ ६२ ॥

उसके बाद सातो अग्नियोंमें शुक्रपात होनेपर मत फेंको, मत फेंको' इस प्रकारका शब्द होने लगा। वे राजा भी मर गये। मुने! उसके बाद उस अग्निसे सात तेजस्वी शिशु उत्पन्न हुए और वे रोने लगे। उनके रोनेकी ध्वनि सुनकर भगवान् कमलयोनि (ब्रह्मा) ने आकर मना किया और उन पुत्रोंको मरुत् नामका देवता बना दिया। ब्रह्मन्! वे ही तामस मन्वन्तरमें (मरुद्गण) नामक देवता हुए। हे तपोधन! रैवत मन्वन्तरमें जो (मरुद्गण) हुए उनका विवरण आगे सुनिये ॥ ५९—६२ ॥

रैवतस्यान्ववाये तु राजासीद् रिपुजिद् वशी। रिपुजिन्नामतः ख्यातो न तस्यासीत् सुतः किल॥ ६३ ॥
स समाराध्य तपसा भास्करं तेजसां निधिम्। अवाप कन्यां सुरतिं तां प्रगृह्य गृहं ययौ ॥ ६४ ॥
तस्यां पितृगृहे ब्रह्मन् वसन्त्यां स पिता मृतः। साऽपि दुःखपरीताङ्गी स्वां तनुं त्यक्तुमुद्यता ॥ ६५ ॥
ततस्तां वारयामासुर्ऋषयः सप्त मानसाः। तस्यामासक्तचित्तास्तु सर्वे एव तपोधनाः ॥ ६६ ॥

रैवतके वशमे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाले संयमी रिपुजित् नामसे विख्यात एक राजा थे। उनको पुत्र नहीं था। उन्होंने तपद्वारा तेजोनिधि सूर्यकी आराधना कर सुरति नामकी कन्या प्राप्त की और उसे लेकर वे घर चले गये। ब्रह्मन्! उस कन्याके पितृ-गृहमें रहते हुए पिताका देहावसान हो गया। वह भी शोकसे आकुल होकर अपने शरीरका परित्याग करनेके लिये तैयार हुई। उसके बाद सात मानस ऋषियोंने उसे मना किया। किंतु वे सभी तपोधन उसमे आसक्तचित्त हो गये थे ॥ ६३—६६ ॥

अपारयन्ती तद्दुःखं प्रज्वाल्याग्निं विवेश ह। ते चापश्यन्त ऋषयस्तच्चित्ता भाविताास्तथा ॥ ६७ ॥
तां मृतामृषयो दृष्ट्वा कष्टं कष्टेति वादिनः। प्रजग्मुर्ज्वलनाच्चापि सप्ताजायन्त दारकाः ॥ ६८ ॥
ते च मात्रा विना भूता रुरुदुस्तान् पितामहः। निवारयित्वा कृतवांल्लोकनाथो मरुद्गणान् ॥ ६९ ॥
रैवतस्यान्तरे जाता मरुतोऽमी तपोधन। शृणुष्व कीर्तयिष्यामि चाक्षुषस्यान्तरे मनोः ॥ ७० ॥

किंतु वह कन्या उस दुःखको सहन न कर सकनेके कारण आग जलाकर उसमें प्रवेश कर गयी। उसमें आसक्त तथा प्रभावित ऋषियोंने उसे देखा। उसे मरा हुआ देखकर वे ऋषि 'दुःखकी बात है', 'दुःखकी बात है' कहते हुए चले गये। उसके बाद उस अग्निसे सात पुत्र हुए। माताके अभावमें वे रोने लगे। लोकनाथ पितामह ब्रह्माने उन्हें (रोनेसे) रोककर मरुद्गणका पद दे दिया। तपोधन! वे ही रैवत मन्वन्तरमें मरुद्गण हुए। अब मैं चाक्षुष मनुके कालके मरुद्गणोंका वर्णन करूँगा, उसे सुनिये—॥ ६७–७० ॥

आसीन्मङ्किरिति ख्यातस्तपस्वी सत्यवाक् शुचिः। सप्तसारस्वते तीर्थे सोऽतप्यत महत्तपः ॥ ७१ ॥
विघ्नार्थं तस्य तुषिता देवाः संप्रेषयन् वपुम्। सा चाभ्येत्य नदीतीरे क्षोभयामास भामिनी ॥ ७२ ॥
ततोऽस्य प्राच्यवच्छुक्रं सप्तसारस्वते जले। तां चैवाप्यशपन्मूढां मुनिर्मङ्कणको वपुम् ॥ ७३ ॥
गच्छ लब्धाऽसि मूढे त्वं पापस्यास्य महत् फलम्। विध्वंसयिष्यति हयो भवतीं यज्ञसंसदि ॥ ७४ ॥
एवं शप्त्वा ऋषिः श्रीमाञ्जगामाथ स्वमाश्रमम्। सरस्वतीभ्यः सप्तभ्यः सप्त वै मरुतोऽभवन् ॥ ७५ ॥
एतत् तवोक्ता मरुतः पुरा यथा जाता वियद्व्यापिकरा महर्षे।
येषां श्रुते जन्मनि पापहानिर्भवेच्च धर्माभ्युदयो महान् वै ॥ ७६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

मङ्कि नामसे विख्यात सत्यवादी और पवित्र एक तपस्वी थे। उन्होंने सप्तसारस्वत तीर्थमें महान् तप किया था। देवताओंने उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये 'वपु' नामकी अप्सराको भेजा। उस भामिनीने नदीके किनारे आकर मुनिको क्षोभित कर दिया। उसके बाद उनका शुक्र च्युत होकर सप्तसारस्वतके जलमें गिर गया। मुनि मङ्कणकने उस मूढा वपुको भी शाप दे दिया। हे मूढ़े! चली जाओ। तुम इस पापका दारुण फल प्राप्त करोगी। यज्ञसंसद्में तुमको अश्व विध्वस्त करेगा। श्रीमान् ऋषि इस प्रकार शाप देकर अपने आश्रममें चले गये। उसके बाद सप्त सरस्वतियोंसे सात मरुत् उत्पन्न हुए। महर्षे! पूर्वकालमें आकाशव्यापी मरुद्गण जिस प्रकार उत्पन्न हुए थे, उसे मैंने आपसे कहा। इनका वर्णन सुननेसे पापका नाश तथा धर्मका महान् अभ्युदय होता है ॥ ७१–७६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

[अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतदर्थं बलिर्दैत्यः कृतो राजा कलिप्रिय । मन्त्रप्रदाता प्रह्लादः शुक्रश्चासीत् पुरोहितः ॥ १ ॥
ज्ञात्वाऽभिषिक्तं दैतेयं विरोचनसुतं बलिम् । दिदृक्षवः समायाताः समयाः सर्व एव हि ॥ २ ॥
तानागतान्निरीक्ष्यैव पूजयित्वा यथाक्रमम् । पप्रच्छ कुलजान् सर्वान् किंनु श्रेयस्करं मम ॥ ३ ॥
तमूचुः सर्व एवैनं शृणुष्व सुरमर्दन । यत् ते श्रेयस्करं कर्म यदस्माकं हितं तथा ॥ ४ ॥

तिहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलि, मय-प्रभृति दैत्योंका देवताओंके साथ युद्ध, कालनेमिके साथ विष्णुभगवान्का युद्ध और कालनेमिका वध)

पुलस्त्यजी बोले—कलिप्रिय (नारदजी) ! बलि दैत्यको इसीलिये राजा बनाया गया था । प्रह्लाद उसके परामर्श देनेवाले मन्त्री तथा शुक्राचार्य पुरोहित थे । विरोचनके पुत्र बलि दैत्यको राज्यपर अभिषिक्त हुआ जानकर मयके साथ सभी दैत्य उसे देखनेकी इच्छासे आये । उन (वहाँ) आये हुए अपने कुलपुरुषोंको देखकर (बलिने) यथाक्रम उनकी पूजा की एवं उनसे पूछा कि मेरे लिये क्या कल्याणकारी है ? उन सभीने उससे कहा—देवमर्दन ! तुम्हारे लिये जो कल्याणकारी और हमारे लिये हितकर कर्म है, उसे सुनो ॥ १-४ ॥

पितामहस्तव बली आसीद् दानवपालकः । हिरण्यकशिपुर्वीरः स शक्रोऽभूज्जगत्त्रये ॥ ५ ॥
तमागम्य सुरश्रेष्ठो विष्णुः सिंहवपुर्धरः । प्रत्यक्षं दानवेन्द्राणां नखैस्तं हि व्यदारयत् ॥ ६ ॥
अपकृष्टं तथा राज्यमन्धकस्य महात्मनः । तेषामर्थे महाबाहो शङ्करेण त्रिशूलिना ॥ ७ ॥
तथा तव पितृव्योऽपि जम्भः शक्रेण घातितः । कुजम्भो विष्णुना चापि प्रत्यक्षं पशुवत् तव ॥ ८ ॥

तुम्हारे पितामह हिरण्यकशिपु बलवान्, वीर और दानवकुलके पालन करनेवाले थे । तीनो लोकोंके वे इन्द्र हो गये थे । किंतु सिंहशरीर धारणकर देवोंमे श्रेष्ठ श्रीविष्णुने उनके पास आकर श्रेष्ठ दानवोंके सामने ही उन्हे अपने नखोंसे विदीर्ण कर डाला । महाबाहो ! त्रिशूल धारण करनेवाले शंकरने भी उन-(देवों-)के लिये महान् बलशाली अन्धकका राज्य छीन लिया था । और इन्द्रने तुम्हारे चाचा (पिताके भाई) जम्भको मार दिया एवं विष्णुने तुम्हारे सामने कुजम्भको पशुकी तरह मार डाला ॥ ५-८ ॥

शम्भुः पाको महेन्द्रेण भ्राता तव सुदर्शनः । विरोचनस्तव पिता निहतः कथयामि ते ॥ ९ ॥
श्रुत्वा गोत्रक्षयं ब्रह्मन् कृतं शक्रेण दानवः । उद्योगं कारयामास सह सर्वैर्महासुरैः ॥ १० ॥
रथैरन्ये गजैरन्ये वाजिभिश्चापरेऽसुराः । पदातयस्तथैवान्ये जग्मुर्युद्धाय दैवतैः ॥ ११ ॥
मयोऽग्रे याति बलवान् सेनानाथो भयङ्करः । सैन्यस्य मध्ये च बलिः कालनेमिश्च पृष्ठतः ॥ १२ ॥
वामपार्श्वमवष्टभ्य शाल्वः प्रथितविक्रमः । प्रयाति दक्षिणं घोरं तारकाख्यो भयङ्करः ॥ १३ ॥

मै तुमसे बतला दे रहा हूँ कि महेन्द्रने शम्भु, पाक और तुम्हारे भाई सुदर्शन एवं तुम्हारे पिता विरोचनको मार डाला है । [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्मन् ! इन्द्रद्वारा किये गये अपने कुलका विनाश सुनकर दानव बलिने समस्त महान् असुरोंको युद्ध करनेके लिये तैयारी करनेकी प्रेरणा दी । फिर तो कुछ असुर रथोंपर, कुछ हाथियोंपर, कुछ घोड़ोंपर और कुछ पैदल ही देवताओंसे युद्ध करनेके लिये चल पड़े । सेनाके

आगे-आगे भयङ्कर महाबलशाली सेनापति मय चल रहा था । सेनाके बीचमें बलि, पीछे कालनेमि, बायीं ओर प्रसिद्ध पराक्रमवाला शाल्व तथा दाहिनी बगलमें भयङ्कर तारक नामका असुर कुशलतासे चल रहा था ॥ ९-१३ ॥

दानवानां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च । सम्प्रयातानि युद्धाय देवैः सह कलिप्रिय ॥ १४ ॥
श्रुत्वाऽसुराणामुद्योगं शक्रः सुरपतिः सुरान् । उवाच याम दैत्यांस्तान् योद्धुं सबलसंयुतान् ॥ १५ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं सुरराट् स्यन्दनं बली । समारुरोह भगवान् यतमातलिवाजिनम् ॥ १६ ॥
समारूढे सहस्राक्षे स्यन्दनं देवतागणाः । स्वं स्वं वाहनमारुह्य निश्चेरुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥

कलिप्रिय (नारदजी) ! हजारों, दस-दस लाखों, (ही नहीं,) दस-दस करोड़ोंकी संख्यामें—असंख्य दैत्य देवताओंसे युद्ध करनेके लिये निकल पड़े । असुरोंकी (इस प्रकारकी) युद्ध करनेकी तैयारीको सुनकर देवताओंके स्वामी इन्द्रने देवताओंसे कहा—देवताओ ! हम सब देवगण भी लड़ाई करनेके लिये दल-बलके साथ आये हुए दैत्योंसे लड़नेके लिये चलें । इस प्रकारकी घोषणा कर बलवान् भगवान् देवपति इन्द्र अपने सारथि मातलिद्वारा नियन्त्रित घोड़ोंवाले रथपर चढ़ गये । इन्द्रके रथपर चढ़ जानेपर देवता लोग भी अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर युद्धकी इच्छासे बाहर निकल चले ॥ १४-१७ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वेऽश्विनौ तथा । विद्याधरा गुह्यकाश्च यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ १८ ॥
राजर्षयस्तथा सिद्धा नानाभूताश्च संहताः । गजानन्ये रथानन्ये हयानन्ये समारुहन् ॥ १९ ॥
विमानानि च शुभ्राणि पक्षिवाह्यानि नारद । समारुह्याद्रवन् सर्वे यतो दैत्यबलं स्थितम् ॥ २० ॥
एतस्मिन्नन्तरे धीमान् वैनतेयः समागतः । तस्मिन् विष्णुः सुरश्रेष्ठ अधिरुह्य समभ्यगात् ॥ २१ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, विद्याधर, गुह्यक, यक्ष, राक्षस, पन्नग, राजर्षि, सिद्ध तथा अनेक प्रकारके भूत एकत्र हो गये । कुछ हाथियोंपर, कुछ रथोंपर और कुछ घोड़ोंपर आरूढ़ हुए । नारदजी ! कुछ देवगण पक्षियोंद्वारा वाहित होनेवाले उज्ज्वल विमानोंपर चढ़कर वहाँ पहुँच गये, जहाँ दैत्योंकी सेना (पहलेसे) डटी हुई थी । इसी समय बुद्धिमान् गरुड़जी आ गये । देवोंमें श्रेष्ठ विष्णु उनपर आरूढ़ होकर आ गये ॥ १८-२१ ॥

तमागतं सहस्राक्षस्त्रैलोक्यपतिमव्ययम् । ववन्द मूर्ध्नावनतः सह सर्वैः सुरोत्तमैः ॥ २२ ॥
ततोऽग्रे देवसैन्यस्य कार्त्तिकेयो गदाधरः । पालयञ्जघनं विष्णुर्याति मध्ये सहस्रदृक् ॥ २३ ॥
वामं पार्श्वमवष्टभ्य जयन्तो व्रजते मुने । दक्षिणं वरुणः पार्श्वमवष्टभ्याव्रजद् बली ॥ २४ ॥
ततोऽमराणां पृतना यशस्विनी स्कन्देन्द्रविष्ण्वम्बुपसूर्यपालिता ।
नानास्त्रशस्त्रोद्यतदोःसमूहा समाससादारिबलं महीध्रे ॥ २५ ॥

फिर तो हजार आँखोंवाले इन्द्रने सभी देवताओंके साथ सिर झुकाकर उन आये हुए तीनों लोकोंके स्वामी नित्य-(विष्णुभगवान्-) की वन्दना की । उसके बाद कार्त्तिकेय देवसेनाके अग्रभागकी, गदाधारी श्रीविष्णु सेनाके पीछे भागकी और सहस्रलोचन इन्द्र बीचभागकी रक्षा करते हुए चलने लगे । नारद मुने ! जयन्त बायीं ओरकी सेनाको समेटकर चले एवं बलवान् वरुण दाहिनी बगलकी सेनाको समेटकर चले । उसके बाद नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करनेवालोंसे गठित और स्कन्द, विष्णु, वरुण एवं सूर्यसे संरक्षित देवोंकी यशस्विनी सेना शत्रुसैन्यके निकट पर्वतपर पहुँच गयी ॥ २२-२५ ॥

उदयाद्रितटे रम्ये शुभे समशिलातले। निर्वृक्षे पक्षिरहिते जातो देवासुरो रणः ॥ २६ ॥
संनिपातस्तयो रौद्रः सैन्ययोरभवन्मुने। महीधरोत्तमे पूर्वं यथा वानरहस्तिनोः ॥ २७ ॥
रणरेणू रथोद्धूतः पिङ्गलो रणमूर्धनि। संध्यानुरक्तः सदृशो मेघः खे सुरतापस ॥ २८ ॥
तदासीत् तुमुलं युद्धं न प्राज्ञायत किंचन। श्रूयते त्वनिशं शब्दश्छिन्धि भिन्धीति सर्वतः॥ २९ ॥

उदयाचलके वृक्ष एवं पक्षियोसे रहित रमणीय शुभ एवं समतल पथरीले मैदानमे देवों और दैत्योका भारी युद्ध हुआ। मुनि नारदजी! पहले समयमे जैसा युद्ध बन्दर एवं हाथियोके बीच हुआ था, वैसा ही घमासान संग्राम उन दोनो सेनाओमे हुआ। सुरतापस! रथसे उड़ी हुई युद्धकी पिङ्गल वर्णकी धूल युद्ध-भूमिके ऊपर आकाशमे स्थित सन्ध्याकालके लाल बादलकी भाँति लग रही थी। उस समय चल रहे घनघोर युद्धमे कुछ भी नहीं जाना जा रहा था। चारों ओर लगातार '(काटकर) टुकड़े-टुकड़े कर दो', 'विदीर्ण कर दो'के शब्द ही सुनायी पड़ रहे थे ॥ २६–२९ ॥

ततो विशसनो रौद्रो दैत्यानां दैवतैः सह। जातो रुधिरनिष्यन्दो रजःसंयमनात्मकः ॥ ३० ॥
शान्ते रजसि देवाद्यास्तद् दानवबलं महत्। अभिद्रवन्ति सहिताः समं स्कन्देन धीमता ॥ ३१ ॥
निजघ्नुर्दानवान् देवाः कुमारभुजपालिताः। देवान् निजघ्नुर्दैत्याश्च मयगुप्ताः प्रहारिणः ॥ ३२ ॥
ततोऽमृतरसास्वादाद् विना भूताः सुरोत्तमाः। निर्जिताः समरे दैत्यैः समं स्कन्देन नारद ॥ ३३ ॥

उसके बाद देवोके साथ दैत्योकी भयङ्कर मार-काटसे उत्पन्न रक्तप्रवाहकी धारा बह चली, जो धूलको शान्त करनेवाली हो गयी—रक्त और धूल मिलकर कीच बन गयी। धूलके शान्त हो जानेपर देवता आदि बुद्धिमान् कार्तिकेयके साथ बड़े दानव-दलपर टूट पडे। कुमार कार्तिकेयके बाहुबलसे रक्षित देवताओंने दैत्योंका हनन किया और मयके द्वारा रक्षित दैत्योंने प्रहार करते हुए देवताओंको मारा। किंतु नारदजी! उसके बाद अमृतरसका आस्वाद न लेने—अमृत न पीनेके कारण कार्तिकेयके सहित श्रेष्ठ देवता युद्धमे दैत्योसे पराजित हो गये ॥ ३०–३३ ॥

विनिर्जितान् सुरान् दृष्ट्वा वैनतेयध्वजोऽरिहा। शार्ङ्गमानम्य बाणौघैर्निजघान ततस्ततः ॥ ३४ ॥
ते विष्णुना हन्यमानाः पतत्त्रिभिरयोमुखैः। दैतेयाः शरणं जग्मुः कालनेमिं महासुरम् ॥ ३५ ॥
तेभ्यः स चाभयं दत्त्वा ज्ञात्वाऽजेयं च माधवम्। विवृद्धिमगमद् ब्रह्मन् यथा व्याधिरुपेक्षित ॥ ३६ ॥
यं यं करेण स्पृशति देवं यक्षं सकिंनरम्। तं तमादाय चिक्षेप विस्तृते वदने बली ॥ ३७ ॥

देवताओंको पराजित हुआ देखकर शत्रुओंका दमन करनेवाले गरुडध्वज विष्णु शार्ङ्गधनुषको चढ़ाकर चारो ओर बाणोकी वर्षा करने लगे। श्रीविष्णुद्वारा लोहेके मुँहवाले बाणोंसे मारे जा रहे दैत्य कालनेमि नामके महान् असुरकी शरणमे गये। ब्रह्मन्! उन्हे (दैत्योंको) अभय दान देकर और माधव-(विष्णु-)को अजेय जानकर भी (वह) उपेक्षित व्याधिके सदृश (घमण्डमे) बढने लगा। बलवान् वह कालनेमि जिस देवता, यक्ष या किन्नरको हाथसे छू (पकड़) लेता था उसे लेकर अपने फैले मुँहमे झोंक देता था ॥ ३४–३७ ॥

संरम्भाद् दानवेन्द्रो विमृदति दितिजैः संयुतो देवसैन्यं
सेन्द्रं सार्कं सचन्द्रं करचरणनखैरस्त्रहीनोऽपि वेगात्।
चक्रैर्वैश्वानराभैस्त्ववनिगगनयोस्तिर्यगूर्ध्वं समन्तात्
प्राप्तेऽन्ते कालवह्नेर्जगदखिलमिदं रूपमासीद् दिधक्षोः ॥ ३८ ॥
तं दृष्ट्वा वर्द्धमानं रिपुमतिबलिनं देवगन्धर्वमुख्याः
सिद्धाः साध्याश्विमुख्या भयतरलदृशः प्राद्रवन् दिक्षु सर्वे।
पोप्लूयन्तश्च दैत्या हरिममरगणैरर्चितं चारुमौलिं
नानाशस्त्रास्त्रपातैर्विगलितयशसं चक्रुरुत्सिक्तदर्पाः ॥ ३९ ॥

तानित्थं प्रेक्ष्य दैत्यान् मयबलिपुरगान् कालनेमिप्रधानान्
बाणैराकृष्य शार्ङ्गं त्वनवरतमुरोभेदिभिर्वज्रकल्पैः ।
कोपादारक्तदृष्टिः सरथगजहयान् दृष्टिनिर्धूतवीर्यान्
नाराचाख्यैः सुपुङ्खैर्जलद इव गिरीन् छादयामास विष्णुः ॥ ४० ॥
तैर्बाणैश्छाद्यमाना हरिकरनुदितैः कालदण्डप्रकाशै-
र्नाराचैरर्धचन्द्रैर्बलिमयपुरगा भीतभीतास्त्वरन्तः ।
प्रारम्भे दानवेन्द्रं शतवदनमथो प्रेषयन् कालनेमिं
स प्रायाद् देवसैन्यप्रभुममितबलं केशवं लोकनाथम् ॥ ४१ ॥

वह दैत्येन्द्र कालनेमि बिना अस्त्रका था; फिर भी दानवोंके साथ मिलकर क्रोध करके हाथ, पैर और नखके प्रहारसे ही इन्द्र, सूर्य और चन्द्रमाके साथ देवसेनाको तेजीसे मारने लगा। वह आगके समान चक्रोंसे आकाश एवं पृथ्वीपर नीचे-ऊपर चारों ओर वार करने लगा। उस समय उसका रूप प्रलय-कालमें समस्त जगत्को दग्ध करनेवाली आग-(प्रलयाग्नि-) के समान था। उस बलिष्ठ शत्रुको बढ़ते देखकर देवता, गन्धर्व, सिद्ध, साध्य, अश्विनीकुमार आदि भयसे इधर-उधर (देखते हुए घबड़ाकर) चारों ओर भागने लगे। उछलते-कूदते हुए दैत्य अत्यन्त घमण्डके साथ देवोंसे पूजित सुन्दर मुकुटवाले विष्णुभगवान्‌के सामने जाकर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंके आघातसे उनके (अजेयत्ववाले) यशको समाप्त करने लगे—विष्णुकी पराजय मानने लगे। इस प्रकार प्रहार कर रहे मय, बलि एवं कालनेमि आदि दैत्योंको देखकर विष्णुके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। फिर तो उन्होंने अपनी दृष्टिसे ही रथ, हाथी और घोड़ोंको शक्ति और पराक्रमसे रहित कर दिया तथा उसी तरह सुन्दर पंखोंवाले लोहेके बने अर्द्धचन्द्रके समान 'नाराच' बाणोंसे पर्वतको ढक दिया, जैसे मेघ पर्वतको ढक देते हैं। विष्णुके हाथोंसे छोड़े गये कालदण्डके समान अर्धचन्द्राकार उन लोहेके बने 'नाराच' बाणोंसे ढके हुए बलि एवं मय आदि दैत्योंने डरकर तुरंत पहले दानवेन्द्र शतमुख कालनेमिको प्रेषित किया। वह अति बलवान् देव सेनापति लोकनाथ केशवके सामने उपस्थित हुआ ॥ ३८–४१ ॥

तं दृष्ट्वा शतशीर्षमुद्यतगदं शैलेन्द्रशृङ्गाकृतिं विष्णुः शार्ङ्गमपास्य सत्वरमथो जग्राह चक्रं करे।
सोऽप्येनं प्रसमीक्ष्य दैत्यविटपप्रच्छेदनं मानिनं प्रोवाचाथ विहस्य तं च सुचिरं मेघस्वनो दानवः ॥४२॥
अयं स दनुपुत्रसैन्यवित्रासकृद्रिपुः परमकोपितः स मधोर्विघातकृत् ।
हिरण्यनयनान्तकः कुसुमपूजारतिः क्व याति मम दृष्टिगोचरे निपतितः खलः ॥ ४३ ॥
यद्येष संप्रति ममाहवमभ्युपैति नूनं न याति निलयं निजमम्बुजाक्षः ।
मन्मुष्टिपिष्टशिथिलाङ्गमुपात्तभस्म संद्रक्ष्यते सुरजनो भयकातराक्षः ॥ ४४ ॥
इत्येवमुक्त्वा मधुसूदनं वै स कालनेमिः स्फुरिताधरोष्ठः ।
गदां खगेन्द्रोपरि जातकोपो मुमोच शैले कुलिशं यथेन्द्रः ॥ ४५ ॥
तामापतन्तीं प्रसमीक्ष्य विष्णुर्घोरां गदां दानवबाहुमुक्ताम् ।
चक्रेण चिच्छेद सुदुर्गतस्य मनोरथं पूर्वकृतेव कर्म ॥ ४६ ॥

गदा उठाये हुए सौ सिरवाले पर्वतशृंगके समान कालनेमिको देखकर विष्णुने (अपने) शार्ङ्गधनुषको छोड़कर हाथमें जल्दीसे चक्रको ले लिया। इनको देखकर बहुत देरतक जोरसे हँसते हुए मेघके समान बोलनेवाले उस कालनेमि दानवने दैत्यरूपी वृक्षोंके काटनेवाले सुख-दुखकी परवाह न करनेवाले मनस्वी हरिसे कहा—यही

दानव-सेनाको डरानेवाला शत्रु, अत्यन्त क्रोधी, मधुको मारनेवाला, हिरण्याक्षका वध करनेवाला और फूलोंसे की गयी पूजासे प्रसन्न होनेवाला है। यह खल मेरी आँखोंके सामने आकर अब कहाँ जा सकता है। यह कमलनयन यदि इस समय मेरे साथ युद्ध करे तो अपने घर नहीं जा सकेगा और तब देवता लोग मेरी मुट्ठीमें पिसनेसे शिथिल अङ्गोवाले इस(विष्णु)को भयसे कातर नेत्रोंसे धूलिधूसरित हुआ देखेंगे। मधुसूदन भगवान् विष्णुसे ऐसा कहकर क्रोधसे अधरोष्ठको फड़काते हुए कालनेमिने, गरुड़पर अपनी गदा इस प्रकार फेंकी जैसे इन्द्र पर्वतपर वज्र फेंकते हैं। भगवान् विष्णुने दानवके हाथसे छूटी हुई उस भयदायिनी गदाको आते देखकर चक्रसे उसे ऐसे नष्ट कर दिया जैसे पूर्वकृत कर्म भाग्यहीन मनुष्यके मनोरथको नष्ट कर देता है ॥ ४२—४६ ॥

गदां छित्त्वा दानवाभ्याशमेत्य भुजौ पीनौ सम्प्रचिच्छेद वेगात्।
भुजाभ्यां कृत्ताभ्यां दग्धशैलप्रकाशः संदृश्येताप्यपरः कालनेमिः ॥ ४७ ॥
ततोऽस्य माधवः कोपाच्छिरश्चक्रेण भूतले। छित्त्वा निपातयामास पक्वं तालफलं यथा ॥ ४८ ॥
तथा विबाहुर्विशिरा मुण्डतालो यथा वने। तस्थौ मेरुरिवाकम्प्यः कबन्धः क्ष्माधरेश्वरः ॥ ४९ ॥
तं वैनतेयोऽप्युरसा खगोत्तमो निपातयामास मुने धरण्याम्।
यथाऽम्बराद् बाहुशिरः प्रणष्टबलं महेन्द्रः कुलिशेन भूम्याम् ॥ ५० ॥
तस्मिन् हते दानवसैन्यपाले सम्पीड्यमानास्त्रिदशैस्तु दैत्याः।
विमुक्तशस्त्रालकचर्मवस्त्राः सम्प्राद्रवन् बाणमृतेऽसुरेन्द्राः ॥ ५१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

गदाको काटकर विष्णुभगवान् दानवके निकट चले गये और उन्होंने शीघ्रतासे उसकी मोटी-मोटी बाहुओंको काट डाला। भुजाओंके कट जानेपर कालनेमि दूसरे दग्ध पर्वतके समान दिखलायी पड़ने लगा। उसके बाद माधव (लक्ष्मीपति) ने क्रोधपूर्वक चक्रसे उसके सिरको काटकर पके हुए ताड़के फलके समान धरतीपर गिरा दिया। वनमें ठूँठे तरकुलके समान बाहुओं एवं सिरसे हीन कबन्ध अचल पर्वतराज मेरुके समान खड़ा रहा। मुने! जैसे महेन्द्रने वज्रसे बाँह और सिररहित बलको पृथिवीपर गिराया था, उसी प्रकार पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ने अपनी छातीसे धक्का देकर उस (कबन्ध) को पृथ्वीपर गिरा दिया। उस दानव-सेनापति (कालनेमि) के मारे जानेपर बाणासुरके सिवा देवोंसे अत्यन्त पीडित सभी दैत्य शस्त्र, पट्टा, ढाल और वस्त्रको छोड़कर भाग गये ॥ ४७—५१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

[अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

संनिवृत्ते ततो बाणे दानवाः सत्वरं पुनः। निवृत्ता देवतानां च सशस्त्रा युद्धलालसाः ॥ १ ॥
विष्णुरप्यमितौजास्तं ज्ञात्वाऽजेयं बलेः सुतम्। प्राहामन्त्र्य सुरान् सर्वान् युध्यध्वं विगतज्वराः ॥ २ ॥
विष्णुनाऽथ समादिष्टा देवाः शक्रपुरोगमाः। युयुधुर्दानवैः सार्धं विष्णुस्त्वन्तरधीयत ॥ ३ ॥
माधवं गतमाज्ञाय शुक्रो बलिमुवाच ह। गोविन्देन सुरास्त्यक्तास्त्वं जयस्वाधुना बले ॥ ४ ॥

चौहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलि-बाणका देवताओंसे युद्ध, बलिकी विजय, प्रह्लादका स्वर्गमें आना, बलिको प्रह्लादका उपदेश)

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद बाणासुरके लौट आनेपर फिर दानव तुरंत शस्त्र लेकर देवताओंसे युद्ध करनेकी इच्छासे लौट पड़े। अत्यधिक तेजस्वी विष्णुने बलिके पुत्र बाणको अजेय जान करके देवताओंको बुलाकर

कहा—आपलोग निर्भय होकर (सतर्कतासे) युद्ध कीजिये । विष्णुसे आदेश पाकर इन्द्र आदि देवता दानवोंके साथ युद्ध करने लगे । किंतु विष्णु अदृश्य हो गये । विष्णुको वहाँसे चला गया जानकर शुक्रने बलिसे कहा—बले ! विष्णुने देवताओंको अकेले युद्धके लिये छोड़ दिया है । अब तुम जय प्राप्त करो ॥ १-४ ॥

स पुरोहितवाक्येन प्रीतो याते जनार्दने । गदामादाय तेजस्वी देवसैन्यमभिद्रुतः ॥ ५ ॥
बाणो बाहुसहस्रेण गृह्य प्रहरणान्यथ । देवसैन्यमभिद्रुत्य निजघान सहस्रशः ॥ ६ ॥
मयोऽपि मायामास्थाय तैस्तै रूपान्तरैर्मुने । योधयामास बलवान् सुराणां च वरूथिनीम् ॥ ७ ॥
विद्युज्जिह्वः पारिभद्रो वृषपर्वा शतेक्षणः । विपाको विक्षरः सैन्यं तेऽपि देवानुपाद्रवन् ॥ ८ ॥

दुष्टजनोंको ताड़ना देनेवाले भगवान् विष्णुके चले जानेपर तेजस्वी बलि पुरोहित-(शुक्राचार्य-)के वाक्यसे हर्षित हो गदा लेकर देवसेनाकी ओर दौड़ा । बाणासुरने हजार हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर देव-सेनापर चढ़ाई कर दी और हजारोंका वध कर दिया । मुने ! बलवान् मय दानव भी मायाके द्वारा विभिन्न रूपोंको धारणकर अमरोंकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा । विद्युज्जिह्व, पारिभद्र, वृषपर्वा, शतेक्षण, विपाक तथा विक्षर भी देवताओंकी सेनापर टूट पड़े ॥ ५-८ ॥

ते हन्यमाना दितिजैर्देवाः शक्रपुरोगमाः । गते जनार्दने देवे प्रायशो विमुखाऽभवन् ॥ ९ ॥
तान् प्रभग्नान् सुरगणान् बलिबाणपुरोगमाः । पृष्ठतश्चाद्रवन् सर्वे त्रैलोक्यविजिगीषवः ॥ १० ॥
सम्बाध्यमाना दैतेयैर्देवाः सेन्द्रा भयातुराः । त्रिविष्टपं परित्यज्य ब्रह्मलोकमुपागताः ॥ ११ ॥
ब्रह्मलोकं गतेष्वित्थं सेन्द्रेष्वपि सुरेषु वै । स्वर्गभोक्ता बलिर्जातः सपुत्रभ्रातृबान्धवः ॥ १२ ॥

भगवान् विष्णुके चले जानेपर इन्द्र आदि देवता दैत्योंके द्वारा मारे जानेपर युद्धसे पराङ्मुख हो गये । तीनो लोकोपर विजय पानेकी इच्छावाले बलि एवं बाण आदि सभी (दैत्य) भागते हुए देवताओंके पीछे दौड़ पड़े । दैत्योंके द्वारा पीडित इन्द्र आदि देवता डरकर और स्वर्गको छोडकर ब्रह्मलोक चले गये । फिर तो इन्द्रके साथ ही देवताओंके ब्रह्मलोक चले जानेपर बलि अपने पुत्र, भाई और बान्धवोंके साथ स्वर्गका भोक्ता हो गया ॥ ९-१२ ॥

शक्रोऽभूद् भगवान् ब्रह्मन् बलिबाणो यमोऽभवत् । वरुणोऽभून्मयः सोमो राहुर्ह्लादो हुताशनः ॥ १३ ॥
स्वर्भानुरभवत् सूर्यः शुक्रश्चासीद् बृहस्पतिः । येऽन्येऽप्यधिकृता देवास्तेषु जाताः सुरारयः ॥ १४ ॥
पञ्चमस्य कलेरादौ द्वापरान्ते सुदारुणः । देवासुरोऽभूत् संग्रामो यत्र शक्रोऽप्यभूद् बलिः ॥ १५ ॥
पातालाः सप्त तस्यासन् वशे लोकत्रयं तथा । भूर्भुवःस्वरिति ख्यातं दशलोकाधिपो बलिः ॥ १६ ॥

ब्रह्मन् ! भाग्यशाली बलि इन्द्र हुआ और बाण यम बना । मय दानव वरुण बन गया, राहु चन्द्र बना और ह्लाद अग्नि बन गया । केतु सूर्य बना और शुक्राचार्य बृहस्पति बन गये । इसी प्रकार अन्य विभिन्न अधिकार-प्राप्त देवताओंके पदोपर असुरोंने अधिकार जमा लिया । पाँचवें कलियुगके प्रारम्भ और द्वापरयुगके आखिरी भागमे देवताओं और दैत्योंका भयङ्कर युद्ध हुआ, जब कि बलि इन्द्र बन गया । सातो पाताल और भूः, भुवः, स्वः नामके प्रसिद्ध तीनों लोक उसके वशमें हो गये थे । इस प्रकार बलि दस लोकोंका शासक बन गया था ॥ १३-१६ ॥

स्वर्गे स्वयं निवसति भुञ्जन् भोगान् सुदुर्लभान् । तत्रोपासन्त गन्धर्वा विश्वावसुपुरोगमाः ॥ १७ ॥
तिलोत्तमाद्याप्सरसो नृत्यन्ति सुरतापस । वादयन्ति च वाद्यानि यक्षविद्याधरादयः ॥ १८ ॥
विविधानपि भोगांश्च भुञ्जन् दैत्येश्वरो बलिः । सस्मार मनसा ब्रह्मन् प्रह्लादं स्वपितामहम् ॥ १९ ॥
संस्मृतो नप्तृणा चासौ महाभागवतोऽसुरः । समभ्यागात् त्वरायुक्तः पातालात् स्वर्गमव्ययम् ॥ २० ॥

*

इन्द्र बना हुआ बलि अत्यन्त दुर्लभ भोगोंको स्वयं भोगता हुआ स्वर्गमें रहने लगा। वहाँ विश्वावसु आदि गन्धर्व उसकी सेवा करने लगे। देवर्षे! तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ (उसे प्रसन्न करनेके लिये) नृत्य किया करती थीं और यक्ष तथा विद्याधर आदि बाजे बजाते थे। ब्रह्मन्! विविध भोगोंका भोग करते हुए दैत्येश्वर बलिने अपने पितामह प्रह्लादका मनसे स्मरण किया। पौत्र-(बलि-)के स्मरण करते ही वे महान् भागवत (विष्णुके परम भक्त) असुर प्रह्लादजी पातालसे अक्षय स्वर्गलोकमें चले आये॥ १७—२०॥

तमागतं समीक्ष्यैव त्यक्त्वा सिंहासनं बलिः। कृताञ्जलिपुटो भूत्वा ववन्दे चरणावुभौ॥ २१॥
पादयोः पतितं वीरं प्रह्लादस्त्वरितो बलिम्। समुत्थाप्य परिष्वज्य विवेश परमासने॥ २२॥
तं बलिः प्राह भोस्तात त्वत्प्रसादात् सुरा मया। निर्जिताः शक्रराज्यं च हृतं वीर्यबलान्मया॥ २३॥
तदिदं तात मद्वीर्यविनिर्जितसुरोत्तमम्। त्रैलोक्यराज्यं भुङ्क्ष्व त्वं मयि भृत्ये पुरःस्थिते॥ २४॥

उन्हें आया हुआ देखते ही बलिने सिंहासन छोड़कर और हाथ जोड़कर उनके चरणोंकी वन्दना की। प्रह्लाद चरणोंमें पड़े हुए वीर बलिको जल्दीसे उठाकर और गले लगाकर उचित सुन्दर आसनपर बैठ गये। बलिने उनसे कहा—अये तात! मैंने आपके पुण्य-प्रसादसे (प्राप्त) पराक्रम और बलसे देवताओंको जीत लिया और इन्द्रके राज्यको छीन लिया है। तात! आप मेरे पराक्रमसे जीते गये देवोंवाले इन उत्तम तीनों लोकोंके राज्यका भोग करें और मैं आपके सामने नौकर बनकर रहूँ॥ २१—२४॥

एतावता पुण्ययुतः स्यामहं तात यत् स्वयम्। त्वदङ्घ्रिपूजाभिरतस्त्वदुच्छिष्टान्नभोजनः॥ २५॥
न सा पालयतो राज्यं धृतिर्भवति सत्तम। या धृतिर्गुरुशुश्रूषां कुर्वतो जायते विभो॥ २६॥
ततस्तदुक्तं बलिना वाक्यं श्रुत्वा द्विजोत्तम। प्रह्लादः प्राह वचनं धर्मकामार्थसाधनम्॥ २७॥
मया कृतं राज्यमकण्टकं पुरा प्रशासिता भूः सुहृदोऽनुपूजिताः।
दत्तं यथेष्टं जनितास्तथात्मजाः स्थितो बले सम्प्रति योगसाधकः॥ २८॥

तात! इस प्रकार आपके चरणोंकी पूजासे और आपके जूठे अन्नका भोजन करनेसे मैं पुण्यवान् हो जाऊँगा। सत्तम! विभो! राज्यका पालन करनेवाले शासकमें वह धीरता नहीं होती, जो धीरता गुरुकी सेवा करनेवालेमें होती है। द्विजसत्तम! उसके बाद प्रह्लादने बलिके कहे वचनको सुनकर धर्म, अर्थ और कामका साधक वचन कहा। बलिराज! मैंने पहले शत्रुओंकी विघ्न-बाधासे रहित राज्य किया है। (मैं) पृथ्वीका शासन और मित्रोंका सत्कार कर चुका हूँ, इच्छानुसार दान दे चुका हूँ। (गृहस्थ-धर्मके नाते) मैंने पुत्रोंको भी उत्पन्न किया है। किंतु (इन सबसे शान्ति न पाकर) इस समय मैं योगसाधक बन गया हूँ॥ २५—२८॥

गृहीतं पुत्र विधिवन्मया भूयोऽर्पितं तव। एवं भव गुरूणां त्वं सदा शुश्रूषणे रतः॥ २९॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं करे त्वादाय दक्षिणे। शाक्रे सिंहासने ब्रह्मन् बलिं तूर्णं न्यवेशयत्॥ ३०॥
सोपविष्टो महेन्द्रस्य सर्वरत्नमये शुभे। सिंहासने दैत्यपतिः शुशुभे मघवानिव॥ ३१॥
तत्रोपविष्टश्चैवासौ कृताञ्जलिपुटो नतः। प्रह्लादं प्राह वचनं मेघगम्भीरया गिरा॥ ३२॥

पुत्र! मैंने तुम्हारे दिये-(राज्य-)को विधिपूर्वक ग्रहणकर पुनः तुमको दे दिया। तुम गुरुओंकी सेवामें इसी प्रकार सदा लगे रहो। (पुलस्त्यजी कहते हैं—) ब्रह्मन्! ऐसा वचन कहकर (प्रह्लादने बलिका) दाहिना हाथ पकड़कर उसे तुरंत इन्द्रके सिंहासनपर आसीन करा दिया। महेन्द्रके सभी रत्नोंसे बने शुभ सिंहासनपर बैठा हुआ वह दैत्यपति बलि इन्द्रके समान शोभित हुआ। उसपर बैठनेके बाद उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर मेघके गर्जनके समान गम्भीर वाणीमें प्रह्लादसे कहा॥ २९—३२॥

यन्मया तात कर्तव्यं त्रैलोक्यं परिरक्षता। धर्मार्थकाममोक्षेभ्यस्तदादिशतु मे भवान् ॥ ३३ ॥
तद्वाक्यसमकालं च शुक्रः प्रह्लादमब्रवीत्। यद्युक्तं तन्महाबाहो वदस्वाद्योत्तरं वचः ॥ ३४ ॥
वचनं बलिशुक्राभ्यां श्रुत्वा भागवतोऽसुरः। प्राह धर्मार्थसंयुक्तं प्रह्लादो वाक्यमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
यदायत्यां क्षमं राजन् यद्धितं भुवनस्य च। अविरोधेन धर्मस्य अर्थस्योपार्जनं च यत् ॥ ३६ ॥
सर्वसत्त्वानुगमनं कामवर्गफलं च यत्। परत्रेह च यच्छ्रेयः पुत्र तत्कर्म आचर ॥ ३७ ॥
यथा श्लाघ्यं प्रयास्यद्य यथा कीर्तिर्भवेत्तव। यथा नायशसो योगस्तथा कुरु महामते ॥ ३८ ॥

तात! तीनों लोकोंकी रक्षा करते हुए जो मेरे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-(इन चारों पुरुषार्थों-) के लिये करणीय कार्य हैं, उसके लिये आप मुझे आदेश दें। उस-(बलि-)के वाक्यके साथ ही शुक्रने (भी) प्रह्लादसे कहा—महाबाहो! जो उचित हो वह उत्तर दीजिये। विष्णुके भक्त प्रह्लादने बलि और शुक्रकी बात सुनकर धर्म और अर्थसे युक्त श्रेष्ठ वचन कहा—पुत्र! भविष्यके लिये जो उपयुक्त हो, संसारके लिये जो हितकारी हो और धर्मके अनुकूल जो अर्थका उपार्जन और सभी प्राणियोंके अनुकूल जो कामवर्गका फल है एवं इस लोक और परलोकमें जो कल्याणकारी कर्म हो उसका आचरण करो। महामते! तुम जैसे प्रशंसनीय बन सको तथा जैसे तुम्हें यश प्राप्त हो एवं अकीर्ति न हो वैसे ही कर्तव्यको किया करो ॥ ३३—३८ ॥

एतदर्थं श्रियं दीप्तां काङ्क्षन्ते पुरुषोत्तमाः। येनैतानि गृहेऽस्माकं निवसन्ति सुनिर्वृताः ॥ ३९ ॥
कुलजो व्यसने मग्नः सखा चार्थबहिः कृतः। वृद्धो ज्ञातिर्गुणी विप्रः कीर्तिश्च यशसा सह ॥ ४० ॥
तस्माद् यथैते निवसन्ति पुत्र राज्यस्थितस्येह कुलोद्गताद्याः।
तथा यतस्वामलसत्त्वचेष्ट यथा यशस्वी भविताऽसि लोके ॥ ४१ ॥
भूम्यां सदा ब्राह्मणभूषितायां क्षत्रान्वितायां दृढवापितायाम्।
शुश्रूषणासक्तसमुद्भवायामृद्धिं प्रयान्तीह नराधिपेन्द्राः ॥ ४२ ॥

उत्तम पुरुष उत्कृष्ट लक्ष्मीकी अभिलाषा इसीलिये करते हैं कि विपत्तिमें पड़ा हुआ अच्छे कुलका व्यक्ति, धनहीन मित्र, वृद्ध, ज्ञाति, गुणी ब्राह्मण एवं यशोदायिनी कीर्ति उनके गृहमें शान्तिपूर्वक निवास कर सकें। अतः हे पवित्र विचार एवं चेष्टावाले पुत्र! राज्यके स्थिर हो जानेपर जैसे (उपर्युक्त) कुलोत्पन्नादि (तुम्हारे गृहमें) रह सकें एवं जैसे तुम लोकमें यशस्वी हो सको वैसा ही प्रयत्न करो। पृथ्वीके सदा ब्राह्मणोंसे सुशोभित होने, क्षत्रियोंसे सनाथ होने, (वैश्योंद्वारा) भलीभाँति (जोते-) बोये जाने तथा सेवारत (शूद्रों) से सम्पन्न होनेपर अच्छे राजाओंको समृद्धि प्राप्त होती है ॥ ३९—४२ ॥

तस्माद् द्विजाग्र्याः श्रुतिशास्त्रयुक्ता नराधिपांस्ते प्रतियाजयन्तु।
दिव्यैर्यजन्तु क्रतुभिर्द्विजेन्द्रा यज्ञाग्निधूमेन नृपस्य शान्तिः ॥ ४३ ॥
तपोऽध्ययनसम्पन्ना याजनाध्यापने रताः। सन्तु विप्रा बले पूज्यास्त्वत्तोऽनुज्ञामवाप्य हि ॥ ४४ ॥
स्वाध्याययज्ञनिरता दातारः शस्त्रजीविनः। क्षत्रियाः सन्तु दैत्येन्द्र प्रजापालनधर्मिणः ॥ ४५ ॥
यज्ञाध्ययनसम्पन्ना दातारः कृषिकारिणः। पाशुपाल्यं प्रकुर्वन्तु वैश्या विपणिजीविनः ॥ ४६ ॥

इसलिये (तुम्हारे शासनमें) वेद-शास्त्रसे सम्पन्न उत्तम ब्राह्मण राजाओंसे यज्ञ करवावें एवं श्रेष्ठ द्विजगण दिव्य यज्ञ किया करें। यज्ञकी अग्निके धूएँसे राजाको शान्ति मिलती है। बले! तपस्या और वेदाध्ययनसे संयुक्त यजन और अध्यापनमें लगे रहनेवाले ब्राह्मण तुम्हारी अनुमति पाकर पूजित हों। दैत्येन्द्र! क्षत्रिय स्वाध्याय एवं यज्ञमें निरत, दान देनेवाले, शस्त्र-जीवी तथा प्रजा-पालन करनेवाले हों। वैश्यगण यज्ञाध्ययनसे सम्पन्न, दाता, कृषिकर्त्ता एवं वाणिज्यजीवी हों तथा पशुपालनका कर्म करें ॥ ४३—४६ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां सदा शुश्रूषणे रताः। शूद्राः सन्त्वसुरश्रेष्ठ तवाज्ञाकारिणः सदा ॥ ४७ ॥
यदा वर्णाः स्वधर्मस्था भवन्ति दितिजेश्वर। धर्मवृद्धिस्तदा स्याद्वै धर्मवृद्धौ नृपोदयः ॥ ४८ ॥
तस्माद् वर्णाः स्वधर्मस्थास्त्वया कार्याः सदा बले। तद्वृद्धौ भवतो वृद्धिस्तद्धानौ हानिरुच्यते ॥ ४९ ॥
इत्थं वचः श्राव्य महासुरेन्द्रो बलिं महात्मा स बभूव तूष्णीम्।
ततो यदाज्ञापयसे करिष्ये इत्थं बलिः प्राह वचो महर्षे ॥ ५० ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

असुरश्रेष्ठ ! शूद्रगण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवामे सदा लगे रहें और तुम्हारे आदेशका सदा पालन करें। दितिजेश्वर ! जब सभी वर्गके लोग अपने-अपने धर्ममें स्थित रहते हैं तब निश्चय ही धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धि होनेपर राजाकी उन्नति होती है। इसलिये बले ! तुम सभी वर्णोंको उनके धर्ममें सदा लगाये रहो। उसकी (स्वधर्मकी) वृद्धिसे राजाकी वृद्धि होती है। उसकी हानिसे हानि कही गयी है। महासुरेन्द्र महात्मा प्रह्लाद बलिसे ऐसा कहकर मौन हो गये। (पुलस्त्यजी कहते हैं—) महर्षे ! उसके बाद बलिने इस प्रकार कहा—आपने जो आदेश दिया, उसीके अनुसार मै कार्य करूँगा ॥ ४७–५० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७४ ॥

[अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततो गतेषु देवेषु ब्रह्मलोकं प्रति द्विज। त्रैलोक्यं पालयामास बलिर्धर्मान्वितः सदा ॥ १ ॥
कलिस्तदा धर्मयुतं जगद् दृष्ट्वा कृते यथा। ब्रह्माणं शरणं भेजे स्वभावस्य निषेवणात् ॥ २ ॥
गत्वा स ददृशे देवं सेन्द्रैर्देवैः समन्वितम्। स्वदीप्त्या द्योतयन्तं च स्वदेशं ससुरासुरम् ॥ ३ ॥
प्रणिपत्य तमाहाथ तिष्यो ब्रह्माणमीश्वरम्। मम स्वभावो बलिना नाशितो देवसत्तम ॥ ४ ॥

पचहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(त्रैलोक्य-लक्ष्मीका बलिके यहाँ आना, श्वेत लक्ष्मी आदिकी उत्पत्ति, निधियोंका वर्णन, जयश्रीका बलिमें मिलना और बलिकी समृद्धिका वर्णन)

पुलस्त्यजी बोले—द्विज ! देवोके ब्रह्मलोक चले जानेपर बलि सदा धर्मसे युक्त (धार्मिक) रहते हुए तीनों लोकोका पालन करने लगा। उस समय संसारको सत्ययुगकी भाँति धर्मसे सम्पन्न हुआ देखकर कलियुग अपने कर्त्तव्यका सेवन करनेके हेतु ब्रह्माकी शरणमे गया। वहाँ जाकर उसने ब्रह्माको इन्द्र आदि देवोंके साथ देखा। वे अपनी प्रभासे सुरो और असुरोंसे युक्त अपने लोकको प्रदीपित कर रहे थे। उन ईश्वर ब्रह्माको प्रणामकर कलिने उनसे कहा—देवश्रेष्ठ ! बलिने मेरे स्वाभाविक कर्मको नष्ट कर दिया है ॥ १–४ ॥

तं प्राह भगवान् योगी स्वभावं जगतोऽपि हि। न केवलं हि भवतो हृतं तेन बलीयसा ॥ ५ ॥
पश्यस्व तिष्य देवेन्द्रं वरुणं च समारुतम्। भास्करोऽपि हि दीनत्वं प्रयातो हि बलाद् बलेः ॥ ६ ॥
न तस्य कश्चित् त्रैलोक्ये प्रतिषेद्धाऽस्ति कर्मणः। ऋते सहस्रं शिरसं हरिं दशशताङ्घ्रिकम् ॥ ७ ॥
स भूमिं च तथा नाकं राज्यं लक्ष्मीं यशोऽव्ययः। समाहरिष्यति बलेः कर्तुः सद्धर्मगोचरम् ॥ ८ ॥

योगी भगवान् ब्रह्माने उससे कहा—केवल तुम्हारा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण लोकका स्वत्व इस बलवान्ने हरण कर लिया है। बले! मरुत्के साथ वरुण और देवेन्द्रको देखो। बलिके पराक्रमसे सभी निस्तेज-से हो गये हैं। सहस्रशीर्षा तथा सहस्रपाद् (विष्णु-) के सिवा तीनों लोकोंमें उसके दर्पको बंद करनेवाला कोई नहीं दीखता है। वे अविनाशी बलिद्वारा किये गये सत्कर्मके हेतु मिली हुई उसकी भूमि, स्वर्ग, राज्य, लक्ष्मी एवं यशका अपहरण करेंगे ॥ ५-८ ॥

इत्येवमुक्तो देवेन ब्रह्मणा कल्किरव्ययः। दीनान् दृष्ट्वा स शक्रादीन् विशीनकवनं गतः ॥ ९ ॥
कृतं प्रावर्तत तदा कल्केर्नाशाज्जगत्त्रये। धर्मोऽभवच्चतुष्पाद्श्चातुर्वर्ण्येऽपि नारद ॥ १० ॥
ततोऽहिंसा च सत्यं च शौचमिन्द्रियनिग्रहः। दया दानं त्वानृशंस्यं शुश्रूषा यज्ञकर्म च ॥ ११ ॥
एतानि सर्वजगतः परिव्याप्य स्थितानि हि। बलिना बलवान् ब्रह्मन् निर्व्याऽपि हि कृतः कृतः ॥ १२ ॥

भगवान् ब्रह्माके इस प्रकार कहनेपर अव्यय कल्कि, इन्द्र आदि देवताओंको चिन्तित हुआ देखकर विशीनक वनमें चला गया। नारदजी! कल्किके अदृश्य हो जानेसे तीनों लोकोंमें सत्ययुग प्रवर्तित हो गया। चारों वर्णोंमें चारों चरणोंसे धर्म व्याप्त हो गया। तपस्या, अहिंसा, सत्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, दया, दान, मृदुता, सेवा और यज्ञकार्य—ये सभी समस्त जगत्में आ गये। ब्रह्मन्! बलिने बलशाली कल्किको भी सत्ययुग बना दिया ॥ ९-१२ ॥

स्वधर्मस्थायिनो वर्णा ह्याश्रमांश्चाविशन् द्विजाः। प्रजापालनधर्मस्थाः सदैव मनुजर्षभाः ॥ १३ ॥
धर्मोत्तरे वर्तमाने ब्रह्मन्नस्मिञ्जगत्त्रये। त्रैलोक्यलक्ष्मीर्वरदा त्वायाता दानवेश्वरम् ॥ १४ ॥
तामागतां निरीक्ष्यैव स्वच्छवासश्रियं बलिः। पप्रच्छ काऽसि मां ब्रूहि केनास्यर्थेन चागता ॥ १५ ॥
सा तद्वचनमाकर्ण्य प्राह श्रीः पद्ममालिनी। बले शृणुष्व याऽस्मि त्वामायाता हठिनी बलात् ॥ १६ ॥

सभी वर्ण अपने-अपने धर्ममें स्थित हो गये। द्विजगण अपने-अपने आश्रमोंका पालन करने लगे तथा राजा प्रजापालनरूपी धर्मका आचरण करने लगे। ब्रह्मन्! इन तीनों लोकोंके धर्म-परायण होनेपर वरदायिनी त्रैलोक्य-लक्ष्मी दानवराज बलिके पास आयी। इन्द्रकी लक्ष्मीको उपस्थित हुई देखकर बलिने पूछा—मुझे यह बतलाओ कि तुम कौन हो और किस उद्देश्यसे आयी हो। कमलकी मालासे अलंकृत लक्ष्मीने उसकी बात सुनकर कहा—बले! मैं हठात् तुम्हारे पास आयी हूँ; मैं जो (स्त्री) हूँ उसे सुनो ॥ १३-१६ ॥

अप्रमेयबलो देवो योऽसौ चक्रगदाधरः। तेन त्यक्तस्तु मघवा ततोऽहं त्वामिहागता ॥ १७ ॥
स निर्ममे युवतयश्चतस्रो रूपसंयुताः। श्वेताम्बरधरा चैव श्वेतस्रगनुलेपना ॥ १८ ॥
श्वेतवृन्दारकारूढा सत्त्वाढ्या श्वेतविग्रहा। रक्ताम्बरधरा चान्या रक्तस्रगनुलेपना ॥ १९ ॥
रक्तवाजिसमारूढा रक्ताक्षी राजसी हि सा। पीताम्बरा पीतवर्णा पीतमाल्यानुलेपना ॥ २० ॥
सौवर्णस्यन्दनचरा तामसं गुणमाश्रिता। नीलाम्बरा नीलमाल्या नीलगन्धानुलेपना ॥ २१ ॥
नीलवृषसमारूढा त्रिगुणा सा प्रकीर्तिता। या सा श्वेताम्बरा श्वेता सत्त्वाढ्या कुञ्जरस्थिता ॥ २२ ॥
सा ब्रह्माणं समायाता चन्द्रं चन्द्रानुगानपि। या रक्ता रक्तवसना वाजिस्था रजसान्विता ॥ २३ ॥
तां प्रादाद् देवराजाय मनवे तत्समेषु च। पीताम्बरा या सुभगा रथस्था कनकप्रभा ॥ २४ ॥
प्रजापतिभ्यस्तां प्रादाच्छुक्राय च विशःसु च। नीलवस्त्राऽलिसदृशी या चतुर्थी वृषस्थिता ॥ २५ ॥
सा दानवान् नैर्ऋतांश्च शूद्रान् विद्याधरानपि। विप्राद्याः श्वेतरूपां तां कथयन्ति सरस्वतीम् ॥ २६ ॥

अमित शक्तिशाली चक्र और गदाको धारण करनेवाले देव विष्णुने इन्द्रको छोड़ दिया है। अतः मैं यहाँ तुम्हारे पास आयी हूँ। उन्होंने (विष्णुने) रूपसे सम्पन्न चार युवतियोंकी सृष्टि की। (पहली युवती) सत्त्व-प्रधाना, श्वेतवर्णकी शरीरवाली, श्वेतवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली, श्वेतमाल्य और अनुलेपनसे युक्त एवं श्वेत गजपर आरूढ़ थी। (दूसरी युवती) रजोगुणप्रधाना, रक्तवर्णकी शरीरवाली, रक्तवर्णके वस्त्रको धारण करनेवाली, रक्तवर्णके माल्य और अनुलेपनसे युक्त तथा रक्तवर्णके अश्वपर आरूढ़ थी। (तीसरी युवती) तमोगुण-प्रधाना, पीतवर्णके शरीरवाली, पीतवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली, पीतवर्णकी माला और अनुलेपनसे युक्त तथा सुवर्णके बने रथपर आरूढ़ थी। (चौथी युवती) त्रिगुण-प्रधाना, नील शरीरवाली, नीलेवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली एवं नीले वर्णकी माला, चन्दन और अनुलेपनसे युक्त तथा नील वर्णके वृषपर आरूढ़ थी। सत्त्वप्रधाना, श्वेतवर्णकी-शरीरवाली, श्वेतवस्त्र धारण करनेवाली हाथीपर आरूढ़ (युवती) ब्रह्मा, चन्द्रमा एवं चन्द्रमाके अनुयायियोंके पास चली गयी। रजोगुणसे युक्त, रक्तवर्णकी शरीरवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली एवं घोड़ेपर आरूढ़ युवतीको (उन्होंने) इन्द्र, मनु तथा उनके समानवाले लोगोंको प्रदान किया। कनकवर्णकी शरीरवाली, पीतवर्णके वस्त्र धारण करनेवाली, सौभाग्यवती, रथपर आरूढ़ा युवतीको (उन्होंने) प्रजापतियों, शुक्र एवं वैश्योंको दिया। नीलवर्णके वस्त्रको धारण करनेवाली, भ्रमरके समान, वृषपर स्थित चौथी (युवती) दानवों, नैर्ऋतों, शूद्रों एवं विद्याधरोंके पास चली गयी। उस श्वेतरूपाको विप्र आदि सरस्वती कहते हैं ॥ १७–२६ ॥

स्तुवन्ति ब्रह्मणा सार्धं मखे मन्त्रादिभिः सदा। क्षत्रिया रक्तवर्णां तां जयश्रीमिति शंसिरे ॥ २७ ॥
सा चेन्द्रेणासुरश्रेष्ठ मनुना च यशस्विनी। वैश्यास्तां पीतवसनां कनकाङ्गीं सदैव हि ॥ २८ ॥
स्तुवन्ति लक्ष्मीमित्येवं प्रजापालास्तथैव हि। शूद्रास्तां नीलवर्णाङ्गीं स्तुवन्ति च सुभक्तितः ॥ २९ ॥
श्रिया देवीति नाम्ना तां समं दैत्यैश्च राक्षसैः। एवं विभक्तास्ता नार्यस्तेन देवेन चक्रिणा ॥ ३० ॥

यज्ञमें वे ब्रह्माके सहित उसका मन्त्रादिसे सदा स्तुति करते हैं। क्षत्रियजन उस रक्तवर्णाको जयश्री कहते हैं। असुरश्रेष्ठ ! वह इन्द्र तथा मनुके साथ यशोमती हुई। वैश्य तथा प्रजापतिगण उस पीतवसना कनकाङ्गीकी स्तुति सदा लक्ष्मीके नामसे करते हैं। दैत्यों एवं राक्षसोंके साथ शूद्रगण श्रीदेवीके नामसे भक्तिपूर्वक उस नील-वर्णाङ्गीकी स्तुति करते हैं। इस प्रकार उन चक्र धारण करनेवाले देवने उन नारियोंका विभाजन किया ॥२७–३०॥

एतासां च स्वरूपस्थास्तिष्ठन्ति निधयोऽव्ययाः। इतिहासपुराणानि वेदाः साङ्गास्तथोक्तयः ॥ ३१ ॥
चतुःषष्टिकलाः श्वेता महापद्मो निधिः स्थितः। मुक्तासुवर्णरजतं रथाश्वगजभूषणम् ॥ ३२ ॥
शस्त्रास्त्रादिकवस्त्राणि रक्ता पद्मो निधिः स्मृतः। गोमहिष्यः खरोष्ट्रं च सुवर्णाम्बरभूमयः ॥ ३३ ॥
ओषध्यः पशवः पीता महानीलो निधिः स्थितः। सर्वासामपि जातीनां जातिरेका प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥
अन्येषामपि संहर्त्री नीला शङ्खो निधिः स्थितः।
एतासु संस्थितानां च यानि रूपाणि दानव। भवन्ति पुरुषाणां वै तान् निबोध वदामि ते ॥ ३५ ॥

अक्षय निधियाँ इनके स्वरूपमें स्थित हैं। इतिहास, पुराण, साङ्ग वेद, स्मृतियाँ, चौसठ कलाएँ तथा महापद्म निधि श्वेताङ्गीके अन्तर्गत हैं। मुक्ता, सुवर्ण, रजत, रथ, अश्व, गज, भूषण, शस्त्र, अस्त्र एवं वस्त्रस्वरूप पद्मनिधि रक्ताङ्गीके अन्तर्गत हैं। गौ, भैंस, गर्दभ, उष्ट्र, सुवर्ण, वस्त्र, भूमि, ओषधियाँ एवं पशुस्वरूप महानील निधि पीताङ्गीमें स्थित हैं। अन्य सभी जातियोंको अपनेमें समाविष्ट करनेवाली सारी जातियोंमें सर्वश्रेष्ठ जाति (पर-सामान्यात्मक) स्वरूप शङ्खनिधिकी नीलाङ्गी देवीमें स्थिति है। दानव ! इन-(निधियों-) के स्वरूपके अन्तर्गत पुरुषोंके जो लक्षण होते हैं, मैं उनका वर्णन कर रही हूँ, उन्हें समझो—॥ ३१–३५ ॥

सत्यशौचाभिसंयुक्ता मखदानोत्सवे रताः। भवन्ति दानवपते महापद्माश्रिता नराः ॥ ३६ ॥
यज्विनः सुभगा दृप्ता मानिनो बहुदक्षिणाः। सर्वसामान्यसुखिनो नराः पद्माश्रिताः स्मृताः ॥ ३७ ॥
सत्यानृतसमायुक्ता दानाहरणदक्षिणाः। न्यायान्यायव्ययोपेता महानीलाश्रिता नराः ॥ ३८ ॥
नास्तिकाः शौचरहिताः कृपणा भोगवर्जिताः। स्तेयानृतकथायुक्ता नराः शङ्खश्रिता बले ॥ ३९ ॥
इत्येवं कथितस्तुभ्यं तेषां दानव निर्णयः ॥ ४० ॥

दानवपते ! महापद्मके आश्रित रहनेवाले मनुष्य सत्य और शौचसे युक्त तथा यजन, दान और उत्सव करनेमें लीन रहते हैं। पद्मके आश्रित रहनेवाले मनुष्य यज्ञ करनेवाले, सौभाग्यशाली, अहङ्कारी, मानप्रिय, बहुत दक्षिणा देनेवाले तथा सर्वसाधारण लोगोंसे सुखी होते हैं। महानीलके आश्रित रहनेवाले व्यक्ति सत्य तथा असत्यसे युक्त, देने और लेनेमें चतुर तथा न्याय, अन्याय और व्यय करनेवाले होते हैं। बले ! शङ्खके आश्रित रहनेवाले पुरुष नास्तिक, अपवित्र, कृपण, भोगहीन, चोरी करनेवाले एवं असत्य बोलनेवाले होते हैं। दानव ! मैंने इस प्रकार आपसे उनके स्वरूपका वर्णन किया ॥ ३६–४० ॥

अहं सा रागिणी नाम जयश्रीस्त्वामुपागता। ममास्ति दानवपते प्रतिज्ञा साधुसम्मता ॥ ४१ ॥
समाश्रयामि शौर्याढ्यं न च क्लीबं कथंचन। न चास्ति भवतस्तुल्यो त्रैलोक्येऽपि बलाधिकः ॥ ४२ ॥
त्वया बलविभूत्या हि प्रीतिर्मे जनिता ध्रुवा। यत्त्वया युधि विक्रम्य देवराजो विनिर्जितः ॥ ४३ ॥
अतो मम परा प्रीतिर्जाता दानव शाश्वती। दृष्ट्वा ते परमं सत्त्वं सर्वेभ्योऽपि बलाधिकम् ॥ ४४ ॥

वही रागिणी नामकी जयश्री मैं आपके पास आयी हूँ। दानवपते ! मेरी साधुजनोंसे अनुमोदित एक प्रतिज्ञा है। मैं वीर पुरुषका आश्रयण करती हूँ। नपुंसकके पास कभी नहीं जाती। तीनों लोकोंमें आपके सदृश बलवान् दूसरा कोई नहीं है। अपनी बल-सम्पत्तिसे तुमने मेरेमें दृढ़ प्रीति उत्पन्न की है, क्योंकि संग्राममें पराक्रम कर तुमने देवराजको जीता है। दानव ! इसीसे आपके श्रेष्ठ सत्त्व एवं सभीसे अधिक बलको देखकर (आपके प्रति) मेरी स्थायी एवं उत्तम प्रीति उत्पन्न हो गयी है ॥ ४१–४४ ॥

शौण्डीर्यमानिनं वीरं ततोऽहं स्वयमागता। नाश्चर्यं दानवश्रेष्ठ हिरण्यकशिपोः कुले ॥ ४५ ॥
प्रसूतस्यासुरेन्द्रस्य तव कर्म यदीदृशम्। विशेषितस्त्वया राजन् दैतेयः प्रपितामहः ॥ ४६ ॥
विजितं विक्रमाद् येन त्रैलोक्यं वै परैर्हृतम्। इत्येवमुक्त्वा वचनं दानवेन्द्रं तदा बलिम् ॥ ४७ ॥
जयश्रीश्चन्द्रवदना प्रविष्टाऽद्योतयच्छुभा। तस्यां चाथ प्रविष्टायां विधवा इव योषितः ॥ ४८ ॥
समाश्रयन्ति बलिनं ह्रीश्रीधीधृतिकीर्त्तयः। प्रभा मतिः क्षमा भूतिर्विद्या नीतिर्दया तथा ॥ ४९ ॥
श्रुतिः स्मृतिर्धृतिः कीर्तिर्मूर्तिः शान्तिः क्रियान्विताः।
पुष्टिस्तुष्टी रुचिस्त्वन्या तथा सत्त्वाश्रिता गुणाः। ताः सर्वा बलिमाश्रित्य व्यश्राम्यन्त यथासुखम् ॥ ५० ॥

एवं गुणोऽभूद् दनुपुङ्गवोऽसौ बलिर्महात्मा शुभबुद्धिरात्मवान्।
यज्वा तपस्वी मृदुरेव सत्यवाग् दाता विभर्ता स्वजनाभिगोप्ता ॥ ५१ ॥
त्रिविष्टपं शासति दानवेन्द्रे नासीत् क्षुधार्तो मलिनो न दीनः।
सदोज्ज्वलो धर्मरतोऽथ दान्तः कामोपभोक्ता मनुजोऽपि जातः ॥ ५२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

अतः मैं अत्यन्त बलशाली तथा मानी वीर आपके पास अपने-आप ही आयी हूँ। दानवश्रेष्ठ ! हिरण्यकशिपुके वंशमें उत्पन्न आप असुरेन्द्रके लिये इस प्रकारके कर्मोंके करनेमें कोई आश्चर्य नहीं है। राजन् ! शत्रुओंद्वारा अधिकृत त्रैलोक्यको अपने पराक्रमसे जीतकर आपने दितिके पुत्र अपने प्रपितामहको और विशिष्ट कर

दिया है। दानवेन्द्र बलिसे इस प्रकार कहकर चन्द्रवदना शुभा जयश्री (बलिमें) प्रवेश करके (उन्हें) प्रकाशित करने लगी। उनके प्रवेश कर जानेपर ह्री, श्री, बुद्धि, धृति, कीर्त्ति, प्रभा, मति, क्षमा, समृद्धि, विद्या, नीति, दया, श्रुति, स्मृति, धृति, कीर्ति, मूर्ति, शान्ति, क्रिया, पुष्टि, तुष्टि एवं अन्य सभी सत्त्वगुणके आश्रित अन्य देवियाँ भी विधवा स्त्रियोंकी भाँति बलिकी छत्रछायामें आनन्दपूर्वक रहने लगीं। अच्छी बुद्धिवाले, आत्मनिष्ठ, यज्ञ करनेवाले, तपस्वी, कोमल स्वभाववाले, सत्यवक्ता, दानी, अभावग्रस्तोंके अभावको दूरकर पालन-पोषण एवं स्वजनोंकी रक्षा करनेवाले दैत्यश्रेष्ठ महात्मा बलि इस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न थे। दानवेन्द्र बलिके स्वर्गका शासन करते समय कोई भूखसे दुखी, मलिन एव अभावग्रस्त नहीं था। मनुष्य भी सदा शुद्ध धर्म-परायण, इन्द्रिय-विजयी एवं इच्छानुकूल भोगसे सम्पन्न हो गये ॥ ४५—५२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

[अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गते त्रैलोक्यराज्ये तु दानवेषु पुरन्दरः। जगाम ब्रह्मसदनं सह देवैः शचीपतिः ॥ १ ॥
तत्रापश्यत् स देवेशं ब्रह्माणं कमलोद्भवम्। ऋषिभिः सार्धमासीनं पितरं स्वं च कश्यपम् ॥ २ ॥
ततो ननाम शिरसा शक्रः सुरगणैः सह। ब्रह्माणं कश्यपं चैव तांश्च सर्वांस्तपोधनान् ॥ ३ ॥
प्रोवाचेन्द्रः सुरैः सार्धं देवनाथं पितामहम्। पितामह हृतं राज्यं बलिना बलिना मम ॥ ४ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच शक्रैतद् भुज्यते स्वकृतं फलम्। शक्रः पप्रच्छ भो ब्रूहि किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥ ५ ॥
कश्यपोऽप्याह देवेशं भ्रूणहत्या कृता त्वया। दित्युदरात् त्वया गर्भः कृत्तो वै बहुधा बलात् ॥ ६ ॥

छिहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रायश्चित्त-हेतु इन्द्रकी तपस्या, माताके आश्रममें आना, अदितिकी तपस्या और वासुदेवकी स्तुति, वासुदेवका अदितिके पुत्र बननेका आश्वासन और स्वतेजसे अदितिके गर्भमें प्रवेश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) तीनों लोकोंका राज्य दानवोंके अधीन हो जानेपर शचीपति इन्द्र देवोंके साथ ब्रह्मलोक गये। वहाँ उन्होंने ऋषियोंके साथ बैठे हुए कमलयोनि ब्रह्मा एवं अपने पिता कश्यपको देखा। उसके बाद इन्द्रने देवताओंके सहित ब्रह्मा, कश्यप एवं उन सभी तपोधनोंको सिर झुकाकर प्रणाम किया। देवोंके साथ इन्द्रने देवनाथ पितामहसे कहा—पितामह ! बलवान् बलिने मेरा राज्य छीन लिया है। ब्रह्माने कहा—इन्द्र ! यह तुम अपने किये हुए कर्मका फल भोग रहे हो। इन्द्रने पूछा—कृपया आप बतलाइये कि मैंने कौन-सा दुष्कर्म किया है। कश्यपने भी (उत्तरमें) इन्द्रसे कहा—तुमने भ्रूण (गर्भस्थित बालक) की हत्या की है। तुमने दितिके उदरमें स्थित गर्भको बलपूर्वक अनेक टुकड़ोंमें काट डाला है ॥ १—६ ॥

पितरं प्राह देवेन्द्रः स मातुर्दोषतो विभो। कृन्तनं प्राप्तवान् गर्भो यदशौचा हि साभवत् ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत् कश्यपस्तु मातुर्दोषः स दासताम्। गतस्ततो विनिहतो दासोऽपि कुलिशेन भो ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा कश्यपवचः प्राह शक्रः पितामहम्। विनाशं पाप्मनो ब्रूहि प्रायश्चित्तं विभो मम ॥ ९ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच देवेशं वसिष्ठः कश्यपस्तथा। हितं सर्वस्य जगतः शक्रस्यापि विशेषतः ॥ १० ॥

योगी भगवान् ब्रह्माने उससे कहा—केवल तुम्हारा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण लोकका प्रभाव उस बलशालीने हरण कर लिया है। कले! मरुत्के साथ वरुण और देवेन्द्रको देखो। बलिके पराक्रमसे सूर्य भी निस्तेज-से हो गये हैं। सहस्रशीर्षा तथा सहस्रपाद्- (विष्णु-) के सिवा तीनों लोकोंमें उसके कर्मको बंद करनेवाला कोई नहीं दीखता है। वे अविनाशी बलिद्वारा किये गये सद्धर्मके हेतु मिली हुई उसकी भूमि, स्वर्ग, राज्य, लक्ष्मी एवं यशका अपहरण करेंगे ॥ ५–८ ॥

इत्येवमुक्तो देवेन ब्रह्मणा कलिरव्ययः। दीनान् दृष्ट्वा स शक्रादीन् विभीतकवनं गतः ॥ ९ ॥
कृतः प्रावर्त्तत तदा कलेर्नाशाज्जगत्त्रये। धर्मोऽभवच्चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्येऽपि नारद ॥ १० ॥
ततोऽहिंसा च सत्यं च शौचमिन्द्रियनिग्रहः। दया दानं त्वानृशंस्यं शुश्रूषा यज्ञकर्म च ॥ ११ ॥
एतानि सर्वजगतः परिव्याप्य स्थितानि हि। बलिना बलवान् ब्रह्मन् तिष्योऽपि हि कृतः कृतः ॥ १२ ॥

भगवान् ब्रह्माके इस प्रकार कहनेपर अव्यय कलि, इन्द्र आदि देवताओंको चिन्तित हुआ देखकर विभीतक वनमें चला गया। नारदजी! कलिके अदृश्य हो जानेसे तीनों लोकोंमें सत्ययुग प्रवर्तित हो गया। चारों वर्णोंमें चारों चरणोंसे धर्म व्याप्त हो गया। तपस्या, अहिंसा, सत्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, दया, दान, मृदुता, सेवा और यज्ञकार्य—ये सभी समस्त जगत्‌में छा गये। ब्रह्मन्! बलिने बलशाली कलिको भी सत्ययुग बना दिया ॥ ९–१२ ॥

स्वधर्मस्थायिनो वर्णा आश्रमांश्चाविशन् द्विजाः। प्रजापालनधर्मस्थाः सदैव मनुजर्षभाः ॥ १३ ॥
धर्मोत्तरे वर्तमाने ब्रह्मन्नस्मिञ्जगत्त्रये। त्रैलोक्यलक्ष्मीर्वरदा त्वायाता दानवेश्वरम् ॥ १४ ॥
तामागतां निरीक्ष्यैव सहस्राक्षश्रियं बलिः। पप्रच्छ काऽसि मां ब्रूहि केनास्यर्थेन चागता ॥ १५ ॥
सा तद्वचनमाकर्ण्य प्राह श्रीः पद्ममालिनी। बले शृणुष्व याऽस्मि त्वामायाता महिषी बलात् ॥ १६ ॥

सभी वर्ण अपने-अपने धर्ममें स्थित हो गये। द्विजगण अपने-अपने आश्रमोंका पालन करने लगे तथा राजा प्रजापालनरूपी धर्मका आचरण करने लगे। ब्रह्मन्! इन तीनों लोकोंके धर्म-परायण होनेपर वरदायिनी त्रैलोक्य-लक्ष्मी दानवराज बलिके पास आयी। इन्द्रकी लक्ष्मीको उपस्थित हुई देखकर बलिने पूछा—मुझे यह बतलाओ कि तुम कौन हो और किस उद्देश्यसे आयी हो। कमलकी मालासे अलंकृत लक्ष्मीने उसकी बात सुनकर कहा—बले! मैं हठात् तुम्हारे पास आयी हूँ; मैं जो (स्त्री) हूँ उसे सुनो ॥ १३–१६ ॥

अप्रमेयबलो देवो योऽसौ चक्रगदाधरः। तेन त्यक्तस्तु मघवा ततोऽहं त्वामिहागता ॥ १७ ॥
स निर्ममे युवतयश्चतस्रो रूपसंयुताः। श्वेताम्बरधरा चैव श्वेतस्रगनुलेपना ॥ १८ ॥
श्वेतवृन्दारकारूढा सत्त्वाढ्या श्वेतविग्रहा। रक्ताम्बरधरा चान्या रक्तस्रगनुलेपना ॥ १९ ॥
रक्तवाजिसमारूढा रक्ताङ्गी राजसी हि सा। पीताम्बरा पीतवर्णा पीतमाल्यानुलेपना ॥ २० ॥
सौवर्णस्यन्दनचरा तामसं गुणमाश्रिता। नीलाम्बरा नीलमाल्या नीलगन्धानुलेपना ॥ २१ ॥
नीलवृषसमारूढा त्रिगुणा सा प्रकीर्तिता। या सा श्वेताम्बरा श्वेता सत्त्वाढ्या कुञ्जरस्थिता ॥ २२ ॥
सा ब्रह्माणं समायाता चन्द्रं चन्द्रानुगानपि। या रक्ता रक्तवसना वाजिस्था रजसान्विता ॥ २३ ॥
तां प्रादाद् देवराजाय मनवे तत्समेषु च। पीताम्बरा या सुभगा रथस्था कनकप्रभा ॥ २४ ॥
प्रजापतिभ्यस्तां प्रादाच्छुक्राय च विशःसु च। नीलवस्त्राऽलिसदृशी या चतुर्थी वृषस्थिता ॥ २५ ॥
सा दानवान् नैर्ऋतांश्च शूद्रान् विद्याधरानपि। विप्राद्याः श्वेतरूपां तां कथयन्ति सरस्वतीम् ॥ २६ ॥

अमित शक्तिशाली चक्र और गदाको धारण करनेवाले देव विष्णुने इन्द्रको छोड़ दिया है । अतः मै यहाँ तुम्हारे पास आयी हूँ । उन्होंने (विष्णुने) रूपसे सम्पन्न चार युवतियोंकी सृष्टि की । (पहली युवती) सत्त्व-प्रधाना, श्वेतवर्णकी शरीरवाली, श्वेतवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली, श्वेतमाल्य और अनुलेपनसे युक्त एवं श्वेत गजपर आरूढ थी । (दूसरी युवती) रजोगुणप्रधाना, रक्तवर्णकी शरीरवाली, रक्तवर्णके वस्त्रको धारण करनेवाली, रक्तवर्णके माल्य और अनुलेपनसे युक्त तथा रक्तवर्णके अश्वपर आरूढ थी । (तीसरी युवती) तमोगुण-प्रधाना, पीतवर्णके शरीरवाली, पीतवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली, पीतवर्णकी माला और अनुलेपनसे युक्त तथा सुवर्णके बने रथपर आरूढ थी । (चौथी युवती) त्रिगुण-प्रधाना, नील शरीरवाली, नीलेवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली एवं नीले वर्णकी माला, चन्दन और अनुलेपनसे युक्त तथा नील वर्णके वृषपर आरूढ थी । सत्त्वप्रधाना, श्वेतवर्णकी शरीरवाली, श्वेतवस्त्र धारण करनेवाली हाथीपर आरूढ (युवती) ब्रह्मा, चन्द्रमा एव चन्द्रमाके अनुयायियोंके पास चली गयी । रजोगुणसे युक्त, रक्तवर्णकी शरीरवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली एव घोडेपर आरूढ़ युवतीको (उन्होंने) इन्द्र, मनु तथा उनके समानवाले लोगोंको प्रदान किया । कनकवर्णकी शरीरवाली, पीतवर्णके वस्त्र धारण करनेवाली, सौभाग्यवती, रथपर आरूढा युवतीको (उन्होने) प्रजापतियों, शुक्र एवं वैश्योंको दिया । नीलवर्णके वस्त्रको धारण करनेवाली, भ्रमरके समान, वृषपर स्थित चौथी (युवती) दानवों, नैर्ऋतों, शूद्रो एवं विद्याधरोंके पास चली गयी । उस श्वेतरूपाको विप्र आदि सरस्वती कहते हैं ॥ १७–२६ ॥

स्तुवन्ति ब्रह्मणा सार्धं मखे मन्त्रादिभिः सदा । क्षत्रिया रक्तवर्णा तां जयश्रीमिति शंसिरे ॥ २७ ॥
सा चेन्द्रेणासुरश्रेष्ठ मनुना च यशस्विनी । वैश्यास्तां पीतवसनां कनकाङ्गीं सदैव हि ॥ २८ ॥
स्तुवन्ति लक्ष्मीमित्येवं प्रजापालास्तथैव हि । शूद्रास्तां नीलवर्णाङ्गीं स्तुवन्ति च सुभक्तितः ॥ २९ ॥
श्रिया देवीति नाम्ना तां समं दैत्यैश्च राक्षसैः । एवं विभक्तास्ता नार्यस्तेन देवेन चक्रिणा ॥ ३० ॥

यज्ञमें वे ब्रह्माके सहित उसका मन्त्रादिसे सदा स्तुति करते हैं । क्षत्रियजन उस रक्तवर्णाको जयश्री कहते हैं । असुरश्रेष्ठ ! वह इन्द्र तथा मनुके साथ यशोमती हुई । वैश्य तथा प्रजापतिगण उस पीतवसना कनकाङ्गीकी स्तुति सदा लक्ष्मीके नामसे करते है । दैत्यो एवं राक्षसोंके साथ शूद्रगण श्रीदेवीके नामसे भक्तिपूर्वक उस नील-वर्णाङ्गीकी स्तुति करते हैं । इस प्रकार उन चक्र धारण करनेवाले देवने उन नारियोका विभाजन किया ॥२७–३०॥

एतासां च स्वरूपस्थास्तिष्ठन्ति निधयोऽव्ययाः । इतिहासपुराणानि वेदाः साङ्गास्तथोक्तयः ॥ ३१ ॥
चतुःषष्टिकलाः श्वेता महापद्मो निधिः स्थितः । मुक्तासुवर्णरजतं रथाश्वगजभूषणम् ॥ ३२ ॥
शस्त्रास्त्रादिकवस्त्राणि रक्ता पद्मो निधिः स्मृतः । गोमहिष्यः खरोष्ट्रं च सुवर्णाम्बरभूमयः ॥ ३३ ॥
ओषध्यः पशवः पीता महानीलो निधिः स्थितः । सर्वासामपि जातीनां जातिरेका प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥
अन्येषामपि संहर्त्री नीला शङ्खो निधिः स्थितः ।
एतासु संस्थितानां च यानि रूपाणि दानव । भवन्ति पुरुषाणां वै तान् निबोध वदामि ते ॥ ३५ ॥

अक्षय निधियाँ इनके स्वरूपमें स्थित हैं । इतिहास, पुराण, साङ्ग वेद, स्मृतियाँ, चौंसठ कलाएँ तथा महापद्म निधि श्वेताङ्गीके अन्तर्गत हैं । मुक्ता, सुवर्ण, रजत, रथ, अश्व, गज, भूषण, शस्त्र, अस्त्र एवं वस्त्रस्वरूप पद्मनिधि रक्ताङ्गीके अन्तर्गत हैं । गौ, भैंस, गर्दभ, उष्ट्र, सुवर्ण, वस्त्र, भूमि, ओषधियाँ एवं पशुस्वरूप महानील निधि पीताङ्गीमें स्थित हैं । अन्य सभी जातियोंको अपनेमें समाविष्ट करनेवाली सारी जातियोंमें सर्वश्रेष्ठ जाति (पर-सामान्यात्मक) स्वरूप शङ्खनिधिकी नीलाङ्गी देवीमें स्थिति है । दानव ! इन-(निधियो-) के स्वरूपके अन्तर्गत पुरुषोंके जो लक्षण होते हैं, मै उनका वर्णन कर रही हूँ, उन्हें समझो—॥ ३१–३५ ॥

सत्यशौचाभिसंयुक्ता मखदानोत्सवे रताः। भवन्ति दानवपते महापद्माश्रिता नराः ॥ ३६ ॥
यज्विनः सुभगा दृप्ता मानिनो बहुदक्षिणाः। सर्वसामान्यसुखिनो नराः पद्माश्रिताः स्मृताः ॥ ३७ ॥
सत्यानृतसमायुक्ता दानाहरणदक्षिणाः। न्यायान्यायव्ययोपेता महानीलाश्रिता नराः ॥ ३८ ॥
नास्तिकाः शौचरहिताः कृपणा भोगवर्जिताः। स्तेयानृतकथायुक्ता नराः शङ्खाश्रिता बले ॥ ३९ ॥
इत्येवं कथितस्तुभ्यं तेषां दानव निर्णयः ॥ ४० ॥

दानवपते! महापद्मके आश्रित रहनेवाले मनुष्य सत्य और शौचसे युक्त तथा यजन, दान और उत्सव करनेमें लीन रहते हैं। पद्मके आश्रित रहनेवाले मनुष्य यज्ञ करनेवाले, सौभाग्यशाली, अहङ्कारी, मानप्रिय, बहुत दक्षिणा देनेवाले तथा सर्वसाधारण लोगोंसे सुखी होते हैं। महानीलके आश्रित रहनेवाले व्यक्ति सत्य तथा असत्यसे युक्त, देने और लेनेमें चतुर तथा न्याय, अन्याय और व्यय करनेवाले होते हैं। बले! शङ्खके आश्रित रहनेवाले पुरुष नास्तिक, अपवित्र, कृपण, भोगहीन, चोरी करनेवाले एवं असत्य बोलनेवाले होते हैं। दानव! मैंने इस प्रकार आपसे उनके स्वरूपका वर्णन किया ॥ ३६–४० ॥

अहं सा रागिणी नाम जयश्रीस्त्वामुपागता। ममास्ति दानवपते प्रतिज्ञा साधुसम्मता ॥ ४१ ॥
समाश्रयामि शौर्याढ्यं न च क्लीबं कथंचन। न चास्ति भवतस्तुल्यो त्रैलोक्येऽपि बलाधिकः ॥ ४२ ॥
त्वया बलविभूत्या हि प्रीतिर्मे जनिता ध्रुवा। यत्त्वया युधि विक्रम्य देवराजो विनिर्जितः ॥ ४३ ॥
अतो मम परा प्रीतिर्जाता दानव शाश्वती। दृष्ट्वा ते परमं सत्त्वं सर्वेभ्योऽपि बलाधिकम् ॥ ४४ ॥

वही रागिणी नामकी जयश्री मैं आपके पास आयी हूँ। दानवपते! मेरी साधुजनोंसे अनुमोदित एक प्रतिज्ञा है। मैं वीर पुरुषका आश्रयण करती हूँ। नपुंसकके पास कभी नहीं जाती। तीनों लोकोंमें आपके सदृश बलवान् दूसरा कोई नहीं है। अपनी बल-सम्पत्तिसे तुमने मेरेमें दृढ़ प्रीति उत्पन्न की है, क्योंकि संग्राममें पराक्रम कर तुमने देवराजको जीता है। दानव! इसीसे आपके श्रेष्ठ सत्त्व एवं सभीसे अधिक बलको देखकर (आपके प्रति) मेरी स्थायी एवं उत्तम प्रीति उत्पन्न हो गयी है ॥ ४१–४४ ॥

शौण्डीर्यमानिनं वीरं ततोऽहं स्वयमागता। नाश्चर्यं दानवश्रेष्ठ हिरण्यकशिपोः कुले ॥ ४५ ॥
प्रसूतस्यासुरेन्द्रस्य तव कर्म यदीदृशम्। विशेषितस्त्वया राजन् दैतेयः प्रपितामहः ॥ ४६ ॥
विजितं विक्रमाद् येन त्रैलोक्यं वै परैर्हृतम्। इत्येवमुक्त्वा वचनं दानवेन्द्रं तदा बलिम् ॥ ४७ ॥
जयश्रीश्चन्द्रवदना प्रविष्टाऽद्योतयच्छुभा। तस्यां चाथ प्रविष्टायां विधवा इव योषितः ॥ ४८ ॥
समाश्रयन्ति बलिनं ह्रीश्रीधीधृतिकीर्त्तयः। प्रभा मतिः क्षमा भूतिर्विद्या नीतिर्दया तथा ॥ ४९ ॥
श्रुतिः स्मृतिर्धृतिः कीर्तिर्मूर्तिः शान्तिः क्रियान्विताः।
पुष्टिस्तुष्टी रुचिस्त्वन्या तथा सत्त्वाश्रिता गुणाः। ताः सर्वा बलिमाश्रित्य व्यश्राम्यन्त यथासुखम् ॥ ५० ॥
एवं गुणोऽभूद् दनुपुङ्गवोऽसौ बलिर्महात्मा शुभबुद्धिरात्मवान्।
यज्वा तपस्वी मृदुरेव सत्यवाग् दाता विभर्ता स्वजनाभिगोप्ता ॥ ५१ ॥
त्रिविष्टपं शासति दानवेन्द्रे नासीत् क्षुधार्तो मलिनो न दीनः।
सदोज्ज्वलो धर्मरतोऽथ दान्तः कामोपभोक्ता मनुजोऽपि जातः ॥ ५२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

अतः मैं अत्यन्त बलशाली तथा मानी वीर आपके पास अपने-आप ही आयी हूँ। दानवश्रेष्ठ! हिरण्यकशिपुके वंशमें उत्पन्न आप असुरेन्द्रके लिये इस प्रकारके कर्मोंके करनेमें कोई आश्चर्य नहीं है। राजन्! शत्रुओंद्वारा अधिकृत त्रैलोक्यको अपने पराक्रमसे जीतकर आपने दितिके पुत्र अपने प्रपितामहको और विशिष्ट कर

दिया है। दानवेन्द्र बलिसे इस प्रकार कहकर चन्द्रवदना शुभा जयश्री (बलिमे) प्रवेश करके (उन्हे) प्रकाशित करने लगी। उनके प्रवेश कर जानेपर ह्री, श्री, बुद्धि, धृति, कीर्त्ति, प्रभा, मति, क्षमा, समृद्धि, विद्या, नीति, दया, श्रुति, स्मृति, धृति, कीर्ति, मूर्ति, शान्ति, क्रिया, पुष्टि, तुष्टि एव अन्य सभी सत्त्वगुणके आश्रित अन्य देवियाँ भी विधवा स्त्रियोकी भाँति बलिकी छत्रछायामें आनन्दपूर्वक रहने लगीं। अच्छी बुद्धिवाले, आत्मनिष्ठ, यज्ञ करनेवाले, तपस्वी, कोमल स्वभाववाले, सत्यवक्ता, दानी, अभावग्रस्तोके अभावको दूरकर पालन-पोषण एवं स्वजनोकी रक्षा करनेवाले दैत्यश्रेष्ठ महात्मा बलि इस प्रकारके गुणोसे सम्पन्न थे। दानवेन्द्र बलिके स्वर्गका शासन करते समय कोई भूखसे दुखी, मलिन एवं अभावग्रस्त नहीं था। मनुष्य भी सदा शुद्ध धर्म-परायण, इन्द्रिय-विजयी एवं इच्छानुकूल भोगसे सम्पन्न हो गये ॥ ४५-५२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

[अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गते त्रैलोक्यराज्ये तु दानवेषु पुरन्दरः। जगाम ब्रह्मसदनं सह देवैः शचीपतिः ॥ १ ॥
तत्रापश्यत् स देवेशं ब्रह्माणं कमलोद्भवम्। ऋषिभिः सार्धमासीनं पितरं स्वं च कश्यपम् ॥ २ ॥
ततो ननाम शिरसा शक्रः सुरगणैः सह। ब्रह्माणं कश्यपं चैव तांश्च सर्वांस्तपोधनान् ॥ ३ ॥
प्रोवाचेन्द्रः सुरैः सार्धं देवनाथं पितामहम्। पितामह हृतं राज्यं बलिना बलिना मम ॥ ४ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच शक्रैतद् भुज्यते स्वकृतं फलम्। शक्रः पप्रच्छ भो ब्रूहि किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥ ५ ॥
कश्यपोऽप्याह देवेशं भ्रूणहत्या कृता त्वया। दित्युदरात् त्वया गर्भः कृत्तो वै बहुधा बलात् ॥ ६ ॥

छिहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रायश्चित्त-हेतु इन्द्रकी तपस्या, माताके आश्रममें आना, अदितिकी तपस्या और वासुदेवकी स्तुति, वासुदेवका अदितिके पुत्र बननेका आश्वासन और स्वतेजसे अदितिके गर्भमें प्रवेश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) तीनों लोकोका राज्य दानवोके अधीन हो जानेपर शचीपति इन्द्र देवोके साथ ब्रह्मलोक गये। वहाँ उन्होने ऋषियोके साथ बैठे हुए कमलयोनि ब्रह्मा एवं अपने पिता कश्यपको देखा। उसके बाद इन्द्रने देवताओंके सहित ब्रह्मा, कश्यप एवं उन सभी तपोधनोंको सिर झुकाकर प्रणाम किया। देवोंके साथ इन्द्रने देवनाथ पितामहसे कहा—पितामह! बलवान् बलिने मेरा राज्य छीन लिया है। ब्रह्माने कहा—इन्द्र! यह तुम अपने किये हुए कर्मका फल भोग रहे हो। इन्द्रने पूछा—कृपया आप बतलाइये कि मैने कौन-सा दुष्कर्म किया है। कश्यपने भी (उत्तरमें) इन्द्रसे कहा—तुमने भ्रूण (गर्भस्थित बालक) की हत्या की है। तुमने दितिके उदरमे स्थित गर्भको बलपूर्वक अनेक टुकड़ोमें काट डाला है ॥ १-६ ॥

पितरं प्राह देवेन्द्रः स मातुर्दोषतो विभो। कृन्तनं प्राप्तवान् गर्भो यदशौचा हि साभवत् ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत् कश्यपस्तु मातुर्दोषः स दासताम्। गतस्ततो विनिहतो दासोऽपि कुलिशेन भो ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा कश्यपवचः प्राह शक्रः पितामहम्। विनाशं पाप्मनो ब्रूहि प्रायश्चित्तं विभो मम ॥ ९ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच देवेशं वसिष्ठः कश्यपस्तथा। हितं सर्वस्य जगतः शक्रस्यापि विशेषतः ॥ १० ॥

शङ्खचक्रगदापाणिर्माधवः पुरुषोत्तमः। तं प्रपद्यस्व शरणं स ते श्रेयो विधास्यति ॥ ११ ॥
सहस्राक्षोऽपि वचनं गुरूणां स निशम्य वै। प्रोवाच स्वल्पकालेन कस्मिन् प्राप्यो बहूदयः। तमूचुर्दैवता मर्त्ये स्वल्पकाले महोदयः ॥ १२ ॥

इन्द्रने अपने पिता कश्यपसे कहा—विभो! जननीके दोषसे वह गर्भ छिन्न हुआ था; क्योंकि वे अपवित्र हो गयी थीं। उसके बाद कश्यपने कहा—माताके दोषसे वह दासताको प्राप्त हो चुका था, उसके बाद तुमने दासको भी वज्रसे मारा। कश्यपके उस वचनको सुनकर इन्द्रने पितामहसे कहा—विभो! मुझे पापका नाश करनेवाला प्रायश्चित्त बतला दीजिये। ब्रह्मा, वसिष्ठ एवं कश्यपने देवेश-(इन्द्र-)से सब जगत्के लिये—विशेषरूपसे इन्द्रके लिये हितकारी वचन कहा—तुम शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाले पुरुषोत्तम भगवान् लक्ष्मीपति श्रीविष्णुकी शरणमें जाओ। वे तुम्हारा कल्याण करेंगे। उन सहस्राक्षने गुरुजनोंका वचन सुनकर कहा—थोड़े समयमें अधिक-से-अधिक उन्नतिकी प्राप्ति कहाँ सम्भव है? देवोंने उनसे कहा—स्वल्प समयमें महती उन्नति मर्त्यलोकमें सम्भव है ॥ ७–१२ ॥

इत्येवमुक्तः सुरराड् विरिञ्चिना मरीचिपुत्रेण च कश्यपेन।
तथैव मित्रावरुणात्मजेन वेगान्महीपृष्ठमवाप्य तस्थौ ॥ १३ ॥
कालिञ्जरस्योत्तरतः सुपुण्यस्तथा हिमाद्रेरपि दक्षिणस्थः।
कुशस्थलात् पूर्वत एव विश्रुतो वसोः पुराद् पश्चिमतोऽवतस्थे ॥ १४ ॥
पूर्वं गयेन नृवरेण यत्र यज्ञोऽश्वमेधः शतकृत्सदक्षिणः।
मनुष्यमेधः शतकृत्सहस्रकृन्नरेन्द्रसूयश्च सहस्रकृद् वै ॥ १५ ॥
तथा पुरा दुर्यजनः सुरासुरैः ख्यातो महामेध इति प्रसिद्धः।
यत्रास्य चक्रे भगवान् मुरारिः वास्तव्यमव्यक्ततनुः खमूर्तिमत्।
ख्यातिं जगामाथ गदाधरेति महाघवृक्षस्य शितः कुठारः ॥ १६ ॥

ब्रह्मा, मरीचिपुत्र कश्यप एवं वसिष्ठके ऐसा कहनेपर सुरराज इन्द्र तेजीसे पृथ्वीतलपर आ गये। वे कालिञ्जर पर्वतके उत्तर, हिमाद्रिके दक्षिण, कुशस्थलके पूर्व एवं वसुपुरके पश्चिममें स्थित विख्यात पुण्य स्थानमें रहने लगे—जहाँ पहले राजा गयने दक्षिणाके साथ सौ अश्वमेध यज्ञ, ग्यारह सौ नरमेध यज्ञ तथा एक हजार राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था। उसी प्रकार पहले (उसने) जहाँपर सुरों एवं असुरोंसे कठिनाईसे किया जा सकनेवाला महामेध नामक प्रसिद्ध यज्ञ अनुष्ठित किया था और उसके लिये जहाँ आकाशस्वरूप अव्यक्तशरीरी मुरारि-(विष्णु-)ने वहाँ निवास किया था। इसके बाद वे गदाधर नामसे प्रसिद्ध हुए, जो महान् अघरूपी वृक्षके लिये तीक्ष्ण कुठारस्वरूप हैं ॥ १३–१६ ॥

यस्मिन् द्विजेन्द्राः श्रुतिशास्त्रवर्जिताः समत्वमायान्ति पितामहेन।
सकृत् पितॄन् यत्र च सम्प्रपूज्य भक्त्या त्वनन्येन हि चेतसैव।
फलं महामेधमखस्य मानवा लभन्त्यनन्त्यं भगवत्प्रसादात् ॥ १७ ॥
महानदी यत्र सुरर्षिकन्या जलापदेशाद्धिमशैलमेत्य।
चक्रे जगत्पापविनष्टिमग्र्यां संदर्शनप्राशनमज्जनेन ॥ १८ ॥

तत्र शक्रः समभ्येत्य महानद्यास्तटेऽद्भुते। आराधनाय देवस्य कृत्वाश्रममवस्थितः ॥ १९ ॥
प्रातःस्नायी त्वधःशायी एकभुक्तस्त्वयाचितः। तपस्तेपे सहस्राक्षः स्तुवन् देवं गदाधरम् ॥ २० ॥

तस्यैवं तप्यतः सम्यग्जितसर्वेन्द्रियस्य हि। कामक्रोधविहीनस्य साग्रः संवत्सरो गतः ॥ २१ ॥
ततो गदाधरः प्रीतो वासवं प्राह नारद। गच्छ प्रीतोऽस्मि भवतो मुक्तपापोऽसि साम्प्रतम् ॥ २२ ॥

जहाँ वेद-शास्त्रसे रहित होनेपर भी कुलीन श्रेष्ठ ब्राह्मण ब्रह्मकी समानता प्राप्त करते हैं एवं मनोयोगसे भक्तिसहित मनुष्य एक बार भी पितरोंका पूजन करके भगवान्‌के अनुग्रहसे महामेध नामक यज्ञका अनन्त फल प्राप्त कर लेते हैं, वहाँ देवर्षिकी कन्या श्रेष्ठ महानदी है, जो जलरूपसे हिमालयपर प्रवहमान होकर अपने दर्शन, पान एवं मज्जन करनेसे जगत्‌के पापोंको विनष्ट करती है। विष्णुकी आराधना करनेके लिये इन्द्र वहाँ महानदीके विचित्र तटपर गये और आश्रम बनाकर रहने लगे। वे प्रातःकाल स्नान, भूमिपर शयन एवं बिना माँगे मिले हुए पदार्थसे एक समय भोजन करते हुए गदाधारी देवकी स्तुति करते हुए तपस्या करने लगे। सर्वथा जितेन्द्रिय एवं काम-क्रोधादिसे रहित होकर इस प्रकार तपस्या करते हुए उनका एक वर्ष बीत गया। नारदजी! उसके बाद गदा धारण करनेवाले विष्णुने प्रसन्न होकर इन्द्रसे कहा—जाओ, मैं प्रसन्न हूँ; अब तुम पापसे मुक्त हो गये हो ॥ १७–२२ ॥

निजं राज्यं च देवेश प्राप्स्यसे नचिरादिव। यतिष्यामि तथा शक्र भावि श्रेयो यथा तव ॥ २३ ॥
इत्येवमुक्तोऽथ गदाधरेण विसर्जितः स्नाप्य मनोहरायाम्।
स्नातस्य देवस्य तदैनसो नरास्तं प्रोचुरस्माननुशासयस्व ॥ २४ ॥
प्रोवाच तान् भीषणकर्मकारान् नाम्ना पुलिन्दान् मम पापसम्भवाः।
वसध्वमेवान्तरमद्रिमुख्ययोर्हिमाद्रिकालिञ्जरयोः पुलिन्दाः ॥ २५ ॥
इत्येवमुक्त्वा सुरराट् पुलिन्दान् विमुक्तपापोऽमरसिद्धयक्षैः।
सम्पूज्यमानोऽनुजगाम चाश्रमं मातुस्तदा धर्मनिवासमीड्यम् ॥ २६ ॥

देवेश! (अब) तुम शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लोगे। इन्द्र! जैसे तुम्हारा आगेका श्रेय (कल्याण) होगा, वैसा ही मैं प्रयत्न करूँगा। गदाधर श्रीविष्णुने ऐसा कहनेके बाद इन्द्रको मनोहरा नदीमें स्नान कराकर बिदा कर दिया। इन्द्रके स्नान कर लेनेपर उनके पाप-पुरुषोंने उनसे कहा—हमें अनुशासित कीजिये। (इन्द्रने) उन भयंकर कर्म करनेवाले लोगोंसे कहा—मेरे पापसे उत्पन्न तुमलोग पुलिन्द कहे जाओगे। तुमलोग हिमालय एवं कालिञ्जर नामके दोनो श्रेष्ठ पर्वतोंके बीचकी भूमिमें निवास करो। पुलिन्दोंसे ऐसा कहनेके पश्चात् पापसे मुक्त हुए सुरराज देवों, सिद्धों एवं यक्षोंसे पूजित होते हुए माताके धर्मके आश्रयरूप पूज्य आश्रममें चले गये ॥ २३–२६ ॥

दृष्ट्वाऽदितिं मूर्ध्नि कृताञ्जलिस्तु विनम्रमौलिः समुपाजगाम।
प्रणम्य पादौ कमलोदराभौ निवेदयामास तपस्तदात्मनः ॥ २७ ॥
पप्रच्छ सा कारणमीश्वरं तमाघ्राय चालिङ्गय सहाश्रुदृष्ट्या।
स चाचचक्षे बलिना रणे जयं तदात्मनो देवगणैश्च सार्धम् ॥ २८ ॥
श्रुत्वैव सा शोकपरिप्लुताङ्गी ज्ञात्वा जितं दैत्यसुतैः सुतं तम्।
दुःखान्विता देवमनाद्यमीड्यं जगाम विष्णुं शरणं वरेण्यम् ॥ २९ ॥

अदितिका दर्शन कर हाथ जोड़ तथा सिर झुकाकर इन्द्र उनके समीप आये एव उनके कमलकी कान्तिवाले चरणोमे प्रणाम करनेके बाद उन्होंने अपनी तपस्याका वर्णन किया। उन-(अदिति-)ने अश्रुपूर्ण दृष्टिसे (इन्द्रको) सूँघा एव उनको गले लगाकर (तपस्याका कारण) पूछा। इन्द्रने बलिद्वारा देवोसहित अपने पराजित होनेका

पूरा समाचार कह सुनाया। यह सुननेके बाद वे अपने उस पुत्रको दितिके पुत्रोंद्वारा पराजित जान शोकसे भर गयीं एवं दुःखसे दुखी होकर (अदिति) वरेण्य एवं अनादि देव विष्णुकी शरणमें गयीं ॥ २७–२९ ॥

नारद उवाच

कस्मिन् जनित्री सुरसत्तमानां स्थाने हृषीकेशमनन्तमाद्यम्।
चराचरस्य प्रभवं पुराणमाराधयामास शुभे वद त्वम् ॥ ३० ॥

नारदने कहा (पूछा)—(कृपया) आप यह बतलाइये कि देवोंकी माता अदितिने किस शुभ स्थानपर अनादि, अनन्त, चर और अचरके उत्पन्न करनेवाले एवं पुरातन हृषीकेशकी आराधना की ? ॥ ३० ॥

पुलस्त्य उवाच

सुरारणिः शक्रमवेक्ष्य दीनं पराजितं दानवनायकेन।
सितेऽथ पक्षे मकरर्क्षगेऽर्के घृतार्चिषः स्यादथ सप्तमेऽह्नि ॥ ३१ ॥
दृष्ट्वैव देवं त्रिदशाधिपं तं महोदये शक्रदिशाधिरूढम्।
निराशना संयतवाक् सुचित्ता तदोपतस्थे शरणं सुरेन्द्रम् ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—दानव-नायकद्वारा पराजित हुए दीन बने इन्द्रको देखकर अदिति सूर्यके मकरराशिमें स्थित हो जानेपर शुक्लपक्षकी सूर्य-सप्तमीके दिन उन सुरोंके स्वामी सूर्यदेवको महान् उदयाचलपर पूर्व दिशामें उगनेपर देखकर उपवास करती हुई वाणी एवं मनको संयत करके उन सुरेन्द्र-(सूर्य-) की शरणमें गयीं ॥ ३१-३२ ॥

अदितिरुवाच

जयस्व दिव्याम्बुजकोशचौर जयस्व संसारतरोः कुठार।
जयस्व पापेन्धनजातवेदस्तमौघसंरोध नमो नमस्ते ॥ ३३ ॥
नमोऽस्तु ते भास्कर दिव्यमूर्ते त्रैलोक्यलक्ष्मीतिलकाय ते नमः।
त्वं कारणं सर्वचराचरस्य नाथोऽसि मां पालय विश्वमूर्ते ॥ ३४ ॥
त्वया जगन्नाथ जगन्मयेन नाथेन शक्रो निजराज्यहानिम्।
अवाप्तवाञ् शत्रुपराभवं च ततो भवन्तं शरणं प्रपन्ना ॥ ३५ ॥
इत्येवमुक्त्वा सुरपूजितं सा आलिख्य रक्तेन हि चन्दनेन।
सम्पूजयित्वा करवीरपुष्पैः संधूप्य धूपैः कणमर्कभोज्यम् ॥ ३६ ॥
निवेद्य चैवाज्ययुतं महार्हमन्नं महेन्द्रस्य हिताय देवी।
स्तवेन पुण्येन च संस्तुवन्ती स्थिता निराहारमथोपवासम् ॥ ३७ ॥

अदितिने कहा—हे दिव्य कमलकोशको अपनेमें छिपाकर रखनेवाले ! आपकी जय हो। हे संसाररूपी वृक्षके कुठार ! आपकी जय हो। हे पापरूपी इन्धनके लिये अग्नि ! आपकी जय हो। हे अन्धकार (अज्ञान)के समूहके विनाश करनेवाले ! आपको बारम्बार नमस्कार है। हे भास्कर ! हे दिव्यमूर्ते ! आपको नमस्कार है। हे त्रैलोक्य-लक्ष्मीके स्वामिन् ! आपको नमस्कार है। आप समस्त चर और अचर जगत्के कारण तथा स्वामी हैं। हे विश्वमूर्ते ! आप मेरी रक्षा कीजिये। हे जगन्नाथ ! जगन्मय आप स्वामीके ही कारण इन्द्रको अपने राज्यकी हानि एवं शत्रुसे पराभवकी भी प्राप्ति हुई है। अतः मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। ऐसा कहनेके बाद रक्तचन्दनद्वारा देवोंसे पूजित सूर्यको चित्रितकर उन देवी (अदिति-) ने कनैलके पुष्पोंसे उनका पूजन किया और धूपसे धूपित करनेके बाद महेन्द्रकी भलाईके लिये सूर्यके लिये घृतसे बने उत्तम अन्न अर्पित किया तथा निराहार रहकर पवित्र स्तोत्रोंसे स्तुति करती हुई (साधनामें) बैठी रहीं ॥ ३३–३७ ॥

ततो द्वितीयेऽह्नि कृतप्रणामा स्नात्वा विधानेन च पूजयित्वा ।
दत्त्वा द्विजेभ्यः कणकं तिलाज्यं ततोऽग्रतः सा प्रयता बभूव ॥ ३८ ॥
ततः प्रीतोऽभवद् भानुर्घृतार्चिः सूर्यमण्डलात् । विनिःसृत्याग्रतः स्थित्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
व्रतेनानेन सुप्रीतस्तवाहं दक्षनन्दिनि । प्राप्स्यसे दुर्लभं कामं मत्प्रसादान्न संशयः ॥ ४० ॥
राज्यं त्वत्तनयानां वै दास्ये देवि सुरारणि । दानवान् ध्वंसयिष्यामि सम्भूयैवोदरे तव ॥ ४१ ॥

दूसरे दिन प्रणाम करनेके बाद विधिसे स्नान एवं पूजा करके उन्होंने ब्राह्मणोंको कणक, तिल एवं घृत प्रदान किया और उसके बाद वे और अधिक सयत रहने लगीं । इससे घृतार्चि भानु प्रसन्न हो गये । (वे) सूर्य-मण्डलसे निकले एव अदितिके सामने खड़े होकर यह वचन बोले—दक्षनन्दिनि ! तुम्हारे इस व्रतसे मै बहुत प्रसन्न हूँ । अतः मेरी कृपासे तुम निःसन्देह मनोवाञ्छित दुर्लभ वस्तु प्राप्त करोगी । देवि ! देवजननि ! मै तुम्हारा पुत्र होकर देवपुत्रोंको राज्य दूँगा और दानवोंका नाश करूँगा ॥ ३८–४१ ॥

तद्वाक्यं वासुदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मन् सुरारणिः । प्रोवाच जगतां योनिं वेपमाना पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
कथं त्वामुदरेणाहं वोढुं शक्ष्यामि दुर्धरम् । यस्योदरे जगत्सर्वं वसते स्थाणुजङ्गमम् ॥ ४३ ॥
कस्त्वां धारयितुं नाथ शक्तस्त्रैलोक्यधार्यसि । यस्य सप्तार्णवाः कुक्षौ निवसन्ति सहाद्रिभिः ॥ ४४ ॥
तस्माद् यथा सुरपतिः शक्रः स्यात् सुरराडिह । यथा च न मम क्लेशस्तथा कुरु जनार्दन ॥ ४५ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] ब्रह्मन् ! वासुदेवका वह वाक्य सुनकर बार-बार काँपती हुई देवोंकी माता अदितिने संसारको उत्पन्न करनेवाले विष्णुसे कहा—जिसके (विशाल) उदरमे स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त संसार निवास करता है, ऐसे त्रिलोकीको धारण करनेवाले आपको मै अपने उदरमे कैसे धारण कर सकूँगी ? नाथ ! आप तीनों लोकोंको धारण करनेवाले हैं । जिसकी कुक्षिमें पर्वतोंके साथ सातो समुद्र अवस्थित हैं ऐसे आपको कौन धारण कर सकता है ? अतः हे जनार्दन ! आप वैसा ही करें जिससे इन्द्र देवताओंके स्वामी बन जायँ और मुझे भी कष्ट न हो ॥ ४२–४५ ॥

विष्णुरुवाच

सत्यमेतन्महाभागे दुर्धरोऽस्मि सुरासुरैः । तथापि सम्भविष्यामि अहं देव्युदरे तव ॥ ४६ ॥
आत्मानं भुवनान् शैलांस्त्वाञ्च देवि सकश्यपाम् । धारयिष्यामि योगेन मा विषादं कृथाऽम्बिके ॥ ४७ ॥
तवोदरेऽहं दाक्षेयि सम्भविष्यामि वै यदा । तदा निस्तेजसो दैत्याः सम्भविष्यन्त्यसंशयम् ॥ ४८ ॥
इत्येवमुक्त्वा भगवान् विवेश तस्याश्च भूयोऽरिगणप्रमर्दी ।
स्वतेजसोंऽशेन विवेश देव्याः तदोदरे शक्रहिताय विप्र ॥ ४९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

विष्णुने कहा—महाभागे ! यह सत्य है कि मैं देवों और दैत्योंसे धृत नहीं हो सकता, फिर भी हे देवि ! मैं आपके उदरसे उत्पन्न होऊँगा । देवि ! स्वयंको, (चौदहों) भुवनों, पर्वतों एवं कश्यपसहित आपको भी मैं योगद्वारा धारण करूँगा । मातः ! आप विषाद न करें । दक्षात्मजे ! जब मै आपके उदरमें आऊँगा तब दैत्य निस्सन्देह तेजोहीन हो जायँगे । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] विप्र ! ऐसा कहकर शत्रुओंके नाश करनेवाले भगवान् विष्णु इन्द्रकी भलाईके लिये अपने तेजके अंशमात्रसे उन देवीके उदरमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४६–४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

पुलस्त्य उवाच

पौत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा प्रह्लादः क्रोधमूर्छितः। धिग्धिगित्याह स बलिं वैकुण्ठाक्षेपवादिनम् ॥ २५ ॥
धिक् त्वां पापसमाचारं दुष्टबुद्धिं सुबालिशम्। हरिं निन्दयतो जिह्वा कथं न पतिता तव ॥ २६ ॥
शोच्यस्त्वमसि दुर्बुद्धे निन्दनीयश्च साधुभिः। यत् त्रैलोक्यगुरुं विष्णुमभिनिन्दसि दुर्मते ॥ २७ ॥
शोच्यश्चास्मि न संदेहो येन जातः पिता तव। यस्य त्वं कर्कशः पुत्रो जातो देवावमान्यकः ॥ २८ ॥

पुलस्त्यने कहा—पौत्रके इस वचनको सुनकर अत्यन्त कुपित हुए उन प्रह्लादने विष्णुकी निन्दा करनेवाले बलिसे कहा—पापकर्मा दुष्टबुद्धि तुम मूर्खको धिक्कार है। विष्णुकी निन्दा करते हुए तुम्हारी जीभ क्यों नहीं गिर गयी ? दुर्बुद्धे ! दुर्मते ! तुम शोक करने लायक और सज्जनोंद्वारा निन्दा किये जाने योग्य हो। क्योंकि तुम तीनों लोकोंके गुरु विष्णुकी निन्दा कर रहे हो। निस्सन्देह मै भी शोक किये जाने लायक हूँ, जिसने तुम्हारे उस पिताको जन्म दिया, जिससे तुम देवताओंकी निन्दा करनेवाले तथा उग्र पुत्र हुए ॥ २५–२८ ॥

भवान् किल विजानाति तथा चामी महासुराः। यथा नान्यः प्रियः कश्चिन्मम तस्माज्जनार्दनात् ॥ २९ ॥
जानन्नपि प्रियतरं प्राणेभ्योऽपि हरिं मम। सर्वेश्वरेश्वरं देवं कथं निन्दितवानसि ॥ ३० ॥
गुरुः पूज्यस्तव पिता पूज्यस्तस्याप्यहं गुरुः। ममापि पूज्यो भगवान् गुरुर्लोकगुरुर्हरिः ॥ ३१ ॥
गुरोर्गुरुगुरुर्मूढ पूज्यः पूज्यतमस्तव। पूज्यं निन्दयते पाप कथं न पतितोऽस्यधः ॥ ३२ ॥

निश्चय ही तुम और ये महासुर भी जानते हैं कि जनार्दनसे अधिक दूसरा कोई मेरा प्रिय नहीं है। विष्णु मुझे प्राणोसे भी अधिक प्रिय है, यह जानते हुए भी तुमने सर्वेश्वरेश्वर देवकी निन्दा किस प्रकार की ! तुम्हारे पिता (तुम्हारे लिये) गुरु एवं पूजनीय हैं। उनका भी गुरु तथा पूजनीय मै हूँ। लोकगुरु भगवान् विष्णु मेरे भी पूजनीय और गुरु हैं। मूढ पापिन् ! गुरुके भी गुरु तुम्हारे लिये पूज्य एव पूज्यतम हैं। तुम पूजनीयकी निन्दा करते हो, इसलिये तुम नीचे क्यो नहीं गिर गये ॥ २९–३२ ॥

शोचनीया दुराचारा दानवामी कृतास्त्वया। येषां त्वं कर्कशो राजा वासुदेवस्य निन्दकः ॥ ३३ ॥
यस्मात् पूज्योऽर्चनीयश्च भवता निन्दितो हरिः। तस्मात् पापसमाचार राज्यनाशमवाप्नुहि ॥ ३४ ॥
यथा नान्यत् प्रियतरं विद्यते मम केशवात्। मनसा कर्मणा वाचा राज्यभ्रष्टस्तथा पत ॥ ३५ ॥
यथा न तस्मादपरं व्यतिरिक्तं हि विद्यते। चतुर्दशसु लोकेषु राज्यभ्रष्टस्तथा पत ॥ ३६ ॥
सर्वेषामपि भूतानां नान्यल्लोके परायणम्। यथा तथाऽनुपश्येयं भवन्तं राज्यविच्युतम् ॥ ३७ ॥

तुमने दुराचरण करनेवाले इन दानवोको शोचनीय बना दिया। क्योकि वासुदेवकी निन्दा करनेवाले कठोर-स्वभावके तुम इनके राजा हो। हे पापका आचरण करनेवाले ! यतः तुमने पूजनीय एवं अर्चनीय विष्णुकी निन्दा की है, अतः तुम्हारे राज्यका विनाश होगा। क्योकि मन, कर्म एवं वाणीसे मेरा केशवसे अधिक दूसरा कोई प्रिय नहीं है, अतः राज्यसे भ्रष्ट होकर तुम अधःपतित हो जाओ। क्योंकि चौदहों लोकोमे उनसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है, अतः राज्य-भ्रष्ट होकर तुम पतित हो जाओ; क्योकि संसारमे सभी भूतोका (वासुदेवके अतिरिक्त) दूसरा कोई आधार नहीं है, अतः मै तुम्हे राज्यच्युत हुआ देखूँ ॥ ३३–३७ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुच्चारिते वाक्ये बलिः सत्वरितस्तदा। अवतीर्यासनाद् ब्रह्मन् कृताञ्जलिपुटो बली ॥ ३८ ॥
शिरसा प्रणिपत्याह प्रसादं यातु मे गुरुः। कृतापराधानपि हि क्षमन्ति गुरवः शिशून् ॥ ३९ ॥

तत्साधु यदहं शप्तो भवता दानवेश्वर। न बिभेमि परेभ्योऽहं न च राज्यपरिक्षयात्॥ ४०॥
नैव दुःखं मम विभो यदहं राज्यविच्युतः। दुःखं कृतापराधत्वाद् भवतो मे महत्तरम्॥ ४१॥
तत् क्षम्यतां तात ममापराधो बालोऽस्म्यनाथोऽस्मि सुदुर्मतिश्च।
कृतेऽपि दोषे गुरवः शिशूनां क्षमन्ति दैन्यं समुपागतानाम्॥ ४२॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन्! इस प्रकार कहे जानेपर बलशाली बलि शीघ्र ही आसनसे नीचे उतरा और हाथ जोड़कर उसने सिरसे झुककर प्रणाम कर कहा—गुरो! मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों। बड़े लोग अपराध करनेपर भी बालकोंको क्षमा करते हैं। दानवेश्वर! आपका मुझे शाप देना ठीक है। मैं शत्रुओंसे तथा राज्यके विनाश होनेसे भयभीत नहीं हूँ। विभो! मुझे राज्यसे भ्रष्ट हो जानेका कष्ट भी नहीं है, परंतु आपका अपराध करनेका मुझे सबसे अधिक दुःख है। इसलिये तात! आप मेरे अपराधको क्षमा करें। मैं एक अनाथ दुर्बुद्धि शिशु हूँ। गुरुजन दोष करनेपर भी आर्त बने हुए बालकोंको क्षमा कर देते हैं॥ ३८—४२॥

पुलस्त्य उवाच

स एवमुक्तो वचनं महात्मा विमुक्तमोहो हरिपादभक्तः।
चिरं विचिन्त्याद्भुतमेतदित्थमुवाच पौत्रं मधुरं वचोऽथ॥ ४३॥

(फिर) पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकारके वचन कहनेपर विष्णुके चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाले ज्ञानी महात्मा-(प्रह्लाद-)ने बहुत देरतक विचारकर पौत्रसे इस प्रकार अद्भुत एवं मधुर यह वचन कहा॥ ४३॥

प्रह्लाद उवाच

तात मोहेन मे ज्ञानं विवेकश्च तिरस्कृतः। येन सर्वगतं विष्णुं जानंस्त्वां शप्तवानहम्॥ ४४॥
नूनमेतेन भाव्यं वै भवतो येन दानव। ममाविशन्महाबाहो विवेकप्रतिषेधकः॥ ४५॥
तस्माद् राज्यम्प्रति विभो न ज्वरं कर्तुमर्हसि। अवश्यंभाविनो ह्यर्था न विनश्यन्ति कर्हिचित्॥ ४६॥
पुत्रमित्रकलत्रार्थे राज्यभोगधनाय च। आगमे निर्गमे प्राज्ञो न विषादं समाचरेत्॥ ४७॥

प्रह्लादने कहा—तात! अज्ञानने मेरे ज्ञान एवं विवेकको ढक दिया था। इसीसे विष्णुको सर्वव्यापी जानते हुए भी मैंने तुम्हें शाप दे दिया। दानव! निश्चय ही तुम्हारी इस प्रकारकी होनहार थी। इसीसे विवेकका प्रतिबन्धक—विषय-वासनारूप अज्ञान मुझमें प्रवेश कर गया था। इसलिये विभो! राज्यके लिये कष्ट मत करो। अवश्यम्भावी विषय कभी भी विनष्ट नहीं होते। बुद्धिमान् व्यक्तिको पुत्र, मित्र, पत्नी, राज्यभोग और धनके आने तथा जानेपर चिन्तित नहीं होना चाहिये॥ ४४—४७॥

यथा यथा समायान्ति पूर्वकर्मविधानतः। सुखदुःखानि दैत्येन्द्र नरस्तानि सहेत् तथा॥ ४८॥
आपदामागमं दृष्ट्वा न विषण्णो भवेद् वशी। सम्पदं च सुविस्तीर्णां प्राप्य नोऽधृतिमान् भवेत्॥ ४९॥
धनक्षये न मुह्यन्ति न हृष्यन्ति धनागमे। धीराः कार्येषु च सदा भवन्ति पुरुषोत्तमाः॥ ५०॥
एवं विदित्वा दैत्येन्द्र न विषादं कथंचन। कर्तुमर्हसि विद्वांस्त्वं पण्डितो नावसीदति॥ ५१॥

दैत्येन्द्र! पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके विधानसे जैसे-जैसे सुख और दुःख आते हैं, मनुष्यको उसी प्रकार उनको सहन कर लेना चाहिये। संयम करनेवाले व्यक्तिको आपत्तियोंका आगमन देखकर पीड़ित नहीं होना चाहिये एवं अत्यन्त अधिक सम्पत्तिको देखकर धीरता नहीं खो देनी चाहिये। उत्तम पुरुष धनके नष्ट होनेपर चिन्ता एवं धनकी प्राप्ति होनेपर हर्ष नहीं करते। वे कर्तव्य कर्मके प्रति सदा धीर बने रहते हैं। दैत्येन्द्र! इस प्रकार जानकर तुम्हें किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिये; तुम विद्वान् हो! विद्वान् व्यक्ति दुःखी नहीं होते॥ ४८—५१॥

तथाऽन्यच्च महाबाहो हितं शृणु महार्थकम्। भवतोऽथ तथाऽन्येषां श्रुत्वा तच्च समाचर ॥ ५२ ॥
शरण्यं शरणं गच्छ तमेव पुरुषोत्तमम्। स ते त्राता भयादस्माद् दानवेन्द्र भविष्यति ॥ ५३ ॥
ये संश्रिता हरिमनन्तमनादिमध्यं विष्णुं चराचरगुरुं हरिमीशितारम्।
संसारगर्तपतितस्य करावलम्बं नूनं न ते भुवि नरा ज्वरिणो भवन्ति ॥ ५४ ॥
तन्मना दानवश्रेष्ठ तद्भक्तश्च भवाधुना। स एष भवतः श्रेयो विधास्यति जनार्दनः ॥ ५५ ॥
अहं च पापोपशमार्थमीशमाराध्य यास्ये प्रतितीर्थयात्राम्।
विमुक्तपापश्च ततो गमिष्ये यत्राच्युतो लोकपतिर्नृसिंहः ॥ ५६ ॥

महाबाहो ! तुम अपने लिये तथा अन्योंके लिये महान् अर्थपूर्ण एवं कल्याणकर (वचन) सुनो और सुनकर वैसा ही करो। दानवेन्द्र ! तुम उन्हीं शरणागतकी रक्षा करनेवाले पुरुषोत्तमकी शरणमें जाओ। वे ही इस भयसे तुम्हारी रक्षा करेंगे। आदि, मध्य और अन्तसे हीन, चर और अचरके गुरु, संसाररूपी गर्त्तमें गिरे हुओंके लिये हाथका आश्रय देनेवाले एवं सबके नियन्ता हरि विष्णुकी शरणमें जानेवाले मनुष्य निश्चय ही संसारमें संतप्त नहीं होते। दानवश्रेष्ठ ! अब तुम अपना मन उन्हींमें लगाकर उनके भक्त बनो। वे जनार्दन ही तुम्हारा कल्याण करेंगे। मैं भी पापके विनाशके लिये ईश्वरकी आराधनाकर तीर्थयात्रा करने जाऊँगा और पापसे विमुक्त होकर मैं वहाँ जाऊँगा, जहाँ लोकपति अच्युत नृसिंह हैं ॥ ५२—५६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमाश्वास्य बलिं महात्मा संस्मृत्य योगाधिपतिं च विष्णुम्।
आमन्त्र्य सर्वान् दनुयूथपालान् जगाम कर्तुं त्वथ तीर्थयात्राम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार बलिको आश्वासन देनेके बाद महात्मा-(प्रह्लाद-) ने योगके अधिपति विष्णुका स्मरण किया और दानवसमूहोंके पालकोंसे अनुमति लेकर तीर्थयात्रा करने चले गये। ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सतहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७७ ॥

[अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

कानि तीर्थानि विप्रेन्द्र प्रह्लादोऽनुजगाम ह। प्रह्लादतीर्थयात्रां मे सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

अठहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी तीर्थयात्रा, धुन्धु और वामन-प्रसङ्ग, धुन्धुका यज्ञानुष्ठान, वामनका प्रादुर्भाव और उनके लिये दान देनेका धुन्धुका निश्चय, वामनका त्रिविक्रम होना और धुन्धुका वध)

नारदने कहा (पूछा)—श्रेष्ठ विप्र ! प्रह्लाद (क्रमशः) किन-किन तीर्थोंमें गये। कृपया आप मुझसे प्रह्लादकी तीर्थयात्राका भलीभाँति वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि पापपङ्कप्रणाशिनीम्। प्रह्लादतीर्थयात्रां ते शुद्धपुण्यप्रदायिनीम् ॥ २ ॥
संत्यज्य मेरुं कनकाचलेन्द्रं तीर्थं जगामामरसंघजुष्टम्।
ख्यातं पृथिव्यां शुभदं हि मानसं यत्र स्थितो मत्स्यवपुः सुरेशः ॥ ३ ॥

*

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा संतर्प्य पितृदेवताः। सम्पूज्य च जगन्नाथमच्युतं श्रुतिभिर्युतम्॥ ४॥
उपोष्य भूयः सम्पूज्य देवर्षिपितृमानवान्। जगाम कच्छपं द्रष्टुं कौशिक्यां पापनाशनम्॥ ५॥
तस्यां स्नात्वा महानद्यां सम्पूज्य च जगत्पतिम्। समुपोष्य शुचिर्भूत्वा दत्त्वा विप्रेषु दक्षिणाम्॥ ६॥
नमस्कृत्य जगन्नाथमथो कूर्मवपुर्धरम्।
ततो जगाम कृष्णाख्यं द्रष्टुं वाजिमुखं प्रभुम्। तत्र देवह्रदे स्नात्वा तर्पयित्वा पितॄन् सुरान्॥ ७॥
सम्पूज्य हयशीर्षं च जगाम गजसाह्वयम्। तत्र देवं जगन्नाथं गोविन्दं चक्रपाणिनम्॥ ८॥
स्नात्वा सम्पूज्य विधिवज्जगाम यमुनां नदीम्।
तस्यां स्नातः शुचिर्भूत्वा संतर्प्यर्षिसुरान् पितॄन्। ददर्श देवदेवेशं लोकनाथं त्रिविक्रमम्॥ ९॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! सुनिये; मै आपसे पापरूपी कीचड़को नष्ट करनेवाली एवं पवित्र पुण्यको देनेवाली प्रह्लादकी तीर्थयात्राको कहता हूँ। सुवर्णमय श्रेष्ठ मेरु पर्वतको छोड़कर वे (सबसे पहले) देवोंसे सेवित (और) पृथ्वीमे प्रसिद्ध कल्याणदायी मानसतीर्थमे गये, जहाँ मत्स्यशरीरधारी (मत्स्यावतारी) देवाधिदेव निवास करते है। उस उत्तम तीर्थमे स्नान और पितृ-देव-तर्पण कर उन्होंने वेद-मन्त्रोसे अच्युत भगवान् विश्वेशका पूजन किया। फिर वहाँ उपवास रहकर देवो, ऋषियो, पितरो और मनुष्योकी (यथायोग्य) पूजा कर कौशिकीमे (अवस्थित) पापका नाश करनेवाले भगवान् कच्छपका दर्शन करने गये। उस महानदीमे स्नान करनेके बाद उन्होंने जगत्-स्वामी भगवान्की पूजा की और उपवास (व्रत) करके पवित्र होकर ब्राह्मणोंको दक्षिणा दी। उसके बाद कच्छपावतार जगन्नाथ भगवान्को नमस्कार कर वे वहाँसे कृष्ण नामके अश्वमुख भगवान्का दर्शन करने चले गये। वहाँ उन्होंने देवह्रदमें स्नानकर देवो एवं पितरोंका तर्पण किया और हयग्रीव भगवान्का अर्चन कर वे हस्तिनापुर चले गये। वहाँ स्नान करनेके बाद चक्रपाणि विश्वपति गोविन्ददेवकी विधिसे पूजा करनेके बाद वे यमुना नदीके पास पहुँच गये। उसमें स्नान करके पवित्र होकर उन्होने ऋषियो, पितरो और देवोंका तर्पण किया तथा देवोके देव जगन्नाथ त्रिविक्रम-(वामन भगवान्-) का दर्शन किया॥ २—९॥

नारद उवाच

साम्प्रतं भगवान् विष्णुस्त्रैलोक्याक्रमणं वपुः। करिष्यति जगत्स्वामी बलेर्बन्धनमीश्वरः॥ १०॥
तत्कथं पूर्वकालेऽपि विभुरासीत् त्रिविक्रमः। कस्य वा बन्धनं विष्णुः कृतवांस्तच्च मे वद॥ ११॥

नारदजीने पूछा—इस समय जगत्स्वामी भगवान् विष्णु तीनों लोकोंको आक्रान्त करनेवाला (विशालतम) देह धारण करेंगे और बलिको बाँधेंगे तो वे भगवान् विष्णु पहले समयमें भी कैसे त्रिविक्रम हुए थे और (उस समय) उन्होने किसका बन्धन किया था—यह मुझे बतलाइये॥ १०—११॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि योऽयं प्रोक्तस्त्रिविक्रमः। यस्मिन् काले सम्बभूव यं च वञ्चितवानसौ॥ १२॥
आसीद् धुन्धुरिति ख्यातः कश्यपस्यौरसः सुतः। दनुगर्भसमुद्भूतो महाबलपराक्रमः॥ १३॥
स समाराध्य वरदं ब्रह्माणं तपसाऽसुरः। अवध्यत्वं सुरैः सेन्द्रैः प्रार्थयत् स तु नारद॥ १४॥
तद् वरं तस्य च प्रादात् तपसा पङ्कजोद्भवः। परितुष्टः स च बली निर्जगाम त्रिविष्टपम्॥ १५॥
चतुर्थस्य कलेरादौ जित्वा देवान् सवासवान्। धुन्धुः शक्रत्वमकरोद्धिरण्यकशिपौ सति॥ १६॥
तस्मिन् काले स बलवान् हिरण्यकशिपुस्ततः। चचार मन्दरगिरौ दैत्यं धुन्धुं समाश्रितः॥ १७॥
ततोऽसुरा यथा कामं विहरन्ति त्रिविष्टपे। ब्रह्मलोके च त्रिदशाः संस्थिता दुःखसंयुताः॥ १८॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! वे त्रिविक्रम भगवान् कौन हैं, कब हुए और उन्होंने किसको ठगा ? यह सब जो आपने पूछा है उसे मैं कहता हूँ; आप सुनिये। दनुके गर्भसे उत्पन्न अत्यन्त बलवान् एवं पराक्रमी धुन्धु नामसे प्रसिद्ध कश्यपका एक औरस पुत्र था। नारदजी ! उस दैत्यने तपस्यासे वरदानी ब्रह्माकी आराधना करके उनसे इन्द्र आदि देवताओंसे (अपनेको) अवध्य होनेकी याचना की। (उसकी) तपस्यासे प्रसन्न होकर कमलयोनि ब्रह्माजीने उसे वह (वाञ्छित) वर दे दिया। उसके बाद वह बलवान् धुन्धु स्वर्गमें चला गया। चतुर्थ कलियुगके आदिमें हिरण्यकशिपुके वर्तमान रहते समय धुन्धु इन्द्रसहित देवोंको जीतकर स्वयं इन्द्र बन गया। उस समय धुन्धुका आश्रय लेकर बलवान् दैत्य हिरण्यकशिपु मन्दर पर्वतपर (स्वच्छन्दतासे) विचरण कर रहा था। दैत्यगण भी स्वच्छन्दतासे स्वर्गमें विचरण करने लगे। (इससे) सभी देवता दुःखी होकर ब्रह्मलोकमें जाकर रहने लगे ॥ १२–१८ ॥

ततोऽमरान् ब्रह्मसदो निवासिनः श्रुत्वाऽथ धुन्धुर्दितिजानुवाच।
व्रजाम दैत्या वयमब्जजस्य सदो विजेतुं त्रिदशान् सशक्रान् ॥ १९ ॥
ते धुन्धुवाक्यं तु निशम्य दैत्याः प्रोचुर्न नो विद्यति लोकपाल।
गतिर्यया याम पितामहाजिरं सुदुर्गमोऽयं परतो हि मार्गः ॥ २० ॥
इतः सहस्रैर्बहुयोजनाख्यैर्लोको महर्नाम महर्षिजुष्टः।
येषां हि दृष्ट्याऽर्पणचोदितेन दह्यन्ति दैत्याः सहसेक्षितेन ॥ २१ ॥
ततोऽपरो योजनकोटिना वै लोको जनो नाम वसन्ति यत्र।
गोमातरोऽस्मासु विनाशकारि यासां रजोऽपीह महासुरेन्द्र ॥ २२ ॥
ततोऽपरो योजनकोटिभिस्तु षड्भिस्तपो नाम तपस्विजुष्टः।
तिष्ठन्ति यत्रासुर साध्यवर्या येषां हि निश्वासमरुत् त्वसह्यः ॥ २३ ॥

तब देवताओंका ब्रह्मलोकमें रहना सुनकर धुन्धुने दैत्योंसे कहा—दैत्यो ! इन्द्रसहित देवोंको जीतनेके लिये हमलोग (अब) ब्रह्मलोक चलें। धुन्धुका वचन सुनकर उन दैत्योंने कहा—लोकपाल ! हमलोगोंमें वह गति नहीं है, जिससे पितामह-(ब्रह्मा-) के लोकमें जा सकें। (वहाँका) मार्ग बहुत दूर एवं बीहड़ है। यहाँसे हजारों योजन दूर महर्षियोंसे सेवित 'मह' नामका लोक है। उन ऋषियोंकी सहसा दृष्टि पड़ते ही समस्त दैत्य जल जाते हैं। उससे भी आगे कोटि योजन दूर 'जन' नामक एक लोक है जहाँ गोमाताएँ रहती हैं ! महासुरेन्द्र ! उनकी धूलि भी हमलोगोंका विनाश कर सकती है। उसके बाद छः करोड़ योजनकी दूरीपर तपस्वियोंसे भरा 'तप' लोक है। असुरराज ! वहाँ श्रेष्ठ साध्यगण रहते हैं। उनका निःश्वास-वायु असहनीय है ॥ १९–२३ ॥

ततोऽपरो योजनकोटिभिस्तु त्रिंशद्भिरादित्यसहस्रदीप्तिः।
सत्याभिधानो भगवन्निवासो वरप्रदोऽभूद् भवतो हि योऽसौ ॥ २४ ॥
यस्य वेदध्वनिं श्रुत्वा विकसन्ति सुरादयः। संकोचमसुरा यान्ति ये च तेषां सधर्मिणः ॥ २५ ॥
तस्मान्मा त्वं महाबाहो मतिमेतां समादधः। वैराजभुवनं धुन्धो दुरारोहं सदा नृभिः ॥ २६ ॥
तेषां वचनमाकर्ण्य धुन्धुः प्रोवाच दानवान्। गन्तुकामः स सदनं ब्रह्मणो जेतुमीश्वरान् ॥ २७ ॥

उसके बाद तीस करोड़ योजनकी दूरीपर हजारों सूर्योंके समान प्रदीप्त 'सत्य'नामका लोक है। वह लोक उन्हीं भगवान्‌का निवास-स्थल, है जिन्होंने आपको वर दिया था। जिनकी वेदध्वनि सुनकर देवता आदि विकसित हो जाते हैं तथा दैत्य और उनके समान धर्मवाले संकुचित (म्लान) हो जाते हैं। अतः महाबाहु धुन्धो ! आप

ऐसी बुद्धि न करें; क्योंकि ब्रह्मलोक मनुष्यों-(एवं दैत्यों-) के लिये सर्वत्र अगम्य है। उनकी बात सुनकर (भी) देवोंको जीतनेके लिये ब्रह्मलोक जानेकी इच्छावाले धुन्धुने दानवोंसे (फिर) कहा—॥ २४—२७॥

कथं तु कर्मणा केन गम्यते दानवर्षभाः। कथं तत्र सहस्राक्षः सम्प्राप्तः सह दैवतैः॥ २८॥
ते धुन्धुना दानवेन्द्राः पृष्टाः प्रोचुर्वचोऽधिपम्। कर्म तन्न वयं विद्मः शुक्रस्तद् वेत्त्यसंशयम्॥ २९॥
दैत्यानां वचनं श्रुत्वा धुन्धुर्दैत्यपुरोहितम्। पप्रच्छ शुक्रं किं कर्म कृत्वा ब्रह्मसदोगतिः॥ ३०॥
ततोऽस्मै कथयामास दैत्याचार्यः कलिप्रिय। शक्रस्य चरितं श्रीमान् पुरा वृत्ररिपोः किल॥ ३१॥
शक्रः शतं तु पुण्यानां क्रतूनामयजत् पुरा। दैत्येन्द्र वाजिमेधानां तेन ब्रह्मसदो गतः॥ ३२॥

दानवश्रेष्ठो! वहाँ कैसे और किस कर्मसे जाया जा सकता है? इन्द्र देवोंके साथ वहाँ कैसे पहुँचे? धुन्धुके पूछनेपर उन श्रेष्ठ दानवोंने कहा—हमलोग उस कर्मको तो नहीं जानते, किंतु शुक्राचार्य उसको निःसंदेह जानते हैं। दैत्योंका वचन सुनकर धुन्धुने दैत्योंके पुरोहित शुक्राचार्यजीसे पूछा—(आचार्यजी!) किस कर्मको करनेसे ब्रह्मलोकमें जाया जा सकता है? (पुलस्त्यजी कहते हैं—) कलिप्रिय! उसके बाद दैत्योंके गुरु श्रीमान् शुक्राचार्यने उससे वृत्रशत्रु इन्द्रका चरित कहा। उन्होंने कहा—दैत्येन्द्र! पहले समयमें इन्द्रने सौ पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये थे। इसीसे वे ब्रह्मलोक गये॥ २८—३२॥

तद्वाक्यं दानवपतिः श्रुत्वा शुक्रस्य वीर्यवान्।
यष्टुं तुरगमेधानां चकार मतिमुत्तमाम्। अथामन्त्र्यासुरगुरुं दानवांश्चाप्यनुत्तमान्॥ ३३॥
प्रोवाच यक्ष्येऽहं यज्ञैरश्वमेधैः सदक्षिणैः। तदागच्छध्वमवनीं गच्छामो वसुधाधिपान्॥ ३४॥
विजित्य हयमेधान् वै यथाकामगुणान्वितान्। आहूयन्तां च निधयस्त्वाज्ञाप्यन्तां च गुह्यकाः॥ ३५॥
आमन्त्र्यन्तां च ऋषयः प्रयामो देविकातटम्।
सा हि पुण्या सरिच्छ्रेष्ठा सर्वसिद्धिकरी शुभा। स्थानं प्राचीनमासाद्य वाजिमेधान् यजामहे॥ ३६॥

शुक्राचार्यके उस वाक्यको सुनकर बलवान् दानवपतिने अश्वमेधयज्ञ करनेकी उत्कट इच्छा की। उसके बाद दैत्योंके गुरुको और अच्छे दैत्योंको बुलाकर उसने कहा—मैं दक्षिणासहित अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करूँगा। इसलिये आओ, हमलोग पृथ्वीपर चलें और राजाओंको जीतकर इच्छानुकूल सामग्री एवं विधिसे पूर्ण अश्वमेधोंका अनुष्ठान करें। निधियोंको बुलाओ एवं गुह्यकोंको आदेश दे दो और ऋषियोंको आमन्त्रित करो। हमलोग देविकाके तटपर चलें। वह पुनीत उत्तम नदी कल्याणदायिनी तथा सर्वसिद्धिकारिणी है। उस प्राचीन स्थानपर पहुँचकर हम अश्वमेध यज्ञ करेंगे॥ ३३—३६॥

इत्थं सुरारेर्वचनं निशम्यासुरयाजकः। बाढमित्यब्रवीद्धृष्टो निधयः संदिदेश सः॥ ३७॥
ततो धुन्धुर्देविकायाः प्राचीने पापनाशने। भार्गवेन्द्रेण शुक्रेण वाजिमेधाय दीक्षितः॥ ३८॥
सदस्या ऋत्विजश्चापि तत्रासन् भार्गवा द्विजाः। शुक्रस्यानुमते ब्रह्मन् शुक्रशिष्याश्च पण्डिताः॥ ३९॥
यज्ञभागभुजस्तत्र स्वर्भानुप्रमुखा मुने। कृताश्चासुरनाथेन शुक्रस्यानुमतेऽसुराः॥ ४०॥
ततः प्रवृत्तो यज्ञस्तु समुत्सृष्टस्तथा हयः। हयस्यानुययौ श्रीमानसिलोमा महासुरः॥ ४१॥

देवोंके शत्रु धुन्धुके उस वचनको सुनकर दैत्योंके यज्ञ करानेवाले शुक्राचार्यने 'ठीक है'—ऐसा कहा और प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने निधियोंको आदेश दे दिया। उसके बाद भार्गवश्रेष्ठ शुक्राचार्यने पापोंका नाश करनेवाले देविकाके प्राचीन तटपर अश्वमेध यज्ञके (अनुष्ठानके) लिये धुन्धुको दीक्षित किया। ब्रह्मन्! शुक्राचार्यकी अनुमतिसे उनके शिष्य तथा भार्गव-गोत्रीय विद्वान् ब्राह्मण उस यज्ञमें सदस्य एवं ऋत्विक् बने। मुने!

शुक्राचार्यकी अनुमतिसे दैत्यस्वामीने स्वर्भानु आदि असुरोंको (देवोंके स्थानपर) यज्ञभागका रक्षक और भोक्ता बनाया। उसके बाद यज्ञ आरम्भ हुआ और (दिग्विजय-सूचक) अश्व छोड़ा गया। असिलोमा नामका विराट् दैत्य घोड़ेके पीछे (उसकी रक्षाके लिये) चला ॥ ३७–४१ ॥

ततोऽग्निधूमेन मही सशैला व्याप्ता दिशः खं विदिशश्च पूर्णाः।
तेनोग्रगन्धेन दिवस्पृशेन मरुद्ववौ ब्रह्मलोके महर्षे ॥ ४२ ॥
तं गन्धमाघ्राय सुरा विषण्णा जानन्त धुन्धुं हयमेधदीक्षितम्।
ततः शरण्यं शरणं जनार्दनं जग्मुः सशक्रा जगतः परायणम् ॥ ४३ ॥
प्रणम्य वरदं देवं पद्मनाभं जनार्दनम्। प्रोचुः सर्वे सुरगणा भयगद्गदया गिरा ॥ ४४ ॥
भगवन् देवदेवेश चराचरपरायण। विज्ञप्तिः श्रूयतां विष्णो सुराणामार्तिनाशन ॥ ४५ ॥

महर्षे ! उसके बाद यज्ञके धूएँसे पहाड़ोंके साथ पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ और विदिशाएँ भर गयीं। आकाशमें फैले उस उत्कट सुगन्धवाले धूएँसे मिली हुई वायु ब्रह्मलोकमें बहने लगी। उस गन्धको सूँघकर देवगण उदास हो गये। उन्हे यह पता चल गया कि धुन्धुने अश्वमेधकी दीक्षा ग्रहण की है (और यज्ञानुष्ठान कर रहा)। उसके बाद वे इन्द्रसहित संसारके आश्रय और शरण देनेवाले भगवान् जनार्दनकी शरणमें गये। कमलनालको धारण करनेवाले वरदानी जनार्दन देवको प्रणाम कर सभी देवोंने भयसे विकल वाणीमें कहा— देवोंके दुःखको दूर करनेवाले तथा चर और अचरके कल्याण करनेमें नित्य उद्यत रहनेवाले देवाधिदेव विष्णो ! आप हमारा निवेदन सुनें—॥ ४२–४५ ॥

धुन्धुर्नामासुरपतिर्बलवान् वरबृंहितः। सर्वान् सुरान् विनिर्जित्य त्रैलोक्यमहरद् बलिः ॥ ४६ ॥
ऋते पिनाकिनो देवात् त्राताऽस्मान् न यतो हरे। अतो विवृद्धिमगमद् यथा व्याधिरुपेक्षितः ॥ ४७ ॥
साम्प्रतं ब्रह्मलोकस्थानपि जेतुं समुद्यतः। शुक्रस्य मतमास्थाय सोऽश्वमेधाय दीक्षितः ॥ ४८ ॥
शतं क्रतूनामिष्ट्वाऽसौ ब्रह्मलोकं महासुरः। आरोढुमिच्छति वशी विजेतुं त्रिदशानपि ॥ ४९ ॥
तस्मादकालहीनं तु चिन्तयस्व जगद्गुरो। उपायं मखविध्वंसे येन स्याम सुनिर्वृताः ॥ ५० ॥

धुन्धु नामका बलवान् दैत्यपति शंकरसे वर प्राप्त कर लेनेके कारण बढ़ गया है। उस बलवान्‌ने सभी देवोंको पराजितकर (उनसे) त्रिलोकी-(के अधिकार-) को छीन लिया है। हरे ! पिनाक धारण करनेवाले शंकरके सिवा हम देवोंका कोई रक्षक न होनेसे वह असुर उपेक्षित रोगकी तरह (बहुत) बढ़ गया है। इस समय वह ब्रह्मलोकमें शरण लिये हुए रहनेपर भी हमलोगोंको (फिर) जीतनेके लिये तैयार होकर शुक्राचार्यके मतके अनुसार अश्वमेध-यज्ञमे दीक्षित हो गया है। वह दैत्य (धुन्धु) सौ अश्वमेधयज्ञ करके देवताओंपर विजय पानेके लिये ब्रह्मलोकमे आक्रमण करना चाहता है। इसलिये जगद्गुरो ! आप उसके यज्ञको विध्वंस्त करनेका उपाय बिना समय बिताये (तत्काल) सोचें, जिससे हमलोग निश्चिन्त हो सकें ॥ ४६–५० ॥

श्रुत्वा सुराणां वचनं भगवान् मधुसूदनः।
दत्त्वाऽभयं महाबाहुः प्रेषयामास साम्प्रतम्। विसृज्य देवताः सर्वा ज्ञात्वाऽजेयं महासुरम् ॥ ५१ ॥
बन्धनाय मतिं चक्रे धुन्धोर्धर्मध्वजस्य वै। ततः कृत्वा स भगवान् वामनं रूपमीश्वरः ॥ ५२ ॥
देहं त्यक्त्वा निरालम्बं काष्ठवद् देविकाजले। क्षणान्मज्जंस्तथोन्मज्जन्मुक्तकेशो यदृच्छया ॥ ५३ ॥
दृष्टोऽथ दैत्यपतिना दैत्यैश्चान्यैस्तथर्षिभिः। ततः कर्म परित्यज्य यज्ञियं ब्राह्मणोत्तमाः ॥ ५४ ॥

समुत्तारयितुं विप्रमाद्रवन्त समाकुलाः। सदस्या यजमानश्च ऋत्विजोऽथ महौजसः ॥ ५५ ॥
निमज्जमानमुज्जह्रुः सर्वे ते वामनं द्विजम्।
समुत्तार्य प्रसन्नास्ते प्रपच्छुः सर्व एव हि। किमर्थं पतितोऽसीह केनाक्षिप्तोऽसि नो वद ॥ ५६ ॥

सभी देवताओंको अभयदान देकर उन महाबाहुने उन देवताओंको लौटा दिया और उस महान् धर्मध्वजी (धर्मके नामपर पाखण्ड रचनेवाले) दैत्य धुन्धुको अजेय समझकर उन्होंने (श्रीहरिने) उसे बाँधनेका विचार किया। उसके बाद भगवान् विष्णुने बौनाका रूप धर लिया और देविका नदीके जलमे (अपनी) देहको लकड़ीकी तरह निरालम्ब छोड़ दिया। खुले हुए केशोंवाले वे क्षणमात्रमें अपने-आप डूबने-उतराने लगे। उसके बाद दैत्यपतिने तथा अन्य दैत्यों एवं ऋत्विजोंने उन्हें देखा। उसके बाद व्याकुल होकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञके सभी काम छोड़कर उस ब्राह्मणको निकालनेके लिये दौड़े। सभी सदस्य, यजमान एवं अति तेजस्वी ऋत्विजोंने डूबते हुए बौनाके आकारवाले ब्राह्मणको (नदीके जलसे बाहर) निकाला और उससे पूछा—हमें यह बतलाओ कि तुम यहाँ क्यों गिरे अथवा तुम्हें किसने फेंका ? ॥ ५१–५६ ॥

तेषामाकर्ण्य वचनं कम्पमानो मुहुर्मुहुः। प्राह धुन्धुपुरोगांस्ताञ्शृणुतामत्र कारणम् ॥ ५७ ॥
ब्राह्मणो गुणवानासीत् प्रभास इति विश्रुतः। सर्वशास्त्रार्थवित् प्राज्ञो गोत्रतश्चापि वारुणः ॥ ५८ ॥
तस्य पुत्रद्वयं जातं मन्दप्रज्ञं सुदुःखितम्। तत्र ज्येष्ठो मम भ्राता कनीयानपरस्त्वहम् ॥ ५९ ॥
नेत्रभास इति ख्यातो ज्येष्ठो भ्राता ममासुर। मम नाम पिता चक्रे गतिभासेति कौतुकात् ॥ ६० ॥

उसने उनके वचनको सुनकर बार-बार काँपते हुए धुन्धु आदिसे कहा—आपलोग इसका कारण सुनें। वरुण-गोत्रमें उत्पन्न प्रभास नामके एक ब्राह्मण थे। वे सभी शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेवाले और बुद्धिमान् थे। उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। वे दोनों ही अल्पबुद्धि और अत्यन्त दुःखग्रस्त थे। उनमें मेरा भाई बड़ा और मै छोटा हूँ। अये दैत्य ! मेरा बड़ा भाई 'नेत्रभास' नामसे प्रसिद्ध है। मेरे पिताने कुतूहलवश मेरा नाम 'गतिभास' रख दिया ॥ ५७–६० ॥

रम्यश्चावसथो धुन्धो शुभश्चासीत् पितुर्मम। त्रिविष्टपगुणैर्युक्तश्चारुरूपो महासुर ॥ ६१ ॥
ततः कालेन महता आवयोः स पिता मृतः। तस्यौर्ध्वदेहिकं कृत्वा गृहमावां समागतौ ॥ ६२ ॥
ततो मयोक्तः स भ्राता विभजाम गृहं वयम्। तेनोक्तो नैव भवतो विद्यते भाग इत्यहम् ॥ ६३ ॥
कुब्जवामनखञ्जानां क्लीबानां श्वित्रिणामपि। उन्मत्तानां तथान्धानां धनभागो न विद्यते ॥ ६४ ॥
शय्यासनस्थानमात्रं स्वेच्छयान्नभुजक्रिया। एतावद् दीयते तेभ्यो नार्थभागहरा हि ते ॥ ६५ ॥

महासुर धुन्धो ! मेरे पिताका निवास-स्थान सुन्दर, आनन्ददायक, स्वर्गीय गुणोंसे युक्त एवं मनोहर था। उसके बाद बहुत दिनोके पश्चात् हम दोनोंके पिता स्वर्ग चले गये। उनकी दाह-संस्कारादि-श्राद्धक्रिया करके हम दोनों भाई घर आ गये। उसके बाद मैंने (अपने उन) बडे भाईसे कहा—हम दोनों आपसमें घरका बँटवारा कर लें। उसने मुझसे कहा—तुम्हारा हिस्सा नहीं है; क्योंकि कुबड़े, बौने, लँगड़े, हिजड़े, चरकवाले, पागल और अन्धोका धनमें हिस्सा नहीं होता है। उन्हें केवल सोने भरका स्थान तथा अपनी इच्छाके अनुसार अन्नभोगका अधिकार दिया जाता है। वे सम्पत्तिके भागी—अधिकारी नहीं होते ॥ ६१–६५ ॥

एवमुक्ते मया सोक्तः किमर्थं पैतृकाद् गृहात्। धनार्धभागमर्हामि नाहं न्यायेन केन वै ॥ ६६ ॥
इत्युक्तवति वाक्येऽसौ भ्राता मे कोपसंयुतः। समुत्क्षिप्याक्षिपन्नद्यामस्यां मामिति कारणात् ॥ ६७ ॥

ममास्यां निम्नगायां तु मध्येन प्लवतो गतः । कालः संवत्सराख्यस्तु युष्माभिरिह चोद्धृतः ॥ ६८ ॥
के भवन्तोऽत्र सम्प्राप्ताः सस्नेहा बान्धवा इव । कोऽयं च शक्रप्रतिमो दीक्षितो यो महाभुजः ॥ ६९ ॥
तन्मे सर्वं समाख्यात याथातथ्यं तपोधनाः । महर्द्धिसंयुता यूयं सानुकम्पाश्च मे भृशम् ॥ ७० ॥

ऐसा कहनेपर मैने उससे कहा कि अपने पिताके घरके धनके आधे हिस्सेका अधिकारी मै किस न्यायसे और क्यो नहीं हूँ ? ऐसा अभिप्राय-पूर्ण वाक्य कहनेपर क्रोधमे आकर मेरे भाईने मुझे उठाकर इस नदीमें फेक दिया । मुझे इस नदीमें तैरते हुए एक वर्षका समय बीत गया । (अब) आपलोगोंने यहाँ मेरा उद्धार किया है । प्रेमी बान्धवोके समान यहाँ उपस्थित आपलोग कौन हैं तथा यज्ञके लिये दीक्षित इन्द्रके समान ये महाबलशाली कौन हैं ? तपोधनो ! आपलोग यह सब ठीक-ठीक मुझे बतलाइये । आपलोग महान् ऐश्वर्यशाली और मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह करनेवाले हैं ॥ ६६—७० ॥

तद् वामनवचः श्रुत्वा भार्गवा द्विजसत्तमाः । प्रोचुर्वयं द्विजा ब्रह्मन् गोत्रतश्चापि भार्गवाः ॥ ७१ ॥
असावपि महातेजा धुन्धुर्नाम महासुरः । दाता भोक्ता विभक्ता च दीक्षितो यज्ञकर्मणि ॥ ७२ ॥
इत्येवमुक्त्वा देवेशं वामनं भार्गवास्ततः । प्रोचुर्दैत्यपतिं सर्वे वामनार्थकरं वचः ॥ ७३ ॥
दीयतामस्य दैत्येन्द्र सर्वोपस्करसंयुतम् । श्रीमदावसथं दास्यो रत्नानि विविधानि च ॥ ७४ ॥
इति द्विजानां वचनं श्रुत्वा दैत्यपतिर्वचः । प्राह द्विजेन्द्र ते दद्मि यावदिच्छसि वै धनम् ॥ ७५ ॥

वामनके उस वचनको सुनकर भार्गवकुलके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने कहा—ब्रह्मन् ! हमलोग भार्गव गोत्रवाले ब्राह्मण हैं । ये अति तेजस्वी दाता, भोक्ता और विभक्ता धुन्धु नामके महान् असुर हैं । ये यज्ञकर्ममें दीक्षित हुए हैं । देवेश वामनसे ऐसा कहकर सभी भार्गवगोत्रीय (ब्राह्मणोंने) असुरस्वामी धुन्धुसे वामनके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला वचन कहा—दैत्येन्द्र ! आप इन्हे सम्पूर्ण साज-सजासे पूर्ण सम्पत्तिसे सम्पन्न घर, दासियाँ और विविध प्रकारके रत्न (आदि) प्रदान करे । ब्राह्मणोके उस वचनको सुनकर असुरराज धुन्धुने यह वचन कहा— द्विजेन्द्र ! मैं आपको आपकी इच्छाके अनुकूल धन दूँगा ॥ ७१—७५ ॥

दास्ये गृहं हिरण्यं च वाजिनः स्यन्दनान् गजान् । प्रयच्छाम्यद्य भवतो व्रियतामीप्सितं विभो ॥ ७६ ॥
तद्वाक्यं दानवपतेः श्रुत्वा देवोऽथ वामनः । प्राहासुरपतिं धुन्धुं स्वार्थसिद्धिकरं वचः ॥ ७७ ॥
सोदरेणापि हि भ्रात्रा ह्रियन्ते यस्य सम्पदः । तस्याक्षमस्य यद्दत्तं किमन्यो न हरिष्यति ॥ ७८ ॥
दासीदासांश्च भृत्यांश्च गृहं रत्नं परिच्छदम् । समर्थेषु द्विजेन्द्रेषु प्रयच्छस्व महाभुज ॥ ७९ ॥
मम प्रमाणमालोक्य मामकं च पदत्रयम् । सम्प्रयच्छस्व दैत्येन्द्र नाधिकं रक्षितुं क्षमः ॥ ८० ॥

विभो ! आप अपने अभीष्ट पदार्थकी माँग करें । मैं आज आपको घर, सोना, घोडे, रथ एवं हाथी प्रदान करूँगा । दैत्य-स्वामीके उस वाक्यको सुनकर (विप्ररूप धारण करनेवाले) भगवान् वामनने दानवपति धुन्धुसे अपने स्वार्थको साधनेवाला वचन कहा—सहोदर भाईने जिसकी (पैतृक) सम्पत्तिको ले लिया उस असमर्थको जो कुछ मिलेगा उसे क्या कोई दूसरा नहीं छीन लेगा ? महाबाहो ! आप दिये हुएकी रक्षा करनेमे समर्थ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दासी, दास, नौकर, घर, रत्न और अच्छे वस्त्र दे । दैत्येन्द्र ! मुझे तो मेरा परिमाण देखकर (केवल) तीन पग (भूमि) ही दे दे । (इससे) अधिककी रक्षा करनेमें मै समर्थ नहीं हूँ ॥ ७६—८० ॥

इत्येवमुक्ते वचने महात्मना विहस्य दैत्याधिपतिः स ऋत्विजः ।
प्रादाद् द्विजेन्द्राय पदत्रयं तदा यदा स नान्यं प्रगृहाण किंचित् ॥ ८१ ॥

क्रमत्रयं तावदवेक्ष्य दत्तं महासुरेन्द्रेण विभुर्यशस्वी ।
चक्रे ततो लङ्घयितुं त्रिलोकीं त्रिविक्रमं रूपमनन्तशक्तिः ॥ ८२ ॥
कृत्वा च रूपं दितिजांश्च हत्वा प्रणम्य चर्षीन् प्रथमक्रमेण ।
मही महीध्रैः सहितां सहार्णवां जहार रत्नाकरपत्तनैर्युताम् ॥ ८३ ॥

उन (विप्र वामन) महात्माके ऐसा वचन कहनेपर, जब उन्होंने और कुछ ग्रहण नहीं किया तब ऋत्विजो-सहित दानवपतिने हँसकर उन द्विजेन्द्रको तीन पग (भूमि) प्रदान कर दी । महान् असुरेन्द्रद्वारा तीन पग भूमि प्रदान की हुई देखकर अनन्त शक्तिवाले यशस्वी एवं विभु वामन भगवान्ने तीनो लोकोको नाप लेनेके लिये त्रिविक्रम (विराट्) रूप धारण कर लिया । (विशाल) रूप धर लेनेके बाद उन्होंने दैत्योंका वध कर ऋषियोको प्रणाम किया और प्रथम पादन्यासमें ही पर्वत, सागर, रत्नोंकी खान एवं नगरोसे युक्त पृथ्वीको नापकर ले लिया ॥ ८१–८३ ॥

भुवं सनाकं त्रिदशाधिवासं सोमार्कऋक्षैरभिमण्डितं नभः ।
देवो द्वितीयेन जहार वेगात् क्रमेण देवप्रियमीप्सुरीश्वरः ॥ ८४ ॥
क्रमं तृतीयं न यदाऽस्य पूरितं तदाऽतिकोपाद् दनुपुङ्गवस्य ।
पपात पृष्ठे भगवांस्त्रिविक्रमो मेरुप्रमाणेन तु विग्रहेण ॥ ८५ ॥
पतता वासुदेवेन दानवोपरि नारद । त्रिंशद्योजनसाहस्री भूमेर्गर्ता दृढीकृता ॥ ८६ ॥

देवताओंका प्रिय करनेकी इच्छावाले भगवान् वामनदेवने द्वितीय पगसे तुरंत ही देवताओके निवास—स्वर्गके साथ ही भुवर्लोक, चन्द्र, सूर्य एव नक्षत्रोंसे मण्डित आकाशको भी ग्रहण कर लिया । उनका तृतीय पादक्रम जब पूरा नहीं हुआ तो अत्यन्त क्रोधसे भगवान् त्रिविक्रम मेरुके समान शरीरसे दानवश्रेष्ठकी पीठपर गिर पडे । नारदजी ! वासुदेवके दानवके ऊपर गिरनेसे भूमिमे हजार योजनका सुदृढ गड्ढा बन गया ॥ ८४–८६ ॥

ततो दैत्यं समुत्पाट्य तस्यां प्रक्षिप्य वेगतः । अवर्षत् सिकतावृष्ट्या तां गर्तामपूरयत ॥ ८७ ॥
ततः स्वर्गं सहस्राक्षो वासुदेवप्रसादतः । सुराश्च सर्वे त्रैलोक्यमवापुर्निरुपद्रवाः ॥ ८८ ॥
भगवानपि दैत्येन्द्रं प्रक्षिप्य सिकतार्णवे । कालिन्द्या रूपमाधाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८९ ॥
एवं पुरा विष्णुरभूच्च वामनो धुन्धुं विजेतुं च त्रिविक्रमोऽभूत् ।
यस्मिन् स दैत्येन्द्रसुतो जगाम महाश्रमे पुण्ययुतो महर्षे ॥ ९० ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टसप्ततितमोऽध्याय. ॥ ७८ ॥

उसके बाद उन्होने दैत्यको उठाकर जोरसे उसमे फेंक दिया और बालूकी बरसासे उस गड्ढेको भर दिया । उसके बाद वासुदेवकी कृपासे इन्द्रने स्वर्ग पा लिया और उपद्रवोसे रहित सम्पूर्ण देवोंको त्रिलोकीकी प्राप्ति हो गयी । कालिन्दी भी अपना स्वरूप धारणकर वहीं अन्तर्हित हो गयी । प्राचीन कालमे इस प्रकार धुन्धुको जीतनेके लिये विष्णु भगवान् वामन तथा (उसके बाद) त्रिविक्रम बने । महर्षि नारदजी ! वह पुण्यात्मा दैत्येन्द्रपुत्र प्रह्लाद (तीर्थ-यात्राके प्रसङ्गमे) उसी आश्रममे गया ॥ ८७–९० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

[अथैकोनाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कालिन्दीसलिले स्नात्वा पूजयित्वा त्रिविक्रमम्। उपोष्य रजनीमेकां लिङ्गभेदं गिरिं ययौ ॥ १ ॥
तत्र स्नात्वा च विमले भवं दृष्ट्वा च भक्तितः। उपोष्य रजनीमेकां तीर्थं केदारमाव्रजत् ॥ २ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्च्य चेशानं माधवं चाप्यभेदतः। उषित्वा वासरान् सप्त कुब्जाम्रं प्रजगाम ह ॥ ३ ॥
ततः सुतीर्थे स्नात्वा च सोपवासी जितेन्द्रियः। हृषीकेशं समभ्यर्च्य ययौ बदरिकाश्रमम् ॥ ४ ॥

उन्नासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुरूरवाको रूपकी प्राप्ति और उसी सन्दर्भमें प्रेत और वणिक्की भेंट तथा परस्पर वृत्तान्तका कहना एवं श्रवण-द्वादशीका माहात्म्य, गयामें श्राद्ध करनेसे प्रेत-योनिसे मुक्ति और पुरूरवाको सुरूपकी प्राप्ति)

पुलस्त्यजी बोले—यमुनाजलमें स्नानकर प्रह्लादने त्रिविक्रम भगवान्की पूजा की। एक रात उपवास करनेके बाद (फिर) वे लिङ्गभेदनामक पर्वतपर चले गये। वहाँ विमल जलमें स्नानकर उन्होंने भक्तिसे भगवान् शंकरका दर्शन किया; एवं वहाँ भी एक रात निवासकर केदार नामके तीर्थमें गये। वहाँ स्नान करनेके बाद (उन्होंने) अभेदबुद्धिसे शिव एवं विष्णुका पूजन किया, (वहाँ) सात दिनोंतक रहकर कुब्जाम्रमें चले गये। उसके बाद उस सुन्दर तीर्थमें स्नानकर उपवास करनेवाले इन्द्रियजयी (प्रह्लाद) हृषीकेशका अर्चनकर बदरिकाश्रम चले गये ॥ १—४ ॥

तत्रोष्य नारायणमर्च्य भक्त्या स्नात्वाऽथ विद्वान् स सरस्वतीजले।
वराहतीर्थे गरुडासनं स दृष्ट्वाऽथ सम्पूज्य सुभक्तिमांश्च ॥ ५ ॥
भद्रकर्णं ततो गत्वा जयेशं शशिशेखरम्। दृष्ट्वा सम्पूज्य च शिवं विपाशामभितो ययौ ॥ ६ ॥
तस्यां स्नात्वा समभ्यर्च्य देवदेवं द्विजप्रियम्। उपवासी इरावत्यां ददर्श परमेश्वरम् ॥ ७ ॥
यमाराध्य द्विजश्रेष्ठ शाकले वै पुरूरवाः। समवाप परं रूपमैश्वर्यं च सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥
कुष्ठरोगाभिभूतश्च यं समाराध्य वै भृगुः। आरोग्यमतुलं प्राप संतानमपि चाक्षयम् ॥ ९ ॥

वहाँ रहते हुए सरस्वतीके जलमें स्नानकर उन विद्वान्-(प्रह्लादजी-) ने नारायणका पूजन किया। फिर अत्यन्त भक्तिके साथ उन्होंने वराहतीर्थमें गरुडासन विष्णुका दर्शन और पूजन किया। वहाँसे भद्रकर्णमें पहुँचकर जयेश शशिशेखर शिवका दर्शन तथा पूजन करके बादमें विपाशाकी ओर चले गये। उस विपाशामें स्नानके बाद द्विजप्रिय देवाधिदेवका अर्चन कर (प्रह्लाद) उपवास करते हुए इरावतीकी ओर चले गये। द्विजोत्तम! (उन्होंने) वहाँ उन भगवान्का दर्शन किया, जिनकी शाकलमें आराधना करनेसे (पहले) पुरूरवाको उत्तम रूप एवं सुदुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। कुष्ठरोगसे अभिभूत भृगुने उन परमेश्वरकी आराधना करके अतुलनीय नीरोगता और अक्षय सन्तान प्राप्त की थी ॥ ५—९ ॥

नारद उवाच

कथं पुरूरवा विष्णुमाराध्य द्विजसत्तम। विरूपत्वं समुत्सृज्य रूपं प्राप श्रिया सह ॥ १० ॥

नारदने पूछा—द्विजोत्तम! पुरूरवाने विष्णुकी आराधना करनेके बाद विरूपताको छोड़कर ऐश्वर्यके साथ सुदुर्लभ सुन्दर रूप कैसे प्राप्त किया? ॥ १० ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि कथां पापप्रणाशिनीम्। पूर्वं त्रेतायुगस्यादौ यथावृत्तं तपोधन ॥ ११ ॥
मद्रदेश इति ख्यातो देशो वै ब्रह्मणः सुत। शाकलं नाम नगरं ख्यातं स्थानीयमुत्तमम् ॥ १२ ॥
तस्मिन् विपणिवृत्तिस्थः सुधर्माख्योऽभवद् वणिक्। धनाढ्यो गुणवान् भोगी नानाशास्त्रविशारदः ॥ १३ ॥
स त्वेकदा निजाद् राष्ट्रात् सुराष्ट्रं गन्तुमुद्यतः। सार्थेन महता युक्तो नानाविपणपण्यवान् ॥ १४ ॥
गच्छतः पथि तस्याथ मरुभूमौ कलिप्रिय। अभवद् दस्युतो रात्रौ अवस्कन्दोऽतिदुःसहः ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन ! सुनिये; मै प्राचीनकालमे त्रेतायुगके आदिमे घटित, पापको नष्ट करनेवाली कथा कहता हूँ । ब्रह्मपुत्र ! प्रसिद्ध मद्रदेशमें शाकल नामसे प्रसिद्ध उत्तम नगर है । वहाँ सुधर्मा नामका एक धनी, गुणशाली, भोगी एवं नानाशास्त्रोमे निपुण व्यापारी रहता था । एक समय वह अपने देशसे सुराष्ट्र जानेको तैयार हुआ । कलिप्रिय ! अनेक बेंची जानेवाली वस्तुओंसे युक्त व्यापारियोंके भारी समुदायके साथ जाते समय मार्गमे मरुभूमिमें रातमें (उसके ऊपर) डाकुओंका अत्यन्त उग्र असहनीय आक्रमण हुआ ॥ ११–१५ ॥

ततः स हृतसर्वस्वो वणिग्दुःखसमन्वितः। असहायो मरौ तस्मिंश्चचारोन्मत्तवद् वशी ॥ १६ ॥
चरता तदरण्यं वै दुःखाक्रान्तेन नारद। आत्मा इव शमीवृक्षो मरावासादितः शुभः ॥ १७ ॥
तं मृगैः पक्षिभिश्चैव हीनं दृष्ट्वा शमीतरुम्। श्रान्तः क्षुत्तृट्परीतात्मा तस्याधः समुपाविशत् ॥ १८ ॥
सुप्तश्चापि सुविश्रान्तो मध्याह्ने पुनरुत्थितः। समपश्यदथायान्तं प्रेतं प्रेतशतैर्वृतम् ॥ १९ ॥

उसके बाद सब कुछ लुट जानेसे दुखी हुआ वह असहाय वणिक् मरुभूमिमें पागलकी भाँति इधर-उधर घूमने लगा । नारदजी ! दुःखसे ग्रस्त होकर उस वनमे घूमते हुए उसे मरुभूमिमें अपने जनके समान एक सुन्दर शमीका वृक्ष मिला । थका तथा भूख-प्याससे अभिभूत हुआ वह वणिक् उस शमीवृक्षको पशु-पक्षियोसे रहित देखकर उसके नीचे बैठ गया और सो गया तथा पूर्ण विश्राम कर दोपहरको जगा । उसके बाद उसने सैकड़ो प्रेतोसे घिरे एक प्रेतको आते हुए देखा ॥ १६–१९ ॥

उह्यमानमथान्येन प्रेतेन प्रेतनायकम्। पिण्डाशिभिश्च पुरतो धावद्भी रूक्षविग्रहैः ॥ २० ॥
अथाजगाम प्रेतोऽसौ पर्यटित्वा वनानि च। उपागम्य शमीमूले वणिक्पुत्रं ददर्श सः ॥ २१ ॥
स्वागतेनाभिवाद्यैनं समाभाष्य परस्परम्। सुखोपविष्टश्छायायां पृष्ट्वा कुशलमाप्तवान् ॥ २२ ॥
ततः प्रेताधिपतिना पृष्टः स तु वणिक्सखः। कुत आगम्यते ब्रूहि क्व साधो वा गमिष्यसि ॥ २३ ॥

प्रेतनायकको एक दूसरा प्रेत ढो रहा था और आगे रूखे शरीरवाले प्रेत दौड़ रहे थे । वनोमें घूमनेके बाद वह प्रेत लौट रहा था । शमीवृक्षके नीचे आकर उसने वणिक्-पुत्रको देखा । स्वागतके साथ उसे अभिवादन किया । फिर (दोनोंने) परस्पर वार्तालाप किया । इसके बाद वह प्रेत छायामे सुखपूर्वक बैठ गया और उसने उससे कुशल पूछी और जानी । उसके बाद प्रेताधिपतिने वणिक्-बन्धुसे पूछा—साधो ! यह बतलाओ कि तुम कहाँसे आ रहे हो और कहाँ जाओगे ? ॥ २०–२३ ॥

कथं चेदं महारण्यं मृगपक्षिविवर्जितम्। समापन्नोऽसि भद्रं ते सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥ २४ ॥
एवं प्रेताधिपतिना वणिक् पृष्टः समासतः। सर्वमाख्यातवान् ब्रह्मन् स्वदेशधनविच्युतिम् ॥ २५ ॥
तस्य श्रुत्वा स वृत्तान्तं तस्य दुःखेन दुःखितः। वणिक्पुत्रं ततः प्राह प्रेतपालः स्वबन्धुवत् ॥ २६ ॥
एवं गतेऽपि मा शोकं कर्तुमर्हसि सुव्रत। भूयोऽप्यर्थाः भविष्यन्ति यदि भाग्यबलं तव ॥ २७ ॥

तुम्हारा कल्याण हो। मुझे यह बतलाओ कि पशु एवं पक्षियोंसे रहित इस बड़े जङ्गलमें तुम कैसे आये? (पुलस्त्यजी कहते हैं)—ब्रह्मन्! प्रेतराजके इस प्रकार पूछनेपर वणिक्ने थोड़ेमें उसे अपने देशका एवं धन-नाशका पूरा विवरण कह सुनाया। उसका पूरा वृत्तान्त सुन लेनेके बाद उसके दुःखसे दुःखी होकर प्रेतपालने अपने बन्धुके समान (उसे मानते हुए) उस वणिक्-पुत्रसे कहा—सुव्रत! ऐसा होनेपर भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। यदि तुम्हारा भाग्य प्रबल होगा तो धन फिर हो जायगा॥ २४—२७॥

भाग्यक्षयेऽर्थाः क्षीयन्ते भवन्त्यभ्युदये पुनः। क्षीणस्यास्य शरीरस्य चिन्तया नोदयो भवेत्॥ २८॥
इत्युच्चार्य समाहूय स्वान् भृत्यान् वाक्यमब्रवीत्। अद्यातिथिरयं पूज्यः सदैव स्वजनो मम॥ २९॥
अस्मिन् दृष्टे वणिक्पुत्रे यथा स्वजनदर्शनम्। अस्मिन् समागते प्रेताः प्रीतिर्जाता ममातुला॥ ३०॥
एवं हि वदतस्तस्य मृत्पात्रं सुदृढं नवम्। दध्योदनेन सम्पूर्णमाजगाम यथेप्सितम्॥ ३१॥
तथा नवा च सुदृढा सम्पूर्णा परमाम्भसा। वारिधानी च सम्प्राप्ता प्रेतानामग्रतः स्थिता॥ ३२॥

(देखो,) भाग्यके क्षय होनेपर धनोंका क्षय हो जाता है और फिर भाग्योदय हो जानेपर पुनः धन प्राप्त हो जाते हैं। चिन्तासे क्षीण हुए शरीरका उत्थान (वृद्धि) नहीं होता। ऐसा कहकर उसने अपने सेवकोंको बुलाया और उनसे कहा—मेरे अपने जनके समान इस अतिथिका सब प्रकारसे सत्कार करो। प्रेतो! स्वजन-दर्शनके समान ही मुझे इस वणिक्-पुत्रका दर्शन हुआ है। इसके मिलनेसे मुझे अत्यधिक प्रीति प्राप्त हुई है। उसके ऐसा कहनेपर इच्छाभर (भोजन-योग्य) दही और भातसे भरा अत्यन्त दृढ एक नया मिट्टीका पात्र आ गया। इसी प्रकार निर्मल शीतल जलसे भरा एक पानीका पात्र भी उन प्रेतोंके सामने उपस्थित हो गया॥२८—३२॥

तमागतं ससलिलमन्नं वीक्ष्य महामतिः। प्राहोत्तिष्ठ वणिक्पुत्र त्वमाह्निकमुपाचर॥ ३३॥
ततस्तु वारिधान्यास्तौ सलिलेन विधानतः। कृताह्निकावुभौ जातौ वणिक् प्रेतपतिस्तथा॥ ३४॥
ततो वणिक्सुतायादौ दध्योदनमथेच्छया। दत्त्वा तेभ्यश्च सर्वेभ्यः प्रेतेभ्यो व्यददात् ततः॥ ३५॥
भुक्तवत्सु च सर्वेषु कामतोऽम्भसि सेविते। अनन्तरं स बुभुजे प्रेतपालो वराशनम्॥ ३६॥

उस अन्न एवं जलको प्रस्तुत हुए देखकर महामति प्रेतने कहा—वणिक्-पुत्र! तुम उठो एवं दैनिक (नित्य) कृत्य करो। उसके बाद वणिक् एवं प्रेतपति—दोनोंने घडेके जलसे विधिपूर्वक नित्य-क्रिया सम्पन्न की। उसके बाद (प्रेतपतिने) पहले वणिक्-पुत्रको पर्याप्त दही और भात दिया और तब उन प्रेतोंको दिया। सभीके इच्छाभर भोजन एवं जलपान करनेके बाद प्रेतनायकने उत्तम भोजन किया॥ ३३—३६॥

प्रकामतृप्ते प्रेते च वारिधान्योदनं तथा। अन्तर्धानमगाद् ब्रह्मन् वणिक्पुत्रस्य पश्यतः॥ ३७॥
ततस्तदद्भुततमं दृष्ट्वा स मतिमान् वणिक्। पप्रच्छ तं प्रेतपालं कौतूहलमना वशी॥ ३८॥
अरण्ये निर्जने साधो कुतोऽन्नस्य समुद्भवः। कुतश्च वारिधानीयं सम्पूर्णा परमाम्भसा॥ ३९॥
तथामी तव ये भृत्यास्त्वत्तस्ते वर्णतः कृशाः। भवानपि च तेजस्वी किंचित्पुष्टवपुः शुभः॥ ४०॥
शुक्लवस्त्रपरीधानो बहूनां परिपालकः। सर्वमेतन्ममाचक्ष्व को भवान् का शमी त्वियम्॥ ४१॥

(पुलस्त्यजी कहते हैं कि—) ब्रह्मन्! प्रेतके भलीभाँति तृप्त हो जानेपर वणिक्पुत्रके देखते-ही-देखते जलपात्र और ओदन आँखोंसे ओझल हो गये। तब उस अत्यन्त ही आश्चर्यजनक दृश्यको देखकर उस बुद्धिमान् संयमी वणिक्ने उत्सुकतापूर्वक उस प्रेतपतिसे पूछा—साधो! इस निर्जन वनमें अन्न एवं उत्तम जलसे भरा घड़ा कहाँसे आ गया? अपेक्षाकृत तुम्हारे वर्णकी दृष्टिसे दुबले ये तुम्हारे भृत्य कौन हैं? कुछ हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले

सुन्दर, तेजसे सम्पन्न और शुक्लवस्त्रधारी (हमारे-जैसे) बहुतोंकी परिरक्षा करनेवाले आप भी कौन हैं ? आप मुझे यह सम्पूर्ण विवरण बतलाएँ कि आप कौन हैं एवं यह शमी वृक्ष कौन हैं ? ॥ ३७-४१ ॥

इत्थं वणिक्सुतवचः श्रुत्वाऽसौ प्रेतनायकः । शशंस सर्वमस्याद्यं यथावृत्तं पुरातनम् ॥ ४२ ॥
अहमासं पुरा विप्रः शाकले नगरोत्तमे । सोमशर्मेति विख्यातो बहुलागर्भसम्भवः ॥ ४३ ॥
ममास्ति च वणिक् श्रीमान् प्रातिवेश्यो महाधनः । स तु सोमश्रवा नाम विष्णुभक्तो महायशाः ॥ ४४ ॥
सोऽहं कदर्यो मूढात्मा धनेऽपि सति दुर्मतिः । न ददामि द्विजातिभ्यो न चाश्नाम्यन्नमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

वणिक्पुत्रके ऐसे वचनको सुनकर उस प्रेतनायकने उससे सारे पुराने वृत्तान्तको कहा । (उसने कहा—) प्राचीन कालमें उत्तम शाकल नामके श्रेष्ठ नगरमें बहुलाके गर्भसे उत्पन्न हुआ मैं सोमशर्मा—इस नामसे प्रसिद्ध ब्राह्मण था । मेरा एक पडोसी बहुत धनवान्, लक्ष्मीवान् वणिक् था, जिसका नाम था सोमश्रवा । वह महान् यशस्वी और विष्णुका भक्त था । मैं कृपण एवं दुर्मति था । अतः धन होते हुए भी न तो ब्राह्मणोंको दान करता था और न अच्छे अन्नका भोजन ही करता था ॥ ४२-४५ ॥

प्रमादाद् यदि भुञ्जामि दधिक्षीरघृतान्वितम् । ततो रात्रौ नृभिर्घोरैस्ताड्यते मम विग्रहः ॥ ४६ ॥
प्रातर्भवति मे घोरा मृत्युतुल्या विषूचिका । न च कश्चिन्ममाभ्यासे तत्र तिष्ठति बान्धवः ॥ ४७ ॥
कथं कथमपि प्राणा मया सम्प्रति धारिताः । एवमेतादृशः पापी निवसाम्यतिनिर्घृणः ॥ ४८ ॥
सौवीरतिलपिण्याकसक्तुशाकादिभोजनैः । क्षपयामि कदन्नाद्यैरात्मानं कालयापनैः ॥ ४९ ॥

यदि मैं कभी भूलसे दही, दूध एवं घीसे युक्त पदार्थ भोजन कर लेता था तो रात्रिमें भयङ्कर मनुष्य मेरे शरीरको पीडित करते थे । प्रातःकाल मुझे मरणके समान (कष्ट देनेवाली) भयङ्कर विषूचिका (हैजा) हो जाया करती थी । उस समय मेरे पास कोई भी बन्धु नहीं रहता था । मैं किसी-किसी प्रकार अपने प्राणोंको धारण करता था । इस प्रकार मैं अति निर्लज्ज पापयुक्त जीवन बिताता रहा । बेर, तिलपिण्याक, सत्तू, शाकादि एवं बुरे अन्नो-(मोटे अन्न-) कोदो, साँवा आदिको खाकर समय बिताते हुए मैं स्वयंको दुर्बल कर रहा था ॥ ४६-४९ ॥

एवं तत्रासतो मह्यं महान् कालोऽभ्यगादथ । श्रवणद्वादशी नाम मासि भाद्रपदेऽभवत् ॥ ५० ॥
ततो नागरिको लोको गतः स्नातुं हि सङ्गमम् । इरावत्या नड्वलाया ब्रह्मक्षत्रपुरस्सरः ॥ ५१ ॥
प्रातिवेश्यप्रसङ्गेन तत्राप्यनुगतोऽस्म्यहम् । कृतोपवासः शुचिमानेकादश्यां यतव्रतः ॥ ५२ ॥
ततः सङ्गमतोयेन वारिधानीं दृढां नवाम् । सम्पूर्णां वस्तुसंवीतां छत्रोपानहसंयुताम् ॥ ५३ ॥
मृत्पात्रमपि मिष्टस्य पूर्णं दध्योदनस्य ह । प्रदत्तं ब्राह्मणेन्द्राय शुचये ज्ञानधर्मिणे ॥ ५४ ॥

मुझे वहाँ इस ढंगसे रहते हुए बहुत समय बीत गया । (एक बार) भाद्रपदमासमें श्रवणद्वादशीकी तिथि आयी । तब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक लोग इरावती और नड्वला नदियोंके संगममें स्नान करनेके लिये गये । पडोसी होनेके कारण मैं भी उनके पीछे-पीछे चला गया । एकादशीके दिन मैंने व्रत रहकर पवित्रतासे उपवास किया । उसके बाद मैंने अनेक वस्तुओं—छाता, जूता और साथ ही सङ्गमके जलसे भरा नवीन दृढ जलपात्र एवं मिष्टान्न, दधि तथा ओदनसे पूर्ण मिट्टीका पात्र ज्ञानी, धार्मिक, पवित्र, श्रेष्ठ ब्राह्मणको प्रदान किया ॥ ५०-५४ ॥

तदेव जीवतो दत्तं मया दानं वणिक्सुत । वर्षाणां सप्ततीनां वै नान्यद् दत्तं हि किंचन ॥ ५५ ॥
मृतः प्रेतत्वमापन्नो दत्त्वा प्रेतान्नमेव हि । अमी चादत्तदानास्तु मदन्नेनोपजीविनः ॥ ५६ ॥
एतत्ते कारणं प्रोक्तं यत्तदन्नं मयाम्भसा । दत्तं तदिदमायाति मध्याह्नेऽपि दिने दिने ॥ ५७ ॥
यावन्नाहं च भुञ्जामि न तावत् क्षयमेति वै । मयि भुक्ते च पीते च सर्वमन्तर्हितं भवेत् ॥ ५८ ॥

वणिक्-पुत्र ! मैंने अपने सत्तर वर्षोंके (पूरे) जीवनमें (केवल) यही दान दिया था। इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं दान किया। प्रेतान्न दान करके मृत्युके बाद मैं प्रेत हो गया। मेरे अन्नसे जीवन धारण करनेवाले इन लोगोंने भी दान कभी नहीं किया है। मैंने तुम्हें वह कारण बतलाया, जिससे मेरे द्वारा दिये गये अन्न-जल प्रतिदिन दोपहरके समय (मेरे समीप) आ जाते हैं। जबतक मैं नहीं खाता, तबतक उनका क्षय नहीं होता। मेरे खाने और पीनेके बाद सभी कुछ अदृश्य हो जाता है ॥ ५५–५८ ॥

यच्चातपत्रमददं सोऽयं जातः शमीतरुः। उपानद्‌युगले दत्ते प्रेतो मे वाहनोऽभवत् ॥ ५९ ॥
इयं तवोक्ता धर्मज्ञ मया कीनाशनात्मनः। श्रवणद्वादशीपुण्यं तवोक्तं पुण्यवर्धनम् ॥ ६० ॥
इत्येवमुक्ते वचने वणिक्पुत्रोऽब्रवीद् वचः। यन्मया तात कर्त्तव्यं तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ६१ ॥
तत् तस्य वचनं श्रुत्वा वणिक्पुत्रस्य नारद। प्रेतपालो वचः प्राह स्वार्थसिद्धिकरं ततः ॥ ६२ ॥

मैंने जो छाताका दान किया था, वही इस शमीवृक्षके रूपमें उत्पन्न हुआ है। एक जोड़ा जूताका दान करनेसे प्रेत मेरा वाहन बना है। धर्मज्ञ ! अपने प्रेतत्व-प्राप्तिका यह समस्त विवरण मैंने तुमसे कह सुनाया तथा परम पवित्र और पुण्यको बढ़ानेवाली श्रवणद्वादशीका भी वर्णन कर दिया। प्रेतके ऐसा कहनेपर वणिक्पुत्रने कहा—तात ! मुझे जो करना हो उसकी आज्ञा दें। (पुलस्त्यजी कहते हैं कि—) नारदजी ! वणिक्-पुत्रका वह वचन सुनकर प्रेतपति अपनी स्वार्थसिद्धिकी बात कहने लगा—॥ ५९–६२ ॥

यत् त्वया तात कर्त्तव्यं मद्धितार्थं महामते। कथयिष्यामि तत् सम्यक् तव श्रेयस्करं मम ॥ ६३ ॥
गयायां तीर्थजुष्टायां स्नात्वा शौचसमन्वितः। मम नाम समुद्दिश्य पिण्डनिर्वपणं कुरु ॥ ६४ ॥
तत्र पिण्डप्रदानेन प्रेतभावादहं सखे। मुक्तस्तु सर्वदातॄणां यास्यामि सहलोकताम् ॥ ६५ ॥
यथेयं द्वादशी पुण्या मासि प्रौष्ठपदे सिता। बुधश्रवणसंयुक्ता साऽतिश्रेयस्करी स्मृता ॥ ६६ ॥

महामते ! मेरे हितके लिये तुम्हें करने योग्य कर्म मैं बतलाता हूँ। उसे अच्छी तरह सम्पन्न कर लेनेसे तुम्हारा और मेरा (दोनोंका) कल्याण होगा। (देखो,) गया-तीर्थमें (जाकर और) स्नानसे पवित्र होकर मेरे नाम-(उद्देश्य-) से तुम पिण्डदान करो। सखे ! वहाँ पिण्डदान करनेसे मैं प्रेतभावसे मुक्त होकर सर्वस्व दान करनेवालोंको मिलनेवाले लोकको प्राप्त कर लूँगा। पौष मासके शुक्लपक्षकी बुधवार एवं श्रवण नक्षत्रसे युक्त पुण्य बढ़ानेवाली अत्यन्त माङ्गलिक यह द्वादशी (तिथि) कही गयी है ॥ ६३–६६ ॥

इत्येवमुक्त्वा वणिजं प्रेतराजोऽनुगैःसह। स्वनामानि यथान्यायं सम्यगाख्यातवाञ्छुचिः ॥ ६७ ॥
प्रेतस्कन्धे समारोप्य त्याजितो मरुमण्डलम्। रम्येऽथ शूरसेनाख्ये देशे प्राप्तः स वै वणिक् ॥ ६८ ॥
स्वकर्मधर्मयोगेन धनमुच्चावचं बहु। उपार्जयित्वा प्रययौ गयाशीर्षमनुत्तमम् ॥ ६९ ॥
पिण्डनिर्वपणं तत्र प्रेतानामनुपूर्वशः। चकार स्वपितॄणां च दायादानामनन्तरम् ॥ ७० ॥

वणिक्से ऐसा कहकर प्रेतराजने अपने अनुचरोंसहित पवित्रतापूर्वकसे, यथोचित क्रमसे अपने (पितरोंके) नामोंको बताया। उसे प्रेतके कन्धेपर चढ़ाकर मरुभूमिसे बाहर छोड़ दिया गया। इस प्रकार वह वणिक् शूरसेन नामके सुन्दर देशमें पहुँच गया। अपने कर्म तथा धर्मसे उसने अधिक मात्रामें उत्कृष्ट एवं हीन धन उपार्जित कर लिया। उसके बाद वह उत्तम गयाशीर्ष नामके तीर्थमें गया। वहाँ क्रमशः प्रेतोंके उद्देश्यसे पिण्डदान करनेके बाद उसने अपने पितरों एवं दायादोंको भी पिण्डदान दिया ॥ ६७–७० ॥

आत्मनश्च महाबुद्धिर्महाबोध्यं तिलैर्विना। पिण्डनिर्वपणं चक्रे तथान्यानपि गोत्रजान् ॥ ७१ ॥
एवं प्रदत्तेष्वथ वै पिण्डेषु प्रेतभावतः। विमुक्तास्ते द्विज प्रेता ब्रह्मलोकं ततो गताः ॥ ७२ ॥

स चापि हि वणिक्पुत्रो निजमालयमाव्रजत्। श्रवणद्वादशीं कृत्वा कालधर्ममुपेयिवान्॥ ७३॥
गन्धर्वलोके सुचिरं भोगान् भुक्त्वा सुदुर्लभान्। मानुष्यं जन्ममासाद्य स बभौ शाकले विराट्॥ ७४॥

उस महाबुद्धि-(वणिक्-) ने अपने लिये तिलसे रहित महाबोध्य नामका पिण्डदान किया। उसके बाद अन्य गोत्रोंमें उत्पन्न हुओंके उद्देशसे भी पिण्डदान किया। द्विज! इस प्रकार पिण्डदान करनेपर वे प्रेत प्रेतयोनिसे मुक्त होकर ब्रह्मलोकको चले गये। वह वणिक्-पुत्र भी अपने घर चला गया और श्रवणद्वादशीका (यथोचित रीतिसे) (व्रत) पालन करते हुए वह भी समय आनेपर स्वर्गीय हो गया। गन्धर्वलोकमें चिरकालतक अत्यन्त दुर्लभ भोगोंका उपभोग करनेके बाद मनुष्य-जन्म प्राप्त कर वह शाकलपुरीका सम्राट् बना॥ ७१—७४॥

स्वधर्मकर्मवृत्तिस्थः श्रवणद्वादशीरतः। कालधर्ममवाप्यासौ गुह्यकावासमाश्रयत्॥ ७५॥
तत्रोष्य सुचिरं कालं भोगान् भुक्त्वाऽथ कामतः। मर्त्यलोकमनुप्राप्य राजन्यतनयोऽभवत्॥ ७६॥
तत्रापि क्षत्रवृत्तिस्थो दानभोगरतो वशी।
गोग्रहेऽरिगणाञ्जित्वा कालधर्ममुपेयिवान्। शक्रलोकं स सम्प्राप्य देवैः सर्वैः सुपूजितः॥ ७७॥
पुण्यक्षयात् परिभ्रष्टः शाकले सोऽभवद् द्विजः। ततो विकटरूपोऽसौ सर्वशास्त्रार्थपारगः॥ ७८॥

अपने धर्म तथा कर्ममें स्थित रहता हुआ वह श्रवणद्वादशी (व्रत) में रत रहता रहा। (समय आनेपर) मृत्युके बाद उसने गुह्यकोंका लोक प्राप्त कर लिया। वहाँ बहुत कालतक ठहरकर और इच्छानुकूल भाँति-भाँतिके भोग्य पदार्थोंका भोग करनेके बाद वह मृत्युलोकमें आकर राजपुत्र बना। वहाँ भी क्षत्रिय-वृत्तिसे निर्वाह करते हुए वह दान और भोगमें लगा रहा। गौओंके अपहरणमें उसने शत्रुओंको जीतकर कालधर्म-(मृत्यु-)को प्राप्त हुआ। फिर वह इन्द्रलोकमें गया और सभी देवोंसे पूजित हुआ। पुण्यका क्षय होनेसे **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**—नियमसे स्वर्गच्युत होकर वह फिर शाकल देशमें ब्राह्मण हुआ। उसका रूप तो अत्यन्त विद्रूप (भयङ्कर) था, परंतु वह (विद्यासे) सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारङ्गत था॥ ७५—७८॥

विवाहयद् द्विजसुतां रूपेणानुपमां द्विज। साऽवमेने च भर्तारं सुशीलमपि भामिनी॥ ७९॥
विरूपमिति मन्वाना ततस्सोऽभूत् सुदुःखितः। ततो निर्वेदसंयुक्तो गत्वाश्रमपदं महत्॥ ८०॥
इरावत्यास्तटे श्रीमान् रूपधारिणमासदत्। तमाराध्य जगन्नाथं नक्षत्रपुरुषेण हि॥ ८१॥
सुरूपतामवाप्याग्र्यां तस्मिन्नेव च जन्मनि।
ततः प्रियोऽभूद् भार्याया भोगवांश्चाभवद् वशी। श्रवणद्वादशीभक्तः पूर्वाभ्यासादजायत॥ ८२॥
एवं पुराऽसौ द्विजपुङ्गवस्तु कुरूपरूपो भगवत्प्रसादात्।
अनङ्गरूपप्रतिमो बभूव मृतश्च राजा स पुरूरवाऽभूत्॥ ८३॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोनाशीतितमोऽध्यायः॥ ७९॥

द्विज! उसने अनुपम सुन्दरी ब्राह्मण-कन्यासे विवाह किया। वह ललना (अपने) अत्यन्त शीलवान् पतिको भी कुरूप मानकर निरादर करती रहती। इससे वह बहुत दुःखित हो गया। उसके बाद ग्लानिसे भरकर वह इरावतीके तीरपर स्थित महान् आश्रममें पहुँचा और नक्षत्रपुरुषके द्वारा स्थापित सुन्दर रूप धारण करनेवाले जगन्नाथ भगवान्‌की आराधना की। इस प्रकार उसी जन्ममें परम सुन्दर रूप प्राप्त कर वह अपनी भार्याका प्यारा एवं ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो गया। पूर्वके अभ्याससे संयत रहनेवाला वह श्रवणद्वादशीका भक्त बना रहा। इस प्रकार पहले कुरूप रहनेपर भी भगवान्‌की कृपासे वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कामदेवके समान सुन्दर रूपवाला हो गया और स्वर्गीय होकर दूसरे जन्ममें राजा पुरूरवा हुआ॥ ७९—८३॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उन्नासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ७९॥

[अथाशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

पुलस्त्या द्विजश्रेष्ठ यथा देवं श्रियः पतिम्। नक्षत्रपुरुषाख्येन आराधयन तद् वद ॥ १ ॥

अस्सीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(नक्षत्र-पुरुषके वर्णन-प्रसङ्गमें नक्षत्र-पुरुषकी पूजाका विधान और नक्षत्र-पुरुषके व्रतका माहात्म्य)

नारदजीने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! पुरूरवाने नक्षत्रपुरुष नामक व्रतके द्वारा लक्ष्मीपति वासुदेवकी जिस विधिसे आराधना की थी, उसे कहिये ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि नक्षत्रपुरुषव्रतम्। नक्षत्राङ्गानि देवस्य यानि यानीह नारद ॥ २ ॥
मूलर्क्षं चरणौ विष्णोर्जङ्घे द्वे रोहिणी स्मृते। द्वे जानुनी तथाश्विन्यौ संस्थिते रूपधारिणः ॥ ३ ॥
आषाढे द्वे द्वयं चोर्वोर्गुह्यस्थं फाल्गुनीद्वयम्। कटिस्थाः कृत्तिकाश्चैव वासुदेवस्य संस्थिताः ॥ ४ ॥
प्रौष्ठपद्याद्वयं पार्श्वे कुक्षिस्थ्यां रेवती स्थिता। उरःसंस्था त्वनुराधा श्रविष्ठा पृष्ठसंस्थिता ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! मैं नक्षत्रपुरुष-व्रत एवं देवके सभी नक्षत्ररूपी अङ्गोंका वर्णन करता हूँ; आप सुनें। मूलनक्षत्र भगवान् विष्णुके दोनों चरणों, रोहिणी नक्षत्र दोनों जंघाओं एवं अश्विनी नक्षत्र दोनों घुटनोंका रूप धारण करके स्थित है। पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा नामके दो नक्षत्र वासुदेवके दोनों ऊरुओंमें, पूर्वाफाल्गुनी तथा उत्तराफाल्गुनी नामवाले दोनों नक्षत्र गुह्य प्रदेशमें और कृत्तिका नक्षत्र कटि भागमें स्थित है। पूर्वाभाद्रपदा तथा उत्तराभाद्रपदा भगवान्के दोनों पार्श्वोंमें, रेवती दोनों कुक्षियोंमें, अनुराधा हृदयमें तथा धनिष्ठा नक्षत्र पृष्ठदेशमें स्थित है ॥ २—५ ॥

विशाखा भुजयोर्हस्तः करद्वयमुदाहृतम्। पुनर्वसुरथाङ्गुल्यो नखाः सार्पं तथोच्यते ॥ ६ ॥
ग्रीवास्थिता तथा ज्येष्ठा श्रवणं कर्णयोः स्थितम्। मुखसंस्थस्तथा पुष्यः स्वातिर्दन्ताः प्रकीर्तिताः॥ ७ ॥
हनू द्वे वारुणश्चोक्तो नासा पैत्र उदाहृतः। मृगशीर्षं नयनयो रूपधारिणि तिष्ठति ॥ ८ ॥
चित्रा चैव ललाटे तु भरणी तु तथा शिरः। शिरोरुहस्था चैवार्द्रा नक्षत्राङ्गमिदं हरेः ॥ ९ ॥

दोनों भुजाओंके स्थानमें विशाखा नक्षत्र है। हस्त नक्षत्रको भगवान्का दोनों हाथ कहा गया है। पुनर्वसु नक्षत्र भगवान्की अंगुलियाँ और आश्लेषा-नक्षत्र उनके नख है। ग्रीवामें ज्येष्ठा, दोनों कानोंमें श्रवण तथा मुखमें पुष्य नक्षत्र स्थित है। दाँतोंको स्वाति नक्षत्र कहा गया है। शतभिषा नक्षत्र दोनों हनुएँ तथा मघाको नासिका कहा गया है। (नक्षत्रोंका) रूप धारण करनेवाले भगवान्के दोनों नेत्रोंमें मृगशिरा नक्षत्रका निवास है। चित्रा ललाटमें, भरणी सिरमें तथा आर्द्रा नक्षत्र केशमें रहता है। भगवान् विष्णुका यह नक्षत्र-शरीर है ॥ ६—९ ॥

विधानं सम्प्रवक्ष्यामि यथायोगेन नारद। सम्पूजितो हरिः कामान् विदधाति यथेप्सितान् ॥१०॥
चैत्रमासे सिताष्टम्यां यदा मूलगतः शशी।
तदा तु भगवत्पादौ पूजयेत् तु विधानतः। नक्षत्रसन्निधौ दद्याद् विप्रेन्द्राय च भोजनम् ॥ ११ ॥
जानुनी चाश्विनीयोगे पूजयेदथ भक्तितः। दोहदे च हविष्यान्नं पूर्ववद् द्विजभोजनम् ॥ १२ ॥
आषाढाभ्यां तथा द्वाभ्यां द्वा ऊरू पूजयेद् बुधः। सलिलं शिशिरं तत्र दोहदे च प्रकीर्तितम् ॥ १३ ॥

नारदजी! अब मैं उस व्रतके विधानका वर्णन करूँगा, जिस व्रतसे नियमपूर्वक आराधित होनेपर भगवान् विष्णु इच्छित फल प्रदान करते हैं। चैत्र मासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिमें चन्द्रमाके मूल नक्षत्रमें स्थित होनेपर भगवान्‌के दोनो पैरोंकी विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। नक्षत्रकी संनिधिमें ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। अश्विनी नक्षत्रके योगमें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के दोनों घुटनोंकी अर्चना करनी चाहिये एवं 'दोहद'में (यात्रा-दोषकी शान्तिके लिये खाये-पिये जानेवाले निश्चित पदार्थमें) हविष्यान्न समर्पित करना एवं पूर्ववत् ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। विद्वान् मनुष्य पूर्वाषाढ तथा उत्तराषाढके योगमें विष्णुके दोनों ऊरुओंकी पूजा करे। (इसमें देय) दोहदमें शीतल जलका विधान है॥ १०—१३॥

फाल्गुनीद्वितये गुह्यं पूजनीयं विचक्षणैः। दोहदे च पयो गव्यं देयं च द्विजभोजनम्॥ १४॥
कृत्तिकासु कटिः पूज्या सोपवासो जितेन्द्रियः। देयं च दोहदं विष्णोः सुगन्धकुसुमोदकम्॥ १५॥
पार्श्वे भाद्रपदायुग्मे पूजयित्वा विधानतः। गुडं सलेहकं दद्याद् दोहदे देवकीर्तितम्॥ १६॥
द्वे कुक्षी रेवतीयोगे दोहदे मुद्गमोदकाः। अनुराधासु जठरं षष्टिकान्नं च दोहदे॥ १७॥

[अनुक्रान्त विधानमें पुलस्त्यजी कहते हैं—] विद्वान् पुरुष दोनो फाल्गुनी नक्षत्रोंमें भगवान्‌के गुह्य-देशकी पूजा करे। दोहदके लिये दूध और घी दे और ब्राह्मण-भोजन कराये। कृत्तिका नक्षत्रमें उपवासपूर्वक जितेन्द्रिय रहकर भगवान्‌के कटि-देशकी अर्चना करे और सुगन्धित कुसुमसे युक्त जलका 'दोहद' दान करे। दोनों भाद्रपदाओंमें कहे हुए विधानसे भगवान्‌की दोनों बगलोंकी अर्चना करके 'दोहद'में देवद्वारा कथित—शास्त्रानुमोदित चाटनेवाली वस्तुसे युक्त गुड़ देना चाहिये। रेवती नक्षत्रके योगमें भगवान्‌की दोनों कुक्षियोंकी पूजाके बाद दोहदमें मूँगके लड्डू प्रदान करने चाहिये। अनुराधा नक्षत्रमें उदरकी पूजा करके दोहदमें साठीका चावल देना चाहिये॥ १४—१७॥

श्रविष्ठायां तथा पृष्ठं शालिभक्तं च दोहदे। भुजयुग्मं विशाखासु दोहदे परमोदनम्॥ १८॥
हस्ते हस्तौ तथा पूज्यौ यावकं दोहदे स्मृतम्। पुनर्वसावङ्गुलीश्च पटोलस्तत्र दोहदे॥ १९॥
आश्लेषासु नखान् पूज्य दोहदे तित्तिरामिषम्। ज्येष्ठायां पूजयेद् ग्रीवां दोहदे तिलमोदकम्॥ २०॥
श्रवणे श्रवणौ पूज्यौ दधिभक्तं च दोहदे। पुष्ये मुखं पूजयेत दोहदे घृतपायसम्॥ २१॥

धनिष्ठा नक्षत्रमें पृष्ठकी पूजा करके दोहदमे शालिका भात देना चाहिये। विशाखा नक्षत्रमें भगवान्‌की दोनो भुजाओंकी पूजा कर दोहदमे उत्तम अन्न देना चाहिये। हस्त नक्षत्रमें भगवान्‌के दोनों करोंकी पूजा करके दोहदमें जौसे बना पक्वान्न देना चाहिये। पुनर्वसु नक्षत्रमें अंगुलियोंकी पूजा करके दोहदमें रेशमी वस्त्र या परवल प्रदान करना चाहिये। आश्लेषा नक्षत्रमें नखकी पूजा कर दोहदमें तित्तिरकी आकृति प्रदान करे। ज्येष्ठामें ग्रीवाकी पूजा करके दोहदमे तिलका लड्डू प्रदान करे। श्रवण-नक्षत्रमे दोनों कानोंकी पूजा करके दोहदमे दही और भात प्रदान करे। पुष्यनक्षत्रमें मुखकी पूजा करे और दोहदमें घी मिला हुआ पायस प्रदान करे॥ १८—२१॥

स्वातियोगे च दशना दोहदे तिलशष्कुली। दातव्या केशवप्रीत्यै ब्राह्मणस्य च भोजनम्॥ २२॥
हनू शतभिषायोगे पूजयेच्च प्रयत्नतः। प्रियङ्गुरक्तशाल्यन्नं दोहदं मधुविद्विषः॥ २३॥
मघासु नासिका पूज्या मधु दद्याच्च दोहदे। मृगोत्तमाङ्गे नयने मृगमांसं च दोहदे॥ २४॥
चित्रायोगे ललाटं च दोहदे चारुभोजनम्। भरणीषु शिरः पूज्यं चारु भक्तं च दोहदे॥ २५॥

स्वातिनक्षत्रके योगमें भगवान्‌के दाँतोंका पूजन करके तिल और शष्कुली-(पूड़ी-) का दोहद दे एवं केशवको प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मणको भोजन कराये । शतभिषा नक्षत्रमें प्रयत्नपूर्वक भगवान्‌के ठुड्डीकी पूजा करे और विष्णुको अत्यन्त प्रिय लगनेवाला प्रियङ्गु (कँगनी) एवं लाल चावलका दोहद दे । मघामें नासिकाकी पूजा करनी चाहिये एवं दोहदमें मधु देना चाहिये । मृगशिरा नक्षत्रमें मस्तकमें स्थित दोनों नेत्रोंकी पूजा करके दोहदमें मृगके मानका फलका गूदा देना चाहिये । चित्रा नक्षत्रके योगमे ललाटकी पूजा करके दोहदमें सुन्दर भोजन देना चाहिये । भरणी नक्षत्रमें सिरकी पूजा करनी चाहिये और दोहदमें सुन्दर भात प्रदान करना चाहिये ॥ २२–२५ ॥

सम्पूजनीया विद्वद्भिरार्द्रायोगे शिरोरुहाः । विप्रांश्च भोजयेद् भक्त्या दोहदे च गुडार्द्रकम् ॥ २६ ॥
नक्षत्रयोगेष्वेतेषु सम्पूज्य जगतः पतिम् । पारिते दक्षिणां दद्यात् स्त्रीपुंसोश्चारुवाससी ॥ २७ ॥
छत्रोपानत् श्वेतयुगं सप्तधान्यानि काञ्चनम् । घृतपात्रं च मतिमान् ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥ २८ ॥
प्रतिनक्षत्रयोगेन पूजनीया द्विजातयः । नक्षत्रमय एवैष पुरुषः शाश्वतो मतः ॥ २९ ॥

आर्द्राके योगमें विद्वान् लोगोंको (भगवान्‌के) केशोंकी पूजा करनी चाहिये और श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराना तथा दोहदमें गुड़ एवं अदरखका दान करना चाहिये । इन नक्षत्रोंके योगोंमें जगत्पति-(विष्णु-) की पूजा करनेके बाद पारणकर स्त्री और पुरुषके लिये दो सुन्दर वस्त्र दे । बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मणको सफेद छाता, एक जोड़ा जूता, सप्तधान्य, स्वर्ण एवं घीसे भरे पात्रका दान करे । प्रत्येक नक्षत्रके योगमें ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये । यही नक्षत्रमय नित्य सनातन पुरुष माने गये हैं ॥ २६–२९ ॥

नक्षत्रपुरुषाख्यं हि व्रतानामुत्तमं व्रतम् । पूर्वं कृतं हि भृगुणा सर्वपातकनाशनम् ॥ ३० ॥
अङ्गोपाङ्गानि देवर्षे पूजयित्वा जगद्गुरोः । सुरूपाण्यभिजायन्ते प्रत्यङ्गाङ्गानि चैव हि ॥ ३१ ॥
सप्तजन्मकृतं पापं कुलसंगागतं च यत् । पितृमातृसमुत्थं च तत्सर्वं हन्ति केशवः ॥ ३२ ॥
सर्वाणि भद्राण्याप्नोति शरीरारोग्यमुत्तमम् । अनन्तां मनसः प्रीतिं रूपं चातीव शोभनम् ॥ ३३ ॥

नक्षत्र-पुरुष नामका व्रत सभी व्रतोंमें श्रेष्ठ है । प्राचीन समयमें भृगुने समस्त पापोंके विनाश करनेवाले इस व्रतको किया था । देवर्षे ! भगवान्‌के अङ्गों और उपाङ्गोंकी पूजा करनेसे मनुष्यके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर होते हैं । सात जन्मोंमें (अपने स्वयंके) किये हुए, कुलक्रमसे प्राप्त एवं माता-पिताके कारण प्राप्त पापों—सब प्रकारके पापोंको केशव पूर्णतया नष्ट कर देते हैं; और इस प्रकार भगवान्‌का पूजन करनेसे समस्त प्रकारके कल्याण प्राप्त होते हैं; शरीर उत्तम आरोग्यसे सम्पन्न होता है, मनमें अनन्त प्रसन्नता प्राप्त होती है और अत्यन्त सुन्दर रूप भी प्राप्त हो जाता है । ॥ ३०–३३ ॥

वाङ्माधुर्यं तथा कान्तिं यच्चान्यदभिवाञ्छितम् । ददाति नक्षत्रपुमान् पूजितस्तु जनार्दनः ॥ ३४ ॥
उपोष्य सम्यगेतेषु क्रमेणर्क्षेषु नारद । अरुन्धती महाभागा ख्यातिमग्र्यां जगाम ह ॥ ३५ ॥
आदित्यस्तनयार्थाय नक्षत्राङ्गं जनार्दनम् । सम्पूजयित्वा गोविन्दं रेवन्तं पुत्रमाप्तवान् ॥ ३६ ॥
रम्भा रूपमवापाग्र्यं वाङ्माधुर्यं च मेनका । कान्तिं विधुरवापाग्र्यां राज्यं राजा पुरूरवाः ॥ ३७ ॥
एवं विधानतो ब्रह्मन्नक्षत्राङ्गो जनार्दनः । पूजितो रूपधारी यैस्तैः प्राप्ता तु सुकामिता ॥ ३८ ॥

एतत् तवोक्तं परमं पवित्रं धन्यं यशस्यं शुभरूपदायि ।
नक्षत्रपुंसः परमं विधानं शृणुष्व पुण्यामिह तीर्थयात्राम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

*

इस प्रकार पूजित होनेपर नक्षत्रपुरुष जनार्दन भगवान् मधुर वाणी, कान्ति तथा अन्य मनोऽभिलषित पदार्थ प्रदान करते हैं। नारदजी! इन नक्षत्रोंके योगमें क्रमशः उपवासकर महाभाग्यशालिनी अरुन्धतीने उत्तम प्रसिद्धि प्राप्त की थी। आदित्यने पुत्रकी इच्छासे नक्षत्र-पुरुष जनार्दनकी अर्चनाकर रेवन्तनामक पुत्र प्राप्त किया था। (नक्षत्राङ्ग जनार्दनकी पूजा करके) रम्भाने श्रेष्ठ रूप, मेनकाने वाणीकी मधुरता, चन्द्रने उत्तम कान्ति तथा पुरूरवाने राज्य प्राप्त किया था। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्मन्! इस प्रकार जिसने नक्षत्राङ्ग-रूपधारी जनार्दनकी पूजा की, उसने अपने मनोरथोंकी भलीभाँति पूर्ति कर ली। मैंने आपसे भगवान् नक्षत्रपुरुषके परम पवित्र धन देनेवाले, कीर्ति बढ़ानेवाले और सुन्दर रूपको देनेवाले व्रतके विधानका वर्णन कर दिया। अब पवित्र तीर्थयात्राका वर्णन सुनिये ॥ ३४–३९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अस्सीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

[अथैकाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

इरावतीमनुप्राप्य पुण्यां तामृषिकन्यकाम्। स्नात्वा सम्पूजयामास चैत्राष्टम्यां जनार्दनम् ॥ १ ॥
नक्षत्रपुरुषं चीर्त्वा व्रतं पुण्यप्रदं शुचिः। जगाम स कुरुक्षेत्रं प्रह्लादो दानवेश्वरः ॥ २ ॥
ऐरावतेन मन्त्रेण चक्रतीर्थं सुदर्शनम्। उपामन्त्र्य ततः सस्नौ वेदोक्तविधिना मुने ॥ ३ ॥
उपोष्य क्षणदां भक्त्या पूजयित्वा कुरुध्वजम्। कृतशौचो जगामाथ द्रष्टुं पुरुषकेसरिम् ॥ ४ ॥

इक्यासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी अनुक्रमिक तीर्थयात्राका वर्णन और जलोद्भवका आख्यान)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) प्रह्लादने परम पवित्र ऋषिकन्या उस इरावती नदीके पास जाकर स्नान किया और चैत्र मासकी अष्टमी तिथिमें जनार्दनकी पूजा की। वहाँ पवित्र पुण्यदायक नक्षत्र-पुरुषके व्रतका अनुष्ठान कर दानवेश्वर प्रह्लाद कुरुक्षेत्र चले गये। मुने! उन्होने ऐरावत-मन्त्रसे सुदर्शनचक्र तीर्थका आवाहन करके वेदविहित विधिसे स्नान किया। वहाँ एक रात्रि निवास कर श्रद्धासे कुरुध्वजका पूजन किया और शौचाचारसे शुद्ध होकर नृसिंहका दर्शन करनेके लिये चले गये ॥ १–४ ॥

स्नात्वा तु देविकायां च नृसिंहं प्रतिपूज्य च। तत्रोष्य रजनीमेकां गोकर्णं दानवो ययौ ॥ ५ ॥
तस्मिन् स्नात्वा तथा प्राच्यां पूज्येशं विश्वकर्मिणम्। प्राचीने चापरे दैत्यो द्रष्टुं कामेश्वरं ययौ ॥ ६ ॥
तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च पूजयित्वा च शङ्करम्। द्रष्टुं ययौ च प्रह्लादः पुण्डरीकं महाम्भसि ॥ ७ ॥
तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च संतर्प्य पितृदेवताः। पुण्डरीकं च सम्पूज्य उवास दिवसत्रयम् ॥ ८ ॥
विशाखयूपे तदनु दृष्ट्वा देवं तथाजितम्। स्नात्वा तथा कृष्णतीर्थे त्रिरात्रं न्यवसच्छुचिः ॥ ९ ॥

दानव-(प्रह्लाद-)ने वहाँ देविकामें स्नान कर नृसिंहकी पूजा की और एक रात वहाँ निवासकर गोकर्ण तीर्थ चले गये। वहाँ प्राची-(पूज्य-पूजकके मध्य स्थान-)में स्नान कर पहले उन्होंने विश्वकर्मा भगवान्की पूजा की। उसके बाद दूसरे प्राचीन-(परकोटा या चहारदिवारी-)में कामेश्वरका दर्शन करनेके लिये गये। वहाँ स्नान करनेके बाद शंकरभगवान्का दर्शन और पूजनकर प्रह्लाद श्रेष्ठ जलमें स्थित पुण्डरीकका दर्शन करने चले गये। वहाँ भी स्नानकर उन्होंने पितरोंका तर्पण और पुण्डरीकका दर्शन-पूजन

किया। तीन दिनोंतक वहाँ निवास किया। उसके बाद विशाखयूपमें देव अजितका दर्शनकर उन्होंने कृष्ण-तीर्थमें स्नान किया और तीन रात्रितक वहाँ भी पवित्रतापूर्वक निवास किया ॥ ५-९ ॥

ततो हंसपदे हंसं दृष्ट्वा सम्पूज्य चेश्वरम्। जगामासौ पयोष्णायामखण्डं द्रष्टुमीश्वरम् ॥ १० ॥
स्नात्वा पयोष्ण्याः सलिले पूज्याखण्डं जगत्पतिम्। द्रष्टुं जगाम मतिमान् वितस्तायां कुमारिलम् ॥ ११ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्च्य देवेशं वालखिल्यैर्मरीचिपैः। आराध्यमानं यत्रात्र कृतं पापप्रणाशनम् ॥ १२ ॥
यत्र सा सुरभिर्देवी स्वसुतां कपिलां शुभाम्। देवप्रियार्थमसृजद्धितार्थं जगतस्तथा ॥ १३ ॥

उसके बाद हंसपदमें भगवान् हंसका दर्शन एवं पूजन कर वे पयोष्णीके समीपमें अखण्डेश्वरका दर्शन करने चले गये। पयोष्णीके जलमें स्नानकर उन्होंने जगत्पति अखण्डेश्वरकी पूजा की। उसके बाद बुद्धिमान् (प्रह्लादजी) वितस्तामें कुमारिलके दर्शनार्थ चले गये। वहाँ स्नान करनेके पश्चात् (सूर्यकी) किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्योंसे आराधित किये जा रहे पापोंको नष्ट करनेवाले देवेशका पूजन किया। जहाँ देवी सुरभिने देवकी प्रीति एवं जगत्‌की भलाईके लिये अपनी पुत्री कल्याणी कपिलाका त्याग किया था ॥ १०-१३ ॥

तत्र देवह्रदे स्नात्वा शम्भुं सम्पूज्य भक्तितः। विधिवद्दधि च प्राश्य मणिमन्तं ततो ययौ ॥ १४ ॥
तत्र तीर्थवरे स्नात्वा प्राजापत्ये महामतिः। ददर्श शम्भुं ब्रह्माणं देवेशं च प्रजापतिम् ॥ १५ ॥
विधानतस्तु तान् देवान् पूजयित्वा तपोधन। षड्रात्रं तत्र च स्थित्वा जगाम मधुनन्दिनीम् ॥ १६ ॥
मधुमत्सलिले स्नात्वा देवं चक्रधरं हरम्। शूलबाहुं च गोविन्दं ददर्श दनुपुङ्गवः ॥ १७ ॥

वहाँ देवह्रदमें स्नानकर उन्होंने भक्तिपूर्वक शंभुका पूजन किया और विधिपूर्वक दही खानेके बाद मणिमान् तीर्थमें गये। प्रजापतिके उस उत्तम तीर्थमें स्नानकर महामति-(प्रह्लाद-) ने शंकर, ब्रह्मा एवं देवेश प्रजापतिका दर्शन किया। [पुलस्त्यजी कहते हैं—] तपोधन! विधिपूर्वक उन देवोंका पूजन करनेके बाद वहाँ छः रात्रियोंतक निवासकर (वे) मधुनन्दिनीमें चले गये। मधुमत्‌के जलमें स्नानकर दानवश्रेष्ठ-(प्रह्लाद-) ने चक्रधारी शिव और शूलधारी गोविन्दका दर्शन किया ॥ १४-१७ ॥

नारद उवाच

किमर्थं भगवान् शम्भुर्दधाराथ सुदर्शनम्। शूलं तथा वासुदेवो ममैतद् ब्रूहि पृच्छतः ॥ १८ ॥

नारदजीने पूछा—मुझ प्रश्नकर्ताको आप (कृपया) यह बतलाइये कि भगवान् शिव सुदर्शन और वासुदेवने शूल क्यों धारण किया था? ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि कथामेतां पुरातनीम्। कथयामास यां विष्णुर्भविष्यमनवे पुरा ॥ १९ ॥
जलोद्भवो नाम महासुरेन्द्रो घोरं स तप्त्वा तप उग्रवीर्यः।
आराधयामास विरिञ्चिमारात् स तस्य तुष्टो वरदो बभूव ॥ २० ॥
देवासुराणामजयो महाहवे निर्जैश्च शस्त्रैरमरैरवध्यः।
ब्रह्मर्षिशापैश्च निरीप्सितार्थो जले च वह्नौ स्वगुणोपहर्ता ॥ २१ ॥
एवम्प्रभावो दनुपुङ्गवोऽसौ देवान् महर्षीन् नृपतीन् समग्रान्।
आबाधमानो विचचार भूम्यां सर्वाः क्रिया नाशयदुग्रमूर्तिः ॥ २२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) सुनिये; मैं इस पुरानी कथाको कहता हूँ। पहले समयमें इसे भगवान् विष्णुने भावी मनुसे कहा था। जलोद्भव नामका एक महान् दैत्यपति था। उस शक्तिशाली दैत्यने घोर तपकर

परिश्रमसे ब्रह्माकी आराधना की। संतुष्ट होकर ब्रह्माने उसे वर दिया कि युद्धमें उसे देवता एवं दैत्य नहीं जीत सकेंगे। देवोंके अपने शस्त्रोंसे भी उसका वध नहीं हो सकेगा। ब्रह्मर्षि-(जनों-)के शापोंका भी उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और जल एवं अग्निका भी प्रभाव नहीं होगा। इस प्रकारका प्रभावशाली वह दनुश्रेष्ठ सभी देवताओं, महर्षियों और राजाओंको कष्ट पहुँचाता हुआ पृथ्वीपर विचरण करने लगा। (फिर तो) उस क्रूरने समस्त कर्मोंका विनाश कर दिया ॥ १९-२२ ॥

ततोऽमरा भूमिभवाः सभूपाः जग्मुः शरण्यं हरिमीशितारम्।
तैश्चापि सार्द्धं भगवाञ्जगाम हिमालयं यत्र हरस्त्रिनेत्रः ॥ २३ ॥
सम्मन्त्र्य देवर्षिहितं च कार्यं मतिं च कृत्वा निधनाय शत्रोः।
निजायुधानां च विपर्ययं तौ देवाधिपौ चक्रतुरुग्रकर्मिणौ ॥ २४ ॥
ततश्चासौ दानवो विष्णुशर्वौ समायातौ तज्जिघांसू सुरेशौ।
मत्वाऽजेयौ शत्रुभिर्घोररूपौ भयात्तोये निम्नगायां विवेश ॥ २५ ॥
ज्ञात्वा प्रनष्टं त्रिदिवेन्द्रशत्रुं नदीं विशालां मधुमत्सुपुण्याम्।
द्वयोः सशस्त्रौ तटयोर्हरीशौ प्रच्छन्नमूर्ती सहसा बभूवतुः ॥ २६ ॥

उसके बाद पृथ्वीपर आविर्भूत हुए देवगण राजाओंके साथ शरण देनेवाले एवं (सबके) नियामक विष्णुकी शरणमें गये। भगवान् भी उन सभीके साथ हिमालयपर गये, जहाँ त्रिनेत्र हर अवस्थित थे। देवता और ऋषियोंके कल्याणकारी कार्यकी मन्त्रणा करनेके बाद शत्रुको मारनेका निश्चय कर उन दोनों उग्रकर्मी देवाधिपोंने अपने आयुधोंका परिवर्तन कर लिया। फिर मारनेकी इच्छासे आ रहे देवाधिप शंकर एवं विष्णुको देखकर और उन भयंकर मूर्त्तिधारियोंको शत्रुओंसे अजेय जानकर वह दानव भयसे नदीके जलमें पैठ गया। देवशत्रुको पुण्यशालिनी मधुमती विशाला नदीमें उसे छिपा हुआ जानकर शस्त्रसहित शंकर और विष्णु सहसा नदीके दोनों तटोंपर छिप गये ॥ २३-२६ ॥

जलोद्भवश्चापि जलं विमुच्य ज्ञात्वा गतौ शङ्करवासुदेवौ।
दिशस्समीक्ष्य भयकातराक्षो दुर्गं हिमाद्रिं च तदारुरोह ॥ २७ ॥
महीध्रशृङ्गोपरि विष्णुशम्भू चञ्चूर्यमाणं स्वरिपुं च दृष्ट्वा।
वेगादुभौ दुद्रुवतुः सशस्त्रौ विष्णुस्त्रिशूली गिरिशश्च चक्री ॥ २८ ॥
ताभ्यां स दग्धस्त्रिदशोत्तमाभ्यां चक्रेण शूलेन च भिन्नदेहः।
पपात शैलात् तपनीयवर्णो यथाऽन्तरिक्षाद् विमला च तारा ॥ २९ ॥
एवं त्रिशूलं च दधार विष्णुश्चक्रं त्रिनेत्रोऽप्यरिसूदनार्थम्।
यत्राघहन्त्री ह्यभवद् वितस्ता हराङ्घ्रिपाताच्छिशिराचलात्तु ॥ ३० ॥
तत्प्राप्य तीर्थं त्रिदशाधिपाभ्यां पूजां च कृत्वा हरिशङ्कराभ्याम्।
उपोष्य भक्त्या हिमवन्तमागाद् द्रष्टुं गिरीशं शिवविष्णुगुप्तम् ॥ ३१ ॥
तं समभ्यर्च्य विधिवद् दत्त्वा दानं द्विजातिषु। विस्तृते हिमवत्पादे भृगुतुङ्गं जगाम सः ॥ ३२ ॥
यत्रेश्वरो देववरस्य विष्णोः प्रादाद्रथाङ्गप्रवरायुधं वै।
येन प्रचिच्छेद त्रिधैव शङ्करं जिज्ञासमानोऽस्त्रबलं महात्मा ॥ ३३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

शंकर और वासुदेवको गया हुआ जानकर जलोद्भव जलसे बाहर निकला तथा भयसे चञ्चल नेत्रोंसे दिशाओंमें (इधर-उधर) देखकर दुर्गम हिमालय पर्वतपर चढ़ गया। पर्वतकी चोटीपर अपने शत्रुको विचरण करते हुए देखकर त्रिशूलधारी विष्णु एवं चक्रधारी शिव शस्त्र लिये हुए तुरंत दौड़ पड़े। उन सुरोत्तमोंने उसे देखकर चक्र और शूलसे उसके शरीरका भेदन कर दिया। वह सुवर्णके समान कान्तिवाला अन्तरिक्षसे गिरनेवाले विमल तारेके समान पर्वतसे गिर पड़ा। इस प्रकार शत्रुके विनाशके लिये विष्णुने त्रिशूल तथा शंकरने चक्र धारण किया था। जहाँ शंकरका चरण गिरा था, उस हिमालय पर्वतसे पापविनाशिनी वितस्ता उत्पन्न हुई। उस तीर्थमें पहुँचकर प्रह्लादने उन विष्णु एवं शंकर—इन दोनों देवोंकी अर्चा की तथा भक्तिसे वहाँ निवास कर वे शिव एवं विष्णुसे रक्षित गिरिराज हिमालयका दर्शन करने चले गये। प्रह्लाद वहाँ विधिके अनुसार उसकी पूजा करनेके बाद ब्राह्मणोंको दान देकर हिमालयके विस्तृत चरणमें (उपत्यकामें विद्यमान) भृगुतुङ्ग तीर्थमें गये। वहाँ भगवान् शंभुने देवश्रेष्ठ विष्णुको श्रेष्ठ अस्त्र दिया था। उस अस्त्र—चक्रके बलको जाननेकी इच्छासे उन महात्माने उससे शंकरको तीन टुकड़ोंमें काट दिया था॥ २७–३३॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ८१॥

[अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

भगवँल्लोकनाथाय विष्णवे विषमेक्षणः। किमर्थमायुधं चक्रं दत्तवाँल्लोकपूजितम्॥ १॥

बयासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चक्रदानके कथा-प्रसङ्गमें उपमन्यु तथा श्रीदामाका वृत्तान्त, शिवद्वारा विष्णुको चक्र देना, हरका विरूपाक्ष हो जाना और श्रीदाम-वध)

नारदजीने पूछा—भगवन्! तीन नेत्रोंवाले शंकरने जगत्पति विष्णुको समस्त लोकोंमें पूजित चक्र नामका आयुध क्यों दिया था?॥ १॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम्। चक्रप्रदानसम्बद्धां शिवमाहात्म्यवर्धिनीम्॥ २॥
आसीद् द्विजातिप्रवरो वेदवेदाङ्गपारगः। गृहाश्रमी महाभागो वीतमन्युरिति स्मृतः॥ ३॥
तस्यात्रेयी महाभागा भार्यासीच्छीलसम्मता। पतिव्रता पतिप्राणा धर्मशीलेति विश्रुता॥ ४॥
तस्यामस्य महर्षेस्तु ऋतुकालाभिगामिनः। सम्बभूव सुतः श्रीमान् उपमन्युरिति स्मृतः॥ ५॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) आप चक्रके प्रदान करनेसे सम्बद्ध और शिवकी महिमाको बढ़ानेवाली इस प्राचीन कथाको सावधान होकर सुनिये। वेद-वेदाङ्ग-पारङ्गत, गृहस्थ और महाभाग्यशाली वीतमन्यु नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। उनकी महाभाग्यशालिनी, शीलसे सम्पन्न, पतिव्रता एवं पतिमें ही अपने प्राणोंको निहित किये रहनेवाली आत्रेयी नामकी पत्नी थी। वह धर्मशीला नामसे प्रसिद्ध थी। ऋतुकालमें ही उसके साथ समागम करनेवाले उन महर्षिके उससे उपमन्यु नामका एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ॥ २–५॥

तं माता मुनिशार्दूल शालिपिष्टरसेन वै। पोषयामास वदती क्षीरमेतत् सुदुर्गता॥ ६॥
सोऽजानानोऽथ क्षीरस्य स्वादुतां पय इत्यथ। सम्भावनामप्यकरोच्छालिपिष्टरसेऽपि हि॥ ७॥

स त्वेकदा समं पित्रा कुत्रचिद् द्विजवेश्मनि। क्षीरौदनं च बुभुजे सुस्वादु प्राणपुष्टिदम्॥ ८॥
स लब्ध्वानुपमं स्वादं क्षीरस्य ऋषिदारकः। मात्रा दत्तं द्वितीयेऽह्नि नादत्ते पिष्टवारि तत्॥ ९॥

मुनिश्रेष्ठ! अत्यन्त दरिद्रतासे जर्जर हुई उसकी माता पिसे हुए चावलके जलको यह दूध है—ऐसा कहकर उससे उस-(पुत्र-) का पालन करती थी। दूधके स्वादसे अपरिचित होनेके कारण वह पिसे चावलके रस-(जल-) में ही दूधकी संभावना करता था। एक दिन उसने अपने पिताके साथ किसी ब्राह्मणके घर प्राणको स्वस्थ बनानेवाली मधुर खीरका भोजन किया। ऋषिके उस पुत्रने दूधके अद्भुत स्वादको पाकर दूसरे दिन माताके द्वारा दिये गये पिसे हुए चावलके उस रसको ग्रहण नहीं किया॥ ६—९॥

रुरोदाथ ततो बाल्यात् पयोऽर्थी चातको यथा। तं माता रुदती प्राह बाष्पगद्गदया गिरा॥ १०॥
उमापतौ पशुपतौ शूलधारिणि शङ्करे। अप्रसन्ने विरूपाक्षे कुतः क्षीरेण भोजनम्॥ ११॥
यदीच्छसि पयो भोक्तुं सद्यः पुष्टिकरं सुत। तदाराधय देवेशं विरूपाक्षं त्रिशूलिनम्॥ १२॥
तस्मिंस्तुष्टे जगद्धाम्नि सर्वकल्याणदायिनि। प्राप्यतेऽमृतपायित्वं किं पुनः क्षीरभोजनम्॥ १३॥

उसके बाद दूध चाहनेवाला वह बालक बचपनके कारण प्यासे चातककी भाँति रोने लगा। रोती हुई माताने आँखोंमें आँसू भरे गद्गद वाणीमें उससे कहा—शूल धारण करनेवाले पार्वतीपति पशुपति विरूपाक्ष शंकरके असंतुष्ट रहते दूधसे मिला भोजन कहाँसे प्राप्त हो सकता है? पुत्र! यदि तुम तत्काल स्वास्थ्यकर दूध पीना चाहते हो तो त्रिशूल धारण करनेवाले विरूपाक्ष महादेवकी सेवा करो। संसारके आधार, सभी प्रकारसे कल्याण करनेवाले उन शंकरके संतुष्ट होनेपर अमृत पीनेको मिल सकता है, दूध पीनेकी तो बात ही क्या है॥ १०—१३॥

तन्मातुर्वचनं श्रुत्वा वीतमन्युसुतोऽब्रवीत्। कोऽयं विरूपाक्ष इति त्वयाराध्यस्तु कीर्तितः॥ १४॥
ततः सुतं धर्मशीला धर्माढ्यं वाक्यमब्रवीत्। योऽयं विरूपाक्ष इति श्रूयतां कथयामि ते॥ १५॥
आसीन्महासुरपतिः श्रीदाम इति विश्रुतः। तेनाक्रम्य जगत्सर्वं श्रीर्नीता स्ववशं पुरा॥ १६॥
निःश्रीकास्तु त्रयो लोकाः कृतास्तेन दुरात्मना। श्रीवत्सं वासुदेवस्य हर्तुमैच्छन्महाबलः॥ १७॥

माताके उस वचनको सुनकर वीतमन्युके पुत्रने कहा—आप जिनकी सेवा-पूजा करनेको कहती हैं, वे विरूपाक्ष कौन हैं? उसके बाद धर्मशीलाने पुत्रसे धर्मसे युक्त वचन कहा—(बेटा!) सुनो, मैं तुम्हें बतलाती हूँ कि ये विरूपाक्ष कौन हैं? प्राचीन कालमें श्रीदामा नामसे विख्यात एक महान् असुरोंका राजा था। उसने सारे संसारको अपने अधीन करके लक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया (सारे विश्वपर अपना अधिकार जमा लिया)। (फिर तो) उस दुष्टात्माने तीनों लोकोंको ही श्रीसे रहित कर दिया। उसके बाद उस महाबलशाली असुरने वासुदेवके श्रीवत्सको छीन लेनेकी कामना की॥ १४—१७॥

तमस्य दुष्टं भगवानभिप्रायं जनार्दनः। ज्ञात्वा तस्य वधाकाङ्क्षी महेश्वरमुपागमत्॥ १८॥
एतस्मिन्नन्तरे शम्भुर्योगमूर्तिधरोऽव्ययः। तस्थौ हिमाचलप्रस्थमाश्रित्य श्लक्ष्णभूतलम्॥ १९॥
अथाभ्येत्य जगन्नाथं सहस्रशिरसं विभुम्। आराधयामास हरिः स्वयमात्मानमात्मना॥ २०॥
साग्रं वर्षसहस्रं तु पादाङ्गुष्ठेन तस्थिवान्। गृणंस्तत्परमं ब्रह्म योगिज्ञेयमलक्षणम्॥ २१॥

उसकी उस दूषित इच्छाको जानकर भगवान् जनार्दन उसके मारनेकी इच्छासे महेश्वरके पास गये। उस समय योगमूर्तिके धारण करनेवाले अविनाशी शंकर हिमालयकी ऊँची चोटीके चिकने भूतलपर स्थित थे। उसके बाद सहस्रशीर्ष सर्वसमर्थ जगन्नाथजीके पास जाकर विष्णुने अपने द्वारा स्वयं अपनी ही अर्चना की। योगियोंद्वारा

जाननेयोग्य उस अव्यक्त परम ब्रह्मका जप करते हुए वे एक हजार वर्षसे अधिक समयतक पैरके अँगूठेपर खड़े रहे ॥ १८–२१ ॥

ततः प्रीतः प्रभुः प्रादाद् विष्णवे परमं वरम् । प्रत्यक्षं तैजसं श्रीमान् दिव्यं चक्रं सुदर्शनम् ॥ २२ ॥
तद् दत्त्वा देवदेवाय सर्वभूतभयप्रदम् । कालचक्रनिभं चक्रं शङ्करो विष्णुमब्रवीत् ॥ २३ ॥
वरायुधोऽयं देवेश सर्वायुधनिबर्हणः । सुदर्शनो द्वादशारः षण्णाभिर्द्वियुगो जवी ॥ २४ ॥
आरासंस्थास्त्वमी चास्य देवा मासाश्च राशयः । शिष्टानां रक्षणार्थाय संस्थिता ऋतवश्च षट् ॥ २५ ॥
अग्निः सोमस्तथा मित्रो वरुणोऽथ शचीपतिः । इन्द्राग्नी चाप्यथो विश्वे प्रजापतय एव च ॥ २६ ॥
हनूमांश्चाथ बलवान् देवो धन्वन्तरिस्तथा ।
तपश्चैव तपस्यश्च द्वादशैते प्रतिष्ठिताः । चैत्राद्याः फाल्गुनान्ताश्च मासास्तत्र प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥

उसके बाद श्रीमान् महादेवने संतुष्ट होकर विष्णुको परमश्रेष्ठ प्रत्यक्ष तेजसे युक्त दिव्य सुदर्शनचक्र प्रदान किया । सभी प्राणियोंके लिये भयदायक कालचक्रके समान यह चक्र देवाधिदेव विष्णुको देकर शंकरने उनसे कहा—देवेश ! बारह अरों, छः नाभियों एवं दो युगोंसे युक्त तीव्रगतिशील और समस्त आयुधोंका नाश करनेवाला सुदर्शन नामका यह श्रेष्ठ आयुध है । सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये इसके अरोंमें देवता, मास, राशियाँ, छः ऋतुएँ, अग्नि, सोम, मित्र, वरुण, शचीपति इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, प्रजापति, बलवान् हनूमान्, धन्वन्तरि देव, तप एवं तपस्या—ये तथा चैत्रसे लेकर फाल्गुनतकके बारह महीने प्रतिष्ठित हैं ॥ २२–२७ ॥

त्वमेवमाधाय विभो वरायुधं शत्रुं सुराणां जहि मा विशङ्किथाः ।
अमोघ एषोऽमरराजपूजितो धृतो मया नेत्रगतस्तपोबलात् ॥ २८ ॥
इत्युक्तः शम्भुना विष्णुः भवं वचनमब्रवीत् । कथं शम्भो विजानीयाममोघो मोघ एव वा ॥ २९ ॥
यद्यमोघो विभो चक्रः सर्वत्राप्रतिघस्तव । जिज्ञासार्थं तवैवेह प्रक्षेप्स्यामि प्रतीच्छ भोः ॥ ३० ॥
तद्वाक्यं वासुदेवस्य निशम्याह पिनाकधृक् । यद्येवं प्रक्षिपस्वेति निर्विशङ्केन चेतसा ॥ ३१ ॥

विभो ! आप इस श्रेष्ठ आयुधको लेकरके निर्भीक होकर देवोंके शत्रुका संहार करें । मैंने असुरराजसे आराधित इस अमोघ आयुधको तपके बलसे अपने नेत्रमें स्थित कर लिया था । शम्भुके इस प्रकार कहनेपर विष्णुने शंकरसे यह वचन कहा—शम्भो ! मुझे यह कैसे मालूम होगा कि यह अस्त्र अमोघ या मोघ है ? विभो ! यदि आपका यह चक्र अमोघ तथा सर्वत्र बिना किसी बाधाके निरन्तर गतिशील है तो इसको जाननेके लिये मैं आपके ही ऊपर इसे चलाता हूँ । आप इसे स्वीकार करें । वासुदेवके उस वचनको सुनकर पिनाकधारीने कहा—यदि ऐसा है तो निश्चिन्त होकर मेरे ऊपर इसे चलाइये ॥ २८–३१ ॥

तन्महेशानवचनं श्रुत्वा विष्णुः सुदर्शनम् । मुमोच तेजो जिज्ञासुः शङ्करम्प्रति वेगवान् ॥ ३२ ॥
मुरारिकरविभ्रष्टं चक्रमभ्येत्य शूलिनम् । त्रिधा चकार विश्वेशं यज्ञेशं यज्ञयाजकम् ॥ ३३ ॥
हरं हरिस्त्रिधाभूतं दृष्ट्वा कृत्तं महाभुजः । व्रीडोपप्लुतदेहस्तु प्रणिपातपरोऽभवत् ॥ ३४ ॥
पादप्रणामावनतं वीक्ष्य दामोदरं भवः । प्राह प्रीतिपरः श्रीमानुत्तिष्ठेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

महेशके उस वचनको सुनकर विष्णुने सुदर्शनके तेजको जाननेकी अभिलाषासे उसे वेगसे शंकरके ऊपर चलाया । विष्णुके हाथसे छोड़ा गया वह चक्र शंकरके निकट गया और उन्हें काटकर विश्वेश, यज्ञेश तथा यज्ञयाजकके रूपमें तीन भागोंमें अलग कर दिया । शंकरको तीन खण्डोंमें कटा हुआ देखकर महाबाहु विष्णु

संकुचित हो गये। वे (शंकरको) प्रणाम करने लगे। चरणोंमें प्रणत हुए दामोदरको देखकर श्रीमान् भवने (शंकरने) प्रसन्नतापूर्वक बार-बार 'उठो-उठो' कहते हुए (यह) कहा—॥ ३२–३५ ॥

प्राकृतोऽयं महाबाहो विकारश्चक्रनेमिना। निकृत्तो न स्वभावो मे सोऽच्छेद्योऽदाह्य एव च ॥ ३६ ॥
तद्यदेतानि चक्रेण त्रीणि भागानि केशव। कृतानि तानि पुण्यानि भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३७ ॥
हिरण्याक्षः स्मृतो ह्येकः सुवर्णाक्षस्तथा परः। तृतीयश्च विरूपाक्षस्त्रयोऽमी पुण्यदा नृणाम् ॥ ३८ ॥
उत्तिष्ठ गच्छस्व विभो निहन्तुममरार्दनम्। श्रीदाम्नि निहते विष्णो नन्दयिष्यन्ति देवताः ॥ ३९ ॥
इत्येवमुक्तो भगवान् हरेण गरुडध्वजः। गत्वा सुरगिरिप्रस्थं श्रीदामानं ददर्श ह ॥ ४० ॥
तं दृष्ट्वा देवदर्पघ्नं दैत्यं देववरो हरिः। मुमोच चक्रं वेगाढ्यं हतोऽसीति ब्रुवन्मुहुः ॥ ४१ ॥

महाबाहो! चक्रकी नेमिद्वारा मेरा यह प्राकृत विकार ही काटा गया है। इसके द्वारा मेरा स्वभाव नहीं क्षत हुआ है। वह तो अच्छेद्य एवं अदाह्य है। केशव! चक्रद्वारा किये गये ये तीनो अंश निस्सन्देह पुण्य प्रदान करनेवाले होंगे। एक अंश हिरण्याक्ष नामधारी, दूसरा सुवर्णाक्ष नामधारी और तीसरा विरूपाक्ष नामका होगा। ये तीनों अंश मनुष्योंके लिये पुण्यप्रदाता होंगे। विभो! उठिये और देव-शत्रुका वध करनेके लिये जाइये। विष्णो! श्रीदामाके वध किये जानेपर देवता प्रसन्न होंगे। शंकरके इस प्रकार कहनेपर भगवान् गरुडध्वजने पर्वतकी ऊँची चोटीपर जाकर श्रीदामाको देखा। देवताओंके दर्पका विनाश करनेवाले उस दैत्यको देखकर देव-श्रेष्ठ विष्णुने बार-बार (यह लो) 'तुम मारे गये' ऐसा कहते हुए तीव्र गतिसे चक्र चलाया॥ ३६–४१ ॥

ततस्तु तेनाप्रतिपौरुषेण चक्रेण दैत्यस्य शिरो निकृत्तम्।
संछिन्नशीर्षो निपपात शैलाद् वज्राहतं शैलशिरो यथैव ॥ ४२ ॥
तस्मिन् हते देवरिपौ मुरारिरीशं समाराध्य विरूपनेत्रम्।
लब्ध्वा च चक्रं प्रवरं महायुधं जगाम देवो निलयं पयोनिधिम् ॥ ४३ ॥
सोऽयं पुत्र विरूपाक्षो देवदेवो महेश्वरः। तमाराधय चेत् साधो क्षीरेणेच्छसि भोजनम् ॥ ४४ ॥
तन्मातुर्वचनं श्रुत्वा वीतमन्युसुतो बली। तमाराध्य विरूपाक्षं प्राप्तः क्षीरेण भोजनम् ॥ ४५ ॥
एवं तवोक्तं परमं पवित्रं संछेदनं शर्वतनोः पुरा वै।
तत्तीर्थवर्यं स महासुरो वै समाससादाथ सुपुण्यहेतोः ॥ ४६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

फिर तो अनुपम पौरुषवाले उस चक्रने दैत्यका मस्तक काट डाला। मस्तक कट जानेपर दैत्य पर्वतके ऊपरसे इस प्रकार गिरा जैसे वज्रसे आहत होकर पर्वतकी ऊँची चोटी गिरती है। उस देव-शत्रुके मारे जानेपर मुरारिने विरूपाक्ष शंकरकी आराधना की और चक्ररूपी श्रेष्ठ महायुध लेकर वे देव क्षीरसागरमें स्थित अपने गृहको चले गये। [वीतमन्युकी धर्मशीला पत्नी आत्रेयी कहती हैं—] पुत्र! ये वही देव-देव महेश्वर विरूपाक्ष हैं। साधो! यदि तुम दूधके साथ भोजन करना चाहते हो तो उनकी सेवा-पूजा करो। माताके उस वचनको सुनकर वीतमन्युके बलवान् पुत्रने उन विरूपाक्ष शंकरकी आराधनाकर दुग्धसे युक्त भोजन प्राप्त किया। [पुलस्त्यजी कहते हैं—] इस प्रकार प्राचीन कालमें घटित हुई शंकरके शरीर-छेदनसे सम्बद्ध परम पवित्र कथाको मैंने तुमसे कहा। उसी श्रेष्ठ तीर्थमें वे महान् असुर प्रह्लाद सुन्दर पुण्य-प्राप्तिके लिये गये॥ ४२–४६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बयासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ८२ ॥
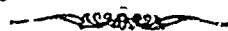
[अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा दृष्ट्वा देवं त्रिलोचनम्। पूजयित्वा सुवर्णाक्षं नैमिषं प्रययौ ततः ॥ १ ॥
तत्र तीर्थसहस्राणि त्रिंशत्पापहराणि च। गोमत्याः काञ्चनाक्ष्याश्च गुरुदायाश्च मध्यतः ॥ २ ॥
तेषु स्नात्वार्च्य देवेशं पीतवाससमच्युतम्। ऋषीनपि च सम्पूज्य नैमिषारण्यवासिनः ॥ ३ ॥
देवदेवं तथेशानं सम्पूज्य विधिना ततः। गयायां गोपतिं द्रष्टुं जगाम स महासुरः ॥ ४ ॥

तिरासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी अनुक्रमागत तीर्थ-यात्रामें अनेक तीर्थोंका महत्त्व)

पुलस्त्यजी बोले—प्रह्लादने उस उत्तम तीर्थमें स्नान कर त्रिनयन महादेवका दर्शन किया और सुवर्णाक्षकी पूजाकर वे नैमिषारण्य चले गये। वहाँ गोमती, काञ्चनाक्षी और गुरुदाके मध्यमें पाप-नाश करनेवाले तीस हजार तीर्थ हैं। उनमें स्नानकर उन्होंने पीताम्बर धारण करनेवाले देवेश्वर अच्युतकी पूजा की। नैमिषारण्यमें रहनेवाले ऋषियोंकी पूजा करनेके पश्चात् देवाधिदेव महेशका विधिपूर्वक पूजन कर वे महासुर गोपतिका दर्शन करनेके लिये गयातीर्थमें चले गये ॥ १—४ ॥

तत्र ब्रह्मध्वजे स्नात्वा कृत्वा चास्य प्रदक्षिणाम्। पिण्डनिर्वपणं पुण्यं पितृणां स चकार ह ॥ ५ ॥
उदपाने तथा स्नात्वा तत्राभ्यर्च्य पितॄन् वशी। गदापाणिं समभ्यर्च्य गोपतिं चापि शङ्करम् ॥ ६ ॥
इन्द्रतीर्थे तथा स्नात्वा संतर्प्य पितृदेवताः। महानदीजले स्नात्वा सरय्वूमाजगाम सः ॥ ७ ॥
तस्यां स्नात्वा समभ्यर्च्य गोप्रतारे कुशेशयम्। उपोष्य रजनीमेकां विरजां नगरीं ययौ ॥ ८ ॥

वहाँ ब्रह्मध्वजमें स्नान और उसकी प्रदक्षिणा कर उन्होंने पितरोंके निमित्त पवित्र पिण्डदान किया। (फिर) उदपानमें स्नानकर जितेन्द्रिय- (प्रह्लाद-) ने पितरों, गदापाणि (विष्णु) एवं गोपति शंकरकी पूजा की। इन्द्रतीर्थमें (भी) स्नानकर उन्होंने पितरों एवं देवोंका तर्पण किया तथा महानदीके जलमें स्नानकर वे सरयूके समीप पहुँचे। उसमें स्नानकर उन्होंने गोप्रतारमें कुशेशयकी पूजा की एवं वहाँ एक रात्रि निवास कर वे विरजा नगरीमें गये ॥ ५—८ ॥

स्नात्वा विरजसे तीर्थे दत्त्वा पिण्डं पितॄंस्तथा। दर्शनार्थं ययौ श्रीमानजितं पुरुषोत्तमम् ॥ ९ ॥
तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षमक्षरं परमं शुचिः। षड्रात्रमुष्य तत्रैव महेन्द्रं दक्षिणं ययौ ॥ १० ॥
तत्र देववरं शम्भुमर्द्धनारीश्वरं हरम्। दृष्ट्वार्च्य सम्पूज्य पितॄन् महेन्द्रं चोत्तरं गतः ॥ ११ ॥
तत्र देववरं शम्भुं गोपालं सोमपायिनम्। दृष्ट्वा स्नात्वा सोमतीर्थे सह्याचलमुपागतः ॥ १२ ॥

विरजातीर्थमें स्नान करनेके बाद पितरोंको पिण्डदान कर वे श्रीमान् पुरुषोत्तम अजितका दर्शन करने चले गये। वे निष्पाप प्रह्लाद अविनाशी पुण्डरीकाक्षका दर्शन करनेके पश्चात् छः रातोंतक वहाँ निवासकर दक्षिण दिशामें स्थित महेन्द्र पर्वतपर चले गये। (वे) वहाँ देवश्रेष्ठ अर्धनारीश्वर महादेवका दर्शन तथा पूजनकर पितरोंकी अर्चना करके उत्तर दिशाकी ओर चले गये। वहाँ देववर शम्भु और सोमपायी गोपालका दर्शन करनेके पश्चात् सोमतीर्थमें स्नानकर वे सह्याचल पर गये ॥ ९—१२ ॥

तत्र स्नात्वा महोदक्यां वैकुण्ठं चार्च्य भक्तितः। सुरान् पितॄन् समभ्यर्च्य पारियात्रं गिरिं गतः ॥ १३ ॥
तत्र स्नात्वा लाङ्गलिन्यां पूजयित्वाऽपराजितम्। कशेरुदेशं चाभ्येत्य विश्वरूपं ददर्श सः ॥ १४ ॥
यत्र देववरः शम्भुर्गणानां तु सुपूजितम्। विश्वरूपमथात्मानं दर्शयामास योगवित् ॥ १५ ॥
तत्र मङ्कुणिकातोये स्नात्वाभ्यर्च्य महेश्वरम्। जगामाद्रिं स सौगन्धिं प्रह्लादो मलयाचलम् ॥ १६ ॥

वहाँ महोदकीमे स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक विष्णु, देवताओं एवं पितरोंका पूजन कर वे पारियात्र पर्वतपर चले गये। वहाँ लाङ्गलिनीमे स्नान करनेके बाद उन्होंने अपराजितका पूजन किया और कशेरुदेशमें जाकर विश्वरूपका दर्शन किया। वहाँ योगवित् देववर शम्भुने गणोंसे पूजित अपना विश्वरूप प्रकट किया था; वहाँ मङ्कुणिकाके जलमें स्नान करनेके बाद महेश्वरका पूजनकर प्रह्लाद सुगन्धियुक्त मलय पर्वतपर गये॥ १३–१६ ॥

महाह्रदे ततः स्नात्वा पूजयित्वा च शङ्करम्। ततो जगाम योगात्मा द्रष्टुं विन्ध्ये सदाशिवम्॥ १७॥
ततो विपाशासलिले स्नात्वाभ्यर्च्य सदाशिवम्। त्रिरात्रं समुपोष्याथ अवन्तीं नगरीं ययौ॥ १८॥
तत्र शिप्राजले स्नात्वा विष्णुं सम्पूज्य भक्तितः। श्मशानस्थं ददर्शाथ महाकालवपुर्धरम्॥ १९॥
तस्मिन् हि सर्वसत्त्वानां तेन रूपेण शङ्करः। तामसं रूपमास्थाय संहारं कुरुते वशी॥ २०॥

उसके बाद महाह्रदमे स्नान करनेके पश्चात् शंकरकी पूजाकर योगात्मा प्रह्लाद सदाशिवका दर्शन करनेके लिये विन्ध्यपर्वतपर गये। उसके बाद विपाशाके जलमें उन्होंने स्नान किया और सदाशिवका पूजन किया। उसके पश्चात् तीन रातोंतक वहाँ निवास करके वे अवन्ती नगरीमे गये। वहाँ शिप्राके जलमें स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक विष्णुका पूजनकर उन्होंने श्मशानमें स्थित महाकाल-शरीरधारीका दर्शन किया। वहाँ उस रूपमें स्थित आत्मवशी शंकर तामसरूप धारण करके समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं॥ १७–२०॥

तत्रस्थेन सुरेशेन श्वेतकिर्नाम भूपतिः। रक्षितस्त्वन्तकं दग्ध्वा सर्वभूतापहारिणम्॥ २१॥
तत्रातिहृष्टो वसति नित्यं शर्वः सहोमया। वृतः प्रमथकोटीभिर्बहुभिस्त्रिदशार्चितः॥ २२॥
तं दृष्ट्वाथ महाकालं कालकालान्तकान्तकम्। यमसंयमनं मृत्योर्मृत्युं चित्रविचित्रकम्॥ २३॥
श्मशाननिलयं शम्भुं भूतनाथं जगत्पतिम्। पूजयित्वा शूलधरं जगाम निषधान् प्रति॥ २४॥

वहाँपर स्थित हुए सुरेशने सर्वभूतापहारी (समस्त भूतोंका अपहरण करनेवाले) अन्तकको जलाकर श्वेतकि नामक राजाकी रक्षा की थी। करोड़ों गणोंसे घिरे हुए एवं देवोंसे पूजित भगवान् शंकर उमाके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वहाँ नित्य निवास करते हैं। उन कालोंके काल, अन्तकोंके अन्तक, यमोंके नियामक, मृत्युके मृत्यु, चित्रविचित्र श्मशानके वासी, भूतपति, जगत्पति, शूल धारण करनेवाले शंकरका दर्शन एवं पूजनकर वे निषध-देशकी ओर चले गये॥ २१–२४॥

तत्रामरेश्वरं देवं दृष्ट्वा सम्पूज्य भक्तितः। महोदयं समभ्येत्य हयग्रीवं ददर्श सः॥ २५॥
अश्वतीर्थे ततः स्नात्वा दृष्ट्वा च तुरगाननम्। श्रीधरं चैव सम्पूज्य पञ्चालविषयं ययौ॥ २६॥
तत्रेश्वरगुणैर्युक्तं पुत्रमर्थपतेरथ। पाञ्चालिकं वशी दृष्ट्वा प्रयागं परतो ययौ॥ २७॥
स्नात्वा सन्निहिते तीर्थे यामुने लोकविश्रुते। दृष्ट्वा वटेश्वरं रुद्रं माधवं योगशायिनम्॥ २८॥
द्वावेव भक्तितः पूज्यौ पूजयित्वा महासुरः। माघमासमथोपोष्य ततो वाराणसीं गतः॥ २९॥

वहाँ श्रद्धापूर्वक अमरेश्वर देवका दर्शन एवं अर्चन करनेके बाद उन्होंने महोदयमे जाकर हयग्रीवका दर्शन किया। उसके बाद अश्वतीर्थमे स्नान कर अश्वमुखका दर्शन तथा श्रीधरका अर्चन कर वे पाञ्चाल देशमें गये। जितेन्द्रिय प्रह्लाद वहाँ ईश्वरीय गुणोंसे सम्पन्न धनपति कुबेरके पुत्र पाञ्चालिकका दर्शनकर प्रयाग चले गये। निकटमे रहनेवाले यमुनाके विख्यात तीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् वटेश्वर रुद्र तथा योगशायी माधवका दर्शन एवं श्रद्धापूर्वक उन दोनों पूजनीयोंका अर्चन कर उन महासुरने माघमासमें वहाँ निवास किया। उसके बाद वे वाराणसी चले गये॥ २५–२९॥

ततोऽस्यां वरणायां च तीर्थेषु च पृथक् पृथक्। सर्वपापहरायेषु स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः ॥ ३० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य पुरीं पूज्याविमुक्तकेशवौ। लोलं दिवाकरं दृष्ट्वा ततो मधुवनं ययौ ॥ ३१ ॥
तत्र स्वयम्भुवं देवं ददर्शासुरसत्तमः। तमभ्यर्च्य महातेजाः पुष्करारण्यमागमत् ॥ ३२ ॥
तेषु त्रिष्वपि तीर्थेषु स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः। पुष्कराक्षमयोगन्धिं ब्रह्माणं चाप्यपूजयत् ॥ ३३ ॥
ततो भूयः सरस्वत्यास्तीर्थे त्रैलोक्यविश्रुते। कोटितीर्थे रुद्रकोटिं ददर्श वृषभध्वजम् ॥ ३४ ॥

उसके बाद समस्त पापोंका अपहरण करनेवाले असी और वरुणाके विभिन्न तीर्थोंमें स्नानके बाद पितरों एवं देवोंका अर्चनकर उन्होंने (वाराणसी) पुरीकी प्रदक्षिणा की। उसके बाद अविमुक्तेश्वर एवं केशवकी पूजा तथा लोलार्कका दर्शन करके वे मधुवन चले गये। महातेजस्वी असुरोत्तम प्रह्लाद वहाँ स्वयम्भू देवका दर्शन एवं पूजनकर पुष्करारण्यमें गये। उन तीनों तीर्थोंमें स्नान करनेके बाद पितरों एवं देवोंका पूजन कर उन्होंने अयोगन्धि, पुष्कराक्ष तथा ब्रह्माका अर्चन किया। उसके बाद उन्होंने कोटितीर्थमें सरस्वतीके तटपर स्थित लोकविख्यात रुद्रकोटि वृषभध्वजका दर्शन किया ॥ ३०—३४ ॥

नैमिषेया द्विजवरा मागधेयाः ससैन्धवाः। धर्मारण्याः पौष्करेया दण्डकारण्यकास्तथा ॥ ३५ ॥
चाम्पेया भारुकच्छेया देविकातीरगाश्च ये। ते तत्र शङ्करं द्रष्टुं समायाता द्विजातयः ॥ ३६ ॥
कोटिसंख्यास्तपःसिद्धा हरदर्शनलालसाः। अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं वादिनो मुने ॥ ३७ ॥
तान् संक्षुब्धान् हरो दृष्ट्वा महर्षीन् दग्धकिल्बिषान्। तेषामेवानुकम्पार्थं कोटिमूर्त्तिरभूद् भवः ॥ ३८ ॥

(कथा है कि प्राचीन समयमें) नैमिषारण्य, मगध, सिन्धुप्रदेश, धर्मारण्य, पुष्कर, दण्डकारण्य, चम्पा, भरुकच्छ एवं देविकाके तटपर रहनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ शंकरका दर्शन करने आये थे। मुने! शिवके दर्शनकी इच्छावाले करोड़ों सिद्ध तपस्वी 'मै पहले दर्शन करूँगा', 'मैं पहले दर्शन करूँगा' इस प्रकारका विवाद करने लगे। उन निष्पाप महर्षियोंको विशेष अधीर हुआ देखकर शंकरने उनपर कृपाकर करोड़ों मूर्त्तियाँ धारण कर लीं ॥ ३५—३८ ॥

ततस्ते मुनयः प्रीताः सर्व एव महेश्वरम्।
सम्पूजयन्तस्तस्थुर्वै तीर्थं कृत्वा पृथक् पृथक्। इत्येवं रुद्रकोटीति नाम्ना शम्भुरजायत ॥ ३९ ॥
तं ददर्श महातेजाः प्रह्लादो भक्तिमान् वशी।
कोटितीर्थे ततः स्नात्वा तर्पयित्वा वसून् पितॄन्। रुद्रकोटिं समभ्यर्च्य जगाम कुरुजाङ्गलम् ॥ ४० ॥
तत्र देववरं स्थाणुं शङ्करं पार्वतीप्रियम्। सरस्वतीजले मग्नं ददर्श सुरपूजितम् ॥ ४१ ॥
सारस्वतेऽम्भसि स्नात्वा स्थाणुं सम्पूज्य भक्तितः। स्नात्वा दशाश्वमेधे च सम्पूज्य च सुरान् पितॄन् ॥ ४२ ॥

उसके बाद वे सभी मुनि हर्षपूर्वक अलग-अलग तीर्थ बनाकर महेश्वरकी पूजा करते हुए निवास करने लगे। इस प्रकार शम्भुका नाम रुद्रकोटि हुआ। महातेजस्वी श्रद्धालु जितेन्द्रिय प्रह्लादने उनका दर्शन किया एवं कोटितीर्थमें स्नानकर वसुओं तथा पितरोंका तर्पण किया। उसके बाद रुद्रकोटिका अर्चनकर वे कुरुजाङ्गलमें चले गये। उन्होंने वहाँ सरस्वतीके जलमें निमग्न हुए देवताओंसे पूजित स्थाणु—पार्वतीपति भगवान् शंकरका दर्शन किया। सरस्वतीके जलमें स्नानकर उन्होंने श्रद्धापूर्वक स्थाणुकी पूजा की तथा दशाश्वमेधमें स्नानकर देवों एवं पितरोंका अर्चन किया ॥ ३९—४२ ॥

सहस्रलिङ्गं सम्पूज्य स्नात्वा कन्याह्रदे शुचिः। अभिवाद्य गुरुं शुक्रं सोमतीर्थं जगाम ह ॥ ४३ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्च्य च पितॄन् सोमं सम्पूज्य भक्तितः। क्षीरिकावासमभ्येत्य स्नानं चक्रे महायशाः ॥ ४४ ॥
प्रदक्षिणीकृत्य तरुं वरुणं चार्च्य बुद्धिमान्। भूयः कुरुध्वजं दृष्ट्वा पद्माख्यां नगरीं गतः ॥ ४५ ॥

तत्रार्च्य मित्रावरुणौ भास्करौ लोकपूजितौ। कुमारधारामभ्येत्य ददर्श स्वामिनं वशी ॥ ४६ ॥
स्नात्वा कपिलधारायां संतर्प्याचर्य पितॄन् सुरान्। दृष्ट्वा स्कन्दं समभ्यर्च्य नर्मदायां जगाम ह ॥ ४७ ॥
तस्यां स्नात्वा समभ्यर्च्य वासुदेवं श्रियः पतिम्। जगाम भूधरं द्रष्टुं वाराहं चक्रधारिणम् ॥ ४८ ॥

कन्याह्रदमें स्नान करनेके बाद पवित्र होकर उन्होंने सहस्रलिङ्गका अर्चन किया। इसके बाद (शुक्रतीर्थमें) गुरु शुक्राचार्यको प्रणामकर वे सोमतीर्थ चले गये। वहाँ स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक पितरों एवं सोमका अर्चन करके उन महायशस्वीने क्षीरिकावासमे जाकर स्नान किया। वहाँके वृक्षकी प्रदक्षिणाकर तथा वरुणकी पूजा करनेके पश्चात् बुद्धिमान् प्रह्लाद फिर कुरुध्वजका दर्शनकर पद्मा नामकी नगरीमें चले गये। वहाँ लोकपूजित तेजस्वी मित्रावरुणका पूजन करनेके बाद कुमारधारामें जाकर जितेन्द्रिय प्रह्लादने स्वामी कार्तिकेयका दर्शन किया। कपिलधारामे स्नान करके पितृतर्पण, देवपूजन एवं स्कन्दका दर्शन तथा अर्चन कर वे नर्मदाके निकट गये। उसमें स्नान करके लक्ष्मीपति वासुदेवकी अर्चना कर वे चक्र धारण करनेवाले भूधर वाराहदेवका दर्शन करने गये ॥ ४३—४८ ॥

स्नात्वा कोकामुखे तीर्थे सम्पूज्य धरणीधरम्। त्रिसौवर्णं महादेवमर्बुदेशं जगाम ह ॥ ४९ ॥
तत्र नारीह्रदे स्नात्वा पूजयित्वा च शङ्करम्। कालिञ्जरं समभ्येत्य नीलकण्ठं ददर्श सः ॥ ५० ॥
नीलतीर्थजले स्नात्वा पूजयित्वा ततः शिवम्। जगाम सागरानूपे प्रभासे द्रष्टुमीश्वरम् ॥ ५१ ॥
स्नात्वा च संगमे नद्याः सरस्वत्यार्णवस्य च। सोमेश्वरं लोकपतिं ददर्श स कपर्दिनम् ॥ ५२ ॥
यो दक्षशापनिर्दग्धः क्षयी ताराधिपः शशी। आप्यायितः शङ्करेण विष्णुना सकपर्दिना ॥ ५३ ॥

वे कोकामुख तीर्थमे स्नान और धरणीधरकी पूजा करके अर्बुदेशमें त्रिसौवर्ण महादेवके पास गये। वहाँ उन्होने नारीह्रदमे स्नान और शंकरकी अर्चना करनेके बाद कालिंजरमे आकर नीलकण्ठका दर्शन किया। नीलतीर्थके जलमें स्नान करनेके बाद शिवका पूजन कर वे समुद्रके तटपर प्रभासतीर्थमें भगवान्का दर्शन करने गये। वहाँ उन्होने सरस्वती नदी और सागरके संगममे स्नानकर लोकपति कपर्दी सोमेश्वरका दर्शन किया। कपर्दी शंकर एवं विष्णुने दक्षके शापसे दग्ध हुए एव क्षयरोगसे ग्रसित ताराधिप चन्द्रमाको पूर्ण किया था ॥ ४९—५३ ॥

तावर्च्य देवप्रवरौ प्रजगाम महालयम्। तत्र रुद्रं समभ्यर्च्य प्रजगामोत्तरान् कुरून् ॥ ५४ ॥
पद्मनाभं स तत्रार्च्य सप्तगोदावरं ययौ। तत्र स्नात्वाऽर्च्य विश्वेशं भीमं त्रैलोक्यवन्दितम् ॥ ५५ ॥
गत्वा दारुवने श्रीमान् लिङ्गं स ददर्श ह। तमर्च्य ब्राह्मणीं गत्वा स्नात्वाऽर्च्य त्रिदशेश्वरम् ॥ ५६ ॥
प्लक्षावतरणं गत्वा श्रीनिवासमपूजयत्। ततश्च कुण्डिनं गत्वा सम्पूज्य प्राणतृप्तिदम् ॥ ५७ ॥
शूर्पारके चतुर्बाहुं पूजयित्वा विधानतः। मागधारण्यमासाद्य ददर्श वसुधाधिपम् ॥ ५८ ॥
तमर्चयित्वा विश्वेशं स जगाम प्रजामुखम्। महातीर्थे ततः स्नात्वा वासुदेवं प्रणम्य च ॥ ५९ ॥
शोणं सम्प्राप्य सम्पूज्य रुक्मवर्माणमीश्वरम्। महाकोश्यां महादेवं हंसाख्यं भक्तिमानथ ॥ ६० ॥
पूजयित्वा जगामाथ सैन्धवारण्यमुत्तमम्।
तत्रेश्वरं सुनेत्राख्यं शङ्खशूलधरं गुरुम्। पूजयित्वा महाबाहुः प्रजगाम त्रिविष्टपम् ॥ ६१ ॥

उन दोनों श्रेष्ठ देवोंका पूजनकर वे महालय गये; वहाँ रुद्रका पूजन कर वे उत्तरकुरु गये। वहाँ पद्मनाभका अर्चन कर वे सप्तगोदावर-तीर्थमें गये। वहाँ स्नान करनेके बाद उन्होंने तीनों लोकोंसे वन्दित भीमविश्वेश्वरका पूजन किया। दारुवनमे जाकर श्रीमान् प्रह्लादने लिङ्गका दर्शन किया। उनकी पूजा करनेके पश्चात् ब्राह्मणी-(नदी-) में जाकर उन्होंने स्नान और त्रिदशेश्वर महादेवकी अर्चना की। उसके बाद प्लक्षावतरणमें जाकर

उन्होंने श्रीनिवासकी अर्चना की। फिर कुण्डिनमें जाकर प्राणोंके तृप्तिदाता देवका अर्चन किया। उन्होंने शूर्पारकमें चतुर्भुज देवकी भलीभाँति पूजा करनेके बाद मागधारण्यमें जाकर वसुधाधिपका दर्शन किया। उन विश्वेशका पूजन कर वे प्रजामुखमें गये। उसके बाद उन्होंने महातीर्थमें स्नानकर वासुदेवको प्रणाम किया। उन्होंने शोणतटपर जाकर स्वर्णकवच धारण करनेवाले ईश्वरका पूजन किया। उसके बाद श्रह्लाद-(प्रह्लाद-) ने महाकोशीमें हंस नामक महादेवका अर्चन किया एवं श्रेष्ठ सैन्धवारण्यमें जाकर शङ्ख तथा शूल धारण करनेवाले सुनेत्र नामक पूज्य ईश्वरका पूजन किया। उसके बाद वे महाबाहु त्रिविष्टप चले गये॥ ५४—६१॥

तत्र देवं महेशानं जटाधरमिति श्रुतम्। तं दृष्ट्वाऽर्च्य हरिं चासौ तीर्थं कनखलं ययौ॥ ६२॥
तत्रार्च्य भद्रकालीशं वीरभद्रं च दानवः। धनाधिपं च मेघाङ्कं ययावथ गिरिव्रजम्॥ ६३॥
तत्र देवं पशुपतिं लोकनाथं महेश्वरम्। सम्पूजयित्वा विधिवत्कामरूपं जगाम ह॥ ६४॥
शशिप्रभं देववरं त्रिनेत्रं सम्पूजयित्वा सह वै मृडान्या।
जगाम तीर्थप्रवरं महाख्यं तस्मिन् महादेवमपूजयत् सः॥ ६५॥

वहाँ जटाधर नामसे प्रसिद्ध महेशान देवका दर्शन और विष्णुकी पूजा कर वे कनखल तीर्थमें गये। दानव प्रह्लाद वहाँ भद्रकालीश और वीरभद्र तथा धनाधिप मेघाङ्ककी पूजा कर गिरिव्रज चले गये। वहाँ लोकनाथ महेश्वर पशुपति देवका विधिवत् अर्चन कर वे कामरूप चले गये। वहाँ चन्द्रकी कान्तिसे युक्त देवश्रेष्ठ त्रिनेत्र शंकरकी मृडानी-(पार्वती-)के साथ विधिवत् अर्चना कर प्रह्लाद श्रेष्ठ महाख्य तीर्थमें गये और वहाँपर (भी) उन्होंने महादेवकी अर्चना की॥ ६२—६५॥

ततस्त्रिकूटं गिरिमत्रिपुत्रं जगाम द्रष्टुं स हि चक्रपाणिनम्।
तमीड्य भक्त्या तु गजेन्द्रमोक्षणं जजाप जप्यं परमं पवित्रम्॥ ६६॥
तत्रोष्य दैत्येश्वरसूनुरादरान्मासत्रयं मूलफलाम्बुभक्षी।
निवेद्य विप्रप्रवरेषु काञ्चनं जगाम घोरं स हि दण्डकं वनम्॥ ६७॥
तत्र दिव्यं महाशाखं वनस्पतिवपुर्धरम्। ददर्श पुण्डरीकाक्षं महाश्वापदवारणम्॥ ६८॥
तस्याधस्तात् त्रिरात्रं स महाभागवतोऽसुरः। स्थितः स्थण्डिलशायी तु पठन् सारस्वतं स्तवम्॥ ६९॥

उसके बाद वे अत्रिपुत्र चक्रपाणि विष्णुका दर्शन करनेके लिये त्रिकूट पर्वतपर चले गये और श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा कर उन्होंने परम पवित्र जपनेयोग्य गजेन्द्र-मोक्षणस्तवका पाठ किया। मूल, फल एवं जलका भक्षण करते हुए दैत्येश्वर-पुत्र प्रह्लादने वहाँ तीन मासतक श्रद्धापूर्वक निवास किया। उसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुवर्ण दान कर वे घोर दण्डकवन चले गये। वहाँ उन्होने महान् हिंस्र पशुओंके निवारक, महान् शाखाओंसे युक्त वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पुण्डरीकाक्षका दर्शन किया। सारस्वतस्तोत्रका पाठ करते हुए महान् विष्णुभक्त असुर प्रह्लादने तीन रातोंतक उसके नीचे विना विस्तरके चबूतरेपर शयन किया॥ ६६—६९॥

तस्मात् तीर्थवरं विद्वान् सर्वपापप्रमोचनम्। जगाम दानवो द्रष्टुं सर्वपापहरं हरिम्॥ ७०॥
तस्याग्रतो जजापासौ स्तवौ पापप्रणाशनौ। यौ पुरा भगवान् प्राह क्रोडरूपी जनार्दनः॥ ७१॥
तस्मादथागाद् दैत्येन्द्रः शालग्रामं महाफलम्। यत्र संनिहितो विष्णुश्चरेषु स्थावरेषु च॥ ७२॥
तत्र सर्वगतं विष्णुं मत्वा चक्रे रतिं बली। पूजयन् भगवत्पादौ महाभागवतो मुने॥ ७३॥
इयं तवोक्ता मुनिसंघजुष्टा प्रह्लादतीर्थानुगतिः सुपुण्या।
यत्कीर्तनाच्छ्रवणात् स्पर्शनाच्च विमुक्तपापा मनुजा भवन्ति॥ ७४॥

इति श्रीवामनपुराणे त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८३॥

विद्वान् दानव (प्रह्लादजी) वहाँसे सर्वपापहारी हरिका दर्शन करनेके लिये सर्वपापनाशक श्रेष्ठ तीर्थमें चले गये। उन्होंने उनके सामने प्राचीन कालमें क्रोडरूपी जनार्दनसे कथित पापनाश करनेवाले दो स्तोत्रोंका पाठ किया। उसके बाद वे वहाँसे दैत्येन्द्र (प्रह्लाद) महाफलदायक शालग्रामतीर्थमें गये। वहाँ विष्णु समस्त चर और स्थावर पदार्थोंमें विराजमान हैं। [पुलस्त्यजी कहते हैं—] मुने! वहाँ महान् विष्णुभक्त बलवान् प्रह्लाद विष्णुको सर्वव्यापी जानकर भगवान्‌के चरणोंकी पूजा करते हुए उन- (की भक्ति-) में परायण हो गये। मैंने तुमसे मुनियोंके समूहोंसे सेवित अत्यन्त पवित्र प्रह्लादकी तीर्थयात्राका वर्णन कर दिया जिसके कीर्तन, श्रवण एवं स्पर्शसे मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं ॥ ७०–७४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

[शेष अध्याय अगले अङ्कमें*]

भगवान् वामनसे श्रेयःकामना

येनेन्द्रसन्त्रासविनाशहेतवे स्वमायया वामनविग्रहो धृतः।
त्रिविक्रमत्वेन बलिं बबन्ध यः स माधवः शं वितरत्वहर्निशम् ॥

जिन्होंने देवराज इन्द्रके (दैत्योंसे पराजय-रूप) कष्टकी निवृत्तिके लिये अपनी मायासे वामन-(वटु-)का शरीर धारण कर लिया, विराट्वपु त्रिविक्रम बनकर तीन पगोंसे सम्पूर्ण त्रिलोकीको नापते हुए जिन्होंने दैत्यराज बलिको बाँध लिया (अर्थात् उसे अनुग्रहपूर्वक ऐश्वर्य-रहित कर दिया) ऐसे वे लक्ष्मीपति भगवान् (वामन) श्रीहरि अहर्निश (हम सबका) कल्याण करें।

—श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय'

नम्र निवेदन और क्षमा-याचना

भगवान् वामनका लघु पूजनरूप यह विशेषाङ्क 'कल्याण'के पाठकोंके करकमलोंमें सादर समर्पित है। इसकी अच्छाइयाँ भगवत्कृपाकी प्रसाद-स्वरूपा हैं और त्रुटियाँ हमारी अल्पज्ञता—अज्ञताकी स्वाभाविक अनिवार्यता। अतः हमारी त्रुटियाँ पाठकोंके समक्ष इस दृष्टिसे क्षम्य होंगी और इस पुराणके उपयोगी, उपादेय वस्तुविषय सर्वथा रुचिप्रद, पठनीय, मननीय एवं अनुपालनीय होकर कल्याणकारी होंगे—यही हमारी आशा और आशंसा है।

भगवान् व्यासदेवकी कल्याणकारिणी लेखनीने पुराणोंको प्रस्तुत कर विश्वका—विशेषतः साधारण जनवर्गका, जो तत्त्वविमर्शी क्लिष्ट शास्त्रोंकी दुरूहता और प्रगल्भताको सरलतया आत्मसात् नहीं कर सकते, उनका—महान् कल्याण किया है। पुराण-विद्या सर्वसुलभ, सबके लिये सुगम है और पुराण हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृतिके प्रकाश-स्तम्भ हैं, जिनसे हमारे जीवनके कल्याण-पक्ष प्रकाशित एवं निर्देशित हैं। पुराणोंमें हमारी संस्कृतिके मूर्तरूप तीर्थ, व्रत, पुरावृत्त, देवी-देवताओं, सृष्टिक्रम (सर्ग-प्रतिसर्ग) राजवंशों, मन्वन्तरों आदिका सुनिपुण वर्णन तो मिलता ही है, नीति और धर्मके प्रशस्त विवेचन भी सोदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। पुराण वेदार्थके उपबृंहण हैं, ज्ञान-विज्ञानकी सांस्कृतिक सम्पत्ति हैं। यदि हम पुराण-प्रदर्शित पथसे चलें, उनकी शिक्षा और

* इस जनवरी-(१९८२) के विशेषाङ्कमें स्थानाभावसे हम पूरा वामनपुराण न दे सके, अतः अगले अङ्कमें इसे पूरा कर रहे हैं।

—सम्पादक

उपदेशोंका अनुपालन करें तो हमारा मङ्गलमय लोक और कल्याणमय परलोक—उभय साथ-साथ सिद्ध होते चले जायँ । आज जगद्गुरु भारतके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है ।

वामनपुराण अष्टादशपुराणोंकी शृङ्खलामें चौदहवीं कड़ीके रूपमें परिगणित है । इसमें भगवान् त्रिविक्रम-(वामन-) का माहात्म्य प्रमुखतया वर्णित है । इस पुराणमें मुख्यतः वामन-बलिके चरित्रके अतिरिक्त शिव-पार्वती एवं नर-नारायणकी कथा, विष्णु-शिव-संवाद, देवीमाहात्म्य, पृथूदक तीर्थ, कुरुजाङ्गल क्षेत्रादि तथा अनेक अन्य तीर्थों और मूर्तियोंका सुविशद वर्णन है । कई महत्त्वके स्तोत्र (सरस्वतीस्तोत्र, पापप्रशमनस्तोत्र, गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र प्रभृति) एवं प्रह्लाद, श्रीदामा आदिके चरित्र वर्णित हैं । व्रतोंके वर्णन और माहात्म्य भी सुन्दरतासे निरूपित हैं । कर्क-चतुर्थीकथा, कायञ्ज्वलीव्रतकथा, गङ्गामानसिक स्नान, गङ्गामाहात्म्य, दधिवामनस्तोत्र, वाराहमाहात्म्य, वेङ्कट-गिरिमाहात्म्य आदि इसीके अन्तर्गत माने जाते हैं । थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि यह पुराण नितान्त उपयोगी अतएव सर्वथा उपादेय है । हिन्दी-अनुवादसहित यह पुराण ८३ वें अध्यायतक 'कल्याण'के छप्पनवें वर्षके प्रथम एवं विशेष अङ्कके रूपमें हम ग्राहकोंको भेंट कर रहे हैं । (शेष दूसरे (फरवरीके) अङ्कमें देकर उपलब्ध पुराणको पूर्ण किया जा रहा है ।)

यह पुराण वैष्णवपुराण तो है ही, शिव-पार्वतीके विशद चरित्र-वर्णन होनेसे शैव भी है । विष्णु और शिवके ऐक्यका अनूठा प्रतिपादन इस पुराणकी अद्वितीय विशेषता है ।

जिन श्रद्धेय सन्त-महात्माओं, पूज्य आचार्यों, मनीषी लेखकोंने शुभाशंसाएँ, शुभाशीर्वाद एवं रचनाएँ भेजकर हमें अनुगृहीत किया है, उनका चिरऋण हमारे ऊपर है और उनके प्रतिदानमें हम उनसे प्रणिपातपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं । वे सहज कृपालुता-वश हमें अनुगृहीत करते रहेंगे—ऐसी आशा है ।

विशेषाङ्कके परिसीमित कलेवरमें स्थानाभावसे हम जिनके लेखादि न दे सके हैं, वे हमारी उस विवशताको देखते हुए क्षमा करेंगे जिससे हम बाध्य होकर प्रकृत जनवरीके अङ्कमें पूर्ण श्रीवामनपुराण ही न दे सके हैं और अगले अङ्कमें शेषांश देकर इसे पूरा करनेके लिये विवश हुए हैं ।

वामनपुराणके अनुवाद करनेमें जिन प्रतियोंसे हमें यथास्थान सहायता मिली है उनके सहृदय प्रकाशकों एवं संस्थानोंके हम कृतज्ञ हैं और उनका हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं । पाठ-निर्द्धारणादि कार्यमें हमें सर्वभारतीय काशिराजन्यासकी प्रतियोंसे और वेंकटेश्वर प्रेससे प्रकाशित सटीक एवं मूल प्रतियोंसे उल्लेख्य सहायताएँ मिली हैं । हम इन दोनों संस्थानोंके विशेष आभारी हैं ।

सम्पादन-कार्यमें जिन विद्वद्वरों और कर्मचारियोंने मनोयोगसे हमारी सहायता की है, उन्हें हम धन्यवाद देते हैं । प्रूफ पढ़नेवाले एवं अन्य कर्मचारियोंने भी अपने कर्तव्यके प्रति तत्परता तथा कर्तव्यशीलता दिखलायी है । वे प्रशंसाके पात्र हैं ।

कल्याणका कार्य भगवान्‌का कार्य है और 'श्रीवामनपुराणाङ्क' तो साक्षात् भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति ही है । इस मूर्तिकी अर्चा-पूजामें जिनका सहयोग है, वे सुतरां कल्याणके भागी हैं, उनकी कर्तव्य-निष्ठा मङ्गलमयी हो—यही हमारी उन प्रभुसे प्रार्थना है ।

—मोतीलाल जालान
(सम्पादक)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः
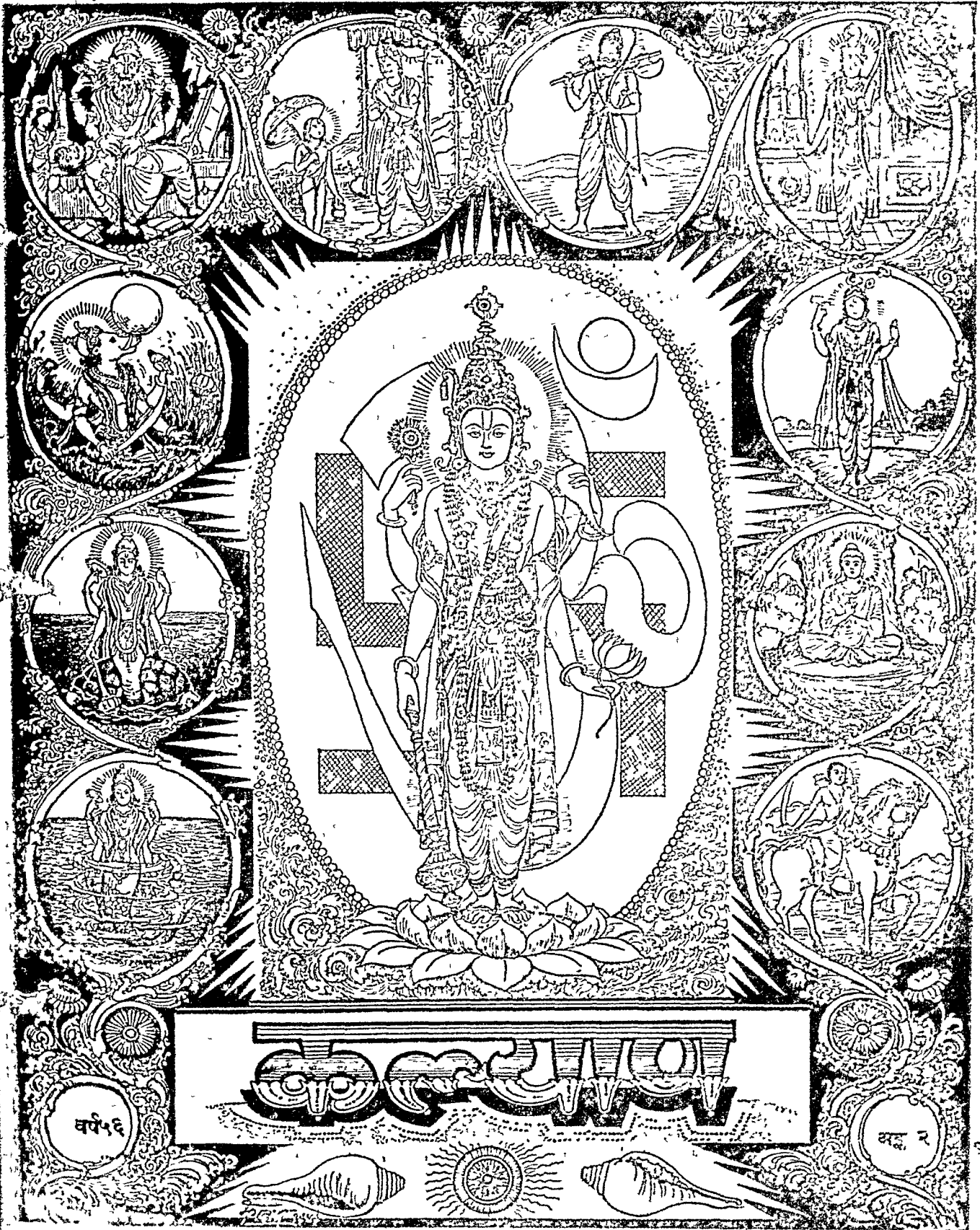
केशव धृतदशविधरूप जय जगदीश हरे ॥

भगवान् वामनका स्तवन

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोधव्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मीर्द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात् त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । १७ । ८-१०)

अदितिने कहा—आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं। अच्युत! आपके चरणकमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं; आपके यश-कीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है। आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। आदिपुरुष! जो आपकी शरणमें आ जाता है, आप उसकी सारी विपत्तियोंका नाश कर देते हैं। भगवन्! आप दीनोंके स्वामी हैं। आप हमारा कल्याण कीजिये। आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं। अनन्त होनेपर भी स्वच्छन्दतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं। आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्धकारको नष्ट करते रहते हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करती हूँ। प्रभो! अनन्त! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, योगकी सम्पूर्ण सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और अद्वितीय ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है; फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है।

Free of charge] संस्करण [illegible] [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारतसरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]
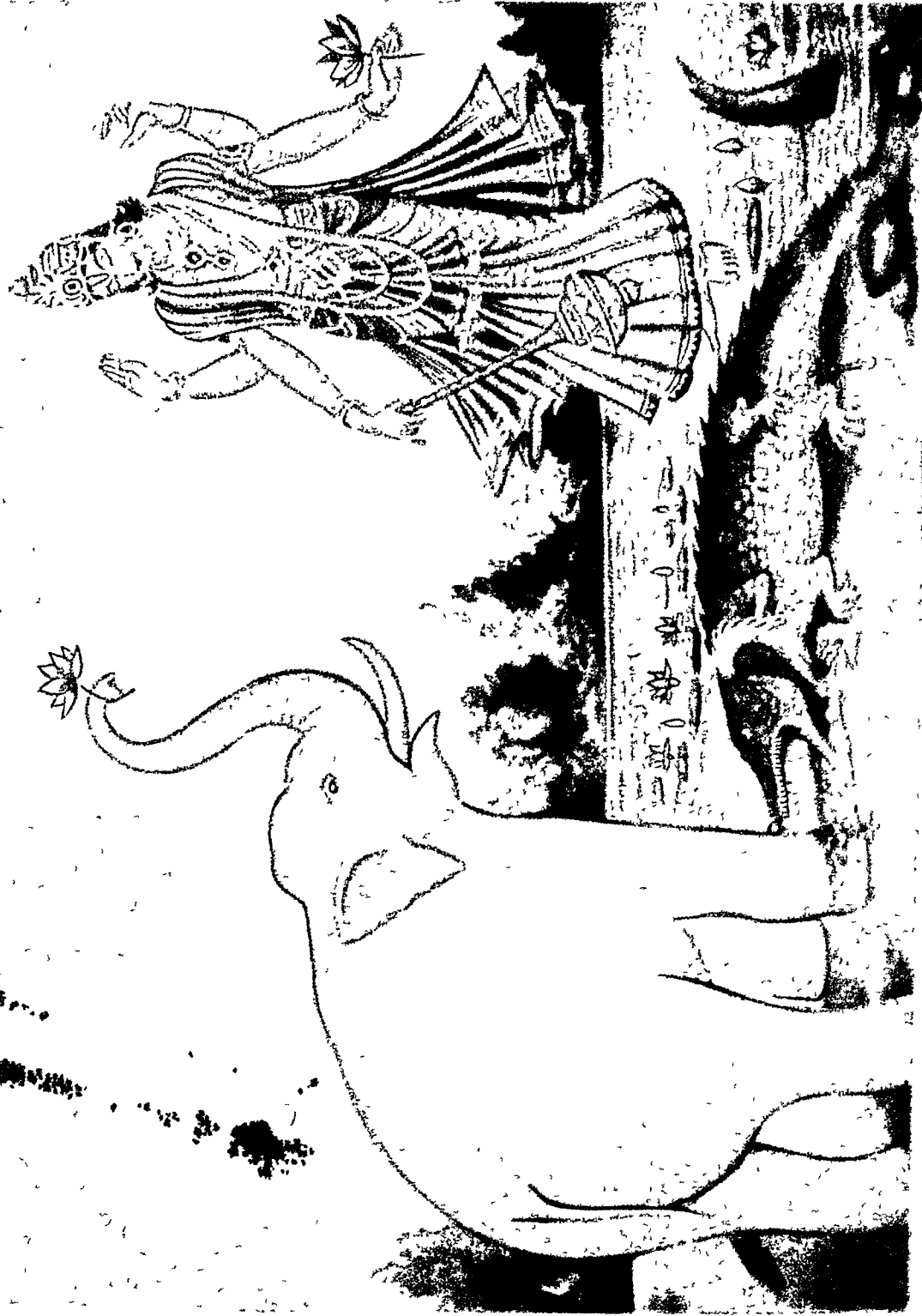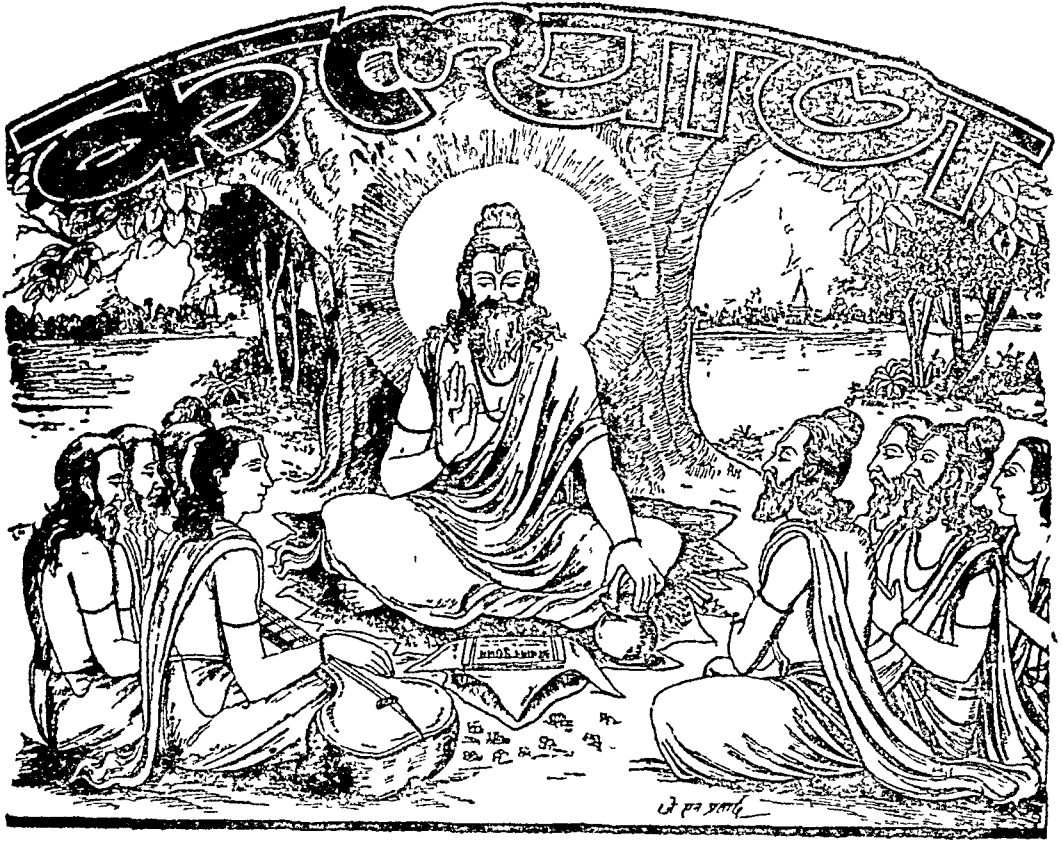
शरणागत गजेन्द्रकी पाशोसे मुक्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥
(श्रीवा० पु० ९३ । ७१)

वर्ष ५६ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, फरवरी १९८२ ई० { संख्या २ पूर्ण संख्या ६६३

गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ३ । ३२)

सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था । जब उसने देखा कि आकाशमे गरुड़पर सवार होकर हाथमे चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ गये है, तब अपनी सूँड़मे कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है ।

[अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

यान् जप्यान् भगवद्भक्त्या प्रह्लादो दानवोऽजपत्। गजेन्द्रमोक्षणादींस्तु चतुरस्तान् वदस्व मे ॥ १ ॥

चौरासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादके तीर्थयात्रा-प्रसङ्गमें त्रिकूटगिरिस्थित सरोवरमें ग्राहद्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना, गजेन्द्रद्वारा विष्णुकी स्तुति, गज-ग्राहका उद्धार एवं 'गजेन्द्रमोक्षणस्तोत्र'की फलश्रुति)

नारदजीने कहा—दनुवंशमें उत्पन्न हुए प्रह्लादने भगवान्‌की भक्तिसे भावित होकर जप (पाठ) करनेयोग्य गजेन्द्रमोक्षणादि जिन चार स्तोत्रोंका जप किया था उन चारों स्तोत्रोंको आप मुझे बतलावें ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि जप्यानेतांस्तपोधन। दुःस्वप्ननाशो भवति यैरुक्तैः संश्रुतैः स्मृतैः ॥ २ ॥
गजेन्द्रमोक्षणं त्वादौ शृणुष्व तदनन्तरम्। सारस्वतं ततः पुण्यौ पापप्रशमनौ स्तवौ ॥ ३ ॥
सर्वरत्नमयः श्रीमांस्त्रिकूटो नाम पर्वतः। सुतः पर्वतराजस्य सुमेरोर्भास्करद्युतेः ॥ ४ ॥
क्षीरोदजलवीच्यग्रैर्धौतामलशिलातलः। उत्थितः सागरं भित्त्वा देवर्षिगणसेवितः ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन ! मै उन (जप करनेयोग्य) स्तोत्रोंका वर्णन करता हूँ जिनके कहने, सुनने और स्मरण करनेसे दुःस्वप्नोका विनाश होता है उसे आप सुनें। पहले गजेन्द्रमोक्षण-स्तोत्र सुनिये। उसके बाद सारस्वतस्तोत्र एवं उसके बाद पापोंके प्रशमन करनेवाले (दो पवित्र) स्तोत्रोंका वर्णन करूँगा। सूर्यके सदृश कान्तिवाले पर्वतराज सुमेरुका पुत्र सर्वरत्नोसे भरा श्रीसे सम्पन्न त्रिकूट नामका एक पर्वत है। क्षीरसागरके जलकी लहरोंसे धुले हुए निर्मल शिलातलवाला वह पर्वत समुद्रका भेदन कर उसके ऊपर निकल आया है एवं देवता और ऋषिगण वहाँ सदा निवास करते हैं ॥ २—५ ॥

अप्सरोभिः परिवृतः श्रीमान् प्रस्रवणाकुलः। गन्धर्वैः किन्नरैर्यक्षैः सिद्धचारणपन्नगैः ॥ ६ ॥
विद्याधरैः सपत्नीकैः संयतैश्च तपस्विभिः। वृकद्वीपिगजेन्द्रैश्च वृतगात्रो विराजते ॥ ७ ॥
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च बिल्वामलकपाटलैः। चूतनीपकदम्बैश्च चन्दनागुरुचम्पकैः ॥ ८ ॥
शालैस्तालैस्तमालैश्च सरलार्जुनपर्पटैः। तथान्यैर्विविधैर्वृक्षैः सर्वतः समलङ्कृतः ॥ ९ ॥

अप्सराओंसे घिरा, झरते हुए झरनोंवाला, गन्धर्वों, किन्नरों, यक्षों, सिद्धों, चारणो, पन्नगों, पत्नीके साथ विद्याधरों, संयमका पालन करनेवाले तपस्वियों और भेड़ियों, चीतों एवं गजेन्द्रोंसे भरा-पूरा वह शोभाशाली पर्वत अत्यन्त सुशोभित है। पुंनाग, कर्णिकार, बिल्व, आमलक, पाटल, आम्र, नीप, कदम्ब, चन्दन, अगुरु, चम्पक, शाल, ताल, तमाल, सरल, अर्जुन, पर्पट तथा दूसरे बहुत प्रकारके वृक्षोसे वह पर्वत सब तरहसे सुशोभित है ॥ ६—९ ॥

नानाधात्वङ्कितैः शृङ्गैः प्रस्रवद्भिः समन्ततः। शोभितो रुचिरप्रख्यैस्त्रिभिर्विस्तीर्णसानुभिः ॥ १० ॥
मृगैः शाखामृगैः सिंहैर्मातङ्गैश्च सदामदैः। जीवंजीवकसंघुष्टैश्चकोरशिखिनादितैः ॥ ११ ॥
तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः। नानापुष्पसमाकीर्णं नानागन्धाधिवासितम् ॥ १२ ॥
द्वितीयं राजतं शृङ्गं सेवते यं निशाकरः। पाण्डुराम्बुदसंकाशं तुषारचयसंनिभम् ॥ १३ ॥

वह पर्वत भाँति-भाँतिकी धातुओंसे चमकती चोटियों, चारों ओरसे बहनेवाले झरनों और अत्यन्त मनोहर तथा सुदूर देशमें फैले हुए तीन शिखरोंसे शोभित है। वह पर्वत हरिण, बन्दर, सिंह, मदसे मतवाले हाथी,

*

चातक, चकोर एवं मोर आदिके शब्दोंसे सदा शब्दायमान होता रहता है। कई प्रकारके फूलोंसे भरे-पूरे एवं तरह-तरहकी सुगन्धोंसे सुवासित उसके एक सुनहले शिखरका सेवन सूर्य करते हैं। सफेद बादलोंकी तरह एवं बर्फके ढेरके समान चाँदी-जैसी उसकी दूसरी चोटीका सेवन चन्द्रमा करते हैं॥ १०—१३॥

वज्रेन्द्रनीलवैडूर्यतेजोभिर्भासयन् दिशः। तृतीयं ब्रह्मसदनं प्रकृष्टं शृङ्गमुत्तमम्॥ १४॥
न तत् कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः। नातप्ततपसो लोके ये च पापकृतो जनाः॥ १५॥
तस्य सानुमतः पृष्ठे सरः काञ्चनपङ्कजम्। कारण्डवसमाकीर्णं राजहंसोपशोभितम्॥ १६॥
कुमुदोत्पलकह्लारैः पुण्डरीकैश्च मण्डितम्। कमलैः शतपत्रैश्च काञ्चनैः समलङ्कृतम्॥ १७॥
पत्रैर्मरकतप्रख्यैः पुष्पैः काञ्चनसंनिभैः। गुल्मैः कीचकवेणूनां समन्तात् परिवेष्टितम्॥ १८॥

हीरा, इन्द्रनील, वैडूर्य आदि रत्नोंकी चमकसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला उसका अत्यन्त उत्तम तीसरा शिखर ब्रह्माका निवास-स्थान है। कृतघ्न, क्रूर, नास्तिक, तपस्यासे हीन एवं लोकमें पापकर्म करनेवाले मनुष्य उसे नहीं देख सकते। उस पर्वतके पीछेकी ओर कमलोंसे युक्त, कारण्डव पक्षियोंसे भरे, राजहंसोंसे सुशोभित, कुमुद, उत्पल, कह्लार, पुण्डरीक आदि अनेक प्रकारके सुनहले कमलोंसे अलङ्कृत एवं सुनहले शतपत्रोंवाले तथा अन्य प्रकारके कमलोंसे (और भी) सुशोभित एवं मरकतके सदृश पत्तों तथा सोनेके समान पुष्पों और हवासे चूँ-चूँ शब्द करनेवाले बाँसके झाड़ोंसे चारों ओरसे घिरा एक सरोवर है॥ १४—१८॥

तस्मिन् सरसि दुष्टात्मा विरूपोऽन्तर्जलेशयः। आसीद् ग्राहो गजेन्द्राणां रिपुराकेकरेक्षणः॥ १९॥
अथ दन्तोज्ज्वलमुखः कदाचिद् गजयूथपः। मदस्रावी जलाकाङ्क्षी पादचारीव पर्वतः॥ २०॥
वासयन्मदगन्धेन गिरिमैरावतोपमः। गजो ह्यञ्जनसंकाशो मदाच्चलितलोचनः॥ २१॥
तृषितः पातुकामोऽसौ अवतीर्णश्च तज्जलम्। सलीलः पङ्कजवने यूथमध्यगतश्चरन्॥ २२॥
गृहीतस्तेन रौद्रेण ग्राहेणाव्यक्तमूर्तिना। पश्यन्तीनां करेणूनां क्रोशन्तीनां च दारुणम्॥ २३॥
ह्रियते पङ्कजवने ग्राहेणातिबलीयसा। वारुणैः संयतः पाशैर्निष्प्रयत्नगतिः कृतः॥ २४॥

उस सरोवरके जलमें हाथियोंका शत्रु दुष्ट स्वभावका आधी खुली आँखोंवाला कुरूप एक मगर रहता था। एक समय उज्ज्वल दाँतोंवाला, मदस्रावी, पैरसे चलनेवाले पर्वतके समान, मदके गन्धसे वासित ऐरावतके सदृश अञ्जनकी भाँति काला, मदके कारण चञ्चल नेत्रोंवाला, प्यासा एक गजयूथपति पानी पीनेकी इच्छासे उस सरोवरके जलमें पैठा और कमलोंके समूहमें अपने झुंडके बीचमें रहकर क्रीडा करने लगा। (जलके भीतर) अपने शरीरको छिपाये हुए एक भयंकर ग्राहने उसे पकड़ लिया। करुण स्वरसे चिग्घाड़ कर रही हथिनियोंके देखते-ही-देखते अत्यन्त बलवान् ग्राह उसे कमलोंसे संकुल जलमें खींच ले गया और वरुणके पाशोंसे बाँधकर उसे चेष्टारहित एवं गतिहीन (विवश) कर दिया॥ १९—२४॥

वेष्ट्यमानः सुघोरैस्तु पाशैर्नागो दृढैस्तथा। विस्फूर्य च यथाशक्ति विक्रोशंश्च महारवान्॥ २५॥
व्यथितः स निरुत्साहो गृहीतो घोरकर्मणा। परमापदमापन्नो मनसाऽचिन्तयद्धरिम्॥ २६॥
स तु नागवरः श्रीमान् नारायणपरायणः। तमेव शरणं देवं गतः सर्वात्मना तदा॥ २७॥
एकात्मा निगृहीतात्मा विशुद्धेनान्तरात्मना। जन्मजन्मान्तराभ्यासाद् भक्तिमान् गरुडध्वजे॥ २८॥
नान्यं देवं महादेवात् पूजयामास केशवात्। मथितामृतफेनाभं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ २९॥
सहस्रशुभनामानमादिदेवमजं विभुम्।
प्रगृह्य पुष्कराग्रेण काञ्चनं कमलोत्तमम्। आपद्विमोक्षमन्विच्छन् गजः स्तोत्रमुदीरयत्॥ ३०॥

वहाँ सुदृढ और भयङ्कर पाशोंसे आबद्ध हो जानेके कारण गजराज यथाशक्ति छटपटाकर ऊँचे स्वरसे चिग्घाड़ने लगा। क्रूर कर्मवाले-(उस ग्राह-)के द्वारा पकड़े जानेपर वह पीड़ित और उत्साहरहित हो गया। भारी विपत्तिमें पड़कर वह मनसे भगवान् श्रीहरिका ध्यान करने लगा। वह सुन्दर गजराज (पूर्वजन्मका) नारायणका भक्त था। इसलिये वह उस समय सर्वतोभावेन उन्हीं देवकी शरणमें प्रपन्न हो गया। वह गजराज जन्म-जन्मान्तर-के अभ्याससे एकाग्र एवं संयतचित्त होकर विशुद्ध अन्तःकरणसे गरुडध्वज भगवान् विष्णुकी भक्तिमें लग गया था। उसने महान् देव केशव (श्रीविष्णु)के सिवा अन्य देवताओंकी पूजा नहीं की। उस गजने मथे हुए अमृतके फेनके समान कान्तिवाले, शङ्ख तथा चक्र और गदाको धारण करनेवाले, सहस्रों शुभ नामोंवाले, आदिदेव एवं अजन्मा सर्वव्यापक विष्णु-(नारायण-) का ध्यान किया और अपने शुण्डके अग्रभागमें एक उत्तम स्वर्ण-कमल लेकर (इस) आपत्तिसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे इस स्तोत्रका पाठ करने लगा॥ २५—३०॥

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो मूलप्रकृतये अजिताय महात्मने। अनाश्रिताय देवाय निःस्पृहाय नमोऽस्तु ते॥ ३१॥
नम आद्याय बीजाय आर्षेयाय प्रवर्तिने। अनन्तराय चैकाय अव्यक्ताय नमो नमः॥ ३२॥
नमो गुह्याय गूढाय गुणाय गुणवर्तिने। अतर्क्याप्रमेयाय अतुलाय नमो नमः॥ ३३॥
नमः शिवाय शान्ताय निश्चिन्ताय यशस्विने। सनातनाय पूर्वाय पुराणाय नमो नमः॥ ३४॥

गजेन्द्र बोला—ॐ मूलप्रकृतिस्वरूप महान् आत्मा अजित विष्णुभगवान्‌को नमस्कार है। अन्योंपर आश्रित न रहनेवाले एवं (किसी वस्तुकी प्राप्तिकी) इच्छासे रहित आप देवको नमस्कार है। आद्यबीजस्वरूप, ऋषियोंके आराध्यदेव संसारचक्रके प्रवर्तक आपको नमस्कार है। अन्तररहित—सर्वत्र व्याप्त एकमात्र अव्यक्तको पुनः-पुनः नमस्कार है। गुह्य, गूढ़, गुणस्वरूप एवं गुणोंमें रहनेवालेको नमस्कार है। तर्कसे अतीत, निर्णयात्मिका बुद्धिसे भी नहीं समझे जानेयोग्य, अतुलनीय (आप)को बार-बार नमस्कार है। प्रथम मङ्गलमय, शान्त, निश्चिन्त, यशस्वी, सनातन और पुराणपुरुषको बार-बार नमस्कार है॥ ३१—३४॥

नमो देवाधिदेवाय स्वभावाय नमो नमः। नमो जगत्प्रतिष्ठाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३५॥
नमोऽस्तु पद्मनाभाय नमो योगोद्भवाय च। विश्वेश्वराय देवाय शिवाय हरये नमः॥ ३६॥
नमोऽस्तु तस्मै देवाय निर्गुणाय गुणात्मने। नारायणाय विश्वाय देवानां परमात्मने॥ ३७॥
नमो नमः कारणवामनाय नारायणायामितविक्रमाय।
श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय॥ ३८॥

आप देवाधिदेवको नमस्कार है। स्वभावस्वरूपी आपको बार-बार नमस्कार है। जगत्‌की प्रतिष्ठा करनेवाले-(आप-) को नमस्कार है। गोविन्दको बार-बार नमस्कार है। पद्मनाभको नमस्कार है और योगसे उत्पन्न होनेवाले (आप) योगोद्भवको नमस्कार है। विश्वेश्वर, देव, शिव, हरिको नमस्कार है। निर्गुण और गुणात्मा उन (प्रसिद्ध) देवको नमस्कार है। विश्वात्मा, नारायण एवं देवोंके परम आत्मा-(आप-) को नमस्कार है। कारणवश वामनरूप धारण करनेवाले, अतुल विक्रमवाले नारायणको नमस्कार है। श्री, शार्ङ्ग, चक्र, तलवार एवं गदा धारण करनेवाले उन पुरुषोत्तमको नमस्कार है॥ ३५—३८॥

गुह्याय वेदनिलयाय महोदराय सिंहाय दैत्यनिधनाय चतुर्भुजाय।
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमुनिचारणसंस्तुताय देवोत्तमाय वरदाय नमोऽच्युताय॥ ३९॥
नागेन्द्रदेहशयनासनसुप्रियाय गोक्षीरहेमशुकनीलघनोपमाय।
पीताम्बराय मधुकैटभनाशनाय विश्वाय चारुमुकुटाय नमोऽजराय॥ ४०॥

नाभिप्रजातकमलस्थचतुर्मुखाय क्षीरोदकार्णवनिकेतयशोधराय ।
नानाविचित्रमुकुटाङ्गदभूषणाय सर्वेश्वराय वरदाय नमो वराय ॥ ४१ ॥
भक्तिप्रियाय वरदीप्तसुदर्शनाय फुल्लारविन्दविपुलायतलोचनाय ।
देवेन्द्रविघ्नशमनोद्यतपौरुषाय योगेश्वराय विरजाय नमो वराय ॥ ४२ ॥

गुह्य, वेदनिलय, महोदर, दैत्यके निधनके लिये सिंहरूप धारण करनेवाले, चार भुजाओंवाले, ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, मुनि तथा चारणोंके द्वारा स्तुत किये गये वरदानी देवोत्तम अच्युत भगवान्‌को नमस्कार है। शेषनागके शरीरपर प्रसन्नतापूर्वक शयन करनेवाले, गोदुग्ध, स्वर्ण, शुक एवं नीलघनकी उपमासे युक्त, पीला वस्त्र धारण करनेवाले, मधु-कैटभका विनाश करनेवाले, सुन्दर मुकुट धारण करनेवाले, वृद्धावस्थासे रहित, विश्वकी आत्मा आप देवको नमस्कार है। नाभिसे उत्पन्न हुए कमलपर स्थित ब्रह्मासे युक्त, क्षीरसमुद्रको अपना निवास बनानेवाले, यशस्वी, अनेक प्रकारके विचित्र मुकुट एवं अङ्गद आदि आभूषणोंसे युक्त, वरदानी तथा वरस्वरूप सर्वेश्वरको नमस्कार है। भक्तिके प्रेमी, श्रेष्ठ दीप्तिसे सर्वथा पूर्ण सुन्दर दिखलायी देनेवाले, खिले हुए कमलके समान विशाल आँखोंवाले, देवेन्द्रके विघ्नोंका विनाश करनेके लिये पुरुषार्थ करनेको उद्यत वरस्वरूप, विरज योगेश्वरको नमस्कार है ॥ ३९—४२ ॥

ब्रह्मायनाय त्रिदशायनाय लोकाधिनाथाय भवापनाय ।
नारायणायात्महितायनाय महावराहाय नमस्करोमि ॥ ४३ ॥
कूटस्थमव्यक्तमचिन्त्यरूपं नारायणं कारणमादिदेवम् ।
युगान्तशेषं पुरुषं पुराणं तं देवदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ४४ ॥
योगेश्वरं चारुविचित्रमौलिमज्ञेयमग्र्यं प्रकृतेः परस्थम् ।
क्षेत्रज्ञमात्मप्रभवं वरेण्यं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ४५ ॥
अदृश्यमव्यक्तमचिन्त्यमव्ययं महर्षयो ब्रह्ममयं सनातनम् ।
वदन्ति यं वै पुरुषं सनातनं तं देवगुह्यं शरणं प्रपद्ये ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा और अन्य देवोंके आधारस्वरूप, लोकाधिनाथ, भवहर्त्ता, नारायण आत्महितके आश्रयस्थान महावराहको नमस्कार करता हूँ। मैं कूटस्थ, अव्यक्त, अचिन्त्य रूपवाले, कारणस्वरूप, आदिदेव नारायण, युगान्तमें शेष रहनेवाले पुराणपुरुष, देवाधिदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं योगेश्वर, सुन्दर विचित्र रंगोंसे युक्त मुकुटको धारण करनेवाले, अज्ञेय, सर्वश्रेष्ठ, प्रकृतिके परे अवस्थित, क्षेत्रज्ञ, आत्मप्रभव, वरेण्य उन वासुदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। ब्रह्मर्षिजन जिन्हें अदृश्य, अव्यक्त, अचिन्तनीय, अव्यय, ब्रह्ममय और सनातन पुरुष कहते हैं, उन देवगुह्यकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४३—४६ ॥

यदक्षरं ब्रह्म वदन्ति सर्वगं निशम्य यं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।
तमीश्वरं तृप्तमनुत्तमैर्गुणैः परायणं विष्णुमुपैमि शाश्वतम् ॥ ४७ ॥
कार्यं क्रिया कारणमप्रमेयं हिरण्यबाहुं वरपद्मनाभम् ।
महाबलं वेदनिधिं सुरेशं व्रजामि विष्णुं शरणं जनार्दनम् ॥ ४८ ॥
किरीटकेयूरमहार्हनिष्कैर्मण्युत्तमालङ्कृतसर्वगात्रम् ।
पीताम्बरं काञ्चनभक्तिचित्रं मालाधरं केशवमभ्युपैमि ॥ ४९ ॥
भवोद्भवं वेदविदां वरिष्ठं योगात्मनां सांख्यविदां वरिष्ठम् ।
आदित्यरुद्राश्विवसुप्रभावं प्रभुं प्रपद्येऽच्युतमात्मवन्तम् ॥ ५० ॥

(ब्रह्मवेत्ता) जिसे अक्षर एवं सर्वव्यापी ब्रह्म कहते हैं तथा जिसके श्रवणसे मृत्युके मुखमें मुक्ति मिल जाती है, मैं उसी श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त, आत्मतृप्त, शाश्वत आश्रयस्वरूप ईश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं कार्य, क्रिया और कारणस्वरूप, प्रमाणसे अगम्य, हिरण्यबाहु, नाभिमें श्रेष्ठ कमल धारण करनेवाले, महाबलशाली, वेदोंकी निधि, सुरेश्वर जनार्दन विष्णुकी शरणमें जाता हूँ। मैं किरीट, केयूर एवं अतिमूल्यवान् श्रेष्ठ मणियोंसे सुसज्जित समस्त शरीरवाले, पीताम्बर धारण करनेवाले, स्वर्णिम पत्र-रचनासे अलङ्कृत, माला धारण करनेवाले केशवकी शरणमें जाता हूँ। मैं संसारको उत्पन्न करनेवाले, वेदके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, योगात्माओं तथा सांख्यशास्त्रके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ, आदित्य, रुद्र, अश्विनीकुमार एवं वसुओंके प्रभावसे युक्त अच्युत, आत्मस्वरूप प्रभुकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४७–५० ॥

श्रीवत्साङ्कं महादेवं देवगुह्यमनौपमम्। प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम् ॥ ५१ ॥
प्रभवं सर्वभूतानां निर्गुणं परमेश्वरम्। प्रपद्ये मुक्तसङ्गानां यतीनां परमां गतिम् ॥ ५२ ॥
भगवन्तं गुणाध्यक्षमक्षरं पुष्करेक्षणम्। शरण्यं शरणं भक्त्या प्रपद्ये भक्तवत्सलम् ॥ ५३ ॥
त्रिविक्रमं त्रिलोकेशं सर्वेषां प्रपितामहम्। योगात्मानं महात्मानं प्रपद्येऽहं जनार्दनम् ॥ ५४ ॥
आदिदेवमजं शम्भुं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्। नारायणमणीयांसं प्रपद्ये ब्राह्मणप्रियम् ॥ ५५ ॥

मै श्रीवत्स-चिह्न धारण करनेवाले, महान् देव, देवताओंमें गुह्य, उपमासे रहित, सूक्ष्म, अचल तथा अभय देनेवाले वरेण्य देवकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले, निर्गुण, निःसङ्ग, यम और नियमका पालन करनेवाले संन्यासियोंकी परम गतिस्वरूप परमेश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं गुणाध्यक्ष, अक्षर, कमलनयन, आश्रय ग्रहण करनेयोग्य, शरण देनेवाले, भक्तोंसे प्रेम रखनेवाले भगवान्‌की श्रद्धापूर्वक शरण ग्रहण करता हूँ। मैं तीन पगोंमें तीनों लोकोंको नाप लेनेवाले, तीनों लोकोंके ईश्वर, सभीके प्रपितामह, योगकी मूर्ति, महात्मा जनार्दनकी शरण ग्रहण करता हूँ। मै आदिदेव, अजन्मा, शम्भु, व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप, सनातन, परम सूक्ष्म, ब्राह्मणप्रिय नारायणकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ५१–५५ ॥

नमो वराय देवाय नमः सर्वसहाय च। प्रपद्ये देवदेवेशमणीयांसमणोः सदा ॥ ५६ ॥
एकाय लोकतत्त्वाय परतः परमात्मने। नमः सहस्रशिरसे अनन्ताय महात्मने ॥ ५७ ॥
त्वामेव परमं देवमृषयो वेदपारगाः। कीर्तयन्ति च यं सर्वे ब्रह्मादीनां परायणम् ॥ ५८ ॥
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष भक्तानामभयप्रद। सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु त्राहि मां शरणागतम् ॥ ५९ ॥

श्रेष्ठ देवको नमस्कार है। सर्वशक्तिमान्‌को नमस्कार है। मैं सदा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म देवदेवेशकी शरण हूँ। लोकतत्त्वस्वरूप, एकमात्र, परात्पर परमात्मा, सहस्रशीर्ष महात्मा अनन्तको नमस्कार है। वेदोंके पारगामी ऋषिगण आपको ही परम देव एवं ब्रह्मा आदि देवोंका आश्रयस्थान कहते हैं। हे पुण्डरीकाक्ष! हे भक्तोंको अभयदान देनेवाले! आपको नमस्कार है। सुब्रह्मण्य! आपको नमस्कार है। आप मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥५६–५९॥

पुलस्त्य उवाच

भक्तिं तस्यानुसंचिन्त्य नागस्यामोघसम्भवः। प्रीतिमानभवद् विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ६० ॥
सांनिध्यं कल्पयामास तस्मिन् सरसि केशवः। गरुडस्थो जगत्स्वामी लोकाधारस्तपोधनः ॥ ६१ ॥
ग्राहग्रस्तं गजेन्द्रं तं तं च ग्राहं जलाशयात्। उज्जहाराप्रमेयात्मा तरसा मधुसूदनः ॥ ६२ ॥

स्थलस्थं दारयामास ग्राहं चक्रेण माधवः। मोक्षयामास नागेन्द्रं पाशेभ्यः शरणागतम्॥ ६३॥
स हि देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः। ग्राहत्वमगमत् कृष्णाद् वधं प्राप्य दिवंगतः॥ ६४॥

पुलस्त्यजी बोले—शङ्ख, चक्र एवं गदाको धारण करनेवाले, सफलताके आश्रय विष्णु उस गजेन्द्रकी भक्तिका विचार कर प्रसन्न हो गये। उसके बाद संसारके आधार जगत्स्वामी तपोधन केशव गरुड़पर सवार हो उस सरोवरके निकट गये। अप्रमेय आत्मस्वरूप मधुसूदनने ग्राहके द्वारा पकडे गये उस गजेन्द्र तथा उस ग्राहको वेगपूर्वक सरोवरसे बाहर निकाला। माधवने पृथ्वीपर स्थित ग्राहको चक्रके द्वारा विदीर्ण कर शरणापन्न गजेन्द्रको बन्धनसे मुक्त कर दिया। देवलके शापसे ग्राह बना हुआ गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू भगवान् श्रीकृष्णसे मृत्यु पाकर स्वर्ग चला गया॥ ६०—६४॥

गजोऽपि विष्णुना स्पृष्टो जातो दिव्यवपुः पुमान्। आपद्विमुक्तौ युगपद् गजगन्धर्वसत्तमौ॥ ६५॥
प्रीतिमान् पुण्डरीकाक्षः शरणागतवत्सलः। अभवत् त्वथ देवेशस्ताभ्यां चैव प्रपूजितः॥ ६६॥
इदं च भगवान् योगी गजेन्द्रं शरणागतम्। प्रोवाच मुनिशार्दूल मधुरं मधुसूदनः॥ ६७॥

भगवान् विष्णुका स्पर्श होनेसे वह हाथी भी दिव्य शरीर धारण करनेवाला पुरुष हो गया। इस प्रकार हाथी एवं गन्धर्वश्रेष्ठ दोनों एक ही साथ संकटसे मुक्त हो गये। मुनिवर! उसके बाद उन दोनोंसे पूजित होकर शरणागतवत्सल पुण्डरीकाक्ष देवेश प्रसन्न हुए और उन योगी भगवान् मधुसूदनने शरणागत गजेन्द्रसे यह मधुर वचन कहा—॥ ६५—६७॥

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चैव ग्राहस्य च विदारणम्। गुल्मकीचकरेणूनां रूपं मेरोः सुतस्य च॥ ६८॥
अश्वत्थं भास्करं गङ्गां नैमिषारण्यमेव च। संस्मरिष्यन्ति मनुजाः प्रयताः स्थिरबुद्धयः॥ ६९॥
कीर्तयिष्यन्ति भक्त्या च श्रोष्यन्ति च शुचिव्रताः। दुःस्वप्नो नश्यते तेषां सुस्वप्नश्च भविष्यति॥ ७०॥
मात्स्यं कौर्मञ्च वाराहं वामनं तार्क्ष्यमेव च। नारसिंहं च नागेन्द्रं सृष्टिप्रलयकारकम्॥ ७१॥
एतानि प्रातरुत्थाय संस्मरिष्यन्ति ये नराः। सर्वपापैः प्रमुच्यन्ते पुण्यं लोकमवाप्नुयुः॥ ७२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—स्थिर बुद्धिसे पवित्र व्रत धारण करनेवाले जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक मेरा, तुम्हारा तथा इस सरोवरका एवं ग्राहके विदारण, गुल्म, कीचक, रेणु एवं मेरु पुत्रके रूप, पीपल, सूर्य, गङ्गा और नैमिषारण्यका श्रद्धापूर्वक स्मरण एवं कीर्तन तथा श्रवण करेंगे उनके दुःस्वप्नका विनाश हो जायगा एवं सुस्वप्नकी सृष्टि होगी। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, वामनावतार, गरुड़, नरसिंहावतार, गजेन्द्र और सृष्टि-प्रलय करनेवाले-(भगवान्-) का स्मरण करेंगे, वे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यलोकको प्राप्त करेंगे॥ ६८—७२॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशो गजेन्द्रं गरुडध्वजः। स्पर्शयामास हस्तेन गजं गन्धर्वमेव च॥ ७३॥
ततो दिव्यवपुर्भूत्वा गजेन्द्रो मधुसूदनम्। जगाम शरणं विप्र नारायणपरायणः॥ ७४॥
ततो नारायणः श्रीमान् मोक्षयित्वा गजोत्तमम्। पापबन्धाच्च शापाच्च ग्राहं चाद्भुतकर्मकृत्॥ ७५॥
ऋषिभिः स्तूयमानश्च देवगुह्यपरायणैः। गतः स भगवान् विष्णुर्दुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः॥ ७६॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) गजेन्द्रसे ऐसा कहकर गरुड़ध्वज हृषीकेशने हाथसे गजेन्द्र और गन्धर्व दोनोंका स्पर्श किया । हे विप्र ! उसके बाद नारायणकी आराधना करनेमें लीन गजेन्द्र दिव्य शरीर धारणकर मधुसूदनकी शरणमें चला गया । उसके बाद अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीमान् नारायणने गजोत्तम एवं ग्राहको पापबन्धसे एवं शापसे मुक्त किया । भगवद्भक्त ऋषियोंद्वारा स्तुत होते हुए वे अविज्ञेय गतिवाले प्रभु भगवान् विष्णु (अपने धाम) चले गये ॥ ७३–७६ ॥

गजेन्द्रमोक्षणं दृष्ट्वा देवाः शक्रपुरोगमाः । ववन्दिरे महात्मानं प्रभुं नारायणं हरिम् ॥ ७७ ॥
महर्षयश्चारणाश्च दृष्ट्वा गजविमोक्षणम् । विस्मयोत्फुल्लनयनाः संस्तुवन्ति जनार्दनम् ॥ ७८ ॥
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा चक्रपाणिविचेष्टितम् । गजेन्द्रमोक्षणं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७९ ॥
य इदं श्रृणुयान्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः । प्राप्नुयात् परमां सिद्धिं दुःस्वप्नस्तस्य नश्यति ॥ ८० ॥

गजेन्द्रके मोक्षको देखकर इन्द्र आदि देवोंने महात्मा प्रभु नारायण श्रीहरिकी वन्दना की । गजको ग्राहसे मुक्त हुए देखकर विस्मयसे खिले नेत्रोंवाले महर्षियों एवं चारणोंने जनार्दनकी स्तुति की । चक्रपाणिके गजेन्द्रमोक्षणरूपी कर्मको देखकर प्रजापति ब्रह्माने यह वचन कहा—जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन इसे सुनेगा, वह परमसिद्धिको प्राप्त करेगा और उसका दुःस्वप्न विनष्ट हो जायगा ॥ ७७–८० ॥

गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
कथितेन स्मृतेनाथ श्रुतेन च तपोधन । गजेन्द्रमोक्षणेनेह सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥ ८१ ॥
एतत्पवित्रं परमं सुपुण्यं संकीर्तनीयं चरितं मुरारेः ।
यस्मिन् किलोक्ते बहुपापबन्धनात् लभ्येत मोक्षो द्विरदेन यद्वत् ॥ ८२ ॥
अजं वरेण्यं वरपद्मनाभं नारायणं ब्रह्मनिधिं सुरेशम् ।
तं देवगुह्यं पुरुषं पुराणं वन्दाम्यहं लोकपतिं वरेण्यम् ॥ ८३ ॥

तपोधन ! गजेन्द्रमोक्ष पवित्र और सब प्रकारके पापोंका नाश करनेवाला है । इस गजेन्द्रमोक्षके कहने, स्मरण करने और सुननेसे मनुष्य तुरंत सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । मुरारि विष्णुका यह पवित्र चरित्र पुण्य प्रदान करनेवाला तथा कीर्तन करने योग्य है । इसे कहनेसे मनुष्य गजेन्द्रके समान अनेक पापोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है । मैं अज, वरेण्य, श्रेष्ठ, पद्मनाभ, नारायण, ब्रह्मनिधि, सुरेश, देवगुह्य, पुराणपुरुष उन लोक-स्वामीकी वन्दना करता हूँ ॥ ८१–८३ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतत् तवोक्तं प्रवरं स्तवानां स्तवं मुरारेर्वरनागकीर्तनम् ।
यं कीर्त्य संश्रुत्य तथा विचिन्त्य पापापनोदं पुरुषो लभेत ॥ ८४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—स्तुतियोंमें श्रेष्ठ गजेन्द्रद्वारा कीर्तित मुरारिके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको मैंने तुमसे कहा । इसके कीर्तन, श्रवण तथा चिन्तन करनेसे मनुष्य पापोंसे विमुक्ति पा जाता है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

[अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कश्चिदासीद् द्विजद्रोग्धा पिशुनः क्षत्रियाधमः। परपीडारुचिः क्षुद्रः स्वभावादपि निर्घृणः॥ १ ॥
पर्यासिताः सदा तेन पितृदेवद्विजातयः। स त्वायुषि परिक्षीणे जज्ञे घोरो निशाचरः॥ २ ॥
तेनैव कर्मदोषेण स्वेन पापकृतां वरः। क्रूरैश्चक्रे ततो वृत्तिं राक्षसत्वाद् विशेषतः॥ ३ ॥
तस्य पापरतस्यैवं जग्मुर्वर्षशतानि तु। तेनैव कर्मदोषेण नान्यां वृत्तिमरोचयत्॥ ४ ॥
यं यं पश्यति सत्त्वं स तं तमादाय राक्षसः। चखाद रौद्रकर्मासौ बाहुगोचरमागतम्॥ ५ ॥

पचासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सारस्वतस्तोत्रके संदर्भमें विष्णुपञ्जरस्तोत्र, सारस्वतस्तव-कथन-प्रसङ्गमें राक्षस-वृत्तान्त, राक्षसग्रस्त मुनिकी अग्नि-प्रार्थना, सारस्वतस्तोत्र और मुनिद्वारा राक्षसको उपदेश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) ब्राह्मणसे वैर और घृणा रखनेवाला, चुगलखोर, दूसरोंको कष्ट देनेवाला, नीच, स्वभावसे भी निर्दय एक अधम क्षत्रिय था। उसने सदा ही पितरों, देवों एवं द्विजातियोंका अपमान किया। आयु समाप्त होनेपर वह भयंकर राक्षस हुआ। अपने उसी कर्मके दोष एवं विशेषकर राक्षस होनेके कारण वह नीच पापी अशुभ कर्मोंद्वारा जीवनका निर्वाह करता रहा। पापकर्म करते हुए उसके सौ वर्ष बीत गये। उसी कर्म-दोषके कारण जीविकाके दूसरे साधनोंमें उसकी इच्छा नहीं होती थी। वह निन्दनीय कर्म करनेवाला राक्षस जिस प्राणीको देखता उसे अपनी भुजाओंसे पकड़कर खा जाता था॥ १—५॥

एवं तस्यातिदुष्टस्य कुर्वतः प्राणिनां वधम्। जगाम च महान् कालः परिणामं तथा वयः॥ ६ ॥
स कदाचित् तपस्यन्तं ददर्श सरितस्तटे। महाभागमूर्ध्वभुजं यथावत्संयतेन्द्रियम्॥ ७ ॥
अनया रक्षया ब्रह्मन् कृतरक्षं तपोनिधिम्। योगाचार्यं शुचिं दक्षं वासुदेवपरायणम्॥ ८ ॥
विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्री विष्णुर्दक्षिणतो गदी। प्रतीच्यां शार्ङ्गधृग्विष्णुर्विष्णुः खड्गी ममोत्तरे॥ ९ ॥
हृषीकेशो विकोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः। क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नारसिंहोऽम्बरे मम॥ १० ॥
क्षुरान्तममलं चक्रं भ्रमत्येतत् सुदर्शनम्। अस्यांशुमाला दुष्प्रेक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान्॥ ११ ॥

इस प्रकार प्राणियोंका संहार करते हुए उस अतिदुष्टका अधिक समय बीत गया और उसकी अवस्था ढलने लगी। किसी समय उसने नदी-तीरपर बाँह ऊपर उठाये एवं, भलीभाँति इन्द्रियोंपर संयत किये हुए महाभाग्यशाली ऋषिको तपस्या करते हुए देखा। ब्रह्मन्! तपोनिधि पवित्र दक्ष और वासुदेवकी आराधना करनेमें तत्पर उस योगाचार्यने अपनी रक्षा इस रक्षामन्त्रके द्वारा कर ली थी कि 'पूर्वदिशामें चक्र धारण करनेवाले विष्णु, दक्षिण दिशामें गदा धारण करनेवाले विष्णु, पश्चिम दिशामे शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले विष्णु और उत्तर दिशामे खड्ग धारण करनेवाले विष्णु मेरी रक्षा करें। दिशाओंके कोणों-(अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण, ईशानकोणो-)मे हृषीकेश, उन दिशाओं और कोणोंके मध्य अवशिष्ट स्थानोमे जनार्दन, भूमिमें वराह-रूप धारण करनेवाले हरि एवं आकाशमे नृसिंहभगवान् मेरी रक्षा करें। प्रेतो एवं निशाचरोंके संहारके लिये छुरेकी धारके समान अत्यन्त तीक्ष्ण यह निर्मल सुदर्शन चक्र घूम रहा है। इसकी किरणमालाका दर्शन होना प्रयत्न करनेपर भी सम्भव नहीं है॥ ६—११॥

गदा चेयं सहस्रार्चिरुद्वमन् पावको यथा। रक्षोभूतपिशाचानां डाकिनीनां च शातनी ॥ १२ ॥
शार्ङ्गं विस्फूर्जितं चैव वासुदेवस्य मद्रिपून्। तिर्यङ्मनुष्यकूष्माण्डप्रेतादीन् हन्त्वशेषतः ॥ १३ ॥
खड्गधारोज्ज्वलज्ज्योत्स्नानिर्धूता ये ममाहिताः। ते यान्तु सौम्यतां सद्यो गरुडेनेव पन्नगाः ॥ १४ ॥
ये कूष्माण्डास्तथा यक्षा दैत्या ये च निशाचराः। प्रेता विनायकाः क्रूरा मनुष्या जृम्भकाः खगाः ॥ १५ ॥
सिंहादयो ये पशवो दन्दशूकाश्च पन्नगाः। सर्वे भवन्तु मे सौम्या विष्णुचक्ररवाहताः ॥ १६ ॥

ज्वाला उगलनेवाली अग्निकी भाँति हजारों किरणोंसे युक्त यह गदा राक्षसों, भूतों, पिशाचों और डाकिनियोंका संहार करे। वासुदेवका चमकनेवाला शार्ङ्गधनुष मेरे साथ शत्रुका काम करनेवाले हिंसक पशु-पक्षियों, मनुष्यों, दानवों तथा प्रेतोंका जड़-मूलसे विनाश करे। जैसे गरुड़को देखकर साँप शान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार (विष्णुके) खड्गकी चमकती हुई तेज धारसे मेरा अहित करनेवाले निष्प्रभ होकर तत्काल शान्त हो जायँ। सारे कूष्माण्ड, यक्ष, दैत्य, निशाचर, प्रेत, विनायक, क्रूर मनुष्य, जृम्भक, पक्षी, सिंहादि पशु एवं तीव्र दाँतोंसे काट खानेवाले सर्प आदि—ये सभी विष्णुके चक्रकी तीव्र गतिसे घायल होकर मेरे प्रति सरल बन जायँ ॥ १२—१६ ॥

चित्तवृत्तिहरा ये च ये जनाः स्मृतिहारकाः। बलौजसां च हर्तारश्छायाविध्वंसकाश्च ये ॥ १७ ॥
ये चोपभोगहर्तारो ये च लक्षणनाशकाः। कूष्माण्डास्ते प्रणश्यन्तु विष्णुचक्ररवाहताः ॥ १८ ॥
बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा। ममास्तु देवदेवस्य वासुदेवस्य कीर्तनात् ॥ १९ ॥
पृष्ठे पुरस्तादथ दक्षिणोत्तरे विकोणतश्चास्तु जनार्दनो हरिः।
तमीड्यमीशानमनन्तमच्युतं जनार्दनं प्रणिपतितो न सीदति ॥ २० ॥

जो चित्तकी वृत्तियों—मानसिक आचार-व्यवहारोंका हरण करनेवाले, स्मृतिको हरण करनेवाले, बल और ओजको अपहरण करनेवाले, कान्तिका विध्वंस करनेवाले, सुखोंका विनाश करनेवाले तथा सुलक्षणोंके विनाशक हैं, वे सभी कूष्माण्डादि (भूत-प्रेत) विष्णुके चक्रकी तीव्र गतिसे घायल होकर नष्ट हो जायँ। देवदेव वासुदेवके कीर्तनसे मुझे बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंकी सबलता प्राप्त हो। जनार्दन हरि मेरे पीछे, आगे, दायें, बायें एवं दिशाओंके कोणों-(अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण, ईशानकोण-) में स्थित रहें। स्तुतियोग्य उन ईशान, अनन्त, अच्युत जनार्दनको साष्टाङ्ग प्रणिपात करनेवाला मनुष्य दुःखी नहीं होता ॥ १७–२० ॥

यथा परं ब्रह्म हरिस्तथा परं जगत्स्वरूपश्च स एव केशवः।
ऋतेन तेनाच्युतनामकीर्तनात्प्रणाशमेतु त्रिविधं ममाशुभम् ॥ २१ ॥
इत्यसावात्मरक्षार्थं कृत्वा वै विष्णुपञ्जरम्। संस्थितोऽसावपि बली राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ २२ ॥
ततो द्विजनियुक्तायां रक्षायां रजनीचरः। निर्धूतवेगः सहसा तस्थौ मासचतुष्टयम् ॥ २३ ॥
यावद् द्विजस्य देवर्षे समाप्तिर्वै समाधितः। जाते जप्यावसानेऽसौ तं ददर्श निशाचरम् ॥ २४ ॥
दीनं हतबलोत्साहं कान्दिशीकं हतौजसम्। तं दृष्ट्वा कृपयाविष्टः समाश्वास्य निशाचरम् ॥ २५ ॥
पप्रच्छागमने हेतुं स चाचष्ट यथातथम्। स्वभावमात्मनो दृष्ट्वा रक्षया तेजसः क्षितिम् ॥ २६ ॥
कथयित्वा च तद्रक्षः कारणं विविधं ततः। प्रसीदेत्यब्रवीद् विप्रं निर्विण्णः स्वेन कर्मणा ॥ २७ ॥

जैसे ब्रह्म श्रेष्ठ है उसी प्रकार हरि भी श्रेष्ठ हैं। वे केशव ही जगत्के (नित्य) स्वरूप हैं। अच्युत भगवान्के नाम-कीर्तनके उस सत्यद्वारा मेरे तीनों प्रकारके अमङ्गल नष्ट हो जायँ। इस प्रकार अपनी रक्षाके लिये विष्णुपञ्जरस्तोत्रका पाठकर वे खड़े थे। वह बलवान् राक्षस उनकी ओर दौड़ा। देवर्षे! उसके बाद द्विजद्वारा रक्षाकी व्यवस्था रहनेपर वह राक्षस गतिहीन होकर चार मासतक, जबतक कि ब्राह्मणकी समाधि समाप्त

नहीं हुई तबतक, रुका रहा। जप समाप्त होनेपर उन्होंने उस निशाचरको देखा। उन्होंने दीन, बलसे हीन, उत्साहसे रहित, भयसे आकुल तथा निस्तेज हुए उस निशाचरको देखकर दयापूर्वक उसे निर्भयता प्रदान कर दी तथा उसके आनेका कारण पूछा। उसने अपने यथार्थ स्वभाववश देखनेकी इच्छा एवं आनेपर तेजका नाश होना बताया। उसके बाद दूसरे और भी बहुत-से कारणोंका वर्णन कर अपने कर्मसे दुखी हुए उस राक्षसने ब्राह्मणसे कहा—आप प्रसन्न हो जायँ॥ २१—२७॥

बहूनि पापानि मया कृतानि बहवो हताः।
कृताः स्त्रियो मया बह्व्यो विधवाः पुत्रवर्जिताः। अनागसां च सत्त्वानामल्पकानां क्षयः कृतः॥ २८॥
तस्मात् पापादहं मोक्षमिच्छामि त्वत्प्रसादतः। पापप्रशमनायालं कुरु मे धर्मदेशनम्॥ २९॥
पापस्यास्य क्षयकरमुपदेशं प्रयच्छ मे। तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसस्य द्विजोत्तमः॥ ३०॥
वचनं प्राह धर्मात्मा हेतुमच्च सुभाषितम्।
कथं क्रूरस्वभावस्य सतस्तव निशाचर। सहसैव समायाता जिज्ञासा धर्मवर्त्मनि॥ ३१॥

मैंने बहुत पाप किये हैं। मैंने बहुत-से मनुष्योंको मारा है। मैंने बहुत-सी स्त्रियोंको विधवा एवं पुत्रसे हीन कर दिया है तथा निर्दोष और निर्बल प्राणियोंका विनाश किया है। आपकी दयासे मैं उन पापोंसे मुक्त होना चाहता हूँ; अतः आप मुझे पापोंका नाश करनेवाले धर्माचरणका उपदेश दें। आप मुझे इस पापको नष्ट करनेवाला उपदेश प्रदान करें। उस राक्षसके उस वचनको सुनकर धर्मात्मा द्विजोत्तमने युक्तियुक्त मधुर वचन कहा—निशाचर! क्रूर स्वभावके होते हुए भी एकाएक धर्मके मार्गमें तुम्हारी जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई?॥ २८—३१॥

राक्षस उवाच

त्वां वै समागतोऽस्म्यद्य क्षिप्तोऽहं रक्षया बलात्। तव संसर्गतो ब्रह्मन् जातो निर्वेद उत्तमः॥ ३२॥
का सा रक्षा न तां वेद्मि वेद्मि नास्याः परायणम्। यस्याः संसर्गमासाद्य निर्वेदं प्रापितं परम्॥ ३३॥
त्वं कृपां कुरु धर्मज्ञ मय्यनुक्रोशमावह। यथा पापापनोदो मे भवत्वार्य तथा कुरु॥ ३४॥

राक्षसने कहा—मैं आज आपके निकट आते ही बलपूर्वक रक्षाद्वारा फेंक दिया गया। ब्रह्मन्! आपके सम्पर्कसे मुझे श्रेष्ठ वैराग्य प्राप्त हो गया। मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि जिसका सम्पर्क पाकर मुझे श्रेष्ठ वैराग्य उत्पन्न हुआ है वह रक्षा क्या है और उसका आधार कौन है? धर्मज्ञ! आर्य! आप कृपा करें। मेरे ऊपर दया करें। आप वह कार्य करें जिससे मेरे पापोंका विनाश हो जाय॥ ३२—३४॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्तः स मुनिस्तदा वै तेन रक्षसा। प्रत्युवाच महाभागो विमृश्य सुचिरं मुनिः॥ ३५॥

पुलस्त्यजी बोले—उस राक्षसके इस प्रकार कहनेपर उन महाभाग मुनिने बहुत देरतक विचार कर उत्तर दिया॥ ३५॥

ऋषिरुवाच

यन्ममाहोपदेशार्थं निर्विण्णः स्वेन कर्मणा। युक्तमेतद्धि पापानां निवृत्तिरुपकारिका॥ ३६॥
करिष्ये यातुधानानां न त्वहं धर्मदेशनम्। तान् सम्पृच्छ द्विजान् सौम्य ये वै प्रवचने रताः॥ ३७॥
एवमुक्त्वा ययौ विप्रश्चिन्तामाप स राक्षसः। कथं पापापनोदः स्यादिति चिन्ताकुलेन्द्रियः॥ ३८॥
न चखाद स सत्त्वानि क्षुधा सम्बाधितोऽपि सन्। षष्ठे षष्ठे तदा काले जन्तुमेकमभक्षयत्॥ ३९॥
स कदाचित्क्षुधाविष्टः पर्यटन् विपुले वने। ददर्शाथ फलाहारमागतं ब्रह्मचारिणम्॥ ४०॥
गृहीतो रक्षसा तेन स तदा मुनिदारकः। निराशो जीविते प्राह सामपूर्वं निशाचरम्॥ ४१॥

ऋषिने उत्तर दिया—अपने कर्मसे पीड़ित होकर तुमने मुझसे जो उपदेश देनेके लिये कहा है, सो ठीक ही है। पापोंकी निवृत्तिसे उपकार होता है। परंतु मैं राक्षसोंको धर्मका उपदेश नहीं दूँगा। अतः भले राक्षस ! इस विषयको तुम उन ब्राह्मणोंसे पूछो जो विषयोंपर शास्त्रीय व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार कहकर वह ब्राह्मण चला गया। वह राक्षस चिन्तासे आकुल हो गया। मेरे पाप किस प्रकार दूर होंगे—इस विषयकी चिन्तासे उसकी इन्द्रियाँ घबड़ा गयीं। (पर) भूखसे कष्ट पानेपर भी उसने प्राणियोंका भक्षण करना छोड़ दिया। (प्रतिदिन) प्रत्येक छठे समय एक जीवका आहार करने लगा। किसी समय भूखसे पीड़ित होकर विशाल वनमें घूमते हुए उसने फल लेनेके लिये आये हुए एक ब्रह्मचारीको देखा। राक्षसने मुनिपुत्रको पकड़ लिया। उसके बाद जीवनसे निराश होकर उस ब्रह्मचारीने शान्त भाव प्रकट करनेवाला वचन कहा ॥ ३६–४१ ॥

ब्राह्मण उवाच

भो भद्र ब्रूहि यत् कार्यं गृहीतो येन हेतुना। तदनुब्रूहि भद्रं ते अयमस्म्यनुशाधि माम् ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणने कहा—भद्र ! यह बतलाओ कि तुम्हारा क्या कार्य है, तुमने मुझे क्यों पकड़ा है ? तुम्हारा कल्याण हो। यह मै प्रस्तुत हूँ। मुझे आज्ञा दो ॥ ४२ ॥

राक्षस उवाच

षष्ठे काले त्वमाहारः क्षुधितस्य समागतः। निःश्रीकस्यातिपापस्य निर्घृणस्य द्विजद्रुहः ॥ ४३ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मचारिन् ! इस समय मैं ब्राह्मणोंसे द्वेष और घृणा करनेके कारण श्रीसे हीन, अत्यन्त पापी और निर्दय हो गया हूँ। मुझे भूख लगी हुई है। आज छठे समयमें तुम मेरे भोजनके रूपमें आये हो ॥ ४३ ॥

ब्राह्मण उवाच

यद्यवश्यं त्वया चाहं भक्षितव्यो निशाचर। आयास्यामि तवाद्यैव निवेद्य गुरवे फलम् ॥ ४४ ॥
गुर्वर्थमेतदागत्य यत्फलग्रहणं कृतम्। ममात्र निष्ठा प्राप्तस्य फलानि विनिवेदितुम् ॥ ४५ ॥
स त्वं मुहूर्तमात्रं मामत्रैव प्रतिपालय। निवेद्य गुरवे यावदिहागच्छाम्यहं फलम् ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणने कहा—निशाचर ! यदि अवश्य ही तुम मुझे खाना चाहते हो तो मै ये फल गुरुको समर्पित करके अभी आ जाता हूँ। यहाँ आकर गुरुके लिये मैने जो फल एकत्र किये हैं, उन्हें गुरुको समर्पित करनेके लिये मेरी अत्यन्त श्रद्धा है। अतः तुम यहाँ मुहूर्तमात्र मेरी प्रतीक्षा करो, जबतककि मै इन फलोंको गुरुको देकर लौट आता हूँ ॥ ४४–४६ ॥

राक्षस उवाच

षष्ठे काले न मे ब्रह्मन् कश्चिद् ग्रहणमागतः। प्रतिमुच्येत देवोऽपि इति मे पापजीविका ॥ ४७ ॥
एक एवात्र मोक्षस्य तव हेतुः शृणुष्व तत्। मुञ्चाम्यहमसंदिग्धं यदि तत् कुरुते भवान् ॥ ४८ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मन् ! छठे समयमें मेरे पंजेमें आया हुआ कोई देवता भी छूट नहीं सकता। यही मेरी पापजीविका है। तुम्हारे छूटनेका एक ही उपाय है, उसे सुनो। यदि तुम उसे करो तो निःसंदेह मै तुमको छोड़ दूँगा ॥ ४७-४८ ॥

ब्राह्मण उवाच

गुरोर्यन्न विरोधाय यन्न धर्मोपरोधकम्। तत् करिष्याम्यहं रक्षो यन्न व्रतहरं मम ॥ ४९ ॥

ब्राह्मणने कहा—राक्षस ! यदि वह कार्य गुरुकी सेवाकार्यमें विरोध डालनेवाला, धर्मके विषयमें बाधा डालनेवाला एवं मेरे व्रतको नष्ट करनेवाला न होगा तो मै उसे करूँगा केवल तुमसे अपने छुटकारेके लिये नहीं ॥ ४९ ॥

राक्षस उवाच

मया निसर्गतो ब्रह्मन् जातिदोषाद् विशेषतः । निर्विवेकेन चित्तेन पापकर्म सदा कृतम् ॥ ५० ॥
आबाल्यान्मम पापेषु न धर्मेषु रतं मनः । तत्पापसंक्षयान्मोक्षं प्राप्नुयां येन तद् वद ॥ ५१ ॥
यानि पापानि कर्माणि बालत्वाच्चरितानि च । दुष्टां योनिमिमां प्राप्य तन्मुक्तिं कथय द्विज ॥ ५२ ॥
यद्येतद् द्विजपुत्र त्वं समाख्यास्यस्यशेषतः । ततः क्षुधार्तान्मत्तस्त्वं नियतं मोक्षमाप्स्यसि ॥ ५३ ॥
न चेत् तत्पापशीलोऽहमत्यर्थं क्षुत्पिपासितः । षष्ठे काले नृशंसात्मा भक्षयिष्यामि निर्घृणः ॥ ५४ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मन् ! मैने स्वभावतः तथा विशेषतः जातिदोषके कारण और विचारशक्तिसे रहित मनके कारण सदा पापका कार्य किया है । बाल्यावस्थासे ही मेरा मन धर्ममे नहीं, अपितु पापमे आसक्त रहा है । इसलिये तुम वह उपाय बताओ जिससे पापका नाश होकर मेरी मुक्ति हो जाय । द्विज ! इस पापयोनिको पाकर अज्ञानवश मैने जिन पापकर्मोका आचरण किया है, उनसे छुटकारा पानेका उपाय बतलाओ । ब्राह्मणपुत्र ! यदि तुम मुझे यह भलीभाँति बतलाओ तो मुझ भूखसे पीड़ित हुएसे निःसंदेह छुटकारा पा जाओगे । यदि ऐसा नहीं हुआ तो अत्यन्त भूखा-प्यासा निर्दय हुआ मै छठे समयमे (प्राप्त हुए) तुमको खा जाऊँगा ॥ ५०—५४ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तो मुनिसुतस्तेन घोरेण रक्षसा । चिन्तामवाप महतीमशक्तस्तदुदीरणे ॥ ५५ ॥
स विमृश्य चिरं विप्रः शरणं जातवेदसम् । जगाम ज्ञानदानाय संशयं परमं गतः ॥ ५६ ॥
यदि शुश्रूषितो वह्निर्गुरुशुश्रूषणादनु । व्रतानि वा सुचीर्णानि सप्तार्चिः पातु मां ततः ॥ ५७ ॥
न मातरं न पितरं गौरवेण यथा गुरुम् । सर्वदैवावगच्छामि तथा मां पातु पावकः ॥ ५८ ॥
यथा गुरुं न मनसा कर्मणा वचसाऽपि वा । अवजानाम्यहं तेन पातु सत्येन पावकः ॥ ५९ ॥
इत्येवं मनसा सत्यान् कुर्वतः शपथान् पुनः । सप्तार्चिषा समादिष्टा प्रादुरासीत् सरस्वती ॥ ६० ॥
सा प्रोवाच द्विजसुतं राक्षसग्रहणाकुलम् । मा भैर्द्विजसुताहं त्वां मोक्षयिष्यामि संकटात् ॥ ६१ ॥
यदस्य रक्षसः श्रेयो जिह्वाग्रे संस्थिता तव । तत् सर्वं कथयिष्यामि ततो मोक्षमवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥
अदृश्या रक्षसा तेन प्रोक्त्वेत्थं सा सरस्वती । अदर्शनं गता सोऽपि द्विजः प्राह निशाचरम् ॥ ६३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उस भयंकर राक्षसके इस प्रकार कहनेपर मुनिपुत्र (राक्षसकी पापसे मुक्तिका उपाय) कहनेमे असमर्थ होनेसे बहुत चिन्तित हुआ । बहुत समयतक विचार करनेके पश्चात् अत्यन्त संशययुक्त ब्राह्मण ज्ञानदानके हेतु अग्निके पास गया । (उसने कहा—) अग्निदेव ! गुरुकी सेवा करनेके बाद यदि मैने आपकी सेवा की हो तथा व्रतोका अच्छी तरह पालन किया हो तो हे सप्तार्चि ! आप मेरी रक्षा करे । अग्निदेव ! यदि मैने गौरवमे माता-पितासे गुरुको अधिक महत्त्व दिया हो तो आप मेरी रक्षा करे । यदि मन, कर्म एवं वाणीसे भी मैने गुरुका अनादर न किया हो तो उस सत्यके कारण अग्निदेव आप मेरी रक्षा करे । इस प्रकार मनसे सत्य शपथोके लेनेवाले उसके सामने अग्निदेवके आदेशसे सरस्वती प्रकट हुई । उन्होने राक्षसके द्वारा पकडे जानेके कारण व्याकुल हुए ब्राह्मणके पुत्रसे कहा—ब्राह्मणपुत्र ! डरो मत । मै तुम्हे संकटसे मुक्त करूँगी । तुम्हारी जीभके अग्रभागपर स्थित होकर मै राक्षसके कल्याणकारी समस्त विषयोका कथन करूँगी । उसके बाद तुम मुक्त हो जाओगे । उस राक्षससे अदृश्य रहती हुई सरस्वती ऐसा कहनेके बाद अन्तर्धान हो गयी । उस ब्राह्मणने निशाचरसे (सरस्वतीकी शक्तिसे) कहा—॥ ५५—६३ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां तव यच्छ्रेयस्तथाऽन्येषां च पापिनाम्। समस्तपापशुद्ध्यर्थं पुण्योपचयदं च यत्॥ ६४॥
प्रातरुत्थाय जप्तव्यं मध्याह्नेऽह्नःक्षयेऽपि वा। असंशयं सदा जप्यो जपतां पुष्टिशान्तिदः॥ ६५॥
ॐ हरिं कृष्णं हृषीकेशं वासुदेवं जनार्दनम्। प्रणतोऽस्मि जगन्नाथं स मे पापं व्यपोहतु॥ ६६॥
चराचरगुरुं नाथं गोविन्दं शेषशायिनम्। प्रणतोऽस्मि परं देवं स मे पापं व्यपोहतु॥ ६७॥
शङ्खिनं चक्रिणं शार्ङ्गधारिणं स्रग्धरं परम्। प्रणतोऽस्मि पतिं लक्ष्म्याः स मे पापं व्यपोहतु॥ ६८॥
दामोदरमुदाराक्षं पुण्डरीकाक्षमच्युतम्। प्रणतोऽस्मि स्तुतं स्तुत्यैः स मे पापं व्यपोहतु॥ ६९॥
नारायणं नरं शौरिं माधवं मधुसूदनम्। प्रणतोऽस्मि धराधारं स मे पापं व्यपोहतु॥ ७०॥

ब्राह्मणने कहा—(निशाचर!)सुनो! तुम्हारे और दूसरे अन्य पापियोंके लिये कल्याणकर सारे पापोंकी शुद्धि एवं पुण्य बढ़ानेवाले तत्त्वोंको मैं कहता हूँ। प्रातःकाल उठकर, मध्याह्नमें अथवा सायंकाल इस जपने योग्य स्तोत्रका सदा जप करना चाहिये। यह जप जप करनेवालेको निःसंदेह शान्ति एवं पुष्टि प्रदान करता है। ॐ, हरि, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन, जगन्नाथको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। चर और अचरके गुरु, नाथ, शेषशय्यापर विराजमान, परमदेव गोविन्दको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। शङ्ख धारण करनेवाले, चक्र धारण करनेवाले, शार्ङ्ग धारण करनेवाले एवं उत्तम मालाधारी, लक्ष्मीपतिको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। दामोदर, उदाराक्ष, पुण्डरीकाक्ष, स्तवनीय स्तोत्रोंसे स्तुत अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करे। नारायण, नर, शौरि, माधव, मधुसूदन एवं धराको धारण करनेवाले भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें॥ ६४—७०॥

केशवं चन्द्रसूर्याक्षं कंसकेशिनिषूदनम्। प्रणतोऽस्मि महाबाहुं स मे पापं व्यपोहतु॥ ७१॥
श्रीवत्सवक्षसं श्रीशं श्रीधरं श्रीनिकेतनम्। प्रणतोऽस्मि श्रियः कान्तं स मे पापं व्यपोहतु॥ ७२॥
यमीशं सर्वभूतानां ध्यायन्ति यतयोऽक्षरम्। वासुदेवमनिर्देश्यं तमस्मि शरणं गतः॥ ७३॥
समस्तालम्बनेभ्यो यं व्यावृत्य मनसो गतिम्। ध्यायन्ति वासुदेवाख्यं तमस्मि शरणं गतः॥ ७४॥
सर्वगं सर्वभूतं च सर्वस्याधारमीश्वरम्। वासुदेवं परं ब्रह्म तमस्मि शरणं गतः॥ ७५॥
परमात्मानमव्यक्तं यं प्रयान्ति सुमेधसः। कर्मक्षयेऽक्षयं देवं तमस्मि शरणं गतः॥ ७६॥
पुण्यपापविनिर्मुक्ता यं प्रविश्य पुनर्भवम्। न योगिनः प्राप्नुवन्ति तमस्मि शरणं गतः॥ ७७॥
ब्रह्मा भूत्वा जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्। यः सृजत्यच्युतो देवस्तमस्मि शरणं गतः॥ ७८॥

चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रोंवाले, कंस और केशीको मारनेवाले महाबाहु केशवको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करे। वक्षःस्थलपर श्रीवत्स धारण करनेवाले, श्रीश, श्रीधर, श्रीनिकेतन एवं श्रीकान्तको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करे। संयम करनेवाले लोग जिन सब प्राणियोंके स्वामी, अक्षर एवं अनिर्देश्य वासुदेवका ध्यान करते हैं मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ। (संन्यासी लोग) अन्य समस्त सहारोंसे मनकी गतिको लौटाकर जिस वासुदेव नामक ईश्वरका ध्यान करते हैं, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। मैं सर्वगत, सर्वभूत, सर्वाधार ईश्वर एवं वासुदेव नामक परब्रह्मकी शरण जाता हूँ। श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न लोग कर्मका नाश होनेपर जिन अदृष्ट, अविनाशी, परमात्मदेवको प्राप्त करते हैं, मैं उनकी शरणमे जाता हूँ। पुण्य तथा पापसे रहित योगीलोग जिन्हें पाकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करते, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। ब्रह्माका रूप धारण कर देवता, दैत्य एवं मनुष्योंसे युक्त सारे जगत्‌की सृष्टि करनेवाले अच्युत देवकी मैं शरणमें जाता हूँ॥ ७१—७८॥

ब्रह्मत्वे यस्य वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदमयं वपुः। प्रभुः पुरातनो जज्ञे तमस्मि शरणं गतः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मरूपधरं देवं जगद्योनिं जनार्दनम्। स्रष्टृत्वे संस्थितं सृष्टौ प्रणतोऽस्मि सनातनम् ॥ ८० ॥
स्रष्टा भूत्वा स्थितो योगी स्थितावसुरसूदनः। तमादिपुरुषं विष्णुं प्रणतोऽस्मि जनार्दनम् ॥ ८१ ॥
धृता मही हता दैत्याः परित्रातास्तथा सुराः। येन तं विष्णुमाद्येशं प्रणतोऽस्मि जनार्दनम् ॥ ८२ ॥
यज्ञैर्यजन्ति यं विप्रा यज्ञेशं यज्ञभावनम्। तं यज्ञपुरुषं विष्णुं प्रणतोऽस्मि सनातनम् ॥ ८३ ॥
पातालवीथीभूतानि तथा लोकान् निहन्ति यः। तमन्तपुरुषं रुद्रं प्रणतोऽस्मि सनातनम् ॥ ८४ ॥
सम्भक्षयित्वा सकलं यथासृष्टमिदं जगत्। यो वै नृत्यति रुद्रात्मा प्रणतोऽस्मि जनार्दनम् ॥ ८५ ॥
सुरासुराः पितृगणाः यक्षगन्धर्वराक्षसाः। सम्भूता यस्य देवस्य सर्वगं तं नमाम्यहम् ॥ ८६ ॥

ब्रह्माका रूप धारण करनेपर जिनके मुखोसे चारों वेदोंसे युक्त शरीर धारण करनेवाले पुरातन प्रभुका आविर्भाव हुआ था, मै उनकी शरणमें जाता हूँ। मै सृष्टिके लिये स्रष्टारूपसे स्थित ब्रह्मरूप धारण करनेवाले सनातन जगद्योनि जनार्दनको प्रणाम करता हूँ। सृष्टिकर्ता होकर योगिरूपमे विद्यमान एवं स्थितिकालमें राक्षसोका नाश करनेवाले आदिपुरुष जनार्दनको मै प्रणाम करता हूँ। मैं उन आदि पुरुष ईश्वर जनार्दन विष्णुको प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने पृथ्वीको धारण किया है, दैत्योंको मारा है एवं देवताओकी रक्षा की है। ब्राह्मणलोग यज्ञोंके द्वारा जिनकी अर्चना करते हैं, मैं उन यज्ञपुरुष, यज्ञभावन, यज्ञेश, सनातन विष्णुको प्रणाम करता हूँ। मैं पाताललोकमें रहनेवाले प्राणियों तथा लोकोका विनाश करनेवाले उन अन्तपुरुष सनातन रुद्रको प्रणाम करता हूँ। सृष्ट किये गये इस समस्त जगत्का भक्षणकर नृत्य करनेवाले रुद्रात्मा जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। मै सर्वत्र गमन करनेवाले देवको प्रणाम करता हूँ, जिनसे समस्त सुर, असुर, पितृगण, यक्ष, गन्धर्व एवं राक्षस उत्पन्न हुए हैं ॥ ७९–८६ ॥

समस्तदेवाः सकला मनुष्याणां च जातयः। यस्यांशभूता देवस्य सर्वगं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ ८७ ॥
वृक्षगुल्मादयो यस्य तथा पशुमृगादयः। एकांशभूता देवस्य सर्वगं तं नमाम्यहम् ॥ ८८ ॥
यस्मान्नान्यत् परं किञ्चिद् यस्मिन् सर्वं महात्मनि। यः सर्वमध्यगोऽनन्तः सर्वगं तं नमाम्यहम् ॥ ८९ ॥
यथा सर्वेषु भूतेषु गूढोऽग्निरिव दारुषु। विष्णुरेवं तथा पापं ममाशेषं प्रणश्यतु ॥ ९० ॥
यथा विष्णुमयं सर्वं ब्रह्मादि सचराचरम्। यच्च ज्ञानपरिच्छेद्यं पापं नश्यतु मे तथा ॥ ९१ ॥
शुभाशुभानि कर्माणि रजःसत्त्वतमांसि च। अनेकजन्मकर्मोत्थं पापं नश्यतु मे तथा ॥ ९२ ॥
यन्निशायां च यत्प्रातर्यन्मध्याह्नापराह्णयोः। सन्ध्ययोश्च कृतं पापं कर्मणा मनसा गिरा ॥ ९३ ॥
यत् तिष्ठता यद् व्रजता यच्च शय्यागतेन मे। कृतं यदशुभं कर्म कायेन मनसा गिरा ॥ ९४ ॥
अज्ञानतो ज्ञानतो वा मदाच्चलितमानसैः। तत् क्षिप्रं विलयं यातु वासुदेवस्य कीर्तनात् ॥ ९५ ॥

मैं उन सर्वव्यापी देवको प्रणाम करता हूँ जिनके अंशसे सम्पूर्ण देव एवं मनुष्योकी सभी जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। वृक्ष, गुल्म आदि तथा पशु, मृग आदि जिन परमदेवके एक अंशरूप हैं, मै उन सर्वगामी देवको प्रणाम करता हूँ। मै उन सर्वव्यापी देवको प्रणाम करता हूँ जिनसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है एवं जिन महात्मामें सम्पूर्ण पदार्थ स्थित हैं तथा जो सभीके अन्तःकरणमें रहनेवाले और अनन्त हैं। काष्ठमें अग्निके समान समस्त प्राणियोमे व्याप्त विष्णु मेरे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करें; क्योंकि विष्णुसे ब्रह्मा आदि समस्त चराचरात्मक जगत् व्याप्त है तथा जो ज्ञानके द्वारा धारण करने योग्य हैं। इसलिये मेरे पाप नष्ट हो जायँ। (विष्णुकी कृपासे) मेरे शुभ तथा अशुभ कर्म, सत्त्व, रज एवं तमोगुण तथा अनेक जन्मोंके कर्मसे उत्पन्न पाप नष्ट हो जायँ। शरीर,

कर्म, मन एवं वाणीके द्वारा रात्रिमें तथा प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, अपराह्नकाल और सन्ध्याकालमें चलते, बैठते और शयन करते हुए ज्ञान या अज्ञानपूर्वक अथवा निरहंकार मनसे मैंने जो अशुभ (पाप) कर्म किये हों वे वासुदेवके नाम-कीर्तनसे शीघ्र नष्ट हो जायँ ॥ ८७–९५ ॥

परदारपरद्रव्यवाञ्छाद्रोहोद्भवं च यत्। परपीडोद्भवां निन्दां कुर्वता यन्महात्मनाम् ॥ ९६ ॥
यच्च भोज्ये तथा पेये भक्ष्ये चोष्ये विलेहने। तद् यातु विलयं तोये यथा लवणभाजनम् ॥ ९७ ॥
यद् बाल्ये यच्च कौमारे यत् पापं यौवने मम। वयःपरिणतौ यच्च यच्च जन्मान्तरे कृतम् ॥ ९८ ॥
तन्नारायण गोविन्द हरिकृष्णेश कीर्तनात्। प्रयातु विलयं तोये यथा लवणभाजनम् ॥ ९९ ॥
विष्णवे वासुदेवाय हरये केशवाय च। जनार्दनाय कृष्णाय नमो भूयो नमो नमः ॥१००॥
भविष्यन्नरकघ्नाय नमः कंसविघातिने। अरिष्टकेशिचाणूरदेवारिक्षयिणे नमः ॥१०१॥
कोऽन्यो बलेर्वञ्चयिता त्वामृते वै भविष्यति। कोऽन्यो नाशयति बलाद् दर्पं हैहयभूपतेः ॥१०२॥
कः करिष्यत्यथाऽन्यो वै सागरे सेतुबन्धनम्। वधिष्यति दशग्रीवं कः सामात्यपुरःसरम् ॥१०३॥

परस्त्री और परधनकी कामना, द्रोह, परपीड़ा, महात्माओंकी निन्दा तथा (निषिद्ध) भोज्य, पेय, भक्ष्य, चोष्य एवं चाटनेवाले वस्तुके कारण उत्पन्न सम्पूर्ण पाप इस प्रकार नष्ट हो जायँ जैसे लवण रखनेवाला मिट्टीका पात्र पानीमें (पड़ते ही) नष्ट हो जाता है। नारायण, गोविन्द, हरि, कृष्ण, ईशका कीर्तन करनेसे बाल्यकाल, कुमारावस्था, यौवन, वार्द्धक्य एवं जन्मान्तरमें किये गये मेरे सम्पूर्ण पाप इस प्रकार नष्ट हो जायँ जैसे जलमें नमक रखनेसे मिट्टीका बर्तन विलीन हो जाता (गल जाता) है। हरि, विष्णु, वासुदेव, केशव, जनार्दन, कृष्णको पुनः-पुनः प्रणाम है। भावी नरकका नाश करनेवाले तथा कंसको मारनेवालेको नमस्कार है। अरिष्ट, केशी एवं चाणूर आदि राक्षसोंके नष्ट करनेवालेको नमस्कार है। आपके सिवाय बलिको कौन छल सकता था एवं आपके बिना हैहयनरेशके घमंडको कौन नष्ट कर सकता था? आपके सिवाय समुद्रमें सेतुको कौन बाँध सकता था तथा मन्त्री आदिके साथ ही दशग्रीव रावणको कौन मार सकता था ॥ ९६–१०३ ॥

कस्त्वामृतेऽन्यो नन्दस्य गोकुले रतिमेष्यति।
प्रलम्बपूतनादीनां त्वामृते मधुसूदन। निहन्ताऽप्यथवा शास्ता देवदेव भविष्यति ॥१०४॥
जपन्नेवं नरः पुण्यं वैष्णवं धर्ममुत्तमम्। इष्टानिष्टप्रसंगेभ्यो ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ॥१०५॥
कृतं तेन तु यत् पापं सप्तजन्मान्तराणि वै। महापातकसंज्ञं वा तथा चैवोपपातकम् ॥१०६॥
यज्ञादीनि च पुण्यानि जपहोमव्रतानि च। नाशयेद् योगिनां सर्वमामपात्रमिवाम्भसि ॥१०७॥
नरः संवत्सरं पूर्णं तिलपात्राणि षोडश। अहन्यहनि यो दद्यात् पठत्येतच्च तत्समम् ॥१०८॥
अविलुप्तब्रह्मचर्यं सम्प्राप्य स्मरणं हरेः। विष्णुलोकमवाप्नोति सत्यमेतन्मयोदितम् ॥१०९॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे न ह्यल्पमपि मे मृषा। राक्षसग्रस्तसर्वाङ्गं तथा मामेष मुञ्चतु ॥११०॥

मधुसूदन! आपके सिवाय कौन ऐसा है जो नन्दके गोकुलमें प्रेममयी क्रीडा कर सके? देवदेव! आपके सिवा प्रलम्ब और पूतना आदिका वध एवं शासन कौन कर सकता था? इस धर्ममय उत्तम वैष्णव-मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य इष्ट और अनिष्टके प्रसङ्गवश तथा ज्ञान या अज्ञानपूर्वक सात जन्मोंमें किये अपने महापातकों, उपपातकों, यज्ञ, होम एवं व्रत आदिके पुण्य कर्मोंके भी योगको इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे जलमें मिट्टीका कच्चा घड़ा नष्ट हो जाता है। मैं यह सत्य कहता हूँ कि अखण्डित ब्रह्मचर्य एवं हरिस्मरणपूर्वक एक वर्षतक इस

स्तोत्रके पाठके साथ प्रतिदिन तिलसे भरे सोलह पात्रोंका दान करनेवाला मनुष्य विष्णुलोकको प्राप्त करता है। यदि मैंने यह सत्य कहा हो एवं इसमें अल्पमात्र भी असत्य न हो तो यह राक्षस सब अङ्गोंसे पीड़ित हो चुके मुझे छोड़ दे ॥ १०४-११० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुच्चारिते तेन मुक्तो विप्रस्तु रक्षसा। अकामेन द्विजो भूयस्तमाह रजनीचरम् ॥१११॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके ऐसा कहते ही राक्षसने ब्राह्मणको छोड़ दिया। पुनः द्विजने निष्कामभावसे राक्षससे कहा—॥ १११ ॥

ब्राह्मण उवाच

एतद् भद्र मया ख्यातं तव पातकनाशनम्। विष्णोः सारस्वतं स्तोत्रं यज्जगाद सरस्वती ॥११२॥
हुताशनेन प्रहिता मम जिह्वाग्रसंस्थिता। जगादैनं स्तवं विष्णोः सर्वेषां चोपशान्तिदम् ॥११३॥
अनेनैव जगन्नाथं त्वमाराधय केशवम्। ततः शापापनोदं तु स्तुते लप्स्यसि केशवे ॥११४॥
अहर्निशं हृषीकेशं स्तवेनानेन राक्षस। स्तुहि भक्तिं दृढां कृत्वा ततः पापाद् विमोक्ष्यसे ॥११५॥
स्तुतो हि सर्वपापानि नाशयिष्यत्यसंशयम्। स्तुतो हि भक्त्या नृणां वै सर्वपापहरो हरिः ॥११६॥

ब्राह्मणने कहा—भद्र! सरस्वती देवीने जिस पापका नाश करनेवाले सारस्वत विष्णुस्तोत्रको कहा है, उसे मैंने तुमसे कह दिया। अग्निदेवसे भेजी गयी एवं मेरी जिह्वाके अग्रभागमें स्थित सरस्वतीने सभीको शान्ति देनेवाले इस विष्णुस्तोत्रको कहा है। तुम इसीसे जगत्स्वामी केशवकी आराधना करो। उसके बाद केशवकी स्तुति करनेसे तुम शापसे मुक्त हो जाओगे। राक्षस! इस स्तुतिके द्वारा दृढ भक्तिपूर्वक दिन-रात हृषीकेशकी स्तुति करो। तब तुम पापसे मुक्त हो जाओगे। स्तुति किये गये हरि निःसंदेह समस्त पापोंको नष्ट करेंगे। भक्तिपूर्वक स्तुति करनेसे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले हरि मनुष्योंके सब पापोंका नाश कर देते हैं ॥ ११२-११६ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः प्रणम्य तं विप्रं प्रसाद्य स निशाचरः। तदैव तपसे श्रीमान् शालग्राममगाद् वशी ॥११७॥
अहर्निशं स एवैनं जपन् सारस्वतं स्तवम्। देवक्रियारतिर्भूत्वा तपस्तेपे निशाचरः ॥११८॥
समाराध्य जगन्नाथं स तत्र पुरुषोत्तमम्। सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्तवान् ॥११९॥
एतत् ते कथितं ब्रह्मन् विष्णोः सारस्वतं स्तवम्। विप्रवक्त्रस्थया सम्यक् सरस्वत्या समीरितम् ॥१२०॥
य एतत् परमं स्तोत्रं वासुदेवस्य मानवः। पठिष्यति स सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षमाप्स्यति ॥१२१॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद आत्मनिष्ठ वह राक्षस ब्राह्मणको प्रणाम एवं प्रसन्न करनेके पश्चात् उसी समय तपस्याके लिये शालग्राम नामक स्थानमें चला गया। वह राक्षस दिन-रात इसी सारस्वतस्तोत्रका जप करते हुए देवक्रियामें लीन होकर तप करने लगा। वहाँ पुरुषोत्तम जगन्नाथकी पूजा कर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर उसने विष्णुलोक प्राप्त किया। ब्रह्मन्! मैंने तुमसे ब्राह्मणके मुखसे सरस्वतीद्वारा कहा गया विष्णुका यह सारस्वतस्तोत्र कहा। वासुदेवके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको पढ़नेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ११७-१२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

फरवरी ३-४—

[अथ षडशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

नमस्तेऽस्तु जगन्नाथ देवदेव नमोऽस्तु ते। वासुदेव नमस्तेऽस्तु बहुरूप नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥
एकश‍ृङ्ग नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं वृषाकपे। श्रीनिवास नमस्तेऽस्तु नमस्ते भूतभावन ॥ २ ॥
विष्वक्सेन नमस्तुभ्यं नारायण नमोऽस्तु ते। ध्रुवध्वज नमस्तेऽस्तु सत्यध्वज नमोऽस्तु ते ॥ ३ ॥
यज्ञध्वज नमस्तुभ्यं धर्मध्वज नमोऽस्तु ते। तालध्वज नमस्तेऽस्तु नमस्ते गरुडध्वज ॥ ४ ॥
वरेण्य विष्णो वैकुण्ठ नमस्ते पुरुषोत्तम। नमो जयन्त विजय जयानन्त पराजित ॥ ५ ॥
कृतावर्त महावर्त महादेव नमोऽस्तु ते। अनाद्याद्यन्त मध्यान्त नमस्ते पद्मजप्रिय ॥ ६ ॥
पुरञ्जय नमस्तुभ्यं शत्रुञ्जय नमोऽस्तु ते। शुभञ्जय नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु धनञ्जय ॥ ७ ॥
सृष्टिगर्भ नमस्तुभ्यं शुचिश्रवः पृथुश्रवः। नमो हिरण्यगर्भाय पद्मगर्भाय ते नमः ॥ ८ ॥

छियासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्तोत्रोंके क्रममें पुलस्त्यजीद्वारा उपदिष्ट महेश्वर-कथित पापप्रशमनस्तोत्र)

पुलस्त्यजी बोले—हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है। हे देवदेव ! आपको नमस्कार है। हे वासुदेव ! आपको नमस्कार है। हे अनन्त रूप धारण करनेवाले ! आपको नमस्कार है। हे एकश‍ृङ्ग ! आपको नमस्कार है। हे वृषाकपे ! आपको नमस्कार है। हे श्रीनिवास ! आपको नमस्कार है। हे भूतभावन ! आपको नमस्कार है। हे विष्वक्सेन ! आपको नमस्कार है। हे नारायण ! आपको नमस्कार है। हे ध्रुवध्वज ! आपको नमस्कार है। हे सत्यध्वज ! आपको नमस्कार है। हे यज्ञध्वज ! आपको नमस्कार है। हे धर्मध्वज ! आपको नमस्कार है। हे तालध्वज ! आपको नमस्कार है। हे गरुडध्वज ! आपको नमस्कार है। हे वरेण्य ! हे विष्णो ! हे वैकुण्ठ ! हे पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है। हे जयन्त ! हे विजय ! हे जय ! हे अनन्त ! हे पराजित ! आपको नमस्कार है। हे कृतावर्त ! हे महावर्त ! हे महादेव ! आपको नमस्कार है। हे अनादि एवं आदि और अन्तमें विद्यमान ! हे मध्यान्त, ! (मध्य और अन्तवाले) हे पद्मजप्रिय ! आपको प्रणाम है। हे पुरञ्जय ! आपको नमस्कार है। हे शत्रुञ्जय ! आपको प्रणाम है। हे शुभञ्जय ! आपको प्रणाम है। हे धनञ्जय ! आपको प्रणाम है। सृष्टिगर्भ ! हे सृष्टिको अपनेमें सुरक्षित रखनेवाले ! श्रवण-मात्रसे ही पवित्र कर देनेवाले हे शुचिश्रवः ! आर्तजनोंकी पुकारको विशाल कर्णोंसे सुननेवाले हे पृथुश्रवः ! आपको नमस्कार है। आप हिरण्यगर्भको नमस्कार है। आप पद्मगर्भको नमस्कार है ॥ १-८ ॥

नमः कमलनेत्राय कालनेत्राय ते नमः। कालनाभ नमस्तुभ्यं महानाभ नमो नमः ॥ ९ ॥
वृष्टिमूल महामूल मूलावास नमोऽस्तु ते। धर्मावास जलावास श्रीनिवास नमोऽस्तु ते ॥ १० ॥
धर्माध्यक्ष प्रजाध्यक्ष लोकाध्यक्ष नमो नमः। सेनाध्यक्ष नमस्तुभ्यं कालाध्यक्ष नमोऽस्तु ते ॥ ११ ॥
गदाधर श्रुतिधर चक्रधारिन् श्रियोधर। वनमालाधर हरे नमस्ते धरणीधर ॥ १२ ॥
आर्चिषेण महासेन नमस्तेऽस्तु पुरुष्टुत। बहुकल्प महाकल्प नमस्ते कल्पनामुख ॥ १३ ॥
सर्वात्मन् सर्वग विभो विरिञ्चे श्वेत केशव। नील रक्त महानील अनिरुद्ध नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
द्वादशात्मक कालात्मन् सामात्मन् परमात्मक। व्योमकात्मक सुब्रह्मन् भूतात्मक नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥
हरिकेश महाकेश गुडाकेश नमोऽस्तु ते। मुञ्जकेश हृषीकेश सर्वनाथ नमोऽस्तु ते ॥ १६ ॥

आप कमलनेत्रको प्रणाम है। आप कालनेत्रको प्रणाम है। हे कालनाभ ! आपको प्रणाम है। हे महानाभ ! आपको बारम्बार प्रणाम है। हे वृष्टिमूल ! हे महामूल ! हे मूलावास ! आपको प्रणाम है। हे धर्मावास ! हे जलावास !

हे श्रीनिवास ! आपको प्रणाम है । हे धर्माध्यक्ष ! हे प्रजाध्यक्ष ! हे लोकाध्यक्ष ! आपको बार-बार प्रणाम है । हे सेनाध्यक्ष ! आपको प्रणाम है । हे कालाध्यक्ष ! आपको प्रणाम है । हे गदाधर ! हे श्रुतिधर ! हे चक्रधर ! हे श्रीधर ! वनमाला और पृथ्वीको धारण करनेवाले हे हरे ! आपको प्रणाम है । हे आर्चिषेण ! हे महासेन ! हे पुरुसे स्तुत ! आपको प्रणाम है । हे बहुकल्प ! हे महाकल्प ! हे कल्पनामुख ! आपको प्रणाम है । हे सर्वात्मन् ! हे सर्वग ! हे विभो ! हे विरिञ्चिन् ! हे श्वेत ! हे केशव ! हे नील ! हे रक्त ! हे महानील ! हे अनिरुद्ध ! आपको नमस्कार है । हे द्वादशात्मक ! हे कालात्मन् ! हे सामात्मन् ! हे परमात्मक ! हे आकाशात्मक ! हे सुब्रह्मन् ! हे भूतात्मक ! आपको प्रणाम है । हे हरिकेश ! हे महाकेश ! हे गुडाकेश ! आपको प्रणाम है । हे मुञ्जकेश ! हे हृषीकेश ! हे सर्वनाथ ! आपको प्रणाम है ॥ ९–१६ ॥

सूक्ष्म स्थूल महास्थूल महासूक्ष्म शुभङ्कर । श्वेतपीताम्बरधर नीलवास नमोऽस्तु ते ॥ १७ ॥
कुशेशय नमस्तेऽस्तु पद्मेशय जलेशय । गोविन्द प्रीतिकर्ता च हंस पीताम्बरप्रिय ॥ १८ ॥
अधोक्षज नमस्तुभ्यं सीरध्वज जनार्दन । वामनाय नमस्तेऽस्तु नमस्ते मधुसूदन ॥ १९ ॥
सहस्रशीर्षाय नमो ब्रह्मशीर्षाय ते नमः । नमः सहस्रनेत्राय सोमसूर्यानलेक्षण ॥ २० ॥
नमश्चाथर्वशिरसे महाशीर्षाय ते नमः । नमस्ते धर्मनेत्राय महानेत्राय ते नमः ॥ २१ ॥
नमः सहस्रपादाय सहस्रभुजमन्यवे । नमो यज्ञवराहाय महारूपाय ते नमः ॥ २२ ॥
नमस्ते विश्वदेवाय विश्वात्मन् विश्वसम्भव । विश्वरूप नमस्तेऽस्तु त्वत्तो विश्वमभूदिदम् ॥ २३ ॥
न्यग्रोधस्त्वं महाशाखस्त्वं मूलकुसुमार्चितः । स्कन्धपत्राङ्कुरलतापल्लवाय नमोऽस्तु ते ॥ २४ ॥

हे सूक्ष्म ! हे स्थूल ! हे महास्थूल ! हे महासूक्ष्म ! हे शुभङ्कर ! हे उज्ज्वल-पीले वस्त्रको धारण करनेवाले ! हे नीलवास ! आपको प्रणाम है । हे कुशपर शयन करनेवाले ! हे पद्मपर शयन करनेवाले ! हे जलमें शयन करनेवाले ! हे गोविन्द ! हे प्रीतिकर्तः ! हे हंस ! हे पीताम्बरप्रिय ! आपको नमस्कार है । हे अधोक्षज ! हे सीरध्वज ! हे जनार्दन ! आपको प्रणाम है । हे वामन ! आपको प्रणाम है । हे मधुसूदन ! आपको प्रणाम है । आप सहस्रसिरवालेको नमस्कार है । आप ब्रह्मशीर्षको प्रणाम है । आप सहस्रनेत्र और चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपी आँखवालेको प्रणाम है । अथर्वशिराको नमस्कार है । महाशीर्षको प्रणाम है । धर्मनेत्रको प्रणाम है । महानेत्रको प्रणाम है । सहस्रपादको नमस्कार है । सहस्रों भुजाओं एवं सहस्रों यज्ञोंवालेको नमस्कार है । यज्ञवराहको नमस्कार है ! आप महारूपको नमस्कार है । विश्वदेवको प्रणाम है । हे विश्वात्मन् ! हे विश्वसम्भव ! हे विश्वरूप ! आपको नमस्कार है । आपसे यह विश्व उत्पन्न हुआ है । आप न्यग्रोध और महाशाख हैं आप ही मूलकुसुमार्चित हैं । स्कन्ध, पत्र, अङ्कुर, लता एवं पल्लवस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ १७–२४ ॥

मूलं ते ब्राह्मणा ब्रह्मन् स्कन्धस्ते क्षत्रियाः प्रभो । वैश्याः शाखा दलं शूद्रा वनस्पते नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥
ब्राह्मणाः साग्नयो वक्त्राः दोर्दण्डाः सायुधा नृपाः । पार्श्वाद् विशश्चोरुयुगाज्जाताः शूद्राश्च पादतः ॥ २६ ॥
नेत्राद् भानुरभूत् तुभ्यं पद्भ्यां भूः श्रोत्रयोर्दिशः । नाभ्या ह्यभूदन्तरिक्षं शशाङ्को मनसस्तव ॥ २७ ॥
प्राणाद् वायुः समभवत् कामाद् ब्रह्मा पितामहः । क्रोधात् त्रिनयनो रुद्रः शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥ २८ ॥
इन्द्राग्नी वदनात् तुभ्यं पशवो मलसम्भवाः । ओषध्यो रोमसम्भूता विराजस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ २९ ॥
पुष्पहास नमस्तेऽस्तु महाहास नमोऽस्तु ते । ॐकारस्त्वं वषट्कारो वौषट् त्वं च स्वधा सुधा ॥ ३० ॥
स्वाहाकार नमस्तुभ्यं हन्तकार नमोऽस्तु ते । सर्वाकार निराकार वेदाकार नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥
त्वं हि वेदमयो देवः सर्वदेवमयस्तथा । सर्वतीर्थमयश्चैव सर्वयज्ञमयस्तथा ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! ब्राह्मण आपके मूल हैं । प्रभो ! क्षत्रिय आपके स्कन्ध, वैश्य शाखा एवं शूद्र पत्ते हैं । वनस्पते ! आपको नमस्कार है । अग्निसहित ब्राह्मण आपके मुख एवं शस्त्रसहित क्षत्रिय आपकी भुजाएँ हैं । वैश्य आपके दोनो जाँघोंके पार्श्वभागसे तथा शूद्र आपके चरणोसे उत्पन्न हुए हैं । आपके नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुए है । आपके चरणोसे पृथ्वी, कानोसे दिशाएँ, नाभिसे अन्तरिक्ष तथा मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं । आपके प्राणसे वायु, कामसे पितामह ब्रह्मा, क्रोधसे त्रिनेत्र रुद्र और सिरसे द्युलोक आविर्भूत हुए हैं । आपके मुखसे इन्द्र और अग्नि, मलसे पशु तथा रोमसे ओषधियाँ उत्पन्न हुई । आप विराज हैं । आपको नमस्कार है । हे पुष्पहास ! आपको प्रणाम है । हे महाहास ! आपको प्रणाम है । आप ओङ्कार, वषट्कार और वौषट् हैं । आप स्वधा और सुधा हैं । हे स्वाहाकार ! आपको प्रणाम है । हे हन्तकार ! आपको प्रणाम है । हे सर्वाकार ! हे निराकार ! हे वेदाकार ! आपको प्रणाम है । आप वेदमय देव तथा सर्वदेवमय हैं । आप सर्वतीर्थमय और सर्वयज्ञमय हैं ॥ २५–३२ ॥

नमस्ते यज्ञपुरुष यज्ञभागभुजे नमः । नमः सहस्रधाराय शतधाराय ते नमः ॥ ३३ ॥
भूर्भुवःस्वःस्वरूपाय गोदायामृतदायिने । सुवर्णब्रह्मदात्रे च सर्वदात्रे च ते नमः ॥ ३४ ॥
ब्रह्मेशाय नमस्तुभ्यं ब्रह्मादे ब्रह्मरूपधृक् । परब्रह्म नमस्तेऽस्तु शब्दब्रह्म नमोऽस्तु ते ॥ ३५ ॥
विद्यास्त्वं वेद्यरूपस्त्वं वेदनीयस्त्वमेव च । बुद्धिस्त्वमपि बोध्यश्च बोधस्त्वं च नमोऽस्तु ते ॥ ३६ ॥
होता होमश्च हव्यं च हूयमानश्च हव्यवाट् । पाता पोता च पूतश्च पावनीयश्च ॐ नमः ॥ ३७ ॥
हन्ता च हन्यमानश्च ह्रियमाणस्त्वमेव च । हर्त्ता नेता च नीतिश्च पूज्योऽग्र्यो विश्वधार्यसि ॥ ३८ ॥
स्रुक्स्रुवौ परधामासि कपालोलूखलोऽरणिः । यज्ञपात्रारणेयस्त्वमेकधा बहुधा त्रिधा ॥ ३९ ॥
यज्ञस्त्वं यजमानस्त्वमीड्यस्त्वमसि याजकः । ज्ञाता ज्ञेयस्तथा ज्ञानं ध्येयो ध्याताऽसि चेश्वर ॥ ४० ॥
ध्यानयोगश्च योगी च गतिर्मोक्षो धृतिः सुखम् । योगाङ्गानि त्वमीशानः सर्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

यज्ञपुरुष ! आपको प्रणाम है । हे यज्ञभागके भोक्तः ! आपको प्रणाम है । सहस्रधार और शतधारको प्रणाम है । भूर्भुवः स्वःस्वरूप, गोदाता, अमृतदाता, सुवर्ण और ब्रह्म (संसारके निमित्त और उपादान कारण आदि) के भी जन्मदाता तथा सर्वदाता आपको प्रणाम है । आप ब्रह्मेशको नमस्कार है । हे ब्रह्मादि ! हे ब्रह्मरूपधारिन् ! हे परमब्रह्म ! आपको प्रणाम है । हे शब्दब्रह्म ! आपको प्रणाम है । आप ही विद्या, आप ही वेद्यरूप तथा आप ही जानने योग्य हैं । आप ही बुद्धि, बोध्य और बोधरूप हैं । आपको प्रणाम है । आप होता, होम, हव्य, हूयमान द्रव्य तथा हव्यवाट्, पाता, पोता, पूत तथा पावनीय ओङ्कार हैं । आपको नमस्कार है । आप हन्ता, हन्यमान, ह्रियमाण, हर्ता, नेता, नीति, पूज्य, श्रेष्ठ तथा संसारको धारण करनेवाले हैं । आप स्रुक्, स्रुव, परधाम, कपाली, उलूखल, अरणि, यज्ञपात्र, आरणेय, एकधा, त्रिधा और बहुधा है । आप यज्ञ हैं और आप यजमान हैं । आप स्तुत्य और याजक है । आप ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, ध्येय, ध्याता तथा ईश्वर हैं । आप ध्यानयोग, योगी, गति, मोक्ष, धृति, सुख, योगाङ्ग, ईशान एवं सर्वग हैं । आपको नमस्कार है ॥ ३३–४१ ॥

ब्रह्मा होता तथोद्गाता साम यूपोऽथ दक्षिणा । दीक्षा त्वं त्वं पुरोडाशस्त्वं पशुः पशुवाह्यसि ॥ ४२ ॥
गुह्यो धाता च परमः शिवो नारायणस्तथा । महाजनो निरयनः सहस्रार्केन्दुरूपवान् ॥ ४३ ॥
द्वादशारोऽथ षण्णाभिस्त्रिव्यूहो द्वियुगस्तथा । कालचक्रो भवानीशो नमस्ते पुरुषोत्तमः ॥ ४४ ॥
पराक्रमो विक्रमस्त्वं हयग्रीवो हरीश्वरः । नरेश्वरोऽथ ब्रह्मेशः सूर्येशस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४५ ॥
अश्ववक्त्रो महामेधाः शम्भुः शक्रः प्रभञ्जनः । मित्रावरुणमूर्तिस्त्वममूर्तिरनघः परः ॥ ४६ ॥
प्राग्वंशकायो भूतादिर्महाभूतोऽच्युतो द्विजः । त्वमूर्ध्वकर्त्ता ऊर्ध्वश्च ऊर्ध्वरेता नमोऽस्तु ते ॥ ४७ ॥
महापातकहा त्वं च उपपातकहा तथा । अनीशः सर्वपापेभ्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ ४८ ॥

इत्येतत् परमं स्तोत्रं सर्वपापप्रमोचनम्। महेश्वरेण कथितं वाराणस्यां पुरा मुने ॥ ४९ ॥
केशवस्याग्रतो गत्वा स्नात्वा तीर्थे सितोदके। उपशान्तस्तथा जातो रुद्रः पापवशात् ततः ॥ ५० ॥
एतत् पवित्रं त्रिपुरघ्नभाषितं पठन् नरो विष्णुपरो महर्षे।
विमुक्तपापो ह्युपशान्तमूर्तिः सम्पूज्यते देववरैः प्रसिद्धैः ॥ ५१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

आप ब्रह्मा, होता, उद्गाता, साम, यूप, दक्षिणा तथा दीक्षा हैं। आप पुरोडाश एवं आप ही पशु तथा पशुवाही हैं। आप गुह्य, धाता, परम, शिव, नारायण, महाजन, निराश्रय तथा हजारों सूर्य और चन्द्रमाके समान रूपवान् हैं। आप बारह अरों, छः नाभियों, तीन व्यूहों एवं दो युगोंवाले कालचक्र तथा ईश एवं पुरुषोत्तम हैं। आपको नमस्कार है। आप पराक्रम, त्रिक्रम, हयग्रीव, हरीश्वर, नरेश्वर, ब्रह्मेश और सूर्येश हैं। आपको नमस्कार है। आप अश्ववक्त्र, महामेधा, शम्भु, शक्र, प्रभञ्जन, मित्रावरुणकी मूर्ति, अमूर्ति, निष्पाप और श्रेष्ठ हैं। आप प्राग्वंशकाय (मूलपुरुष), भूतादि, महाभूत, अच्युत और द्विज हैं। आप ऊर्ध्वकर्त्ता, ऊर्ध्व और ऊर्ध्वरेता हैं। आपको नमस्कार है। आप महापातकोंका विनाश करनेवाले तथा उपपातकोंके नाशक हैं। आप सभी पापोंसे निर्लिप्त हैं। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। मुने! प्राचीन कालमें महेश्वरने सम्पूर्ण पापोंसे मुक्ति देनेवाले इस श्रेष्ठ स्तोत्रको वाराणसीमें कहा था। तीर्थके स्वच्छ जलमें स्नान कर केशवका दर्शन करनेसे रुद्र पापके प्रभावसे मुक्त एवं शान्त हुए थे। महर्षे! त्रिपुरारिके द्वारा कहे गये इस स्तोत्रका पाठ करनेसे विष्णुभक्त मनुष्य पापसे मुक्त और सौम्य होकर प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ देवताओंसे पूजित होता है ॥ ४२—५१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छियासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

[अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

द्वितीयं पापशमनं स्तवं वक्ष्यामि ते मुने। येन सम्यगधीतेन पापं नाशं तु गच्छति ॥ १ ॥
मत्स्यं नमस्ये देवेशं कूर्मं गोविन्दमेव च। हयशीर्षं नमस्येऽहं भवं विष्णुं त्रिविक्रमम् ॥ २ ॥
नमस्ये माधवेशानौ हृषीकेशकुमारिणौ। नारायणं नमस्येऽहं नमस्ये गरुडासनम् ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वकेशं नृसिंहं च रूपधारं कुरुध्वजम्। कामपालमखण्डं च नमस्ये ब्राह्मणप्रियम् ॥ ४ ॥
अजितं विश्वकर्माणं पुण्डरीकं द्विजप्रियम्। हंसं शम्भुं नमस्ये च ब्रह्माणं सप्रजापतिम् ॥ ५ ॥
नमस्ये शूलबाहुं च देवं चक्रधरं तथा। शिवं विष्णुं सुवर्णाक्षं गोपतिं पीतवाससम् ॥ ६ ॥
नमस्ये च गदापाणिं नमस्ये च कुशेशयम्। अर्धनारीश्वरं देवं नमस्ये पापनाशनम् ॥ ७ ॥
गोपालं च सवैकुण्ठं नमस्ये चापराजितम्। नमस्ये विश्वरूपं च सौगन्धिं सर्वदाशिवम् ॥ ८ ॥

सतासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अगस्त्यद्वारा कथित पापप्रशमनस्तोत्र)

पुलस्त्यजी बोले—मुने! अब मैं आपसे पापोंका निवारण करनेवाला दूसरा स्तोत्र कहूँगा; जिसका भलीभाँति अध्ययन (पाठ) करनेसे पाप विनष्ट हो जाता है। मैं मत्स्य एवं कच्छपका रूप धारण करनेवाले देवेश गोविन्द भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं हयशीर्ष, भव और त्रिविक्रम विष्णु भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं माधव, ईशान, हृषीकेश और कुमारको नमस्कार करता हूँ। मैं नारायणको नमस्कार करता हूँ। मैं गरुडासन भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं ऊर्ध्वकेश तथा नरसिंहका रूप धारण करनेवाले एवं कुरुध्वज, कामपाल,

खण्ड और ब्राह्मणप्रिय देवको नमस्कार करता हूँ। मैं अजित, विश्वकर्मा, पुण्डरीक, द्विजप्रिय, हंस, शम्भु तथा प्रजापतिके सहित ब्रह्माको नमस्कार करता हूँ। मै शूलबाहु, चक्रधरदेव, शिव, विष्णु, सुवर्णाक्ष और गोपति तथा पीतवासाको प्रणाम करता हूँ। मैं गदा धारण करनेवाले गदाधर भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ और कुशेशयको नमस्कार करता हूँ। मैं पापका नाश करनेवाले अर्धनारीश्वर देवको नमस्कार करता हूँ। मै वैकुण्ठसहित गोपाल तथा अपराजितको नमस्कार करता हूँ। मैं विश्वरूप, सौगन्धि और सदाशिवको प्रणाम करता हूँ॥ १–८॥

पाञ्चालिकं हयग्रीवं स्वयम्भुवममरेश्वरम्। नमस्ये पुष्कराक्षं च पयोगन्धिं च केशवम्॥ ९॥
अविमुक्तं च लोलं च ज्येष्ठेशं मध्यमं तथा। उपशान्तं नमस्येऽहं मार्कण्डेयं सजम्बुकम्॥ १०॥
नमस्ये पद्मकिरणं नमस्ये वडवामुखम। कार्तिकेयं नमस्येऽहं बाह्लीकं शिखिनं तथा॥ ११॥
नमस्ये स्थाणुमनघं नमस्ये वनमालिनम्। नमस्ये लाङ्गलीशं च नमस्येऽहं श्रियः पतिम्॥ १२॥
नमस्ये च त्रिनयनं नमस्ये हव्यवाहनम्। नमस्ये च त्रिसौवर्णं नमस्ये धरणीधरम्॥ १३॥
त्रिणाचिकेतं ब्रह्मेशं नमस्ये शशिभूषणम्। कपर्दिनं नमस्ये च सर्वामयविनाशनम्॥ १४॥
नमस्ये शशिनं सूर्यं ध्रुवं रौद्रं महौजसम्। पद्मनाभं हिरण्याक्षं नमस्ये स्कन्दमव्ययम्॥ १५॥
नमस्ये भीमहंसौ च नमस्ये हाटकेश्वरम्। सदाहंसं नमस्ये च नमस्ये प्राणतर्पणम्॥ १६॥

मैं पाञ्चालिक, हयग्रीव, स्वयम्भुव, अमरेश्वर, पुष्कराक्ष, पयोगन्धि और केशवको नमस्कार करता हूँ। मैं अविमुक्त, लोल, ज्येष्ठेश, मध्यम, उपशान्त तथा जम्बुकसहित मार्कण्डेयको नमस्कार करता हूँ। मैं पद्मकिरणको नमस्कार करता हूँ। मैं वडवामुखको नमस्कार करता हूँ। मैं कार्तिकेय, बाह्लीक तथा शिखीको प्रणाम करता हूँ। मैं स्थाणु एवं अनघको नमस्कार करता हूँ तथा वनमालीको नमस्कार करता हूँ। मैं लाङ्गलीश तथा लक्ष्मीपतिको नमस्कार करता हूँ। मैं त्रिनेत्रको प्रणाम करता हूँ तथा हव्यवाहनको नमस्कार करता हूँ। मै त्रिसौवर्णको नमस्कार करता हूँ तथा धरणीधरको नमस्कार करता हूँ। मैं त्रिणाचिकेत, ब्रह्मेश तथा शशिभूषणको प्रणाम करता हूँ। मै सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करनेवाले कपर्दी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ। मैं चन्द्र, सूर्य, ध्रुव तथा महान् ओजस्वी रुद्रभगवान्‌को प्रणाम करता हूँ। मैं पद्मनाभ, हिरण्याक्ष तथा अव्यय स्कन्दको प्रणाम करता हूँ। मै भीम और हंसको प्रणाम करता हूँ। मै हाटकेश्वरको प्रणाम करता हूँ। मैं सदाहंसको प्रणाम करता हूँ और प्राणोंको तृप्त करनेवालेको प्रणाम करता हूँ॥ ९–१६॥

नमस्ये रुक्मकवचं महायोगिनमीश्वरम्। नमस्ये श्रीनिवासं च नमस्ये पुरुषोत्तमम्॥ १७॥
नमस्ये च चतुर्बाहुं नमस्ये वसुधाधिपम्। वनस्पतिं पशुपतिं नमस्ये प्रभुमव्ययम्॥ १८॥
श्रीकण्ठं वासुदेवं नीलकण्ठं सदण्डिनम्। नमस्ये सर्वमनघं गौरीशं नकुलीश्वरम्॥ १९॥
मनोहरं कृष्णकेशं नमस्ये चक्रपाणिनम्। यशोधरं महाबाहुं नमस्ये च कुशप्रियम्॥ २०॥
भूधरं छादितगदं सुनेत्रं शूलशङ्खिनम्। भद्राक्षं वीरभद्रं च नमस्ये शङ्कुकर्णिकम्॥ २१॥
वृषध्वजं महेशं च विश्वामित्रं शशिप्रभम्। उपेन्द्रं चैव गोविन्दं नमस्ये पङ्कजप्रियम्॥ २२॥
सहस्रशिरसं देवं नमस्ये कुन्दमालिनम्। कालाग्निं रुद्रदेवेशं नमस्ये कृत्तिवाससम्॥ २३॥
नमस्ये छागलेशं च नमस्ये पङ्कजासनम्। सहस्राक्षं कोकनदं नमस्ये हरिशङ्करम्॥ २४॥

मै रुक्म-कवच धारण करनेवाले महायोगी ईश्वरको नमस्कार करता हूँ और पुरुषोत्तम श्रीनिवास भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं चार भुजा धारण करनेवाले देवको प्रणाम करता हूँ। मैं पृथ्वीके अधिपतिको प्रणाम करता हूँ। मैं वनस्पति, पशुपति और अव्यय प्रभुको प्रणाम करता हूँ। मै श्रीकण्ठ वासुदेव, दण्डिसहित नीलकण्ठ, सर्व, अनघ, गौरीश तथा नकुलीश्वर भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं मनको हरण करनेवाले कृष्णकेश चक्रपाणि

भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ और यशोधारी, महाबाहु कुशप्रियको नमस्कार करता हूँ। मैं भूधर, छादितगद, सुनेत्र, शूलशंखी, भद्राक्ष, वीरभद्र तथा शंकुकर्णिकको नमस्कार करता हूँ। मैं वृषध्वज, महेश, विश्वामित्र, शशिप्रभ, उपेन्द्र, गोविन्द तथा पङ्कजप्रियको नमस्कार करता हूँ। मै सहस्रशीर्षा तथा कुन्दमाली देवको नमस्कार करता हूँ। मैं कालाग्नि, रुद्रदेवेश तथा कृत्तिवासाको प्रणाम करता हूँ। मै छागलेशको नमस्कार करता हूँ तथा पङ्कजासनको नमस्कार करता हूँ। मै सहस्राक्ष, कोकनद तथा हरिशंकरको नमस्कार करता हूँ ॥ १७–२४ ॥

अगस्त्यं गरुडं विष्णुं कपिलं ब्रह्मवाङ्मयम्। सनातनं च ब्रह्माणं नमस्ये ब्रह्मतत्परम् ॥ २५ ॥
अप्रतर्क्यं चतुर्बाहुं सहस्रांशुं तपोमयम्। नमस्ये धर्मराजानं देवं गरुडवाहनम् ॥ २६ ॥
सर्वभूतगतं शान्तं निर्मलं सर्वलक्षणम्। महायोगिनमव्यक्तं नमस्ये पापनाशनम् ॥ २७ ॥
निरञ्जनं निराकारं निर्गुणं निर्मलं पदम्। नमस्ये पापहन्तारं शरण्यं शरणं व्रजे ॥ २८ ॥
एतत् पवित्रं परमं पुराणं प्रोक्तं त्वगस्त्येन महर्षिणा च।
धन्यं यशस्यं बहुपापनाशनं संकीर्तनात् स्मरणात् संश्रवाच्च ॥ २९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

मैं अगस्त्य, गरुड़, विष्णु, कपिल, ब्रह्मवाङ्मय, सनातन, ब्रह्मा तथा ब्रह्मतत्परको नमस्कार करता हूँ। मैं अनुमानसे परे, चार भुजाधारी, सहस्रांशु, तपोमूर्ति, धर्मराज गरुड़वाहन देवको नमस्कार करता हूँ। मै सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त, शान्तस्वरूप, निर्मल, समस्त लक्षणोंसे युक्त, महान् योगी, अव्यक्तस्वरूप एवं पाप नाश करनेवाले भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मै निरञ्जन, निराकार, गुणोंसे रहित, निर्मलपदस्वरूप, पाप हरण करनेवालेको नमस्कार करता हूँ तथा शरणागतकी रक्षा करनेवालेकी शरणमें जाता हूँ।

महर्षि अगस्त्यने इस परम पवित्र पुरातन स्तोत्रको कहा था। इसके कथन, स्मरण तथा श्रवण करनेसे अनेक पापोंका विनाश हो जाता है और मनुष्य धन्य एवं यशस्वी हो जाता है ॥ २५–२९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सतासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

[अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गतेऽथ तीर्थयात्रायां प्रह्लादे दानवेश्वरे। कुरुक्षेत्रं समभ्यागाद् यष्टुं वैरोचनो बलिः ॥ १ ॥
तस्मिन् महाधर्मयुते तीर्थे ब्राह्मणपुङ्गवः। शुक्रो द्विजातिप्रवरानामन्त्रयत भार्गवान् ॥ २ ॥
भृगूनामन्त्र्यमाणान् वै श्रुत्वात्रेयाः सगौतमाः। कौशिकाङ्गिरसश्चैव तत्यजुः कुरुजाङ्गलान् ॥ ३ ॥
उत्तराशां प्रजग्मुस्ते नदीमनु शतद्रुकाम्। शातद्रवे जले स्नात्वा विपाशां प्रययुस्ततः ॥ ४ ॥
विज्ञाय तत्राप्यरतिं स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः। प्रजग्मुः किरणां पुण्यां दिनेशकिरणच्युताम् ॥ ५ ॥
तस्यां स्नात्वाऽर्च्य देवर्षं सर्व एव महर्षयः। ऐरावतीं सुपुण्योदां स्नात्वा जग्मुरथेश्वरीम् ॥ ६ ॥
देविकाया जले स्नात्वा पयोष्ण्यां चैव तापसाः। अवतीर्णा मुने स्नातुमात्रेयाद्याः शुभां नदीम् ॥ ७ ॥
ततो निमग्ना ददृशुः प्रतिबिम्बमथात्मनः। अन्तर्जले द्विजश्रेष्ठ महदाश्चर्यकारकम् ॥ ८ ॥

अट्ठासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका कुरुक्षेत्रमें आना, वहाँके मुनियोंका पलायन, वामनका आविर्भाव, उनकी स्तुति, बलिके यज्ञमें जानेकी उत्कण्ठा और भरद्वाजसे स्वस्थानका कथन)

पुलस्त्यजी बोले—दानवेश्वर प्रह्लादके तीर्थयात्राके लिये चले जानेपर विरोचनका पुत्र बलि कुरुक्षेत्रमें यज्ञ करनेके लिये गया। उस महान् धर्मयुक्त तीर्थमें ब्राह्मणश्रेष्ठ शुक्राचार्यने द्विजोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ भार्गवोंको आमन्त्रित किया

भृगुवंशीय ब्राह्मणोंको आमन्त्रित किया जाना सुनकर अत्रि, गौतम, कौशिक और अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंने कुरुजाङ्गल-का त्याग कर दिया। वे उत्तर दिशामें शतद्रु नदीके तटपर गये। शतद्रुके जलमें स्नान करनेके बाद वे वहाँसे विपाशा नदीके निकट चले गये। वहाँ भी मनके अनुकूल न होनेके कारण वे सब स्नान करनेके पश्चात् पितरों एवं देवोंका पूजन कर सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न किरणा नदीके समीप गये। देवर्षे! उसमें स्नान और अर्चन करनेके बाद सभी महर्षि पवित्र जलवाली ऐरावती नदीके निकट गये तथा उसमें स्नान करके इरावती नदीके तटपर चले गये। मुने! देविका और पयोष्णीमें स्नान करके आत्रेय आदि तपस्वियोंने शुभा नामकी नदीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया। द्विजश्रेष्ठ! जलमें गोता लगानेपर उन लोगोंने जलके भीतर महान् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपनी-अपनी परछाईं देखी ॥ १—८ ॥

उन्मज्जने च ददृशुः पुनर्विस्मितमानसाः। ततः स्नात्वा समुत्तीर्णा ऋषयः सर्व एव हि ॥ ९ ॥
जग्मुस्ततोऽपि ते ब्रह्मन् कथयन्तः परस्परम्। चिन्तयन्तश्च सततं किमेतदिति विस्मिताः ॥ १० ॥
ततो दूरादपश्यन्त वनषण्डं सुविस्तृतम्। वनं हरगलश्यामं खगध्वनिनिनादितम् ॥ ११ ॥
अतितुङ्गतया व्योम आवृण्वानं नगोत्तमम्। विस्तृताभिर्जटाभिस्तु अन्तर्भूमिं च नारद ॥ १२ ॥
काननं पुष्पितैर्वृक्षैरतिभाति समन्ततः। दशार्द्धवर्णैः सुखदैर्नभस्तारागणैरिव ॥ १३ ॥
तं दृष्ट्वा कमलैर्व्याप्तं पुण्डरीकैश्च शोभितम्। तद्वत् कोकनदैर्व्याप्तं वनं पद्मवनं यथा ॥ १४ ॥
प्रजग्मुस्तुष्टिमतुलां ते ह्लादं परमं ययुः। विविशुः प्रीतमनसो हंसा इव महासरः ॥ १५ ॥
तन्मध्ये ददृशुः पुण्यमाश्रमं लोकपूजितम्। चतुर्णां लोकपालानां वर्गाणां मुनिसत्तम ॥ १६ ॥

महर्षियोंने डुबकी लगानेके बाद जब सिर ऊपर किया तब पुनः वैसा ही देखा; इससे वे आश्चर्यमें भर गये। उसके बाद स्नान करके सभी ऋषि बाहर निकले। ब्रह्मन्! उसके पश्चात् वे सभी लोग यह क्या है?—इस विषयमें आश्चर्यपूर्वक आपसमें बातचीत एवं विचार-विमर्श करते हुए वहाँसे भी चले गये। उसके बाद उन लोगोंने दूरसे ही अतिविस्तृत, शंकरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णवाले और पक्षियोंकी ध्वनिसे भरा एक वृक्षोंका समूह (वन) देखा। नारदजी! वह वन अत्यन्त ऊँचा होनेके कारण आकाशको घेरे हुए था तथा उसकी नीचेकी भूमि बिखरे हुए फलोंसे ढकी रहती थी। वह वन तारागणोंसे जगमगाते हुए आकाशके समान खिले हुए पँचरंगे वृक्षोंसे बहुत सुन्दर लग रहा था। कमल-वनके समान कमलोंसे व्याप्त, पुण्डरीकोंसे विभूषित एवं कोकनदोंसे भरे उस वनको देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न एवं गद्गद हो गये। वे लोग संतुष्ट-चित्तसे उसमें इस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार हंस महासरोवरमें प्रवेश करते हैं। मुनिसत्तम! उन लोगोंने उसके बीचमें लोकपालोंके चार वर्गों-(धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-) का लोकपूजित पवित्र आश्रम देखा ॥ ९—१६ ॥

धर्माश्रमं प्राङ्मुखं तु पलाशविटपावृतम्। प्रतीच्यभिमुखं ब्रह्मन् अर्थस्येक्षुवनावृतम् ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखं काम्यं रम्भाशोकवनावृतम्। उदङ्मुखं च मोक्षस्य शुद्धस्फटिकवर्चसम् ॥ १८ ॥
कृतान्ते त्वाश्रमी मोक्षः कामस्त्रेतान्तरे श्रमी। आश्रम्यर्थो द्वापरान्ते तिष्यादौ धर्म आश्रमी ॥ १९ ॥
तान्याश्रमाणि मुनयो दृष्ट्वात्रेयादयोऽव्ययाः। तत्रैव च रतिं चक्रुरखण्डे सलिलाप्लुते ॥ २० ॥
धर्माद्यैर्भगवान् विष्णुरखण्ड इति विश्रुतः। चतुर्मूर्तिर्जगन्नाथः पूर्वमेव प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥
तमर्चयन्ति ऋषयो योगात्मानो बहुश्रुताः। शुश्रूषयाऽथ तपसा ब्रह्मचर्येण नारद ॥ २२ ॥
एवं ते न्यवसंस्तत्र समेता मुनयो वने। असुरेभ्यस्तदा भीताः स्वाश्रित्याखण्डपर्वतम् ॥ २३ ॥
तथाऽन्ये ब्राह्मणा ब्रह्मन् अश्मकुट्टा मरीचिपाः। स्नात्वा जले हि कालिन्द्याः प्रजग्मुर्दक्षिणामुखाः ॥ २४ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्व दिशाकी ओर मुखवाला पलाशवृक्षसे घिरा हुआ धर्माश्रम, पश्चिममुख इक्षुवनसे घिरा हुआ अर्थाश्रम, दक्षिणकी ओर कदली और अशोकके वनसे घिरा हुआ कामाश्रम तथा उत्तरकी ओर शुद्धस्फटिकके समान तेजस्वी मोक्षाश्रम स्थित था। सत्ययुगके अन्तमें मोक्ष अपने आश्रममें निवास करने लगता है, त्रेतामें काम आश्रमवासी हो जाता है, द्वापरके अन्तमें अर्थ आश्रमी बन जाता है और कलिके आदिमें धर्म आश्रममें रहना प्रारम्भ करता है। अव्यय, आत्रेय आदि मुनियोंने उन आश्रमोंको देखकर अखण्ड जलसे परिपूर्ण उस स्थानमें सुखसे रहनेका निश्चय किया। धर्म आदिके द्वारा भगवान् विष्णु अखण्ड नामसे विद्यमान हैं। जगन्नाथ चार मूर्तियोंवाले हैं, यह पहलेसे ही निश्चित है। नारदजी ! बहुश्रुत योगात्मा ऋषिलोग सेवा, तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा उनकी पूजा करते हैं। असुरोंसे त्रस्त होकर वे मुनिगण सम्मिलितरूपसे उस अखण्ड पर्वतका भलीभाँति आश्रयण कर रहने लगे। ब्रह्मन् ! केवल पत्थरसे कूटे हुए अन्नको खानेवाले वानप्रस्थी साधु तथा सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले अन्य ब्राह्मण आदि कालिन्दीके जलमें स्नान कर दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १७–२४॥

अवन्तिविषयं प्राप्य विष्णुमासाद्य संस्थिताः। विष्णोरपि प्रसादेन दुष्प्रवेशं महासुरैः ॥ २५ ॥
वालखिल्यादयो जग्मुरवशा दानवाद् भयात्। रुद्रकोटिं समाश्रित्य स्थितास्ते ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
एवं गतेषु विप्रेषु गौतमाङ्गिरसादिषु। शुक्रस्तु भार्गवान् सर्वान् निन्ये यज्ञविधौ मुने ॥ २७ ॥
अधिष्ठिते भार्गवैस्तु महायज्ञेऽमितद्युते। यज्ञदीक्षां बलेः शुक्रश्चकार विधिना स्वयम् ॥ २८ ॥
श्वेताम्बरधरो दैत्यः श्वेतमाल्यानुलेपनः। मृगाजिनावृतः पृष्ठे बर्हिपत्रविचित्रितः ॥ २९ ॥
समास्ते वितते यज्ञे सदस्यैरभिसंवृतः। हयग्रीवप्रलम्बाद्यैर्मयबाणपुरोगमैः ॥ ३० ॥
पत्नी विन्ध्यावली चास्य दीक्षिता यज्ञकर्मणि। ललनानां सहस्रस्य प्रधाना ऋषिकन्यका ॥ ३१ ॥
शुक्रेणाश्वः श्वेतवर्णो मधुमासे सुलक्षणः। महीं विहर्तुमुत्सृष्टस्तारकाक्षोऽन्वगाच्च तम् ॥ ३२ ॥

वे विष्णु भगवान्‌की कृपासे महान् असुरोंके कारण प्रवेश पानेमें कठिन अवन्ति नगरीमें पहुँचे और उनके निकट रहने लगे। दानवोंके डरसे विवश होकर वालखिल्य आदि ब्रह्मचारी ऋषि रुद्रकोटि चले गये और वहाँ रहने लगे। मुने ! इस प्रकार गौतम और आङ्गिरस आदि ब्राह्मणोंके चले जानेपर शुक्राचार्य सभी भार्गववंशीय ब्राह्मणोंको यज्ञ-कार्यमें ले गये। अमिततेजस्विन् ! भार्गववंशीय ब्राह्मणोंसे अधिकृत शुक्राचार्यने बलिको महायज्ञमें स्वयं विधिवत् यज्ञकी दीक्षा दी। श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले, श्वेत माल्य एवं अनुलेपनसे युक्त, मृगचर्मसे आवृत एवं मयूरपुच्छसे सुसज्जित दैत्य बलिने हयग्रीव, प्रलम्ब, मय एवं बाण आदि सदस्योंसे घिरे हुए विस्तृत यज्ञ-मण्डपमें आसन ग्रहण किया। उसकी पत्नी विन्ध्यावली भी यज्ञकर्ममें दीक्षित हुई। वह ऋषिकन्या हजारों ललनाओंमें प्रधान थी। शुक्राचार्यने चैत्रमासमें सुलक्षण अश्व पृथ्वीपर विचरण करनेके लिये छोड़ा। तारकाक्ष नामका असुर उसके पीछे-पीछे चलने लगा ॥ २५–३२ ॥

एवमश्वे समुत्सृष्टे वितथे यज्ञकर्मणि। गते च मासत्रितये हूयमाने च पावके ॥ ३३ ॥
पूज्यमानेषु दैत्येषु मिथुनस्थे दिवाकरे। सुषुवे देवजननी माधवं वामनाकृतिम् ॥ ३४ ॥

तं जातमात्रं भगवन्तमीशं नारायणं लोकपतिं पुराणम्।
ब्रह्मा समभ्येत्य समं महर्षिभिः स्तोत्रं जगादाथ विभोर्महर्षे ॥ ३५ ॥
नमोऽस्तु ते माधव सत्त्वमूर्ते नमोऽस्तु ते शाश्वत विश्वरूप।
नमोऽस्तु ते शत्रुवनेन्धनाग्ने नमोऽस्तु ते पापमहादवाग्ने ॥ ३६ ॥

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। नमस्ते जगदाधार नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ ३७ ॥
नारायण जगन्मूर्ते जगन्नाथ गदाधर। पीतवासः श्रियःकान्त जनार्दन नमोऽस्तु ते ॥ ३८ ॥
भवांस्त्राता च गोप्ता च विश्वात्मा सर्वगोऽव्ययः। सर्वधारी धराधारी रूपधारी नमोऽस्तु ते ॥ ३९ ॥
वर्धस्व वर्धिताशेषत्रैलोक्य सुरपूजित। कुरुष्व दैवतपते मघोनोऽश्रुप्रमार्जनम् ॥ ४० ॥
त्वं धाता च विधाता च संहर्ता त्वं महेश्वरः। महालय महायोगिन् योगशायिन् नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

इस प्रकार उस अश्वके छोडे जानेपर यज्ञकर्मके चलते हुए अग्निमें हवन करते तीन मास व्यतीत हो जानेपर तथा दैत्योंके पूजित होने और सूर्यके मिथुन राशिमें सङ्क्रमण करनेपर देवमाता अदितिने वामनके आकारवाले माधवको जन्म दिया। महर्षे! उन भगवान्, ईश, नारायण, लोकपति पुराण-पुरुषके अवतार होते ही ब्रह्मा महर्षियोंके साथ उनके निकट गये तथा (उन) विभुकी स्तुति करने लगे। हे सत्त्वमूर्ते! हे माधव! आपको नमस्कार है। हे शाश्वत! हे विश्वरूप! आपको नमस्कार है। शत्रुरूपी वनके ईंधनके लिये हे अग्निस्वरूप! आपको नमस्कार है। पापरूपी वनके लिये हे महादवाग्निस्वरूप! आपको नमस्कार है। हे पुण्डरीकाक्ष! आपको नमस्कार है। हे विश्वकी सृष्टि करनेवाले! आपको नमस्कार है। हे जगत्के आधार! आपको नमस्कार है। हे पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है। हे नारायण! हे जगन्मूर्ते! हे जगन्नाथ! हे गदाधर! हे पीताम्बर धारण करनेवाले! हे लक्ष्मीपते! हे जनार्दन! आपको नमस्कार है। आप पालन करनेवाले, रक्षक, विश्वकी आत्मा, सर्वत्र गमन करनेवाले, अविनाशी, सबको धारण करनेवाले, पृथ्वीको धारण करनेवाले तथा रूप धारण करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है। हे देवपूजित! हे सारी त्रिलोकीको बढानेवाले! आपका अभ्युदय हो। हे दैवतपते! आप इन्द्रके आँसू पोंछें। आप धाता, विधाता, संहर्ता, महेश्वर, महालय, महायोगी और योगशायी हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३२—४१ ॥

इत्थं स्तुतो जगन्नाथः सर्वात्मा सर्वगो हरिः। प्रोवाच भगवान् मह्यं कुरूपनयनं विभो ॥ ४२ ॥
ततश्चकार देवस्य जातकर्मादिकाः क्रियाः। भरद्वाजो महातेजा बार्हस्पत्यस्तपोधनः ॥ ४३ ॥
व्रतबन्धं तथेशस्य कृतवान् सर्वशास्त्रवित्। ततो ददुः प्रीतियुताः सर्व एव वरान् क्रमात् ॥ ४४ ॥
यज्ञोपवीतं पुलहस्त्वहं च सितवाससी। मृगाजिनं कुम्भयोनिर्भरद्वाजस्तु मेखलाम् ॥ ४५ ॥
पालाशमददद् दण्डं मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः। अक्षसूत्रं वारुणिस्तु कौश्यं वेदमथाङ्गिराः ॥ ४६ ॥

इस प्रकारकी स्तुति किये जानेपर सर्वात्मा, सर्वगामी जगन्नाथ भगवान् श्रीहरिने कहा—विभो! मेरा उपनयन-संस्कार कीजिये। उसके बाद बृहस्पतिवंशमें उत्पन्न महातेजस्वी तपोधन भरद्वाजने वामनकी जातकर्म आदि सभी क्रियाएँ सम्पन्न करायीं। उसके पश्चात् सभी शास्त्रोंके वेत्ता भरद्वाजने ईश्वरका व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) कराया। उसके बाद अन्य सभीने प्रसन्न होकर बटुकको क्रमशः श्रेष्ठदान दिये। पुलहने यज्ञोपवीत, मैं-(पुलस्त्य-) ने दो शुक्ल वस्त्र, अगस्त्यने मृगचर्म तथा भरद्वाजने मेखला दी। ब्रह्माके पुत्र मरीचिने पलाशदण्ड, वारुणि-(वसिष्ठ-) ने अक्षसूत्र एवं अङ्गिराने रेशमी वस्त्र तथा वेद दिया ॥ ४२—४६ ॥

छत्रं प्रादाद् रघू राजा उपानद्युगलं नृगः। कमण्डलुं बृहत्तेजाः प्रादाद्विष्णोर्बृहस्पतिः ॥ ४७ ॥
एवं कृतोपनयनो भगवान् भूतभावनः। संस्तूयमानो ऋषिभिः साङ्गं वेदमधीयत ॥ ४८ ॥
भरद्वाजादाङ्गिरसात् सामवेदं महाध्वनिम्। महदाख्यानसंयुक्तं गन्धर्वसहितं मुने ॥ ४९ ॥
मासेनैकेन भगवान् ज्ञानश्रुतिमहार्णवः। लोकाचारप्रवृत्त्यर्थमभूच्छ्रुतिविशारदः ॥ ५० ॥
सर्वशास्त्रेषु नैपुण्यं गत्वा देवोऽक्षयोऽव्ययः। प्रोवाच ब्राह्मणश्रेष्ठं भरद्वाजमिदं वचः ॥ ५१ ॥

राजा रघुने छत्र, नृगने एक जोड़ा जूता एवं अत्यन्त तेजस्वी बृहस्पतिने विष्णुको कमण्डलु दिया। इस प्रकार उपनयन-संस्कार हो जानेपर ऋषियोंसे संस्तुत होते हुए भगवान् भूतभावनने (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन) अङ्गोंके साथ चारों वेदोंका अध्ययन किया। मुने! उन्होंने आङ्गिरस भरद्वाजसे गन्धर्वविद्याके साथ महान् आख्यानोंसे पूर्ण महाध्वन्यात्मक सामवेदका अध्ययन किया। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप वेदके अगाध समुद्र भगवान् एक मासमें लोकाचारके व्यवहारके लिये वेदविशारद हो गये। समस्त शास्त्रोंमें निपुण होकर अक्षय, अव्यय वामनने ब्राह्मणश्रेष्ठ भरद्वाजजीसे यह वचन कहा—॥ ४७-५१ ॥

श्रीवामन उवाच

ब्रह्मन् व्रजामि देह्याज्ञां कुरुक्षेत्रं महोदयम्। तत्र दैत्यपतेः पुण्यो हयमेधः प्रवर्तते॥ ५२॥
समाविष्टानि पश्यस्व तेजांसि पृथिवीतले।
ये संनिधानाः सततं मदंशाः पुण्यवर्धनाः। तेनाहं प्रतिजानामि कुरुक्षेत्रं गतो बलिः॥ ५३॥

श्रीवामनजीने कहा—ब्रह्मन्! मैं अत्यन्त उत्तम कुरुक्षेत्र तीर्थमें जाना चाहता हूँ। आप आज्ञा दीजिये। वहाँ दैत्यराज बलिका पवित्र अश्वमेध यज्ञ हो रहा है। देखिये, पृथ्वीतलपर पुण्यकी वृद्धि करनेवाले मेरे स्थानोंमें तेजोंका समावेश हो रहा है। अतः मुझे यह मालूम हो रहा है कि बलि कुरुक्षेत्रमें स्थित हैं॥ ५२-५३॥

भरद्वाज उवाच

स्वेच्छया तिष्ठ वा गच्छ नाहमाज्ञापयामि ते। गमिष्यामो वयं विष्णो बलेरध्वरं मा खिद॥ ५४॥
यद् भवन्तमहं देव परिपृच्छामि तद् वद।
केषु केषु विभो नित्यं स्थानेषु पुरुषोत्तम। सान्निध्यं भवतो ब्रूहि ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः॥ ५५॥

भरद्वाजजीने कहा—आप अपनी इच्छासे यहाँ रहें अथवा जायँ। मै आपको आदेश नहीं दूँगा। विष्णो! हमलोग बलिके यज्ञमें जायँगे। आप चिन्ता न करें। देव! मै आपसे जो पूछता हूँ उसे आप बतलायें। विभो! पुरुषोत्तम! मै यथार्थरूपसे यह जानना चाहता हूँ कि आप किन-किन स्थानोंमे रहते हैं॥ ५४-५५॥

वामन उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि येषु येषु गुरो अहम्। निवसामि सुपुण्येषु स्थानेषु बहुरूपवान्॥ ५६॥
ममावतारैर्वसुधा नभस्तलं पातालमम्भोनिधयो दिवं च।
दिशः समस्ता गिरयोऽम्बुदाश्च व्याप्ता भरद्वाज ममानुरूपैः॥ ५७॥
ये दिव्या ये च भौमा जलगगनचराः स्थावरा जङ्गमाश्च
सेन्द्राः सार्काः सचन्द्रा यमवसुवरुणा ह्यग्नयः सर्वपालाः।
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता द्विजखगसहिता मूर्तिमन्तो ह्यमूर्ता-
स्ते सर्वे मत्प्रसूता बहुविविधगुणाः पूरणार्थं पृथिव्याः॥ ५८॥
एते हि मुख्याः सुरसिद्धदानवैः पूज्यास्तथा संनिहिता महीतले।
यैर्दृष्टमात्रैः सहसैव नाशं प्रयाति पापं द्विजवर्य कीर्तनैः॥ ५९॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टाशीतितमोऽध्यायः॥ ८८॥

श्रीवामनजी बोले—गुरो! अनेक रूपोंसे युक्त होकर जिन-जिन पवित्र स्थानोंमें मै रहता हूँ, उनका मैं वर्णन कर रहा हूँ; उसे आप सुनें। भरद्वाजजी! मेरे अनुरूप मेरे अवतारोंसे पृथ्वी, आकाश, पाताल, समुद्र, स्वर्ग,

सभी दिशाएँ, पर्वत तथा मेघ व्याप्त हैं। ब्रह्मन्! दिव्य, पार्थिव, जलचर, आकाशचर, स्थावर, जङ्गम, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वसु, वरुण, सभी अग्नियाँ, समस्त प्राणियोंके पालक, ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक पशु-पक्षिसहित सभी मूर्त और अमूर्त पदार्थ, भाँति-भाँतिके गुणोंसे सम्पन्न—ये सभी पदार्थ पृथ्वीकी पूर्तिके लिये मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वीपर स्थित ये सभी मुख्य पदार्थ देवों, सिद्धों एवं दानवोंके पूजनीय हैं। द्विजश्रेष्ठ! इनके कीर्तन एवं दर्शनमात्रसे पाप शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ५६—५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अट्ठासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

[अथैकोननवतितमोऽध्यायः]

श्रीभगवानुवाच

आद्यं मात्स्यं महद्रूपं संस्थितं मानसे ह्रदे। सर्वपापक्षयकरं कीर्तनस्पर्शनादिभिः ॥ १ ॥
कौर्ममन्यत्सन्निधानं कौशिक्यां पापनाशनम्। हयशीर्षं च कृष्णांशे गोविन्दं हस्तिनापुरे ॥ २ ॥
त्रिविक्रमं च कालिन्द्यां लिङ्गभेदे भवं विभुम्। केदारे माधवं शौरिं कुब्जाम्रे हृष्टमूर्धजम् ॥ ३ ॥
नारायणं बदर्यां च वाराहे गरुडासनम्। जयेशं भद्रकर्णे च विपाशायां द्विजप्रियम् ॥ ४ ॥
रूपधारमिरावत्यां कुरुक्षेत्रे कुरुध्वजम्। कृतशौचे नृसिंहं च गोकर्णे विश्वकर्मिणम् ॥ ५ ॥
प्राचीने कामपालं च पुण्डरीकं महाम्भसि। विशाखयूपे ह्यजितं हंसं हंसपदे तथा ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यामखण्डं च वितस्तायां कुमारिलम्। मणिमत्पर्वते शम्भुं ब्रह्मण्ये च प्रजापतिम् ॥ ७ ॥
मधुनद्यां चक्रधरं शूलबाहुं हिमालये। विद्धि विष्णुं मुनिश्रेष्ठ स्थितमोषधिसानुनि ॥ ८ ॥

नवासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामन भगवान्‌का विविध स्थानोंमें निवास-वर्णन और कुरुजाङ्गलके लिये प्रस्थान करना)

श्रीभगवान् बोले—मेरा प्रथम विशाल मत्स्यरूप मानससरोवरमें स्थित है। वह कीर्तन और स्पर्श आदिसे सभी पापोंका विनाश करनेवाला है। दूसरा पापका विनाश करनेवाला मेरा कूर्मावतार कौशिकी नदीमें स्थित है। कृष्णांशमें हयशीर्ष और हस्तिनापुरमें गोविन्द नामसे विराजमान हैं। कालिन्दीमें त्रिविक्रम तथा लिङ्गभेदमें व्यापक भव, केदार तीर्थमें माधव, शौरि और कुब्जाम्रमें हृष्टमूर्धज स्थित हैं। बदरिकाश्रममें नारायण, वाराहमें गरुडासन, भद्रकर्णमें जयेश एवं विपाशा नदीके तटपर द्विजप्रिय विद्यमान हैं। इरावतीमें रूपधार, कुरुक्षेत्रमें कुरुध्वज, कृतशौचमें नृसिंह और गोकर्णमें विश्वकर्मा वर्तमान हैं। प्राचीन स्थानमें कामपाल, महाम्भस्‌में पुण्डरीक, विशाखयूपमें अजित तथा हंसपदमें हंसरूप विद्यमान हैं। पयोष्णीमें अखण्ड, वितस्तामें कुमारिल, मणिमान् पर्वतपर शम्भु एवं ब्रह्मण्यमें प्रजापति रूप स्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ! मधुनदीमें चक्रधर, हिमालयमें शूलबाहु और ओषधिप्रस्थमें मेरे विष्णु रूपको अवस्थित जानें ॥ १—८ ॥

भृगुतुङ्गे सुवर्णाक्षं नैमिषे पीतवाससम्। गयायां गोपतिं देवं गदापाणिनमीश्वरम् ॥ ९ ॥
त्रैलोक्यनाथं वरदं गोप्रतारे कुशेशयम्। अर्द्धनारीश्वरं पुण्ये माहेन्द्रे दक्षिणे गिरौ ॥ १० ॥
गोपालमुत्तरे नित्यं महेन्द्रे सोमपीथिनम्। वैकुण्ठमपि सह्याद्रौ पारियात्रे पराजितम् ॥ ११ ॥
कशेरुदेशे देवेशं विश्वरूपं तपोधनम्। मलयाद्रौ च सौगन्धिं विन्ध्यपादे सदाशिवम् ॥ १२ ॥
अवन्तिविषये विष्णुं निषधेष्वमरेश्वरम्। पाञ्चालिकं च ब्रह्मर्षे पाञ्चालेषु व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥
महोदये हयग्रीवं प्रयागे योगशायिनम्। स्वयम्भुवं मधुवने अयोगन्धिं च पुष्करे ॥ १४ ॥

तथैव विप्रप्रवर वाराणस्यां च केशवम्। अविमुक्तकमत्रैव लोलश्चात्रैव गीयते ॥ १५ ॥
पद्मायां पद्मकिरणं समुद्रे वडवामुखम्। कुमारधारे बाह्लीशं कार्तिकेयं च बर्हिणम् ॥ १६ ॥

भृगुतुङ्गमें सुवर्णाक्ष, नैमिषमें पीतवासा एवं गयामें गोपति गदाधर ईश्वररूपसे वर्तमान हैं। गोप्रतारमें वरदायक, तीनों लोकोंके स्वामी कुशेशय एवं पवित्र महेन्द्र पर्वतपर दक्षिणमें अर्धनारीश्वर रूप विद्यमान है। महेन्द्र पर्वतपर उत्तरमें सोमपीथी गोपाल, सह्याद्रि पर्वतपर वैकुण्ठ एवं पारियात्रमें अपराजितरूप स्थित है। कशेरुदेशमें तपोधन, विश्वरूप देवेश, मलय पर्वतपर सौगन्धि तथा विन्ध्यपादमें सदाशिव रूप वर्तमान है। ब्रह्मर्षे! अवन्तिदेशमें विष्णु, निषधदेशमें अमरेश्वर और पाञ्चालदेशमें मेरा पाञ्चालिक रूप अवस्थित है। महोदयमें हयग्रीव, प्रयागमें योगशायी, मधुवनमें स्वयम्भुव और पुष्करमें अयोगन्धि रूप विद्यमान है। विप्रश्रेष्ठ! उसी प्रकार वाराणसीमें मेरा केशवरूप तथा यहींपर अविमुक्तक तथा लोलरूप स्थित कहा गया है। पद्मामें पद्मकिरण, समुद्रमें वडवामुख तथा कुमारधारमें बाह्लीश और वहीं कार्तिकेय रूपसे स्थित हैं॥ ९–१६॥

अजेशे शम्भुमनघं स्थाणुं च कुरुजाङ्गले। वनमालिनमाहुर्मां किष्किन्धावासिनो जनाः ॥ १७ ॥
वीरं कुवलयारूढं शङ्खचक्रगदाधरम्। श्रीवत्साङ्कमुदाराङ्गं नर्मदायां श्रियः पतिम् ॥ १८ ॥
माहिष्मत्यां त्रिनयनं तत्रैव च हुताशनम्। अर्बुदे च त्रिसौपर्णं क्ष्माधरं शूकराचले ॥ १९ ॥
त्रिणाचिकेतं ब्रह्मर्षे प्रभासे च कपर्दिनम्। तथैवात्रापि विख्यातं तृतीयं शशिशेखरम् ॥ २० ॥
उदये शशिनं सूर्यं ध्रुवं च त्रितयं स्थितम्। हेमकूटे हिरण्याक्षं स्कन्दं शरवणे मुने ॥ २१ ॥
महालये स्मृतं रुद्रमुत्तरेषु कुरुष्वथ। पद्मनाभं मुनिश्रेष्ठ सर्वसौख्यप्रदायकम् ॥ २२ ॥
सप्तगोदावरे ब्रह्मन् विख्यातं हाटकेश्वरम्। तत्रैव च महाहंसं प्रयागेऽपि वटेश्वरम् ॥ २३ ॥
शोणे च रुक्मकवचं कुण्डिने घ्राणतर्पणम्। भिल्लीवने महायोगं माद्रेषु पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

अजेशमें अनघ शम्भु तथा कुरुजाङ्गलमें स्थाणुमूर्ति हैं। किष्किन्धाके निवासी लोग मुझे वनमाली कहते हैं। नर्मदाके क्षेत्रमें मुझे वीर, कुवलयारूढ, शङ्ख-चक्र-गदाधर, श्रीवत्साङ्क एव उदाराङ्ग श्रीपति कहा जाता है। माहिष्मतीमें मेरा त्रिनयन एव हुताशन रूप विद्यमान है। इसी प्रकार अर्बुदमें त्रिसौपर्ण एवं शूकराचलमें मेरा क्ष्माधर रूप अवस्थित है। ब्रह्मर्षे! प्रभासमें मेरा त्रिणाचिकेत, कपर्दी और तृतीय शशिशेखर रूप विख्यात है। उदयगिरिमें चन्द्र, सूर्य और ध्रुव—ये तीन मूर्तियाँ अवस्थित हैं। मुने! हेमकूटमें हिरण्याक्ष एव शरवणमें स्कन्दनामक रूप विद्यमान है। मुनिश्रेष्ठ! महालयमें रुद्र एवं उत्तरकुरुमें हर प्रकारका सुख प्रदान करनेवाला पद्मनाभ रूप विख्यात है। ब्रह्मन्! सप्तगोदावरमें हाटकेश्वर एवं महाहंस तथा प्रयागमें वटेश्वर रूप अवस्थित है। शोणमें रुक्मकवच, कुण्डिनमें घ्राणतर्पण, भिल्लीवनमें महायोग, माद्रमें पुरुषोत्तम रूप विद्यमान है॥ १७–२४॥

प्लक्षावतरणे विश्वं श्रीनिवासं द्विजोत्तम। शूर्पारके चतुर्बाहुं मगधायां सुधापतिम् ॥ २५ ॥
गिरिव्रजे पशुपतिं श्रीकण्ठं यमुनातटे। वनस्पतिं समाख्यातं दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २६ ॥
कालिञ्जरे नीलकण्ठं सरय्वां शम्भुमुत्तमम्। हंसयुक्तं महाकोश्यां सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २७ ॥
गोकर्णे दक्षिणे शर्वं वासुदेवं प्रजामुखे। विन्ध्यशृङ्गे महाशौरिं कन्धायां मधुसूदनम् ॥ २८ ॥
त्रिकूटशिखरे ब्रह्मन् चक्रपाणिनमीश्वरम्। लौहदण्डे हृषीकेशं कोसलायां मनोहरम् ॥ २९ ॥
महाबाहुं सुराष्ट्रे च नवराष्ट्रे यशोधरम्। भूधरं देविकानद्यां महोदायां कुशप्रियम् ॥ ३० ॥
गोमत्यां छादितगदं शङ्खोद्धारे च शङ्खिनम्। सुनेत्रं सैन्धवारण्ये शूरं शूरपुरे स्थितम् ॥ ३१ ॥
रुद्राख्यं च हिरण्वत्यां वीरभद्रं त्रिविष्टपे। शङ्कुकर्णं च भीमायां भीमं शालवने विदुः ॥ ३२ ॥

द्विजोत्तम ! प्लक्षावतरणमें विश्वात्मक श्रीनिवास, शूर्पारकमें चतुर्बाहु एवं मगधामें सुधापति रूप स्थित हैं। गिरिव्रजमें पशुपति, यमुनातटपर श्रीकण्ठ एवं दण्डकारण्यमें मेरा वनस्पति रूप विख्यात है। कालिञ्जरमें नीलकण्ठ, सरयूमें उत्तम शम्भु और महाकोशीमें सभी पापोंका विनाश करनेवाला हंसयुक्त रूप स्थित है। दक्षिण गोकर्णमें शर्व, प्रजामुखमें वासुदेव, विन्ध्यपर्वतके शिखरमें महाशौरि और कन्यामें मधुसूदन रूप विद्यमान है। ब्रह्मन् ! त्रिकूटपर्वतकी ऊँची चोटीपर चक्रपाणि ईश्वर, लौहदण्डमें हृषीकेश तथा कोसलामें मनोहर रूप वर्तमान हैं। सुराष्ट्रमें महाबाहु, नवराष्ट्रमें यशोधर, देविका नदीमें भूधर तथा महोदामें कुशप्रिय रूप स्थित है। गोमतीमें छादितगद, शङ्खोद्धारमें शङ्खी, सैन्धवारण्यमें सुनेत्र एवं शूरपुरमें शूर रूप विद्यमान है। हिरण्वतीमें रुद्र, त्रिविष्टपमें वीरभद्र, भीमामें शङ्कुकर्ण और शालवनमें भीमनामक रूपको लोग जानते हैं॥ २५—३२ ॥

विश्वामित्रं च गदितं कैलासे वृषभध्वजम्। महेशं महिलाशैले कामरूपे शशिप्रभम्॥ ३३॥
वलभ्यामपि गोमित्रं कटाहे पङ्कजप्रियम्। उपेन्द्रं सिंहलद्वीपे शक्राह्वे कुन्दमालिनम्॥ ३४॥
रसातले च विख्यातं सहस्रशिरसं मुने। कालाग्निरुद्रं तत्रैव तथाऽन्यं कृत्तिवाससम्॥ ३५॥
सुतले कूर्ममचलं वितले पङ्कजासनम्। महातले गुरो ख्यातं देवेशं छागलेश्वरम्॥ ३६॥
तले सहस्रचरणं सहस्रभुजमीश्वरम्। सहस्राक्षं परिख्यातं मुसलाकृष्टदानवम्॥ ३७॥
पाताले योगिनामीशं स्थितं च हरिशङ्करम्। धरातले कोकनदं मेदिन्यां चक्रपाणिनम्॥ ३८॥
भुवर्लोके च गरुडं स्वर्लोके विष्णुमव्ययम्। महर्ल्लोके तथाऽगस्त्यं कपिलं च जने स्थितम्॥ ३९॥
तपोलोकेऽखिलं ब्रह्मन् वाङ्मयं सत्यसंयुतम्। ब्रह्माणं ब्रह्मलोके च सप्तमे वै प्रतिष्ठितम्॥ ४०॥

कैलासमें वृषभध्वज और विश्वामित्र, महिलाशैलमें महेश और कामरूपमें शशिप्रभ रूप वर्तमान हैं। वलभीमें गोमित्र, कटाहमें पङ्कजप्रिय, सिंहलद्वीपमें उपेन्द्र एवं शक्राह्वमें कुन्दमाली नामक रूप स्थित हैं। मुने ! रसातलमें विख्यात सहस्रशीर्षा एवं कालाग्नि-रुद्र तथा कृत्तिवासा नामक रूप विद्यमान हैं। गुरो ! सुतलमें अचल कूर्म, वितलमें पङ्कजासन तथा महातलमें छागलेश्वर नामक विख्यात देवेशरूप स्थित हैं। तलमें सहस्रचरण, सहस्रबाहु एवं मुसलसे दानवको आकृष्ट करनेवाला मेरा सहस्राक्ष-रूप अवस्थित है। पातालमें योगीश हरिशङ्कर, धरातलपर कोकनद तथा मेदिनीमें चक्रपाणि-रूप वर्तमान है। भुवर्लोकमें गरुड, स्वर्लोकमें अव्यय विष्णु, महर्लोकमें अगस्त्य तथा जनलोकमें कपिल नामक रूप विद्यमान हैं। ब्रह्मन् ! तपोलोकमें सत्यसे संयुक्त अखिल वाङ्मय एवं सप्तम ब्रह्मलोकमें ब्रह्मा नामक रूप प्रतिष्ठित है॥ ३३—४० ॥

सनातनं तथा शैवे परं ब्रह्म च वैष्णवे। अप्रतर्क्यं निरालम्बे निराकाशे तपोमयम्॥ ४१॥
जम्बूद्वीपे चतुर्बाहुं कुशद्वीपे कुशेशयम्। प्लक्षद्वीपे मुनिश्रेष्ठ ख्यातं गरुडवाहनम्॥ ४२॥
पद्मनाभं तथा क्रौञ्चे शाल्मले वृषभध्वजम्। सहस्रांशुः स्थितः शाके धर्मराट् पुष्करे स्थितः॥ ४३॥
तथा पृथिव्यां ब्रह्मर्षे शालग्रामे स्थितोऽस्म्यहम्। सजलस्थलपर्यन्तं चरेषु स्थावरेषु च॥ ४४॥

एतानि पुण्यानि ममालयानि ब्रह्मन् पुराणानि सनातनानि।
धर्मप्रदानीह महौजसानि संकीर्तनीयान्यघनाशनानि॥ ४५॥
संकीर्तनात् स्मरणाद् दर्शनाच्च संस्पर्शनादेव च देवतायाः।
धर्मार्थकामाद्यपवर्गमेव लभन्ति देवा मनुजाःससाध्याः॥ ४६॥
एतानि तुभ्यं विनिवेदितानि ममालयानीह तपोमयानि।
इयिष्ठ गच्छामि महासुरस्य यज्ञं सुराणां हि हिताय विप्र॥ ४७॥

शिवलोकमे सनातन, विष्णुलोकमें परम ब्रह्म, निरालम्बमें अप्रतर्क्य और निराकाशमे तपोमय नामक रूप स्थित है । मुनिश्रेष्ठ ! जम्बूद्वीपमे चतुर्बाहु, कुशद्वीपमे कुशेशय और प्लक्षद्वीपमे गरुडवाहन नामसे विख्यात रूप वर्तमान है । क्रौञ्चद्वीपमे पद्मनाभ, शाल्मलद्वीपमें वृषभध्वज, शाकद्वीपमे सहस्रांशु तथा पुष्करद्वीपमें धर्मराज नामक रूप विद्यमान हैं । ब्रह्मर्षे ! इसी प्रकार पृथ्वीमें मै शालग्रामके भीतर अवस्थित हूँ । इस प्रकार जलसे लेकर स्थलपर्यन्त समस्त चराचरमें मै वर्तमान हूँ । ब्रह्मन् ! ये ही मेरे पुण्य, पुरातन एव सनातन धर्मप्रद, अत्यन्त ओजस्वी, सङ्कीर्तनके योग्य एवं अघोंके नाश करनेवाले निवास-स्थान हैं । देव, मनुष्य और साध्यलोग देवताके कीर्तन, स्मरण, दर्शन और स्पर्श करनेसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करते हैं । विप्र ! मैंने आपसे अपने इन तपोमय स्थानोको कह दिया । हे विप्र ! अब आप उठिये; देवताओंका हित-साधन करनेके लिये मैं बलिके यज्ञमें जाता हूँ ॥ ४१–४७ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं महर्षे विष्णुर्भरद्वाजमृषिं महात्मा ।
विलासलीलागमनो गिरीन्द्रात् स चाभ्यगच्छत् कुरुजाङ्गलं हि ॥ ४८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे ! महात्मा विष्णु महर्षि भरद्वाजसे इस प्रकारका वचन कहकर मनोहर चालसे चलते हुए गिरीन्द्रसे कुरुजाङ्गलमें पहुँचे ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें नवासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

[अथ नवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः समागच्छति वासुदेवे मही चकम्पे गिरयश्च चेलुः ।
क्षुब्धाः समुद्रा दिवि ऋक्षमण्डलो बभौ विपर्यस्तगतिर्महर्षे ॥ १ ॥
यज्ञः समागात् परमाकुलत्वं न वेद्मि किं मे मधुहा करिष्यति ।
यथा प्रदग्धोऽस्मि महेश्वरेण किं मां न संधक्ष्यति वासुदेवः ॥ २ ॥
ऋक्साममन्त्राहुतिभिर्हुताभिर्वितानकीयान् ज्वलनास्तु भागान् ।
भक्त्या द्विजेन्द्रैरपि सम्प्रपादितान् नैव प्रतीच्छन्ति विभोर्भयेन ॥ ३ ॥
तान् दृष्ट्वा घोररूपांस्तु उत्पातान् दानवेश्वरः । पप्रच्छोशनसं शुक्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥
किमर्थमाचार्य मही सशैला रम्भेव वाताभिहता चचाल ।
किमासुरीयान् सुहुतानपीह भागान् न गृह्णन्ति हुताशनाश्च ॥ ५ ॥
क्षुब्धाः किमर्थं मकरालयाश्च भो ऋक्षा न खे किं प्रचरन्ति पूर्ववत् ।
दिशः किमर्थं तमसा परिप्लुता दोषेण कस्याद्य वदस्व मे गुरो ॥ ६ ॥

नब्बेवॉ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् वामनके आगमनसे पृथिवीकी क्षुब्धता, बलि और शुक्रके सवाद-प्रसंगमें कोशकारकी कथा)

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे ! उसके बाद वामनका रूप धारण करनेवाले वासुदेवके आनेपर पृथ्वी कॉपने लगी, पर्वत अपने स्थानसे डिग गये, समुद्रमें जोरसे लहरें उठने लगीं और आकाशमें तारासमूहकी गति अव्यवस्थित हो गयी । यज्ञ भी अत्यन्त व्याकुल हो गया और सोचने लगा—न जाने मधुसूदन भगवान् वासुदेव

आकर मेरी क्या गति करेंगे ? जैसे महेश्वरने मुझे दग्ध कर दिया था, क्या वासुदेव भी तो मुझे वैसे ही दग्ध (ध्वस्त) नहीं कर देंगे ? अग्नि विष्णुके भयसे श्रेष्ठ द्विजोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक ऋग्वेद एवं सामवेदके मन्त्रोंकी आहुतियोंसे हवन किये गये यज्ञीय भागोंको ग्रहण नहीं कर रहे थे। उन घोर उत्पातोंको देखकर दानवेश्वर-(बलि-)ने उशना शुक्राचार्यको प्रणाम किया तथा हाथ जोड़कर उनसे पूछा—आचार्यजी ! पर्वतोंके साथ पृथ्वी वायुके झोंकसे केलेके वृक्षके समान क्यों काँप रही है और अग्निदेव भी विधिपूर्वक हवन किये गये आसुरीय भागोंको क्यों नहीं स्वीकार कर रहे हैं ? समुद्रमें भयंकर लहरें क्यों उठ रही हैं ? आकाशमें नक्षत्र पहलेकी भाँति क्यों नहीं सुव्यवस्थित रूपसे स्थित हैं और दिशाएँ क्यों अन्धकारसे भर गयी हैं ? गुरो ! मुझे आप कृपया यह बतलायें कि किसके अपराधसे यह सब हो रहा है ? ॥ १—६ ॥

पुलस्त्य उवाच

शुक्रस्तद् वाक्यमाकर्ण्य विरोचनसुतेरितम्। अथ ज्ञात्वा कारणं च बलिं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—विरोचनपुत्रके द्वारा कहे गये उस वाक्यको सुननेके बाद पूछे गये प्रश्नके कारणको जानकर शुक्राचार्यने बलिसे कहा—॥ ७ ॥

शुक्र उवाच

शृणुष्व दैत्येश्वर येन भागान् नामी प्रतीच्छन्ति हि आसुरीयान्।
हुताशना मन्त्रहुतानपीह नूनं समागच्छति वासुदेवः ॥ ८ ॥
तदङ्घ्रिविक्षेपमपारयन्ती मही सशैला चलिता दितीश।
तस्यां चलत्यां मकरालयामी उद्वृत्तवेला दितिजाद्य जाताः ॥ ९ ॥

शुक्राचार्यने कहा—दैत्येश्वर ! सुनो। निश्चय ही वासुदेव आ रहे हैं। इसीलिये अग्निदेव मन्त्रके द्वारा आहुति देनेपर भी आसुरीय भागोंको नहीं ग्रहण कर रहे हैं। दितीश ! उनके चरण रखनेके भारको सहन न कर सकनेके कारण पर्वतोंसहित पृथ्वी काँप रही है। दितिज ! पृथ्वीके कम्पनसे ये समुद्र आज तटका उल्लङ्घन कर गये हैं ॥ ८-९ ॥

पुलस्त्य उवाच

शुक्रस्य वचनं श्रुत्वा बलिर्भार्गवमब्रवीत्। धर्म्यं सत्यं च पथ्यं च सर्वोत्साहसमीरितम् ॥ १० ॥

पुलस्त्यजी बोले—शुक्राचार्यका वचन सुनकर बलिने उनसे धर्मसे युक्त, सत्य, कल्याणप्रद और सभी प्रकारके उत्साहसे भरा वचन कहा ॥ १० ॥

बलिरुवाच

आयाते वासुदेवे वद मम भगवन् धर्मकामार्थतत्त्वं
किं कार्यं किं च देयं मणिकनकमथो भूगजाश्वादिकं वा।
किं वा वाच्यं मुरारेर्निजहितमथवा तद्धितं वा प्रयुञ्जे
तथ्यं पथ्यं प्रियं भो मम वद शुभदं तत्करिष्ये न चान्यत् ॥ ११ ॥

बलिने कहा—भगवन् ! वासुदेवके आनेपर मेरे करने योग्य धर्म, काम एवं अर्थके तत्त्वको बतलाये। मै उन्हे मणि, स्वर्ण, पृथ्वी, हाथी अथवा अश्वमेसे क्या दान करूँ ? मै मुरारिसे क्या कहूँ ? अपना अथवा उनका क्या कल्याण सिद्ध करूँ ? आप मुझे कल्याणकारी, मङ्गलमय तथा प्रिय तथ्य बतलाये। मै वही करूँगा, अन्य कुछ नहीं करूँगा ॥ ११ ॥

पुलस्त्य उवाच

तद्वाक्यं भार्गवः श्रुत्वा दैत्यनाथेरितं वरम्। विचिन्त्य नारद प्राह भूतभव्यविदीश्वरः ॥ १२ ॥
त्वया कृता यज्ञभुजोऽसुरेन्द्रा बहिष्कृता ये श्रुतिदृष्टमार्गे।
श्रुतिप्रमाणं मखभोजिनो बहिः सुरास्तदर्थं हरिरभ्युपैति ॥ १३ ॥
तस्याध्वरं दैत्यसमागतस्य कार्यं हि किं मां परिपृच्छसे यत्।
कार्यं न देयं हि विभो तृणाग्रं यदध्वरे भूकनकादिकं वा ॥ १४ ॥
वाच्यं तथा साम निरर्थकं विभो कस्ते वरं दातुमलं हि शक्नुयात्।
यस्योदरे भूर्भुवनाकपालरसातलेशा निवसन्ति नित्यशः ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! दैत्यपतिद्वारा कहे गये उस उत्तम वचनको सुननेके पश्चात् भूत एवं भविष्यके जाननेवाले भार्गवने विचार कर कहा—तुमने श्रुतिद्वारा प्रतिपादित मार्गमें अनधिकृत असुरेन्द्रो-(दैत्यो-)को यज्ञभागका भोक्ता बनाया है एवं वेदप्रमाणके अनुसार यज्ञभोक्ता देवोको अधिकाररहित कर दिया है। इसी कारण हरि आ रहे हैं। दैत्य! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया कि यज्ञमें उनके आनेपर क्या करना चाहिये, तो (उसके विषयमें मेरा यह कहना है कि) यज्ञमे तिनकेके नोकके बराबर भी पृथ्वी या सुवर्ण आदि (कुछ भी) उन्हें नहीं देना चाहिये। इस तरहका अर्थहीन और सामयुक्त वचन उनसे कहना चाहिये कि विभो! जिसके पेटमें भूलोक, भुवर्लोक एवं स्वर्लोकके स्वामी तथा रसातलके शासक सदा निवास करते हैं ऐसे आपको दान देनेमे कौन समर्थ हो सकता है?॥ १२–१५ ॥

बलिरुवाच

मया न चोक्तं वचनं हि भार्गव न चास्ति मह्यं न च दातुमुत्सहे।
समागतेऽप्यर्थिनि हीनवृत्ते जनार्दने लोकपतौ कथं तु ॥ १६ ॥
एवं च श्रूयते श्लोकः सतां कथयतां विभो।
सद्भावो ब्राह्मणेष्वेव कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता। दृश्यते हि तथा तच्च सत्यं ब्राह्मणसत्तम ॥ १७ ॥
पूर्वाभ्यासेन कर्माणि सम्भवन्ति नृणां स्फुटम्। वाक्कायमानसानीह योन्यन्तरगतान्यपि ॥ १८ ॥
किं वा त्वया द्विजश्रेष्ठ पौराणी न श्रुता कथा। या वृत्ता मलये पूर्वं कोशकारसुतस्य तु ॥ १९ ॥

बलिने कहा—भार्गव! मैने निम्नकोटिकी वृत्तिवाले याचकके आनेपर भी यह बात नहीं कही कि मेरे पास कुछ नहीं है और मै देना नहीं चाहता तो लोकपति जनार्दनके याचक बनकर आनेपर मै इस प्रकार कैसे कह सकता हूँ। विभो! सज्जनोके द्वारा कही गयी इस तरहकी पवित्र वाणी सुनी जाती है कि ऐश्वर्य चाहनेवाले मनुष्यको ब्राह्मणोके प्रति अच्छे भाव रखने चाहिये। ब्राह्मणश्रेष्ठ! यह सत्य भी मालूम होता है कि वचन, शरीर एव मनके द्वारा किये गये मनुष्योके कर्म दूसरी योनियोंमें भी पहलेके अभ्याससे स्पष्टरूपसे प्रकट होते हैं। द्विजश्रेष्ठ! प्राचीन कालमे मलयपर्वतपर घटित हुई कोशकारके पुत्रकी प्राचीन कथाको क्या आपने नहीं सुना है?॥ १६–१९ ॥

शुक्र उवाच

कथयस्व महाबाहो कोशकारसुताश्रयाम्। कथां पौराणिकीं पुण्यां महाकौतूहलं हि मे ॥ २० ॥

शुक्राचार्यने कहा—महाबाहो! कोशकारकी पुत्रसम्बन्धिनी पवित्र प्राचीन कथाको मुझसे कहो। उसे सुननेके लिये मुझे महान् कौतूहल हो रहा है॥ २० ॥

बलिरुवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि कथामेतां मखान्तरे। पूर्वाभ्यासनिबद्धां हि सत्यां भृगुकुलोद्वह ॥ २१ ॥
मुद्गलस्य मुनेः पुत्रो ज्ञानविज्ञानपारगः। कोशकार इति ख्यात आसीद् ब्रह्मंस्तपोरतः ॥ २२ ॥
तस्यासीद् दयिता साध्वी धर्मिष्ठा नामतः श्रुता। सती वात्स्यायनसुता धर्मशीला पतिव्रता ॥ २३ ॥
तस्यामस्य सुतो जातः प्रकृत्या वै जडाकृतिः। मूकवन्नालपति स न च पश्यति चान्धवत् ॥ २४ ॥
तं जातं ब्राह्मणी पुत्रं जडं मूकं त्वचक्षुषम्। मन्यमाना गृहद्वारि षष्ठेऽहनि समुत्सृजत् ॥ २५ ॥
ततोऽभ्यागाद् दुराचारा राक्षसी जातहारिणी। स्वं शिशुं कृशमादाय सूर्पाक्षी नाम नामतः ॥ २६ ॥
तत्रोत्सृज्य स्वपुत्रं सा जग्राह द्विजनन्दनम्। तमादाय जगामाथ भोक्तुं शालोदरे गिरौ ॥ २७ ॥
ततस्तामागतां वीक्ष्य तस्या भर्ता घटोदरः। नेत्रहीनः प्रत्युवाच किमानीतस्त्वया प्रिये ॥ २८ ॥

बलिने कहा—भृगुकुलश्रेष्ठ ! पूर्वके अभ्याससे सम्बद्ध इस सत्य कथाको मैं यज्ञमें कह रहा हूँ; आप सुनें। ब्रह्मन् ! महर्षि मुद्गलका कोशकार नामसे प्रसिद्ध एवं ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न एक तपस्वी पुत्र था। उसकी पत्नीका नाम था धर्मिष्ठा। वह वात्स्यायनकी कन्या पतिव्रता, साध्वी, धर्मका आचरण करनेवाली तथा पतिकी सेवा करनेमें निष्ठा रखनेवाली थी। उस स्त्रीके गर्भसे एक पुत्र हुआ, जो स्वभावसे ही मूढ था। वह गूँगे मनुष्यकी तरह न बोलता और अन्धेकी भाँति वह देखता भी नहीं था। अपने उस जन्मे हुए पुत्रको मूर्ख, गूँगा और अंधा समझकर ब्राह्मणीने छठे दिन उसे घरके द्वारपर फेंक दिया। उसके बाद सूर्पाक्षी नामकी एक दुराचारिणी एवं नवजात बालकोंको चुरा लेनेवाली राक्षसी अपने दुबले-पतले पुत्रको लेकर वहाँ आयी और अपने पुत्रको वहाँ छोड़कर उसने ब्राह्मणपुत्रको उठा लिया। उसे लेकर खानेके लिये शालोदर नामक पर्वतपर चली गयी। उसके बाद उसे आयी हुई जानकर घटोदर नामके उसके अंधे पतिने पूछा—प्रिये ! तुम क्या लायी हो ? ॥ २१—२८ ॥

साऽब्रवीद् राक्षसपते मया स्थाप्य निजं शिशुम्। कोशकारद्विजगृहे तस्यानीतः प्रभो सुतः ॥ २९ ॥
स प्राह न त्वया भद्रे भद्रमाचरितं त्विति। महाज्ञानी द्विजेन्द्रोऽसौ ततः शप्स्यति कोपितः ॥ ३० ॥
तस्माच्छीघ्रमिमं त्यक्त्वा मनुजं घोररूपिणम्। अन्यस्य कस्यचित् पुत्रं शीघ्रमानय सुन्दरि ॥ ३१ ॥
इत्येवमुक्ता सा रौद्रा राक्षसी कामचारिणी। समाजगाम त्वरिता समुत्पत्य विहायसम् ॥ ३२ ॥
स चापि राक्षससुतो निसृष्टो गृहबाह्यतः। रुरोद सुस्वरं ब्रह्मन् प्रक्षिप्याङ्गुष्ठमानने ॥ ३३ ॥
सा क्रन्दितं चिराच्छ्रुत्वा धर्मिष्ठा पतिमब्रवीत्। पश्य स्वयं मुनिश्रेष्ठ सशब्दस्तनयस्तव ॥ ३४ ॥
त्रस्ता सा निर्जगामाथ गृहमध्यात् तपस्विनी। स चापि ब्राह्मणश्रेष्ठः समपश्यत तं शिशुम् ॥ ३५ ॥
वर्णरूपादिसंयुक्तं यथा स्वतनयं तथा। ततो विहस्य प्रोवाच कोशकारो निजां प्रियाम् ॥ ३६ ॥

उसने कहा—राक्षसपते ! प्रभो ! मैं अपने बच्चेको कोशकार मुनिके घरमें रखकर उनके पुत्रको लायी हूँ। राक्षसने कहा—भद्रे ! तुमने यह ठीक नहीं किया। वह श्रेष्ठ ब्राह्मण महाज्ञानी तो हैं; किंतु वह (इस कार्यसे) कुपित होकर (तुम्हें) शाप दे देगा। सुन्दरि ! इसलिये शीघ्र इस रौद्र रूपवाले मनुष्यको छोड़कर तुम किसी दूसरेके पुत्रको ले आओ। ऐसा कहनेपर वह स्वच्छन्दचारिणी डरावनी राक्षसी आकाशमें उड़ती हुई शीघ्र (वहाँ) चली गयी। ब्रह्मन् ! घरके बाहर छोड़ा गया वह राक्षस-पुत्र भी मुखमें अँगूठा डालकर उच्च स्वरसे रोने लगा। उस धर्मिष्ठाने अधिक समयके बाद रुलाई सुनकर पतिसे कहा—मुनिश्रेष्ठ ! पुत्रको स्वयं देखिये, आपका यह पुत्र शब्द करने लगा। डरकर वह तपस्विनी गृहके भीतरसे बाहर निकली। उस श्रेष्ठ

※

ब्राह्मणने भी उस शिशुको देखा । अपने पुत्रके ही समान रंग और रूप आदिसे युक्त उस बालकको देखकर कोशकार मुनिने हँसकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ २९–३६ ॥

एतेनाविश्य धर्मिष्ठे भाव्यं भूतेन साम्प्रतम् । कोऽप्यस्माकं छलयितुं सुरूपी भुवि संस्थितः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा वचनं मन्त्री मन्त्रैस्तं राक्षसात्मजम् । बबन्धोल्लिख्य वसुधां सकुशेनाथ पाणिना ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सूर्पाक्षी विप्रबालकम् । अन्तर्धानगता भूमौ चिक्षेप गृहदूरतः ॥ ३९ ॥
तं क्षिप्तमात्रं जग्राह कोशकारः स्वकं सुतम् । सा चाभ्येत्य ग्रहीतुं स्वं नाशकद् राक्षसी सुतम् ॥ ४० ॥
इतश्चेतश्च विभ्रष्टा सा भर्तारमुपागमत् । कथयामास यद् वृत्तं स्वद्विजात्मजहारिणम् ॥ ४१ ॥
एवं गतायां राक्षस्यां ब्राह्मणेन महात्मना । स राक्षसशिशुर्ब्रह्मन् भार्यायै विनिवेदितः ॥ ४२ ॥
स चात्मतनयः पित्रा कपिलायाः सवत्सयाः । दध्ना संयोजितोऽत्यर्थं क्षीरेणेक्षुरसेन च ॥ ४३ ॥
द्वावेव वर्धितौ बालौ संजातौ सप्तवार्षिकौ । पित्रा च कृतनामानौ निशाकरदिवाकरौ ॥ ४४ ॥

धर्मिष्ठे ! इस बालकके अंदर अवश्य कोई भूत प्रवेश कर गया है । हमलोगोंको धोखा देनेके लिये सुन्दर रूपवाला कोई (भूत) इस स्थानपर विद्यमान है । ऐसा कहकर उस मन्त्रवेत्ताने हाथमें कुशा लेकर मन्त्रोंके द्वारा भूमिको रेखासे अङ्कितकर राक्षसपुत्रको बाँध दिया । इसी बीच सूर्पाक्षी वहाँ पहुँची और अदृश्यरूपमें (छिपकर) घरसे दूर स्थित होकर उसने ब्राह्मणके बालकको फेंका । फेंकते ही कोशकारने अपने उस पुत्रको पकड़ लिया । परंतु वह राक्षसी वहाँ जाकर अपने पुत्रको नहीं पकड़ सकी । दोनो ओरसे हाथ धोकर वह अपने पतिके पास गयी और अपने पुत्र तथा ब्राह्मणपुत्र दोनोंके खोनेकी घटना कह सुनायी । ब्रह्मन् ! इस प्रकार राक्षसीके चले जानेपर महात्मा ब्राह्मणने अपनी पत्नीको उस राक्षस-पुत्रको दे दिया । पिताने अपने पुत्रको सवत्सा कपिला गायके दूध, दही और ईखके रससे पाला-पोसा । दोनों ही बालक बढ़कर सात वर्षके हो गये । पिताने उन दोनोंका नाम निशाकर और दिवाकर रखा ॥ ३७–४४ ॥

नैशाचरिर्दिवाकीर्तिर्निशाकीर्तिः स्वपुत्रकः । तयोश्चकार विप्रोऽसौ व्रतबन्धक्रियां क्रमात् ॥ ४५ ॥
व्रतबन्धे कृते वेदं पपाठासौ दिवाकरः । निशाकरो जडतया न पपाठेति नः श्रुतम् ॥ ४६ ॥
तं बान्धवाश्च पितरौ माता भ्राता गुरुस्तथा । पर्यनिन्दंस्तथा ये च जना मलयवासिनः ॥ ४७ ॥
ततः स पित्रा क्रुद्धेन क्षिप्तः कूपे निरूदके । महाशिलां चोपरि वै पिधानमवरोपयत् ॥ ४८ ॥
एवं क्षिप्तस्तदा कूपे बहुवर्षगणान् स्थितः । तत्रास्त्यामलकीगुल्मः पोषाय फलितोऽभवत् ॥ ४९ ॥
ततो दशसु वर्षेषु समतीतेषु भार्गव । तस्य माताऽगमत् कूपं तमन्धं शिलयाचितम् ॥ ५० ॥
सा दृष्ट्वा निचितं कूपं शिलया गिरिकल्पया । उच्चैः प्रोवाच्च केनेयं कूपोपरि शिला कृता ॥ ५१ ॥
कूपान्तस्थः स तां वाणीं श्रुत्वा मातुर्निशाकरः । प्राह मदत्ता पित्रा मे कूपोपरि शिला त्वियम् ॥ ५२ ॥
साऽतिभीताऽब्रवीत् कोऽसि कूपान्तस्थोऽद्भुतस्वरः । सोऽप्याह तव पुत्रोऽस्मि निशाकरेति विश्रुतः ॥ ५३ ॥

राक्षसके बालकका नाम दिवाकीर्ति (दिवाकर) और ब्राह्मणके बालकका नाम निशाकीर्ति (निशाकर) था । ब्राह्मणने क्रमशः दोनोंका उपनयन-संस्कार किया । उपनयन (जनेऊ) हो जानेपर दिवाकर वेदपाठ करने लगा । किंतु निशाकर जड़ताके कारण वेदाध्ययन नहीं करता था—ऐसा हमलोगोंने सुना है । माता, पिता, भाई, बन्धुजन, गुरु और दूसरे मलयके निवासी उसकी निन्दा करने लगे । उसके बाद पिताने कुपित होकर उसे जलरहित कुएँमें फेंक दिया और ऊपरसे एक बड़ी शिलासे ढँक दिया । इस प्रकार कुएँमें फेंक दिये जानेपर वह बालक बहुत दिनोंतक वहाँ पड़ा रहा । उस कुएँमें एक आँवलेका छोटा वृक्ष (क्षुप) था । उस बालकके लालन-पालनके

मारो । तपोधन ! मेरा वचन सुनकर उन लोगोंने मुझे राक्षस समझा और वृक्षमें कसकर बाँधकर मार डाला । परस्त्री-सेवनके कारण फिर मैं नरकमें गया और हजारों वर्षोंके बाद वहाँसे छुटकारा होनेपर मैं सफेद गदहेकी योनिमें जनमा ॥ ७६–८३ ॥

ब्राह्मणस्याग्निवेश्यस्य गेहे बहुकलत्रिणः । तत्रापि सर्वविज्ञानं प्रत्यभासत ततो मम ॥ ८४ ॥
उपवाह्यः कृतश्चास्मि द्विजयोषिद्भिरादरात् । एकदा नवराष्ट्रीया भार्या तस्याग्रजन्मनः ॥ ८५ ॥
विमतिर्नामतः ख्याता गन्तुमैच्छद् गृहं पितुः । तामुवाच पतिर्गच्छ आरुह्य श्वेतगर्दभम् ॥ ८६ ॥
मासेनागमनं कार्यं न स्थेयं परतस्ततः । इत्येवमुक्ता सा भर्त्रा तन्वी मामधिरुह्य च ॥ ८७ ॥
बन्धनादवमुच्याथ जगाम त्वरिता मुने । ततोऽर्धपथि सा तन्वी मत्पृष्ठादवरुह्य वै ॥ ८८ ॥
अवतीर्णा नदीं स्नातुं स्वरूपा चार्द्रवाससा । साङ्गोपाङ्गां रूपवतीं दृष्ट्वा नामहमाद्रवम् ॥ ८९ ॥
मया चाभिद्रुता तूर्णं पतिता पृथिवीतले । तस्यामुपरि भो तात पतितोऽहं भृशातुरः ॥ ९० ॥
दृष्टो भर्त्रानुसृष्टेन नृणा तदनुसारिणा । प्रोत्क्षिप्य यष्टिं मां ब्रह्मन् समाधावत् त्वरान्वितः॥ ९१ ॥

उस योनिमें मै अनेक स्त्रियोंवाले अग्निवेश्य नामके ब्राह्मणके घरमें रहता था । वहाँ भी पूर्वजन्ममें अर्जित सारे ज्ञानोंका आभास मुझे हो रहा था । ब्राह्मणके घरकी स्त्रियोंने मुझे प्रेमसे सवारीके काममें लगाया । एक समय उस ब्राह्मणकी नवराष्ट्रदेशकी विमति नामक पत्नी अपने पिताके घर जानेके लिये उत्सुक हुई । उसके पतिने उससे कहा—इस सफेद गदहेपर सवार होकर चली जाओ और एक महीनेके भीतर चली आना । उससे अधिक समयतक न रहना । मुने ! पतिके इस प्रकार कहनेपर वह सुन्दरी मेरा बन्धन खोल तत्काल मेरे ऊपर सवार हुई और चल पड़ी । उसके बाद आधे मार्गमें वह सुन्दरी मेरी पीठसे उतरकर नदीमें नहानेके लिये उतरी । भींगे वस्त्र होनेसे उसका अङ्ग स्पष्ट दिखायी पड़ा । उस सर्वाङ्गसुन्दरीको देखकर मैं उसकी ओर झपटा । मेरे झपटनेपर वह तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ी । तात ! मै अत्यन्त आतुर होकर उसके ऊपर गिर गया । ब्रह्मन् ! स्वामीके आदेशसे उस स्त्रीके पीछे-पीछे आनेवाले अनुचरने मुझे देख लिया और डंडा उठाकर वह वेगसे मेरी ओर दौड़ पड़ा ॥ ८४–९१ ॥

तद्भयात् तां परित्यज्य प्रद्रुतो दक्षिणामुखः । ततोऽभिद्रवतस्तूर्णं खलीनरसना मुने ॥ ९२ ॥
ममासक्ता वंशगुल्मे दुर्मोक्षे प्राणनाशने । तत्रासक्तस्य षड्रात्रान्ममाभूज्जीवितक्षयः ॥ ९३ ॥
गतोऽस्मि नरकं भूयस्तस्मान्मुक्तोऽभवं शुकः । महारण्ये तथा बद्धः शबरेण दुरात्मना ॥ ९४ ॥
पञ्जरे क्षिप्य विक्रीतो वणिक्पुत्राय शालिने । तेनाप्यन्तःपुरवरे युवतीनां समीपतः ॥ ९५ ॥
शब्दशास्त्रविदित्येवं दोषघ्नश्चेत्यवस्थितः । तत्रासतस्तरुण्यस्ता ओदनाम्बुफलादिभिः ॥ ९६ ॥
भक्ष्यैश्च दाडिमफलैः पुष्णन्त्यहरहः पितः । कदाचित् पद्मपत्राक्षी श्यामा पीनपयोधरा ॥ ९७ ॥
सुश्रोणी तनुमध्या च वणिक्पुत्रप्रिया शुभा । नाम्ना चन्द्रावली नाम समुद्घाट्याथ पञ्जरम् ॥ ९८ ॥
मां जग्राह सुचार्वङ्गी कराभ्यां चारुहासिनी । चकारोपरि पीनाभ्यां स्तनाभ्यां सा हि मां ततः ॥ ९९ ॥

उसके आतङ्कसे उस स्त्रीको छोड़कर मै उसी समय दक्षिण दिशाकी ओर भागा । मुने ! बहुत शीघ्रतासे दौड़ते हुए मेरी लगामकी रस्सी प्राणघातिनी बाँसकी विकट झाड़ीमें फँस गयी । वहाँ फँसा हुआ मै छः रातके बाद मर गया । उसके बाद मुझे फिर नरकमें जाना पड़ा । वहाँसे छुटकारा पानेके बाद मै शुक पक्षीकी योनिमें उत्पन्न हुआ । उस योनिमें विशाल वनमें दुष्टात्मा शबरने मुझे बाँध लिया । पिंजड़ेमें रखकर (उसने मुझे) एक गृहस्थ वणिक् पुत्रके हाथ बेंच दिया । उसने भी उत्तम महलमें युवतियोंके पास मुझे सम्पूर्ण शास्त्रका

जाननेवाला तथा दोषोंको दूर करनेवाला समझकर रख दिया। पिताजी! वहाँ रहते समय वे युवतियाँ प्रतिदिन मुझे भात, जल, अनारके फल तथा अन्य भक्ष्य पदार्थ खिलाकर पालने लगीं। एक समय वणिक्‌पुत्रकी कमलदलके समान नेत्रोंवाली श्यामा, विशाल स्तनों तथा सुन्दर जंघाओं एवं सूक्ष्मकटिवाली कल्याणी चन्द्रावली नामकी प्रियाने पिंजड़ेको खोला। मधुर मुसकानवाली सुन्दरीने मुझे दोनों हाथोंमें पकड़ लिया और अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया॥ ९२–९९॥

ततोऽहं कृतवान् भावं तस्यां विलसितुं प्लवन्। ततोऽनुप्लवतस्तत्र हारे मर्कटबन्धनम्॥१००॥
बद्धोऽहं पापसंयुक्तो मृतश्च तदनन्तरम्। भूयोऽपि नरकं घोरं प्रपन्नोऽस्मि सुदुर्मतिः॥१०१॥
तस्माच्चाहं वृषत्वं वै गतश्चाण्डालपक्वणे। स चैकदा मां शकटे नियोज्य स्वां विलासिनीम्॥१०२॥
समारोप्य महातेजा गन्तुं कृतमतिर्वनम्। ततोऽग्रतः स चण्डालो गतस्त्वेवास्य पृष्ठतः॥१०३॥
गायन्ती याति तच्छ्रुत्वा जातोऽहं व्यथितेन्द्रियः। पृष्ठतस्तु समालोक्य विपर्यस्तस्तथोत्प्लुतः॥१०४॥
पतितो भूमिमगमं तदक्षे क्षणविक्रमात्। योक्त्रे सुबद्ध एवास्मि पञ्चत्वमगमं ततः॥१०५॥
भूयो निमग्नो नरके दशवर्षशतान्यपि। अतस्तव गृहे जातस्त्वहं जातिमनुस्मरन्॥१०६॥
तावन्त्येवाद्य जन्मानि स्मरामि चानुपूर्वशः। पूर्वाभ्यासाच्च शास्त्राणि बन्धनं चागतं मम॥१०७॥
तदहं जातविज्ञानो नाचरिष्ये कथंचन। पापानि घोररूपाणि मनसा कर्मणा गिरा॥१०८॥

उसके बाद मैंने चन्द्रावलीके साथ विहार करनेका आशय प्रकट किया। तब पापमें आसक्त होकर घूमता हुआ मैं उसके हारमें बंदरके बन्धनकी भाँति बँधकर मर गया। मै पुनः अत्यन्त पापमय बुद्धि होनेके कारण भयंकर नरकमें पड़ गया। उसके बाद मैं बैल होकर चाण्डालके घरमें पहुँचा। उसने एक दिन मुझे गाड़ीमें जोतकर उस गाड़ीपर अपनी स्त्रीको चढ़ाया। इस प्रकार वनमें जानेकी इच्छासे वह महातेजस्वी चाण्डाल आगे चला और उसके पीछे वह गाती हुई चली। उसका गान सुनकर मेरी इन्द्रियाँ विकल हो उठीं। मैंने पीछे घूमकर देखा और कूदा तथा उलट गया। क्षणमात्रके विपरीत गतिके कारण मैं भूमिपर गिर पड़ा और रस्सीमें अत्यन्त बँध जानेसे मृत्युको प्राप्त हो गया। मै फिर हजार वर्षतक नरकमें पड़ा रहा। वहाँसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण करता हुआ मैं आपके गृहमें उत्पन्न हुआ हूँ। मैं आज उन्हीं जन्मोंका क्रमशः स्मरण कर रहा हूँ। पूर्व अभ्याससे मुझे शास्त्रोंका ज्ञान तथा बन्धन मिला है। अतः ज्ञानी होकर मैं मन, कर्म और वाणीसे कभी घोर पापकर्मोंका आचरण नहीं करूँगा॥ १००–१०८॥

शुभं वाप्यशुभं वाऽपि स्वाध्यायं शास्त्रजीविका। बन्धनं वा वधो वाऽपि पूर्वाभ्यासेन जायते॥१०९॥
जातिं यदा पौर्विकीं तु स्मरते तात मानवः। तदा स तेभ्यः पापेभ्यो निवृत्तिं हि करोति वै॥११०॥
तस्माद् गमिष्ये शुभवर्धनाय पापक्षयायाथ मुने ह्यरण्यम्।
भवान् दिवाकीर्तिमिमं सुपुत्रं गार्हस्थ्यधर्मे विनियोजयस्व॥१११॥

मङ्गल, अमङ्गल, स्वाध्याय, शास्त्रजीविका, बन्धन या वध पूर्व अभ्यासवश ही होते हैं। तात! मनुष्यको जब अपने पूर्व-जन्मका स्मरण होता है तब वह उन पापोंसे दूर रहता है। अतः मुने! शुभकी वृद्धि और पापके क्षयके लिये मै वनमें जाऊँगा। आप इस सुपुत्र दिवाकीर्तिको गृहस्थधर्मंमे लगायें॥ १०९–१११॥

बलिरुवाच

इत्येवमुक्त्वा स निशाकरस्तदा प्रणम्य मातापितरौ महर्षे।
जगाम पुण्यं सदनं मुरारेः ख्यातं बदर्याश्रममाद्यमीड्यम्॥११२॥

एवं पुराभ्यासरतस्य पुंसो भवन्ति दानाध्ययनादिकानि।
तस्माच्च पूर्वं द्विजवर्य वै मया अभ्यस्तमासीन्ननु ते ब्रवीमि ॥११३॥
दानं तपो वाऽध्ययनं महर्षे स्तेयं महापातकमग्निदाहम्।
ज्ञानानि चैवाभ्यसतां हि पूर्वं भवन्ति धर्मार्थयशांसि नाथ ॥११४॥

बलिने कहा—महर्षे! इस प्रकार कहनेके बाद माता-पिताको प्रणाम कर वह निशाकर भगवान् नारायणके श्रेष्ठ सुप्रसिद्ध पवित्र निवास बदरिकाश्रममें चला गया। इसी प्रकार पूर्वके अभ्यासवश मनुष्यके दान एवं अध्ययन आदि कार्य होते हैं। द्विजवर! इसीसे निश्चय ही मैं आपसे अपने पूर्व अभ्यासके तथ्यको कह रहा हूँ। महर्षे! नाथ! दान, तप, अध्ययन, चोरी, महापातक, अग्निदाह, ज्ञान, धर्म, अर्थ एवं यश आदि सभी पूर्वजन्मोंके अभ्याससे उत्पन्न होते हैं॥ ११२—११४॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा बलवान् स शुक्रं दैत्येश्वरः स्वं गुरुमीशितारम्।
ध्यायंस्तदास्ते मधुकैटभघ्नं नारायणं चक्रगदासिपाणिम् ॥११५॥

इति श्रीवामनपुराणे नवतितमोऽध्यायः॥ ९०॥

पुलस्त्यजी बोले—दैत्येश्वर बलवान् बलि अपने गुरु और नियमन करनेवाले शुक्राचार्यसे इस प्रकार कहकर मधुकैटभके संहारकारी चक्र-गदा तथा खड्ग धारण करनेवाले नारायणका ध्यान करने लगा॥ ११५॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें नब्बेवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ९०॥

[अथैकनवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तो भगवान् वामनाकृतिः। यज्ञवाटमुपागम्य उच्चैर्वचनमब्रवीत्॥ १॥
ॐकारपूर्वाः श्रुतयो मखेऽस्मिन् तिष्ठन्ति रूपेण तपोधनानाम्।
यज्ञोऽश्वमेधः प्रवरः क्रतूनां मुख्यस्तथा सत्रिषु दैत्यनाथः॥ २॥
इत्थं वचनमाकर्ण्य दानवाधिपतिर्वशी। सार्घपात्रः समभ्यागाद्यत्र देवः स्थितोऽभवत्॥ ३॥
ततोऽर्च्य देवदेवेशमर्घ्यमर्घादिनासुरः। भरद्वाजर्षिणा सार्धं यज्ञवाटं प्रवेशयत्॥ ४॥
प्रविष्टमात्रं देवेशं प्रतिपूज्य विधानतः। प्रोवाच भगवन् ब्रूहि किं ददामि तव मानद॥ ५॥

इक्यानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामनकी बलिके यज्ञमें जाकर उससे तीन पग भूमिकी याचना, वामनका विराट्‌रूप ग्रहण करना एवं त्रिविक्रमत्व, वामनका बलिबन्धन-विषयक प्रश्न, बलिको वर, बलिका पाताल और वामनका स्वर्ग गमन)

पुलस्त्यजी बोले—इतनेमें वामनके रूपमें भगवान् आ गये। यज्ञशालाके निकट आकर वे ऊँचे स्वरसे बोले—ओंकारपूर्वक वेदमन्त्र तपस्वी ऋषियोंके रूपमें इस यज्ञमें स्थित हैं। यज्ञोंमें अश्वमेधयज्ञ सर्वोत्तम है और दैत्योंके स्वामी बलि यज्ञ करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इस प्रकारकी बातको सुनकर इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले दानवोंके स्वामी बलि अर्घ्यपात्र लेकर, जहाँ वामनदेव स्थित थे, वहाँ गये। इसके बाद अर्घ्य आदिसे देवके देवकी अर्चना करके दानवोंके स्वामी बलिने भरद्वाज ऋषिके साथ उन्हें यज्ञशालामें प्रवेश कराया। यज्ञशालामें प्रवेश करते ही बलिने वामन भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा की और कहा—मान देनेवाले भगवन्! बोलिये, मैं आपको क्या दूँ? ॥१—५॥

ततोऽब्रवीत् सुरश्रेष्ठो दैत्यराजानमव्ययः। विहस्य सुचिरं कालं भरद्वाजमवेक्ष्य च ॥ ६ ॥
गुरोर्मदीयस्य गुरुस्तस्यास्त्यग्निपरिग्रहः। न स धारयते भूम्यां पारक्यां जातवेदसम् ॥ ७ ॥
तदर्थमभियाचेऽहं मम दानवपार्थिव। मच्छरीरप्रमाणेन देहि राजन् पदत्रयम् ॥ ८ ॥
मुरारेर्वचनं श्रुत्वा बलिर्भार्यामवेक्ष्य च। बाणं च तनयं वीक्ष्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
न केवलं प्रमाणेन वामनोऽयं लघुः प्रिये। येन क्रमत्रयं मौर्ख्याद् याचते बुद्धितोऽपि च ॥ १० ॥

इसके बाद देवोंमें श्रेष्ठ अविनाशी भगवान्‌ने देरतक हँसकर और भरद्वाजको देखकर दैत्यराजसे कहा—मेरे गुरुके गुरु अग्निहोत्री (यज्ञके अनुष्ठाता) हैं। वे दूसरेकी भूमिमें अग्निस्थापन नहीं करते। दानवपते! राजन्! मै उनके लिये आपसे याचना करता हूँ कि मेरे शरीरके परिमाणसे आप तीन पग (भूमि) मुझे देनेकी कृपा करें। मुरारि-(भगवान्-)का वचन सुननेके बाद बलिने पत्नी और पुत्र बाणको देखकर (अपनी पत्नीसे) यह वचन कहा—प्रिये! यह वामन केवल प्रमाणसे ही छोटा नहीं है, बल्कि यह बुद्धिका भी छोटा है; क्योंकि अज्ञानवश यह मुझसे केवल तीन पग-(भूमि-) की याचना करता है ॥ ६—१० ॥

प्रायो विधाताऽल्पधियां नराणां बहिष्कृतानां च महानुभाग्यैः।
धनादिकं भूरि न वै ददाति यथेह विष्णोर्न बहुप्रयासः ॥ ११ ॥
न ददाति विधिस्तस्य यस्य भाग्यविपर्ययः। मयि दातरि यश्चायमद्य याचेत् पदत्रयम् ॥ १२ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा भूयोऽप्युवाचाथ हरिं दनूजः।
याचस्व विष्णो गजवाजिभूमिं दासीहिरण्यं यदभीप्सितं च ॥ १३ ॥
भवान् याचयिता विष्णो अहं दाता जगत्पतिः। दातुर्याचयितुर्लज्जा कथं न स्यात् पदत्रये ॥ १४ ॥
रसातलं वा पृथिवीं भुवं नाकमथापि वा। एतेभ्यः कतमं दद्यां स्थानं याचस्व वामन ॥ १५ ॥

विधाता प्रायः कम बुद्धिवाले अभागे मनुष्योंको अधिक धन आदि नहीं देते—जैसाकि इस यज्ञमें विष्णुने अधिकके लिये प्रयत्न नहीं किया। जिसका भाग्य अनुकूल नहीं होता है, उसे ईश्वर नहीं देते हैं। मेरे-जैसे दानीसे भी आज ये तीन पग-(भूमि-)की ही याचना करते हैं। इस प्रकार कहकर महात्मा बलिने फिर हरिसे कहा—विष्णो! हाथी, घोड़ा, भूमि, दासी तथा सोना आदि (इसके अतिरिक्त और भी) जो आप चाहते हों, वह माँगिये। विष्णो! आप याचना करनेवाले हैं और मैं जगत्पति देनेवाला हूँ। ऐसी अवस्थामें केवल तीन पग-(भूमि-)का दान करनेमें देने एवं लेनेवालेको क्या लज्जा न होगी? वामन! यदि आप याचना करते हैं तो (कहिये) रसातल, पृथ्वी, भुवर्लोक अथवा स्वर्गलोकमेसे मै किस स्थानका दान करूँ? उसे माँगिये ॥ ११—१५ ॥

वामन उवाच

गजाश्वभूहिरण्यादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम्। एतावता त्वहं चार्थी देहि राजन् पदत्रयम् ॥ १६ ॥
इत्येवमुक्ते वचने वामनेन महासुरः। बलिर्भृङ्गारमादाय ददौ विष्णोः क्रमत्रयम् ॥ १७ ॥
पाणौ तु पतिते तोये दिव्यं रूपं चकार ह। त्रैलोक्यक्रमणार्थाय बहुरूपं जगन्मयम् ॥ १८ ॥
पद्‌भ्यां भूमिस्तथा जङ्घे नभस्त्रैलोक्यवन्दितम्। सत्यं तपो जानुयुग्मे ऊरुस्तो मेरुमन्दरौ ॥ १९ ॥
विश्वेदेवा कटीभागे मरुतो बस्तिशीर्षगाः। लिङ्गे स्थितो मन्मथश्च वृषणाभ्यां प्रजापतिः ॥ २० ॥
कुक्षिभ्यामर्णवाः सप्त जठरे भुवनानि च। बलिषु त्रिषु नद्यश्च यज्ञास्तु जठरे स्थिताः ॥ २१ ॥
इष्टापूर्तादयः सर्वाः क्रियास्तत्र तु संस्थिताः। पृष्ठस्था वसवो देवाः स्कन्धौ रुद्रैरधिष्ठितौ ॥ २२ ॥

भगवान् वामन बोले—हाथी, घोड़ा, भूमि, सोना आदि वस्तुएँ उन्हें चाहनेवालेको ही दीजिये। राजन्! मैं इतनेकी ही याचना करता हूँ। इसलिये मुझे तीन पग (भूमि) प्रदान करें। वामनभगवान्‌के

इस प्रकार कहनेपर महान् असुर बलिने कमण्डलु लेकर विष्णुको तीन पग-(भूमि-) का दान दिया । हाथपर जल गिरते ही तीनों लोकोंको नापनेके लिये विष्णुने दिव्य रूप धारण कर लिया—तीनों लोकोंको नापनेके लिये जगन्मय विशाल रूप बना लिया । उनके पैरोंमें भूमि, जंघाओंमें तीनों लोकोंसे सत्कार-प्राप्त आकाश, दोनों जानुओंमें सत्यलोक और तपोलोक, दोनों ऊरुओंमें मेरु और मन्दर पर्वत, कटिप्रदेशमें विश्वेदेव, बस्तिप्रदेशके शीर्षस्थानपर मरुद्गण, लिङ्गमें कामदेव, वृषणोंमें प्रजापति, कुक्षियोंमें सातों समुद्र, जठरमें सम्पूर्ण भुवन, त्रिवलीमें नदियाँ एवं उनके जठरमें यज्ञ स्थित थे । जठरमें ही इष्टापूर्त आदि समस्त क्रियाएँ भी अवस्थित थीं । उनकी पीठमें वसुगण और देवगण तथा कन्धोंमें रुद्रगण स्थित थे ॥ १६—२२ ॥

बाहवश्च दिशः सर्वा वसवोऽष्टौ करे स्मृताः । हृदये संस्थितो ब्रह्मा कुलिशो हृदयास्थिषु ॥ २३ ॥
श्रीसमुद्रा उरोमध्ये चन्द्रमा मनसि स्थितः । ग्रीवादितिर्देवमाता विद्यास्तद्वलयस्थिताः ॥ २४ ॥
मुखे तु साग्नयो विप्राः संस्कारा दशनच्छदाः । धर्मकामार्थमोक्षीयाः शास्त्राः शौचसमन्विताः ॥ २५ ॥
लक्ष्म्या सह ललाटस्थाः श्रवणाभ्यामथाश्विनौ । श्वासस्थो मातरिश्वा च मरुतः सर्वसंधिषु ॥ २६ ॥
सर्वसूक्तानि दशना जिह्वा देवी सरस्वती । चन्द्रादित्यौ च नयने पक्ष्मस्थाः कृत्तिकादयः ॥ २७ ॥
शिखायां देवदेवस्य ध्रुवो राजा न्यषीदत । तारका रोमकूपेभ्यो रोमाणि च महर्षयः ॥ २८ ॥
गुणैः सर्वमयो भूत्वा भगवान् भूतभावनः । क्रमेणैकेन जगतीं जहार सचराचराम् ॥ २९ ॥

सारी दिशाएँ उनके बाहुस्वरूप थीं । उनके हाथोंमें आठों वसु, हृदयमें ब्रह्मा एवं हृदयकी हड्डियोंमें कुलिश स्थित था । छातीके बीच श्री तथा समुद्र, मनमें चन्द्रमा, ग्रीवामें देवमाता अदिति तथा वलयोंमें सारी विद्याएँ व्यवस्थित थीं । मुखमें अग्निके सहित ब्राह्मण, ओष्ठमें सभी धार्मिक संस्कार, ललाटमें लक्ष्मीसहित तथा पवित्रताके साथ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षसम्बन्धी शास्त्र, कर्णोंमें अश्विनीकुमार, श्वासमें वायु एवं सभी जोड़के स्थानोंमें मरुद्गण स्थित थे । उनके दाँतोंमें सम्पूर्ण सूक्त, जिह्वामें सरस्वती देवी, दोनों नेत्रोंमें चन्द्र और सूर्य तथा बरौनियोंमें कृत्तिका आदि नक्षत्र स्थित थे । देवदेवकी शिखामें राजा ध्रुव, रोमकूपोंमें तारागण और रोमोंमें महर्षि लोग अवस्थित थे । भूतभावन भगवान्ने गुणोंद्वारा सर्वमय होकर एक पदमें ही चराचरसहित सारी पृथ्वीका हरण कर लिया ॥ २३—२९ ॥

भूमिं विक्रममाणस्य महारूपस्य तस्य वै ।
दक्षिणोऽभूत् स्तनश्चन्द्रः सूर्योऽभूदथ चोत्तरः । नभश्चाक्रमतो नाभिं सूर्येन्दू सव्यदक्षिणौ ॥ ३० ॥
द्वितीयेन क्रमेणाथ स्वर्महर्जनतापसाः । क्रान्ता अर्धार्धेन वैराजं मध्येनापूर्यताम्बरम् ॥ ३१ ॥
ततः प्रतापिना ब्रह्मन् बृहद्विष्णवङ्घ्रिणाम्बरे । ब्रह्माण्डोदरमाहत्य निरालोकं जगाम ह ॥ ३२ ॥
विश्वाङ्घ्रिणा प्रसरता कटाहो भेदितो बलात् । कुटिला विष्णुपादे तु समेत्य कुटिला ततः ॥ ३३ ॥
तस्या विष्णुपदीत्येवं नामाख्यानमभून्मुने ।
तथा सुरनदीत्येवं तामसेवन्त तापसाः । भगवानप्यसम्पूर्णे तृतीये तु क्रमे विभुः ॥ ३४ ॥
समभ्येत्य बलिं प्राह ईषत् प्रस्फुरिताधरः ।
ऋणाद् भवति दैत्येन्द्र बन्धनं घोरदर्शनम् । त्वं पूरय पदं तन्मे नो चेद् बन्धं प्रतीच्छ भोः ॥ ३५ ॥
तन्मुरारिवचः श्रुत्वा विहस्याथ बलेः सुतः । बाणः प्राहामरपतिं वचनं हेतुसंयुतम् ॥ ३६ ॥

भूमिको नापते हुए उन विशाल रूपधारीके चन्द्रमा और सूर्य दक्षिण तथा उत्तर स्तन हो गये । इसी प्रकार आकाशकी ओर पग बढ़ाते समय सूर्य और चन्द्रमा उनकी नाभिके वाम तथा दक्षिणभागमें अवस्थित

हुए। इसके बाद उन्होंने द्वितीय चरणके आघेसे स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक और तपोलोक तथा पग बढाकर शेष आधेसे वैराजलोक और मध्यभागसे आकाशको पूरा किया। ब्रह्मन्! इसके बाद विष्णुका प्रतापी विशाल चरण आकाशमें ब्रह्माण्डके उदरभागको भेदकर निरालोकमें चला गया। विष्णुके बढ़ते चरणने बलपूर्वक कटाहका भेदन कर दिया। विष्णुका चरण कुटिला नदीके निकट पहुँच गया। मुने! इससे कुटिला विष्णुपदी नामसे प्रसिद्ध हुई। तपस्या करनेवाले लोग देवनदीके रूपमे उसकी सेवा करने लगे। सर्वसमर्थ भगवान् तीसरे चरणके पूर्ण न होनेपर बलिके समीप गये और ओठको किंचित् स्फुरित करते हुए बोले—दैत्येन्द्र! ऋण न चुकानेपर देखनेमे भयंकर बन्धन प्राप्त होता है। अतः तुम मेरे शेष पदको पूरा करो, नहीं तो बन्धन स्वीकार करो। मुरारि-(भगवान्-)के उस वचनको सुनकर बलिके पुत्र बाणने अमरपतिसे हँसकर हेतुसे युक्त वचन कहा ॥३०—३६॥

बाण उवाच

कृत्वा महीमल्पतरां जगत्पते स्वायम्भुवादिभुवनानि वै षट्।
कथं बलिं प्रार्थयसे सुविस्तृतां यां प्राग्भवान् नो विपुलामथाकरोत् ॥ ३७ ॥
विभो मही यावतीयं त्वयाऽद्य सृष्टा समेता भुवनान्तरालैः।
दत्ता च तातेन हि तावतीयं किं वाक्छलेनैष निबध्यतेऽद्य ॥ ३८ ॥
या नैव शक्या भवता हि पूरितुं कथं वितन्याद् दितिजेश्वरोऽसौ।
शक्तस्तु सम्पूजयितुं मुरारे प्रसीद मा बन्धनमादिशस्व ॥ ३९ ॥
प्रोक्तं श्रुतौ भवतापीश वाक्यं दानं पात्रे भवते सौख्यदायि।
देशे सुपुण्ये वरदे यच्च काले तच्चाशेषं दृश्यते चक्रपाणे ॥ ४० ॥

बाणने कहा—जगत्पते! आपने स्वायम्भुव आदि छः भुवनोंका ही निर्माणकर पृथ्वीको छोटा बनाया है। आपने भूमिको पहले ही विशाल नहीं बनाया, अतः आप बलिसे अत्यन्त विशाल भूमि कैसे माँगते हैं। विभो! भुवनोंके मध्यवर्ती स्थानोंके साथ जितनी पृथ्वीकी सृष्टि आपने की थी उसे मेरे पिताने आज आपको दे दिया। अतः आप कपटके द्वारा उन्हें क्यों बाँधते हैं? मुरारे! जिस पृथ्वीकी कमीको आप पूरा नहीं कर सकते, उसको ये दानवपति कैसे विस्तृत कर सकेंगे? ये आपकी पूजा करनेमें समर्थ हैं। अतः आप प्रसन्न हों और इन्हें बन्धन प्राप्त करनेका आदेश न दें। प्रभो! आपने ही श्रुतिमें यह कहा है कि पवित्र देश, काल एवं वर देनेके समय सत्पात्रमें दिया गया दान सुख देनेवाला होता है। चक्रपाणे! वह सम्पूर्ण (सुयोग) दिखलायी पड़ रहा है॥ ३७—४० ॥

दानं भूमिः सर्वकामप्रदेयं भवान् पात्रं देवदेवो जितात्मा।
कालो ज्येष्ठामूलयोगे मृगाङ्कः कुरुक्षेत्रं पुण्यदेशं प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥
किं वा देवोऽसद्भिर्धैर्बुद्धिहीनैः शिक्षापनीयः साधु वाऽसाधु चैव।
स्वयं श्रुतीनामपि चादिकर्ता व्याप्य स्थितः सदसद् यो जगद् वै ॥ ४२ ॥
कृत्वा प्रमाणं स्वयमेव हीनं पदत्रयं याचितवान् भुवश्च।
किं त्वं न गृह्णासि जगत्त्रयं भो रूपेण लोकत्रयवन्दितेन ॥ ४३ ॥
नात्राश्चर्यं यज्जगद् वै समग्रं क्रमत्रयं नैव पूर्णं तवाद्य।
क्रमेण त्वं लङ्घयितुं समर्थो लीलामेतां कृतवान् लोकनाथ ॥ ४४ ॥
प्रमाणहीनां स्वयमेव कृत्वा वसुन्धरां माधव पद्मनाभ।
विष्णो न बध्नासि बलिं न दूरे प्रभुर्यदेवेच्छति तत्करोति ॥ ४५ ॥

समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला भूमिका दान हो रहा है, देवोंके अधिदेव अपने-आपको नियन्त्रित रखनेवाले आप पात्र हैं, ज्येष्ठा एवं मूलके योगमें स्थित चन्द्रमासे युक्त काल है तथा प्रसिद्ध पवित्र कुरुक्षेत्रका देश है अथवा हम-जैसे बुद्धिहीन लोगोंके द्वारा आप भगवान्‌को उचित और अनुचित शिक्षा क्या दी जाय ? आप स्वयं वेदोंके भी आदिस्रष्टा और सदसद्-विश्वको व्याप्त कर अवस्थित हैं। आपने स्वयं अपने प्रमाण-(शारीरिक आकार-) को छोटा बनाकर तीन पग भूमि माँगी थी। देव ! क्या आपने तीनों लोकोंमें अपने वन्दित रूपसे तीनों लोकोंको ग्रहण नहीं कर लिया है ? आपके तीन पगोंको सारा संसार पूरा नहीं कर सका—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आप इसको अपने एक पगसे ही लाँघ सकते हैं। लोकनाथ ! आपने तो यह लीला ही की है। माधव ! पद्मनाभ ! विष्णो ! पृथ्वीको अपने-आप छोटे पैमानेमें बनाकर बलिको बाँधना उचित नहीं। (ठीक है, आप) प्रभु जो चाहते हैं वही करते हैं ॥ ४१—४५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने बाणेन बलिसूनुना। प्रोवाच भगवान् वाक्यमादिकर्ता जनार्दनः ॥ ४६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—बलिपुत्र बाणके इस प्रकार कहनेपर आदिस्रष्टा भगवान् जनार्दनने यह वचन कहा—॥ ४६ ॥

त्रिविक्रम उवाच

यान्युक्तानि वचांसीत्थं त्वया बालेय साम्प्रतम्। तेषां वै हेतुसंयुक्तं शृणु प्रत्युत्तरं मम ॥ ४७ ॥
पूर्वमुक्तस्तव पिता मया राजन् पदत्रयम्। देहि मह्यं प्रमाणेन तदेतत् समनुष्ठितम् ॥ ४८ ॥
किं न वेत्ति प्रमाणं मे बलिस्तव पितासुर। प्रायच्छद् येन निःशङ्कं ममानन्तं क्रमत्रयम् ॥ ४९ ॥
सत्यं क्रमेण चैकेन क्रमेयं भूर्भुवादिकम्। बलेरपि हितार्थाय कृतमेतत् क्रमत्रयम् ॥ ५० ॥
तस्माद् यन्मम बालेय त्वत्पित्रास्बु करे महत्। दत्तं तेनायुरेतस्य कल्पं यावद् भविष्यति ॥ ५१ ॥
गते मन्वन्तरे बाण श्राद्धदेवस्य साम्प्रतम्। सावर्णिके च सम्प्राप्ते बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥ ५२ ॥
इत्थं प्रोक्त्वा बलिसुतं बाणं देवस्त्रिविक्रमः। प्रोवाच बलिमभ्येत्य वचनं मधुराक्षरम् ॥ ५३ ॥

त्रिविक्रमने कहा—बलिनन्दन ! तुमने इस समय इस प्रकार जिन वचनोंको कहा है उनका कारणसहित प्रत्युत्तर मुझसे सुनो। मैंने पहले ही तुम्हारे पितासे यह कहा था कि राजन् ! मेरे प्रमाणके अनुसार मुझे तीन पग भूमि दो। उन्होंने भलीभाँति उसका सम्मान किया। असुर ! क्या तुम्हारे पिता बलि मेरा प्रमाण नहीं जानते थे, जो उन्होंने निःशङ्क होकर मेरे अनन्त तीन पगोंके मानका दान किया। सचमुच ही मै अपने एक पैरसे समस्त भूः, भुवः आदि जगत्‌को नाप सकता हूँ। किंतु बलिके कल्याणके लिये ही मैने ये तीन पग किये हैं। बलिपुत्र ! तुम्हारे पिताने मेरे हाथमें शुद्ध संकल्पका जल दिया है, इससे उनकी आयु एक कल्पकी होगी। बाण ! श्राद्धदेवका वर्तमान मन्वन्तर बीत जानेके बाद सावर्णिक मन्वन्तरके आनेपर बलि इन्द्र बनेंगे। बलिके पुत्र बाणसे इस प्रकार कहनेके बाद त्रिविक्रम देव बलिके निकट गये और उससे उन्होंने मधुर वचन कहा—॥ ४७—५३ ॥

श्रीभगवानुवाच

आपूरणाद् दक्षिणाया गच्छ राजन् महाफलम्। सुतलं नाम पातालं वस तत्र निरामयः ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! दक्षिणाकी सम्पन्नता होनेतक तुम्हें यह महान् फल प्राप्त करना होगा। तुम सुतल नामक पातालमें नीरोग—स्वस्थ होकर निवास करो ॥ ५४ ॥

बलिरुवाच

सुतले वसतो नाथ मम भोगाः कुतोऽव्ययाः। भविष्यन्ति तु येनाहं निवत्स्यामि निरामयः ॥ ५५ ॥

बलिने कहा—नाथ ! सुतलमें निवास करते समय नीरोग—स्वस्थरूपसे रहनेके लिये अक्षय अविनाशी-स्वास्थ्यप्रद भोग कहाँसे प्राप्त होंगे ? ॥ ५५ ॥

त्रिविक्रम उवाच

सुतलस्थस्य दैत्येन्द्र यानि भोगानि तेऽधुना। भविष्यन्ति महार्हाणि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥ ५६ ॥
दानान्यविधिदत्तानि श्राद्धान्यश्रोत्रियाणि च। तथाधीतान्यव्रतिभिर्दास्यन्ति भवतः फलम् ॥ ५७ ॥
तथान्यमुत्सवं पुण्यं वृत्ते शक्रमहोत्सवे। द्वारप्रतिपदा नाम तव भावी महोत्सवः ॥ ५८ ॥
तत्र त्वां नरशार्दूला हृष्टाः पुष्टाः स्वलंकृताः। पुष्पदीपप्रदानेन अर्चयिष्यन्ति यत्नतः ॥ ५९ ॥
तत्रोत्सवो मुख्यतमो भविष्यति दिवानिशं हृष्टजनाभिरामम्।
यथैव राज्ये भवतस्तु साम्प्रतं तथैव सा भाव्यथ कौमुदी च ॥ ६० ॥

त्रिविक्रमने कहा—दैत्येन्द्र ! मैं इस समय तुम्हारे सामने उन सम्पूर्ण बहुमूल्य भोगोंका वर्णन करता हूँ जो सुतलमें निवास करते समय तुम्हें प्राप्त होंगे। अविधिपूर्वक किये गये दान, अश्रोत्रियद्वारा किये गये श्राद्ध एवं ब्रह्मचर्यव्रतरहित अध्ययन आपको फल प्रदान करेंगे। इन्द्र-पूजनके बाद आनेवाली प्रतिपदाको तुम्हारे पूजनके निमित्त दूसरा उत्सव मनाया जायगा, जिसका नाम होगा—'द्वारप्रतिपदा'। उस उत्सवके समय हृष्ट-पुष्ट, नरश्रेष्ठ लोग सुन्दर रूपसे सज-धजकर पुष्प और दीप देकर प्रयत्नपूर्वक आपकी अर्चना करेंगे। आपके राज्यमें इस समय जिस प्रकार दिन-रात जनसमुदायके प्रसन्न रहनेके कारण सुन्दर महोत्सव बना रहता है, उसी प्रकार उत्सवोंमें श्रेष्ठ वह 'कौमुदी' नामका उत्सव होगा ॥ ५६—६० ॥

इत्येवमुक्त्वा मधुहा दितीश्वरं विसर्जयित्वा सुतलं सभार्यम्।
यज्ञं समादाय जगाम तूर्णं स शक्रसद्मामरसङ्घजुष्टम् ॥ ६१ ॥
दत्वा मघोने च विभुस्त्रिविष्टपं कृत्वा च देवान् मखभागभोक्तॄन्।
अन्तर्दधे विश्वपतिर्महर्षे सम्पश्यतामेव सुराधिपानाम् ॥ ६२ ॥
स्वर्गं गते धातरि वासुदेवे शाल्वोऽसुराणां महता बलेन।
कृत्वा पुरं सौभमिति प्रसिद्धं तदान्तरिक्षे विचचार कामात् ॥ ६३ ॥
मयस्तु कृत्वा त्रिपुरं महात्मा सुवर्णताम्रायसमग्र्यसौख्यम्।
स तारकाक्षः सह वैद्युतेन संतिष्ठते भृत्यकलत्रवान् सः ॥ ६४ ॥

मधुसूदनने दानवेश्वर बलिसे इस प्रकार कहकर उसे पत्नीके साथ सुतल लोकमें भेज दिया। इसके बाद वे शीघ्र यज्ञको—अग्निदेवको साथ ले देव-समूहसे सेवित इन्द्रभवन चले गये। महर्षे! उसके बाद सबका पालन-पोषण करनेवाले व्यापक भगवान् विष्णु, इन्द्रको स्वर्ग देकर और देवताओंको यज्ञ-भागका अधिकारी बनाकर देवताओंके देखते-ही-देखते अन्तर्हित हो गये। ब्रह्मा वासुदेवके स्वर्ग चले जानेपर दानव शाल्व दैत्यकी बड़ी सेना लेकर सौभ नामका प्रसिद्ध नगर बनाकर इच्छानुसार आकाशमें घूमने लगा। नौकरों और अपनी पत्नीके साथ महात्मा मय सोने, ताँबे एवं लोहेके तीन नगरोंका निर्माण करके तारकाक्ष तथा वैद्युतके साथ अत्यन्त सुखपूर्वक उनमें रहने लगा ॥ ६१—६४ ॥

बाणोऽपि देवेन हृते त्रिविष्टपे बद्धे बलौ चापि रसातलस्थे।
कृत्वा सुगुप्तं भुवि शोणिताख्यं पुरं स चास्ते सह दानवेन्द्रैः ॥ ६५ ॥

एवं पुरा चक्रधरेण विष्णुना बद्धो बलिर्वामनरूपधारिणा।
शक्रप्रियार्थं सुरकार्यसिद्धये हिताय विप्रर्षभगोद्विजानाम् ॥ ६६ ॥
प्रादुर्भवस्ते कथितो महर्षे पुण्यः शुचिर्वामनस्याघहारी।
श्रुते यस्मिन् संस्मृते कीर्तिते च पापं याति प्रक्षयं पुण्यमेति ॥ ६७ ॥
एतत् प्रोक्तं भवतः पुण्यकीर्त्तेः प्रादुर्भावो बलिबन्धोऽव्ययस्य।
यच्चाप्यन्यच्छ्रोतुकामोऽसि विप्र तत्प्रोच्यतां कथयिष्याम्यशेषम् ॥ ६८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

बाणासुर भी विष्णुके द्वारा स्वर्ग छीन लिये जानेपर और बलिके बँधने तथा रसातलमें रहनेपर अत्यन्त सुरक्षित शोणित नामके पुरका निर्माण कर दानवेन्द्रोंके साथ रहने लगा। इस प्रकार प्राचीन कालमें चक्र धारण करनेवाले विष्णुने वामनरूप धारण कर इन्द्रकी भलाई, देवताओंकी कार्यसिद्धि तथा ब्राह्मणों, ऋषियों (गायोंके समूह) और द्विजोंके हितके लिये बलिको बाँधा था। महर्षे! मैंने आपसे वामनके पापहारी, पुण्ययुक्त एवं पवित्र प्रादुर्भावका वर्णन किया। इसके सुनने और कीर्तनसे पापका नाश एवं पुण्यकी प्राप्ति होती है। विप्र! मैंने अक्षय पुण्यकीर्तिवाले वामनदेवके आविर्भाव तथा बलिको बाँधनेकी कथाका आपसे वर्णन किया। अब आप अन्य जो कुछ सुनना चाहते हों, उसे कहिये। मैं पूर्णतया उसका वर्णन करूँगा ॥ ६५—६८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्यानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९१ ॥

[अथ द्विनवतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

श्रुतं यथा भगवता बलिर्बद्धो महात्मना। किंत्वस्त्यन्यत्तु प्रष्टव्यं तच्छ्रुत्वा कथयाद्य मे ॥ १ ॥
भगवान् देवराजाय दत्त्वा विष्णुस्त्रिविष्टपम्। अन्तर्धानं गतः क्वासौ सर्वात्मा तात कथ्यताम् ॥ २ ॥
सुतलस्थश्च दैत्येन्द्रः किमकार्षीत् तथा वद। का चेष्टा तस्य विप्रर्षे तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

बानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(ब्रह्मलोकमें वामन भगवान्‌की पूजा, ब्रह्मकृत वामनकी स्तुति और वामनरूपमें विष्णुका स्वर्गमें निवास)

नारदजीने कहा—महात्मा भगवान्‌ने जिस प्रकार बलिको बाँधा था उसे मैंने सुना। परंतु प्रभो! आपसे और अन्य विषय भी मुझे पूछना है। उसे सुनकर आप मुझे उसके सम्बन्धमें बतलाइये। तात! आप यह बतलाइये कि देवराज इन्द्रको स्वर्ग देनेके बाद वे सर्वात्म-स्वरूप भगवान् विष्णु अन्तर्हित होकर कहाँ चले गये। इसके सिवाय यह भी बतलाइये कि सुतलमें रहनेवाले दैत्यश्रेष्ठने क्या किया और विप्रवर! आप मुझे विशेषरूपसे यह बतायें कि उसके बाद उसकी कौन-सी चेष्टा रही? ॥ १—३ ॥

पुलस्त्य उवाच

अन्तर्धाय सुरावासं वामनोऽभूदवामनः। जगाम ब्रह्मसदनमधिरुह्योरगाशनम् ॥ ४ ॥
वासुदेवं समायान्तं ज्ञात्वा ब्रह्माऽव्ययात्मकः। समुत्थायाथ सौहार्दात् सस्वजे कमलासनः ॥ ५ ॥
परिष्वज्यार्च्य विधिना वेधाः पूजादिना हरिम्। पप्रच्छ किं चिरेणेह भवतागमनं कृतम् ॥ ६ ॥
अथोवाच जगत्स्वामी मया कार्यं महत्कृतम्। सुराणां क्रतुभागार्थं स्वयंभो बलिबन्धनम् ॥ ७ ॥
पितामहस्तद् वचनं श्रुत्वा मुदितमानसः। कथं कथमिति प्राह त्वं मां दर्शितुमर्हसि ॥ ८ ॥

इत्येवमुक्ते वचने भगवान् गरुडध्वजः। दर्शयामास तद्रूपं सर्वदेवमयं लघु ॥ ९ ॥
तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं योजनायुतविस्तृतम्। तावानेवोर्ध्वमानेन ततोऽजः प्रणतोऽभवद् ॥ १० ॥
ततः प्रणम्य सुचिरं साधु साध्वित्युदीर्य च। भक्तिनम्रो महादेवं पद्मजः स्तोत्रमीरयत ॥ ११ ॥

पुलस्त्यजी बोले—वामनदेवने अन्तर्धान होनेके बाद अपना वामन-स्वरूप छोड़ दिया एवं गरुडपर चढ़कर वे देवोंके स्थान ब्रह्मलोकको चले गये। वासुदेवको आया हुआ जानकर कमलके आसनपर बैठे हुए नित्य-स्वरूपवाले ब्रह्मा (अपने आसनसे) उठे और सौहार्द्रभावसे विष्णुको गले लगा लिये। आलिङ्गनके बाद विधिपूर्वक अर्चा आदिद्वारा हरिकी पूजा कर ब्रह्माने पूछा—(भगवान्) 'बहुत समयके बाद आपके यहाँ आनेका क्या कारण है?' उसके बाद जगत्पतिने कहा—ब्रह्मन्! 'मैंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। एक—देवोंके यज्ञभागके लिये मैंने बलिको बाँधा है।' यह वचन सुनकर ब्रह्माने प्रसन्न होकर कहा—यह कैसे! यह कैसे! आप उस (बाँधनेके लिये धृत) रूपको मुझे दिखलाइये। ऐसा वचन कहे जानेपर भगवान् गरुड़ध्वज (विष्णु) ने शीघ्रतासे वह सर्वदेव स्वरूप अपना रूप दिखला दिया। कमलनयन भगवान्‌के दस हजार योजन विस्तृत तथा उतने ही ऊँचे उस रूपको देखकर पितामहने प्रणाम किया। उसके बाद देरतक प्रणाम कर ब्रह्माने साधु, साधु कहा और श्रद्धापूर्वक नम्रतासे (उन) महादेवकी स्तुति करने लगे—॥ ४–११ ॥

ॐ नमस्ते देवाधिदेव वासुदेव एकशृङ्ग बहुरूप वृषाकपे भूतभावन सुरासुरवृष सुरासुरमथन पीतवासः श्रीनिवास असुरनिर्मितान्त अमितनिर्मित कपिल महाकपिल विष्वक्सेन नारायण। ध्रुवध्वज सत्यध्वज खड्गध्वज तालध्वज वैकुण्ठ पुरुषोत्तम वरेण्य विष्णो अपराजित जय जयन्त विजय कृतावर्त महादेव अनादे अनन्त आद्यन्तमध्यनिधन पुरञ्जय धनञ्जय शुचिश्रव पृश्निगर्भ। कमलगर्भ कमलायताक्ष श्रीपते विष्णुमूल मूलाधिवास धर्माधिवास धर्मवास धर्माध्यक्ष प्रजाध्यक्ष गदाधर श्रीधर श्रुतिधर वनमालाधर लक्ष्मीधर धरणीधर पद्मनाभ। विरिञ्चे आर्ष्टिषेण महासेन सेनाध्यक्ष पुरुष्टुत बहुकल्प महाकल्प कल्पनामुख अनिरुद्ध सर्वग सर्वात्मन् द्वादशात्मक सूर्यात्मक सोमात्मक कालात्मक व्योमात्मक भूतात्मक। रसात्मक परमात्मन् सनातन मुञ्जकेश हरिकेश गुडाकेश केशव नील सूक्ष्म स्थूल पीत रक्त श्वेत श्वेताधिवास रक्ताम्बरप्रिय प्रीतिकर प्रीतिवास हंस नीलवास सीरध्वज सर्वलोकाधिवास। कुशेशय अधोक्षज गोविन्द जनार्दन मधुसूदन वामन नमस्ते। सहस्रशीर्षोऽसि सहस्रदृगसि सहस्र-पादोऽसि त्वं कमलोऽसि महापुरुषोऽसि सहस्रबाहुरसि सहस्रमूर्तिरसि त्वां देवाः प्राहुः सहस्रवदनं ते नमस्ते। ॐ नमस्ते विश्वदेवेश विश्वभूः विश्वात्मक विश्वरूप विश्वसम्भव त्वत्तो विश्वमिदमभवद् ब्राह्मणास्त्वन्मुखेभ्योऽभवन् क्षत्रिया दोःसम्भूताः ऊरुयुग्माद् विशोऽभवन् शूद्राश्चरणकमलेभ्यः। नाभ्या भवतोऽन्तरिक्षमजायत इन्द्राग्नी वक्त्रतो नेत्राद् भानुरभून्मनसः शशाङ्कः अहं प्रसादजस्तव क्रोधात् त्र्यम्बकः प्राणाज्जातो भवतो मातरिश्वा शिरसो द्यौरजायत श्रोत्राद् दिशो भूरियं चरणादभूत् श्रोत्रोद्भवा दिशो भवतः स्वयंभो क्षत्रास्तेजोद्भवाः। मूर्त्तयश्चामूर्तयश्च सर्वे त्वत्तः समुद्भूताः। अतो विश्वात्मकोऽसि ॐ नमस्ते पुष्पहासोऽसि महाहासोऽसि परमोऽसि ॐकारोऽसि वषट्कारोऽसि स्वाहाकारोऽसि वौषट्कारोऽसि स्वधाकारोऽसि वेदमयोऽसि तीर्थमयोऽसि यजमानमयोऽसि। यज्ञमयोऽसि सर्वधाताऽसि यज्ञभोक्ताऽसि शुक्रधाताऽसि भूर्द भुवर्द स्वर्द स्वर्णद गोद अमृतदोऽसीति। ॐ ब्रह्मादिरसि ब्रह्ममयोऽसि यज्ञोऽसि वेदकामोऽसि वेद्योऽसि यज्ञधारोऽसि महामीनोऽसि महासेनोऽसि महाशिरा असि। नृकेसर्यसि होताऽसि होम्योऽसि हव्योऽसि हूयमानोऽसि हयमेधोऽसि पोताऽसि पावयिताऽसि पूतोऽसि पूज्योऽसि दाताऽसि हन्यमानोऽसि ह्रियमाणोऽसि हर्त्तासीति ॐ। नीतिरसि नेताऽसि अग्र्योऽसि विश्वधामाऽसि शुभाण्डोऽसि

ध्रुवोऽसि आरणेयोऽसि। ध्यानोऽसि ध्येयोऽसि ज्ञेयोऽसि ज्ञानोऽसि यज्ञोऽसि दानोऽसि भूमाऽसि ईड्योऽसि ब्रह्माऽसि होताऽसि उद्गाताऽसि गतिमतां गतिरसि ज्ञानिनां ज्ञानमसि योगिनां योगोऽसि मोक्षगामिनां मोक्षोऽसि श्रीमतां श्रीरसि गुह्योऽसि पाताऽसि परमसि। सोमोऽसि सूर्योऽसि दीक्षाऽसि दक्षिणाऽसि नरोऽसि त्रिनयनोऽसि महानयनोऽसि आदित्यप्रभवोऽसि सुरोत्तमोऽसि शुचिरसि शुक्रोऽसि नभोऽसि नभस्योऽसि इषोऽसि ऊर्जोऽसि सहोऽसि सहस्योऽसि तपोऽसि तपस्योऽसि मधुरसि। माधवोऽसि कालोऽसि संक्रमोऽसि विक्रमोऽसि पराक्रमोऽसि अश्वग्रीवोऽसि महामेधोऽसि शङ्करोऽसि हरीश्वरोऽसि शम्भुरसि ब्रह्मेशोऽसि सूर्योऽसि मित्रावरुणोऽसि प्राग्वंशकायोऽसि भूतादिरसि महाभूतोऽसि ऊर्ध्वकर्माऽसि कर्त्ताऽसि। सर्वपापविमोचनोऽसि त्रिविक्रमोऽसि ॐ नमस्ते।

हे देवोंके देव ! वासुदेव ! एकशृङ्ग ! बहुरूप ! वृषाकपे ! भूतभावन ! सुरों और असुरोंमें श्रेष्ठ ! देवताओं और असुरोंका मथन करनेवाले पीतवस्त्रधारिन् ! श्रीनिवास ! असुरनिर्मितान्त ! अमितनिर्मित ! कपिल ! महाकपिल ! विष्वक्सेन ! नारायण ! आपको नमस्कार है। ध्रुवध्वज ! सत्यध्वज ! खड्गध्वज ! तालध्वज ! वैकुण्ठ ! पुरुषोत्तम ! वरेण्य ! विष्णो ! अपराजित ! जय ! जयन्त ! विजय ! कृतावर्त ! महादेव ! अनादे ! अनन्त ! आद्यन्त ! मध्यनिधन ! पुरञ्जय ! धनञ्जय ! शुचिश्रव ! पृश्निगर्भ ! (आपको नमस्कार है।) कमलगर्भ ! कमलायताक्ष ! श्रीपते ! विष्णुमूल ! मूलाधिवास ! धर्माधिवास ! धर्मवास ! धर्माध्यक्ष ! प्रजाध्यक्ष ! गदाधर ! श्रीधर ! श्रुतिधर ! वनमालाधर ! लक्ष्मीधर ! धरणीधर ! पद्मनाभ ! (आपको नमस्कार है।) विरिञ्चे ! आर्ष्टिषेण ! महासेन ! सेनाध्यक्ष ! पुरुष्टुत ! बहुकल्प ! महाकल्प ! कल्पनामुख ! अनिरुद्ध ! सर्वग ! सर्वात्मन् ! द्वादशात्मक ! सूर्यात्मक ! सोमात्मक ! कालात्मक ! व्योमात्मक ! भूतात्मक ! (आपको नमस्कार है।) रसात्मक ! परमात्मन् ! सनातन ! मुञ्जकेश ! हरिकेश ! गुडाकेश ! केशव ! नील ! सूक्ष्म ! स्थूल ! पीत ! रक्त ! श्वेत ! श्वेताधिवास ! रक्ताम्बरप्रिय ! प्रीतिकर ! प्रीतिवास ! हंस ! नीलवास ! सीरध्वज ! सर्वलोकाधिवास ! कुशेशय ! अधोक्षज ! गोविन्द ! जनार्दन ! मधुसूदन ! वामन ! आपको नमस्कार है। आप सहस्रशीर्षा, सहस्रनेत्र, सहस्रपाद, कमल, महापुरुष, सहस्रबाहु एवं सहस्रमूर्ति हैं। आपको देवगण सहस्रवदन कहते हैं। आपको नमस्कार है। ॐ विश्वदेवेश ! विश्वभू ! विश्वात्मक ! विश्वरूप ! विश्वसम्भव ! आपको नमस्कार है। आपसे यह विश्व उत्पन्न हुआ है। आपके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, दोनों जाँघोंसे वैश्य एवं चरणकमलोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं। स्वयम्भो ! आपकी नाभिसे अन्तरिक्ष, मुखसे इन्द्र एवं अग्नि, नेत्रसे सूर्य, मनसे चन्द्रमा और आपके प्रसादसे मैं हुआ हूँ। आपके क्रोधसे त्रिनेत्र (शंकरजी), प्राणसे वायु, सिरसे स्वर्गलोक, कानसे दिशाएं, चरणोंसे यह पृथ्वी, कानसे दिशाएँ एवं तेजसे नक्षत्र उत्पन्न हुए हैं। सम्पूर्ण मूर्त और अमूर्त पदार्थ आपसे उत्पन्न हुए हैं। अतः आप विश्वात्मक हैं। ॐ आपको नमस्कार है। आप पुष्पहास, महाहास, परम, ॐकार, वषट्कार, स्वाहाकार, वौषट्कार, स्वधाकार, वेदमय, तीर्थमय, यजमानमय, यज्ञमय, सर्वधाता, यज्ञभोक्ता, शुक्रधाता, भूर्द, भुवर्द, स्वर्द, स्वर्णद, गोद एवं अमृतद हैं। ॐ आप ब्रह्मादि, ब्रह्ममय, यज्ञ, वेदकाम, वेद्य, यज्ञधार, महामीन, महासेन, महाशिरा, नृकेसरी, होता, होम्य, हव्य, हूयमान, हयमेध, पोता, पावयिता, पूत, पूज्य, दाता, हन्यमान, ह्रियमाण एवं हर्ता हैं। ॐ आप नीति, नेता, अग्र्य, विश्वधाम, शुभाण्ड, ध्रुव, आरणेय, ध्यान, ध्येय, ज्ञेय, ज्ञान, यज्ञ, दान, भूमा, ईड्य, ब्रह्मा, होता, उद्गाता, गतिमानोंकी गति, ज्ञानियोंके ज्ञान, योगियोंके योग, मोक्षार्थियोंके मोक्ष, श्रीमानोंकी श्री, गुह्य,

पाता एवं परम हैं। आप सोम, सूर्य, दीक्षा, दक्षिणा, नर, त्रिनयन, महानयन, आदित्यप्रभव, सुरोत्तम, शुचि, शुक्र, नभ, नभस्य, इष, ऊर्ज, सह, सहस्य, तप, तपस्य, मधु, माधव, काल, संक्रम, विक्रम, पराक्रम, अश्वग्रीव, महामेध, शंकर, हरीश्वर, शम्भु, ब्रह्मेश, सूर्य, मित्रावरुण, प्राग्वंशकाय, भूतादि, महाभूत, ऊर्ध्वकर्मा, कर्त्ता, सर्वपापविमोचन एवं त्रिविक्रम हैं। आपको ॐ नमस्कार है ॥ ५-७० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं स्तुतः पद्मभवेन विष्णुस्तपस्विभिश्चाद्भुतकर्मकारी।
प्रोवाच देवं प्रपितामहं तु वरं वृणीष्वामलसत्त्ववृत्ते ॥ १२ ॥
तमब्रवीत् प्रीतियुतः पितामहो वरं ममेहाद्य विभो प्रयच्छ।
रूपेण पुण्येन विभो ह्यनेन संस्थीयतां मद्भवने मुरारे ॥ १३ ॥
इत्थं वृते देववरेण प्रादात् प्रभुस्तथास्त्विति तमव्ययात्मा।
तस्थौ हि रूपेण हि वामनेन सम्पूज्यमानः सदने स्वयम्भोः ॥ १४ ॥
नृत्यन्ति तत्राप्सरसां समूहा गायन्ति गीतानि सुरेन्द्रगायनाः।
विद्याधरास्तूर्यवरांश्च वादयन् स्तुवन्ति देवासुरसिद्धसङ्घाः ॥ १५ ॥
ततः समाराध्य विभुं सुराधिपः पितामहो धौतमलः स शुद्धः।
स्वर्गे विरिञ्चिः सदनात् सुपुष्पाण्यानीय पूजां प्रचकार विष्णोः ॥ १६ ॥
स्वर्गे सहस्रं स तु योजनानां विष्णोः प्रमाणेन हि वामनोऽभूत्।
तत्रास्य शक्रः प्रचकार पूजां स्वयम्भुवस्तुल्यगुणां महर्षे ॥ १७ ॥
एतत् तवोक्तं भगवांस्त्रिविक्रमश्चकार यद् देवहितं महात्मा।
रसातलस्थो दितिजश्चकार यत्तच्छृणुष्वाद्य वदामि विप्र ॥ १८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मा एवं तपस्वियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर अद्भुत कर्म करनेवाले विष्णुने प्रपितामह देवसे कहा—अमलसत्त्ववृत्ते ! (निर्मल सत्त्वरूपवाले) आप वर माँगिये। पितामहने प्रसन्नतापूर्वक उनसे कहा—विभो ! मुरारे ! 'आप इस पवित्र रूपसे मेरे भवनमें स्थित रहें। मुझे यही वर प्रदान करें। इस प्रकार देवश्रेष्ठके वर माँगनेपर अव्ययात्मा प्रभुने उनसे कहा—ऐसा ही होगा। उसके बाद वे स्वयम्भूके भवनमें वामनरूपसे पूजित होते हुए रहने लगे। वहाँ अप्सराओंका समूह नृत्य करने लगा, सुरेन्द्रके गायक गान करने लगे, विद्याधर श्रेष्ठ तूर्य बजाने लगे एवं देव, असुर तथा सिद्धोंके समूह स्तुति करने लगे। विभुकी समाराधनाके पश्चात् देवेश पितामह ब्रह्मा पापरहित एवं शुद्ध हो गये। स्वर्गमें ब्रह्माने घरमेंसे सुन्दर पुष्पोंको लाकर उनसे विष्णुका पूजन किया। विष्णु स्वर्गमें वामन-रूपसे (बढ़कर) हजार योजन विस्तृत हो गये। महर्षे ! वहाँ इन्द्रने ब्रह्माके समान गुणोंसे युक्त पदार्थोंसे उनकी पूजा की। विप्र ! महात्मा भगवान् त्रिविक्रमने बलिको रसातलमें भेजकर देवताओंका जो कल्याण-साधन किया था, वह मैंने आपसे कहा। दैत्यने रसातलमें रहते हुए जो कार्य किया उसका वर्णन मैं अब कर रहा हूँ, उसे सुनिये—॥ १२-१८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

[अथ त्रिनवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गत्वा रसातलं दैत्यो महार्हमणिचित्रितम्। शुद्धस्फटिकसोपानं कारयामास वै पुरम्॥ १ ॥
तत्र मध्ये सुविस्तीर्णः प्रासादो वज्रवेदिकः। मुक्ताजालान्तरद्वारो निर्मितो विश्वकर्मणा॥ २ ॥
तत्रास्ते विविधान् भोगान् भुञ्जन् दिव्यान् स मानुषान्। नाम्ना विन्ध्यावलीत्येवं भार्याऽस्य दयिताऽभवत्॥ ३ ॥
युवतीनां सहस्रस्य प्रधाना शीलमण्डिता। तया सह महातेजा रेमे वैरोचनिर्मुने॥ ४ ॥
भोगासक्तस्य दैत्यस्य वसतः सुतले तदा। दैत्यतेजोहरः प्राप्तः पाताले वै सुदर्शनः॥ ५ ॥

तिरानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका पातालमें वास, सुदर्शनचक्रका वहाँ प्रवेश, बलिद्वारा सुदर्शनचक्रकी स्तुति, प्रह्लादद्वारा विष्णुभक्तिकी प्रशंसा)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) रसातलमें जाकर दैत्यने बहुमूल्य मणियोंसे चित्रित शुद्ध स्फटिकके सोपानसे विभूषित नगर बनाया। विश्वकर्माने उसके बीचमें अत्यन्त विस्तृत वज्रमय वेदी बनायी तथा मोतीजड़ी खिड़कियोंके मध्य फाटकवाला महल बनाया। बलि भाँति-भाँतिके स्वर्गीय तथा मनुष्योंके योग्य भोगोंका उपभोग करते हुए वहाँ निवास करने लगा। विन्ध्यावली नामकी उसकी प्रिय पत्नी थी। मुने! वह हजारों युवतियोंमें प्रधान तथा एक शीलवती स्त्री थी। महातेजस्वी विरोचन-पुत्र बलि उसके साथ सुख करने लगा। एक दिन भोग भोगनेमें आसक्त दैत्यके सुतल लोकमें रहते समय दैत्योंके तेजका हरण करनेवाला सुदर्शन चक्र पातालमें प्रवेश किया॥ १–५॥

चक्रे प्रविष्टे पाताले दानवानां पुरे महान्। बभौ हलहलाशब्दः क्षुभितार्णवसंनिभः॥ ६ ॥
तं च श्रुत्वा महाशब्दं बलिः खड्गं समाददे। आः किमेतदितीत्थं च पप्रच्छासुरपुङ्गवः॥ ७ ॥
ततो विन्ध्यावली प्राह सान्त्वयन्ती निजं पतिम्। कोशे खड्गं समावेश्य धर्मपत्नी शुचिव्रता॥ ८ ॥
एतद् भगवतश्चक्रं दैत्यचक्रक्षयंकरम्।
सम्पूजनीयं दैत्येन्द्र वामनस्य महात्मनः। इत्येवमुक्त्वा चार्वङ्गी सार्घपात्रा विनिर्ययौ॥ ९ ॥
अथाभ्यागात् सहस्रारं विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम्।
ततोऽसुरपतिः प्रह्वः कृताञ्जलिपुटो मुने। सम्पूज्य विधिवच्चक्रमिदं स्तोत्रमुदीरयत्॥ १० ॥

पातालमें सुदर्शन चक्रके प्रवेश करनेपर दानवोंके पुरमें क्षुब्ध हुए सागरके समान महान् हलहला शब्द उत्पन्न हुआ। उस महान् शब्दको सुनकर असुरश्रेष्ठ बलिने हाथमें एक तलवार ले ली और इस प्रकार पूछा—'अरे! यह क्या है'? उसके बाद पवित्रताका व्रत करनेवाली धर्मपत्नी विन्ध्यावलीने अपने पतिको सान्त्वना देकर तथा तलवारको म्यानमें रखवाकर यह कहा—ऐश्वर्य आदि छः विभूतियोंवाले महान् आत्मा वामनका दैत्यसमूहका संहार करनेवाला यह आराधनीय चक्र है। इस प्रकार कहकर वह सुन्दरी अर्घ्यपात्रके साथ बाहर गयी। उसी समय विष्णुका हजारों अरोंवाला सुदर्शनचक्र आ पहुँचा। मुने! असुरपतिने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर विधिवत् चक्रका पूजन किया तथा यह स्तुति की—॥ ६–१०॥

बलिरुवाच

नमस्यामि हरेश्चक्रं दैत्यचक्रविदारणम्। सहस्रांशुं सहस्राभं सहस्रारं सुनिर्मलम्॥ ११ ॥
नमस्यामि हरेश्चक्रं यस्य नाभ्यां पितामहः। तुण्डे त्रिशूलधृक् शर्व आरामूले महाद्रयः॥ १२ ॥
आरेषु संस्थिता देवाः सेन्द्राः सार्काः सपावकाः। जवे यस्य स्थितो वायुरापोऽग्निः पृथिवी नभः॥ १३ ॥

*

आरप्रान्तेषु जीमूताः सौदामिन्यृक्षतारकाः । बाह्यतो मुनयो यस्य वालखिल्यादयस्तथा ॥ १४ ॥
तमायुधवरं वन्दे वासुदेवस्य भक्तितः । यन्मे पापं शरीरोत्थं वाग्जं मानसमेव च ॥ १५ ॥
तन्मे दहस्व दीप्तांशो विष्णोश्चक्र सुदर्शन । यन्मे कुलोद्भवं पापं पैतृकं मातृकं तथा ॥ १६ ॥
तन्मे हरस्व तरसा नमस्ते अच्युतायुध । आधयो मम नश्यन्तु व्याधयो यान्तु संक्षयम् ॥
त्वन्नामकीर्तनाच्चक्र दुरितं यातु संक्षयम् ॥ १७ ॥
इत्येवमुक्त्वा मतिमान् समभ्यर्च्याथ भक्तितः । संस्मरन् पुण्डरीकाक्षं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १८ ॥

बलिने स्तुति की—दैत्य-समूहका संहार करनेवाले, अनन्तकिरणोंसे युक्त हजारों प्रकारकी आभावाले, हजारों अरोंसे युक्त विष्णुके निर्मल सुदर्शनचक्रको मैं नमस्कार करता हूँ। विष्णुके उस चक्रको मैं नमस्कार करता हूँ, जिसकी नाभिमें पितामह, चोटीपर त्रिशूल धारण करनेवाले महादेव, अरोंके मूलमें महान् पर्वत, अरोंमें इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवता, वेगमें वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश, अरोंके किनारोंमें मेघ, विद्युत्, नक्षत्र एवं ताराओंके समूह तथा बाह्यभागमें बालखिल्य आदि मुनि स्थित हैं। मैं श्रद्धापूर्वक वासुदेवके उस श्रेष्ठ आयुधको नमस्कार करता हूँ। विष्णुके प्रदीप्त किरणवाले सुदर्शनचक्र! मेरे शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक पापोंका आप विनाश करें। अच्युतायुध! मेरे कुलमें हुए पैतृक एवं मातृक पापोंका शीघ्रतापूर्वक आप हरण करें। आपको नमस्कार है। मेरी सारी आधि-व्याधियोंका नाश हो जाय। चक्र! आपके नामका कीर्तन करनेसे पापोंका नाश हो जाय। इस प्रकार बुद्धिमान् (बलि-)ने श्रद्धापूर्वक चक्रकी पूजा की तथा समस्त पापोंका विनाश करनेवाले पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌का स्मरण किया ॥ ११—१८ ॥

पूजितं बलिना चक्रं कृत्वा निस्तेजसोऽसुरान् । निश्चक्रामाथ पातालाद् विषुवे दक्षिणे मुने ॥ १९ ॥
सुदर्शने निर्गते तु बलिर्विक्लवतां गतः । परमामापदं प्राप्य सस्मार स्वपितामहम् ॥ २० ॥
स चापि संस्मृतः प्राप्तः सुतलं दानवेश्वरः । दृष्ट्वा तस्थौ महातेजाः सार्घपात्रो बलिस्तदा ॥ २१ ॥
तमर्च्य विधिना ब्रह्मन् पितुः पितरमीश्वरम् । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
संस्मृतोऽसि मया तात सुविषण्णेन चेतसा । तन्मे हितं च पथ्यं च श्रेयोऽर्थं वद तात मे ॥ २३ ॥
किं कार्यं तात संसारे वसता पुरुषेण हि । कृतेन येन वै नास्य बन्धः समुपजायते ॥ २४ ॥
संसारार्णवमग्नानां नराणामल्पचेतसाम् । तरणे यो भवेत् पोतस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २५ ॥

मुने! बलिसे अर्चित हुआ चक्र असुरोंको तेजरहित करके पातालसे निकला और दक्षिण दिशाकी ओर चला गया। सुदर्शनके निकल जानेपर बलि अत्यन्त बेचैन हो गया। घोर संकट आनेपर उसने अपने पितामहको याद किया। स्मरण करते ही दैत्येश्वर (प्रह्लाद) सुतलमें आ गये। (उन्हें) देखते ही महातेजस्वी बलि तुरंत हाथमें अर्घ्य लिये उठ खड़ा हुआ। ब्रह्मन्! अपने समर्थ पितामहकी विधिपूर्वक पूजा करनेके बाद बलिने हाथ जोड़कर यह वचन कहा—तात! अत्यन्त शोकमग्न चित्तसे मैंने आपका स्मरण किया है। अतः तात! मुझे हितकर, पथ्य एवं कल्याणकारी उत्तम उपदेश दें। तात! मनुष्योंको संसारमें रहते हुए क्या करना चाहिये, जिसके करनेसे उसे बन्धन न हो। संसार-समुद्रमें निमग्न हुए अल्पमति मनुष्योंको तरनेके लिये पोतस्वरूप क्या है, आप मुझसे इसे बतावें ॥ १९—२५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतद्वचनमाकर्ण्य तत्पौत्राद् दानवेश्वरः । विचिन्त्य प्राह वचनं संसारे यद्धितं परम् ॥ २६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—अपने उस पौत्रके वचनको सुननेके बाद दानवेश्वर-(प्रह्लाद-)ने विचारकर संसारमें कल्याणकर श्रेष्ठ वचन कहा— ॥ २६ ॥

प्रह्लाद उवाच

साधु दानवशार्दूल यत्ते जाता मतिरित्वयम् । प्रवक्ष्यामि हितं तेऽद्य तथाऽन्येषां हितं बले ॥ २७ ॥

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम् ।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ॥ २८ ॥
ये संश्रिता हरिमनन्तमनादिमध्यं नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम् ।
शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं ते धर्मराजकरणं न विशन्ति धीराः ॥ २९ ॥
स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥ ३० ॥

प्रह्लादने कहा—दानवश्रेष्ठ ! तुम धन्य हो, जो तुम्हें ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई । बले ! अब मैं तुम्हारे और दूसरोंके लिये कल्याणकारी वचन कहता हूँ । संसाररूपी अगाध समुद्रमें डूबे हुए, द्वन्द्वरूपी वायुसे आहत, पुत्र, कन्या, पत्नी आदिकी रक्षाके भारसे दुःखी, नौकाके बिना भयंकर विषयरूपी जलमें डूबते हुए मनुष्योंके लिये विष्णुरूप नौका ही एकमात्र सहारा होता है । आदि, मध्य और अन्तसे रहित कल्याणप्रद, वरणीय, गरुड़वाहन, लक्ष्मीकान्त, पवित्र, देवगुरु, नारायण हरिका आश्रय ग्रहण करनेवाले धैर्यशाली मनुष्य यमराजके शासनमें नहीं पड़ते । यमराज हाथमें पाश लिये खड़े अपने दूतको देखकर उसके कानमें कहते हैं कि मधुसूदनकी शरणमें गये हुए मनुष्योंको छोड़ देना; क्योंकि मैं अन्य मनुष्योंका ही शासक हूँ, वैष्णवोंका नहीं ॥ २७–३० ॥

तथाऽन्यदुक्तं नरसत्तमेन इक्ष्वाकुणा भक्तियुतेन नूनम् ।
ये विष्णुभक्ताः पुरुषाः पृथिव्यां यमस्य ते निर्विषया भवन्ति ॥ ३१ ॥

सा जिह्वा या हरिं स्तौति तच्चित्तं यत्तदर्पितम् । तावेव केवलं श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ ३२ ॥
नूनं न तौ करौ प्रोक्तौ वृक्षशाखाग्रपल्लवौ । न यौ पूजयितुं शक्तौ हरिपादाम्बुजद्वयम् ॥ ३३ ॥
नूनं तत्कण्ठशालूकमथवा प्रतिजिह्विका । रोगो वाऽन्यो न सा जिह्वा या न वक्ति हरेर्गुणान् ॥ ३४ ॥
शोचनीयः स बन्धूनां जीवन्नपि मृतो नरः । यः पादपङ्कजं विष्णोर्न पूजयति भक्तितः ॥ ३५ ॥
ये नरा वासुदेवस्य सततं पूजने रताः । मृता अपि न शोच्यास्ते सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ३६ ॥
शारीरं मानसं वाग्जं मूर्तामूर्तं चराचरम् । दृश्यं स्पृश्यमदृश्यं च तत्सर्वं केशवात्मकम् ॥ ३७ ॥

इसके सिवा श्रद्धायुक्त नरश्रेष्ठ इक्ष्वाकुने कहा था कि मृत्युलोकमें विष्णुभक्त व्यक्ति यमके शासन-विषयसे बाहर हैं । वही जिह्वा है जो हरिका गुणगान करती है, वही चित्त है जो उनमें लीन है, वे ही हाथ प्रशंसाके योग्य हैं जो उनकी अर्चना करते हैं । जो हाथ श्रीहरिके दोनों चरण-कमलोंकी अर्चना नहीं करते, वे हाथ नहीं हैं, अपितु वृक्षकी शाखामें लगे हुए आगेके पल्लव हैं । जो जिह्वा हरिके गुणोंका वर्णन नहीं करती, वह जिह्वा नहीं, अपितु कण्ठशालूक—जिह्वासे युक्त मेढककका कण्ठ (केवल दिखावेके लिये लगी हुई निकम्मी जीभ) अथवा अन्य कोई रोग है । श्रद्धापूर्वक विष्णुके चरण-कमलका अर्चन न करनेवाला मनुष्य जीता हुआ ही मरे हुएके समान है और बन्धुजनोंके लिये शोचनीय है । मैं यह सत्य कहता हूँ कि वासुदेवके पूजनमें सर्वदा रत रहनेवाले मनुष्य मरनेपर भी शोचनीय नहीं होते । समस्त शारीरिक मानसिक, वाचिक, मूर्त, अमूर्त, जङ्गम, स्थावर, दृश्य, स्पृश्य एवं अदृश्य समस्त पदार्थ विष्णु-स्वरूप हैं ॥ ३१–३७ ॥

येनार्चितो हि भगवान् चतुर्धा वै त्रिविक्रमः। तेनार्चिता न संदेहो लोकाः सामरदानवाः ॥ ३८ ॥
यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक। तथा गुणा हि देवस्य त्वसंख्यातास्तु चक्रिणः ॥ ३९ ॥
ये शङ्खचक्राब्जकरं सशार्ङ्गिणं खगेन्द्रकेतुं वरदं श्रियः पतिम्।
समाश्रयन्ते भवभीतिनाशनं संसारगर्ते न पतन्ति ते पुनः ॥ ४० ॥
येषां मनसि गोविन्दो निवासी सततं बले। न ते परिभवं यान्ति न मृत्योरुद्विजन्ति च ॥ ४१ ॥
देवं शार्ङ्गधरं विष्णुं ये प्रपन्नाः परायणम्। न तेषां यमसालोक्यं न च ते नरकौकसः ॥ ४२ ॥
न तां गतिं प्राप्नुवन्ति श्रुतिशास्त्रविशारदाः। विप्रा दानवशार्दूल विष्णुभक्ता व्रजन्ति याम् ॥ ४३ ॥
या गतिर्दैत्यशार्दूल हतानां तु महाहवे। ततोऽधिकां गतिं यान्ति विष्णुभक्ता नरोत्तमाः ॥ ४४ ॥

त्रिविक्रम भगवान्‌की चार प्रकारसे अर्चना करनेवाले मनुष्योंने निःसन्देह सुर और असुर-सहित सम्पूर्ण लोकोंका पूजन कर लिया है। पुत्र! जिस प्रकार समुद्रके रत्न अनगिनत हैं, उसी प्रकार चक्र धारण करनेवाले विष्णुके गुण भी असंख्य हैं। हाथोंमें शङ्ख, चक्र, कमल एवं शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले गरुडध्वज, भवभीतिके नाश करनेवाले वरदानी लक्ष्मीपतिका आश्रय ग्रहण करनेवाले मनुष्य फिर संसाररूपी गड्ढेमें नहीं पड़ते। बले! जिनके मनमें गोविन्द निरन्तर निवास करते हैं, उनका अनादर नहीं होता और वे मृत्युसे आतङ्कित नहीं होते। मोक्ष-प्राप्ति करनेके श्रेष्ठ शरण स्थान शार्ङ्गधरदेव विष्णुकी शरणमें पहुँचे मनुष्योंको यमलोक या नरकमें नहीं जाना पड़ता। दानवश्रेष्ठ! वेदशास्त्रमें कुशल ब्राह्मणोंको वह गति नहीं प्राप्त होती जो गति विष्णुभक्त प्राप्त करते हैं। दैत्यश्रेष्ठ! महान् युद्धमें मारे गये व्यक्ति जो गति प्राप्त करते हैं, उस नरश्रेष्ठ विष्णुभक्तको उससे भी उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ ३८–४४ ॥

या गतिर्धर्मशीलानां सात्त्विकानां महात्मनाम्। सा गतिर्गदिता दैत्य भगवत्सेविनामपि ॥ ४५ ॥
सर्वावासं वासुदेवं सूक्ष्ममव्यक्तविग्रहम्। प्रविशन्ति महात्मानं तद्भक्ता नान्यचेतसः ॥ ४६ ॥
अनन्यमनसो भक्त्या ये नमस्यन्ति केशवम्। शुचयस्ते महात्मानस्तीर्थभूता भवन्ति ते ॥ ४७ ॥
गच्छन् तिष्ठन् स्वपञ् जाग्रत् पिबन्नश्नन्नभीक्ष्णशः।
ध्यायन् नारायणं यस्तु न ततोऽन्योऽस्ति पुण्यभाक्। वैकुण्ठं खड्गपरशुं भवबन्धसमुच्छिदम् ॥ ४८ ॥
प्रणिपत्य यथान्यायं संसारे न पुनर्भवेत्। क्षेत्रेषु वसते नित्यं क्रीडन्नास्तेऽमितद्युतिः ॥ ४९ ॥
आसीनः सर्वदेहेषु कर्मभिर्न स बध्यते। येषां विष्णुः प्रियो नित्यं ते विष्णोः सततं प्रियाः ॥ ५० ॥
न ते पुनः सम्भवन्ति तद्भक्तास्तत्परायणाः। ध्यायेद् दामोदरं यस्तु भक्तिनम्रोऽर्चयेत वा ॥ ५१ ॥
न स संसारपङ्केऽस्मिन् मज्जते दानवेश्वर।
कल्यमुत्थाय ये भक्त्या स्मरन्ति मधुसूदनम्। स्तुवन्त्यप्यभिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५२ ॥

दैत्य! धर्मशील, सात्त्विक महात्माओंको जो गति प्राप्त होती है, भगवद्भक्तोंकी भी वही गति कही गयी है। अनन्यश्रद्धासे भगवान्‌की भक्ति करनेवाले सर्वावास, सूक्ष्म, अव्यक्त शरीरवाले महात्मा वासुदेवमें प्रवेश करते हैं। अनन्यमनसे श्रद्धापूर्वक केशवको नमन करनेवाले मनुष्य पवित्र एवं तीर्थस्वरूप होते हैं। चलते, खड़े, सोते, जागते एवं खाते-पीते हुए निरन्तर नारायणका ध्यान करनेवालेसे अधिक पुण्यका योग्य अधिकारी कोई नहीं होता। विधानानुकूल संसार-बन्धनका समुच्छेद करनेवाले खड्ग और परशु धारण करनेवाले वैकुण्ठदेवको नमस्कार करनेसे ससारमें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। क्षेत्रमें निवास करते हुए सर्वदा क्रीडा करनेवाला अमितकान्तिमान् कृष्णभक्त समस्त शरीरोंमें रहनेपर भी उनके कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता। विष्णु जिन्हें नित्य प्रिय हैं, वे सर्वदा

विष्णुके प्रिय होते हैं। दामोदरका चिन्तन करनेवाले उनके भक्त, उनके शरणागत अथवा श्रद्धापूर्वक उनका अर्चन करनेवाले मनुष्य फिर जन्म ग्रहण नहीं करते। दानवेश्वर! प्रातःकाल उठकर श्रद्धापूर्वक मधुसूदनका चिन्तन करनेवाले मनुष्य इस संसाररूपी कीचड़मे नहीं फँसते। उनका गुणगान करनेवाले एवं गुणोंको श्रवण करनेवाले मनुष्य कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं ॥ ४५—५२ ॥

हरिवाक्यामृतं पीत्वा विमलैः श्रोत्रभाजनैः। प्रहृष्यति मनो येषां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५३ ॥
येषां चक्रगदापाणौ भक्तिरव्यभिचारिणी। ते यान्ति नियतं स्थानं यत्र योगेश्वरो हरिः ॥ ५४ ॥
विष्णुकर्मप्रसक्तानां भक्तानां या परा गतिः। सा तु जन्मसहस्रेण न तपोभिरवाप्यते ॥ ५५ ॥
किं जप्यैस्तस्य मन्त्रैर्वा किं तपोभिः किमाश्रमैः। यस्य नास्ति परा भक्तिः सततं मधुसूदने ॥ ५६ ॥
वृथा यज्ञा वृथा वेदा वृथा दानं वृथा श्रुतम्। वृथा तपश्च कीर्तिश्च यो द्वेष्टि मधुसूदनम् ॥ ५७ ॥
किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने। नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ ५८ ॥
विष्णुरेव गतिर्येषां कुतस्तेषां पराजयः। येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥ ५९ ॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम्। नारायणं नमस्कृत्य सर्वकर्माणि कारयेत् ॥ ६० ॥

विमल कर्णरूपी पात्रोंसे अमृतरूपी हरिके वचनोंका पान कर (श्रवण कर) जिनका मन अत्यन्त आह्लादित होता है वे कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। चक्र-गदाधारी विष्णुमें स्थिर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निःसंदेह योगेश्वर हरिके स्थानमे जाते हैं। विष्णुकी सेवामें तत्पर रहनेवाले भक्तोंको जो श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है वह हजारों जन्मोंके भी तपसे नहीं प्राप्त हो सकती। मधुसूदनमें निरन्तर पराभक्तिसे रहित मनुष्योंके जप, मन्त्र, तप एवं आश्रमोंसे क्या लाभ? मधुसूदनसे द्वेष करनेवाले मनुष्योंके यज्ञ, वेद, दान, ज्ञान, तप एवं कीर्ति व्यर्थ हैं। जनार्दनमें श्रद्धा रखनेवालोंको बहुत-से मन्त्रोंसे क्या लाभ? 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र सभी अर्थोंका सिद्ध करनेवाला है। जिनकी गति विष्णु हैं एवं जिनके हृदयमें नील कमलके समान श्याम वर्णवाले जनार्दन अवस्थित हैं, उनकी हार कहाँ सम्भव है? सभी मङ्गलोंके मङ्गलमूर्ति, वरेण्य, वरदानी प्रभु नारायणको नमस्कार कर समस्त कर्म करना चाहिये ॥ ५३—६० ॥

विष्टयो व्यतिपाताश्च येऽन्ये दुर्नीतिसम्भवाः। ते नामस्मरणाद्विष्णोर्नाशं यान्ति महासुर ॥ ६१ ॥
तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च। नारायणप्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६२ ॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च। तानि सर्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नामानुकीर्तनात् ॥ ६३ ॥
प्राप्नुवन्ति न तॉंल्लोकान् व्रतिनो वा तपस्विनः। प्राप्यन्ते ये तु कृष्णस्य नमस्कारपरैर्नरैः ॥ ६४ ॥
योऽप्यन्यदेवताभक्तो मिथ्यार्चयति केशवम्। सोऽपि गच्छति साधूनां स्थानं पुण्यकृतां महत् ॥ ६५ ॥
सातत्येन हृषीकेशं पूजयित्वा तु यत्फलम्। सुचीर्णतपसां नृणां तत् फलं न कदाचन ॥ ६६ ॥
त्रिसन्ध्यं पद्मनाभं तु ये स्मरन्ति सुमेधसः। ते लभन्त्युपवासस्य फलं नास्त्यत्र संशयः ॥ ६७ ॥

महासुर! विष्टियाँ, व्यतिपात एवं दुर्नीतिसे उत्पन्न हुई अन्य सभी आपत्तियाँ विष्णुके नामका स्मरण करनेसे विनष्ट हो जाती हैं। सौ करोड़ एवं हजारों करोड़ तीर्थ भी नारायणको प्रणाम करनेकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं। मृत्युलोकमें जितने तीर्थ और पवित्र स्थान—देवस्थान हैं, वे सभी विष्णुके नामके संकीर्तनसे प्राप्त होते हैं। श्रीकृष्णको नमन करनेवाले मनुष्य जिन लोकोंको प्राप्त करते हैं, उन्हे व्रत करनेवाले या तपस्या करनेवाले लोग नहीं प्राप्त करते। अन्य देवताका भक्त होते हुए केशवकी आडम्बरपूर्ण अर्चना करनेवाला मनुष्य भी पुण्यकर्म करनेवाले साधुओंके महान् स्थानको प्राप्त करता है। हृषीकेशके निरन्तर पूजनसे जो फल प्राप्त

होता है घोर तप करनेवाले मनुष्योंको वह फल कभी नहीं प्राप्त होता। तीनों संध्याओंके समयमे पद्मनाभका स्मरण करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको निस्संदेह उपवासका फल प्राप्त होता है ॥ ६१–६७ ॥

सततं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा हरिमर्चय। तत्प्रसादात् परां सिद्धिं बले प्राप्स्यसि शाश्वतीम् ॥ ६८ ॥
तन्मना भव तद्भक्तस्तद्याजी तं नमस्कुरु। तमेवाश्रित्य देवेशं सुखं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥ ६९ ॥
आद्यं ह्यनन्तमजरं हरिमव्ययं च ये वै स्मरन्त्यहरहर्नृवरा भुविस्थाः।
सर्वत्रगं शुभदं ब्रह्ममयं पुराणं ते यान्ति वैष्णवपदं ध्रुवमक्षयञ्च ॥ ७० ॥
ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥ ७१ ॥
ध्यायन्ति ये सततमच्युतमीशितारं निष्कल्मषं प्रवरपद्मदलायताक्षम्।
ध्यानेन तेन हतकिल्बिषवेदनास्ते मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति ॥ ७२ ॥

बले! शास्त्रोंमें वर्णित कर्मद्वारा निरन्तर हरिका अर्चन करो। उनके प्रसादसे निरन्तर स्थिर रहनेवाली उत्तम सिद्धि प्राप्त करोगे। पुत्र! तुम तन्मना, तद्भक्त एवं उनका भजन करनेवाला होकर उन्हे नमन करो; उन देवेशका ही आश्रय ग्रहण कर तुम सुख प्राप्त करोगे। आद्य, अनन्त, अजर, सर्वत्रगामी, शुभदाता, ब्रह्ममय, पुराण, अव्यय हरिका दिन-रात स्मरण करनेवाले मृत्युलोकके वासी श्रेष्ठ मनुष्य ध्रुव एवं अक्षय वैष्णव पदको प्राप्त करते हैं। जो आसक्तिहीन एवं पर और अपरके ज्ञाता मनुष्य निरन्तर गुरुदेव नारायणका चिन्तन करते हैं वे धुले हुए श्वेत पंखोंवाले राजहंसोंके समान विषय-रूपी जलसे भरे संसार-सागरको पार कर जाते हैं। जो मनुष्य उत्तम कमळ-दळके समान विस्तृत नेत्रोंवाले निर्दोष, नियमन करनेवाले अच्युतका निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे उस ध्यानसे पाप-कष्टका नाश हो जानेपर फिर माताके पयोधरका रस नहीं पान करते (उनका पुनर्जन्म नहीं होता।) ॥६८–७२॥

ये कीर्तयन्ति वरदं वरपद्मनाभं शङ्खाब्जचक्रवरचापगदासिहस्तम्।
पद्मालयावदनपङ्कजषट्पदाख्यं नूनं प्रयान्ति सदनं मधुघातिनस्ते ॥ ७३ ॥
शृण्वन्ति ये भक्तिपरा मनुष्याः संकीर्त्यमानं भगवन्तमाद्यम्।
ते मुक्तपापाः सुखिनो भवन्ति यथाऽमृतप्राशनतर्पितास्तु ॥ ७४ ॥
तस्माद् ध्यानं स्मरणं कीर्तनं वा नाम्नां श्रवणं पठतां सज्जनानाम्।
कार्यं विष्णोः श्रद्दधानैर्मनुष्यैः पूजातुल्यं तत् प्रशंसन्ति देवाः ॥ ७५ ॥
बाह्यैस्तथाऽन्तःकरणैरविक्लवैर्यो नार्चयेत् केशवमीशितारम्।
पुष्पैश्च पत्रैर्जलपल्लवादिभिर्नूनं स मुष्टो विधितस्करेण ॥ ७६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

हाथोंमें शङ्ख, कमल, चक्र, श्रेष्ठ धनुष, गदा तथा तल्वार धारण करनेवाले, लक्ष्मीके मुखकमलके भ्रमर, वर देनेवाले पद्मनाभका कीर्तन करनेवाले मनुष्य निश्चय ही मधुसूदनका लोक प्राप्त करते है। अमृत पीनेसे तृप्त होनेवाले प्राणीके समान भक्तिपरायण मनुष्य आद्य भगवान्‌का कीर्तन सुनकर पापसे मुक्त एवं सुखी होते हैं। अतः श्रद्धाशील मनुष्यको विष्णुका ध्यान, स्मरण, कीर्तन अथवा पाठ करनेवाले मनुष्योंसे विष्णुके नामोंका श्रवण करना चाहिये। देवगण पूजाके समान उसकी प्रशंसा करते हैं। स्वस्थ, बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियोंसे जो मनुष्य पुष्प, पत्र, जळ एवं पल्लवादिद्वारा शासन करनेवाले केशवका अर्चन नहीं करता, निश्चय ही विधिरूपी तस्करने उसे लूट लिया है ॥ ७३–७६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

[अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः]

बलिरुवाच

भवता कथितं सर्वं समाराध्य जनार्दनम्। या गतिः प्राप्यते लोके तां मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥
केनार्चनेन देवस्य प्रीतिः समुपजायते। कानि दानानि शस्तानि प्रीणनाय जगद्गुरोः ॥ २ ॥
उपवासादिकं कार्यं कस्यां तिथ्यां महोदयम्। कानि पुण्यानि शस्तानि विष्णोस्तुष्टिप्रदानि वै ॥ ३ ॥
यच्चान्यदपि कर्त्तव्यं हृष्टरूपैरनालसैः। तदप्यशेषं दैत्येन्द्र ममाख्यातुमिहार्हसि ॥ ४ ॥

चौरानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका प्रह्लादसे प्रश्न, विष्णुकी पूजनादि-विधि, मासानुसार विविध दान-विधान, विष्णु-मन्दिर-निर्माण और विष्णुभक्त एव वृद्धवाक्यकी महिमाका वर्णन)

बलिने कहा—(तात !) आपने सब कुछ कह दिया। अब आप जनार्दनकी पूजा करनेसे प्राप्त होनेवाली गतिका कथन करें। किस प्रकारकी आराधना करनेसे वासुदेवको प्रसन्नता होती है ? (उन) जगद्गुरुको प्रसन्न करनेके लिये किस प्रकारके दान करने चाहिये (कौन-सी वस्तुएँ प्रशंसित हैं ?) किस तिथिमें उपवास आदि करनेसे महान् उन्नति होती है ? विष्णुकी प्रीति उत्पन्न करनेवाले कौन-से पवित्र कार्य कहे गये हैं ? दैत्येन्द्र ! आलस्यसे रहित होकर प्रीतिपूर्वक करने योग्य अन्य कार्योंका भी वर्णन आप भलीभाँति मुझसे कीजिये ॥ १–४ ॥

प्रह्लाद उवाच

श्रद्दधानैर्भक्तिपरैर्यान्युद्दिश्य जनार्दनम्। बले दानानि दीयन्ते तानूचुर्मुनयोऽक्षयान् ॥ ५ ॥
ता एव तिथयः शस्ता यास्वभ्यर्च्य जगत्पतिम्। तच्चित्तस्तन्मयो भूत्वा उपवासी नरो भवेत् ॥ ६ ॥
पूजितेषु द्विजेन्द्रेषु पूजितः स्याज्जनार्दनः। एतान् द्विषन्ति ये मूढास्ते यान्ति नरकं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
तानर्चयेन्नरो भक्त्या ब्राह्मणान् विष्णुतत्परः। एवमाह हरिः पूर्वं ब्राह्मणा मामकी तनुः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणो नावमन्तव्यो बुधो वाप्यबुधोऽपि वा। सोऽपि दिव्या तनुर्विष्णोस्तस्मात् तामर्चयेन्नरः ॥ ९ ॥
तान्येव च प्रशस्तानि कुसुमानि महासुर। यानि स्युर्वर्णयुक्तानि रसगन्धयुतानि च ॥ १० ॥
विशेषतः प्रवक्ष्यामि पुष्पाणि तिथयस्तथा। दानानि च प्रशस्तानि माधवप्रीणनाय तु ॥ ११ ॥

प्रह्लादने कहा—बले ! श्रद्धासे भरे और भक्तिसे युक्त होकर जनार्दनके उद्देश्यसे जो दान दिये जाते हैं, उन्हें मुनियोंने कभी भी विनाश न होनेवाला (दान) कहा है। वे ही तिथियाँ प्रशंसनीय होती हैं, जिनमें मनुष्य विष्णुकी पूजा करनेके बाद उनमें चित्त एवं मन लगाकर उपवास करता है। ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे जनार्दनकी (ही) पूजा होती है। उनसे वैर करनेवाले मूढ व्यक्ति निश्चय ही नरकमें जाते हैं। विष्णुमें अनुराग रखनेवाले भक्तिमान् मनुष्यको श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। पूर्वकालमें विष्णुने यह कहा था कि ब्राह्मण मेरे शरीर हैं। ज्ञानी (हो) अथवा अज्ञानी, (पर) ब्राह्मणका तिरस्कार (कभी) नहीं करना चाहिये। वह विष्णुका शरीर होता है। अतः उसकी पूजा करनी चाहिये। (जहाँतक विष्णुपूजाके लिये पुष्पका प्रश्न है,) महासुर ! वर्ण, रस एवं गन्धसे युक्त पुष्प ही उत्तम होते हैं। अब मैं माधवकी प्रसन्नताके लिये कहे गये विशेष पुष्पों, तिथियों एवं दानोंका (स्पष्टतासे) वर्णन करता हूँ ॥ ५–११ ॥

जाती शताह्वा सुमनाः कुन्दं बहुपुटं तथा। बाणं च चम्पकाशोकं करवीरं च यूथिका ॥ १२ ॥
पारिभद्रं पाटला च बकुलं गिरिशालिनी। तिलकं च जपाकुसुमं पीतकं नागरं त्वपि ॥ १३ ॥

एतानि हि प्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्चने । सुरभीणि तथान्यानि वर्जयित्वा तु केतकीम् ॥ १४ ॥
बिल्वपत्रं शमीपत्रं पत्रं भृङ्गमृगाङ्कयोः । तमालामलकीपत्रं शस्तं केशवपूजने ॥ १५ ॥
येषामपि हि पुष्पाणि प्रशस्तान्यच्युतार्चने । पल्लवान्यपि तेषां स्युः पत्राण्यर्चाविधौ हरेः ॥ १६ ॥
वीरुधां च प्रवालेन बर्हिषा चार्चयेत्तथा । नानारूपैश्चाम्बुभवैः कमलेन्दीवरादिभिः ॥ १७ ॥
प्रवालैः शुचिभिः श्लक्ष्णैर्जलप्रक्षालितैर्बले । वनस्पतीनामर्चेत तथा दूर्वाग्रपल्लवैः ॥ १८ ॥
चन्दनेनानुलिम्पेत कुङ्कुमेन प्रयत्नतः । उशीरपद्मकाभ्यां च तथा कालीयकादिना ॥ १९ ॥
महिषाख्यं कणं दारु सिह्लकं सागरुं सिता । शङ्खं जातीफलं श्रीशे धूपानि स्युः प्रियाणि वै ॥ २० ॥

अच्युत (श्रीविष्णु) की अर्चनाके लिये—मालती, शतावरी, चमेली, कुन्द, गुलाब, बहुपुट, बाण, चम्पा, अशोक, कनेर, जूही, पारिभद्र, पाटल, मौलसिरी, गिरिशालिनी, तिलक, अड़हुल, पीतक एवं नागर नामक पुष्प उत्तम हैं । इनके सिवा केतकीको छोड़कर अन्य सुगन्धित पुष्प भी श्रेष्ठ हैं । केशवके पूजनमें बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्ग एवं मृगाङ्कके पत्र, तमाल तथा आमलकीके पत्र प्रशंसनीय हैं । अच्युतके अर्चनमें जिन वृक्षोंके पुष्पोंका प्रयोग होता है उनके पल्लव एवं पत्र भी विष्णुके पूजनके लिये प्रशंसनीय होते हैं । वीरुधोंके किसलय एवं कुश तथा जलमें उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके कमल एवं इन्दीवरादिसे विष्णुका पूजन करना चाहिये । बले ! वनस्पतियोंके चिकने, पवित्र एवं जलसे धोये हुए कोंपलोंसे तथा दूबके अङ्कुरसे (विष्णुका) पूजन करना चाहिये । प्रयत्नपूर्वक चन्दन, कुङ्कुम, उशीर, खश, पद्मक एवं कालीयक आदिसे विष्णुका अनुलेपन करना चाहिये । श्रीविष्णुको महिष नामक कण, दारु, सिह्लक, अगरु, सिता, शङ्ख एवं जातीफलका धूप प्रिय होता है ॥ १२–२० ॥

हविषा संस्कृता ये तु यवगोधूमशालयः । तिलमुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः ॥ २१ ॥
गोदानानि पवित्राणि भूमिदानानि चानघ । वस्त्रान्नस्वर्णदानानि प्रीतये मधुघातिनः ॥ २२ ॥
माघमासे तिला देयास्तिलधेनुश्च दानव । इन्धनादीनि च तथा माधवप्रीणनाय तु ॥ २३ ॥
फाल्गुने व्रीहयो मुद्गा वस्त्रकृष्णाजिनादिकम् । गोविन्दप्रीणनार्थाय दातव्यं पुरुषर्षभैः ॥ २४ ॥
चैत्रे चित्राणि वस्त्राणि शयनान्यासनानि च । विष्णोः प्रीत्यर्थमेतानि देयानि ब्राह्मणेष्वथ ॥ २५ ॥
गन्धमाल्यानि देयानि वैशाखे सुरभीणि वै । देयानि द्विजमुख्येभ्यो मधुसूदनतुष्टये ॥ २६ ॥
उदकुम्भाम्बुधेनुं च तालवृन्तं सुचन्दनम् । त्रिविक्रमस्य प्रीत्यर्थं दातव्यं साधुभिः सदा ॥ २७ ॥
उपानद्युगलं छत्रं लवणामलकादिकम् । आषाढे वामनप्रीत्यै दातव्यानि तु भक्तितः ॥ २८ ॥

घृतसे संस्कृत जौ, गेहूँ, शालिधान्य, तिल, मूँग, उड़द और अन्न हरिको प्रिय हैं । हे निष्पाप ! मधुसूदनको गौ, पवित्र भूमि, वस्त्र, अन्न और सोनेके दान प्रिय होते हैं । दानव ! माघमासमें माधवकी प्रसन्नताके लिये तिल, तिलधेनु एवं इन्धनादिका दान करना चाहिये । महान् पुरुषोंको गोविन्दकी प्रीतिके लिये फाल्गुन मासमें चावल, मूँग, वस्त्र तथा कृष्णमृगचर्म दान करना चाहिये । चैत्र मासमें विष्णुकी प्रीतिके लिये ब्राह्मणोंको भाँति-भाँतिके वस्त्र, शय्या एवं आसनोंका दान करना चाहिये । मधुसूदनकी प्रीतिके लिये वैशाख मासमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुगन्धित गन्ध एवं माल्योंका दान करना चाहिये । त्रिविक्रमकी प्रीतिके लिये सज्जन व्यक्तिको जलका घड़ा, जलधेनु, ताड़का पंखा तथा सुन्दर चन्दनका दान करना चाहिये । भगवान् वामनकी प्रीतिके लिये आषाढ मासमें भक्तिपूर्वक जूतेका जोड़ा, छत्र, लवण एवं आँवले आदिका दान करना चाहिये ॥ २१–२८ ॥

घृतं च क्षीरकुम्भाश्च घृतधेनुफलानि च। श्रावणे श्रीधरप्रीत्यै दातव्यानि विपश्चिता ॥ २९ ॥
मासि भाद्रपदे दद्यात् पायसं मधुसर्पिषी। हृषीकेशप्रीणनार्थं लवणं सगुडोदनम् ॥ ३० ॥
तिलास्तुरङ्गं वृषभं दधि ताम्रायसादिकम्। प्रीत्यर्थं पद्मनाभस्य देयमाश्वयुजे नरैः ॥ ३१ ॥
रजतं कनकं दीपान् मणिमुक्ताफलादिकम्। दामोदरस्य तुष्ट्यर्थं प्रदद्यात् कार्तिके नरः ॥ ३२ ॥
खरोष्ट्राश्वतरान् नागान् यानयुग्यमजाविकम्। दातव्यं केशवप्रीत्यै मासि मार्गशिरे नरैः ॥ ३३ ॥
प्रासादनगरादीनि गृहप्रावरणादिकम्। नारायणस्य तुष्ट्यर्थं पौषे देयानि भक्तितः ॥ ३४ ॥
दासीदासमलङ्कारमन्नं षड्रससंयुतम्। पुरुषोत्तमस्य तुष्ट्यर्थं प्रदेयं सार्वकालिकम् ॥ ३५ ॥
यद्यदिष्टतमं किंचिद्यद्वाप्यस्ति शुचि गृहे। तत्तद्धि देयं प्रीत्यर्थं देवदेवाय चक्रिणे ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको श्रीधरकी प्रसन्नताके लिये श्रावण मासमे घी और दूधसे भरे घड़े, घृत, धेनु एवं फलोका दान करना चाहिये। भाद्रपद मासमे हृषीकेशकी प्रसन्नताके लिये पायस, मधु, घी, नमक और गुणसे बनाये गये मीठे भातका दान करना चाहिये। मनुष्योंको पद्मनाभकी प्रसन्नताके लिये आश्विन मासमे तिल, घोड़ा, बैल, दही, ताँवा और लोहे आदिका दान करना चाहिये। मनुष्योंको दामोदरकी संतुष्टिके लिये कार्तिक मासमे चाँदी, सोना, दीप, मणि, मुक्ता और फल आदिका दान करना चाहिये। मनुष्योंको केशवकी प्रीतिके लिये मार्गशीर्ष (अगहन) मासमे खर, उष्ट्र, खच्चर, हाथी, सामान ढोनेवाला बकरा एवं भेड़का दान करना चाहिये। नारायणकी संतुष्टिके लिये पौष मासमे श्रद्धापूर्वक प्रासाद, नगर, गृह एवं ओढ़नेके वस्त्र आदिका दान करना चाहिये। पुरुषोत्तमकी संतुष्टिके लिये सभी समय दासी, दास, आभूषण एवं मधुर आदि ष ् रसोसे युक्त अन्नका दान करना चाहिये। चक्र धारण करनेवाले देवाधिदेवकी प्रसन्नताके लिये अपनी जो सबसे अधिक इच्छित वस्तु हो अथवा घरमें जो वस्तु पवित्र हो उसका दान करना चाहिये ॥ २९–३६ ॥

यः कारयेन्मन्दिरं केशवस्य पुण्याँल्लोकान् स जयेच्छाश्वतान् वै।
दत्त्वारामान् पुष्पफलाभिपन्नान् भोगान् भुङ्क्ते कामतः श्लाघनीयान् ॥ ३७ ॥
पितामहस्य पुरतः कुलान्यष्टौ तु यानि च। तारयेदात्मना सार्धं विष्णोर्मन्दिरकारकः ॥ ३८ ॥
इमाश्च पितरो दैत्य गाथा गायन्ति योगिनः। पुरतो यदुसिंहस्य ज्यामघस्य तपस्विनः ॥ ३९ ॥
अपि नः स कुले कश्चिद् विष्णुभक्तो भविष्यति। हरिमन्दिरकर्ता यो भविष्यति शुचिव्रतः ॥ ४० ॥
अपि नः सन्ततौ जायेद् विष्ण्वालयविलेपनम्। सम्मार्जनं च धर्मात्मा करिष्यति च भक्तितः ॥ ४१ ॥
अपि नः सन्ततौ जातौ ध्वजं केशवमन्दिरे। दास्यते देवदेवाय दीपं पुष्पानुलेपनम् ॥ ४२ ॥
महापातकयुक्तो वा पातकी चोपपातकी। विमुक्तपापो भवति विष्ण्वायतनचित्रकृत् ॥ ४३ ॥

केशवभगवान्‌का मन्दिर-निर्माण करानेवाला मनुष्य सतत स्थायी पुण्यलोकोको प्राप्त करता है। फूल-फलवाले वाटिकाओका दान करनेवाला इच्छानुसार प्रशंसनीय भोगोका उपभोग करता है। विष्णुभगवान्‌के मन्दिरका निर्माण करानेवाला पुरुष अपने पितामहसे आगेके आठ कुलपुरुषोका उद्धार करता है। दैत्य! पितरोने यदुश्रेष्ठ योगी एवं तपस्वी ज्यामघके सामने इस गाथाका वर्णन किया था। क्या हमारे कुलमे पवित्र व्रत धारण करनेवाला इस प्रकारका कोई विष्णुभक्त उत्पन्न होगा जो हरिका मन्दिर बनवायेगा? क्या हमारी सन्ततिमे कोई विष्णुमन्दिरमें श्रद्धापूर्वक चूने आदिसे सफाई करानेवाला और झाड़ू देनेवाला धार्मिक उत्पन्न होगा? क्या हमारी सन्ततियोंमें ऐसा कोई होगा जो केशवके मन्दिरमें ध्वजाका दान करेगा और देवदेवेश्वरको दीप, पुष्प और सुगन्धित

चन्दन आदि प्रदान करेगा ? महापातकी, पातकी अथवा उपपातकी व्यक्ति विष्णुमन्दिरको भाँति-भाँतिके रंगोसे सजाकर अथवा दिव्य चित्र बनाकर पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ३७–४३ ॥

इत्थं पितृणां वचनं श्रुत्वा नृपतिसत्तमः। चकारायतनं भूम्यां स्वयं च लिम्पनासुर ॥ ४४ ॥
विभूतिभिः केशवस्य केशवाराधने रतः। नानाधातुविकारैश्च पञ्चवर्णैश्च चित्रकैः ॥ ४५ ॥
ददौ दीपानि विधिवद् वासुदेवालये बले। सुगन्धितैलपूर्णानि घृतपूर्णानि च स्वयम् ॥ ४६ ॥
नानावर्णा वैजयन्त्यो महारजनरञ्जिताः। मञ्जिष्ठा नवरङ्गीयाः श्वेतपाटलिकाश्रिताः ॥ ४७ ॥
आरामा विविधा हृद्याः पुष्पाढ्याः फलशालिनः। लतापल्लवसंछन्ना देवदारुभिरावृताः ॥ ४८ ॥
कारिताश्च महामञ्चाधिष्ठिताः कुशलैर्जनैः। पौरोगवविधानज्ञै रत्नसंस्कारिभिर्दृढैः ॥ ४९ ॥
तेषु नित्यं प्रपूज्यन्ते यतयो ब्रह्मचारिणः। श्रोत्रिया ज्ञानसम्पन्ना दीनान्धविकलादयः ॥ ५० ॥
इत्थं स नृपतिः कृत्वा श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। ज्यामघो विष्णुनिलयं गत इत्यनुशुश्रुमः ॥ ५१ ॥

असुर ! पितृगणके इस प्रकारके वचनको सुनकर उस नृपश्रेष्ठने पृथ्वीपर मन्दिरका निर्माण करवाया। वह स्वयं उसमे चूने आदिसे सफाई तथा धोना-पोंछना आदि करता था। वह केशवकी विभूतियों, नाना प्रकारकी धातुओंसे निर्मित वस्तुओ तथा पाँच वर्णके तिलकोंसे पूजा करने लगा। बले ! उसने वासुदेवके मन्दिरमे स्वयं विधिपूर्वक सुगन्धित तैल एवं घीसे भरे दीपकका दान किया। (उसने विष्णुमन्दिरमे) कुसुम्भ मजीठके रंगमें रँगे श्वेत एवं लाल वर्णके तथा नौ रंगोवाले भाँति-भाँतिके ध्वजोंको आरोपित किया। (उसने) पुष्पों, फलों, लतापल्लवों तथा देवदारु आदि भाँति-भाँतिके वृक्षोसे पूर्ण उद्यानोंका निर्माण कराया। पाकशालाके अध्यक्षके विधानको जाननेवाले एवं रत्नोंसे अलंकृत करनेवाले अत्यन्त कुशल पुरुषोंसे अधिष्ठित बड़े-बड़े मञ्चोंका निर्माण करवाया। उनमें प्रतिदिन यतियों, ब्रह्मचारियो, ज्ञानियों, श्रोत्रियों, दीनों, अन्धों एवं विकलाङ्गों—लँगड़े-लूले आदि पुरुषोंका सत्कार होता था। हमलोगोंने सुना है कि ऐसा कार्य करनेसे श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय राजा ज्यामघने विष्णुलोकको प्राप्त कर लिया ॥ ४४–५१ ॥

तमेव चाद्यापि बले मार्गं ज्यामघकारितम्। व्रजन्ति नरशार्दूल विष्णुलोकजिगीषवः ॥ ५२ ॥
तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र कारयस्वालयं हरेः।
तदर्चयस्व यत्नेन ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान्। पौराणिकान् विशेषेण सदाचाररताञ् शुचीन् ॥ ५३ ॥
वासोभिर्भूषणै रत्नैर्गोभिर्भूकनकादिभिः। विभवे सति देवस्य प्रीणनं कुरु चक्रिणः ॥ ५४ ॥
एवं क्रियायोगरतस्य तेऽद्य नूनं मुरारिः शुभदो भविष्यति।
नरा न सीदन्ति बले समाश्रिता विभुं जगन्नाथमनन्तमच्युतम् ॥ ५५ ॥

बले ! विष्णुलोककी प्राप्तिकी कामना करनेवाले पुरुष आज भी राजा ज्यामघद्वारा प्रदर्शित उसी मार्गका आश्रय लेते हैं। इसलिये राजेन्द्र ! तुम भी हरिका मन्दिर बनवाओ और प्रयत्नपूर्वक उन हरि, बहुश्रुत ब्राह्मणों एवं विशेष रूपसे सदाचारपरायण पवित्र पुराण जानने और प्रवचन करनेवालोका पूजन करो। ऐश्वर्य रहनेपर वस्त्र, आभूषण, रत्न, गौ, पृथ्वी एवं स्वर्ण आदि-(के दान-) द्वारा चक्रधर विष्णुको प्रसन्न करो। तुम्हारे इस प्रकारकी क्रिया करनेमे तत्पर रहनेपर मुरारि निश्चय ही तुम्हारा कल्याण करेंगे। बले ! अनन्त अच्युत विभु जगन्नाथका आश्रय ग्रहण करनेवाले व्यक्ति दुखी नहीं होते ॥ ५२–५५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं दितीश्वरो वैरोचनं सत्यमनुत्तमं हि ।
सम्पूजितस्तेन विमुक्तिमाययौ सम्पूर्णकामो हरिपादभक्तः ॥ ५६ ॥
गते हि तस्मिन् मुदिते पितामहे बलेर्बभौ मन्दिरमिन्दुवर्णम् ।
महेन्द्रशिल्पिप्रवरोऽथ केशवं स कारयामास महामहीयान् ॥ ५७ ॥
स्वयं सभार्यस्सहितश्चकार देवालये मार्जनलेपनादिकाः ।
क्रिया महात्मा यवशर्कराद्यां बलिश्चकाराग्रनिभां मधुद्रुहः ॥ ५८ ॥
दीपप्रदानं स्वयमायताक्षी विन्ध्यावली विष्णुगृहे चकार ।
गेयं स्म धर्म्यश्रवणं च धीमान् पौराणिकैर्विप्रवरैरकारयत् ॥ ५९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—बलिने इस प्रकार सत्य तथा श्रेष्ठ वचन कहनेके बाद विष्णुभगवान्‌के चरणोंमें अनुराग रखनेवाले सफलमनोरथ दितीश्वर प्रह्लाद बलिद्वारा किये गये सत्कारको ग्रहण कर मोक्षमार्गकी ओर प्रस्थित हो गये। पितामह प्रह्लादके प्रसन्न होकर चले जानेपर बलिका महल चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशित होने लगा। महामहिम उस-(बलि-)ने विश्वकर्मासे केशवका मन्दिर निर्मित करवाया। बलि स्वयं अपनी पत्नीके साथ उस देवालयमें मार्जन, लेपन आदि क्रियाएँ करने लगा। मधुसूदनके लिये महात्मा बलिने जौ एवं शक्कर आदिका उत्तम नैवेद्य निवेदित किया। विशालनयना विन्ध्यावली स्वयं विष्णुमन्दिरमें दीपदान करने लगी। बुद्धिमान् बलि पुराणवेत्ता श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे धार्मिक प्रवचन करवाने लगा ॥ ५६—५९ ॥

तथाविधस्यासुरपुङ्गवस्य धर्म्ये सुमार्गे प्रतिसंस्थितस्य ।
जगत्पतिर्दिव्यवपुर्जनार्दनस्तस्थौ महात्मा बलिरक्षणाय ॥ ६० ॥
सूर्यायुताभं मुसलं प्रगृह्य निघ्नन् स दुष्टानरियूथपालान् ।
द्वारि स्थितो न प्रददौ प्रवेशं प्राकारगुप्ते बलिनो गृहे तु ॥ ६१ ॥
द्वारि स्थिते धातरि रक्षपाले नारायणे सर्वगुणाभिरामे ।
प्रासादमध्ये हरिमीशितारमभ्यर्चयामास सुरर्षिमुख्यम् ॥ ६२ ॥
स एवमास्ते सुरराड् बलिस्तु समर्चयन् वै हरिपादपङ्कजौ ।
सस्मार नित्यं हरिभाषितानि स तस्य जातो विनयाङ्कुशस्तु ॥ ६३ ॥

उस प्रकारके धर्ममार्गमें स्थित रहनेवाले असुरोंमें श्रेष्ठ बलिकी रक्षाके लिये दिव्य शरीर धारण करनेवाले जगत्पति परमात्मा जनार्दन (वहाँ) विराजने लगे। वे द्वारपर रहते हुए दस हजार सूर्योंके समान तेजवाले मुसलको लेकर दुष्ट शत्रुओंके यूथपतियोंका संहार करते एवं प्राचीर-(परकोटा-)से रक्षित बलिके भवनमें किसीको प्रवेश नहीं करने देते थे। सभी गुणोंसे सुन्दर लगनेवाले विधाता नारायणके द्वारपाल होनेपर बलि भी अपने महलके भीतर निरन्तर सुरों एवं ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ नियमनकर्ता हरिका पूजन करने लगा। असुरराज बलि इस प्रकार हरिके चरणकमलोंका अर्चन करते हुए नित्य हरिके वचनोंको स्मरण किया करता था। वह (नियम) उसके लिये विनयका अङ्कुश हो गया ॥ ६०—६३ ॥

इदं च वृत्तं स पपाठ दैत्यराट् स्मरन् सुवाक्यानि गुरोः शुभानि ।
तथ्यानि पथ्यानि परत्र चेह पितामहस्येन्द्रसमस्य वीरः ॥ ६४ ॥
ये वृद्धवाक्यानि समाचरन्ति श्रुत्वा दुरुक्तान्यपि पूर्वतस्तु ।
स्निग्धानि पश्चान्नवनीतशुद्धा मोदन्ति ते नात्र विचारमस्ति ॥ ६५ ॥

आपद्भुजंगदष्टस्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा। वृद्धवाक्यौषधा नूनं कुर्वन्ति किल निर्विषम् ॥ ६६ ॥
वृद्धवाक्यामृतं पीत्वा तदुक्तमनुमान्य च। या तृप्तिर्जायते पुंसां सोमपाने कुतस्तथा ॥ ६७ ॥
आपत्सौ पतितानां येषां वृद्धा न सन्ति शास्तारः। ते शोच्या बन्धूनां जीवन्तोऽपीह मृततुल्याः ॥ ६८ ॥
आपद्ग्राहगृहीतानां वृद्धाः सन्ति न पण्डिताः। येषां मोक्षयितारो वै तेषां शान्तिर्न विद्यते ॥ ६९ ॥
आपज्जलनिमग्नानां ह्रियतां व्यसनोर्मिभिः। वृद्धवाक्यैर्विना नूनं नैवोत्तारं कथंचन ॥ ७० ॥
तस्माद् यो वृद्धवाक्यानि शृणुयाद् विदधाति च। स सद्यः सिद्धिमाप्नोति यथा वैरोचनो बलिः ॥ ७१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इन्द्रके समान श्रेष्ठ अपने पितामहके कल्याणप्रद इस लोक तथा परलोकमें कल्याणकारी एवं सुन्दर तथ्य वचनोंका स्मरण करते हुए वह वीर दैत्यराज इस वृत्तका पाठ (आवृत्ति) करता था। पूर्वमें कठोरतापूर्वक कहे गये और बादमें नवनीतके समान स्निग्ध (कोमल) एवं शुद्ध वृद्धवाक्योंका श्रवण कर तदनुसार आचरण करनेवाले निस्सन्देह आनन्द प्राप्त करते हैं। वृद्धवाक्यरूपी ओषधि आपत्तिरूपी सर्पसे दंशित मन्त्रहीन पुरुषको निस्सन्देह विषसे रहित कर देती है। वृद्धवचनरूपी अमृतको पीने एवं उनके कथनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्योंको जो तृप्ति होती है वैसी तृप्ति सोमपानमें कहाँ है? वृद्धजन आपत्तिमें पड़े हुए जिन मनुष्योंका शासन (मार्गदर्शन) नहीं करते वे बन्धुओंके लिये शोचनीय तथा जीवित ही मरे हुएके समान होते हैं। आपत्तिरूपी ग्राहसे ग्रस्त जिन व्यक्तियोंको वृद्ध ज्ञानी लोग (उससे) मुक्त करानेवाले नहीं होते उन्हें शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। आपत्तिरूपी जलमें डूबे और व्यसनरूपी लहरोंके थपेड़े खानेवाले पुरुषोंका उद्धार वृद्ध वचनके सिवा अन्य किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। अतः वृद्धवचनको सुनने एवं तदनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य विरोचन-पुत्र बलिके समान शीघ्र सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ६४—७१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौरानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९४ ॥

[अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतन्मया पुण्यतमं पुराणं तुभ्यं तथा नारद कीर्तितं वै।
श्रुत्वा च कीर्त्या परया समेतो भक्त्या च विष्णोः पदमभ्युपैति ॥ १ ॥
यथा पापानि पूयन्ते गङ्गावारिविगाहनात्। तथा पुराणश्रवणाद् दुरितानां विनाशनम् ॥ २ ॥
न तस्य रोगा जायन्ते न विषं चाभिचारिकम्। शरीरे च कुले ब्रह्मन् यः शृणोति च वामनम् ॥ ३ ॥
शृणोति नित्यं विधिवच्च भक्त्या सम्पूजयन् यः प्रणतश्च विष्णुम्।
स चाश्वमेधस्य सदक्षिणस्य फलं समग्रं परिहीनपापः ॥ ४ ॥
प्राप्नोति दत्तस्य सुवर्णभूमेरश्वस्य गोनागरथस्य चैव।
नारी नरश्चापि च पादमेकं शृण्वन् शुचिः पुण्यतमः पृथिव्याम् ॥ ५ ॥

पंचानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुराण-वाचन, श्रावण-श्रवण और पठनकी फलश्रुति)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! मैंने आपसे इस अत्यन्त पावन पुराणका कथन किया है। इसको सुननेसे

मनुष्य उत्तम यश और भक्तिसे सम्पन्न होकर विष्णुलोकको प्राप्त करता है। जैसे गङ्गाजलमें स्नान करनेसे सारे पाप धुल जाते हैं, वैसे ही इस पुराणका श्रवण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मन्! वामनपुराणका श्रवण करनेवाले मनुष्यके शरीर एवं कुलमें रोग तथा अभिचार-कर्म-(मारण, मोहन, उच्चाटन आदि-) से उत्पन्न घातक प्रभाव नहीं होता। विनयपूर्वक विष्णुका अर्चन करते हुए श्रद्धासे विधानके अनुसार नित्य इस पुराणके सुननेवाले मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे दक्षिणाके सहित अश्वमेध यज्ञ करने तथा सोना, भूमि, अश्व, गौ, हाथी तथा रथके दानका फल प्राप्त होता है। इस-(पुराण-) का एक चरण (भाग) भी सुननेवाला पुरुष तथा स्त्री पृथ्वीमें पावन एवं अत्यन्त पुण्यवान् हो जाता है ॥ १—५ ॥

स्नाने कृते तीर्थवरे सुपुण्ये गङ्गाजले नैमिषपुष्करे वा।
कोकामुखे यत् प्रवदन्ति विप्राः प्रयागमासाद्य च माघमासे ॥ ६ ॥
स तत्फलं प्राप्य च वामनस्य संकीर्तयन् नान्यमनाः पदं हि।
गच्छेन्मया नारद तेऽद्य चोक्तं यद् राजसूयस्य फलं प्रयच्छेत् ॥ ७ ॥
यद् भूमिलोके सुरलोकलभ्ये महत्सुखं प्राप्य नरः समग्रम्।
प्राप्नोति चास्य श्रवणान्महर्षे सौत्रामणेर्नास्ति च संशयो मे ॥ ८ ॥
रत्नस्य दानस्य च यत्फलं भवेद् यत्सूर्यस्य चेन्द्रोर्ग्रहणे च राहोः।
अन्नस्य दानेन फलं यथोक्तं बुभुक्षिते विप्रवरे च साग्निके ॥ ९ ॥
दुर्भिक्षसम्पीडितपुत्रभार्ये यामी सदा पोषणतत्परे च।
देवाग्निविप्रर्विरते च पित्रोः शुश्रूषके भ्रातरि ज्येष्ठसाम्ने।
यत्तत्फलं सम्प्रवदन्ति देवाः स तत् फलं लभते चास्य पाठात् ॥ १० ॥

ब्राह्मणलोग अत्यन्त पवित्र श्रेष्ठ तीर्थके जल, गङ्गाजल, नैमिषारण्य, पुष्कर, कोकामुख तथा माघमासमें प्रयागमें जाकर स्नान करनेसे जिस फलकी प्राप्तिका होना बतलाते हैं, एकाग्रमनसे वामनपुराणके एक चरणका कीर्तन करते हुए यात्रा करनेवाले पुरुषको (भी) वही फल प्राप्त होता है। नारदजी! मैंने आज आपसे उस पुराणको कहा है, जो राजसूय यज्ञका फल देनेवाला है। महर्षे! मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसको सुननेसे मनुष्य पृथ्वी एवं देवलोकमें प्राप्त होने योग्य सारे महान् सुखोंको प्राप्तकर सौत्रामणि नामक यज्ञका फल प्राप्त करता है। देवगण रत्नदान, राहुद्वारा सूर्य एवं चन्द्रके ग्रस्त होनेके समय किये गये दान, भूखे, अग्निहोत्री, उत्तम ब्राह्मणको दिये गये अन्नदान, अकालसे पीडित, पुत्र, पत्नी एवं भाई-बन्धुके पोषणमें तत्पर पुरुषको दिये गये दान, देवता, अग्नि एवं ब्राह्मणकी सेवामें लगे रहनेवाले व्यक्तिको तथा माता-पिता और ज्येष्ठ भाईको दिये गये दानसे जिस फलका प्राप्त होना बतलाते हैं, वह फल मनुष्य इस-(वामनपुराण-) का पाठ करनेसे प्राप्त कर लेता है ॥ ६—१० ॥

चतुर्दशं वामनमाहुरग्र्यं श्रुते च यस्याघचयाश्च नाशम्।
प्रयान्ति नास्त्यत्र च संशयो मे महान्ति पापान्यपि नारदाशु ॥ ११ ॥
पाठात् संश्रवणाद् विप्र श्रावणादपि कस्यचित्। सर्वपापानि नश्यन्ति वामनस्य सदा मुने ॥ १२ ॥
इदं रहस्यं परमं तवोक्तं न वाच्यमेतद्धरिभक्तिवर्जिते।
द्विजस्य निन्दारतिहीनदक्षिणे सहेतुवाक्यावृतपापसत्त्वे ॥ १३ ॥

नमो नमः कारणवामनाय नारायणायामितविक्रमाय ।
श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥ १४ ॥
इत्थं वदेद् यो नियतं मनुष्यः कृष्णभावनः । तस्य विष्णुः पदं मोक्षं ददाति सुरपूजितः ॥ १५ ॥
वाचकाय प्रदातव्यं गोभूस्वर्णविभूषणम् । वित्तशाठ्यं न कर्तव्यं कुर्वन् श्रवणनाशकम् ॥ १६ ॥
त्रिसन्ध्यं च पठन् शृण्वन् सर्वपापप्रणाशनम् । असूयारहितं विप्र सर्वसम्पत्प्रदायकम् ॥ १७ ॥
इति श्रीवामनपुराणे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणं समाप्तम् ॥

नारदजी ! वामनपुराण पुराणोंमें चौदहवाँ उत्तम पुराण है । इसमें मुझे सन्देह नहीं है कि इसका श्रवण करनेसे पापोंका समुदाय एवं महापातक भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । मुने ! ब्राह्मणदेव ! वामनपुराणका पाठ कहने, सुनने एवं सुनानेसे सर्वदा सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । मैंने आपसे यह परम रहस्य कहा है । इसे भगवान्‌की भक्तिसे रहित व्यक्तिके एवं ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाले आचारहीन तथा तर्कशील पापी मनुष्यके सामने नहीं कहना चाहिये । देवोंके कारण वामनरूप धारण करनेवाले अमित पराक्रमी श्रीनारायग भगवान्‌को नमस्कार है, नमस्कार है और शार्ङ्ग, चक्र, खड्ग तथा गदा धारग करनेवाले पुरुषोत्तम भगवान्‌को नमस्कार है । इस प्रकार जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णमें अपनी भावनाओंको समर्पित कर इस वामनपुराणका नित्य पाठ करता है, उसे देवताओंसे पूजित भगवान् विष्णु मोक्षपद प्रदान करते हैं । इस पुराणके बाँचनेवालेको (पुराणका पाठ करनेवालेको भी) गौ, पृथ्वी एवं स्वर्णके आभूषण प्रदान करने चाहिये । इसमें धनकी शठता (शक्तिसे कम दक्षिणा देना) नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे सुननेके फलका नाश हो जाता है । विप्रदेव ! जलन, ईर्ष्या, रोष आदि दोषोंसे रहित होकर तीनों संध्याओंके समय समस्त पापोंके विनाश करनेवाले इस पुराणका पाठ करने एवं श्रवण करनेसे सभी प्रकारकी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ११–१७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

श्रीवामनपुराण समाप्त

वामनपुराण-पठन-माहात्म्य

(लेखक—पूज्यपाद अनन्तश्री श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीजी महाराज)

ज्यों गङ्गामे न्हाय पाप नवरे कटि जावैं ।
त्यों पुरान नित सुनैं मनोवाञ्छित फल पावैं ॥
जो कारन बामन बने, जिनि नारायन नाम है ।
तिनके पद पाथोजमें पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है ॥

पुराणोंके श्रवणसे संसारसे वैराग्य होता है, ज्ञानकी अभिवृद्धि होती है और भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें अनुराग उत्पन्न होता है । पुराणोंके दस लक्षण तथा उपपुराणोंके पाँच लक्षण बताये हैं । दस लक्षण ये कहे गये हैं—

१—सर्ग (संसारकी उत्पत्ति कैसे होती है ।), २—विसर्ग (एक जीवसे दूसरे जीव कैसे होते हैं । जीवकी उपाधिकी सृष्टि), ३—स्थान, ४—पोषण, ५—ऊति, ६—वृत्ति (जीवन-निर्वाहकी सामग्रीको जुटाना), ७—रक्षा (विश्वकी रक्षा भगवान् अवतारादि लेकर कैसे करते हैं ।)

८—मन्वन्तर (एक मनु जितने कालतक रहते हैं उतने कालमें) १—मनु, २—उस मन्वन्तरके देवगण, ३—उस मन्वन्तरके मनुके वंशज, ४—मन्वन्तरका इन्द्र, ५—उस मन्वन्तरके सप्तर्षिगण और ६—उस मन्वन्तरका अंशावतार । ये प्रत्येक मन्वन्तरमें आते हैं । इन छःके वर्णन जिसमें हो, वह मन्वन्तर कहलाता है ।

९—वंश (ब्रह्माजीसे लेकर जो पृथ्वीके राजा हुए हैं उनकी वंशावली) और वंशानुचरित (उन राजाओंके

वंशजोंका चरित), संस्था (प्रलय कैसे होती है), ईशकथा, निरोध और आश्रय, अथवा हेतु (सृष्टिका कारण जीव) और—

१०—अपाश्रय (ब्रह्म)—इन दस बातोंका जिसमें वर्णन हो, उसे ही पुराण कहते हैं। पुराणोंका मुख्य उद्देश्य आश्रय-स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान ही है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिसे परे जो तुरीय तत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा है। सृष्टि तथा राजा आदिके चरित्र कहकर पुराण ब्रह्मको ही लक्ष्य कर लक्षित कराते हैं; जैसे—किसीको ध्रुवतारा दिखाना हो तो पहले वृक्षकी डाल दिखायेंगे। फिर कहेंगे कि इस डालकी सीधमें जो चमकीला तारा दीख रहा है, वही ध्रुवतारा है। इसी प्रकार अमुक राजा ऐसा था, उसका भगवान्से ऐसा सम्बन्ध हुआ, भगवान्ने उसके निमित्त यह अवतार लेकर ऐसी-ऐसी लीलाएँ कीं। इन लीलाओंके उपलक्ष्यसे यथार्थ लक्ष्य जो परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हींका बोध कराना है; राजाओंकी कथा तो वाणीका विलासमात्र है। परमार्थतत्त्व तो ज्ञान-वैराग्यके द्वारा परब्रह्म परमात्माको दिखाना है। इसीलिये श्रीमद्भागवतके अन्तमें श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्से कहा था—राजन्! मैंने तुमको बहुत-से ऐसे राजाओंकी कथाएँ सुनायी हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंमें अपने यशका विस्तार करके इस लोकका परित्याग कर परलोक प्रयाण कर गये। उनकी कथाएँ ज्ञान और वैराग्यका उपदेश करनेके निमित्त ही तुम्हें सुनायी हैं। ये कथाएँ केवल वाणीकी विभूतिमात्र हैं। परमार्थतत्त्व तो पराश्रय परब्रह्म परमात्मा 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ही हैं। राजा तो हुए और अपना बल-पौरुष दिखाकर चले गये। उनके चरित्रसे केवल ज्ञान-वैराग्यकी शिक्षा लो और परमार्थतत्त्वपर अपना लक्ष्य रखो। इसी पराश्रय-तत्त्वका उपदेश समस्त पुराण करते हैं। इसीलिये वामनपुराणके अन्तमें भगवान्के ५ नाम लिये गये हैं—१—कारणवामन, २—नारायण, ३—अमितविक्रम, ४—शार्ङ्गचक्र, तलवार और गदाधारी तथा ५—पुरुषोत्तम। इन नामोंको लेकर तीन बार नमस्कार किया है। तीन बार नमस्कारका तात्पर्य है—१—हृदयसे, २—वाणीसे और ३—शरीरसे निरन्तर भगवान्के नामोंको लेता हुआ 'नमो नमः, नमो नमः' कहता हुआ निरन्तर नमस्कार करता रहे। इससे क्या होगा? जो इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है, वह मुक्तिपदका दायभाक्-उत्तराधिकारी हो जाता है; अर्थात् जिनके चरणोंमें मुक्ति लोटती रहती है, उन श्रीकृष्णका वह उत्तराधिकारी हो जाता है। इस प्रकार वामनपुराणमें भगवान्के पाँच नाम लेकर तीन बार नमस्कार करनेका फल बताया है कि जो इस प्रकार भगवान्के नामोंका उच्चारण हृदयसे, वाणीसे और शरीरसे नित्य नमस्कार करता रहेगा और मनमें श्रीकृष्णकी भावना करता रहेगा, उसको विष्णुपद, जो मोक्ष है, उसे देवताओंद्वारा पूजित श्रीवामन भगवान् अवश्य दे देते हैं।

इत्थं वदेद् यो नियतं मनुष्यः कृष्णभावनः।
तस्मै विष्णुः पदं मोक्षं ददाति सुरपूजितः॥
(वामनपुराण ९५। १५)

छप्पय

कृष्ण भावना करै नाम नारायन लेवै।
मन बानी अरु देह सहित प्रनवै प्रभु सेवै॥
नमो नमः नित कहे रूप हरि हियमें राखै।
मुखमें राखै नाम जीभ परसादी चाखै॥
पादोदक निरमाल्य सिर, श्रवन कथा नित ही सुनै।
भक्ति मुक्ति करतल बसैं, जे श्रीवामन गुन गुनै॥

नवज्योतिका प्रकाश मिले

(श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य पूज्य श्रीनारदानन्दजी महाराजका शुभाशीर्वचन)

श्रीजगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराज यह जानकर कि 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'श्रीवामनपुराणाङ्क' निकल रहा है, बहुत प्रसन्न हुए। पूज्यचरणका शुभाशीर्वाद है कि 'कल्याण' इसी प्रकार ईश्वर-भक्ति, देश-भक्ति, नैतिकता राष्ट्रमें एवं विश्वमें फैलाता हुआ नव-जीवन-ज्योति प्रकाशित करता रहे। हमारी समस्त शुभ कामनाएँ कल्याणके साथ हैं।

(प्रेषक—गोपेश्वर पूजन कुटी—श्री महाराजजी)

श्रीहरि

'कल्याण'के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना।

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेख ही प्रायः प्रकाशित होते हैं। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे प्रायः नहीं लौटाये जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं होंगे।**

(२) डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित, 'कल्याण'का अग्रिम मूल्य भारतवर्षमें २०.०० रुपये वार्षिक और भारतवर्षसे बाहरके लिये ४५.५० रु० (दो पौण्ड पचहत्तर पेन्स) नियत है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है; अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। विशेषाङ्क स्टॉकमें रहनेपर वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी रूपमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' प्रत्येक ग्राहकके नामसे दो-तीन बार जाँच करके भेजा जाता है, यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **पत्र लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना या नया ग्राहक, नाम तथा पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना मिलनेपर ही अङ्क नये पतेपर भेजे जाते हैं।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला तथा विशिष्ट विषयक संदर्भमूल चालू वर्षका विशेषाङ्क प्रथम अङ्कके रूपमें दिया जाता है। बाकी ११अङ्क बिना मूल्य दिये जाते हैं। केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य २०.०० रुपये है।

(८) 'कल्याण'पर किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की एजेन्सी किसीको भी देनेका नियम नहीं है।

एक ब्रह्मज्योतिका तिरोभाव !

आद्यशंकराचार्यके अवतार धर्मसम्राट् पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका ७ फरवरी, ८२ को अविमुक्त वाराणसीमें ध्यानस्थावस्थामें ही तिरोधान हो गया। वे ७६ वर्षके थे।

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज विश्वकी शान्ति तथा सुख-ऐश्वर्यके लिये भारतमें धार्मिक रामराज्यकी व्यवस्थाके समर्थक थे। उन्होंने रामराज्य-परिषद्‌की संस्थापना की। उनका जीवन धर्ममय, त्यागमय और तपोमय था। विद्या और तपसे अवदात उनके भौतिक शरीरसे भी दिव्यताका दर्शन होता था। वे धर्म और दर्शनके भारतीय परम्पराके प्रौढ़ व्याख्याता एवं समर्थक थे। इधर वे 'वेदार्थ पारिजात' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके प्रणयनकार्यमें लग गये थे।

देश और धर्मके लिये उनके ये नारे थे—*(१) धर्मकी जय हो, (२) अधर्मका नाश हो, (३) प्राणियोंमें सद्भाव हो, (४) विश्वका कल्याण हो और (५) [हिन्दू-गौरव-गाथाको अपनेमें गूँथनेवाला] हर-हर महादेव !*

गोवध भारतका कलंक है—यह वे मानते थे और गोवधबंदीके विविध कार्योंमें लगे रहे। उनके तिरोधानसे धार्मिक जगत्‌की अपूरणीय महती क्षति हुई है।

'कल्याण' एवं कल्याण-परिवारको श्रद्धेय ब्रह्मीभूत श्रीस्वामीजीका सतत आशीर्वाद प्राप्त था। 'कल्याण' श्रीस्वामीजीके सहयोगके सौभाग्यसे वञ्चित हो गया। हम उन ब्रह्मलीन श्रीस्वामीजीके प्रति अपनी श्रद्धाके भाव-भरित शब्द-सुमन अर्पित कर रहे हैं। —सम्पादक

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्सङ्गकी सूचना

गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गके आयोजनकी व्यवस्था है। प्रार्थना है कि सत्सङ्गी महानुभाव तथा माताएँ-बहनें अधिकाधिक संख्यामें केवल सत्सङ्ग तथा भजनके पवित्र उद्देश्यसे ही गीताभवनमें पधारें। वहाँ चैत्र शुक्ल पूर्णिमाके लगभग श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके पधारनेका विचार है। अन्यान्य संत-महात्मा, विद्वान् तथा रामायणके वक्ता आदि भी पधारनेवाले हैं।

नौकर-रसोइया आदिको यथासम्भव साथमें लाना चाहिये। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके (या निकटके सम्बन्धीके) साथ ही वहाँ जायँ। वे अकेली न जायँ। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथमें बिल्कुल नहीं ले जानी चाहिये। अपने सामानकी पूरी सँभाल स्वयं रखनी चाहिये। जहाँतक हो, छोटे बच्चोंको साथमें न ले जायँ। खान-पानकी वस्तुओंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, परंतु दूधके प्रबन्धमें बहुत कठिनाई है। —प्रबन्धक

गीता-दैनन्दिनी—(डायरी) १९८२

(मूल्य रु० १.७५ मात्र, डाकखर्च रु० १.०० अलग)

गीता-दैनन्दिनी १९८२ की अभी उपलब्ध है; इच्छुक सज्जनोंको (डाकखर्चसहित) मूल्य भेजकर मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये। व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सूचना

वामनपुराणको पूरा करनेके लिये 'कल्याण'के दूसरे अङ्क (फरवरी '८२) में १६ पृष्ठ अधिक दिये गये हैं; अतः तीसरे अङ्कमें पृष्ठ कम जा सकते हैं।

'कल्याण' नामक हिन्दी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म—चार, नियम-संख्या—आठ

१—प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर;

२—प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक;

३—मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान;
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय;
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर;

४—प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान;
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय;
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर;

५—सम्पादकका नाम—मोतीलाल जालान;
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय;
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर;

६—उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय, पता—नं० १५१, महात्मा गाँधीरोड, कलकत्ता, (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार) रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था।

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

दिनाङ्क २८—२—८२

—मोतीलाल जालान
प्रकाशक